विषय-सूची

१ परमात्म-वन्दन-[सम्पादक ....पृष्ठ १
२ आ० अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चय-टीका-[न्या० पं० दरबारीलाल कोठिया २
३ गदरसे पूर्वकी लिखी हुई ५३ वर्षकी 'जंत्रीखास'०-[सम्पादक ६
४ श्री जम्बूजिनाष्टकम्--श्री पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया १६
५ भगवान महावीर और उनका सन्देश-[श्री कस्तूरसा सावजी बी०ए० .... १७
६ आत्मानुशासनका एक संदिग्ध पद्य-[श्री लक्ष्मीनारायण जैन २४
७ स्व० बाबू सूरजभानजी वकील-[श्री दौलतराम 'मित्र' २५
८ रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं-[प्रो० हीरालाल एम० ए०.... २६
९ श्रीधवलाका रचनाकाल-[श्री प्रफुल्लकुमार मोदी एम० ए० एल-एल० बी० .... ३७
१० साहित्यप्रेमी श्री अगरचन्दजी नाहटा-[श्री हजारीमल बाँठिया ३६
११ महावीर-उपदेशावतार-[श्री पं० अजितकुमार जैन, शास्त्री ४१
१२ जैसलमेरके भंडारोंमें प्राप्त कुछ नवीन ताड़पत्रीय प्रतियां-[श्री भँवरचन्द भंवरलाल नाहटा ४४
१३ सच्चा कर्मयोगी (कविता)-[श्री माधव शुक्ल ४७
१४ हरिषेणकृत अपभ्रंश-धर्मपरीक्षा-[श्री प्रो० ए० एन० उपाध्ये, अनु० पं० राजकुमार शास्त्री ४८
१५ वानर-महाद्वीप-(सम्पादकीय नोटसहित) [श्री प्रो० ज्वालाप्रसाद सिंहल एम० ए० .... ५५
१६ जैन सरस्वती-[श्री बा० ज्योतिप्रसादजी जैन एम० ए०, एल-एल० बी० .... ६१
१७ क्या मथुरा जम्बूस्वामीका निर्वाणस्थान है ? -[पं० परमानन्द शास्त्री ६५

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत जून-जुलाई मासकी किरण ११-१२ में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिर सरसावाको सदस्यफीसके अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं-

५) श्रीमती भगवती देवी धर्मपत्नी ला० रूड़ामलजी जैन शामियाने वाले सहारनपुर।

५) श्रीदिगम्बरजैन पंचायत किशनगढ (जि०जयपुर) (पर्यूषणपर्वके उपलक्षमें)

५) श्रीदिगम्बरजैन पंचायत, गया (दशलक्षणके उपलक्षमें)

५) ला० सुमेरचन्द केदारबाबूजी जैन क्लाथमर्चेंट, बहराइच।

२५०) श्रीसकलदिगम्बर जैन पंचायत कलकत्ता (दशलक्षण पर्वके उपलक्षमें)।

४८) बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता (सफरखर्चकी सहायतार्थ)।

३१८)

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकांतको सहायता

पिछली किरण ११-१२में प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्नप्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

६००) बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता (पूर्व स्वीकृत सहायता)।

२) ला० मूलचन्द केसरीप्रसादजी पानीपत जि० करनाल (पिता ला० मनोहरलालजीके स्वर्गवासके उपलक्षमें।

५) ला० कैलाशचन्दजी जैन रईस बूडिया जि० अम्बाला (चि० पुत्र गजेन्द्रप्रसादकी शादीके उपलक्षमें)।

२) बा० मनोहरनाथजी जैन बी० ए० वकील बुलन्दशहर (बहन शान्तिदेवी 'रत्न' के अन्तर्जातीय विवाहके उपलक्षमें जो बा० ज्ञानेन्द्रकुमार गंगरेवाल जैन, बी० ए० (अलीगढके साथ हुआ)।

१०) ला० गनपतरायजी सेठी जैन, लाडनू जि० मारु (चि० हीरालालके विवाहोपलक्षमें)।

६१९)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

* ॐ अर्हम् *

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ८ किरण १	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर माघ, वीरनिर्वाण संवत् २४७२, विक्रम संवत् २००२	जनवरी १९४६

परमात्म-वन्दन

यो विश्वं वेद वेद्यं जनन-जलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याऽविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलङ्कं यदीयम्।
तं वन्दे साधु-वन्द्यं सकल-गुण-निधिं ध्वस्त-दोष-द्विषन्तं,
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥

—अकलङ्काष्टक

'**जिसने दोष-समूह तथा शत्रुसमूह को ध्वस्त किया है**—अपने अज्ञान-राग-द्वेष-काम-क्रोधादि विकारों और उनके कारणीभूत ज्ञानावरण--दर्शनावरण—मोहनीय आदि कर्म-शत्रुओंका विनाश किया है—**ज्ञेयस्वरूप विश्व को जाना है**--सकल लोक—अलोकका ज्ञान प्राप्त किया है—, **तरङ्गाकुलभव-समुद्रका पार देखा है**--संसार-सागरके पर-भागमें स्थित मुक्ति-जगतका साक्षात् अवलोकन किया है—**और जिसका प्रवचन** (आगम) **पूर्वाऽपर-के विरोधसे रहित अनुपम तथा निर्दोष है, उस साधुओंसे वन्दनीय तथा सकल गुणोंकी खानि परमात्म-पुरुषकी मैं वन्दना करता हूँ**---उसके गुणोंमें अनुरक्त हुआ और उन्हें आत्मगुण समझ कर अपने आत्मामें उनके विकासकी दृढ भावना रखता हुआ मैं उसके आगे नतमस्तक होता हूँ---**चाहे उसे बुद्ध, वर्द्धमान (वीर-जिन) ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि किसी नामसे भी क्यों न कहा जाय**—नामसे कोई प्रयोजन नहीं, उक्त गुणविशिष्ट आप्तपुरुष ही वन्दना और आराधनाके योग्य है, उसीके आदर्शको सामने रखकर आत्मविकास सिद्ध किया जा सकेगा।

आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चय-टीका

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)
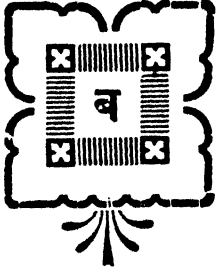
हुत समयसे मेरी अभिलाषा थी कि जिन अनन्तवीर्य और उनके वचनोंकी आचार्य प्रभाचन्द्र और वादिराजसूरिने मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है उनके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान प्राप्त करूँ। सौभाग्यसे वीरसेवामन्दिरमें अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चय-टीका मौजूद है और इसलिये उसके सरसरी तौरसे पढ़ने पलटनेका सुअवसर मिला—इस महाग्रंथको अच्छी तरह समझनेके लिये तो काफी समय अपेक्षित है। यह टीका अभी अमुद्रित है। इसके सामान्य अध्ययनसे जो मुझे ज्ञातव्य जान पड़ा है उसे 'अनेकान्त' के पाठकोंके लिये भी यहाँ दे रहा हूं।

अनन्तवीर्य नामके दो विद्वान् और उनका समय—

उपलब्ध जैन साहित्यमें अनन्तवीर्य नामके दो विद्वान् आचार्योंका अब तक पता चला है। एक अनन्तवीर्य तो वे हैं जिन्होंने माणिक्यनन्दिके 'परीक्षा-मुख' न्यायसूत्रपर 'परीक्षामुखपञ्जिका' नामक वृत्ति लिखी है जिसे 'परीक्षा-मुखलघुवृत्ति' और 'प्रमेयरत्नमाला' भी कहा जाता है[1]। ये अनन्तवीर्य प्रमेयकमलमार्त्तण्डकार आचार्य प्रभाचन्द्रके उत्तरकालीन हैं। इन्होंने अपनी प्रमेयरत्नमालामें प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका निम्न प्रकार उल्लेख किया है

प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः॥३॥

इस उल्लेखपरसे यह स्पष्ट है कि प्रभेन्दु-प्रभाचन्द्र और उनके वचनोदारचन्द्रिका—प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी विद्वत्परम्परामें अच्छी प्रतिष्ठा और ख्याति होरही थी, तब प्रमेयरत्नमाला लिखी गई है। १२ वीं शताब्दीके विद्वान् हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसामें अनेक जगह प्रमेयरत्नमालाका शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है। अतः प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य हेमचन्द्रसे पहले और प्रभाचन्द्रके बाद अथवा उनके प्रायः समकालीन हुए हैं। अर्थात् ये अनन्तवीर्य ११ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं।

दूसरे अनन्तवीर्य प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्य हैं, जो अकलङ्कके प्रौढ और सम्भवतः आद्य व्याख्याकार एवं उनके गूढ पदोंके मर्मोद्घाटक हैं और प्रभाचन्द्र तथा वादिराजद्वारा बड़े सम्मान एवं आदरके साथ अपने 'पथप्रदर्शक' के रूपमें स्मरण किये गये हैं। प्रभाचन्द्र लिखते हैं :—

त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयो
दुष्प्राप्योऽप्यकलङ्कदेवसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात्।
स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तितः
भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसस्तद्बोधसिद्धिप्रदः॥

—न्यायकुमु० द्वि० भा० पृ० ६०५, परि० ५।

अर्थात्—'अकलङ्ककी संक्षिप्त एवं गहन और दुर्गम पद्धतिको अनन्तवीर्यके व्याख्यानोंपरसे सैंकड़ों बार अभ्यास करके जान पाया हूं।' इससे यह प्रकट है कि ये अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्रके पहले हो गये हैं और जिन्हें वे अकलङ्ककी दुर्गम कथन-शैलीका अच्छा मर्मोद्घाटक मानते थे। आ० प्रभाचन्द्र ईसाकी १०-११वीं शताब्दी सहायता लिये से १०६५ ई०) के विद्वान् माने जाते हैं[1]। ... वीर्य इससे पूर्ववर्ती हैं। आचार्य वादिराज अपने न्याय-विनिश्चय-विवरणके प्रारम्भमें ही कहते हैं :—

---

१ वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका॥
'इति प्रमेयरत्नमालापरनामधेया परीक्षामुखलघुवृत्तिः समाप्ता।'

१ देखो, न्यायकुमु० द्वि० भा० प्र० पृ०५८।

गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।
व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक्दीवर्तिरनिशं पदे पदे ॥३

अर्थात्—'अकलङ्कदेवके गूढ पदोंका अर्थ अनन्तवीर्यके वचन-प्रदीपद्वारा ही मैंने अवलोकित किया है।' इन्हीं वादिराजने उक्त विवरणके अन्त और पार्श्वनाथचरितमें अनन्तवीर्यको वन्दनारूपसे भी स्मृत किया है। यथा—

विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दया-
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी ।
शुद्धयन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥
—न्यायवि० वि०, प्रशस्ति श्लो० २।

वन्दाभ्यनन्तवीर्याब्दं यद्वागमृतवृष्टिभिः ।
जगज्जिघत्सन्निर्वाणः शून्यवादहुताशनः ॥—पा०च०।

वादिराजके इन उल्लेखोंसे भी यही प्रकट है कि अनन्तवीर्य उनके पूर्ववर्ती विद्वान हैं। वादिराजने पार्श्वनाथ चरितमें अपना समय शक सं० ९४७ (ई० १०२५) दिया है। अतः अनन्तवीर्य ११ वीं शताब्दीसे पहलेके हैं। चूंकि प्रभाचन्द्र और वादिराज दोनों ही विद्वानोंने इन्हें अकलङ्कके वाङ्मयके पदोंका अर्थस्फोटक बतलाया है और इसलिये इनके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चय-टीकाके रचयिता अनन्तवीर्य ही हैं। इन्हीं अनन्तवीर्यने अत्यन्त दुरूह अकलङ्कके प्रमाणसंग्रहपर भी टीका (भाष्य) लिखी है और जो सिद्धिविनिश्चयटीकासे पूर्वकी उनकी रचना है। सिद्धिविनिश्चयटीकामें उसको देखनेके लिये अनेक जगह[1] प्रेरणा की है जो उनका विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय जैसा ही महत्वका विशिष्ट ग्रन्थ जान पड़ता है और जो आज अनुपलब्ध है तथा इनकी सिद्धिविनिश्चयटीकामें ही इसके उल्लेख हैं। अतएव प्रभाचन्द्र और वादिराजके विवक्षित अनन्तवीर्य अकलंक-प्रकरणोंके मर्म और सिद्धिविनिश्चटीका तथा प्रमाणसंग्रह-भाष्यके रचयिता प्रस्तुत अनन्तवीर्य ही हैं।[2]

विद्यानन्द भी अकलङ्कके व्याख्याकार हैं और प्रभाचन्द्र तथा वादिराज-द्वारा स्मृत होनेसे उनके पूर्ववर्ती हैं। लेकिन अनन्तवीर्य और विद्यानन्दमें पूर्ववर्ती कौन है? इसका पता अभीतक न तो अन्य साधनसे चला है और न इन दोनों विद्वानोंके ग्रन्थोंपरसे ही चलता है, क्योंकि एक दूसरेके साहित्यका एक दूसरेपर कोई प्रभाव नहीं जान पड़ता। अनन्तवीर्यने सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेक पूर्ववर्ती आचार्य और विद्वानों एवं ग्रन्थकारोंका नामोल्लेख किया है और जहां तहां उनके ग्रन्थवाक्योंको भी उद्धृत किया है। स्वामी समन्तभद्र, तत्वार्थसूत्रकार, पूज्यपाद, पात्रकेशरी धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णक (कर्णकगोमि), अर्चट शान्तभद्र, कुमारिल प्रभाकर, गाङ्गलकीर्ति, पाणिनि तत्वोपप्लवकार आदिके नामोल्लेखपूर्वक वाक्य उद्धृत किये हैं। सिद्धसेनका भी नामोल्लेख है और उनके सम्मतिसूत्र ग्रन्थकी तीसरे काण्डगत ५० वीं गाथा[3] भी उद्धृत हुई

---

१ 'इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये' पृ० १२, 'इत्युक्तं वादिराज[illegible]' पृ० १६, शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात् प्रत्येयं' पृ० ३६२।
'प्रपञ्चस्तु वेहोक्तोग्रन्थगौरवान् प्रमाणसंग्रहभाष्याज्ज्ञेयः' पृ० ८२१, प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्' पृ० ११०३, 'दोषो रागादिर्व्याख्यात प्रमाणसंग्रहभाष्ये' पृ० १२२२।

२ सिद्धिवि०टीकामें निम्नप्रकारसे एक उल्लेख आया है :—
'इमामेवार्थं समर्थयमाना प्राह—आधन्तामित्यादि, नन्वयमर्थोऽनन्तरकारिका वृत्तावुक्तो न च पुनस्तस्यैवाभिधाने स एव समर्थितो नामातिप्रसङ्गात् । किन्त्वन्यस्माद्धेतोः स चात्र नोक्तस्तस्मादुक्तार्थोऽनन्तरश्लोकोऽयमित्यनन्तवीर्यः। अस्यायमर्थ आधन्तमाद् व्यक्ता। क्षणिकैकान्तस्वार्थ-संविदिति....'—पृ० ६६।

इस उल्लेखमें 'इत्यनन्तवीर्यः' पदका प्रयोग आया है। यदि वह अशुद्ध नहीं है और वह किसी व्यक्ति-विशेषका बोधक है तो मालूम होता है कि अनन्तवीर्यके पहलेभी कोई अन्य तीसरे अनन्तवीर्य होगये हैं और जिनके मतको टीकामें टीकाकार अनन्तवीर्यने नामोल्लेख-पूर्वक उद्धृत किया है। यह विचारणीय है।

३ 'स्वयूथ्योऽप्याह—सिद्धसेनेन क्वचित्तस्यासिद्धस्याभिवचनाद-युक्तमेतदिति तेन कदाचिदेतत् (?)। श्रुतं—
"जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥"
—सिद्धिवि० टी० पृ० ६३३।

है। एक अनन्तकीर्त्ति नामके विद्वानाचार्य और उनकी 'स्वतः प्रामाण्यभङ्ग' नामकी कृतिके भी उल्लेख हैं।[1] आश्चर्य नहीं कि ये अनन्तकीर्त्ति वे ही अनन्तकीर्ति हों जिनका उल्लेख वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें[2] किया है और जिन्होंने जीवसिद्धि, लघु और बृहद सर्वज्ञसिद्धियोंकी रचना की है। जीवसिद्धिकी तरह उनकी यह सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित 'स्वतःप्रामाण्यभङ्ग' कृति भी अनुपलब्ध जान पड़ती है। इन सबके उल्लेख होते हुए भी विद्यानन्दका या उनके ग्रन्थवाक्यका कोई उल्लेख नहीं है। उधर विद्यानन्दने भी इनका कोई उल्लेख किसी भी ग्रन्थमें नहीं किया। अतएव यह सम्भव है कि ये दोनों विद्वान समकालीन हों और भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें अपना प्रकाश कर रहे हों। विद्यानन्दका समय ९ वीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमी, अर्चट्ट, तत्त्वोपप्लवकार (जयराशि), कुमारिल और प्रभाकर ये सब ईसाकी ७से ९वीं शताब्दीतकके विद्वान् हैं। अकलङ्कदेवका समय प्रायः आठवीं शताब्दी अनुमानित है और अनन्तवीर्य उनके व्याख्याकार हैं। इसलिये इनका समय ९वी और १०वीं शताब्दी मालूम होता है। यदि इन्हें अकलङ्कके आद्य व्याख्याकार होनेका सौभाग्य भी प्राप्त है तो ये ९वीं श०के ही विद्वान् हैं।

लेकिन इस समयको माननेमें एक विचारणीय बात यह उपस्थित होती है कि अनन्तवीर्यने सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षण-सिद्धि' नामके छठे प्रस्तावके प्रारम्भमें अकलङ्कदेवके 'स्वामिनः' पदको लेकर जो चर्चा प्रस्तुत की है[3] उससे प्रतीत होता है कि वे अकलङ्कके इतने बाद हुए हैं कि वे अकलङ्कके 'स्वामिनः' पदका वास्तविक अर्थ करनेमें सन्दिग्ध थे—उसका वे असन्दिग्ध अर्थ नहीं जानते थे और इसलिये 'आचार्य प्रसिद्धि' के आधारपर उसका अर्थ 'सीमन्धर भट्टारक तीर्थंकर' करनेके लिये बाध्य हुए। जो आचार्य उस पदका अर्थ आचार्य-प्रसिद्धिके अनुसार 'पात्रकेशरी स्वामी' करते थे उसका उन्होंने विरोध किया। यदि अनन्तवीर्य अकलङ्कके १००, ५० वर्ष बाद ही हुए होते तो वे उस ऐतिहासिक पदके अर्थमें इतने सन्दिग्ध न होते और जो 'पात्रकेशरीस्वामी' अर्थ किया जाता था उसे वे बिना ननु नच किये अवश्य स्वीकार करते। अतएव उनकी इस चर्चासे यह ज्ञात पड़ता है कि वे अकलङ्कके बहुत बाद हुए हैं जबकि 'स्वामिनः' पदके अर्थमें अनेक किम्बदन्तियां और मतभेद प्रचलित होचुके थे, अतएव यह चिन्तनीय है कि वे ९वीं शताब्दीके विद्वान हैं? राहुलसांकृत्यायनने[4] अर्चटका समय ८वीं और कर्णकगोमीका ९वीं सदी दिया है और अनन्तवीर्यने अर्चट तथा कर्णकगोमी दोनोंका समालोचन किया है। अतः अधिक सम्भव यही है कि ये १०वीं सदीके विद्वान हैं। फिर एक प्रश्न यह जरूर बना रहता है कि विद्यानन्द (९वीं सदी) का उन्होंने कोई उल्लेख क्यों नहीं किया? जोकि बहुत अधिक सम्भव था। अतः यह विचारणीय है।

अकलङ्कके व्याख्याकारोंमें अनन्तवीर्यका स्थान—

अकलङ्कका वाङ्मय—पदवाक्यादि समूह—कितना, गहन, दुर्बोध संक्षिप्त और अर्थबहुल है इसका पता इसके न्याय-विषयक प्रकरणोंका अध्ययन करनेवालोंको सहजमें मालूम हो जाता है। आचार्य वादिराज पद पदपर इसका अनुभव करते हैं और अनन्तवीर्यकी सहायता लेकर ही उन्हें समझ पाते हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र जब सैकड़ों बार अभ्यास करते हैं तब उन्हें जान पाते हैं, सो अनन्तवीर्यकी अकलुष्य सहायतासे ही। बगैर इनकी सहायता लिये

---

१ 'अनन्तकीर्तिकृतेः स्वतः प्रामाण्यभङ्गादवसेयमेत्'-४प्र०

२ देखो, पार्श्वना० १-२४।

३ 'कस्य तदित्याह—स्वामिनः पात्रकेशरिण इत्येके। कुत एतत्? तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनमुत्तरभाष्यं यतः कृतमिति चेत्, नत्वेवं सीमन्धरभट्टारकस्याशेषार्थसाक्षात्कारिणस्तीर्थंकरस्य स्यात्। तेन हि प्रथमं 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥" इत्येतत्कृतम्। कथमिदमवगम्यते? इति चेत्, पात्रकेशरिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतमिति कथमवगम्यत इति समानम्। आचार्यप्रसिद्धेरित्यपि समानमुभयत्र। कथा च महती सुप्रसिद्धा·····'—पृ० ८६३।

४ भारतीयविद्या वर्ष ३ अंक १ 'प्रज्ञाकरगुप्त और उनका भाष्य' शीर्षक लेख।

अपनेको वे भी असमर्थ पाते हैं। अनन्तवीर्य भी स्वय अकलङ्क-पदोंके सम्बन्धमें क्या कहते हैं। सो भी सुनिये-

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥३॥

अर्थात्—'मैं अनन्तवीर्य होकर भी अकलङ्कके पदोंको पूर्णतः व्यक्त करना नहीं जानता, यह आश्चर्यकी बात है।' उस समय ऐसे संक्षिप्त और अर्थबहुल प्रकरणोंका रचयिता धर्मकीर्त्तिको ही मुख्यतया माना जाता था। अनन्तवीर्य उनकी अकलङ्कके साथ तुलना करते हुए लिखते हैं:—

सर्वधर्मस्य नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा।
धर्मकीर्त्तिः कथं गच्छेदाकलङ्कः पदं ननु ॥४॥

अर्थात्—'सर्व धर्मकी निरात्मकताका कथन करता हुआ भी धर्मकीर्त्ति अकलङ्क-पदको—अकलंककी बराबरीको कैसे पा सकता है ? अर्थात् नहीं।'

वास्तवमें अकलङ्कदेव भारतीय वाङ्मयके तेजस्वी, अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। यद्यपि अकलङ्कदेवको 'अकलङ्कदेव' बनानेमें प्रधानतया धर्मकीर्त्तिकी समालोचना-पद्धति और विचार-क्रान्ति ही मुख्य कारण है। धर्मकीर्त्ति न हुए होते और वे न्यायशास्त्रपर अपने विविध निबन्ध[१] (ग्रन्थ) न लिखते तो अकलङ्कदेवकी बहुमुखी विद्वन्मनःतोषकारी प्रतिभा जागृत होती और धर्मकीर्त्तिके निबन्धोंको भी मातकर देनेवाले न्यायशास्त्रपर अपने विविध गहन निबन्ध लिखते, इसमें कुछ सन्देह ही है। इसलिये मौलिकता, संक्षेपमें बहुवक्तव्यता आदिकी अपेक्षा उनकी तुलना धर्मकीर्त्तिके साथ कर सकते हैं और उनके 'न्याय-विनिश्चय' 'सिद्धिविनिश्चय' 'तत्त्वार्थवार्तिक' को धर्मकीर्त्तिके 'प्रमाणविनिश्चय' 'प्रमाणवार्त्तिक'से मिला सकते हैं तथा जिस प्रकार धर्मकीर्त्तिके प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर अर्चट, कर्णकगोमी शान्तरक्षित आदि समर्थ टीकाकार हुए हैं। उसी प्रकार अकलङ्कदेवके भी अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र वादिराज, अभयचन्द्र आदि प्रौढ मर्मोद्घाटक टीकाकार हुए हैं। किन्तु तथ्य और अस्खलित समालोचना एवं कुछ अधिक गहन विचारणामें अकलङ्कदेवको हम धर्मकीर्त्तिसे कहीं आगे पाते हैं[२]। अकलङ्कदेवका प्रमाणसंग्रह तो अतुलनीय है—उसकी गहराई, जटिलता और अति-संक्षिप्तता धर्मकीर्त्तिके प्राप्त किसी भी निबन्धमें देखनेको नहीं मिलती। इसीसे अकलङ्क और धर्मकीर्त्तिके साहित्यका सूक्ष्म अध्ययन करनेवाले आ० अनन्तवीर्यको 'धर्मकीर्त्ति कथं गच्छेदाकलङ्कं पदं ननु' यह कहना पड़ा है। और यह अनन्तवीर्यका प्रघोषमात्र या श्रद्धापूर्ण ही कथन नहीं है, किन्तु वह तात्त्विक है। जो भी निष्पक्ष विद्वान् अकलङ्कके साहित्यका - न्याय-विषयक प्रकरणोंका धर्मकीर्त्तिके न्याय-ग्रन्थोंके साथ सूक्ष्मता और गहराईसे तुलनात्मक अध्ययन करेंगे उन्हें यह स्पष्ट हुए बिना न रहेगा और अनन्तवीर्यके उक्त कथनकी स्वाभाविकता भी प्रतीत होजायगी।

अकलङ्कदेवके दो तरहके ग्रन्थ हैं-(१) टीका-ग्रन्थ और (२) मूल-ग्रन्थ। टीकाग्रन्थ उनके दो हैं-(१) तत्त्वार्थ-वार्तिक (स्वोपज्ञ भाष्य सहित) और (२) अष्टशती (देवागमभाष्य—देवागमविवृति)। तत्त्वार्थवार्तिक आ० उमास्वातीके तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत व्याख्या है और अष्टशती स्वामी समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) की आठसौ श्लोक प्रमाण गूढ और सूत्रात्मक संक्षिप्त टीका है। १ लघीयस्त्रय (तीन प्रकरण), २ न्यायविनिश्चय, ३ सिद्धि-विनिश्चय और ४ प्रमाणसंग्रह ये चार मौलिक ग्रन्थ हैं और इन चारों ही पर उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियां हैं। ये सब ही सूत्ररूप और अर्थबहुल हैं। अष्टशतीको वेष्टित करके विद्यानन्दने 'देवागम' पर अपनी विद्वत्तापूर्ण अष्टसहस्री (देवागमालङ्कार टीका लिखी है। लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञ वृत्तिपर आचार्य प्रभाचन्द्रने 'लघीयस्त्रयालङ्कार' अपरनाम 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामकी विशाल व्याख्या रची है 'न्यायविनिश्चय' पर मात्र उसकी कारिकाओंको लेकर वादिराजने 'न्यायविनिश्चयविवरण' अथवा 'न्यायविनिश्चयालङ्कार' नामक वैदुष्यपूर्ण बृहद् व्याख्या लिखी है। उसकी स्वोपज्ञ

---

१ धर्मकीर्तिके निम्न ७ निबन्ध प्रसिद्ध हैं—
१ न्यायबिन्दु, २ हेतुबिन्दु, ३ सम्बन्धपरीक्षा (सवृत्ति), ४ वादन्याय, ५ सन्तानान्तरसिद्धि, ६ प्रमाणविनिश्चय और ७ प्रमाणवार्त्तिक (तृ० परि० सवृत्ति)।

२ देखो, न्यायविनिश्चय का० ६०, ६२, ६३, १६६, ३७२, ३७३, ३७४, ३७८, ३७६ आदि।

वृत्तिको उन्होंने छोड़ दिया है[1] जो आज अनुपलब्ध है। 'सिद्धिविनिश्चय' और प्रमाणसंग्रह' तथा उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियोंपर आ० अनन्तवीर्यने अपनी महान् व्याख्याएँ लिखी हैं। अकलङ्कके इन सब व्याख्याकारोंमें अनन्तवीर्य का उन्नत स्थान है और सम्भवतः वे ही अकलङ्कके प्रथम व्याख्याकार हैं। आचार्य विद्यानन्द यद्यपि उनसे पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं, लेकिन एक तो, उनके साहित्यका अनन्तवीर्यके साहित्यपर कोई प्रभाव मालूम नहीं होता। दूसरे, वे अष्टशतीके व्याख्याकार न होकर मुख्यतः स्वामी समन्तभद्र के देवागमके व्याख्याकार हैं। अतः अनन्तवीर्य अकलङ्कके प्रथम व्याख्याकार कहे जाने योग्य हैं। अनन्तवीर्यने प्रभाचन्द्र और वादिराजकी तरह प्रायः विस्तृत दार्शनिक और शास्त्रीय चर्चाओंको न छेड़ कर अकलङ्कके पदोंके सारांश हार्दको ही पूर्णतः व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और वे इस प्रयत्नमें सफल भी हुए हैं। वे अकलङ्कके प्रत्येक पद, वाक्यादिका समासादिद्वारा योग्यतापूर्ण व्याख्यान करते हैं। कहीं कहीं तो वे दो-दो, तीन-तीन भी व्याख्यान करते हुए पाये जाते हैं और इन व्याख्यानों द्वारा उन्होंने अकलङ्कके गूढ पदोंको बहुत सुगम बना दिया है। अनन्तवीर्यको हम प्रज्ञाकरगुप्तकी तरह परपक्ष निराकरणमें मुख्य पाते हैं। स्वपक्षसाधन तो उनके लिये उतना ही है जितना मूलसे ध्वनित होता हो। अकलङ्ककी चोट यदि धर्मकीर्तिपर है तो अनन्तवीर्यकी उनके प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्तपर है। अपनी इस टीकामें उन्होंने प्रज्ञाकर गुप्तका बीसियों जगह नामोल्लेख करके उनके मतका कदर्थन किया है। उनके प्रमाणवार्त्तिकालंकारके तो अनेक स्थलों को उद्धृत करके उसका सर्वाधिक समालोचन किया है। हमारा तो ख़याल है कि अनन्तवीर्यने सर्वप्रथम जो प्रमाणसंग्रहालंकार या प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखा था वह प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्त्तिकालंकार या प्रमाण-वार्त्तिकभाष्यके जवाबमें ही लिखा होगा। दोनोंका नाम-साम्य भी यही प्रकट करता है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि अनन्तवीर्यने सबसे ज्यादा प्रज्ञाकर गुप्तका ही खण्डन किया है। जैसे अकलङ्कने धर्मकीर्त्तिका। अतः जैनन्यायसाहित्यमें अकलङ्कके टीकाकारोंमें अनन्तवीर्यका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो बौद्धन्यायसाहित्यमें धर्मकीर्त्तिके टीकाकारोंमें प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्तको प्राप्त है और इसलिये उन्हें (अनन्तवीर्यको) जैनन्यायसाहित्यका 'प्रज्ञाकर' कहा जा सकता है।

व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा और ग्रन्थरचना—

जैनसाहित्यमें प्रस्तुत टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यका जो सम्मान और व्यक्तित्व है वह इसीसे जाना जाता है कि उनके उत्तरवर्ती आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य वादिराज जैसे महान् ग्रंथकारोंने उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है और अपने मार्गप्रदर्शकके रूपमें सबहुमान, अपने ग्रंथोंमें नामोल्लेख पूर्वक उनका स्मरण किया है तथा अकलङ्क-पदोंका उन्हें मर्मज्ञ व्याख्याकार बतलाया है। वास्तवमें उन्होंने जिस योग्यता और बुद्धिमत्तासे अकलङ्कके पदोंके मर्मको खोला है वह स्तुत्य है। अकलङ्कके वाङ्मयमें सबसे अधिक क्लिष्ट और दुर्बोध उनका प्रमाणसंग्रह है। सिद्धि-विनिश्चयटीकाके अध्ययनसे सिद्धिविनिश्चय भी प्रायः प्रमाणसंग्रह जैसा ही क्लिष्ट और दुर्बोध प्रतीत होता है। अनन्तवीर्यने इन्हीं दोनोंपर अपनी व्याख्यायें-भाष्य ग्रंथ लिखे हैं—लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय यद्यपि उनके सामने थे और दोनों ही अटीक थे, परन्तु अपेक्षाकृत सुगम जानकर उन्हें उन्होंने छोड़ दिया और उनपर व्याख्या नहीं लिखी। इससे अनन्तवीर्यके बुद्धिवैभव, विद्वत्ता, अदम्य साहस और कर्मठताका पता लगाया जा सकता है। अतः उनका जैनसाहित्यमें सम्मानपूर्ण व्यक्तित्व है।

टीकाकारने अपनी टीकामें विस्तृत गुरुपरम्परा तो कुछ नहीं दी, किंतु केवल अपने साक्षात् गुरुका टीकाके प्रायः प्रत्येक प्रस्तावके अन्तमें सन्धिवाक्योंमें 'रविभद्र' नाम दिया है[2]

---

१ इसीसे उन्होंने 'न्यायविनिश्चयविवरण' के सन्धिवाक्योंमें 'कारिकाविवरण' शब्दका प्रयोग किया है और जिसका एक नमूना यह है—

'इत्याचार्यस्याद्वादविद्यापतिविरचिते न्यायविनिश्चयकारिका-विवरणे प्रत्यक्षप्रस्तावः प्रथमः।'—वीरसे० प्र० लि० पृ० ३०६।

२ 'इति श्रीरविभद्रपादोपजीव्यनन्तवीर्यविरचितायां सिद्धि-विनिश्चयटीकायां प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः।'

और अपनेको इनका 'पादोपजीवी—शिष्य' बतलाया है। इससे इतना ही प्रकट होता है कि आचार्य अनन्तवीर्य आचार्य रविभद्रके शिष्य थे। ये रविभद्र कौन थे? इसका परिचय न टीकाकारने कराया और न अन्य साधनसे प्राप्त होता है। इतना अवश्य मालूम होता है कि ये उस समय के अच्छे ख्यातनामा आचार्य हैं और अनन्तवीर्य उनके शिष्य माने और कहे जाते थे। अर्थात् प्रस्तुत अनन्तवीर्य 'रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्य' के नामसे प्रसिद्ध थे। इससे एक बात यह भी मालूम होती है कि इन अनन्तवीर्यके पहले या समसमयमें कोई दूसरे अनन्तवीर्य भी होगये या रहे जिनसे वे अपनेको व्यावृत्त करते हुए 'रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य' बतलाते हैं। पीछे मैं एक फुटनोटमें सिद्धि-विनिश्चयटीकामें उल्लिखित 'अनन्तवीर्य' की संभावना कर आया हूं। हो सकता है कि वे ही कोई अनन्तवीर्य हों और ग्रंथकार भी माने जाते हों। जो हो, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यके गुरु 'रविभद्र' थे और वे उनके शिष्य कहलाते थे।

आ० अनन्तवीर्यने जो ग्रंथ रचे हैं वे व्याख्या ग्रंथ हैं। उन्होंने मौलिक ग्रंथ भी कोई रचा या नहीं, इसका कोई पता नहीं। आ० प्रभाचन्द्र और आ० वादिराजके तो व्याख्या और मौलिक दोनों तरहके ग्रंथ पाये जाते हैं। संभव है उनने भी कोई मौलिक ग्रंथ रचा हो और जो आज प्राप्त नहीं है। व्याख्याग्रन्थ उनके दो हैं—१ प्रमाण-संग्रहभाष्य और २ सिद्धिविनिश्चयटीका। प्रमाणसंग्रहभाष्य के सिद्धिविनिश्चय टीकामें केवल उल्लेख मिलते हैं। उन उल्लेखोंसे इस ग्रंथकी विशालता और महत्वता जानी जाती है क्योंकि सिद्धिविनिश्चयटीका जैसे विस्तृत ग्रंथमें भी उसको देखनेकी प्रेरणा कीगई है और यह कहा गया है कि प्रपञ्च प्रमाणसंग्रहभाष्यसे जानना चाहिये। इससे प्रमाण-संग्रहभाष्यकी महत्वता और अपूर्वता प्रकट होती है। अन्वेषकोंको इस अपूर्व ग्रंथका अवश्य पता चलाना चाहिये।

सिद्धिविनिश्चयटीका—

अनन्तवीर्यका दूसरा टीकाग्रन्थ प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय-टीका है और जिसका कुछ परिचय कराना ही यहां मुख्यत. इष्ट है।

यह टीका अकलङ्कदेवके उसी महत्वपूर्ण 'स्वोपज्ञ-वृत्तिसहितसिद्धिविनिश्चय' ग्रंथपर लिखी गई है जिसके महात्म्यको जिनदासगणि महत्तरने[1] 'निशीथचूर्णि' और श्रीचंद्रसूरिने 'जीतकल्पचूर्णि' में प्रकट किया है और उसे दर्शनप्रभावकशास्त्र बतलाया है[2]। इस टीकाकी उपलब्धिका दिलचस्प और दुःखपूर्ण इतिहास—परिचय श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षक लेखमें[3] दिया है। यह पहले कहा ही जा चुका है कि अकलङ्कदेवने अपने सभी न्याय-ग्रंथोंपर स्वोपज्ञ वृत्तियों लिखी हैं। कुछ विद्वान पहले सिद्धि-विनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमें सन्देह करते थे[4] किन्तु अब यह माना जाने लगा है[5] कि उनकी सिद्धिविनिश्चयपर भी स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसके लिये एक अति स्पष्ट प्रमाण नीचे दिया जाता है:—

ननु कारिकायां 'अस्ति प्रधानम्' इत्यन्यत्साध्यं निर्दिष्टं वृत्तौ तु 'भेदानामेककारणपूर्वकत्वम्' अन्यदिति कथं वृत्तिसूत्रयोः साङ्गत्यम्, सूत्रानुरूपया च वृत्त्या

---

१ 'नन्दिचूर्णि' भी इन्हीं जिनदासगणि महत्तरकी रची मानी जाती है। और उसमें उन्होंने उसका रचनासमय शक ५९८ (ई० ६७६) दिया है। श्री० न्यायाचार्य पं० महेन्द्र-कुमारजी (अकलंकग्रन्थत्रयप्रस्ता० पृ० १५) इसके एक कर्तृत्वमें और मुनि जिनविजयजी (अकलंकग्र० प्रास्ताविक फुटनोट पृ० ४–५) के उल्लेखानुसार 'कुछ विद्वान' इस चूर्णिके प्रान्तमें पाई जाने वाली रचनाकाल निर्देशक पंक्ति' को लेकर इसके रचनाकालमें सन्देह प्रकट करते हैं, किन्तु जिनविजयजीका यह कथन कि हमने जितनी प्रतियाँ इस (नन्दीचूर्णि) ग्रन्थकी जहां कहीं भण्डारों में देखी हैं, उन सबमें यह (रचनाकाल निर्देशक) पंक्ति बराबर लिखी हुई मिली है।' उपेक्षणीय नहीं है और इस लिये नन्दिचूर्णिके समयको सहसा अयुक्त अथवा उस पंक्तिको 'प्रक्षिप्त' नहीं कहा जा सकता। इससे एक महत्वकी बात यह निकलती है कि अकलंकका समय विक्रमकी ७ वीं शताब्दी ही माना जाना कई ऐतिहासिक उल्लेखोंसे युक्त प्रतीत होता है और जो अन्यत्र विचारणीय है।

२,३,४ अनेकान्त वर्ष १, किरण ३, ५ न्यायकुमुद प्रथम-भागकी प्रस्तावना।

भवितव्यमिति चेदत्र केचित्परिहारमाहुः'—पृ० ७०६।

यहाँ यह स्पष्टतया बतलाया गया है कि सिद्धि-विनिश्चयपर स्वयं अकलङ्कदेवकी स्वोपज्ञवृत्ति है और कारिका तथा वृत्तिकी एक असंगतिकी आशंका करके 'केचित्' शब्दोंके साथ उसका परिहार भी किया है। टीकाकारने कितनी ही जगह मूलकारिकाओंको 'सूत्र' और उनके विवरणको 'वृत्ति' कहा है। अतः सिद्धिविनिश्चयकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें अब कोई सन्देह नहीं रहता।

टीकाके प्रारम्भमें मङ्गलाचरणके बाद अकलङ्कके वचनोंकी इस कलिकालमें दुर्लभता प्रकट करते हुए और उन्हींमें अपनी मति श्रद्धाको स्थिर होनेकी भावना व्यक्त करते हुए टीकाकारने बड़े ही महत्वका एक निम्न पद्य दिया है:—

अकलङ्कवचः काले कलौ न कलयाऽपि यत्।
नृषु लभ्यं क्वचिल्लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥२

इसके आगे एक अन्य पद्य द्वारा अकलङ्कके वचनोंको सद्रत्नाकर-समुद्र बतलाया है और उसके सूक्तरत्नोंको अनेकों द्वारा यथेच्छ ग्रहण किये जानेपर भी कम न होनेका कारण उसे सद्रत्नाकर ही प्रकट किया है। वह सुन्दर पद्य इस प्रकार है:—

अकलङ्कवचोम्भोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि।
गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्रत्ननाकर एव सः ॥४

इस ग्रन्थमें बारह प्रस्ताव हैं और ये स्वयं अकलङ्कदेव कृत ही जान पड़ते हैं, क्योंकि उनके दूसरे ग्रन्थोंमें भी उन्होंने इसी प्रकारसे प्रस्ताव-विभाजन किया है। प्रस्ताव परिच्छेदको कहते हैं। धर्मकीर्त्तिने प्रमाणवार्त्तिकमें परिच्छेद नाम चुना है और अकलङ्कदेवने परिच्छेदार्थक 'प्रस्ताव' नाम पसन्द किया है। वे बारह प्रस्ताव निम्न प्रकार हैं:—

१ प्रत्यक्षसिद्धि, २ सविकल्पकसिद्धि, ३ प्रमाणान्तर-सिद्धि, ४ जीवसिद्धि, ५ जल्पसिद्धि, ६ हेतुलक्षणसिद्धि, ७ शास्त्रसिद्धि, ८ सर्वज्ञसिद्धि, ९ शब्दसिद्धि, १० अर्थनय-सिद्धि, ११ शब्दनयसिद्धि और १२ निक्षेपसिद्धि। इन प्रस्तावोंमें विषयका वर्णन उनके नामसे ही मालूम होजाता है।

टीकामें मूलभाग उस प्रकारसे अन्तर्निहित नहीं है जिस प्रकार प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें लघीयस्त्रय और उस की वृत्ति है। किन्तु कारिका और वृत्तिके आद्य अक्षरोंके प्रतीकमात्र दिये गये हैं जिससे यह जानना बड़ा कठिन है कि यह मूलभाग है और वह सम्बद्ध इतना है। टीकासे अलग और दूसरी जगहसे मूलभाग उपलब्ध भी अभी तक नहीं हुआ, जिसकी सहायतासे वह मूलभाग टीकापरसे पृथक् किया जा सके और ऐसी हालतमें मूलभागको टीका परसे पृथक् उद्धृत कर सकना बड़ा दुष्कर है। इसमें संदेह नहीं कि उसके लिये बड़े परिश्रमकी जरूरत होगी। मुख्तार सा०ने बड़े परिश्रमके साथ मङ्गलाचरणका निम्न पद्य उद्धृत किया था:—

सर्वज्ञं सर्व-तत्त्वार्थ-स्याद्वाद-न्याय-देशनम्।
श्रीवर्द्धमानमभ्यर्च्य वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम् ॥१॥

हमने भी एक कारिकाके उद्धृत करनेका प्रयत्न किया है, जो इस प्रकार मालूम होती है:—

समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥

—पृ० ७३५ (५ वाँ प्रस्ताव)

टीकामें मूलका उल्लेख 'कारिकां विवृण्वन्नाह' 'स्वार्थेत्यादि-संग्रहवृत्तार्थमुद्धृत्य विवृण्वन्नाह' 'तद्द्वयमाचार्यः स्वयं दूषयन्नाह—युक्तमित्यादि' 'एतद् दूषयितुं सूत्रार्थमाह तथैवेत्यादि' 'कारिकासूत्रं व्याचष्टे' 'सूरिराह' आदि रूपसे किया गया है। कहीं कहीं तो आधी और पूरीकी पूरी कारिकाको ही सुगम कहकर छोड़ दिया गया है। यथा—'पूर्वार्द्धस्य सुगमत्वाद् व्याख्यान-मकृत्वा परमर्द्धं व्याचष्टे', 'द्वितीयां विवृण्वन्नाह—परस्परेत्यादि, सर्वं सुगमं' 'कारिकाद्यः सुगमत्वात्' आदि। जिन कारिकाओं अथवा वृत्तिको अत्यल्प त छोड़ दिया गया है उनका उद्धार कैसे होगा? यह शोचनीय है।

रचना शैली और भाषा—

समग्र टीका गद्यमें लिखी गई है। प्रारम्भमें ५ और मध्यमें 'शास्त्रसिद्धि' नामक सातवें तथा 'शब्दसिद्धि' नाम के ९वें प्रस्तावमें क्रमशः १६, ७ अनुष्टुप् पद्य अवश्य पाये जाते हैं जो खुद टीकाकारके ही रचे हुए होना चाहिएँ। प्रत्येक प्रस्ताव और टीकाके अन्तमें समाप्तिसूचक कोई पद्य नहीं है। ग्रंथान्तमें तो उसका न होना खटकता भी है,

क्योंकि प्रारम्भमें भी पद्य थे और प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिस ग्रन्थके आरम्भमें पद्य होते हैं उसके अन्तमें भी एकाध पद्य जरूर रहा करता है। जैसे परीक्षामुख, न्यायदीपिका और न्यायकुमुदचन्द्र आदि। प्रत्येक प्रस्ताव और टीकाके अन्तमें सिर्फ निम्न प्रकार पुष्पिकावाक्य हैं:—

आदि-'इतिश्रीरविभद्रपादोपजीव्यनन्तवीर्यविरचितायां सिद्धिविनिश्चयटीकायां प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः।'

अन्तिम-'इति सिद्धिविनिश्चयटीकायामनन्तवीर्यविरचितायां निक्षेपसिद्धिर्द्वादशमः प्रस्तावः। समाप्तमिति।'

भाषा सर्वत्र प्रसन्न और प्रायः सरल है। व्याख्या-पद्धति यह है कि मूलग्रन्थके पद-वाक्योंका समास करके अर्थ बतलाया गया है। तात्पर्य यह कि टीकाकी व्याख्या अधिकांश खण्डान्वय शैलीकी है। यथा—

'तज्ज्ञानहेतुः कुतः ? इत्याह-शब्दार्थप्रत्ययाङ्गमिति, शब्दानुकरणादर्थस्य घटादेर्ग्राहको यः प्रत्ययस्तस्याङ्गं निमित्तम्। एतदपि कुतः ? इत्याह-विवेचयति यतः। कं भेदम्। कथं यथाशक्ति। केषां वाच्यानामभिधेयानाम्। क्व वाचकेषु। यत एवं ततः प्रतिपत्तुः पुरुषस्य श्रुतविषयविकल्पोपलब्धेरुपयोगो निक्षेप इति।'—पृ०१५४६।

श्रीजम्बूजिनाष्टकम्

(रचयिता—श्री पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

यदीयबोधे सकलाः पदार्थाः समस्तपर्याययुता विभान्ति।
जितारिकर्माष्टकपापपुञ्जो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥ १ ॥

अभूत्कलावन्तिमकेवली यो निरस्तसंसारसमस्तमायः।
समुज्ज्वलत्केवलबोधदीपो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥ २ ॥

विहाय यो बाल्यवयस्यमीमान्भुजङ्गभोगान्करुणान्तरात्मा।
प्रपन्ननिर्वेददिगम्बरत्वो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥ ४ ॥

कृते विवाहेऽपि धृतो न कामो अणोरणीयानपि भोगवर्गे।
निजात्मसहितभावनया प्रबुद्धो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥ ५ ॥

जिनेन्द्रदीक्षां सुखदां गृहीत्वा निहत्य यः कर्मचतुष्टयं च।
यः केवली भव्यहितोऽन्तिमोऽसौ जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥ ६ ॥

हितोपदेशं कुर्वन् हितैषी समानयद्धर्मपथे सुलोकान्।
समन्ततो यो विजहार लोके जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी ॥७॥

स्वयंवृतो मुक्तिरमाविलासैः मघो विमुक्तो मथुरापुरीतः।
स विश्वचक्षुर्विबुधेन्द्रवन्द्यो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी* ॥८॥

*यह जम्बूजिनाष्टक मैंने उस समय रचा था और उसका पं राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा संशोधन कराया था जब मैं श्रीऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासी मथुरामें प्रधानाध्यापक था। चूँकि चौरासी मथुरासे जम्बूस्वामीके निर्वाण-लाभ लेनेकी अनुश्रुति प्रसिद्ध है। अतएव वहाँ उनका गुणकीर्तन करना आवश्यक जानकर स्थानीय ब्रह्मचारियोंके लिये यह प्रार्थनाके रूपमें रचा गया था।

ग़दरसे पूर्वकी लिखी हुई ५३ वर्षकी 'जंत्री ख़ास' और उसमें उल्लिखित कुछ पुरानी बातें

[सम्पादकीय]
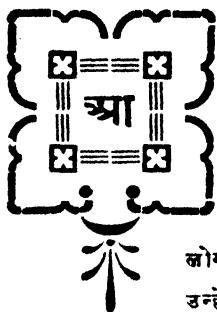
जसे कोई डेढ़सौ वर्ष पहले, जब मुद्रित जंत्रियाँ (उर्दू-फ़ारसीकी पंचाङ्ग-पोथियाँ) नहीं मिलती थीं—आजकी तरह उन्हें छपाकर प्रचारित करने और सर्वसाधारणके लिये सुलभ बनानेके साधन नहीं थे, तब लोग पत्रों (संस्कृत पञ्चाङ्गों) की तरह उन्हें भी अपने हाथसे लिखा करते अथवा लिखा कर अपने पास रक्खा करते थे। इन जंत्रियोंमें सन-संवतके अलावा प्रायः १ हर महीनेके दिन, २ अंग्रेजी तारीख, ३ हिजरी तारीख, ४ फसली तारीख, ५ हिन्दी तिथि—मय घड़ी-पल, ६ दिनमानके घड़ी पल, ७ नक्षत्र नाम—मय घड़ी-पल, ८ जोग नाम मय घड़ी-पल और कैफियत, इतनी बातें रहती थीं। कैफियतके खानेमें तथा हाशियेपर उस दिन होनेवाली किसी खास घटनाका उल्लेख किया जाता था और इस तरह अपने उपयोगके लिये एक प्रकारकी डायरीके रूपमें प्रधान प्रधान घटनाओंका रिकार्ड रक्खा जाता था। यह रिकार्ड प्रामाणिकता और इतिहास की दृष्टिसे बड़े महत्वकी चीज होता था।

कुछ अर्सा हुआ मुझे ऐसी ही एक हस्तलिखित जंत्री गदर सन् १८५७ से पहलेकी लिखी हुई उपलब्ध हुई थी, जिसका नाम है 'जंत्री खास'। यह जंत्री १ जनवरी सन् १८०१ से ३१ दिसम्बर सन् १८५३ तक ५३ वर्षकी जंत्री है, हाथके बने हुए अच्छे देशी कागजपर बड़े साइजमें प्रतिपृष्ठ एक महीनेके हिसाबसे लिखी गई है और इसे मेरे प्रपितामह (पड़बाबा) ला० दूलहराय (दूलोराय) जी कानूँगोने लिखना प्रारम्भ किया था, जो ला० ज़ोरावरसिंह जी 'रिंगिंग ऽदर' कानूंगोके पुत्र तथा ला० लालजीमल साहब कानूंगोके पौत्र थे और जिनका स्वर्गवास जंत्रीमें दी हुई घटनाके अनुसार ता० २ जून सन् १८४४ को हुआ है। आपके स्वर्गारोहणके बादसे यह जंत्री आपके पुत्रों[1] द्वारा लिखी गई है; परन्तु जीवनकालमें भी उनमेंसे किसी न किसीका यथावश्यकता लिखनेमें कुछ हाथ जरूर रहा है, ऐसा घटनाओंके उल्लेखपरसे जाना जाता है। इस जंत्री के अन्तमें एक जंत्री १८५४ के सालकी जिल्दके साथ बँधी है जो लैथूकी (मसालेके पत्थरकी) छपी हुई है और इस बातको सूचित करती है कि सन् १८५४ में लैथूकी छपी जंत्रियाँ प्रचारमें आगई थीं और उन्होंने हाथसे लिखनेकी जरूरतको हटा दिया अथवा कम कर दिया था। अस्तु।

यह जंत्री फ़ारसी जबान और फारसी-उर्दू लिपिमें लिखी हुई है—कहीं कहीं उर्दू जबानका भी कुछ प्रयोग है, परन्तु वह बहुत ही कम नगण्यसा है। इसके ख़ाने कैफियतमें और कहीं कहीं हाशियेपर भी तत्कालीन अनेक घटनाओंका उल्लेख है, जैसे ख़ास ख़ास व्यक्तियोंका जन्म-मरण, विवाह-शादी, तीर्थयात्रा, गमनागमन, पूजा-प्रतिष्ठा, मेला-उत्सव, हाकिमों आदिकी तब्दीली तकर्रुरी (नियुक्ति) अलहदगी आदि, सरकारी आर्डरों (पर्वानों) तथा कानूनोंका अवतार, किसी किसी मुकदमेका समाचार, लूटमार, भूकम्प, वर्षा, बीमारी, युद्ध, त्यौहार, सगुन (मुहूर्त) और गल्ले आदिके भाव वगैरह वगैरह। और ये घटनाएँ अकेले कस्बे सरसावेसे ही सम्बन्ध नहीं रखतीं बल्कि आस-पासके देहातों, चिलकाना, सुलतानपुर, नकुड़, रामपुर, अम्बहटा, नानौता, हरद्वार, मसूरी, लंढौरा, बूड़िया, जगाधरी, सधना जैसे कस्बों सहारनपुर, देहरादून मुज़फ्फरनगर, मेरठ, अम्बाला, लाहौर और कलकत्ता जैसे शहरोंसे भी सम्बन्ध रखती हैं।

---

१ ला० दूलहरायजीके पाँच पुत्र थे—फतहचंद, धर्मदास, गोपालराय, नारायणदास और हरध्यानसिंह, जिनमेंसे ला० धर्मदासजी इन पंक्तियोंके लेखकके सगे बाबा थे।

इस जंत्रीपरसे मालूम होता है कि सहारनपुर जिलेकी अदालत दीवानी कब मेरठ जिलेसे अलग हुई; कब सहारनपुर जिलेकी अदालतसे देहरादूनका इलाका अलग हुआ, कब अदालतों और कुछ दफ्तरोंमें (फ़ारसीकी जगह) हिन्दी ज़बान (भाषा) जारी हुई। कबसे रहननामों-बैनामों वगैरहकी रजिस्टरी लाजिमी की गई। किस तारीखको सहारनपुर की अदालत दीवानीमें वकीलोंकी मंजूरी अपील कोर्टसे पहुंची, कब सरसावा तहसीलमें मुन्सफीकी अदालत जारी हुई तथा कब उठी और कब सरसावासे तहसील नकुडको चली गई तथा वहां उसकी इमारत बननी शुरू हुई और कब सरसावा तहसीलकी इमारत नीलाम हुई तथा उसे किस किसने खरीदा।

साथही, यह भी मालूम होता है कि उस समय वकालत एक सरकारी ओहदा (पद) था, जिसपर सरकार की तरफसे योग्य व्यक्तियोंकी नियुक्ति बज़रिये सनदके की जाती थी और उसमें वकालतका स्थान निर्दिष्ट रहता था—आज कलकी तरह इम्तिहान पास करके हर कोई उसे स्वेच्छासे प्रान्त अथवा जिलेके चाहे जिस स्थान पर नहीं करने लगता था। इस जंत्रीके लेखक ला० दूलहरायजी पहले सरसावाके कानूँगो थे—कानूँगोईका ओहदा आपके वंशमें बादशाही वक्तसे चला आता था[१]—बादको मुन्सफ़ी चिलकानाके वकील मुकर्रर हुए थे, आपके छोटे भाई ला० बख्तावरसिंहजी देहरादूनके वकील थे और आपके पुत्र ला० फतहचंदजी पहले मुन्सफी चिलकाना तथा नकुडके (और बादको सहारनपुरके) वकील नियत हुए थे। ये सब घटनाएँ भी इस जंत्रीपरसे जानी जाती हैं।

अब मैं इस जंत्रीके खाने कैफियत और हाशिये पर नोट की हुई घटनाओंमेंसे कुछ थोड़ी सी घटनाएँ अनुवादित रूपमें, तारीख महीना सन् और दिनके साथ यहाँ देदेना चाहता हूँ, जिससे पाठकोंको इस जंत्रीकी घटना-लेखन-पद्धतिका कुछ विशेष परिचय प्राप्त हो सके और वे कितनी ही पुरानी बातोंको जान सकें। हाशिये वाली घटनाको ब्रेकट आदिमें 'नोट हाशिया' लिख कर व्यक्त किया गया है। और जहां कहीं कुछ स्पष्टीकरण अथवा नोट करनेकी जरूरत समझी गई है उस सबको भी ब्रेकटके भीतर रख दिया है, जिससे तारीख आदिके अनन्तर उस उस दिनकी फारसी भाषामें उल्लिखित घटनाएँ अपने यथार्थ स्वरूपमें समझी जा सकें। घटनाके समयकी तारीख आदिको ब्लाक टाइपमें दे दिया गया है:—

६ सितम्बर १८०२, सोमवार—जनाब ला० लालजीमल कानूंगो परगना सरसावा इस नश्वर संसारसे कूँच करके वैकुण्ठवासी हुए।

१५ अक्तूबर १८०४, सोमवार—शेरसिंह मकहूरने कस्बे सुलतानपुरको ग़ारत (लूट-मार द्वारा बर्बाद) किया।

१ अगस्त १८१६, गुरुवार—सन् ११ जलूस अकबरशाह बादशाह शुरू हुआ।

२० मई १८१७ मङ्गलवार—नव्वाब वज़ीरअलीखाँ का कलकत्तेके क़िलेमें देहान्त हुआ।

१ जुलाई १८१८, बुधवार—सदरके हुक्मसे जिला सहारनपुरकी अदालत दीवानी मेरठके जिलेसे अलग हुई।

२७ नवम्बर १८१८, शुक्रवार—अदालत दीवानी जिला सहारनपुरके वकीलोंकी मंजूरी अपीलकोर्टसे पहुँची। (इस तारीखसे सहारनपुरकी अदालत दीवानीमें वकालत शुरू हुई)।

११ अप्रैल १८१६, रविवार—मेषकी संक्रान्तपर स्नानके वक्त हजारों आदमी मर गये। (यह घटना हरद्वार की जान पड़ती है)

२५ सितम्बर १८२१, मंगलवार—अदालत दीवानी (सहारनपुर) की तातील एक माहके लिये २५ अक्तूबर तक की हुई।

१ अक्तूबर १८२४, शुक्रवार—हरसाल ज्वालापुर के जो रुपये सहारनपुर (खजानेमें जमा होनेको) आरहे थे उन्हें कुंभरे कुछ आदमियोंके सहित कल्लू डाकूने लूट लिया।

३ अक्तूबर १८२४, रविवार—मौज़ा कुंजा ताख़्त-ताराज हुआ (फौजी हमलेसे लुट गया)।

१ दिसम्बर १८२५, गुरुवार—इस तारीखमें कानून (ऐक्ट) नं० १६ सन् १८२४ बमन्सूख़ी कानून अव्वल सन् १८१४ मुताबिक कागज़ात स्टाम्प जदीद (नया) जारी हुआ।

१ पुरानी दस्तावेजों और कागजातमें आपकी सात पीढ़ी तक के पूर्वजोंके जो नाम मिले हैं उन सबको कानूँगो लिखा है। आपका वंश भी 'खान्दान कानूंगोयान'के नामसे प्रसिद्ध रहा है

३१ जनवरी १८२६, मंगलवार—चिट्ठी सदरकी देहरादूनके इलाकेको सहारनपुर ज़िलेकी अदालतसे अलग करनेके लिये और शुदनिश (?) के मुताल्लक़ कानून (?) के हुक्मसे अदालत सहारनपुरमें पहुंचा।

६ फर्वरी १८२६, सोमवार—अमला रजिष्टरी सहारनपुर पहुंचा।

७ अक्तूबर १८२७, रविवार—क़स्बा सरसावा खासकी पैमाइश हीरालाल स्याहानवीसके अहतमाम (प्रबन्ध) में हुई।

२० अगस्त १८२८, बुधवार—मेला गुगाहल हुआ।

२६ अक्तूबर १८२६, गुरुवार—मीर तालिबअली साहब ओहदे तहसीलदारी सरसावापर मुकर्रर होकर तशरीफ़ लाए।

१ नवम्बर १८२६, रविवार—हैदरअलीखां तहसीलदार मौकूफ़ (पृथक्) होकर सहारनपुरको रवाना हुए।

२० मर्च १८३०, शनिवार—सरावगियोंके मेलेका जमाव वास्ते पूजाजीके सहारनपुरमें हुआ।

२६ मार्च १८३०, शुक्रवार—उक्त मेला सरावगियों का बिछुड़ गया।

२५ नवम्बर १८३०, गुरुवार—मिस्टर काफ़ोर्ड साहब वास्ते तकमील बन्दोबस्तके सरसावा तशरीफ़ लाए।

२९ अगस्त १८३३, गुरुवार—गुलामअली और नूरअलीबख्श मन्दिरजीकी चोरीके मुकदमेमें दौरा सपुर्द हुए।

२३ सितम्बर १८३३, सोमवार—गुलामअली व नूरअली और हुसैनअली पाँच पाँच वर्षकी कैदके साथ जेलखानेमें कैद हुए।

२ जुलाई १८३४, रविवार—मौजा सुवाखेड़ी और इब्राहमीकी सरहदका तसफ़िया हुआ।

६ जुलाई १८३५, गुरुवार—मिस्टर पोल साहब मुन्सफ़ी सहारनपुरके ओहदेपर मुकर्रर हुए।

२७ जनवरी १८३६, बुधवार—बेगमसाहबा शिमरू साहबका सरधना (ज़ि० मेरठ) में देहान्त हुआ।

१२ फर्वरी १८३६, शुक्रवार—पर्वाना साहब जज बहादुर मवर्रवः ४ फर्वरी, बाबत शामिल होने थाना नकुड़ व रामपुर और गंगोहके मुन्सफ़ी चिलकानामें, आया।

१३ फर्वरी १८३६, शनिवार—इस तारीखमें ओहदा वकालत मुन्सफ़ी चिलकानाका बनाम दूलहराय मुकर्रर हुआ।

२५ सितम्बर, १८३६, रविवार—मिती असोजबदी एकम सन् १२४४ फ़सलीसे सदरकी चिट्ठीके अनुसार निज़ामत व फौजदारी और परमिटके दफ्तरोंमें हिन्दी भाषामें लिखनेका काम जारी हुआ।

६ जुलाई १८३७, रविवार—पटियालाके महाराजा करमसिंह बहादुरके पुत्र कुँवरजीकी बारात सरदार गुलाबसिंह बूड़िया वालोंके यहां रौनक़ पज़ीर (सुशोभित) हुई।

१ नवम्बर १८३७, बुधवार—हाकिमाने सदरके हुक्मसे वे राज़ीनामे मंजूर किये जाने स्थिर हुए जिन्हें मुद्दई लोग बिना मौजूदगी मुद्दआइलों (प्रतिवादियों) के पेश करें।

५ नवम्बर १८३७, रविवार—सरसावाके भाई मन्दिरजीके साथ वास्ते दर्शन हस्तिनापुरजीके रवाना हुए।

८ फर्वरी १८३८, गुरुवार—आजकी तारीखमें पटनीकी आबादीका सगून (मुहूर्त) मुकर्रर हुआ।

३ मार्च १८३८, शनिवार—ईश्वरीय कृपासे बहुत वर्षा हुई और वर्षाका प्रतिबन्ध संसारसे एक प्रकार दूर होगया।

२६ मई १८३८ शनिवार—पृथ्वीपर भूकम्प हुआ।

१ जुलाई १८३८, रविवार—दस्तावेज़पर नाम बक़ैद वल्दियत व सकूनतके न लिखनेकी बाबत पर्वाना साहब कलक्टरका बनाम पारसदास फ़ोतेदार (खजांची) के कचहरी तहसीलीमें आया।

२६ जुलाई १८३८, गुरुवार—कस्बा सुलतानपुर और चिलकानेमें सलूनो हुई।

८ अगस्त १८३८, रविवार—हरएक शहरमें सलूनो हुई।

१ जुलाई १८३६, सोमवार—सदरकी चिट्ठीके अनुसार हिन्दी भाषामें अर्जियां वगैरहका लिखा जाना अदालतोंमें जारी हुआ।

२० जुलाई १८३६, शनिवार—पंजाब देशके वाली (राजा) सरदार रंजीतसिंह बहादुरके फूल बहुत बड़े समारोहके साथ सहारनपुरमें दाखिल हुए (हरद्वार जानेके लिये)।

४ दिसम्बर १८४०, शुक्रवार—सूबा लाहोरके वाली राजा महाराजा खड़कसिंह और कुँवर नौनिहालसिंह

बहादुरकी दग्ध अस्थियां यानी फूल मौज़ा गदरहेडीमें बहुत बड़े हजूमके साथ दफनाए गये ।

१५ मार्च १८४१, सोमवार—ला० मुहरसिंह (सहारनपुर) और सय्यद मेहरबानअली (चिलकाना) ने कस्बा सरसावाके ५ बिस्वे(चौथाई जमींदारीके) नीलाममें खरीदे ।

२० मार्च १८४१ शनिवार—मुन्शी कालेराय साहब (सुलतानपुर नि०) मुजफ्फरनगरके डिप्टीकलक्टर हुए ।

२५ जून १८४१, शुक्रवार—वर्षाका झाला (प्रथमावतार) मालामाल करने वाला हुआ और तमाम जंगल जलसिन्धु नज़र आने लगा ।

१४ दिसम्बर १८४१, मंगल—चचा गुलाबसिंह[1] का स्वर्गवास हुआ ।

१६ दिसम्बर १८४१, रविवार—नव्वाब दोशमुहम्मदखां दुर्रानी मय डेढ़ सौ आदमियोंके समूहके कस्बा करनालसे चलकर सहारनपुरमें दाखिल हुए ।

५ मार्च १८४२, शनिवार—पृथ्वीपर रातके समय भूकम्प हुआ ।

२२ जून १८४२ बुध—वर्षाका झाला हुआ और खूब वर्षा हुई, यहां तक कि वर्षाकी बाढ़में सैंकड़ों घर कच्चे व पक्के हर शहर व गांवमें बर्बाद होगये और आदमी तथा जानवर बहुत मर गये ।

२५ जुलाई १८४२, सोमवार—पांच बिस्वे जमींदारी कस्बा सरसावाकी डिग्री डिप्टीशेख अहमद मुन्सिफसा० की तजवीज़से बारूमल (पिसर ला० मुहरसिंह) व सैयद जामिनअली (पिसर मेहरबानअली?) के नामपर (हकमें) होगई ।

२८ अगस्त १८४२, रविवार—मिती सप्तमीको ला० मुहरसिंहके बागका सगून (मुहूर्त) बारहे मुन्सरिम (मखदूम? शाह सरसावा खासमें (हुआ) ।

१० नवम्बर १८४२, गुरुवार—मन्दिरजीके साथ वास्ते जात्रा हस्तिनापुरके गये ।

२ दिसम्बर १८४२, शुक्रवार—ओहदा वकालत देहरादून बनाम बख्तावरसिंह (पिसर जोरावरसिंह सरसावा) मंजूर हुआ ।

११ से १८ दिसम्बर, रविवारसे शनिवार—चेचक की बीमारीमें सैंकड़ों बच्चे मर गये ।

२८ जनवरी १८४३, शनिवार—इस तारीख़में मुन्सिफ साहब चिलकानेका वह फैसला जजसाहबकी अदालतसे बहाल व बरकरार रहा जिसमें सरसावाकी पांच बिस्वे जमींदारी मिल्कियत सरफ़राज़अली, रहमबख़्श और पीलखां वगैरहकी ला० बारूमल व सैयद रमजानअली मुस्तरियान नीलामके नाम की गई थी ।

६ अप्रैल १८४३, रविवार—रुबाई (पद्य) तारीख बाग दूलहराय (लिखी गई)—

> बाग नो शुद अजीब ताज़ा फ़िज़ाए,
> बहरे हर ख़ास-आम जलवा नुमाए ।
> साल तारीख़ बा-मुसम्मा शुद,
> हातिफ़े गुफ़्त बाग दूलहराय ॥
>
> चैत २४ संवत् १९००

१ मई १८४३, सोमवार—गजटमें हुक्म है कि कागज रहननामा व हिबेनामा वगैरह बिना दस्तखत-रजिष्टरीके नाजायज होंगे ।

१५ जुलाई १८४३, शनिवार—सदरसे जारी हुए गजट मवर्खः ११ जुलाईके अनुसार कलक्टर सा० बहादुर का पर्वाना बनाम पारसदास खजानची बाबत लिखने नाम लेने वाले (खरीदार) कागज (स्टाम्प) का मय कीमत व..... (वल्दियत) व सकूनत वगैरह व तारीख वगैरहके प्राप्त हुआ ।

२४ जुलाई १८४३, सोमवार—कस्बा सरसावाके ५ बिस्वा (जमींदारी) पर ला० बारूमल व सय्यद जामिन (रमजान ?)अलीका दखल तहसील सरसावामें होगया ।

२० अक्तूबर १८४३, शुक्रवार—लाहौरके वाली सरदार शेरसिंहके फूल मय पुत्र व स्त्रीके सहारनपुरमें हजूम के साथ आए (हरद्वार जानेके लिये) ।

२२ दिसम्बर १८४३, शुक्रवार—जनाब हारवे साहब कलक्टर बहादुर सरसावामें रौनक अफ़रोज़ हुए और मूलचन्द (या बूलचन्द) के पाससे अरारावा (?) ६५) रु० कीमतमें खरीद किया ।

१ जून १८४४, शनिवार—घड़ी आध घड़ी (यकनीमपाश) दिन बाकी रहा था कि पूज्य पिताजी दूलहराय

[1] आप उक्त ला० जोरावरसिंहजी कानूँगोके छोटे भाई थे । आपके तीन पुत्र रंजीतसिंह, दलपतराय और गोविन्दराय हुए हैं । पिछले दोनों पुत्रोंके वंशज मौजूद हैं ।

साहबके पेटमें नाभिके नीचे दर्द शुरू हुआ।

२ जून १८४४ रविवार—एक घड़ी दिन बाकी रहनेपर पूज्यपिताजी दूलहराय साहब अमरलोकमें तशरीफ लेगये (उनका स्वर्गवास होगया)।

२० जून १८४४, गुरुवार—ओहदा वकालत चिलकानाकी मनर्थ साहब जज ⋯ साहबके हजूरसे फतहचंद (पुत्र ला० दूलहराय) के नाम होगई।

२० अगस्त १८४४ मंगल—(नोट हाशिया) द्वितीय श्रावन और भादोंके महीनोंमें जाड़ेसे बुखारकी बीमारी इस जिले (सहारनपुर) में बहुत ज्यादा हुई और सैंकड़ों आदमी मर गये।

३० सितम्बर १८४४, सोमवार—जनाब ला० मुहरसिंह साहब (साकिन सहारनपुर) अमरलोकको कूंच कर गये।

८ अक्तूबर १८४४, मंगल—घरके लोग ला० मुहरसिंहकी उठालवाहीमें सहारनपुरको रवाना हुए।

२३ दिसम्बर १८४४, सोमवार—तामीर छत्री (स्मारक) जनाब दूलहराय साहब शुरूहुई [मंगसिर २१ (सुदि १४) संवत् १९०१].

१८ फवरी १८४४, मंगलवार—ला० बहादुरसिंह सौदागरमल पिसरान ला० दीनदयालने मन्दिरजीमें उच्छाओ (उत्सव) श्री महाराजके कराये और करीब दसहजार आदमी बिरादरीके जमा हुए।

२२ फर्वरी १८४५, शनिवार—ला० बहादुरसिंहने मन्दिरजीमें श्री भगवानको स्थापन कराया और (आए हुए) बिरादरीके आदमी रवाना होगये।

३ अक्तूबर १८४५, शुक्रवार—दारोगा चौंकलसिंह (सहारनपुर) का देहान्त हुआ—सहारनपुर वाले ला० सन्तलालके पिताका देहान्त हुआ।

नोट हाशिया माह सितम्बर १८४५—इस महीने में हैजेकी बीमारीसे सैंकड़ों आदमी सहारनपुर और जगाधरी में मर गये और जाड़ेका बुखार बहुत जोरोंपर है।

नोट हाशिया माह अक्तूबर १८४५—सरदारअली (सैयद साकिन सरसावा) के मर जानेके बादसे (जिसकी मृत्युका उल्लेख जंत्रीमें ५ अक्तूबरको हुआ है) उसके घरके आदमियों पर आस्मानी आफत आन पड़ी—उसकी स्त्री, दोनों पोते, पुत्र मुंशी और उसकी पुत्री सब इस अक्तूबर महीनेमें मर गये।

३ नवम्बर १८४५, सोमवार—साहबान सदरका हुक्म सरसावामें मुन्सफीकी कचहरी नियत करनेका आया।

५ नवम्बर १८४५, बुध—अमला मुन्सफीका सरसावा आगया।

४ दिसम्बर १८४५, गुरुवार—बमूजिब सरकुलर नं० १८४५ मवर्खः २५ नवम्बर सन् १८४५ और रोबकार हाकिम साहब जज मवर्खः ४ दिसम्बर सन् १८४५ मुन्सफी के नाजिरोंसे एक हजार रु० की अमानत लेनेका हुक्म हुआ।

३० दिसम्बर १८४५, मंगलवार—आजकी तारीख के गजट सदरमें हुक्म है कि—"जिस मुकदमेमें मुन्सिफ चाहें कि सालिस मुकर्रर होकर तसफिया फरीकेनका होजाय और फरीकेन पंचायतसे इनकार करते हों तो मुन्सिफ साहबको अख्तियार है कि खुद इस्बराय अपने बिला दस्तखत फरीकेन ऊपर इकरारनामेके पंचायत मुकर्रर करके तसफिया मुकदमेका करादें।"

(यह हुक्म इसी तरह हिन्दी भाषामें दर्ज जंत्री है, और इससे ऐसा मालूम होता है कि अदालतोंमें हिन्दी जारी हो जानेसे वह गजट सरकारीमें भी इसी रूपसे दर्ज होकर आया है।)

१५ जनवरी १८४६, गुरुवार—(नोट हाशिया) इस साल अंग्रेजों और राजा दलीपसिंह लाहौर वालेके दरम्यान भारी संग्राम हुआ, लाखों आदमी दोनों तरफके मारे गये। अन्तमें विजय अंग्रेज साहबानकी समझी गई और राजा पटियाला अंग्रेजोंके साथ रहा। सरदार जीतसिंह लाडवावाला मौजा नसरुल्लापुरसे भागकर लाहौरकी तरफ पहुँचा, उसका देश व सामान अंग्रेजोंके अधिकारमें आया।

८ फर्वरी १८४६, रविवार—मौलवी मुहम्मदफजल अर्जम तहसीलदारी सरसावाके ओहदेपर तशरीफ लाये और तनख्वाह तहसील सहारनपुरकी २५०) रु० पाएँगे।

१८ मार्च १८४६, बुध—आजकी तारीखके गजटमें हुक्म है कि राजीनामा मुद्दआइलह (प्रतिवादी) के समक्ष तसदीक हुए बिना मंजूर न हो।

१ मई १८४६, शुक्रवार—वैशाख सुदि छठ सं० १९०३ को अजीज धर्मदासके घरमें छह घड़ी रात बाकी

रहे पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'नत्थासिंह' रक्खा गया। (यह नाम बादको 'नत्थूमल' नामसे व्यवहारमें आया तथा प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ और ये ही ला० नत्थूमलजी इन पंक्तियोंके लेखक (जुगलकिशोर मुख्तार) के पूज्य पिता हैं[1])

२७ मई १८४६, बुध--कचहरी तहसील सरसावा का नीलाम ४५०) रु० में हुआ, मगर मुल्तवी रहा।

२६ मई १८४६, शुक्रवार—आजकी तारीखमें नीलाम (मकान) कचहरी तहसील सरसावाका ४५०) रु० में बनाम शामलालके खतम हुआ।

(नोट हाशिया) मकान तहसील सरसावामें चौथाई हिस्सा ला० सन्तलाल(सहारनपुर), चौथाई हिस्सा सैय्यद मेहरबअली (या रमजानअली), चौथाई हिस्सा दर्मौंधी राम और चौथाई हिस्सा शामलालका मुकर्रर हुआ और बैनामा (हर एकका) अलग अलग लिखा गया।

३ सितम्बर १८४६, गुरुवार--कालेराय साहब (जैन) डिप्टी कलक्टर वास्ते इन्तजाम मुल्क जदीद जमना पारके सुलतानपुर (जि० सहारनपुर) से तशरीफ़ लाये।

१ नवम्बर १८४६, रविवार--सरस्की मजूरीसे कचहरी तहसील सरसावासे बर्खास्त होकर कस्बे नकुड़में गई और वहां कचहरी तहसीलकी (बिल्डिंग बनी)।

१ जनवरी १८४७, शुक्रवार—(नोट हाशिया) इस सालमें ऐसा कागज स्टाम्प आया जिसमें कि एक तरफ सुर्ख मुहर और उसमें कीमत लिखी हुई है।

२६ जनवरी, १८४७, मंगल—नकुड़में ला० शीलचंदजीने पूजाजी कराई, जिसमें पांच हजारके करीब आदमी जमा हुए।

३० जनवरी १८४७ शनिवार—नकुड़में शिखर-बन्द मन्दिरमें महाराजकी स्थापना हुई।

१ फर्वरी १८४७, सोमवार—कचहरी मुन्सफी सरसावासे बर्खास्त होकर नकुड़में (पहलीबार) हुई।

११ अक्तूबर १८४७, सोमवार—क़दरू बहलबान डेढ़ रु० माहवार तनख्वाह पर नौकर रक्खा गया।

१६ फर्वरी १८४८, बुध—दिनसोनार (बड़ी दावत) शादी अजीज राजाराम।) यह ला०राजाराम भी अपने एक बाबा थे, जो ला० दूलहरायजीके छोटे भाई ला० बख्तावरसिंहजीके लघुपुत्र और बाबा कन्हैयालालजीके लघुभ्राता थे।।

१८ फर्वरी १८४८, शुक्रवार—दिन शादी राजाराम, बारात सहारनपुर गई।

१६ अप्रैल १८४८ रविवार—(चैत सुदि १३ संवत् १६०५ को) श्रीमहाराजजीकी पूजाके उच्छाव हुए, सैकड़ों आदमी बिरादरीके जमा हुए।

१६ अप्रैल १८४८, बुध—सरसावामें श्रीमहाराजजी शिखरबन्द मन्दिरमें विराजमान हुए।

१८ जून १८४८, मंगल—फतहचन्दने नकुड़में ओहदे वकालतपर आकर मुकदमात रजू किये।

११ जुलाई १८४८, मंगल—साहब कलक्टर बहादुर मिस्टर दलूविम (?) साहब मसूरीके पहाड़से ग़ार (गड्ढे) में गिरकर मरगये, फतहचंद उस जगह मौजूद था।

३ दिसम्बर १८४८, रविवार—बरखुर्दार शंगमलाल[2] की हवेली पूर्वमुखीका मगून (मुहुर्त) हुआ और बाया उत्तरकी तरफसे शुरू किया गया।

२६ जनवरी १८४६, सोमवार—सुलतानपुर (जि० सहारनपुर) में पूजाजी हुई और पहले उच्छाओ (उत्सव) में पन्द्रह हजारके करीब आदमियोंका हजूम हुआ।

२ फर्वरी १८४६, शुक्रवार—सुलतानपुरमें (पिछले) उच्छाओ होकर महाराजजी मन्दिरमें स्थापित हुए।

१८ फरवरी १८४६, रविवार—अज़ीज धर्मदासके दो घड़ी रात बाकी रहे पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम शङ्करलाल[3] रक्खा गया।

२० जनवरी १८५०, रविवार--राजा खुशहालसिंह के पुत्र राजा हरबंससिंह लंढौरे वालेका देहान्त हुआ।

२५ जनवरी १८५०, शुक्रवार—राजा दलीपसिंह वाली लाहौर मय घरके आदमियोंके सहारनपुर आए और लाहौरका स्थान छोड़ दिया।

५ जनवरी १८५१, रविवार--(नोट हाशिया) इस साल सर्दीकी मौसममें बहुत बीमारी फैली, सैंकड़ों आदमी

१ आपके तीन पुत्रोंमें बड़े चौ० हींगनलाल और छोटे बा० रामप्रसाद ओवरसियर थे--दोनोंके पुत्रादिक मौजूद हैं।

२ यह बाबा फतहचंदजीके पुत्र थे और इनके दो पुत्र मित्तर-सेन तथा किरतचंद हुए, जिनकी सन्तति मौजूद है।

३ इन चचा शङ्करलालके पुत्र चमनलाल थे।

मर गये और फसल खरीफका गल्ला बहुत सस्ता होगया—

(भाव फी रुपया) मक्की—६ मन, शाली (धान) २ मन १० सेर, बाजरा—३ मन २० सेर, माश उड़द)—१ मन ३० सेर, रोगनतलख (तेल कड़वा)—२५ सेर, गुड़—१ मन १० सेर, शक्कर—३६ सेर।

२६ अप्रैल १८५१ मंगलवार—(नोट हाशिया) निरख (भाव) फसल रबी (आषाढ़ी) सन् १२५८ फ़सली—

गेहूं—२ मन २० सेर, चना मटर वगैरह—३ मन १० सेर, जौ—४ मन २० सेर, अदस (मसूर)—३ मन १० सेर गोजवा—३ मन ३० सेर।

नोट हाशिया जनवरी सन १८५२—इस माघ मासमें गल्लेका भाव बहुत ज्यादा महँगा होगया, चैतमास तक यही तौर रहा, हजारों मन गल्ला पिछले सालका काम में आया और प्रजाके लोग बहुत तंग आगये—

(गल्लका भाव फी रुपया) गेहूं—१ मन २० सेर, चना—१ मन १० सेर, मक्की—२ मन, बाजरा—१ मन ३० सेर, उड़द—१ मन*।

२७ मई १८५२, गुरुवार—आजकी तारीखमें हुक्म जजसा० बहादुर वास्ते तसदीक मुख्तारनामाके, मुन्सफी नकुड़में आया।

२१ अप्रैल १८५३, गुरुवार—ला० दर्सोंधीरामने मौजा कादरगढ़की जमींदारीका एक बिस्वा (बीसवां हिस्सा) ६००) रु० में खरीद किया।

८ जुलाई १८५३ शुक्रवार—मेहरबानअली (सैयद) और नरायणदास (महाजन) चिलकाने वालोंमें बहुत बड़ा जंग (युद्ध) हुआ—हवेली नारायणदासकी गारत हुई—बजरिये लूट-मारके बर्बाद की गई।

३० जुलाई १८५३, शनिवार—डेढ़ घड़ी दिन चढ़े भूकम्प हुआ (पृथ्वी पर हालन आया)।

इसी तरहकी और भी सैंकड़ों घटनाएँ—उस उस समयके वाक़आतकी यादृदाश्तें—इस जंत्रीमें दर्ज की गई हैं और उनसे कितनी ही ऐसी पुरानी बातोंका पता चलता है, जिनके जाननेका आज दूसरा कोई साधन नहीं है।

मुझे इस जंत्री परसे अपने उस 'वंशवृक्ष' के तय्यार करानेमें—खासकर उसमें पूर्वजोंके उदय-अस्त (जन्म-मरण) की तारीखें दर्ज करानेमें बड़ी मदद मिली है जो इस समय वीरसेवामन्दिरमें मौजूद तथा उसके हॉलमें एक शीशेके केसमें जड़ा हुआ सुशोभित है और जिसे मेरे छोटे भाई स्वर्गीय बाबू रामप्रसादजी ओवरसियरने तय्यार कर-कराकर ता० ८ अप्रैल सन् १६२६ को मुकम्मल किया था और फिर मुझे भेंट किया था। और इस लिये मैं इस जंत्री तथा इसके लेखक पूर्वजोंका बहुत ऋणी हूँ। बहुत अर्सेसे मेरी इच्छा थी कि मैं इस जंत्रीका कुछ परिचय प्रकट करूं; परन्तु अनवकाशसे लगातार घिरा रहनेके कारण अवसर ही नहीं मिलता था। अब, जब कि यह जंत्री दीमकोंका शिकार बन गई है तब, जैसे तैसे कुछ समय निकाल कर यह परिचय लिख पाया हूं, और इसे प्रकट करके मैं अपने को इस जंत्रीके ऋणसे कुछ उऋण हुआ समझता हूँ।

यहांपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि इस जंत्रीमें जंत्रीलेखक ला० दूलहरायजीके पितामह जिन ला० लालजीमल साहब कानूंगोका ता० ६ सितम्बर सन् १८०२ को वैकुण्ठ(स्वर्ग)वास होना लिखा है और जिनके वंशज दो शाखाओंमें विभक्त होकर इस समय मौजूद हैं वे अग्रवाल सिंगलगोत्री ला० हकूमतरायजी कानूंगोके पुत्र, ला० किरपारामजी कानूंगोके पौत्र तथा ला० मधुकरदासजी कानूंगो (सुपुत्र ला० नन्दरूपजी कानूंगो) के प्रपौत्र थे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २१-१-१६४६

---

* पाठक इन महँगे भावोंकी आजकलके भावोंके साथ तुलना करें और देखें कि जब गल्लेके इन भावोंकी कुछ महीनों की मौजूदगीमें ही प्रजा-जन बहुत व्याकुल हो उठे थे और तंग आगये थे, तब आज-कल वर्षोंसे चलने वाली इस भारी महँगाईके कारण जनताकी आकुलता और तंगी कितनी बढ़ी चढ़ी होगी। साथ ही, यह भी सोचें कि इसे बृटिश-शासन और भारतकी उन्नति समझा जाय या अवनति।

भगवान महावीर और उनका सन्देश

(लेखक—श्री कस्तूरमल सावजी अग्रवाल जैन, बी० ए०, बी० टी०)

र्तमान रणचण्डीका नृत्य यह बीभत्स और अनवरत रक्तपात भौतिक विकासकी देन है। आज संसारपर युद्धकी भीषणता अपना आतंक जमाये हुए है। आज निहत्थे नागरिकोंपर, असहाय कोमलाङ्गियोंपर तथा कोमल शिशुओंपर आकाशसे धड़ाधड़ बम वर्षा हो रही है।

एक ओर गरीब मजदूरकी रोटीका प्रश्न किसी प्रकार हल होता न देख व्याकुल हैं तो दूसरी ओर समृद्धिशाली पूंजीपति अपनी पैशाचिक इच्छाओंकी तृप्तिमें ऐसे संलग्न हैं कि उनके कारण न केवल उनकी ही किन्तु समस्त संसारकी नींद हराम होगई है तथा समस्त पृथ्वी सिहर उठी है।

सम्भव है कि वैज्ञानिक-उन्नति-द्वारा अटूट एवं असीम ऐश्वर्यकी प्राप्ति हो जाय, विशाल साम्राज्यका आधिपत्य प्राप्त हो जाय, आरामकी समस्त उत्तमोत्तम वस्तुओंका उपभोग मिल सके; जल, स्थल एवं वायुपर अपना शासन चलने लगे और भौतिक यन्त्रों द्वारा अपने सम्पूर्ण कार्य सुगमतर हो जायें; तो भी क्या हमारी अतृप्त तृष्णा मिट सकेगी ? कदापि नहीं। वैज्ञानिक उन्नति जड़वादका सहारा (Sahara Deser) मरुस्थल है। वहां तृषित-मृगवत् सुख एवं शान्तिका सरोवर खोजना निरापद नहीं। शताब्दियों पूर्व आर्यावर्तकी सुजलाम्-सुफलाम् भूमिमें सुख एवं शान्तिकी तरङ्गें कल्लोल करती थीं, जीवनके व्यापार सर्वथा सरल थे, आजीविका सम्बन्धी प्रश्न कभी समस्या न बना था, यहाँके प्राचीन निवासी अपनी सादगी में मस्त थे तथा आध्यात्मिक विकासके कारण वे परमानन्दमय जीवन-यापन करते थे। उनकी महान सेवाओं और उस समयकी दिव्य विभूतियोंके कल्याणकारी सन्देशोंके लिए आज भी समस्त संसार उनके पुनीत चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि अर्पण कर रहा है तथा करता ही रहेगा।

जब कभी भव्य भारतमें आध्यात्मिक पतन हुआ, जड़वादकी दुहाई दी जाने लगी, कलहाग्नि प्रज्वलित होने लगी तथा घोर विप्लवके चिन्ह दृष्टिगत होने लगे, उसी समय संसारके लिए ललामभूत विभूतियोंने अवतीर्ण होकर अपने अनुकरणीय कृत्योंसे ऐसी ऐसी महत्वपूर्ण शिक्षाएं प्रदान कीं कि निखिल भुवनमें अपने देशका मुखोज्वल कर-सुख एवं शान्तिका साम्राज्य स्थापित कर दिया। ऐसी ही परमादर्श-विभूतियोंमेंसे श्री भगवान महावीर थे। लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भारतमें चतुर्दिक हिंसाका साम्राज्य था। निरीह, निरपराध एवं मूक पशुओंको होम-कुण्डोंमें स्वाहा कर, पुण्य संचय करना ही धर्म समझा जारहा था। ऊँच-नीचताके जन्मजात बन्धनोंके कारण विशेष व्यक्तियों तथा वर्णकी तूती बोल रही थी। कुरीतियां और धर्मान्धता भारतीय समाजकी जड़ें खोखली कर रही थीं। हिंसावृत्ति के साथ साथ नैतिक अधःपतन भी होता जा रहा था। ऐसे समय भगवान महावीरने अपने शुभ जन्मसे इस वीर-प्रसवा भारतभूमिको पवित्र किया।

"मत सहल हमें जानो फिरता है फ़लक बरसों।
तब ख़ाकके पर्देसे इनसान निकलते हैं।"

होश संभालनेपर संसारकी विषमगतिने, मूक पशुओंकी हत्याने तथा सांसारिक भोगोंकी असारताने आपको बड़ा चोट पहुंचाई। नरम गद्देले आपको पसन्द न आए, राजपाटको त्याग कर आपने जङ्गलकी राह ली। तलाशे हक़के लिये तथा सच्चे सुख व शान्तिकी खोजमें जी-जानसे लग गए। स्वात्मानुभवकी निधिको पाकर आप मालामाल हो गए और इस अनमोल ख़ज़ानेको लुटानेका बीड़ा उठाया। भगवानने अपने जीवनका मनोहर आदर्श उपस्थित करते

हुए बतलाया कि कर्तव्य-परायण मानव दूसरोंके लिए जिया करते हैं हैं—और दूसरोंके लिए मरकर अमर हो जाते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मंगल एवं दिव्य पाठ देकर भगवानने सच्चे और वासना-रहित प्रेमकी गंगा बहा दी। हिंसाको दब्बूपन और खुदगर्ज़ीकी निशानी तथा अहिंसाको वीरोंका भूषण बतलाया। आपके नज़दीक अहिंसा और कायरता परस्पर विरोधी हैं। कायर कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता। अहिंसक पहले खुदपर विजय पाता है, खुद स्वतंत्र हो जाता है। विकारोंपर फ़तह पाना सहज नहीं है। इसके लिए बड़े त्याग और हिम्मतकी आवश्यकता होती है, न्याय-अन्यायको समझना होता है, प्राणिमात्रके स्वभावका सूक्ष्म निरीक्षण करना होता है, उसको न्यायोचित हक़ों तथा स्वत्वोंका योग्य रक्षण व संवर्धन अवश्यम्भावी है। अपने स्वार्थको तिलाञ्जलि देनी होती है। विकारोंकी लहर उसे बहा नहीं ले जा सकती, अहिंसक खुदके प्रति वज्र सा कठोर, परन्तु औरोंके लिये नवनीतकी तरह नरम होता है, वह अपने हितमें सतर्क रहते हुए भी परहितमें बाधा नहीं डालता, उसे अपनी इच्छाओं तथा प्रवृत्तिको दबाना होता है।

"जो तोकूं काँटे बुवे, ताको बो तू फूल।
तोको फूलके फूल हैं, वाको होत त्रिशूल॥"

राग-द्वेषके आधीन न होते हुए अपने परिणामोंकी योग्य सँभालको सच्ची अहिंसा कहा गया है। अतएव अहिंसक वास्तवमें सत्यका पुजारी और समूची जीव-जातिका आशिक रहता है। स्वाभाविक अंतरंग शुद्धिके कारण उसके हृदयसे प्रेमका दरिया उमड़ा चला आता है। समृद्ध परिस्थितिमें वह विनयकी मूर्ति बना रहता है और इस तरह अन्य जीवोंके हृदयोंको वह अपनी ओर अनायास ही खींच लेता है। यही कारण है कि सच्ची अहिंसामें कायरताकी गंध भी नहीं आ सकती।

"जो जन अहिंसा धर्मका पालन करेगा रीतिसे।
संसार सब गिर जायगा, झलके पगोंपर प्रीतिसे।
उसके लिये अतिक्रूर भी अतिशय सरल हो जायगा,
उसके लिये मीठी सुधाके सम गरल हो जायगा॥"

अहिंसकको राग-द्वेषसे कोई सरोकार नहीं। स्व-स्व रूपाचरणमें मस्त रहना उसका स्वाभाविक कार्य है। कषाय या वैभाविक अवस्थाके वह आधीन नहीं होता। वह मुसीबतोंमें व्याकुल नहीं होता और न सांसारिक सुखोंमें ही लिप्त होता है। उसके विशाल हृदय-सागरमें दयाकी लहरें उठती रहती हैं। सारे जीवोंपर प्रेम-दृष्टि स्थिर रहती है, क्योंकि वह खुद अपनेसे अर्थात् आत्मासे प्रेम करता है। वह ऐसा व्यवहार जो उसमें किया जावे यदि पसन्द नहीं करता तो दूसरोंके प्रति वैसा व्यवहार करना भी पसन्द नहीं करता; बल्कि दूसरोंके दुःखोंको देख कर उसके हृदयके कोमल तार झंकृत हो उठते हैं और वह दयाकी मूर्ति बनकर दूसरोंके दुःखोंको निवारण करनेमें एड़ी चोटीका जोर लगा देता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसे अहिंसाके राजमार्गपर लाकर खड़ा कर देती है, उसका अंतरङ्ग अपने स्वाभाविक रङ्गमें रङ्ग जाता है और इसी स्वाभाविक अनुभूतिका नाम अहिंसा है।

अहिंसाकी इस मौलिक परिभाषाको एकदम अव्यवहार्य कहना या इसे देश या समाजकी अवनतिका कारण बतलाना निरी कल्पना है तथा जैन शास्त्रोंके प्रति उनका अज्ञान है। भगवान महावीरने यतियों अर्थात् सर्व संग-परित्यागी साधुओंके लिए यदि महाव्रतोंका विधान है तो श्रावकों अर्थात् गृहस्थियोंके लिए भी व्यवहार्य सुन्दर नियमोंका दिग्दर्शन कराया है। गृहस्थ मानव सांसारिक कार्य जलकमलवत् किया करता है, किन्तु उसमें लिप्त नहीं होता। गृहस्थको अणुव्रती कहा है; अतएव वह जान बूझ कर या कषायोंके वशीभूत होकर न तो जीवोंका घात ही करे और न अपने परिणामोंकी विराधना ही। परिभाषामें इसे संकल्पी हिंसाके नामसे कहा गया है। वह संकल्पी हिंसा नहीं कर सकता। किं बहुना सांसारिक कार्योंमें चूल्हा सुलगाना, झाडू देना आदि आरम्भोंमें या वाणिज्य-व्यवसाय, खेती, सिपाहीगिरी आदि उद्योगोंमें या स्व-संरक्षण, परचक्र-निवारण आदि क्रियाओंमें—मजबूरीकी अवस्थामें उससे अवश्य हिंसा होती है; अर्थात् संकल्पी हिंसाका पूर्ण निषेध है—किन्तु आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा अनासक्ति-पूर्वक होती रहती है। संकल्पी हिंसाका निषेध बुद्धिकी कसौटीपर ठीक उतरता है। जब हम जान बूझकर हिंसाके इरादेसे जीवोंका घात करें या अपने आराम या कषायोंकी पुष्टिके लिए जीवोंका वध करें या

जीवोंके कोमल व स्वाभाविक परिणामोंकी विराधना करें तो अवश्यम्भावी हमारी यह क्रिया दुःखों और संसार का कारण बनेगी। हमें नैतिक दृष्टिसे भी दूसरोंको सताने का क्या हक है ? यदि आप सताये जाना पसन्द नहीं करते तो आपको दूसरोंको सतानेका क्या हक पहुंचता है ? यही कारण है कि भगवान महावीरने पशुवध और नरमेध आदिके विरुद्ध जोरदार आवाज़ उठाई, मांसभक्षण आदि का निषेध किया, जगतकी शान्तिके लिए संकल्पी हिंसाका छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक हम हमें और समूची जीव-जातिको न समझें, उसके स्वाभाविक तथा न्याय्य स्वत्वोंका लिहाज नहीं रखा जा सकता और जगत्में शान्तिका साम्राज्य नहीं फैलाया जा सकता। अतएव प्रत्येक मानवका कर्तव्य है कि वह संकल्पी हिंसाका त्याग करे।

गृहस्थ, दैनिक कार्योंमें आसक्ति न रखते हुए यदि आवश्यकीय क्रियाओंको करता रहे तो बहु-अंशमें उसके परिणाम स्वाभाविक रहते हैं। इसलिए वह पूर्णरूपसे दोषों या पापोंका जिम्मेदार नहीं है, कुछ अंशमें अलबत्ता ऐसा प्रयत्नशील, सदाचारी और सद्विचारी मानव सांसारिक क्रियाओंके करते रहनेके कारण—कुछ वैभाविक अवस्थाको प्राप्त होता है। अतएव इसके निवारणके लिये तथा अत्यल्प दोषोंकी मात्रा और भी घटती रहे इसलिए उसे षट्कार्य नित्य-रोज ही करने होते हैं—यानी देवपूजा, गुरुओंकी भक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप आदिको आचरणमें लाना पड़ता है। इन क्रियाओंका यह मतलब नहीं कि वे अर्थहीन तथा निस्सार क्रियाओंको करे, बल्कि गुणोंकी प्राप्तिके लिये वह गुणियोंका आदर करे, ज्यादासे ज्यादा रूपमें अपने परिणामोंको स्वाभाविक बनाए और इन क्रियाओंमें विशेष सावधानी रखे।

सांसारिक क्रियाओंमें रत न रहना, यह मुख्य बात है। आसक्ति जीवकी वैभाविक अवस्था है और यह अवस्था दुःखका मूल और संसारकी जननी है। यदि चक्रवर्तीके साम्राज्यका भोगी अपनी सम्पदा और भोगोंमें लिप्त नहीं है तो उसकी क्रियाएँ अवश्य ही सराहनीय हैं। अतएव वीरानुयायी, न्यायमार्गका पालन करते हुए जब चक्रवर्ती तक बन सकता है, धर्म, राष्ट्र और देशकी सेवा कर सकता है, लड़ाइयोंको लड़कर दुष्टोंको सज़ा और गरीबों, अशक्तों व असहायोंका रक्षण कर सकता है, तो यह कहना कि 'जैनधर्म कायरोंका धर्म है' और इससे अभागे भारतवर्षकी अवनति हुई है, सरासर ग़लत है। यदि ऐसा होता तो सम्राट् चन्द्रगुप्त, प्रसिद्ध ग्रीक योद्धा सिल्युकसको अपनी तलवारका मज़ा न चखाते; राजा खारवेल, महामण्डलेश्वर अमोघवर्ष प्रभृति वीरपुंगवोंकी वीर-गाथाएँ आज जैनशास्त्रों में पढ़नेको न मिलतीं।

वास्तवमें इस देश और देशवासियोंकी अवनतिका कारण जैनधर्म या स्वाभाविक मानवधर्मका त्याग करना है। ब्राह्मण ऊँचे और सबसे ऊँचे हैं, इसलिए सारी सत्ता का संचालन उन्हींके हाथों होना चाहिए, इस वृथाभिमान ने और कषायोंके वशीभूत होकर एक दूसरेको नीचा दिखानेके लिए अपने धर्म, देश और सर्वस्वकी बाजी लगा देनेके कारण तथा (Divide and rule) "फूट का बीज बोओ और हकूमत करो" की नीतिका शिकार हो जानेके कारण तथा हमसे कुछ हो नहीं सकता, होनहार ही ऐसी है—भगवान ही सब कुछ करने वाला है, आदि कायरतापूर्ण विचारोंके कारण, तथा ऐयाशी, लोभ आदि सैंकड़ों चीजोंके कारण यह देश रसातलको पहुंचा है। जयचन्द, अमीचन्द, मीर जाफर जैसे देशद्रोहियोंकी यहाँ कमी नहीं रही। इक़बाल कहते हैं:—

> जाफर अज़ बंगाल व सादीक अज़ दकन,
> नंगे आदम नंगे दीन व नंगे वतन।

अतएव जैनधर्मको अवनतिका कारण बतलाना अन्याय है तथा सत्यका गला घोंटना है।

जो भी हो, इतना आसानीसे कहा जा सकता है कि भगवान महावीरके अहिंसाके प्रयोगने न सिर्फ उस समय सबको अपनी ओर आकर्षित किया किन्तु अब भी इसी अमोघशक्तिका हिन्द नेता महात्मा गांधी बड़ी कामयाबी से स्वतंत्रताके संग्राममें उपयोग कर रहे हैं। अहिंसा आत्माका स्वभाव है, इसलिए वह हितकारी है। प्राकृतिक होनेके कारण खुदको और जगतके सारे जीवोंके लिए शान्तिदाई है। अहिंसासे ही जगतका कल्याण हो सकता है तथा इसे अपनानेसे जगतके सारे व्यवहार सुन्दरतासे चल सकते हैं। अहिंसा जगतके लिए महान् सन्देश और

वीर भगवानकी देन है। अतएव सारे संसारके प्राणियोंके प्रति प्रेम या इश्कका भाव रखना हमारा कर्तव्य है और हमारे रोग का यही इलाज है :—

"इश्कसे तबियतमें ज़ीस्तका मज़ा पाया।
दर्दकी दवा पाई दर्द बे दवा पाया।"

भगवान महावीरने संसारकी गुत्थियोंको तथा उनके सुलझानेका वर्णन बड़े ही रोचक और वैज्ञानिक ढंगसे किया है। जगत मुख्यतः जीव और अजीव, इन दो पदार्थोंका समुदाय है। यह स्वयम्भू अनादि और अनन्त है—इसी तरह न तो इन पदार्थोंका अन्त हो हो सकता है और न ही नए पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं अलबत्ता पर्याय या अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। मिट्टीसे घड़ा, और घड़े से कोई और वस्तु बनाई जा सकेगी—किन्तु हर हालतमें मिट्टी मिट्टी ही रहेगी। अजीवको परिभाषामें जड़ या कर्म के नामसे भी याद किया जाता है। संसारमें जीवोंका परिभ्रमण कर्मके संसर्गसे ही होता है। जीवोंकी विविध अवस्थाएँ, ऊँच-नीच होना, दुखी होना, सुसम्पन्न या दरिद्री होना, सुन्दर या कुरूप होना—सारांश जीवोंके इन स्वांगों में कर्म हीका हाथ है। कर्मके संयोगसे जीव अशुद्ध है जीवों का संसार कर्म हीके कारण है, या यों कहा जाय कि प्राणी अपने कर्मोंका जिम्मेदार है—जैसा करेगा वैसा उसे भरना होगा। 'बोये पेड़ बबूलके तो आम कहाँसे खाय' इसलिए प्राणीको चाहिए कि वह अपने स्वभावानुकूल कार्य करे, अपनी भलाई और बुराईका कारण खुद वह है। उसका स्वर्ग वही बना सकता है, या अपनी वैभाविक कृतिके कारण खुद खुदाको जहन्नुममें भी पहुंचा सकता है। मन-वचन-कायकी हरकतों द्वारा उसके आत्म-प्रदेश चचल वा सकंप हो उठते हैं और कर्म-रजोंको आकर्षित कर लेते हैं। कर्म-रजोंका आकर्षण उसके संसारकी सृष्टि करता है, अतएव इन कर्म-पिण्डोंसे छूटना मोक्ष है। "नर कुछ करनी करे तो नरका नारायण होय" इस चीजको जैन धर्ममें विशेष रूपसे स्पष्ट किया है—चुनांचे समाधितन्त्रमें साफ तौर पर कहा है :—

"नयत्यात्मानमात्मैव जन्म-निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः।"

भावार्थ—आत्मा ही खुदके परिभ्रमणका कारण है तथा मुक्तिका भी। अतएव आत्मा ही खुद गुरु है—यानी उसकी उन्नति वा अवनति उसीके हाथमें है। पथप्रदर्शक निमित्तमात्र हैं। इसी तत्त्वके अनुसार जैन धर्ममें ईश्वरके हाथ कुछ भी सत्ता नहीं है। न तो वह दुःख ही दे सकता है न सुख। संसारकी सृष्टिका न तो वह कारण है और न उसे भेंट, स्तुति आदिके जरिये रिश्वत देकर खुश ही किया जा सकता है। मनुष्य खुद अपने हित या अनहित को समझकर योग्य कार्यका आश्रय कर सकता है। अतएव उसके लिए आवश्यक है कि वह सदाचार, सद्विवेक-बुद्धि द्वारा अपनी सारी क्रियाओंको नियंत्रित करे तथा महाप्रभावी कर्मबन्धनोंको सच्चारित्रद्वारा काटे अन्यथा अपने अच्छे-बुरे कर्म बंधते रहनेके कारण वह आत्म-कल्याणसे कोसों दूर हो जायगा। मुसीबतका पहाड़ उसपर टूट पड़ेगा। लालसा और अतृप्त तृष्णाके कारण व्यथित रहेगा और इस तरह अनन्त काल तक दुःखोंके सागरमें गोते लगाता रहेगा यह है इन जड़ कर्मोंका प्रभाव। कर्म एक नशा है। इसी नशीली वस्तुके सेवनसे उसका यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। अतएव इस नशेसे बचनेके लिए, आत्मिक प्रदेशोंको सकम्प न होने देना अर्थात राग, द्वेष, क्रोध आदि विभावोंके आधीन न होना एक ज्ञानी आत्मा के लिए श्रेयस्कर है :—

"अमलसे ज़िन्दगी बनती है, जन्नत भी जहन्नुम भी।"

इसमें शक नहीं कि संसारी आत्माएँ अनादिकालसे जड़ वा कर्मके साथ संलग्न चली आ रही हैं। फिर भी आत्मा आत्मा है और कर्म कर्म। दोनों अपने अपने स्वभावमें स्थित हैं। आत्मा अमूर्तिक, ज्ञाता, अखण्ड और चेतन स्वभाव वाला है, और कर्म मूर्तिक तथा पौद्गलिक तथा ज्ञानशून्य है। इसीलिए इस संसारी आत्माको परमात्माकी अवस्था तक पहुंचाना ही हमारा पुरुषार्थ है। यही इसकी स्वाभाविक अवस्थाका लाभ "वस्तु स्वभावो धर्मः" के अनुसार चलनेसे ही होगा। इसी मान्यताकी दृष्टिसे सारे जीव परस्पर समान हैं। गुण-स्वभावकी अपेक्षा अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्यमय परमशुद्ध बुद्ध हैं। ऐसे शुद्ध एवं सिद्ध जीवोंके अलावा संसारी जीव भी हैं, जो शक्ति या शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा उपरोक्त गुणोंके धारी हैं, किन्तु अनादिकालसे कर्म-

रजके चिपके होनेसे अविकसित हैं। इनकी यह स्थिति वैभाविक अवस्थाकी तीव्रतापर निर्भर है। इन संसारी जीवोंमें इनके परिणामोंकी अशुद्धता आदिमें बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है। बहुतसे जीव अत्यन्त रागी, महाक्रोधी, दुखी आदि होते हैं, बहुतसे कम मात्रामें होते हैं और चन्द उत्तरोत्तर वैभाविक अवस्थाको हटाकर अपनी स्वाभाविक अवस्थाके प्रति पहुँचनेमें प्रयत्नशील होते हैं। इसलिये स्पष्ट है कि मुक्त होनेका अर्थ जीवका अपनी स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त होना है। इसी शुद्ध, परम शान्त, अनन्त सुख, ज्ञान वीर्यमयी पवित्रात्माको परमात्मा या ईश्वर माना जा सकता है, और बाकी संसारी जीव 'वन्दे तद्गुणलब्धये' अर्थात् इन गुणोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्तुति, उपासना, आराधना, श्रद्धा, पूजन, वन्दना आदिमें रत रहते हैं। जैनियोंकी मूर्तिपूजा, सामायिक, ध्यान, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ उसी समय सारभूत कहलाती हैं जब केवल इसी उद्देश्यको लेकर पूजक, पूजाके असली मैदानमें उतरा हो। इन शुद्धात्माओंकी भक्ति-आराधकको अपनी स्वाभाविक अवस्थाकी याद दिलाती है। वह अपने स्वरूप-चिन्तनमें मग्न होनेका यत्न करता रहता है, उसकी परिणति शुभसे शुद्धताकी तरफ होने लगती है—अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूपके पानसे उसे असीम आनंद प्राप्त होने लगता है। अब दूसरी तरफ वह आकर्षित नहीं होता। कहा भी है :—

> "पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः
> क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्।"

जैसे क्षीरसमुद्रके उज्वल मधुर जलको पीनेवाला भी खारे जलको पीनेकी इच्छा नही करेगा।

[illegible]ने भी एक जगह इसी आशयको बड़ी अच्छी [illegible]गा है :—

> [illegible]नैनन बसी, पर-छवि कहाँ समाय।
> [illegible] लखि, आप पथिक फिरि जाय॥"

[illegible]ससने एक बार परमात्माके स्वरूप [illegible]ोंको दूसरा रूप किसी तरह भी [illegible] यह विवेकशील हो जाता है। [illegible]रात्मा बन जाता है। इस [illegible]एँ विवेकको लिए हुए होती हैं। अब वह सिद्धिप्राप्त परमात्माकी भक्तिसे अपने आत्मोत्कर्षमें लग जाता है। उसकी नैमित्तिक व नित्य क्रियाओंमें जानसी पड़ जाती है। अब वह पूजन, सामायिक, आलोचना व्रत नियम पालन आदिमें बेजान मशीनकी तरह लगा नहीं रहता है, बल्कि उसे सांसारिक क्रियाएँ करते हुए भी इन शुभ तथा शुद्ध भावोंको प्रदान करनेवाली नित्य नैमित्तिक क्रियाओंमें एक खास मजा आने लगता है। आत्मगुणोंके विकसित होते रहनेके कारण इन चीजोंमें अवर्णनीय आनन्दकी प्राप्ति होने लगती है। वह चतुर पुरुष प्रेम समुद्रमें डूब जाता है—यही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य रहता है :—

> डूबै सो बोले नहीं, बोले सो अनजान।
> गहरो प्रेम-समुद्र कोऊ, डूबै चतुर सुजान॥"

विरले पुरुष ही भावशुद्धिकी तरफ अग्रसर होते हैं और जितनी देर यह अवस्था टिकती है वह जीवन्मुक्त समझे जा सकते हैं।

वीर भगवानने जीवोंके कल्याणको लक्ष्यमें रखकर अनेकान्तवादका बड़ा ही मौलिक उपदेश दिया है। अनेकान्तवाद जैनधर्मकी आत्मा है। जनताकी धार्मिक असहिष्णुताकी जड़ें सिर्फ अनेकान्तवाद ही काट सकता है। इस सिद्धान्तके द्वारा दृष्टिमें दोष बाकी नहीं रहता। सत्यका पता आसानीसे चल जाता है और वस्तु स्वभावके समझनेमें उसे धोखा नहीं होता। विविध दर्शनोंने संसारकी विविध गति पदार्थको क्षण क्षणमें नाश होना आदि माना है, तो कहीं द्वैत अद्वैतका झगड़ा खड़ा किया है, तो कहीं केवल माया और भ्रम मात्र ही जगत् समझा गया है। किन्तु अनेकान्तवादके जरिये वस्तु स्वभावकी काफी छानबीन होती है और परस्परविरोधी दृष्टिकोणोंका साहचर्य तथा समन्वय होनेसे वास्तविकताका पता चल जाता है। अनेकान्तके द्वारा आसानीसे समझमें आ सकता है कि द्रव्य-दृष्टि द्वारा वस्तु नित्य है, परन्तु पर्यायदृष्टि द्वारा अनित्य भी, इसी तरह प्रतिपल पर्याएँ परिणमनशील होती रहती हैं, और मूलवस्तुका स्वभाव जैसाका तैसा ही बना रहता है। वस्तु परीक्षाके इस उदार शास्त्रको यदि अपनाया जाए तो जगतमेंसे अनुदारता एवं संकीर्णता, धार्मिक असहिष्णुता आदिका मुंह काला हो जावे।

परस्परोंके दृष्टिकोणको समझनेके कारण प्रेमकी अभिवृद्धि तथा एक दूसरोंके प्रति आदरभाव पैदा हो जाये । जैन शास्त्रोंमें इसका विशद वर्णन जानकर इसकी तात्त्विक उपयोगिता भली भांति सिद्ध हो सकती है :—

"आँधी आई ज्ञानकी, ढई भरमकी भीत ।
माया टाटी उड़ गई, लगी नामसे प्रीत ॥

जो भी हो, भगवानने षट्द्रव्योंके स्वरूपको, संसार की अनित्यता तथा व्यवस्थाका पुद्गल पिण्ड और उसके सामर्थ्य, प्रभाव आदिका बड़ा अच्छा विश्लेषण किया है । इसी तरह व्यवहार सम्यग् दर्शनका और उसके अंगोंमें समाजशास्त्र, राजकारण, अर्थशास्त्र एवं मानस-विज्ञानके अनुभूत तत्त्वोंको बड़े सरल तरीकेसे समझाया है । सार्वजनिक प्रेमके जरिये संगठनका मन्त्र फूंका है । सबके प्रति सद्व्यवहारकी शिक्षा दी गई है । दूसरोंके प्रति दुःख सहन करनेमें भी आत्मिक सुखका अनुभव होना चाहिए ऐसा बतलाकर सेवा-मार्गका उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है । दूसरोंके दोषोंकी पर्दादारी करना सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य बन जाता है, इसलिए संसारके आकुलित प्राणियों पर एहसानका बोझ कुछ ऐसा हो जाता है कि वह आकुलित मानव स्वयं पथभ्रष्ट होनेसे ही नहीं बचता किन्तु अपने भाइयोंके वात्सल्यको देखकर न्यायमार्गका आचरण बड़े धैर्य और उत्साहसे करने लगता है । सत्यपर उसकी श्रद्धा अनायास ही हो जाती है । वह परीक्षाप्रधानी बन जाता है । 'मैं' का मिथ्या अभिमान या जाति, कुल, विद्या, रूप आदिका गर्व और घमण्ड उसे फिर छूने नहीं पाता और इस तरह अनायास ही पैदा हो जाता है । वीर भगवानने जैन दर्शनका निचोड़ सुमधुर तथा अमृतमय आध्यात्मको बतलाया है ।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।"

इस सूत्रमें बतलाया है कि योग्य अर्थात् जैसी वस्तु है उसे वैसा ही देखना, वैसा ही जानना और उसी अनुसार वर्तन करना ही मोक्षका सच्चा रास्ता है । सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका स्वभाव है—निजी सम्पत्ति है । इस खजानेकी कुञ्जी—इसीके पास है । इसे ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं । दुनियाकी ख़ाक भी यदि हम छानते फिरें तो भी हमें आत्मदर्शन या आत्मबोध हमारे ही अन्दर होगा । परमात्मा हमारे ही अन्दर विराजते हैं । इसी आत्मानुभूतिको—आत्मप्रतीतिको सच्चा सम्यग्दर्शन कहा गया है । वही हमारा स्वभाव है । इसीमें सच्चे सुखके असीम आनन्दका अनुभव होगा ।

'मूढा देउलि देउ ण वि ण वि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
दो देउलि देउ जिणु, सो बुज्झहि सम चित्ति ॥"
—योगीन्दु देव

हे मूरख ! देव देवालयमें नहीं, पाषाण शिला, लेप, चित्र आदिमें देव नहीं, किं बहुना, जिन भगवान देहरूपी देवालयमें ही विराजते हैं । इस चीजका समचित्त होकर अनुभव करनेकी आवश्यकता मात्र है ।

इसी आत्मदर्शन या परमात्म-स्वरूपके अवलोकन या अनुभूतिसे उसे वचन अगोचर सुखकी प्राप्ति हो जाती है । उसके हृदय-वीणाकी तारें आनन्दसे निनादित हो उठती हैं । प्रेमका पवित्र सोता बहने लगता है और उत्तरोत्तर वृद्धि ही होने लगती है ।

"प्रेम सदा बढ़िबो करै, ज्यों शशिकला सुवेष ।
पै पूनो यामें नहीं, ताते कबहुं न सेष ॥

इस प्रेमके अगाध तथा अथाह सागरमें बिरले पुरुष ही डूबना जानते हैं । 'आत्मानुभूतिका आनन्द वह ही जाने—जिसने उसे पाया है, 'लुत्फ मय तुझे पी ही नहीं जाहिद" वाली बात है । यह आनन्द गूंगेके गुड़की तरह है :—

"ज्यों गूंगो मीठोफलको रस अन्तरगत ही भावै ।
मन बानीको अगम, अगोचर, सो जानै जो पावै ॥"

इसी सीढ़ीपर चढ़कर उसे अनुभव होने लगता है
परमात्मामें और उसमें एकदम साम्य है । इस ...लिक
सम्बन्धको वह परम उपादेय देखने लगता है ...आत्माको

इसी आत्मप्रतीति या आत्मबोधके ...ा पुरुषार्थ है ।
ज्ञान या सम्यग्ज्ञान होता है, इसीके "वस्तु स्वभावो-
जाता है । इसके होते ही आप-पर । इसी मान्यताकी
है—संशयको यहाँ कोई गुंजाइश ...ण-स्वभावकी अपेक्षा
चेतनका उत्तर और दक्षिण ...ज्ञान, अनन्त वीर्यमय
पातालका सा अन्तर उसे दि... सिद्ध जीवोंके अलावा
अन्तरंग शुद्धिका कारण है ...या शुद्ध निश्चय नयकी
...किन्तु अनादिकालसे कर्म-

जीने निम्न सवैयामें ज्ञानके स्वरूप और उपयोगिताको अच्छी तरह झलकाया है :—

"ज्ञान उदै जिनके घट अन्तर,
ज्योति जगी मति होत न मैली,
बाहिर दृष्टि मिटी जिन्हके हिय,
आतमध्यान कला विधि फैली,
जे जड़ चेतन भेद लखें सो,
विवेक लिये परखे गुण थैली,
ते जगमें परमारथ जानि,
गहे रुचि मानि अध्यातम सैली।"

सारांश शुद्धात्मानुभव ही सच्चा सुख है। यही उसे विवेक होता है अपनी अद्वितीय व असामान्य असीम शक्ति की पहचान होती है। अब वैभाविक या मोह, क्रोध, कषाय, दुःख रोग, क्लेश आदिके वशीभूत नहीं होता। वह अब परमार्थको समझने लगता है। अब ऐन्द्रियक सुखोंको वह दुःखोंका कारण समझता है। इससे उसकी तृप्ति नहीं होती। वह तो अखण्ड अविनाशी तथा स्वाधीन सुखको ही अपना पैदायशी—बल्कि अनादि हक़ समझता है। उसकी आंखोंमें दिव्य तेज झलकने लगता है। स्वात्मानुभवके कारण अनायास ही कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है। उसकी प्रत्येक क्रिया अब उसे उत्तरोत्तर प्रतिक्षण स्वात्मानुभव और चित्तशुद्धिकी तरफ अग्रसर करती रहती है। जब आत्मदर्शन और आत्म-ज्ञान हो जाता है, तो स्वाभाविक तौरपर ही आत्मविकासकी ओर वह सक्रिय हो जाता है। इसीका नाम सच्चा चारित्र या सम्यग्चारित्र है। इसी मार्गपर चलते रहनेसे अनन्त गुणी निर्जरा होने लगती है और वह सिद्धिके सोपानपर द्रुतगतिसे चढ़ना प्रारम्भ कर देता है :—

"जहाँ शुद्ध ज्ञानकी कला उद्योत दीसे,
तहाँ शुद्धता प्रमाण शुद्धचारित्रको अंश है,
ता कारण ज्ञानी सब जाने ज्ञेय वस्तु मर्म,
वैराग्यविलास धर्म वाको सरवंश है,
राग, द्वेष मोहकी दशासों भिन्न रहे याते,
सर्वथा त्रिकाल कर्मजालसों विध्वंस है,
निरुपाधी आतम समाधिमें विराजे ताते,
कहिये प्रगट पूरण परमहंस है।"

कविवरने कैसा अच्छा वर्णन किया है। ज्ञानकी वृद्धि, आत्मदर्शन तथा स्वानुभवके कारण उसकी सारी क्रियाएँ सहजशुद्ध तथा आत्माभिरुचिको लिए हुए होती हैं। वहां राग, द्वेष, संशय, संकल्प-विकल्प आदिको जगह नहीं। वह पूर्णताकी ओर बढ़ा चला जाता है। अपने विमल और उत्कृष्ट शुक्लध्यान द्वारा वह आत्मा परम पवित्र, परम शुद्ध होकर अत्यन्त उत्कृष्ट अवस्था अर्थात् मुक्त अवस्थाको पहुंच जाता है। वहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येयमें तथा सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नत्रयमें अपने आपको अभिन्न पाता है। अब वह हमेशाके लिए कर्म झंझटोंसे छूटनेके कारण अपने स्वाभाविक तथा स्वाधीन वीतराग पदमें तन्मय हो जाता है—

"लाली मेरे लालकी जित देखूं तित लाल,
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥"

क्या पते की बात कही गई है! कितना मधुर संगीत छेड़ा है!! कैसा सुख और धर्मका वैज्ञानिक रूप है!

भगवान वीरने अपने महत्व उपदेश द्वारा बतला दिया है कि धर्म ढूंढनेसे नहीं मिलता, वह आत्मगत है। भीतरकी आवाज़ है। उसी स्वाभाविक अन्तरध्वनिको सुनना, उसीके अनुकूल वर्तना, उसीके होजाना, उसीमें अपने आपको मिटा देना, इसी बेखुदीको रत्नत्रय रूप धर्म कहा गया है। यही भगवान महावीरका सन्देश है।

इसी सन्देशको विश्वके कोने-कोनेमें पहुंचानेकी आवश्यकता है। खेद है कि आज वीरानुयायी उदारताको छोड़कर संकीर्णताको अपनाये हुए हैं। धर्मको अपनी मीरास समझने लगे हैं और वह भी उसको विकृत करके। आज अर्थहीन, खोखली और आडम्बरपूर्ण रीतियोंको अपनाकर—वह अपना आत्मकल्याण चाहते हैं। जिस धर्मने सारे विश्वको शान्तिका पाठ पढ़ाया—उसके अनुयायी कषायोंके वशीभूत होकर शान्तिपर कुठाराघात करने से ज़रा भी नहीं हिचकिचाते! इसके विशाल साहित्यको प्रकाशमें लाकर धर्मका सच्चा प्रचार करना आवश्यक है।

(पूर्वार्ध)

आत्मानुशासनका एक संदिग्ध पद्य

(लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायण जैन)

मैं एक दिन श्रीगुणभद्राचार्य विरचित 'आत्मानुशासन' को, जिसके भाषाटीकाकार पं० वंशीधरजी शास्त्री और प्रकाशक 'जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय-बंबई" हैं, स्वाध्याय कर रहा था उसमें श्लोक नं० ३२ निम्नप्रकार है—

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे,
तद् व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग् वृथा पौरुषम् ॥

इस श्लोकके पढ़नेपर इसकी मान्यताएँ जैनागमानुसार प्रतीत नहीं हुईं। यद्यपि विद्वान् टीकाकारने इस श्लोकके नीचे एक लम्बा फुटनोट देकर इसे जैन मान्यताओंके अनुसार ही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, किन्तु इस फुट नोटके पढ़नेसे ऐसा प्रतीत होता है कि शायद स्वयं टीकाकार को भी मेरे ही समान संदेह हुआ हो, और उस समय इस श्लोकको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेका कोई साधन न पाकर, पाठकोंके भ्रम निवारणार्थ ही उनको यह फुटनोट देना पड़ा हो। दूसरे, यह भी स्मरण हुआ कि यह श्लोक पहिले भी कहीं एक नहीं अनेक बार पढ़ा जाचुका है। अतएव इस शंका-समाधानके लिये खोज की तो यह श्लोक श्रीभर्तृहरिकृत शतकत्रय (श्री वैंकटेश्वर प्रेस-बम्बई) के नीतिशतकमें "दैवप्रशंसा" शीर्षकके नीचे नं० ८६ पर मिल गया। जिसका पाठ इस प्रकार है—

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलिभिर्भग्नः परैः संगरे,
तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥८६

इन दोनों श्लोकोंके मूलपाठकी तुलना करने पर इनमें कोई मौलिक भेद दिखलाई नहीं देता, जो साधारण पाठ भेद नजर आते हैं उनसे मूल श्लोकोंके आशयमें कोई अन्तर नहीं पड़ता और 'ऐरावणके' दोनों शब्द भी एक ही अर्थके वाचक हैं। ऐसी अवस्थामें साधारण पाठान्तरोंके होते हुये भी यह कहनेका साहस नहीं होता कि ये दोनों श्लोक दोनों महाकवियोंकी पृथक २ रचनायें हैं। अब देखना केवल यह है कि इस श्लोकका क्रम स्थान, रचना-शैली, और पौराणिक मान्यताओंको देखते हुये उक्त दोनों महाकवियोंमेंसे यह किसकी कृति होना अधिक संभव है। श्रीभर्तृहरिके नीतिशतकमें यह श्लोक "दैवप्रशंसा" शीर्षकमें आया है, और उससे शीर्षककी अक्षरशः पुष्टि होती है, उसकी पौराणिक मान्यतायें भी उन्हींके अनुसार हैं और रचना-शैली भी उनकी रचनाशैलीके सामान ही है, अतएव यह अधिक संभव है कि इस श्लोकके कर्ता श्री भर्तृहरि ही हों। विरुध 'आत्मानुशाशन' मे जहां यह श्लोक आया है वहां प्रथम तो 'दैव' विषयक कोई चर्चा ही नहीं है, दूसरे उसके आगे पीछेके श्लोकोंमे इसका कोई सम्बन्ध नहीं बैठता—न इसकी पौराणिक मान्यताएँ ही जैन आगमके अनुसार हैं, और यदि उस श्लोक को वहांसे हटा दिया जावे तो भी मूल ग्रन्थके विषय-वर्णनमें कोई अन्तर नहीं आता अतः इस श्लोकके 'आत्मानुशासन' के कर्ता की कृति होनेमें भारी संदेह है। विशेष करके जबकि 'आत्मानुशासन' में ऐसे ही विषयका प्रतिपादन करनेवाला जैन मान्यताओंसे ओतप्रोत सुन्दर व भावपूर्ण श्लोक नं० ११६ मौजूद है, जिसका रूप इस प्रकार है—

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किङ्कर इव,
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती—
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः ॥११६॥

ऐसी अवस्थामें मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी लेखक महोदयकी कृपाका ही फल है, अन्यथा 'आत्मानुशासन' जैसी पाण्डित्यपूर्ण कृतिमें उक्त श्लोकके

प्रक्षिप्त होनेसे उसका कोई गौरव नहीं बढ़ सकता।

यहाँ यह निवेदन कर देना भी अनुचित नहीं होगा कि 'आत्मानुशासन' के विद्वान् टीकाकारने अपनी प्रस्तावना में ये शब्द भी लिखे हैं कि—"आज कलके संस्कृत विद्वानोंमें राजर्षि भर्तृहरिकी कविताका बहुत आदर्श है। परन्तु गुणभद्रस्वामीकी इस कवितामें भी कुछ कमी नहीं है; बल्कि कितने ही अंशोंमें यह उससे भी बढ़चढ़ कर है।" और पृष्ठ नं० १६३ पर फुटनोटमें भर्तृहरिजीके एक श्लोक को उद्धृत किया है। इससे यह तो स्पष्ट है कि अनुवादक महोदयने अनुवादमें पूर्व शतकत्रयको भी अवश्य देखा होगा, किन्तु श्लोक नं० ३२ की बाबत उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें कुछ भी लिखनेका कष्ट नहीं उठाया, आश्चर्य है!

विद्वज्जन इस पदपर गहरा विचार कर यथेष्ट प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे।

स्व० बाबू सूरजभानजी वकील!

"जिसपर सबकी निगाह थी न रहा।
क़ौममें एक चिराग था न रहा॥"

बाबू सा० का १६-६४-५ के रोज स्वर्गवास होजाना पढ़कर आँखोंके आगे अँधेरा छा गया।

बाबू सा० के दर्शन मैं सिर्फ एक बार कर सका। सन् १६२५ में स्व० बा० सूरजमलजी जैनके प्रपौत्रपुत्र चि० नेमीचंदके अन्तर्जातीय विवाहके समय बिजयगढ़में हम सब मिले थे। बाबू सा० सूरज जैसे बड़े ही हँसमुख थे। और मिलनसार तो ऐसे थे कि वे वृद्ध होकर भी हम छोटों के साथ एकमेक होगये थे।

मैंने बाबू सा० के प्रायः सभी लेख पढ़े हैं, गजबके लेखक थे। उनकी समझावट सयुक्तिक और कलापूर्ण थी। कड़वीसे कड़वी बातको ऐसे मधुर शब्दोंमें रख देते थे कि वह फौरन गले उतर जाती। मैंने तो उनकी रचनाको "शुगर कोटेड कुनैन" की उपमा दे रखी है। वाकईमें जैन समाजका दुराग्रहरूपी मलेरिया ज्वर उतारनेमें उनकी रचनाने काफी सफलता पाई है।

बाबू सा० अपने लेखोंको खूब लंबा करके भी उसमें विरसता नहीं आने देते थे। कठिनसे कठिन विषयको सरल से सरल रूपमें लिख देना उनके लिये मामूली बात थी। अभी जो अनेकान्तके दूसरे तीसरे वर्षमें उनके लेख (भाग्य पुरुषार्थ, हम हमारा संसार, गोत्रकर्म, वीरका वैज्ञानिक धर्म, जैनधर्मकी विशेषता) आदि प्रकट हुए हैं वे इस बातके सबूत हैं।

बाबू सा० सत्यकी अपेक्षा तथ्यपर अधिक ध्यान देते थे। ऐसे सत्यको प्रकट करनेमें उन्हें ऐतराज रहता था जो तथ्यहीन हो—उचित परिणामप्रद न हो, अर्थात् सुधारके मामलोंमें युक्तिप्रमाणकी अपेक्षा आगम-प्रमाणको अधिक असरकारक समझते थे।

एक बार अष्टद्रव्यपूजाके बारेमें मैंने अपने विचार उन्हें दर्शाए और आग्रह किया कि वे इस विषयपर कुछ प्रकाश डालें। मेरे आग्रहका जो उन्होंने उत्तर दिया वह पत्र ज्योंका त्यों नीचे अंकित करता हूँ—

"मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ कि अष्टद्रव्यसे पूजा करना जैनसिद्धान्तके अनुकूल नहीं है, इसहीसे मैं स्वयं भी इसके विरुद्ध आवाज उठाना चाहता हूँ, परन्तु अभीतक प्रथम शास्त्रीय प्रमाण न मिलनेसे इसपर कुछ नहीं लिख सका हूं।..........साफ २ आगमप्रमाणके बिना तर्कके आधारपर ही ऐसे प्रचलित व्यवहारके विरुद्ध लिखना बिलकुल ही निष्फल होगा। मैं स्वयं प्रमाणोंकी तलाशमें हूँ, मिलनेपर जरूर लिखूंगा। आपको भी जो प्रमाण मिलते रहें, जरूर मेरे पास भेजनेकी कृपा करते रहें।"

वीरसेवामन्दिर, सरसावा आपका—
ता० २२ ११३६ सूरजभान वकील"

आखिर न रहा गया और इस विषयपर हम दोनोंने एकने दूसरेकी राह न देखते हुए अलग २ कुछ लिखा। मैंने सूरतके दि० जैन (ता० १५।१२।३६) के सुधारांक में "पूजामें विकार और सुधार" नामक लेख लिखा और बाबू सा० ने भी जयपुरके जैनबंधु (ता० २०।११।३६) "हमारी पूजाविधि" नामक लेख लिखा।

इस प्रकार मेरा बाबू सा० के साथ परिचय था। बाबू सा० के निधनसे जैन समाजकी जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति सहज नहीं है।

—दौलतराम मित्र इन्दौर

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक-कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं

(लेखक—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०)

१—प्रास्ताविक
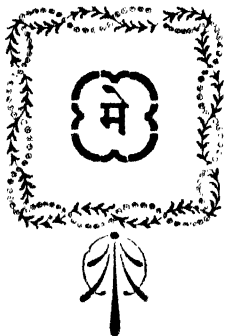
रा जो "रत्नकरण्ड श्रावकाचार और आप्तमीमांसाका कर्तृत्व" शीर्षक लेख अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४, ५-६ और ७-८ में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। इस पर पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्यका "क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है ?" शीर्षक द्वितीय लेख अनेकान्त वर्ष ७ किरण ९-१० और ११-१२ में प्रकाशित हुआ है और इसीपर यहां विचार किया जाता है।

(१ क) इतिहास और पसंदगी—

लेखके आदिमें ही पंडितजीने अपने पूर्वलेखके संबंध में पसंदगी और गैरपसंदगीका जिक्र किया है और कहा है कि कितने ही विद्वानोंको यह पसंद आया, पं० सुमेरचंद जी दिवाकरकी पसंदगीका प्रमाणपत्र भी उद्धृत किया है और फिर यह शिकायत की है—"परन्तु प्रो० सा०को यह लेख पसंद नहीं आया।" मेरा पंडितजीसे सविनय निवेदन है कि इतिहासके क्षेत्रमें पसंदगी व नापसंदगीका प्रश्न उठाना सर्वथा अनुपयोगी है। कितनी ही बातें बहुतों को पसंद आती हैं किन्तु वे असत्य सिद्ध होती हैं। और अनेक ऐसी घटनाएं हुआ करती हैं जो स्वयं इतिहासकार को अप्रिय होते हुए भी सत्य और तथ्यके नाते उसे स्वीकार करनी पड़ती हैं। पंडितजीकी इस ऐतिहासिक लेखोंपर सम्मतिसंग्रह और वह भी किसीकी पसंदगी और किसीकी नापसंदगी विषयक प्रवृत्तिको देखकर मुझे पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके वे शब्द याद आते हैं जो उन्होंने कोठियाजीके ही उनके एक लेखका उत्तर लिखते हुए कहे थे और जो इस प्रकार हैं :—

"अन्तमें यह लिख देना भी उचित समझता हूँ कि इतिहास-विषयके लेखोंको किसी प्रोपेगेन्डेका साधन बनाना इस क्षेत्रको भी दूषित कर देना होगा। कोई लेख लिखा और तुरन्त ही उसके नामसे सम्मतियां इकट्ठी करनेकी वृत्ति शोभन नहीं कही जा सकती। ऐसे लेखोंपर विद्वान् विशेष ऊहापोह करें यही प्रशस्त मार्ग है, और इसीसे सत्यके निकट पहुंचा जा सकता है। सम्मतियोंके बलपर ऐतिहासिक प्रश्नोंके निर्णयकी पद्धति कभी कभी सम्मति-दाताओंको भी असमञ्जसमें डाल देती है, जैसा कि 'कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति' लेखपर सम्मति देनेवाले अनेक सम्मति-दाताओंको स्वयं अनुभव हुआ होगा।"

यह चेतावनी पंडितजीको १९४२ के सितम्बर-अक्टूबरमें अनेकान्त वर्ष ५ किरण ८-९ पृ० ३२८ द्वारा मिल चुकी है। किन्तु जान पड़ता है पंडितजीने उससे कुछ सीखा नहीं। यदि पंडितजी विचार कर देखेंगे तो उन्हें स्वयं जान पड़ेगा कि ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक क्षेत्रमें सम्मतिसंग्रहद्वारा विजय प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति श्रेयस्कर नहीं है

(१ ख) मेरे विचारक्षेत्रकी मर्यादा—

इसके आगे पंडितजीने यह शिकायत की है कि मैंने जो उनके निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र-सम्बन्धी लेखका पहले उत्तर न देकर रत्नकरण्डके कर्तृत्व-संबंधी लेखपर लिखनेका यह कारण दिया था कि "यह विषय हमारी चिन्तनधारा में अधिक निकटवर्ती है" उसका बहुत सोचनेपर भी वे रहस्य नहीं समझ सके'। किन्तु रहस्य उसमें कुछ भी नहीं है। ऐतिहासिक चर्चामें भी साम्प्रदायिक विक्षोभ उत्पन्न होते देख मैंने स्वयं अपने ऊपर यह नियंत्रण लगा लिया है कि फ़िलहाल मैं जो कुछ जैनपत्रोंके लिये लिखूंगा वह विषय व प्रमाणकी दृष्टिसे दिगम्बर जैन इतिहास, साहित्य और सिद्धान्तके भीतर ही रहेगा। बस, इसी आत्मनियंत्रणके कारण

निर्युक्तिकार भद्रबाहु सम्बन्धी चिन्तन दूर पड़ जाता है और प्रस्तुत विषय पूर्णतः इस सीमाके भीतर आजाता है। इसीलिये पंडितजीने जो अपने लेखमें निर्युक्तिकार और आप्त-मीमाँसाकारके मतैक्यके सम्बन्धमें उल्लेख दिये हैं उनपर भी फ़िलहाल मैं कुछ नहीं लिखूंगा । किन्तु यदि वस्तुविवेचनमें पंडितजी लेखक्रमके ही पक्षपाती हैं तो उन्हें यह स्वयं अपने लेखोंमें चरितार्थ करना उचित था। मैं पंडितजीकी ही न्यायसरणिके अनुसार उनसे पूछना चाहता हूं कि उन्होंने मेरे जिस 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक लेखके आधारसे लिखना प्रारम्भ किया है उसीके क्रमसे क्यों वे स्वयं नहीं चलते और जो बातें प्रमाणयुक्त एवं ठीक हैं उन्हें स्वीकार करके आगे क्यों नहीं बढ़ते ? स्वयं तो कहीं इधर कहीं उधरकी बात ले लेकर लेख लिखना और फिर दूसरोंपे क्रमभंगकी शिकायत करना किसी तरह भी उचित नहीं है।

(१ग) अप्रयोजक प्रश्न कौन उठाता है ?

तीसरी शिकायत पंडितजीने मेरी रीति-नीतिके विषय में यह की है कि "वे मुख्य विषयको टालनेके लिये कुछ अप्रोजक प्रश्न या प्रसंग अथवा गौण बातें प्रस्तुत कर देते हैं और स्पष्ट तथ्यको झमेलेमें डाल देते हैं।" इस बातको पुष्ट एवं सत्य सिद्ध करनेके लिये उन्होंने मेरी कलकत्ताकी मौखिक चर्चाका उल्लेख किया है और तत्संबंधी मेरे दिये गये विवरणको 'आश्चर्यजनक वक्तव्य' कहा है, तथा मेरी 'वीतरागकथामें अन्यथा प्रवृत्ति' को स्थान देने व 'सत्यता को उदारतापूर्वक नहीं अपनाने' के आक्षेप किये हैं । इस प्रकार जितनी कुत्सित वृत्तियाँ एक साहित्यिकमें हो सकती हैं उन सबका मुझपर विना प्रमाण दिये ही आरोपण कर के यदि पंडितजीमें कुछ भी न्यायशीलता शेष है तो उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे प्रस्तुत विषय तथा कलकत्ता की तत्त्वचर्चा-सम्बन्धी उन बातोंको मेरे और संसारके सम्मुख विगतवार पेश करें जिनके आधारपर उन्होंने मुझ पर ये घोर अपराध आरोपित किये हैं। यदि उन्होंने उन सब बातोंको स्पष्टतासे प्रस्तुत नहीं किया तो समझा जायगा कि वे केवल झूठे अपराध लगा कर मुझे पाठकोंकी नज़रोंमें गिराना चाहते हैं। किन्तु उन बातोंके सामने आनेसे स्पष्टतः समझा जा सकेगा कि अप्रासंगिक और अप्रयोजक प्रश्न या प्रसंग और गौण बात कौन प्रस्तुत करता है और कौन स्पष्ट तथ्यको झमेलेमें डालता है।

(१घ) मान्यताका ग्रहण और परित्याग कब कहा जाता है ?-

पंडितजीने आगे चलकर पुनः उसी बातपर जोर दिया है कि चूंकि मैंने एक जगह स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचारका उल्लेख किया है। अतएव पहले मेरी मान्यता थी कि आप्तमीमांसाकार और रत्नकरण्डकार एक ही व्यक्ति थे और अब मैंने वह मान्यता छोड़ दी है, इत्यादि किन्तु मैं न्यायाचार्यजीसे पुनः कहना चाहता हूं कि किसी ग्रंथ और उसके कर्ताका उनके प्रचलित नामोंसे उल्लेखमात्र करना लेखककी उस ग्रंथके कर्तृत्वसम्बन्धी किसी मान्यताका द्योतक नहीं है । यदि मैं आज भी रत्न-करण्डश्रावकाचारका उल्लेख करूं तो मुझे वह स्वामी समन्तभद्रकृत ही कहना पड़ेगा, क्योंकि वही नाम प्रकाशित प्रतियोंपर छपा है । यदि मैं उसे योगीन्द्र-कृत कहकर उद्धृत करूं तो कितने पाठक उसे समझेंगे ? हम प्रतिदिन बीसों ग्रंथोंका उल्लेख उनके प्रकाशित नामों व कर्ताओंके निर्देशपूर्वक करते हैं। उनमेंसे यदि कभी किसी ग्रंथ और उसके कर्तापर विशेष अध्ययन करके किसी खास निर्णय पर पहुंचे तो किसी विवेकी समालोचकका यह कर्तव्य नहीं है कि वह उसपर अपनी पूर्व मान्यता छोड़नेका लांछन लगावे। मान्यता तो तभी होती है जब किसी बातको मनन-पूर्वक ग्रहण और स्थापित किया जावे । किन्तु जहां पूर्वमें ऐसी मान्यता प्रकट ही नहीं की गई वहां उसे छोड़ने आदिका लाञ्छन लगाना तो निर्मूल और निराधार आक्षेप ही कहलायगा, जिसका प्रमाण क्षेत्रमें कोई मूल्य नहीं।

(१ङ) केवलीके मोहजन्य वृत्तियोंका अभाव—

न्यायाचार्यजीने जो विना किसी विचारके केवलीमें राग द्वेष आदि मोहजन्य प्रवृत्तियोंका भी अभाव सिद्ध करनेके लिये अनावश्यक उल्लेख प्रस्तुत किये थे उसपर मैंने अपने पूर्व लेखमें लिखा था कि उनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि "केवलीमें चार घातिया कर्मोंका नाश होचुका है; अतएव उन कर्मोंसे उत्पन्न दोषोंका केवलीमें अभाव

माननेमें कहीं कोई मतभेद नहीं है। रत्नकरण्डके छठवें श्लोकमें उल्लिखित दोषोंमें इस प्रकारके पांच दोष हैं—भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह। अतएव इन दोषोंके केवलीमें अभावके सम्बन्धके उल्लेख प्रस्तुत करना अनावश्यक है।" इस पर पंडितजीने लिखा है—"मैंने स्वामी समन्तभद्रकी ही प्रसिद्ध रचना स्वयंभूस्तोत्रपरसे क्षुधादि दोषों और उनके केवलीमें अभावको सिद्ध करने वाले अनेक उल्लेखोंको उपस्थित किया था। प्रसन्नताकी बात है कि उनमेंसे राग, द्वेष, मोहके साथ भय और समय (स्मय) के अभावको भी केवलीमें प्रो० सा० ने मान लिया है और इस तरह उन्होंने रत्नकरण्डमें उक्त १८ दोषोंमेंसे पाँच दोषोंके अभावको तो स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है।" आगे चल कर पंडितजीने फिर कहा है कि "रत्नकरण्डमें कहे गये उन १८ दोषोंमेंसे आप्तमें राग-द्वेषादि १२ दोषों का अभाव स्वीकार करनेमें आपको कोई आपत्ति नहीं रही।" इस प्रकार बार बार लिख कर पंडितजी यह घोषित करना चाहते हैं कि मानो उक्त दोषोंका केवलीमें अभाव मैं पहले नहीं मानता था, किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये उल्लेखों परसे मुझे मानना पड़ा हो। मैं पंडितजीसे पूछता हूं कि उन बारह दोषोंका केवलीमें अभाव माननेमें मुझे आपत्ति थी कब? मेरे ऊपर उद्धृत लेखांशसे सुस्पष्ट है कि मैंने तो उस सम्बन्धमें पण्डितजीके उल्लेखोंमें अविवेक और अनावश्यकताकी ही सूचना की थी। जिसे कर्मसिद्धान्तकी वर्णमालाका भी ज्ञान है वह भी वीतराग-केवलीमें राग-द्वेषादि प्रवृत्तियोंकी अभावसिद्धिके लिये किसी स्तोत्रमेंसे तत्सम्बन्धी विशेषणोंका संग्रह करना कभी आवश्यक नहीं समझेगा।

(१ ख) आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डके बीचका रहस्य—

मैंने अपने पूर्व लेखमें कहा था कि "यथार्थतः यदि आप्तमीमांसाकारको आप्तमें उन प्रवृत्तियोंका अभाव मानना अभीष्ट था तो उसके प्रतिपादनके लिये सबसे उपयोगी स्थल वही ग्रंथ था जहां उन्होंने आप्तके ही स्वरूपकी मीमांसा की है; उन्हें वहां ही इसकी सार्थकता भी सिद्ध करना थी। किन्तु यह बात नहीं पाई जाती।" परन्तु न्यायाचार्यजीको 'समझमें नहीं आता कि प्रो० सा० के इस प्रकारके कथनमें क्या रहस्य है?" किन्तु मेरे उपर्युक्त कथनमें ऐसी कौनसी अस्पष्ट बात है जिससे उन्हें रहस्यका सन्देह हो गया? तथापि मैं अपनी बातको और भी विशदतासे रख देनेका प्रयत्न करता हूँ। जो ग्रन्थकार अपने एक ग्रंथमें आप्तके कुछ सुस्पष्ट लक्षण स्थापित करे और फिर आप्तमीमांसा पर ही एक पूरा स्वतंत्र ग्रंथ लिखे उससे स्वभावतः यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस ग्रंथमें उन्हीं लक्षणोंकी व्यवस्थित मीमांसा करेगा। किन्तु यदि वह अपने उस ग्रंथमें उन लक्षणोंका विचार तो दूर रहा, किन्तु नाम भी न लेवे और अन्य ही प्रकारसे आप्तका स्वरूप निर्णय करे तो उसके सम्बन्धमें निम्न तीन विकल्प उत्पन्न होंगे—

(१) या तो उस मतको वह इतना कच्चा समझता था कि स्वयं उसे अपनी ही 'मीमांसा' की कसौटी पर कसनेका साहस नहीं कर सकता था। अतएव वह उसे वहां जानबूझ कर अंधेरेमें डाले रहा।

(२) अथवा, उसका अपने पूर्व ग्रन्थमें स्थापित वह मत परिवर्तित हो गया था।

(३) अथवा वह मत मीमांसा ग्रन्थकारका है ही नहीं और फलतः दोनों ग्रंथ दो भिन्न भिन्न लेखकोंकी कृतियां हैं।

अब यदि कहीं कोई रहस्य है तो वह मेरे कथनमें नहीं, किन्तु इस उपर्युक्त परिस्थितिमें है और न्यायाचार्यजीको स्वयं उस रहस्यका विधिवत् उद्घाटन करना चाहिये।

२ क्षुधादि वेदनाओंके कारणकी शोध

(२ क) क्षुधादि वेदनायें मोहनीय जन्य नहीं मानी गई—

पंडितजीने लिखा है कि 'आप्तमीमांसामें आप्तके राग-द्वेषादि दोष और आवरणोंका अभाव बतला देनेसे ही तज्जन्य क्षुधादि प्रवृत्तियोंका—लोकसाधारण दोषोंका अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है।" आगे चल कर उन्होंने फिर लिखा है—'क्षुधादि तुच्छ प्रवृत्तियोंके अभावकी सिद्धि तो आप्तमें मोहका अभाव हो जानेसे अस्पष्टतः एवं आनुषंगिक रूपमें स्वतः हो जाती है।" इन कथनों परसे पंडितजीका यह मत प्रकट होता है कि क्षुधादि वेदनायें सर्वथा मोहनीय कर्मोत्पन्न हैं। किन्तु जहाँ तक मैं कर्म-सिद्धान्तका अध्ययन कर पाया हूं वहां तक क्षुधादि वेद-

नाओंको मोहनीयकर्मजन्य कहीं भी नहीं माना गया। तत्त्वार्थसूत्रकारने परीषहोंकी व्यवस्था करते हुए दर्शनमोह से अदर्शन, चारित्रमोहसे नाग्न्यादि सात तथा 'वेदनीये शेषाः' सूत्रके द्वारा क्षुत्पिपासादि ग्यारह परीषहोंकी उत्पत्ति वेदनीयकर्मसे बतलाई है। उक्त सूत्र पर टीका करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं—

उक्ताः एकादश परीषहाः। तेभ्योऽन्ये शेषा वेदनीये सति भवन्तीति वाक्यशेषः। के पुनस्ते? क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-चर्या-शय्या-वध-रोग-तृणस्पर्श-मलपरीषहाः। (त० सू० ९, १६)

धवलाकार वीरसेन स्वामीने कहा है—

जीवस्स सुह-दुक्खाणुहवणणिबंधणो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चयवसेण कम्मपज्जयपरिणदो जीवसमवेदो वेदणीयमिदि भण्णदे। तस्सत्थित्तं कुदो णव्वदे? सुह-दुःखकज्जण्णहाणुववत्तीदो।

(षट् खं० १, ९–१, ७)

असादं दुक्खं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति असादावेदणीयं।······जं किं पि दुक्खं णाम तं असादावेदणीयादो होदि, तस्स जीवसरूवत्ताभावा।······ण च सुह-दुक्खहेउदव्वसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो। जस्सोदएण जीवो सुहं व दुक्खं व दुविहमणुभवइ। तस्सोदयक्खएण दु सुह-दुक्खविवज्जिओ होइ। (षट् खं० १, ९-१, १८)

इन प्रमाणोंसे सुस्पष्ट है कि क्षुधा तृषा आदि वेदनाओं एवं समस्त सुख-दुख रूप अनुभवोंका उत्पादक वेदनीय कर्म है, अन्य कोई कर्म नहीं। यह कहीं मेरे देखनेमें नहीं आया कि क्षुधादि वेदनायें मोहनीयकर्मजन्य हैं।

(२ ख) क्षुधादि वेदनायें मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य भी नहीं सिद्ध होतीं—

शायद अपने कथनकी यह कचाई स्वयं न्यायाचार्यजी की दृष्टिमें आगई थी, इसीसे उन्होंने फिर आगे चल कर, किन्तु बिना अपने पूर्व कथनोंमें कोई सुधार पेश किये, कहा है—

"क्षुधादि प्रवृत्तियां वस्तुतः मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य हैं, अतएव मोहनीयके बिना केवलीमें वेदनीय उन प्रवृत्तियोंको पैदा करनेमें सर्वथा असमर्थ है।"

यहां पंडितजीने क्षुधादि प्रवृत्तियोंका जनक कारण तो वेदनीय स्वीकार कर लिया, किन्तु यह विशेषता रखली कि इस कार्यमें मोहनीय उसका सहायक होता है और वह भी ऐसा सहायक कि उसके बिना वेदनीय उन प्रवृत्तियोंको पैदा करनेमें सर्वथा असमर्थ है। मैंने जो प्रमाण ऊपर प्रस्तुत किये हैं उनमें कहीं भी क्षुत्पिपासादि वेदनाओं व सुख-दुःखके अनुभवोंके लिये मोहनीय कर्मकी यह अनिवार्य सहायकता स्वीकार नहीं की गई। और की भी नहीं जा सकती; क्योंकि यदि वेदनीय कर्म अपनी फलदायिनी शक्तिमें स्वतंत्र न होकर मोहनीय कर्मके अधीन होता तो उसे एक स्वतन्त्र कर्म न मान कर नोकषायोंके समान मोहनीयका ही एक उपभेद माना जाता। मोहनीयके सर्वथा वशीभूत होने पर तो उसकी स्वतंत्र सत्ता अकिंचित्कर होने से अभावरूप हो जाती है। अथवा, यदि मोहनीयके साथ उसका निरन्तर साहचर्य अपेक्षित होता तो ज्ञान और दर्शन आवरणीय कर्मोंके समान उनके उदय और क्षयकी व्यवस्था एक साथ की गई होती। किन्तु धवलाकारने तो स्पष्ट ही कहा है कि सुख-दुख अनुभवन करानेकी शक्ति वेदनीयको छोड़ और किसी कर्ममें है ही नहीं। इस विषय का बहुत कुछ तात्त्विक विवेचन मैं अपने कई लेखोंमें कर चुका हूं। पूर्व लेखमें मैंने पंडितजीसे अपने "क्या तत्त्वार्थ सूत्रकार और उनके टीकाकारोंका अभिप्राय एक ही है? शीर्षक लेखको देखनेकी प्रेरणा भी की थी। परन्तु जान पड़ता है पंडितजीने इस ओर कोई ध्यान देनेकी कृपा नहीं की, नहीं तो वे अपना उक्त प्रकार मत प्रकट न करते, या मेरी दी हुई तर्कोंके निराकरणपूर्वक करते। किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। अतएव आज मैं यहां अपने उस पूर्व लेखमेंसे केवल प्रस्तुत विषयोपयोगी अंश उद्धृत करता हूं—

"यदि हम कर्मसिद्धान्तानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मोंके स्वरूपपर विचार करें तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्मकी स्थिति और अनुभाग बन्ध मोहनीय कर्मोदयके आधीन है। जब मोहनीय कर्मका उदय मन्द-मन्दतर होने लगता है, तब उसीके अनुसार वेदनीय कर्मका स्थितिबंध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है, और जब सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें मोहके उदयका सर्वथा अभाव होजाता है, तब वेदनीयका स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है।

यहाँ तक तो वेदनीय कर्म मोहनीयके अधीन है। किन्तु बँधे हुए कर्मकी सत्ता और उसके उदयमें वेदनीय कर्म मोहनीयसे सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीयका उदयाभाव ही नहीं, उसकी सत्तामात्रके क्षय होजानेपर भी वेदनीयके बँधे हुए कर्मोंकी सत्ता जीवमें बनी ही रहती है और वह बराबर उदयमें आती रहती है, एवं उसकी तीव्रता व मन्दता उसीके अपने अनुभागोदयपर अवलंबित रहती है। जब मोहनीय कर्मका उदय रहता है, तब उसके योगमें वेदनीयोदयके साथ राग-द्वेष परिणतिका मिश्रण दिखाई देगा। मोहोदयके अभावमें राग-द्वेष परिणतिकाभी अभाव हो जायगा। पर उससे वेदनीयोदयजन्य शुद्ध वेदना कम नहीं होगी, अभाव तो बहुत दूरकी बात है। हां, वेदनीय कर्मका उदय जितनी मात्रामें मन्द होगा उतनी ही मात्रामें क्षुधादि वेदनायें मन्द होती जावेंगी किन्तु वेदनाका सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है जब उस कर्मके उदयका सर्वथा अभाव हो जाय।"

मेरे इस लेखकी ओर स्पष्ट निर्देश किये जानेपर भी न्यायाचार्यजीने उसपर कोई ध्यान न देकर अपने मतकी पुष्टिमें गोम्मटसार कर्मकाण्डकी १९ वीं गाथा पेश की है जिसमें वेदनीयके मोहनीयसे पूर्व घातिकर्मोंके बीच नामोल्लेख किये जानेकी यह सार्थकता बतलाई गई है कि 'मोहनीयके बलसे वेदनीय भी घातिकर्मके समान जीवका घात करता है, इसीसे उसका पाठ मोहनीयसे पूर्व घातिया कर्मोंमें रखा गया है।' इस विषयपर भी मैं अपने विचार अपने 'केवली भगवानके भूखप्यासादि वेदना' शीर्षक लेख में प्रकट कर चुका हूँ और वहींसे प्रसंगोपयोगी अंश यहां उद्धृत कर देता हूं—

"कर्मकाण्डकी गाथा १९ में जो यह कहा गया है कि वेदनीय कर्म मोहनीयके बलसे घातिकर्मके समान जीवका घात करता है, वह बिलकुल ठीक है, क्योंकि वेदनीयजन्य वेदनाके साथ जब तक मोहोत्पन्न राग द्वेषरूप तीव्र परिणाम भी रहते हैं तब तक ज्ञानादि गुणोंका पूर्ण विकास नहीं हो सकता। पर मोहनीयके अभावमें वेदनीय अपनी शुद्ध अघातिया प्रकृतिपर आ जाता है जिससे अपने उदयानुसार दुःख-दुखरूप वेदना उत्पन्न करते हुए वह जीवके केवल-ज्ञानादि गुणोंका घात नहीं करता। यह बात एक उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जायगी। जब वैद्य कहता है कि यदि ज्वरके साथ कफ और पसलीकी पीड़ा भी हुई तो वह ज्वर त्रिदोषात्मक होनेसे घातक हो सकता है, तो इसका क्या यह अभिप्राय होगा कि यदि कफ और पसलीकी पीड़ा नहीं है तो ज्वर अपना वेदनाकारी किन्तु अघातक तापरूप फल देना भी छोड़ देता है? यथार्थतः वेदनीय कर्म अपनी फलदायिनी शक्तिमें अन्य अघातिया कर्मोंके समान सर्वथा स्वतंत्र है। यदि उसकी फलदायिनी शक्ति मोहनीयके अधीन होती तो या तो वह मोहनीयकी ही उत्तर प्रकृतियों में गिनाया जाता, जैसे रति-अरति आदि नोकषाय। या स्वतंत्र कर्म मानकर भी मोहनीयके साथ उसके उदय और क्षय होनेकी व्यवस्था करदी जाती, जैसी ज्ञानावरणीयके साथ दर्शनावरणीयकी पाई जाती है। परन्तु कर्मसिद्धान्त के शास्त्रज्ञोंको वैसा इष्ट नहीं है, और वे मोहनीयको वेदनीयका सहचारी न मानकर उसका विरोधी ही बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र ८, ४ की टीकामें कर्मोंके नामनिर्देश क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए राजवार्तिककार ज्ञानावरण और दर्शनावरणका साहचर्य प्रकट करके कहते हैं—

'तदनन्तरं वेदनावचनं, तदव्यभिचारात् ॥२०॥ तदनन्तरं वेदना उच्यते। कुतः? तदव्यभिचारात्। ज्ञान-दर्शनाव्यभिचारिणी हि वेदना, घटादिष्वप्रवृत्तेः। ततो मोहाऽभिधानं तद्विरोधात् ॥२१॥ तत्पश्चात् मोहोऽभिधीयते। कुतः तद्विरोधात्? तेषां ज्ञान-दर्शन-सुख-दुःखानां विरोधात्। मूढो हि न जानाति, न पश्यति, न च सुख-दुःखं वेदयते।'

यहां राजवार्तिककारने बतला दिया है कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंके पश्चात् जो वेदनीयका उल्लेख किया गया है वह इस कारण कि वेदना ज्ञान और दर्शन की अव्यभिचारिणी है, अर्थात् जहां ज्ञान और दर्शन पाया जायगा वहीं वेदना भी हो सकती है; और जहां उन दोनों का अभाव है, जैसे घटादिमें, वहां वेदनाका भी अभाव पाया जायगा। वेदनीयके पश्चात जो मोहनीयका निर्देश किया गया है उसकी सार्थकता यह है कि ज्ञान, दर्शन,

सुख और दुःखकी वेदनासे मोहका विरोध है। मूढ जीव न जानता है, न देखता और न सुख-दुःखका वेदन करता है।

इसी प्रकार श्लोकवार्तिककार स्वयं विद्यानन्दजीने भी स्वीकार किया है कि—

तदनन्तरं वेदनीयवचनं, तदव्यभिचारात्। ततो मोहाभिधानं, तद्विरोधात्।'

राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकके इस विशद स्पष्टीकरण के प्रकाशमें यह कहना व्यर्थ है कि वेदनीयका मोहनीयके साथ साहचर्य है और ज्ञान-दर्शनसे विरोध है। यथार्थतः तो व्यवस्था इससे सर्वथा विपरीत सिद्ध होती है।"

(१ ग) क्या क्षुधादि वेदनाओंका अभाव घाति कर्म-क्षयजन्य अतिशय भी माना जा सकता है ?

यद्यपि पंडितजीने इस सब प्रमाण-कलाप पर निर्देश पूर्वक कोई विचार नहीं किया, तो भी जान पड़ता है उस की ओर उनकी दृष्टि रही अवश्य है, इसी लिये आगे चल कर उक्त वेदनाओंको 'मोहनीय जन्य' या 'मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य' कहना छोड़कर उन्होंने एक तीसरा ही मत यह स्थापित किया है कि -

"असलमें बात यह है कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव घातिकर्मजन्य अतिशय है जो केवलज्ञानादिके अतिशयोंमें है। अतः वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता प्रतिपादन करनेमें उन लोकोत्तर अतिशयोंका—क्षुधादिक अभावका—प्रतिपादन भी अनुषंगतः हो जाता है। इस लिये आप्तमीमांसाकार आप्तमीमांसामें ही क्षुधादि प्रवृत्तियोंके केवलीमें अभावको कण्ठतः बतलानेके लिये बाध्य नहीं हैं।"

उक्त अतिशय घातिकर्म जन्य तो हो नहीं सकता। संभवतः पंडितजीका अभिप्राय घातिकर्मक्षय जन्यसे है। किन्तु यदि यही बात है तो फिर क्षुधादि वेदनायें मोहनीय या वेदनीय, अथवा उनके सहयोग जन्य न रह कर समस्त घातिया कर्मोंके समुदकी उत्पत्ति कही जाना चाहिये, और चूंकि उनका अभाव केवलज्ञान होने पर ही होता है, मोहनीयके अभावसे नहीं, अतएव वे विशेष रूपसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय जन्य सिद्ध हुईं।

किन्तु यहां भी क्षुधादि वेदनाओंकी कारण-कल्पनाका अन्त नहीं हुआ क्योंकि आगे आप्तमीमांसाकार और टीका-कारोंकी आप्तमें क्षुधादिके अभावकी मान्यता सिद्ध करनेके लिये पंडितजीने आप्तमीमांसाकी प्रथम कारिका उद्धृत की है और लिखा है कि—

(१ घ) क्या क्षुधादिका अभाव सरागी देवोंमें भी माना जा सकता है ?

"मूलकारिका और उसके व्याख्यानसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यहां उन्हीं आगमोक्त विभूतियों—कतिपय अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है जो अरहंतके ३४ अतिशयोंमें प्रतिपादित हैं और जिनका आप्त भगवानमें अस्तित्व स्वीकार किया गया है।" इसके आगे आप्तमीमांसाकी दूसरी कारिका व उसकी टीका उद्धृत करके उस परसे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि "उन आगमोक्त अतिशयोंको बतलाया जान पड़ता है जो केवलीमें कुछ तो जन्मसे और कुछ केवलज्ञान होनेसे (घातिकर्म-क्षयसे) तथा कुछ देवोंके निमित्तसे प्रकट होते हैं। वे हैं—शरीरमें कभी पसीना न आना, कवलाहारका न होना, बुढ़ापा नहीं होना, गन्धोदककी वर्षा होना आदि आदि। ये अतिशय पूरणकश्यप आदि मतप्रवर्तकों—मायावियोंमें न होनेपर भी अक्षीणकषायी स्वर्गवासी देवोंमें विद्यमान हैं। लेकिन देव आप्त नहीं हैं। अतः इन अतिशयोंसे भी आप्तताका निर्णय नहीं किया जा सकता है।"

इन कथनोंसे पंडितजीका यह अभिप्राय व्यक्त हुआ कि क्षुधादि वेदनाभावरूप अतिशय सकषायी देवोंके भी माने गये हैं। और चूंकि उनके घातिया कर्मोंका अभाव माना नहीं जा सकता अतएव अन्वय-व्यतिरेकरूप अनुषंग न होनेसे एक ओर क्षुधादि वेदनाओं और दूसरी ओर मोहनीय या वेदनीयसे कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं सिद्ध हुआ। यहां स्वयं न्यायाचार्यजीने ही अपनी युक्तियों से यह निष्कर्ष निकाला है कि—

"इस उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनका पर्यवसितार्थ यह हुआ कि आप्तमीमांसाकार और उनके टीकाकारोंने आप्त० कारिका २ में आप्तमें क्षुधादिके अभावको स्वीकार किया है, परन्तु खाना नहीं खाना, पानी नहीं पीना, पसीना नहीं आना आदि, ये आप्तकी कोई खास विशेषताएँ नहीं हैं, क्योंकि

वे रागादिमान् देवोंमें भी हैं।"

न्यायाचार्यजीकी इस तर्कपरम्पराके अनुसार क्षुधादि वेदनायें 'वास्तवमें मोहनीय जन्य' 'वस्तुत-मोहनीय सहकृत वेदनीयजन्य' और 'असलमें घातिकर्मजन्य' होती होती होती अन्ततः उनका अभाव सिद्ध हुआ एक ओर केवलज्ञानके अतिशयसे और दूसरी ओर सरागी देवोंके महोदय से। और इसी कारण उनका अभाव आप्तकी कोई खास विशेषता ही नहीं रही और उसके लिये किसी घातिया व अघातिया कर्मके क्षयकी भी कोई आवश्यकता नहीं रही। अब यदि क्षुधादि मोहनीय या मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य हैं तो उनका सद्भाव प्रथमसे लेकर दशवें गुणस्थान होना चाहिये, ऊपर नहीं। किन्तु इसका तत्वार्थसूत्रके 'सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश' सूत्र (९, १०) से विरोध आता है क्योंकि इस सूत्रके अनुसार बारहवें गुणस्थान तक उनका सद्भाव पाया जाता है। यदि वे घातिकर्मजन्य हैं व उनका अभाव केवलज्ञानजन्य अतिशय है तो उनका सद्भाव बारहवें गुणस्थान तक और ऊपर अभाव होना चाहिये। किन्तु इसका 'एकादश जिने' (९, ११) और 'वेदनीये शेषाः' (९, १६) सूत्रोंसे विरोध आता है जिनके अनुसार तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें वे वेदनायें पाई जाती हैं। और यदि उनका अभाव सरागी देवोंके महोदयसे भी हो सकता है, तो देवोंके संभव प्रथम चार गुणस्थानोंमें भी उनका अभाव संभव मानना चाहिये; किन्तु उसका विरोध 'बादरसाम्पराये सर्वे' (९, १२) सूत्रसे आता है जिसके अनुसार आदिसे नौवें गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं। अब कृपया न्यायाचार्यजी विचार तो करें कि उनके युक्ति, और तर्क उन्हें कहां लिये जारहे हैं, उनसे कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थाओंकी कितनी दुर्दशा होरही है, और सारा विषय कैसे झमेलेमें पड़ता गया है। पाठक जरा सिर खुजला खुजला कर सोचें कि न्यायाचार्यजीके तर्कोंसे उन्हें क्षुधापिपासादि वेदनाओंको उत्पन्न करनेवाला कौनसा कर्म समझमें आया? और फिर भी अन्ततः परिणाम वही निकला कि क्षुधादि वेदनाओंका अभाव आप्तका कोई लक्षण नहीं माना जा सकता, अतएव आप्तमीमांसाकारने उसे आप्तके लक्षणमें न केवल ग्रहण ही नहीं किया किन्तु उसको अलक्षण मानकर उसके ग्रहणका प्रबलतासे निषेध किया है।

३ रत्नकरंडसम्मत आप्तके लक्षणोंपर विचार

(३ क) लक्षण और उपलक्षणमें विवेक—

यहां तककी अपनी ही उत्तरोत्तर असंगत तर्क-परंपरा के उक्त परिणामसे भयभीत होकर न्यायाचार्यजीने रत्नकरण्डके उस क्षुत्पिपासादि वाले आप्तके लक्षणकी यह वकालत की है कि "रत्नकरण्ड (श्लोक ५) में आप्तका स्वरूप तो सामान्यतः आप्तमीमांसाकी ही तरह 'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण' इत्यादि किया है। हां, आप्तके उक्त स्वरूप में आये 'उच्छिन्नदोष' के स्पष्टीकरणार्थ जो वहां 'क्षुत्पिपासा' आदि पद्य दिया है उसमें लक्षण राग-द्वेषादिके अभाव और उपलक्षण क्षुधादिके अभाव दोनोंको 'उच्छिन्न दोषके स्वरूपकोटिमें प्रविष्ट किया है।"

यहां जो क्षुत्पिपासादि श्लोकको उच्छिन्नदोषके स्पष्टीकरणार्थ कहा गया, उसके लिये उक्त पद्यमें कोई आधार दिखाई नहीं देता, बल्कि श्लोकके अन्तमें जो 'आप्तः स प्रकीर्त्यते' इस प्रकारका वाक्यांश है वह स्पष्टतः बतला रहा है कि उस पद्यमें कर्ताने अपनी दृष्टिसे आप्तका पूरा लक्षण देनेका प्रयत्न किया है, न कि दोषका स्पष्टीकरण। दूसरे श्लोकमें जो एक ही श्रेणीसे क्षुत्पिपासादि मोहपर्यंत प्रवृत्तियां गिनाई गई हैं उनमेंसे कुछको लक्षण और कुछ को उपलक्षण माननेके लिये भी कोई आधार नहीं है। खासकर जबकि पंडितजीके मतानुसार ही वे गुण सरागियों में भी पाये जाते हैं और इसीलिये आप्तकी कोई खास विशेषतायें नहीं हैं, तब उन्हें आप्तके प्रकीर्तनमें शामिल करनेके लिये तो कोई भी हेतु दिखाई नहीं देता। पंडित जीने लक्षण और उपलक्षणमें भेद यह दिखलाया है कि "लक्षणतो लक्ष्यमें व्याप्त होता हुआ अलक्ष्यका पूर्णतः व्यावर्तक होता है। परन्तु उपलक्षण लक्ष्यके अलावा तत्सदृश दूसरी वस्तुओंका भी बोध कराता है।" न्यायाचार्यजीके इस विवेकानुसार श्लोक गत लक्ष्य 'आप्त' रागादिमान् देवोंके सदृश ही हुआ और आप्त द्वारा इनका भी ग्रहण करना रत्नकरण्डकारको अभीष्ट सिद्ध हुआ, तभी तो उन्होंने उन उपलक्षणोंको ग्रहण किया। शब्द-

स्तोमसमानिधिमें उपलक्षणका स्वरूप निम्न प्रकार समझाया गया है—

"समीपस्थस्य स्वसम्बन्धिनश्च लक्षणं ज्ञानं यस्मात्। स्वस्य स्वान्यस्य च अजहत्-स्वार्थया लक्षणया बोधके शब्दे यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र काकपदं स्वस्य स्वान्यादेः श्वादेश्च बोधकम्।"

इसके अनुसार जिस शब्दके ग्रहणसे उसके वाच्य अर्थका भी ग्रहण हो और उसी समान अन्य पदार्थोंका भी ग्रहण हो, उसे उपलक्षण कहते हैं। जैसे किसीने कहा 'कौओंसे दहीकी रक्षा करो' तो यहां कौओं पदसे दहीको नुकसान पहुंचानेवाले कुत्ते-बिल्ली आदि जानवरोंका भी ग्रहण करना चाहिये। अतएव यहां कौआ शब्द उपलक्षण है। मैं न्यायाचार्यजीसे पूछता हूं कि क्या इसी उपलक्षण शक्तिके अनुसार रत्नकरण्डके कर्ताको आप्तके सदृश रागादिमान् जीवोंका भी ग्रहण करना अभीष्ट है, क्योंकि उपलक्षण प्रकृतका ही बोध कराता है, अप्रकृतका नहीं?

उपलक्षणका एक और प्रकारसे अर्थ मुझे पंचाध्यायीमें देखनेको मिला, जिसके अनुसार—

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम्।
तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत्॥
यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम्॥

(उत्तरार्ध, ४६८–४६९)

अर्थात्—जो लक्षणका भी लक्षण होता है वह उपलक्षण कहलाता है, जैसे सम्यक्त्व भावका संवेग गुण लक्षण है, और अर्हद्भक्ति तथा वात्सल्य संवेगके लक्षण होनेसे सम्यक्त्वके उपलक्षण कहलाये। उपलक्षणकी इस परिभाषाके अनुसार भी उपलक्षण लक्ष्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं पाया जा सकता।

उपलक्षण और लक्षणका एक तीसरे प्रकारसे स्वरूप मुझे पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थसूत्र विवेचनमें (पृ० ८४-८५) देखनेको मिला जहाँ कहा गया है कि—

"असाधारण धर्म सब एकसे नहीं होते। कुछ तो ऐसे होते हैं जो लक्ष्यमें होते हैं सही, पर कभी होते हैं, कभी नहीं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो समग्र लक्ष्यमें नहीं रहते, और कुछ ऐसे होते हैं जो तीनों कालमें समग्र लक्ष्य में रहते हैं।.................उपलक्षण और लक्षणका अन्तर यह है कि जो प्रत्येक लक्ष्यमें सर्वात्मभावसे तीनों कालमें पाया जाय—अग्निमें उष्णत्व—वह लक्षण, और जो किसी लक्ष्यमें हो किसीमें न हो, कभी हो कभी न हो, और स्वभावसिद्ध न हो वह उपलक्षण जैसे अग्निके लिये धूम। जीवत्वको छोड़ कर आत्माके बाकी भेद आत्माके उपलक्षण ही हैं।"

इस मतके अनुसार उपलक्षण भी लक्ष्यका असाधारण धर्म ही होता है, परन्तु वह द्रव्य और काल दोनोंकी अपेक्षासे अनियत है, लक्षणके समान नियत नहीं। अब न्यायाचार्यजी स्पष्ट करें कि उनके मतानुसार क्षुधादि वेदनाओंका अभाव आप्तका किस प्रकारका उपलक्षण है और रत्नकरण्डकार उसके द्वारा आप्तकी क्या विशेषता बतलाना चाहता है? उसके द्वारा आप्तको सरागी देवोंके सदृश बतलाना उन्हें अभीष्ट है या उनसे पृथक्?

(३ ख) रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंका समावेश—

मैं जब रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासादि' श्लोकको उससे पूर्ववर्ती 'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण' आदि पद्यके साथ पढ़ता हूँ तो मुझे यही मालूम पड़ता है कि यहां रचयिताने आप्तके सम्बन्धमें प्रचलित अपने समयकी दोनों परिभाषाओंको अलग अलग रख दिया है—पहले पद्यमें समन्तभद्रस्वामीका आप्तमीमांसा-सम्मत लक्षण है और दूसरेमें कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादित लक्षण। दोनों पद्योंको अपने अपने रूपमें पूर्ण बनानेके उद्देश्यसे ही रचयिताने एकके अन्तमें 'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' और दूसरेके अन्तमें 'यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते' रखकर उनमें परस्पर किसी मेलजोल व लक्षण-उपलक्षण आदिकी कल्पनाके लिये कोई गुञ्जाइश नहीं रहने दी है। ये वे ही दो विचारधारायें हैं जिनका उल्लेख मैं अपने पूर्व लेखमें विद्यानन्दके सम्बन्धमें कर आया हूं।

४—केवलीमें जन्म-मरणादिका सद्भाव

(४क) जन्ममरण मोहनीय नहीं, किन्तु आयुकर्मजन्य हैं—

केवलीमें जन्म, ज्वर, जरा और मरणके अभावके

सम्बन्धमें मैंने अपने पूर्वलेखमें कहा था कि 'यदि इस मान्यताका यह तात्पर्य हो कि केवली हो जाने पर सिद्ध अवस्थामें फिर उन्हें कभी जन्म, ज्वर, जरा और मरणकी बाधाएँ नहीं होंगी तब तो इसमें कहीं विरोध उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि केवलीने कोई नया आयुबन्ध किया ही नहीं है, इसलिये सिद्धगतिको छोड़ किसी संसार गतिमें उन्हें जाना ही नहीं है।" हर्ष है कि पंडितजीने अपने लेखमें यही व्यवस्था स्वीकार करली है। किन्तु उसे रखनेमें उन्होंने ऐसा प्रयत्न किया है जिससे जान पड़े कि वह उनकी कोई नई सूझ है और उन्होंने स्वयं एक रहस्यका उद्घाटन कर मेरा समाधान किया हो। मेरे ऊपर उद्धृत वाक्यके अनन्तर वाक्य था "किन्तु जिस शरीरसे केवली अवस्था उत्पन्न हुई है उसका मनुष्य योनिमें जन्म हुआ ही है........" इत्यादि। पंडितजीने इस वाक्यका भी 'किंतु' छोड़कर शेष प्रश्नात्मक वाक्य ही उद्धृत किया है और फिर कहा है—"उसका रहस्य यह है कि केवलीके मोहनीयका नाश होजानेसे अब पुनर्जन्म न होगा" इत्यादि। यह रहस्य मेरे ऊपर उद्धृत वाक्यमें सुव्यवस्थित रूपसे आ चुका है। पंडितजीने उसमें जो मौलिकता लानेका प्रयत्न किया है उसमें उन्होंने सैद्धान्तिक भूल कर डाली, और वह यह कि जन्म-मरणमें कारणीभूत होनेवाला कर्म मोहनीय नहीं, किन्तु आयुकर्म है, जिसके क्षीण होनेसे ही मरण और उदयमें आनेसे जन्म होता है। मोहनीय कर्मके तो सर्वथा क्षीण होजानेपर भी मरण नहीं होता और न मरण व पुनर्जन्म होनेमें मोहनीयकी श्रृंखलामें कोई भेद पड़ता। अतएव जन्म-मरणका सीधा सम्बन्ध मोहनीयसे न होकर आयुकर्मसे है।

(४ ख) शास्त्रकारोंने केवलीका भी मरण माना है—

केवलीको कोई दूसरा संसार जन्म धारण नहीं करना है, इस अपेक्षासे उनमें जन्मका अभाव मान लेनेपर भी केवलीके मरणका अभाव किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है, यह न्यायाचार्यजीने बतलानेकी कृपा नहीं की। आयुके क्षय होनेपर केवलीका मरण तो अवश्यम्भावी है और उस मरणका प्रकार भी शास्त्रकारोंने बतलाया है। उदाहरणार्थ, भगवती आराधनामें मरणके अनेक प्रकार बतलाये हैं जिनमेंसे पंडित पंडित मरण केवलीका होता है, विरताविरत अर्थात् श्रावक बालपंडित मरण करते हैं, पंडितमरण यथोक्तचारित्र साधुका, बालमरण अविरत-सम्यग्दृष्टिका, तथा बालबाल मरण मिथ्यादृष्टि जीवका होता है। यथा—

पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदिएण मरणेण॥२८॥
पओपगमणमरणं भत्तप्पइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स॥२९॥
अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि॥३०॥

मूलाचारमें मरणके तीन भेद बतलाये हैं—बालमरण, बालपंडितमरण और पंडितमरण, तथा केवलियोंके मरणको 'पंडितमरण' कहा है। यथा—

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति॥५९॥

अब कृपाकर पंडितजी बतलावें कि यदि केवली होने पर मरणका अभाव होजाता है तो ये पंडितपंडित या पंडितमरणसे मरनेवाले केवली कौनसे हैं?

पंडितजीने 'अन्तकः क्रन्दको नृणां' आदि पद्यको पुनः उद्धृत किया है और उसका मेरे द्वारा दिया गया भावार्थ प्रस्तुत करते हुए उसपर 'आश्चर्य' प्रकट किया है तथा उसे 'अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये इच्छानुकूल भावार्थ' कहा है। किन्तु उन्होंने यह बतलानेकी कृपा नहीं की कि उस अर्थमें दोष क्या है व उनके आश्चर्यका आधार क्या है, सिवाय इसके कि वह उनकी इच्छाके अनुकूल नहीं है। उनके या मेरे अर्थके ठीक होनेका निर्णय उन्होंने 'मर्मज्ञ विद्वानों' पर छोड़ा है, अतएव मैं भी उसे उसी प्रकार छोड़ता हूं।

(४ग) केवलीमें जन्म-मरणादिके अभावकी अपेक्षा—

आगे पंडितजीने स्वयंभूस्तोत्रके चार और अवतरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें भगवान्के 'अज' और 'अजर' विशेषण पाये जाते हैं। इन उल्लेखोंके ही प्रकाशमें पंडितजीने अपने पूर्वोल्लिखित 'जन्म-जराजिहासया' और 'जन्म-जरा-मरणोपशान्त्यै' वाक्यांशोंको भी देखनेकी प्रेरणा की है। किन्तु इन उल्लेखों वाले पूरे पद्योंको उद्धृत

कर मैंने उनका जो अर्थ समझाया है उसमें पंडितजीको कोई दोष दिखानेको नहीं मिल सका । तो भी पंडितजीकी प्रेरणाकी मैं अवहेलना नहीं कर सकता । वे लिखते हैं-- "अब मैंने जन्मजराजिहासया इस ४६ वें पद्यके आगेका 'त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः' यह ५० वाँ पद्य देखा तो वह मेरी विवक्षा मिल गई जहाँ स्पष्टतः केवली अवस्था प्राप्त करने (त्वमुत्तमज्योतिः) के साथ ही 'अजः' पदका प्रयोग करके ग्रंथकारने उनके जन्मका अभाव प्रतिपादित किया है।" किन्तु पंडितजी अपनी विवक्षा मिल जानेके हर्षके आवेगमें 'अजः' पर ही रुक गये; उन्होंने आगे दृष्टि डालकर नहीं देखा जहां 'निर्वृतः' विशेषण लगा हुआ है और अर्थको उनकी विवक्षासे परे ले जाता है, क्योंकि उससे स्पष्ट है कि यह वर्णन भगवान्की सिद्ध अवस्थाका है । इससे यह भी पता चल जाता है कि उक्त दोषोंका केवलीजिनमें अभाव माननेकी भ्रान्ति किस प्रकार उत्पन्न हुई। जो विशेषण स्वामी समन्तभद्र जैसे मर्मज्ञोंने सिद्ध अवस्थाका ध्यान रखकर प्रयुक्त किये, उन्हें ही इतर लेखकोंने अरहंत अवस्थामें ही प्रयुक्त करके उन्हें आप्तके लक्षण मानना प्रारम्भ कर दिया । किन्तु- जैसा मैं बतला चुका हूं, वह बात कर्मसिद्धान्तसे सर्वथा असम्भव सिद्ध होती है । इस प्रकार स्वामी समन्तभद्रकी विवक्षा सिद्ध करनेके लिये न्यायाचार्यजीने जो उल्लेख प्रस्तुत किया उसीसे प्रमाणित हो जाता है कि जन्मजरामरणादिका अभाव सिद्ध अवस्थामें ही घटित होता है, न कि अरहंत अवस्थामें ।

केवलीके क्षुधा-तृषाका सद्भाव

(५ क) स्वयंभूस्तोत्रमें केवलीके क्षुधा-तृषाका अभाव नहीं—

केवलीमें क्षुधा और तृषाका अभाव सिद्ध करनेके लिये पंडितजीने फिर भी उन्हीं 'क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिः' आदि तथा 'मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्' आदि दो पद्योंकी दुहाई दी है । मैं अपने पूर्व लेखमें बतला ही चुका हूं कि इन दोनों पद्योंमें केवलीके क्षुधा-तृषाके अभावका लेशमात्र भी उल्लेख नहीं है । 'मानुषीं प्रकृतिम्' आदि पद्यको प्रस्तुत करते हुए तो स्वयं पंडितजीने ही कहा है कि 'खाना नहीं खाना, पानी नहीं पीना, पसीना नहीं आना आदि ये आप्तकी कोई खास विशेषताएँ नहीं हैं, क्योंकि वे रागादिमान् देवोंमें भी हैं । अतः इन विशेषताओंसे भी सबसे बड़ी सर्वोच्च एवं असाधारण विशेषता—रागादिरहितता है । वह जिसमें पाई जाती है वही आप्त है ।' इत्यादि । स्वयं इस विवेकके पश्चात् फिर भी उसी पद्यको केवलीमें क्षुधातृषाके अभावकी सिद्धिके लिये, पेश करना कहां तक संगत है यह मर्मज्ञ पाठक स्वयं विचार कर देखें

'क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिः' वाले पद्यके अर्थका मैंने अपने पूर्व लेखमें विस्तारसे विवेचन किया है जिसमें पंडितजी कोई जरा सा भी स्खलन नहीं दिखा सके । फिर भी वे इसी पद्यको अपने पक्षमें, बिना कोई नई बात कहे, प्रस्तुत किये ही जाते हैं । इस पद्धतिमें युक्ति, तर्क व प्रमाण नहीं, केवल दुराग्रह मात्रका प्रदर्शन पाया जाता है जिसका मेरे पास कोई इलाज नहीं । हां, अपनी तरफसे मैं बार बार भी विचार करनेको तैयार हूं । प्रथम तो उक्त पद्यमें केवलीके क्षुधादि दोषोंके अभावका प्रसंग ही नहीं बैठता, क्यों कि वहां भगवान्के इस उपदेशका प्रतिपादन मात्र किया गया है कि न तो क्षुधा आदिक दुःखोंके प्रतिकारमात्रसे और न इन्द्रिय विषयोंके अल्प सुखोंसे शरीर व जीवकी स्थिति सदैव एक सी रखी जा सकती । अतएव इन्हें शरीर या जीवके स्वधर्म नहीं मानना चाहिये । यहां केवलीमें उनके अभावके प्रतिपादनका तो कोई प्रसंग ही नहीं बनता । दूसरे यदि क्षुधा तृषा, जरा, ज्वर, जन्म मरण, भय, स्मय व रागद्वेषादिके प्रतिकारसे शरीर व जीवकी स्थिति नहीं रखी जा सकती, इस लिये यह प्रतिकार जीवका गुण नहीं है किन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है । रागद्वेष तथा जन्म मरण आदिका प्रतिकार ही तो सच्चा आत्मधर्म है और वही शाश्वतपद प्राप्तिका उपाय है । अतएव उसके विरुद्ध भगवान कैसे उपदेश दे सकते हैं ? इन्ही जन्म-जरा आदिके निराकरणके लिये ही तो सयोगिजिन अपने तीनों योगोंका निरोध करके अयोगी होते हैं और फिर निर्वृत अर्थात् सिद्ध होकर 'अज' हो जाते हैं । कृपा कर पंडितजी स्वयंभूस्तोत्रके ४८, ४६ और ५० पद्योंपर पद्य ७४ को दृष्टिमें लेकर ध्यान दें । ४८ वें पद्यमें भगवानके अप्रमत्त संयमका उल्लेख है ।

इसके पश्चात् ४६ वें पद्यमें उनके सयोग अवस्थासे अयोग बननेका प्रयत्न वर्णित है। और ५० वें पद्यमें अयोगिसे ऊपर निवृ त अवस्थामें 'उत्तमज्योति' और 'अज' गुणोंका निरूपण पाया जाता है। इसी ज्योतिके प्रकाशमें यदि पंडितजी उन सब उल्लेखोंको देखेंगे जिन्हें वे आप्तमें जन्म जरादि दोषोंके अभावके पक्षमें पेश करते हैं तो उनका समस्त अंधकार और धुंधलापन दूर हो जायगा और उन्हें विश्वास हो जायगा कि स्वयंभूस्तोत्रकार केवलीमें जन्म, जरा और मरणका अभाव नहीं मानते किन्तु उनके निराकरणका प्रयत्नमात्र स्वीकार करते हैं तथा जिसे 'क्षुधा द दुःखप्रतिकारतः स्थितिः' आदि पद्यमें वे अष्टादश दोषोंकी कल्पना करते हैं वहां यथार्थतः क्षुधादि बाइस परीषहोंका संकेत है जिनको सहन करना प्रत्येक साधुका धर्म है। और यही भगवानका उपदेश है।

इसके पश्चात् न्यायाचार्यजीको पात्रकेशरी आदिके अवतरण देनेका 'लोभ' उत्पन्न हुआ है, जिसे वे संवरण नहीं कर सके।' किन्तु उनके उस लोभके प्रदर्शनसे सिद्ध-असिद्ध कुछ नहीं हुआ क्योंकि प्रस्तुत विषय तो केवल यह है कि क्या आप्तमीमांसाकारको रत्नकरण्ड श्रावकाचारान्तर्गत क्षुत्पिपासादि पद्य वाले आप्तका लक्षण मान्य है? आप्तमीमांसाकी प्रथम कारिका परसे न्यायाचार्यजी उसके कर्ताका यह अभिप्राय प्रकट करते हैं कि—"हम युक्तिवादी परीक्षाप्रधानी मात्र देवागमादिको हेतु नहीं बना सकते हैं क्योंकि देवागमादि विभूतियां मायावियोंमें पायी जानेसे व्यभिचारी हैं।" और पंडितजीके मतानुसार इन्हीं विभूतियोंके भीतर अरहन्तके ३४ अतिशय भी गर्भित हैं। तब फिर यह कैसे माना जा सकता है कि उक्त व्यभिचारी विभूतियोंको आप्तसिद्धिमें अहेतु और अलक्षण ठहराने वाले आप्तमीमांसाकार ही अन्यत्र उन्हीं अतिशयोंको आप्तका लक्षण बना कर प्रकट करेंगे और कहेंगे कि जिनमें ये हैं वे ही आप्त कहलाते हैं—यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते? इस सम्बन्धमें जितना हेतुवाद न्यायाचार्यजीने प्रस्तुत किया है वह सब इसी बातकी परिपुष्टि करता है कि आप्तमीमांसाकार क्षुत्पिपासादिके अभावको आप्तका लक्षण नहीं स्वीकार करते किन्तु उसका प्रबलतासे निषेध करते हैं।

(५ ख) पातंजल योगशास्त्र और जैन कर्मशास्त्रकी व्यवस्थामें भेद—

पंडितजीने पातंजल योगदर्शनका 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः' सूत्र भी पेश किया है, यह सिद्ध करनेके लिये कि जीवन्मुक्त अवस्थामें भूख-प्यासकी बाधा नहीं रहती। किन्तु उन्होंने उस सिद्धान्तकी और जैनसिद्धान्तकी कार्य-कारण परम्परापर विचार नहीं किया, जिसकी प्रकृत में अत्यन्त आवश्यकता थी। उक्त पातंजल सूत्रकी वृत्ति है—

'जिह्वातन्तोरधस्तात् कण्ठयः कूपाकारः प्रदेशोऽस्ति यत्र प्राणादेः संघर्षणात्क्षुत्पिपासे भवतः। तत्र संयमात्तन्निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः।"

अर्थात्—जिह्वा और तन्तुके नीचे कण्ठका कूपाकार प्रदेश है। इस प्रदेशमें प्राणवायु आदिके संघर्षणसे क्षुधा और तृषा उत्पन्न होती हैं। अतएव जब योगी उक्त संघर्षणका संयम कर लेता है तब उसे उक्त बाधाएं नहीं होतीं।

इस व्याख्यानसे सुस्पष्ट है कि पातंजल योगशास्त्रमें जो क्षुधा और तृषाकी वेदनाएं उत्पन्न होनेका कारण दिया गया है वह जैन सिद्धान्तमें उपलभ्य उक्त वेदनाओंके कारणसे सर्वथा भिन्न है। योगशास्त्र अपनी व्यवस्थामें सुसंगत है, क्योंकि वहां क्षुधा-तृषाका जो कारण स्वीकार किया गया है उसके अभाव होने पर तज्जन्य कार्यका भी अभाव माना जाना स्वाभाविक है। किन्तु जैनसिद्धान्तमें तो क्षुधा-तृषादि वेदनायें वेदनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली मानी गई हैं, और इस कर्मका उदय सयोगी और अयोगी केवलीमें भी स्वीकार किया गया है। तब फिर कारणके रहते कार्यका अभाव कैसे माना जा सकता है? न्यायाचार्यजीके इस अप्रकृत व अनपेक्षित परिश्रमणसे उनका गृहीत पक्ष कैसे सिद्ध होगा यह वे ही जानें। हां, यदि न्यायाचार्यजी यह कहें कि रत्नकरण्डकारको क्षुधा-तृषाका वही कारण स्वीकृत है जो पातंजल योगशास्त्रमें माना गया है, और उनके आप्त भी वे ही हैं जो उसी 'कण्ठकूप संयम' का अभ्यास किया करते हैं, तो बात दूसरी है।

(अगले अङ्कमें समाप्त)

श्रीधवलका रचनाकाल

(लेखक—श्री प्रफुल्लकुमार मोदी, एम० ए०, एल-एल० बी०)

षट्खंडागम पुस्तक १ की प्रस्तावनामें मेरे पिताजी प्रो० डाक्टर हीरालालजीने विशेष खोजबीन पूर्वक धवला टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिका पाठ संशोधन करके यह निर्णय किया है कि उस प्रशस्तिमें कार्तिक शुक्ल १३ शक संवत् ७३८ का उल्लेख है। किन्तु अनेकान्तकी वर्ष ७ किरण ११-१२ (जून-जुलाई, १९४५) के अंकमें बा० ज्योतिप्रसाद जैनका 'श्रीधवलका समय' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। जिसमें उक्त प्रशस्तिके पाठमें कुछ दूसरे प्रकारसे संशोधन करके यह प्रतिपादित किया गया है कि उस प्रशस्तिमें विक्रम संवत् ८३८ कार्तिक शुक्ल १३ का उल्लेख है। इस लेखमें प्रस्तुत अनेक बातें ऐतिहासिक दृष्टिसे विशेष चिन्तनीय हैं। किन्तु उनकी चिन्ता करना तब तक निष्फल है जब तक कि यह सिद्ध न होजाय कि विक्रम सं० ८३८ भी धवलाकी समाप्तिके लिये संभव माना जा सकता है।

उक्त प्रशस्तिके उपलभ्य अशुद्ध पाठके कारण संवत् आदिके सम्बन्धमें भले ही मतभेद और संशय हो, किन्तु इस बातमें कोई संशय व मतभेद नहीं है कि उसमें राजा जगत्तुंगदेवका उल्लेख है। राष्ट्रकूट वंशके जगत्तुंग उपाधि-धारी अनेक राजाओंमें सबसे प्रथम गोविन्द तृतीय पाये जाते हैं जिनके शक संवत् ७१६ से लगाकर ७३५ तकके ताम्रपट मिले हैं। इनके पिता ध्रुवराजका राज्यकाल शक ७१५ तक पाया जाता है, और ध्रुवसे पूर्ववर्ती राजा गोविन्द द्वितीयका अन्तिम उल्लेख शक ७०१ का मिलता है। किन्तु इस बातका अभीतक निर्णय नहीं हो सका कि गोविन्द द्वितीयका राज्यकाल कब समाप्त हुआ और ध्रुव का कब प्रारंभ हुआ। जिनसेनकृत हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिमें[१] उल्लेख है कि शक संवत् ७०५ में दक्षिण में कृष्णके पुत्र श्रीवल्लभका राज्य था। राष्ट्रकूटनरेश कृष्णप्रथम के ज्येष्ठपुत्र गोविन्द द्वितीयकी उपाधि श्रीवल्लभ पाई जाती है[२] और अपने पिताके पश्चात् राज्यारोहणकाल शक सं० ६९४ के लगभग सिद्ध होता है[३]। सर भंडारकरने अपने दक्षिणके इतिहासमें जिनसेनका उक्त उल्लेख इन्हींके सम्बन्धमें स्वीकार किया है,[४] और विश्वेश्वरनाथ रेऊने अपने भारतके प्राचीन राजवंशमें यही मत स्वीकार किया है[५]। इस प्रकार विक्रम सं० ८३८ शक सं० ७०३ में तो जगत्तुंग ही नहीं, किन्तु उनके पिता ध्रुवराजका भी राज्य नहीं पाया जाता। बा० ज्योतिप्रसादजीका यह कथन सर्वथा असत्य है कि धूलियाके ताम्रपटसे "इसमें तो सन्देह नहीं कि गोविन्द द्वितीयकी मृत्यु ७७९-८० में हो चुकी था

---

१ शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्॥

२ देखो पैठनका ताम्रपत्र (ए. इं. ३ पृ. १०५)

३. "Krishna I was succeeded by his eldest son Govinda Prabhutavarsha Vikramavaloka soon after 772 A. D."

(Altekar: The Rashtrakutas and their t mes; P. 45.)

४. "Govinda II, therefore, must be the prince alluded to, and he appears thus to have been on the throne in Saka year 705 or A. D. 783."

(Bhand: The Early History of the Deccan, P. 89)

५ "इससे प्रतीत होता है कि श० सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) तक भी गोविन्दराज द्वितीय ही राज्यका स्वामी था क्योंकि कावी और पैठनके ताम्रपत्रोंसे पता चलता है कि गोविन्द द्वितीयकी उपाधि 'वल्लभ' और इसके छोटे भाई ध्रुवराजकी उपाधि 'कलिवल्लभ' थी।"

(रेऊ : भा. प्रा. रा भा. ३ पृ० ३३-३४)

और राष्ट्रकूट राज्यका एकच्छत्र अधिपति श्रीवल्लभ कलि-वल्लभ धारावर्ष आदि उपाधिधारी ध्रुवराज निरुपम था।" यथार्थतः धूलियाके ताम्रपटोंमें तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय अर्थात् शक सं० ७०१ में गोविन्द द्वितीयका राज्य था[६]। हां, डा० अल्तेकरने यह अवश्य बतलाया है कि श्रीवल्लभ उपाधि ध्रुवराजकी भी पाई जाती है और वह भी कृष्णका पुत्र था अतएव "जिनसेन द्वारा उल्लिखित श्रीवल्लभगोविन्द भी हो सकते हैं और ध्रुव भी[७]।" उन का निजी ख्याल यह भी है कि इस समय ध्रुवको राजा मानना ठीक होगा। किन्तु इसके लिये हेतु सिवाय इसके और कुछ नहीं दिया जासका कि यदि ध्रुवका राज्यारोहण ७८३ ई० के भी पश्चात् माना जाय तो उनके राज्यके लिये केवल लगभग आठ वर्ष ही शेष रह जाते हैं, जब कि उनकी अनेक विजयोंसे जान पड़ता है कि उनका राज्य कुछ अधिक रहा होगा। इस हेतुमें न तो कोई बल है और न इस बातका कोई भी प्रमाण उपलब्ध है कि गोविन्द द्वितीयका राज्य शक ७०५ से पूर्व समाप्त होचुका था। यदि ध्रुवका राज्यारोहण शक ७०५ व ७०६ में भी माना जावे तो भी उनके राज्यके दश वर्ष प्राप्त होते हैं क्योंकि उनका उल्लेख शक ७१५-१६ तक पाया जाता है और उनके पुत्र जगत्तुंगका प्रथम ताम्रपत्र शक ७१६ का प्राप्त होता है[८]।

किन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि हरिवंश पुराणका वह उल्लेख ध्रुवराजका ही सूचक है तो इससे केवल इतना ही अनुमान होसकता है कि शक संवत् ७०५ के लगभग ध्रुवराज सिंहासनारूढ हुए थे। किन्तु इससे दो वर्ष पूर्व ही शक संवत् ७०३ में उनके पुत्र जगत्तुंगदेवके राज्य होनेकी तो कोई संभावना ही नहीं पाई जाती। यह बात सच है कि ध्रुवराजने अपने जीवनकालमें ही अपने ज्येष्ठ पुत्रोंको छोड़ कनिष्ठ पुत्र गोविन्दराजको युवराज बनाया था और उसका अभिषेक भी अपने जीते जी कर देनेका प्रयत्न किया था। किन्तु जैसा कि डा० अल्तेकरने इस विषयका खूब ऊहापोह करके कहा है[९], एक तो अभी तकके उपलब्ध प्रमाणोंपरसे यह निर्णय करना ही कठिन है कि क्या सचमुच ध्रुवने अपने जीते जी अपने पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया था और दूसरे, यदि यह ठीक भी हो तो यह बात उसके राज्यके अन्तिम कालमें अर्थात् शक सं० ७१५ के लगभग ही घटित हो सकती है, न कि राज्यके प्रारम्भमें व उससे भी पूर्व शक ७०३ में ही।

जगत्तुंग गोविन्द तृतीयका कोई उल्लेख राजाके रूप में शक सं० ७१६ से पूर्वका न किसी ताम्रपटमें पाया जाता है और न किसी ग्रन्थमें। इससे ११-१२ वर्ष पूर्व शक सं० ७०५में उनके पिता ध्रुवराजके भी सिंहासनारूढ होनेका निश्चय नहीं है। तब शक संवत् ७०३ (वि० सं० ८३८) में वीरसेनद्वारा जगत्तुंगदेवके राज्यका उल्लेख किया जाना सर्वथा असंभव प्रतीत होता है। जब तक इस एक प्रधान बातके प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत न किये जायँ तब तक बा० ज्योतिप्रसादजीकी शेष कल्पनाओंके विचारमें समय व शक्ति लगाना निष्फल है।

---

६. "In the Dhulia plates of 779 A. D. We find that Govinda II is mentioned as the ruling Emperor".
(Altekar: The Rashtrakutas and their times, P. 50 f. n.)

७. "Since srivallabha was thus the epithet of both Govinda II and his immediate successor Dhruva, Srivallabha mentioned by Jinasena as ruling in 783 A. D. can be either Govinda or Dhruva".
(Alterkar: The R. T., P. 53,)

८. "Dhruva was living when the Daultabad plates were issued in April 793 and dead when the Paithan plates were issued by his son in may 794 A. D."
(Altekar: R. T., P. 59.)

९. "In the present state of knowledge, therefore, it is difficult to decide whether Dhruva had actually abdicated towards the end of his career it may, however, be safely assumed that Govinda was the *defacto* ruler in full charge of the administration when his father died."
(Altekar: R. T., P. 61.)

साहित्यप्रेमी श्री अगरचन्दजी नाहटा

(ले०—श्री हजारीमल बाँठिया)

श्री अगरचन्द नाहटा—हिन्दी साहित्य संसारमें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। बीकानेरके प्रमुख साहित्यकारोंमें स्वामी नरोत्तमदासजी और दशरथजी शर्माके बाद आप ही का नाम लिया जाता है। आपने हिन्दी साहित्यके इतिहासमें जो सेवा की है, वह अभिनन्दनीय है। हिन्दी साहित्यके प्राय: सभी साहित्यकारोंका यह मन्तव्य रहा है कि जैनोंने हिन्दीमें कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं की है, जो की भी है वह साम्प्रदायिक है। पर आपने अपने लेखों द्वारा हिन्दी साहित्यकारोंको यह भ्रमात्मक सिद्ध करके प्रमाणित कर दिया है कि प्राचीन-कालमें भारतीय संस्कृति और हिन्दी-साहित्यके निर्माणमें जैनविद्वानोंका पूरा पूरा हाथ रहा है अत: वे हिन्दी-साहित्य के इतिहासमें गौरवपूर्ण स्थान पानेके अधिकारी हैं[1] अत: आपके इस कार्यके लिये हिन्दी-साहित्य हमेशा ऋणी रहेगा। आपने उच्च शिक्षा प्राप्त न करके भी साहित्य क्षेत्रमें अपने अध्यवसाय लगन कर्मठता द्वारा जो उन्नति की है वह अनुकरणीय है। आप अभी नवयुवक हैं, फिर भी आपकी प्रतिभाकी प्रशंसा वयोवृद्ध श्रद्धेय ओझाजी, मुनि जिनविजय जी आदिने मुक्तकंठसे की है।

इन पंक्तियोंका लेखक आपके आन्तरिक एवं बाह्यसे सुचारु परिचित है। यह आप ही की कृपा एवं सत्संगका फल है कि इस लेखके लेखकको भी सरस्वतीकी उपासना करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ और उसने अपनी कुछ तुच्छ रचनाएं 'हिन्दुस्तानी', 'अनेकान्त', 'समाज-सेवक' 'बाल-सखा', 'झुनझुना', 'जैनसत्यप्रकाश', 'जैनध्वज' ,'वीरपुत्र' और 'जैन' आदि कई पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित करवाई। अत: अधिक जानकारी रखनेके कारण संक्षिप्त परिचय प्रकाशित कर रहा हूँ।

जन्म—श्रीमान् नाहटाजीका जन्म वि० सं० १९६७ चैत्रवदी ४ को बीकानेरके लब्ध प्रतिष्ठित ओसवाल कुलमें श्री शंकरदानजी नाहटाके घरमें हुआ। आप अपनी माता पिताकी कनिष्ठ संतान हैं। आपके ज्येष्ठ भ्राता श्री भैरोदानजी, अभयराजजी और मेघराजजी बीकानेरके कर्मठ समाजसेवी एवं मिलनसार व्यक्ति हैं।

बाल्यजीवन और शिक्षा—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, आपने साधारण शिक्षा ही प्राप्त की है। इसका कारण यह है कि आपके ज्येष्ठ भ्राता स्व० श्री अभयराजजी नाहटाका, जो अच्छे विद्वान् एवं एफ० ए० प्रीवियस थे, २२ वर्षकी अवस्थामें अकाल देहान्त होजानेके कारण आपके पिताश्रीने आपको ज्यादा शिक्षा नहीं दिलवाई। आपकी शिक्षा केवल ६ कक्षा तक स्थानीय श्रीजैनपाठशाला में हुई। आपकी साहित्यसाधनाके विषयको लेकर "तरुण-जैन" के संपादक श्री भंवरमलजी सिंघी, बी० ए० 'साहित्य-रत्न' ने लिखा है—

'यह आश्चर्य और उल्लासकी बात है कि एक कुशल और व्यस्त अध्यवसायी होनेके साथ-साथ श्रीनाहटाजीको साहित्यके अध्ययन और खोजका इतना शौक है कि कालेज और यूनिवर्सिटीकी शिक्षा न प्राप्त होने पर भी आपने अपने अध्यवसाय द्वारा भाषा और साहित्यमें अच्छी प्रगति की है।"

नवजीवनका अभ्युदय—पाठशालासे विदा लेकर श्री नाहटाजी व्यापारिक क्षेत्रकी ओर अग्रसर हुए। इसके लिये आपने सर्व प्रथम १४ वर्षकी अल्पायुमें वि० सं० १९८१ मिति आषाढ़ सुदी ६ को सिलहट कलकत्ता आदिकी यात्रा व्यापारिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये की। डेढ़ वर्षकी लंबी यात्रा कर आप वापिस बीकानेर वि० सं० १९८३ में आये सौभाग्यवश वि० सं० १९८४ माघ सुदि ५ को प्रात:स्मरणीय स्व० श्री कृपाचन्द्र सूरिजी व उन के शिष्य उपा० सुखसागरजी महाराज बीकानेर पधारे और आप ही के बाबा—श्रीदानमलजी नाहटेकी कोटड़ीमें विराजे।

---

१ हिन्दीसाहित्यका प्रारंभिक-वीरगाथाकालके सम्बन्धमें आपने गहरी छानबीन कर नवीन प्रकाश डाला है इस सम्बन्धमें आपके नाम प्रवर राजस्थानीमें प्रकाशित है

पूज्य महाराजश्रीके सत्संगसे आपके हृदयमें जैन-साहित्यके मनन एवं पुनरुद्धारकी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। और उन्हींकी सत्संगतिसे आपका हृदय साहित्य, धर्म तथा अध्यात्म जैसे गूढ़ विषयोंकी ओर आकृष्ट हुआ। यहींसे आपकी प्रतिभाके प्रस्फुटनके लिये क्षेत्र मिलता है और वे अपने उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये बद्ध-परिकर हो जाते हैं।

आपका धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन भी विशेष महत्वपूर्ण है। आप वर्षभरमें कभी रात्रिमें भोजन करना तो दूर रहा पानी भी नहीं पीते। आप प्रतिदिन सामायिक एवं स्वाध्याय करते हैं। जैनग्रन्थोंका आपने गहन अध्ययन एव अनुशीलन किया है। जिसके परिणाम स्वरूप आपने 'सम्यक्त्व' नामक एक पुस्तक लिखी है जो अभी अप्रकाशित है। आध्यात्मिक विचारणा आपका अत्यन्तप्रिय विषय रही आपने भारतके प्राय: सभी जैन-तीर्थों और ऐतिहासिक स्थानोंका पर्यटन किया है।

व्यापारिक क्षेत्र—आपने व्यापारिक क्षेत्रमें भी आश्चर्य-जनक उन्नति की है। आपका व्यापार कलकत्ता, बोलपुर, चापड़, सिलहट, ग्वलपाडा और बाबूरहाट आदि आसाम-बंगाल प्रान्तोंमें पाट, चावल, गल्ला कपड़ा और आढ़तका होता है। सिलहट व बाबूरहाटकी दुकानोंका काम आप ही देखते हैं। बाबूरहाटमें तो जनता 'अगरचंद नाहटा' फर्मको 'राजा बाबू' का फर्म कह कर पुकारती है। आपने अभी सिलहटमें 'नाहटा होजियरी' नामक एक फैक्टरी स्थापित की थी।

व्यक्तित्व—आप सरलता और सादगीकी साक्षात् मूर्ति है। आपके जीवनकी यह एक विशेष महत्वकी बात है कि इतने प्रतिष्ठित साहित्यिक एवं धनी होकर भी आप पाश्चात्य फैशनके गुलाम नहीं हैं, जो कि आजकलके नवयुवकोंमें अधिकांश रूपमें दृष्टिगोचर होती है। अभिमान तो आपको छू तक नहीं गया है। जो भी आपसे एक बार मिल पाता है वह आपके व्यक्तित्वसे अवश्य प्रभावित हो जाता है। आप होनहार उत्साही एवं नवीन विचारोंके युवक हैं। इस समय आपके धर्मचंद नामक एक पुत्र व दो पुत्रियां हैं।

साहित्यिक और सार्वजनिक क्षेत्र—आपका सार्वजनिक क्षेत्र अभी इतना विशाल नहीं है। फिर भी अ० भा० मारवाड़ी सम्मेलनकी सिलहटशाखाने आपके कार्योंसे प्रभावित होकर आपको अपना मंत्री चुना था। और साथ ही सम्मेलनकी कलकत्ता वर्किङ्ग कमेटी तथा नागरी प्रचारिणी सभाकी प्रबन्धकारिणी कमेटी (सं० १९९८-१९९९) के लिये आप सदस्य निर्वाचित हुए हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे आप बीकानेरके साहित्यिक और जैनसामाजिक कार्योंमें निरन्तर भाग लेते ही रहते हैं। बीकानेर राज्यके साहित्य-सम्मेलनके अन्तर्गत राजस्थानी साहित्यपरिषदके आप सभापति भी रह चुके हैं।

साहित्य क्षेत्रमें आपने विशेष रूपसे प्रगति की है। आप हिन्दी एवं राजस्थानी भाषाओंके उत्कृष्ट लेखक संकलन कर्ता एवं संपादक हैं। आपकी भाषा सरल, सार, गर्भित व नवीन विचारोंसे ओतप्रोत रहती है। जो कुछ भी आप लिखते हैं, उसे प्रमाणोंकी तराजूमें तौलकर लिखते हैं। आप गंभीर विचारक एवं अन्वेषक हैं। राजस्थानी साहित्य और जैनसाहित्यके सबन्धमें आपने अनेक बहुत महत्वपूर्ण खोजें की हैं। जैनसाहित्यमें तो आप विशेष पारंगत हैं।

आप कई वर्ष पूर्व कविता भी करते थे आपकी कविताओंकी संख्या करीब १०० है, जिनमेंसे बहुत सी अप्रकाशित हैं। बादमें आपने कविता करना इस विचारसे छोड़ दिया कि हमारी आजकलकी कविताएं दुनियाँका इतना कल्याण नहीं कर सकतीं, जितना कि प्राचीन कवियोंकी उत्कृष्ट रचनाएँ। वे नष्ट होती रहे और हम नवीन रचनामें लगे रहें उनकी कदर न करें यह अनुचित है, इसी हेतु आप प्राचीन कवियोंकी कविताओंका संकलन कर उन्हें प्रकाशित कर रहे हैं जिनका एक संग्रह 'ऐ० जैनकाव्य संग्रह' के नामसे प्रकट हो चुका है।

आप निरन्तर कुछ न कुछ लिखते ही रहते हैं। आप दिनके किसी क्षणको आलस्यमें न गंवाकर साहित्यसेवामें लगाते हैं। आप कुशल व्यापारी हैं फिर भी व्यापार करते हुये जो समय बच रहता है वह साहित्य सेवा ही में व्यतीत करते हैं। मैंने इन्हें कभी व्यर्थकी गप्पें हाँकते नहीं देखा। जब देखता हूँ तभी इनकी लेखनी अविश्रान्त गतिसे चलती ही रहती है। आप जब बीकानेरमें निवास करते हैं तब आप दिनरातमें १२ घंटे साहित्यके पठन, संग्रह एवं लेखनमें व्यय करते हैं। सच है परिश्रमका फल मीठा है। आप

"Simple living and high thinking" के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

आपके लेख जैन तथा जैनेतर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं, यथा 'हिन्दुस्तानी', 'राजस्थानी', 'भारतीयविद्या', 'जैन-सिद्धान्त', नागरी प्र० पत्रिका', जैनसत्यप्रकाश', 'अनेकान्त', आदिमें निरन्तर प्रकाशित होते रहते हैं। आपके प्रत्येक लेखमें आपकी सूक्ष्मगवेषणाशक्ति नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं सर्वतोमुखी मेधाका विलक्षण सम्मिश्रण होता है। अब तक आपके २०० से ऊपर लेख सामयिक पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित हो चुके हैं। आपको कई वर्ष पूर्व 'जिनदत्त सूरि' नामक लेखके लिये फलोधी जैन संघकी ओरसे एक रजत पदक भी मिला था।

आप लेखक संग्राहकके अतिरिक्त उच्च कोटिके समालोचक एवं सम्पादक भी है। आप कलकत्तेसे प्रकाशित "राजस्थानी" के सह-संपादक भी रह चुके और अभी 'राजस्थान भारती' के संपादकोंमें भी आपका शुभ नाम है।

आपने अपने यहाँ 'अभय जैनपुस्तकालय', 'अभय जैनग्रन्थमाला' तथा 'नाहटा कलाभवन' की स्थापना की है। आपके संग्रहमें १००० के लगभग हस्त-लिखित प्रतियें ५००० के लगभग मुद्रित ग्रंथ हैं तथा अन्य प्राचीन सामग्री। यथा चित्रों, सिक्कों आदि¹ का भी अच्छा संग्रह है। ये आप की अप्रतिम संग्राहक-वृत्तिके साक्षात् उदाहरण हैं। श्रीमान् रायबहादुर डा० गौरीशङ्करजी ओझा अपने बीकानेर राज्यके इतिहास खण्ड २ पृ० ७१५ में लिखते हैं कि—"यह प्रसन्नताका विषय है कि बीकानेरके उत्साही जैनयुवकों—अगरचंद भँवरलाल नाहटा (ओसवाल) ने अब इस प्राचीन जैनसाहित्यके उद्धारका भार अपने हाथमें लेकर उसमें प्राप्त सामग्रीके आधार पर आलोचनात्मक ढंगसे कुछ सुंदर ग्रन्थोंकी रचना की है, जो इतिहासके लिये महत्वपूर्ण है। नाहटा बन्धुओंने नष्ट होने वाले जैनसाहित्यके ग्रंथोंको परिश्रम पूर्वक निजी व्ययसे खरीद कर अपने संग्रहमें सुरक्षित कर लिया है। बीकानेर यात्राके समय मुझे कई बार उनके संग्रहको देखनेका अवसर मिला था।"

आपके साथ आपके भ्रातृपुत्र श्री भंवरलालजी नाहटा भी साहित्यिक क्षेत्रमें संलग्न हैं। आपने अभी तक ७ ग्रंथों का प्रणयन किया है। जिनमेंसे 'युग प्र० श्रीजिनचंद्रसूरि', 'दादा कुशलसूरि', 'मणिधारी श्री जिनचंद्रसूरि' तथा ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह मुख्य हैं। ये ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्वके हैं। ये सब ग्रन्थ आपके अनेक वर्षोंके गहन अन्वेषण और परिश्रमके फल हैं। भारतके प्रायः सभी हिन्दी साहित्यिकों, ऐतिहासिकों व पुरातत्वाचार्योंने आप के ग्रन्थोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

१ प्राचीन पंचाग, राजामहाराजाओंके, खास रुक्के ओसवाल वंशावलियें आदि महत्वपूर्ण सामग्री।

महावीर-उपदेशावतार

(लेखक—पं० अजितकुमार जैन शास्त्री)

इस भारत वसुन्धराको जो अगणित विश्ववंद्य महान आत्माएँ उत्पन्न करनेका सौभाग्य प्राप्त है वह अन्य किसी देशको नहीं मिल सका। जगतको पवित्र अहिंसाका दिव्य सन्देश देने वाले भगवान महावीर भी इसी भारतभूमि पर मगध देशमें अवतरित हुए थे। कुंडलपुरके राजा सिद्धार्थकी रानी त्रिशलाकी कुक्षिसे इस अनुपम ज्योतिधारक रत्नका प्रादुर्भाव हुआ था।

मानवजीवनको उन्मत्त बना देनेवाली यौवन दशाने राजपुत्र महावीरके हृदय आसनपर रंचमात्र भी अधिकार न जमा पाया। जगतकी विश्वमोहिनी विभूतियोंने उनके अचलचित्तको लेशमात्र भी प्रभावित न किया। अतएव अन्य प्राणधारियोंको बन्धनसे छुड़ाने वाले महावीर प्रभु स्वयं विवाह-बन्धनमें न बँधे और ३० वर्षके यौवन कालमें ही राजविभूतिको ठुकरा कर गृहजञ्जाल से अलग होगये। इस आदर्शत्यागने भगवान महावीरकी ओर संसारका

दृष्टि-आकर्षण किया।

तदन्तर सांसारिक वातावरणसे दूर रहते हुए, वन-पर्वतोंकी निर्जनभूमिमें भगवान महावीरने दुर्द्धर्ष तपस्या की। सर्दी, गर्मी, वर्षा अपने शरीरपर बिताते हुए एकान्त स्थानोंपर १२ वर्ष तक पूर्ण मौन रहकर कठिन तपश्चर्या करते रहे। इस विकट, असाधारण तपश्चरणने महात्मा महावीरको भगवान महावीर बना दिया। आत्माको सांसारिक कारागारमें बलात् रोक रखनेवाली घातक कर्मबेड़ी महावीरकी महती तपस्यासे टूट कर अलग जा पड़ी जिससे कि उनका आत्मीय अनन्त, अनुपम प्रकाश इस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ जिस प्रकार सूर्यपरसे बादलोंका पटल हट जानेसे उसकी ज्योति निकल आती है। सूर्यकी ज्योति सीमित होती है किन्तु भगवान महावीरकी पूर्ण, निर्मल ज्ञानज्योति असीमित थी उस ज्योतिमें समस्त (त्रिलोक, अलोक) विश्व इस प्रकार प्रतिबिम्बित होता था जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें मनुष्यका मुख।

इसके सिवाय मोह, राग, द्वेष, मद आदि आध्यात्मिक दूषित मल पूर्णतया महावीरके महान आत्मा जिससे सर्वथा हट गये थे इस कारण भगवान् महावीर प्रकार पूर्णज्ञानी थे उसी तरह पूर्णनिरञ्जन-स्वच्छ भी थे।

एवं आत्मिक अनन्त शक्ति उनके आत्मामें प्रगट हो चुकी थी और आत्मामें विकलता सर्वथा दूर होजानेके कारण भगवान महावीर निर्विघ्न निराबाध, परिपूर्ण सुख भी प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार वे शरीरधारी किन्तु बन्धनविमुक्त जीवन्मुक्त थे।

भगवान महावीरके सर्वज्ञता दशा होनेका वह शुभ दिवस जीवनके ४३ वें वर्षके वैशाख शुक्लपक्षका दशवां दिन था।

नाकलोकवासी देवोंको तथा उनके अधिपति सौधर्म इन्द्रको जब भगवान महावीरके कैवल्य प्राप्त होनेका शुभ समाचार ज्ञात हुआ तब वे इस पृथ्वीतलकी सबसे बड़ी विभूतिको अपने नेत्रोंसे देखने सोत्साह आये। जीवन्मुक्तका दर्शनकर बहुत हृष्ट और सन्तुष्ट हुए। इन्द्रने भगवानके दिव्य उपदेश प्राप्त करनेके लिये अद्भुत सुन्दर, विशाल दिव्य सभा मंडपका निर्माण कराया जिसका नाम 'समवसरण' था। समवशरणके मध्यमें उच्च स्थानपर भगवान विराजमान थे। उनके चारों ओर देव, मानव, पशु वर्गके लिये पृथक् पृथक् बैठनेके सुन्दर स्थान थे, दिव्य प्रकाशसे समवशरण रात-दिन जगमगाता था। असंख्य प्राणधारी भगवान महावीरके दर्शनार्थ तथा दिव्य उपदेश सुननेके लिये वहां एकत्र हुए। सबमें उत्साह था, आनंद था और तीव्र इच्छा इस बातके सुननेकी कि "देखें भगवान हमारे उद्धारके लिये क्या कुछ अमोघ उपाय बतलाते हैं।"

किन्तु महान आश्चर्य हुआ सब किसीको यह देखकर कि "भगवानका मौन दूर नहीं होता। साधु अवस्थाका १२ वर्षका मौन अब भी बना हुआ है। यह बात तो ठीक है कि भगवान निरीह, निःस्पृह है। उन्हें कोई भी किसी भी प्रकारका राग या इच्छाभाव नहीं, जनताको उन्होंने अपने निकट बुलाया नहीं और न उन्हें यह लालसा ही है कि जनसमूह उनके पास आकर बैठे, जनता उनके पास आवे तो क्या और न आवे तो क्या, उनके लिये दोनों बातें समान हैं, वे समस्त अभिलाषाओंसे अतीत होचुके हैं, यह सब कुछ ठीक है किन्तु यह भी तो ठीक है कि अभी वे शरीरधारी है, वाचनिक साधन उनके निकट हैं, तीर्थंकर कर्मप्रकृति अभी समाप्त नहीं हुई, मौन (मूक) केवली वे हैं नहीं उन्हें तो इच्छा बिना भी तीर्थंकर प्रकृति अवश्य बुलवावेगी, उनके आध्यात्मिक निरावरण परिपूर्ण ज्ञानका आंशिक लाभ जनसाधारणको अवश्य पहुंचावेगी, उनकी सर्वमान्यता और विश्वपूज्यभावका भी प्रधान कारण यही दिव्य उपदेश है फिर वह अब सब साधन मिलनेपर भी क्यों नहीं हो रहा, क्या कमी शेष रह गई है ?"

इत्यादि विचारधारायें आगन्तुक श्रोताओंके हृदयमें बह रही थीं। "शायद आज नहीं तो कल भगवानका मौन भंग अवश्य होगा।" इस प्रतीक्षामें जनता निराश न हुई। किन्तु यह क्या २–४–१०–२० दिन ही क्या, पहला और दूसरा मास समाप्त होगया और दो मासके पीछे भी भगवानके मुखसरसे उपदेशधारा प्रवाहित न हुई। जनता में अद्भुत हैरानी थी। यह तो श्रोताओंको निश्चय था कि उपदेश तो अवश्य होगा किन्तु यह अनिश्चय सबको बिकल कर रहा था कि वह होगा कौनसे शुभ समय ?

भगवानका प्रधान भक्त इन्द्र सबसे अधिक विस्मित था क्योंकि भगवानके कैवल्यसे लाभ उठानेका सारा प्रबंध

तो उसीने किया था उसीकी बनवाई समवशरण सभामें असंख्य जनराशि एकत्र हुई थी। आगन्तुक जनताको लाभ पहुँचवानेका प्रधान उत्तरदायित्व तो उसीका था किन्तु बात उसके वशकी न थी, वह विवश (लाचार) था।

उसने अपनी अवधि-ज्ञानशक्तिसे भगवानके मौन-अवलम्बनका कारण जानना चाहा कि आखिर कौन सी कमी रह गई है जिससे मेरा प्रयत्न सफल नहीं हो रहा? तब उसे ज्ञात हुआ कि यहां और तो सब कुछ है—किन्तु कुछ भी नहीं है। उपदेश सुनने वाले असंख्य प्राणी भी यहां एकत्र हैं किन्तु प्रधान श्रोता यहां एक भी नहीं है। प्रचंड वाग्धाराको सहन करने वाली प्रबल ज्ञान-धारिणी चट्टान यहां पर नहीं। अतः दिव्य उपदेशको पूर्ण धारण कर आगे उसे फैलाने वाला महान व्यक्ति जब तक यहां न हो तब तक भगवानका मौन-भंग भी क्योंकर हो। सिंहनीके दूधके लिये स्वर्णपात्र चाहिये। अतः गणधर (अर्हन्तके दिव्य, महान ज्ञान उपदेशको सुनकर अपने हृदय पटल पर लिख लेने वाला अनुपम विद्वान) की कमी ही इस मौनका प्रधान कारण है।

तब इन्द्र उस समयके सबसे बड़े विद्वान इन्द्रभूति गौतमको एक युक्तिसे समवशरणमें लाया। भगवानका दर्शन कर इन्द्रभूति गौतम निरभिमानी होकर भगवानका भक्त बन गया। उपदेशको श्रवण कर, उसे धारण कर लेने वाला प्रधानपात्र आगया, भगवानका मौन स्वयं भंग हुआ, उपदेशधारा भगवानके मुखसे बह चली। जिस प्रकार बुद्धिमान भव्य शिष्यके आजानेपर विद्वान गुरुके हृदयमेंसे विद्याका स्रोत मुखद्वारसे स्वयं निकल पड़ता है या वत्सके निकट आजानेपर गायका दूध स्वयं टपकने लगता है। तीर्थंकर प्रकृतिको भी बाहरी साधन उपलब्ध हुआ और भगवानकी दिव्य ध्वनिसे बिना किसी इच्छाके भी उपदेश होने लगा।

भगवानके दिव्य उपदेश प्रारंभ होनेका वह प्रथम शुभ दिवस श्रावण वदी प्रतिपदा था। इस प्रकार अर्हन्त होजानेपर भी ६६ दिन तक गणधरके असद्भावमें भगवान महावीरका मौन रहा।

"इच्छाके अभावमें भी भगवान महावीरके उपदेशमें समस्त तत्वोंका सूक्ष्म विवेचन कैसे होगया यह बात तो जान बूझकर, संकल्पके कारण ही हो सकती है, कोई भी वक्ता निरिच्छुक रूपसे ठीक व्याख्यान नहीं दे सकता"?

यह शंका स्वयं हल हो जाती है जबकि हम यह देखते हैं कि वाणीका ज्ञानसे गहरा सम्बर्क है। जिस ज्ञानश्रेणीका व्यक्ति होता है उसकी आकस्मिक वाणी भी उसी ढंगकी निकलती है। विद्वान स्वप्नदशामें भी यदि बड़बड़ावेगा तो उसके मुखसे निकले हुए शब्द मूर्ख मनुष्य के शब्दोंसे भिन्न तरहके होंगे उनमें भी विद्वत्ताकी झलक होगी। यदि कोई डाक्टर (विशेषज्ञ) शराबके नशेमें बड़-बड़ावे तो उस अनुद्दिष्ट, इच्छाके अभावमें निकली हुई वचनावलीमें भी विशेषज्ञता या डाक्टरीकी गंध पाई जायगी। यही बात भगवानकी दिव्यध्वनिके विषयमें समाधान कर देती है।

चूंकि वे सर्वज्ञ थे इतना ही नहीं किन्तु अनंत शक्ति-सम्पन्न, पूर्ण निरंजन, पूर्ण निराकुल भी थे जनसाधारण की अपेक्षा उनमें अनुपम विशेषताएँ विद्यमान थीं—वे लोकोत्तर हो चुके थे। अतः इच्छा न रहते हुए भी उनकी वाग्धारामें सर्वज्ञताकी झलक थी जैसा वे निरावरण, पूर्णज्ञानसे जानते थे उनके वचन भी वैसा ही प्रतिपादन करते थे। यदि एक वैद्य अपनी स्वप्नदशामें बोलता हुआ बिना इच्छाकी वाणीमें भी किसी रोगका ठीक निदान और चिकित्सा बतला देता है तो सदा जाग्रत सर्वज्ञताकी निरिच्छ वाणीमें सर्वज्ञताकी छाप कैसे न आवेगी?

जगतमें बहुतसे अधकचरे मनुष्य बिना यथेष्ट ज्ञान किये उपदेशकका चोगा पहन लेते हैं और अपने अधूरे, अपक्व ज्ञानसे जनताको तथा अपने आपको पथभ्रष्ट करते हैं। परन्तु श्रीवीर प्रभुने जब तक स्वयं पूर्णज्ञान और आत्मिक पूर्ण शुद्धिको प्राप्त न कर लिया तब तक साधु अवस्थामें १२ वर्ष तक किसीको कुछ उपदेश न दिया। अपना सुधार किये बिना दूसरेके लिये लम्बे लैक्चर झाड़ने वाले व्याख्यानदाताओंको भगवान महावीरके इस आदर्शसे उपयोगी शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

'थोड़ा बोलो अधिक काम करो' यह बात तो भगवानकी जीवनचर्यासे पद पदपर टपकती है।

जेसलमेरके भंडारोंमें प्राप्त कुछ नवीन ताड़पत्रीय प्रतियां

(लेखक—श्री अगरचंद नाहटा, भंवरलाल नाहटा बीकानेर)

श्वेताम्बर जैन हस्तलिखित ज्ञानभण्डारोंके लिए जेसलमेर बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है। वहां की ताड़पत्रीय प्रतियोंका पूरा विवरण गायकवाड़ ऑरिन्टियल सिरीजद्वारा सन् १९२३ में एक सूचीपत्र स्वर्गीय चिमनलाल डाह्याभाई दलाल और श्री पं० लालचंद भ० गांधीके द्वारा सम्पादित प्रकाशित हुआ था जिसमें बड़े भंडारकी ३४७ ताड़पत्रीय प्रतियें, तपागच्छीय भंडारकी ६ ताड़०प्रतियोंका परिचय प्रकाशित हुआ है। स्वर्गीय दलाल महोदयने बड़ा भंडार, तपागच्छ भंडार, डूङ्गरजी यतिभंडार और सेठ थाहरूसाहका भंडार, इन चार ज्ञान भंडारोंका दर्शन, अवलोकन किया था और ताड़पत्रीय प्रतियोंके अतिरिक्त थोड़ेसे कागज पर लिखे महत्त्व पूर्ण ग्रंथोंका परिचय भी उस सूचीमें दिया है। उस सूचीके अवलोकनके बाद यतिवर्य पं० लक्ष्मीचंद्रजीकी बनाई हुई बड़े भंडार के कागजके ग्रंथोंकी विस्तृत सूची हमें उन्हीं यतिजी द्वारा प्राप्त हुई थी। उनके अवलोकनके अनन्तर कई वर्षोंसे हमारी प्रबल उत्कण्ठा थी कि जेसलमेरके समस्त ज्ञान भंडारोंका भली भांति अवलोकन किया जाय। सौभाग्य वश अभी वह उत्कण्ठा पूर्ण हुई, श्रीजिनहरिसागरसूरी जी महाराजके वहां बिराजनेसे हमारे इस कार्यमें बहुत कुछ साहाय्य मिला सं० १९९४ के श्रवण कृष्णा १४ के दिन संध्याकी गाड़ीसे बीकानेरसे रवाना होकर अमावस्याकी रात्रिमें बाड़मेर पहुंचे, प्रतिपदाके दिन वहांके मन्दिरों के दर्शन-पूजन, लेखोंका संग्रह और यतिवर्य्य श्री नेमीचंद्र जीके कुछ हस्तलिखित ग्रंथोंका अवलोकन कर संध्या समय मोटर द्वारा जेसलमेरको रवाना हुए। प्रातःकाल जेसलमेर पहुंचकर वहांके दुर्गस्थित भव्य अष्टजिनालयों का दर्शन पूजन किया, तदनंतरसूरीजीके दर्शन कर उसी दिन दुपहरमें यतिवर्य्य उ० श्री वृद्धिचंद्रजीके संग्रहका निरीक्षण किया। द्वितीयाको यह कार्य समाप्त कर दो दिन में यति श्रीडूङ्गरसीजीके भंडारके समस्त ग्रंथोंका अवलोकन किया इन दोनों भंडारोंके अवलोकनमें श्रीयुत लक्ष्मीचंदजी यतिका सहाय्य उल्लेखनीय था, इसके बाद दो दिन तपागच्छीय भंडारके समस्त ग्रंथोंको देखनेमें लगे। इसके पश्चात् खरतर आचार्य शाखाके भंडार खुलवानेके प्रयत्नमें कुछ विश्राम करना पड़ा इसी बीच उसी उपाश्रय के यति चुन्नीलालजीके संग्रहको देख कर दो दिनमें आचार्य शाखाके भंडारके थोड़ेसे ग्रंथोंको देखनेमें लगे फिर दुर्गस्थित श्रीजिनभद्रसूरी ज्ञान भंडार (बड़ा भंडार) के आवश्यक ग्रंथोंका निरीक्षण कार्य प्रारम्भ किया गया। इसी बीच दो दिन लौद्रवाकी यात्रामें लगे, आते समय अमर सागरके मन्दिरोंका भी दर्शन किया। तदनंतर थाहरू साह भंडारका अवलोकन करके बड़े उपाश्रयके पंचायती भंडारके ग्रंथोंका दो दिनोंमें अवलोकन किया। समय समय पर दुर्गस्थित मन्दिरोंके लेखोंका मिलान* एवं अप्रकाशित लेखोंका संग्रह और बड़े भंडारके ग्रंथों के अवलोकनका कार्य चलता रहा, इस प्रकार २२ दिन जेसलमेरकी साहित्य यात्रा करके बाड़मेर आकर स्वर्गीय यति इंद्रचंदजीके ग्रंथोंका निरीक्षण किया, वहांसे आते समय फलौदी तीर्थकी यात्रा कर २६ दिनोंसे भादवा बदी १० को रात्रिमें बीकानेर पहुंचे।

जेसलमेरमें कुल ९ ज्ञान-भंडार हैं जिनमेंसे चारके ग्रंथोंका कुछ परिचय प्रकाशित हो जानेसे प्रसिद्ध ही हैं हमने उनके अतिरिक्त १ उ० वृद्धिचंदजीका संग्रह; २ बड़ा उपासरा पंचायती भंडार, ३ खतराचार्य शाखा भंडार, ४ यति चुन्नीलालजीका संग्रह, इन चारों भंडारों का नया अवलोकन किया, इनके अतिरिक्त लुंकागच्छके

* नाहरजीके जैन लेख संग्रह ३ रे भाग (जेसलमेर) से।

उपाश्रयमें भी थोड़ा संग्रह है पर कई अनिवार्य कारण वश प्रयत्न करने पर भी उसे न देख सके। जिन नये चार भंडारोंको हमने देखा उनमेंसे खरतर पंचायती भंडारमें १४ और खरतराचार्य शाखा भंडारमें ६ कुल २० ताड़पत्रीय प्रतियें नवीन मिली उनका परिचय इस लेखमें कराया जा रहा है।

पंचायतीभंडार[1](बड़ा उपाश्रय)की ताड़पत्रीय प्रतियें—

जीतकल्पचूर्णि—पत्र १०६ अंतमें प्रायश्चित सिद्धसेन कृत समाचारी पत्रांक ११७ से जीतकल्प बृहच्चूर्णि-धनेश्वर सूरि शिष्य श्रीचंद्रसूरि कृत पत्रांक १८७ में पूर्ण हुई है इस चूर्णिका आदि भाग त्रुटित प्रतीत होती है।

२ योगशास्त्रसवृत्ति—कर्त्ता हेमचंद्रसूरि, पत्र ३१८ इसका पुष्पिका लेख यह है:—सुतेन साधु गुणचंद्र सा० भुवनचंद्र सकलदिग्वलय विख्याता वा० वातकीर्ति कोमुदी विनिर्जितामचन्द्र साधु श्री हेमचंद्र महिपाल सा० रत्नभ्राता सकल गु.........न सा० महण श्रावकेण श्री .... नप्रबोधसूरिशिष्यावतंशानां श्रीजिनचंद्रसूरिसुगुरूणां व्याख्यानाय प्रदत्तं।

३ अंग विजा—पत्र २३६

४ अ हरविजय—महाकाव्य सर्ग २, रत्नाकर कवि कृत, पत्र १०७, सं०१२२८ वैशाख सुदि १ अणहिल पत्तन में विविध लिपिज्ञ पं० सूपट लिखित।

ब वसुदेव हिण्डी प्रथम खण्ड, पत्र १५८।

५ नन्दीचूर्णि:—शक संवत् ५६८ में रचित, पत्र १८५ से २२३ पूर्ण।

६ अ दशवैकालिकचूर्णि—पत्र १८४।

ब अनुयोगद्वारचूर्णि:

इस ताड़पत्रीय पुस्तकके काष्ट फलकोंपर बड़ेही सुन्दर और चमकीले रंगके चित्र चित्रित हैं जो देखनेमें प्राचीन होते हुए भी बिलकुल नएसे प्रतीत होते हैं।

७ पंचकल्पचूर्णि—पत्र २०१, ग्रंथाग्र० ३१२५, देवाचार्य कृत।

८ मुनिसुव्रतचरित्र—पत्र ३७४, श्रीचंद्रसूरि कृत, सं० ११६८ आश्विन वदि १ अणहिल पत्तनमें जयसिंह देवके राज्यमें लिखित।

९ अ नेमिनाथ चरित्र—कर्त्ता-हेमचंद्रसूरि, पत्र १६१।

ब वीरचरित्र—कर्त्ता हेमचंद्रसूरि, पत्र १७२।

१० अ जीतकल्पचूर्णि:—कर्त्ता-चन्द्रसूरि

ब श्रावकप्रतिक्रमणवृत्ति कर्त्ता—तिलकाचार्य

११ स्याद्वादरत्नाकर-कर्त्ता वादिदेवसूरि, पत्र २७३।

१२ स्कंदपुराण—पत्र १८५।

१३ श्रावकप्रज्ञप्ति, सूक्ष्मार्थविचारसार जिनवल्लभ सूरिकृत) बड़ी संग्रहणी, भवभावनाप्रकरण (हेमचन्द्र सूरिकृत), सत्तरी, कुल पत्र १६२, सं० १२०६ कार्तिक शु० १३ रवि० लि०।

१४ पाक्षिक सूत्र वृत्ति—यशोदेवसूरिकृत, सं० ११८० पाटणमें रचित प० २४०।

खरतराचार्यशाखा उपाश्रयकी ताड़पत्रीय प्रतियें—

१ तिलकमञ्जरी—धनपालकृत, पत्र १६४, सं० १२५५ श्रीमाल गोत्रीय लक्ष्मणके वंशज यशोधवलकी पुत्री रुक्मिणीने सुमतिसिंह सूरिको समर्पित की, इस आशयकी ६ श्लोकोंकी प्रशस्ति है। दूसरी प्रशस्तिमें लिखा है कि सं० १४३१ पत्तनमें श्री जिनोदयसूरि राज्ये ज्ञानकलश मुनि पश्चात् इह मुनिमेरुनंदनः।

२ अ सर्वज्ञपरीक्षा—पत्र ४, गा० ४१।

ब दूषम गंडिया गा० १००

स वोच्छेय गंडिका गा १७५

द सामुद्रिक श्लोक १६

ई पार्श्वनाथाष्टक व बृहत् शान्ति

ज कालचक्र गा० २४ आदि

३ तिलक मंजरी पत्र अपूर्ण

४ अ अजितशान्तिवृत्ति—मूल-जिनवल्लभ टीका-धर्मतिलक, सं० १३२२ फा० सु० ६ लिखित, पत्र ११।

ब महादेव लक्षण—हेमचंद्र सूरि

स प्रतिष्ठाविवाद मोहोन्मूलन, पत्र ३५।

अंत-श्रीमंतो जिनदेवसूरिमुनिपाः श्रीलाटदेशान्तरे।
ख्याते तुङ्गकेश्वरे गुरुवरे कस्यापि सूरे पुरः॥

[1] इसकी सूची यतिवर्य्य श्रीलक्ष्मीचंद्रजी महाराजने बनाई है।

प्रावीण्यातिशयस्य सूचकमिदं मोहत्रदं चेतसो ।
वादस्थानकमाशु दुर्जनजना हुंकार हुश्चक्रिरे ॥

५ अ पंचाशक (हरिभद्रसूरिकृत), ब दशनविशुद्धि गा० १३०, स पचलिङ्गी (जिनेश्वरसूरि), द श्रावकवक्तव्यता (जिनेश्वरसूरि), ई आगमिकवस्तुविचारसार (जिनवल्लभ) फ पौषधविधि (जिनवल्लभ)। ज प्रतिक्रमणसमाचारी गा० ४० (जिनवल्लभ); च सूक्ष्मविचारसार, गा० १५३ (जिनवल्लभ) छ लोकनाल गा० ३ (जिनवल्लभ), ज आगमोद्धार । क लघुक्षेत्र समास गा० १०३, पत्रसंख्या २०२ ।

६ जयपाहुड सटीक अपर नाम प्रश्नव्याकरण, पत्र २२८ सं० १३३६ चै० सु० ५ लिखित ।

आदि–करकमलकलितमौक्तिकफलमिवकालत्रयस्यावज्ञानं ।
यो वक्ति लीलयैव हित सर्वज्ञं जिनं नयतः ॥ १ ॥

ग्रंथकृत प्रभाव्यस्य जयपाहुडस्य निमित्त शास्त्रस्यारंभे××

अंत—जिनग्रहण परिज्ञानार्थं कृतयोयनामाक्षरैरक्षरै लाभालाभादि सर्व वक्तव्य ।

अब जेसलमेर भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूचीमें उल्लिखित कतिपय ताडपत्रीय कृतियोंके सम्बन्धमें नया प्रकाश डाला जाता है:—

१—तपागच्छ भंडार ताडपत्रीय प्रति नं० ४ का लेखन संवत् ११५५ मूल प्रतिकी लिपिसे भिन्नाक्षरोंमें लिखा हुआ है अतः संवतका उल्लेख पीछेसे किसीने लिख दिया प्रतीत होता है ।

२—प्रति नं० ५ युगादिदेव चरित्र, महावीर चरित्रके कर्त्ता सूचीमें हेमचंद्र बतलाये गये हैं पर यह एक महत्त्व की भूल है । सूचीमें प्रकाशित प्रशस्तिसे भी स्पष्ट है कि उक्त ग्रंथ जयसिंह सूरि विरचित है, फिर न मालूम ऐसी भूल कैसे हुई । हमने अच्छी तरहसे इसका निरीक्षण किया तो दोनों ही चरित्रके कर्ता जयसिंह सूरि ही हैं । इस प्रतिके प्रारंभके १० पत्र नहीं है । पत्रांक २०३ अ में एक आचार्यका चित्र और पत्रांक २०३ ब में पुरुषचित्र और स्त्रीचित्र है । पत्रांक १०१ अ में ऋषभचरित्रका द्वितीय प्रस्ताव (प्रथम प्रस्तावमें १००१ श्लोक पत्र ६६, द्वि० प्रस्ताव श्लो० ४८४) समाप्त हुआ है कुल ६ प्रस्ताव हैं । इसके बाद महावीरचरित्रसे ७ वां प्रस्ताव प्रारंभ होकर १० प्रस्तावोंमें ग्रंथयुग्म समाप्त होते हैं ।

३—प्रति नं० ६ पंचमीकथाका लेखन समय सं० ११०६ भी मूल प्रतिके अक्षरोंसे भिन्न है अतः वह भी पीछेसे किसीने लिखा प्रतीत होता है ।

४—बड़ा भंडारकी कई ताडपत्रीय प्रतियोंमें चित्र देखनेमें आये पर सूचीमें उसका कोई उल्लेख नहीं है । प्रति नं० ३२, ४६, ५२, ११०, १६८, १६६, को केवल त्रुटित लिख कर छोड़ दिया गया है पर इनमेंसे कई त्रुटि बंडलोंको देखनेपर ग्रंथोंके नाम भी पाये जाते हैं जिसका विवरण इस प्रकार है—

प्रति नं० ४६ अ प्रत्येक बुद्धचरित्र—जिनलक्ष्म्यांक पत्रांक ३ से २८२ बीचमें भी त्रु० ब आगमविचार संबंधी पत्र ४१ से ८०, इ व्याकरण पत्र १६८ से २६३ ड क्षेत्रविचारादि पत्र १४ स १७२ एवं पत्र १३४ से १८५ में जिनवल्लभसूरि एवं भीमकुमारका नाम कई जगह आता है ग्रन्थका आदि अंत न होनेसे नाम एवं कर्ताका निश्चय नहीं हो सका पर ग्रंथ अप्रसिद्ध प्रतीत होता है ।

प्रति नं० ११० न्यायमंजरी, प्रतिक्रमण–निर्युक्ति, इत्यादि ।

प्रति नं० १६८ अ मल्लिनाथचरित्र—पत्र ११७ से २२४, इसका अंत इस प्रकार है—

नायाधम्मकहाओ उद्धरियं मल्लिनाहजिणचरिअं ।
सिरि भुवणतुंग ट्ठाणं देइ सुणंताण भव्वाणं ॥३४०॥

ब प्रदेशीचरित्र गा० २८० पत्रांक २२५ से २५७ ।

प्रति नं० १६६ अ सिद्धंत जुत्ती गा० ७२ सिद्धसेनसूरि, ब गौतमपृच्छा गा० ६४, स पच्चक्खाणसरूव गा०३२६ जसएवसूरि सं० ११८२ विरचित उ प्रायश्चित, कर्ता-देवभद्र सूरि शिष्य सिद्धसूरि शि० जयानंदसूरि, इ गा० १६ अस्मसूरि शि० नेमिचंद्रसूरि कृत (अंत—छायालसयं जीवाणं चिरइ भवनिवासीणं) ।

प्रति नं० ३२ व ५२ में—त्रुटित फुटकर पत्रोंका संग्रह है इनमेंसे नं० ३२ में भवभावना वृत्तिका १२६ वां अंत्यपत्रकी प्रशस्ति इस प्रकार है—संवत् १२६० वर्षे श्रावण सुदि १४ गुरावद्येह श्रीमदणहिलपाटके महाराजाधिराज····
श्रीभीमदेवकल्याणविजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविनि महामात्य राण० श्री चाचाक: श्रीश्रीकरणादिसमस्तमुद्रा

व्यापारानादि पंथयतीत्येवं काले प्रवर्त्तमाने रुद्रपल्लीय श्री.......... ....देव सद्योपदेशेन भवभावनावृत्ति पुस्तकं विषय पथके कांसाग्राम वास्त० लेखक मोहद उन्न महिलयो मन्त्राचरैः शुद्धाक्षरैश्च लिखितमिति । छ शुभं भवतु

प्रति नं० १५० में सूचीमें दिये हुए आध्यात्मगीता जिनदत्तसूरि कृतका उल्लेख है (सं० ११११ लि०) पर वह ग्रन्थ उसमें नहीं मिला, सुगुरु पारतंत्र्यके अंतमें भिन्नाक्षरोंमें पीछेसे किसीका लिखा हुआ सं· १११५ अवश्य पाया जाता है। पता नहीं श्री दलाल महोदयने इसीको आध्यात्म गीता नहीं लिख दिया हो।

प्रति नं० ६० (१) प्रश्नोत्तर रत्नमाला वृत्तिकी प्रति हमने अपूर्ण खंतरमेंसे निकाली पर उसकी प्रशस्ति वाले अंतिम पत्रका आधा हिस्सा खोजनेपर भी न मिला अतएव उस महत्वकी प्रशस्तिकी अधूरी ही नकल हो सकी।

सूचीके अतिरिक्त कागज व ताड़पत्रके कई बंडल बाहरकी पेटीमें अस्तव्यस्त डाले हुए हैं उनमेंसे १ बंडलमें ताड़पत्रीय बहुत सी प्रतियोंके फुटकर पत्र हैं जिनमें प्राचीन लिपियोंके कई पत्र लिपिकी दृष्टिसे महत्वके हैं हमारे खयालसे समस्त ताड़पत्रीय ग्रंथोंकी दुबारा भलीभांति जाँच होनी चाहिए जिससे कोई महत्वपूर्ण ज्ञातव्य मिले और नवीन ग्रंथोंका पता चले। कागज परके ग्रंथोंकी सूची में भी सैकड़ों ग्रंथोंको त्रुटित लिख छोड़ा है न उन ग्रन्थों का नाम है न पत्र संख्या, हमने उन्हें देख कर भी कई नये २ ग्रन्थोंका पता लगाया है।

जेसलमेरके संघ और विशेषतः ज्ञानभंडारके ट्रस्टियोंका ध्यान भी हम इस आवश्यक कार्यकी ओर आकर्षित करते हैं कि वे इस साहित्य संपत्तिकी भलीभांति सुरक्षा करें एवं योग्य साहित्य वेत्ताओंके जाने पर कुछ उदारतासे काम लेकर उन प्रतियोंका भलीभांति निरीक्षण करवाके सूचीको प्रमाणिक बनवावें।

* कागजपर लिखित ग्रन्थोंमें हमारी खोजसे करीब २०० ऐसे ग्रन्थोंका पता चला है जो अद्यावधि साहित्यसंसारमें अज्ञात हैं ऐसे अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थोंकी सूची अन्य स्वतंत्र लेख में दी गई है जो कि जैनसत्यप्रकाशके अगले अङ्कमें प्रकट होगी।

हरिसागर सूरिजीसे ज्ञात हुआ कि आंकागच्छके भंडारमें भी ताड़पत्रीय ५ प्रतियें मिली हैं जिनमें भगवती ज्ञाता० विपाक० उपासक० अंतगडादिसूत्र ग्रंथ हैं।

सच्चा कर्मयोगी

श्रीमाधवशुक्ल

रे प्राण ! नीचतर ! कायर ! कर्म-हीन !
निःस्वाभिमान ! बल-वीर्य-प्रभा-विहीन ॥
कर्तव्य-हेतु यदि कुण्ठित शक्ति तेरी।
तो दूर भाग तज नश्वर देह मेरी ॥१॥

तू त्याग दे यदि मुझे नहि है विषाद।
पै कर्म त्याग नहि सह्य जनाऽपवाद ॥
है मृत्यु श्रेय बिन कर्तव सज्जनोंको ।
होता विनिन्द्य प्रिय जीवन दुर्जनोंको ॥२॥

था पुण्य-भूमि यह भारत कर्म-क्षेत्र।
देखें तिसे हम विनष्ट सजीव-नेत्र ॥
है दुःख और इसमें जग क्या महान।
तो भी नहीं समझता भयभीत प्रान ॥३॥

जैसे शरीर बिच तू सर्वस्व प्रान !
त्यों देश-बीच रहते जन कर्मवान ॥
तेरे बिना यह शरीर मरा कहाता।
त्यों कर्म-हीन जन देश नहीं सुहाता ॥४॥

जो जन्मते नहिं यहां कर्तव्यवान।
होता न भारत कभी जग कीर्तिमान ॥
कोई विशेष प्रतिभा न यहां दिखाती।
ये देश-भक्ति, महिमा, सब नष्ट जाती ॥५॥

जौलों स्वधर्मरत सज्जन थे प्रसिद्ध।
था देशपूर्ण सुख सम्पद से समृद्ध ॥
होते विहीन इससे जन औ' नरेन्द्र।
सर्वोच्च भारत बना अतिदुःख-केन्द्र ॥६॥

पौरुष्य-हीन नर भी बन कर्म-वीर।
है सिंहनी पकड़के दुह लेत क्षीर ॥
जो वो करै नहिं असम्भव बात कोई।
लेता निकाल घुस सागर वस्तु खोई ॥७॥

कर्त्तव्य ही मनुजमें गुण है प्रधान।
कर्त्तव्य से निपट दीन बनें महान ॥
कर्त्तव्य की जगत में महिमा अशेष।
कर्त्तव्य पालन हि कृष्ण महोपदेश ॥८॥

हरिषेणकृत अपभ्रंश-धर्मपरीक्षा[1]

[लेखक—प्रो० ए० एन० उपाध्ये]

अनुवादक—साहित्याचार्य पं० राजकुमार शास्त्री

स्तलिखितोंकी संकलित सूची देखते समय धर्मपरीक्षा[2] नामक जैन ग्रन्थोंकी एक बहुत बड़ी संख्या हमें दृष्टिगोचर होती है। इस लेखमें हम विशेषतया उन्हीं धर्मपरीक्षाओं का उल्लेख कर रहे हैं, जिनकी रचनाओं में असाधारण अन्तर है।

१—हरिषेणकृत धर्मपरीक्षा। यह अपभ्रंश भाषामें है और हरिषेणने सं० १०४४ (–४६ सन् ९८८) में इसकी रचना की है।

२—दूसरी धर्मपरीक्षा अमितगतिकी है। यह माधवसेनके शिष्य थे। ग्रन्थ संस्कृतमें है और सं० १०७० (सन् १०१४) में यह पूर्ण हुआ।

३—तीसरी धर्मपरीक्षा वृत्तविलासकी है। यह कन्नड भाषामें है और ११६०के लगभग इसका निर्माण हुआ है।

४—चौथी संस्कृत धर्मपरीक्षा सौभाग्यसागरकी है। इसकी रचना सं० १५७१ (सन् १५१५) की है।

५—पांचवीं संस्कृत धर्मपरीक्षा पद्मसागरकी है। यह तपागच्छीय धर्मसागर गणीके शिष्य थे। इस ग्रंथकी रचना सं० १६४५ (सन् १५८९) में हुई।

६—छटवीं संस्कृत धर्मपरीक्षा जयविजयके शिष्य मानविजय गणीकी है, जिसे उन्होंने अपने शिष्य देवविजयके लिए विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीके मध्यमें बनाया था।

७—सातवीं धर्मपरीक्षा तपागच्छीय नयविजयके शिष्य यशोविजयकी है। यह सं० १६८०में उत्पन्न हुए थे और ५३[3] वर्षकी अवस्थामें परलोकवासी होगए थे। यह ग्रंथ संस्कृतमें है और वृत्तिसहित है।

८—आठवीं धर्मपरीक्षा तपागच्छीय सोमसुन्दरके शिष्य जिनमण्डनकी है।

९—नवमी धर्मपरीक्षा पार्श्वकीर्तिकी है।

१०—दसवीं धर्मपरीक्षा पूज्यपादकी परंपरा-गत पद्मनन्दिके शिष्य रामचन्द्रकी है जो देवचन्द्रकी प्रार्थनापर बनाई गई।

यद्यपि ये हस्तलिखित प्राप्य हैं और इनमेंसे कुछ अभी प्रकाशित भी होचुकी हैं। लेकिन जबतक इनके अन्तर्गत विषयोंका अन्य ग्रन्थोंके साथ सम्पूर्ण आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है तब तक इनमेंसे अधिकांश हमारे लिए नाम मात्र ही हैं।

२—यह अमितगतिकी धर्मपरीक्षा है, जिसका पूर्णरूप

---

१ बम्बई यूनिवर्सिटीके स्प्रिंगर रिसर्च स्कालरकी हैसियतसे जब मैं पूनाकी भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट में कुछ प्राकृतकी हस्तलिखितको देख रहा था, मुझे हरिषेणकी यह अपभ्रंश-धर्मपरीक्षा देखनेको मिली। मैंने यह रचना पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा प्रो० हीरालालजीको दिखलाई और उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि यह ग्रन्थ जहाँतक होसके जल्दी ही प्रकाशित होजाना चाहिए।

२—इस दिशामें प्रो० एच० डी० वेलनकर का 'जिनरत्नकोष' बहुत ही सर्वाङ्ग सुन्दर कोश है। यह ग्रन्थ प्रेसमें है और इसका प्रकाशन भ० ओ० रि० इ० पूनाकी ओरसे होरहा है। हम प्रो० वेलन्करके इस एकाकी श्रमके लिए धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि यह कोश प्रकाशनके पश्चात् निश्चय ही एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण मूल-ग्रन्थ प्रमाणित होगा। यह इस कोषके रचयिता और प्रकाशककी ही कृपा है कि उन्होंने मुझे इस ग्रन्थके प्रकाशित होनेके पहिले ही उन फर्मोंका उपयोग करने दिया मुख्यतः जिनके आधारपर ही धर्मपरीक्षाओंकी यह सूची तैयार की गई है।

३—दे० एम० डी० देसाईकृत (बम्बई १९३३) 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास।'

से अध्ययन किया गया है[1]। मिरोनोने इसके विषयोंका सविस्तर विश्लेषण किया है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा और छन्दोंके सम्बन्धमें आलोचनात्मक रिमार्क भी किए हैं। कहानीकी कथावस्तु किसी भी तरह जटिल नहीं है। मनोवेग, जो जैनधर्मका दृढ श्रद्धानी है। अपने मित्र पवनवेगको अपने अभीष्ट धर्ममें परवर्तित करना चाहता है और उसे पाटलिपुत्र ब्राह्मणोंकी सभामें लेजाता है। उसे इस बातका पक्का विश्वास करा लेना है कि ब्राह्मण वादी मूर्ख मनुष्योंकी उन दस श्रेणियोंमेंसे किसीमें नहीं हैं। जिनके बारेमें दस कहानियां सुनाई जाती हैं और जिनकी अन्तिम कथामें चार धूर्तोंकी वे अद्भुत कहानियां सम्मिलित हैं। जिनमें असत्य या अतिशयोक्तिसे खूब ही काम लिया गया है। मनोवेग ब्राह्मण वादियोंकी भिन्न-भिन्न सभाओंमें जाकर अपने सम्बन्धमें अविश्वसनीय कथाएं तथा मूर्खता-पूर्ण घटनाएं सुनाता है। जब वे इनपर आश्चर्य प्रकट करते हैं और मनोवेगका विश्वास करनेके लिए तैयार नहीं होते हैं तो वह महाभारत, रामायण तथा अन्य पुराणोंसे तत्सम कहानियोंका हवाला देकर अपने व्याख्यानोंकी पुष्टिके लिए प्रयत्न करता है। इन समस्त सभाओंमें सम्मिलित होनेसे पवनवेगको विश्वास होजाता है कि पौराणिक कथाओंका चरित्र-चित्रण अस्वाभाविक और असंगत है और इस तरह वह मनोवेगके विश्वासमें पूर्ण रीतिसे परिवर्तित होजाता है।

ग्रन्थका विषय स्पष्टतया तीन भागोंमें विभक्त है। जहां कहीं अवसर आया, अमितगतिने जैन सिद्धान्तों और परिभाषाओंका प्रचुरतासे उपयोग करते हुए लम्बे लम्बे उपदेश इसमें दिये हैं। दूसरे, इसमें लोक-प्रिय तथा मनोरंजक कहानियां भी हैं जो न केवल शिक्षाप्रद हैं बल्कि जिनमें उच्चकोटिका हास्य भी है और जो बड़ी ही बुद्धिमत्ताके साथ ग्रन्थके सर्वाङ्गमें गुम्फित हैं। अथ च अन्तमें ग्रन्थका एक बड़ा भाग पुराणोंकी इन कहानियोंसे भरा हुआ है, जिनको अविश्वसनीय बतलाते हुए प्रतिवाद करना है तथा कहीं-कहीं सुप्रसिद्ध कथाओंके जैन रूपान्तर भी दिए हुए हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि वे कहां तक तर्कसंगत हैं।

जहांतक अमितगतिकी अन्य रचनाओं और उनकी धर्मपरीक्षाके उपदेश की गहराईका सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि वे बहुत विशुद्ध संस्कृत लिख लेते हैं। लेकिन धर्मपरीक्षामें और विशेषत सुप्रसिद्ध उपाख्यानोंकी गहराईमें हमें बहुत बड़े अनुपातमें प्राकृतपन देखनेको मिलता है। इससे संदेह होता है कि अमितगति किसी प्राकृत रचनाके ऋणी रहे हैं। पौराणिक कहानियोंकी असंगतिको प्रकाशमें लानेका ढंग इससे पहले हरिभद्रने अपने धूर्ताख्यान[2] में अपनाया है। ये लोकप्रिय आख्यान, धार्मिक पृष्ठभूमिसे विभक्त करनेपर भारतीय लोक-साहित्य के विशुद्ध अंश हैं और मानवीय मनोविज्ञानके सम्बन्धमें एक बहुत सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिका निर्देश करते हैं।

३—वृत्तविलासकी धर्मपरीक्षा[3], जो लगभग सन्

१ एन० मिरोनो: डी धर्मपरीक्षा देस अमितगति, लीं० १९०३, साथ ही विन्टर निज; ए हिस्ट्री अफ इण्डियन लिटरेचर भाग २ पृ० ५६१। पन्नालालजी बाकलीवालने भी संस्कृत-धर्मपरीक्षा, हिन्दी अनुवादके साथ बम्बईसे १९०१ में प्रकाशित की थी। इसके बाद दूसरा संस्करण मराठी अनुवाद और अपैन्डिक्समें मूल संस्कृतके साथ १९३१ में पं० बाहुबलि शर्माने सांगलीसे प्रकाशित किया था। इसमें कहा गया है कि यह अनुवाद मुख्यतया वृत्तविलासकी कन्नड धर्मपरीक्षाके आधारपर किया गया है और कहीं कहीं इसमें अमितगतिकी रचनाका भी उपयोग किया गया है। लेकिन मिलान करनेपर यह आरोप ठीक नहीं निकला। प्रस्तुत अनुवादमें वृत्तविलासकी रचनाका कोई चिह्न नहीं है। इसमें बाकलीवालजीके हिन्दी अनुवादका बहुत कुछ आशय लिया गया है और यह ग्रंथ भी किसी पूर्ववर्ती संस्करणसे ही पुनः प्रकाशित किया गया है।

२ देखो, इस निबन्धका उपसंहारात्मक भाग.

३ आर० नरसिंहाचार्य: कर्नाटककविचरित, बेन्गलोर १९०४ पृ० १६६। अनेक वर्ष हुए जब प्राकृतव्यमालिका नामक काव्य-ग्रन्थावलीमें प्रस्तुत धर्मपरीक्षाके संपूर्ण संग्रह प्रकाशित हुए थे। मेरे पास जो अपने ..चाकी प्रति है, उसका मुखपृष्ठ आदि फट चुका है। इसलिए इसके प्रकाशनका स्थान और तिथि नहीं बतलाई जा सकती। मुद्रणकलासे प्रतीत होता है कि यह मंगलौर

११६० की रचना है, कन्नड भाषाका एक चम्पू ग्रन्थ है। यह दस अध्यायोंमें विभक्त है। ग्रन्थकारका कहना है कि इस ग्रन्थकी रचना इससे पूर्ववर्ती संस्कृत रचनाके आधार-पर कीगई है और तुलना करनेपर हमें मालूम होता है कि इन्होंने अमितगतिका अनुसरण किया है। यद्यपि वर्णनकी दृष्टिसे दोनोंमें अन्तर है, लेकिन कथावस्तु दोनोंकी एक ही है।

यह कन्नड धर्मपरीक्षा अब भी हस्तलिखित रूपमें ही विद्यमान है। और प्राकाव्य मालिकामें प्रकाशित ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि वृत्तविलास गद्य और पद्य दोनों ही में बहुत सुंदर कन्नड शैलीमें लिखते हैं।

४—पद्मसागरकी धर्मपरीक्षा जो सन् १६४५ ई० की रचना है, पं० जुगलकिशोरजी[1] के खोजपूर्ण अध्ययनका विषय रही है। वे इसके सम्बन्धमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे हैं:—पद्मसागरने अमितगतिकी धर्मपरीक्षासे १२६० पद्य ज्योंके त्यों उठा लिए हैं। अन्य पद्य भी इधर-उधरके साधारण-से हेर-फेरके साथ ले लिए गए हैं। कुछ पद्य अपने भी जोड़ दिये हैं। इन्होंने सर्गोंका कोई विभाग नहीं रक्खा है। अमितगतिके नामके समस्त प्रत्यक्ष और परोक्ष उल्लेख बड़ी चतुराईके साथ उड़ा दिये गये हैं। इस तरह पद्मसागरने अपनी रचनामें अमितगति का कहीं नाम-निर्देश तक नहीं किया। इनकी यह साहित्यिक चोरी साम्प्रदायिक दृष्टिविन्दुको ध्यानमें रखते हुए सफल रूपसे नहीं हुई है और यही कारण है कि इस ग्रन्थमें कुछ इस प्रकारके भी वर्णन हैं जो श्वेताम्बर सिद्धान्तोंके सर्वथा अनुरूप नहीं हैं। इस तरह पद्मसागरने अमितगति का पूर्णतया अनुसरण हो नहीं किया है, बल्कि उनकी धर्मपरीक्षाकी नकल तक कर डाली है।

५—इस निबन्धमें हम उन धर्मपरीक्षाओंकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, जिनकी हस्तलिखित प्रति या संस्करण हमें अबतक प्राप्त नहीं हो सके हैं। यहां हम केवल हरिषेणकी धर्मपरीक्षाके सम्बन्धमें प्रकाश डालना चाहते हैं। इस ग्रन्थकी मुख्य विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें है और अमितगतिकी संस्कृत धर्मपरीक्षाके २६ वर्ष पहले इसकी रचना हुई है। वस्तुत: उपलब्ध धर्म-परीक्षा ग्रन्थोंमें यह सर्वप्रथम रचना है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें जयरामकी एक प्राकृत धर्मपरीक्षाका उल्लेख आता है जो इसके पहलेकी है और जो अब तक प्रकाशमें नहीं आसकी है।

(ए) पूनाकी भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट में हरिषेणकृत धर्मपरीक्षाकी दो ह०लि०प्रतियाँ (नं० ६१७, १८७५-७६की और १००६, १८८७-६१ की) विद्यमान हैं। यद्यपि १००६की प्रतिपर तिथि नहीं है, किन्तु कागज और लिखावटकी दृष्टिसे यह दूसरीकी अपेक्षा आधुनिक प्रतीत होता है। यह प्रति खूब सुरक्षित है, किन्तु इसके ५६ए०, ५७, ६६, ६६ए० पन्नोंमें कुछ नहीं लिखा है और पुस्तक की मूल सामग्रीमें से कुछ स्थल छूट गया है। नं० ६१७ वाली प्रति आकार-प्रकारमें इसका अपेक्षा पुरानी है। इसकी कोरें फटी हैं, कागज पुराना है और कहीं-कहीं पदिमात्राओंका उपयोग किया गया है। इसमें सं० १५६५ लिखा है और किसी दूसरेके हाथका अपूर्ण रिमार्क भी है जो इस बातको सूचित करता है कि यह प्रति सन् १५३८ से भी प्राचीन है। इसका १३७ वां पृष्ठ कुछ त्रुटित है और चौथा पृष्ठ गायब है। दोनों प्रतियोंके मिलानसे संपूर्ण ग्रन्थ तैयार होजाता है और प्रथम संधि की सूक्ष्म तुलनासे प्रतीत होता है दोनों ही प्रतियां सर्वथा स्वतंत्र हैं—एक दूसरीकी प्रतिलिपि नहीं।

(बी) यह ग्रन्थ ११ सँधियोंमें विभक्त है और प्रत्येक संधिमें १७ से लेकर २७ कडावक हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न सर्गोंमें कडावकोंकी संख्या निम्न प्रकार है:—
१=२०, २=२४, ३=२२, ४=२४, ५=२०, ६=१६, ७=१८, ८=२२, ६=२५, १०=१७, ११=२७। इस तरह कुल मिलाकर २३८ कडावक हैं। इनकी रचना भिन्न-भिन्न अपभ्रंश छन्दोंमें है, जिनमेंसे कुछ तो खास तौरसे इस

से प्रकाशित हुई है। मेरे पास इस ग्रन्थकी एक ताडपत्रकी हस्तलिखित है। यह शक सं० १३४२(+७८ सन् १४२०) की लिखी है। इसकी हालत अच्छी नहीं है। फिर भी कोई कन्नड़के स्कालर इसका आलोचनात्मक संपादन करना चाहें तो इसे मैं उन्हें सहर्ष उधार दे सकता हूँ।

[1] जैनहितैषी १३-७, पृ० ३१४-३२४।

ग्रन्थमें रक्खे गए हैं। कुल पद्य=संख्या, जैसीकि हस्तलिखित प्रतिमें लिखी है, २०७० होती है। संधियोंके उपसंहार या पुष्पिकामें लिखा है कि यह धर्मपरीक्षा-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष स्वरूप चार पुरुषार्थोंके निरूपणके लिए बुध[1] हरिषेणने बनाई है। उदाहरणके लिए ग्रन्थकी समाप्तिके समयकी संधि-पुष्पिका इस प्रकार है:-

इय धम्मपरिक्खाए चउवग्गाहिट्ठियाए
बुह-हरिषेण-कयाए एयारसमो संधि सम्मत्तो।

(सी) हरिषेणने अन्य अपभ्रंश कवियोंकी तरह कडावकोंके आदि और अन्तमें अपने सम्बन्धमें बहुतसी बातोंका निर्देश किया है। उन्होंने लिखा है कि मेवाड़ देशमें विविधकलाओंमें पारंगत एक हरि नामके महानुभाव थे। यह सिरि-उजउर (सिरि-ओजपुर)[2] के धक्कड़ कुलके वंशज थे। इनके एक धर्मात्मा पुत्र था, जिसका नाम गोवड्ढण (गोवर्धन) था। उसकी पत्नीका नाम गुणवती था, जो जैनधर्ममें प्रगाढ श्रद्धा रखती थी। उनके हरिषेण नामका एक पुत्र हुआ जो विद्वान् कविके रूपमें विख्यात हुआ। उसने किसी अपने कार्यवश (णियकज्जें) चित्तउडु (चित्रकूट) छोड़ दिया और वह अचलपुर चला आया। वहां उसने छन्द और अलंकार शास्त्रका अध्ययन किया और प्रस्तुत धर्मपरीक्षाकी रचना की। प्रासङ्गिक पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती हैं:-

संधि ११, कडावक २६:—

इय मेवाड-देसि-जण – संकुलि
सिरिउजउर-णिग्गय-धक्कड-कुलि।
पाव-करिंद-कुंभ-दारण-हरि
जाउ कलाहिं कुसलु णामें हरि।
तासु पुत्त पर-णारि-सहोयरु
गुण-गण-णिहि कुल-गयण-दिवायरु।
गोवड्ढणु णामें उप्पण्णउ
जो सम्मत्तं-रयण-संपुण्णउ।
तहो गोवड्ढणासु पिय गुणवइ
जा जिणवर-पय णिच्च वि पणवइ।[3]
ताए जणिउ हरिसेण-णाम सुउ
जो संजाउ विबुह-कइ-विस्सुउ।
सिरि-चित्तउडु चइवि अचलउरहो[4]
गउ णिय-कज्जें जिण-हर-पउरहो।
तहिं छंदालंकार पसाहिय
धम्मपरिक्ख एह तें साहिय।
जे मज्झत्थ-मणुय आयण्णहिं
ते मिच्छत्त-भाउ अवगण्णहिं।
तें सम्मत्त जेण मलु खिज्जइ
केवलणाणु ताण उप्पज्जइ।
तहो पुणु केवलणाणहो
णेय-पमाणहो जीव-पएसहिं सुहडिउ।
बाहा-रहिउ अणंतउ अइसयवंतउ[5]
मोक्ख-सुक्ख-फलु पयडियउ।

संधि ११, कडावक २७ :—

विक्कम-णिव परिवत्तिय-कालए[6]
ववगयए वरिस-सहस-चउतालए।
इय उप्पणु भविय-जण-सुहयरु
डंभ-रहिय-धम्मासव-सरयरु।

बुध हरिषेणने इस ग्रन्थकी रचनाका कारण इस प्रकार बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि एक बार मेरे मनमें आया कि यदि कोई आकर्षक पद्य-रचना नहीं की जाती है तो इस मानवीय बुद्धिका प्राप्त होना बेकार है। और यह भी संभव है कि इस दिशामें एक मध्यम बुद्धिका आदमी उसी तरह उपहासास्पद होगा, जैसाकि संग्राम-भूमिसे भागा हुआ कापुरुष होता है। फिर भी अपनी छन्द और अलंकार शास्त्र सम्बन्धी कमजोरी जानते हुए भी उन्होंने

---

१ 'बुध' आजकलकी पंडित पदवीसे मिलती जुलती एक सम्मानसूचक उपाधि मालूम होती है।

२ क्या 'सिरि' उस नगरके नामका अंश है? यह ध्यान देनेकी बात है कि अपभ्रंश 'भविसत्तकहा' के कर्ता धनपाल भी धक्कड़ वंश होके थे।

३ प्रति १—जा जिणवरमुणिपयविय गुणवइ।

४ प्रति १—चएवि अचलउरहो,

५ प्रति १—अइसयदंतउ,

६ प्रति १—परिय,प्रतिकालए,

जिनेन्द्रधर्मके अनुराग और सिद्धसेनके प्रसादसे प्रस्तुत ग्रन्थ लिख ही डाला। इस बातकी झिझक न रक्खी कि हमारी रचना किस दृष्टिसे देखी जायगी।

(डी) हरिषेणने अपने पूर्ववर्तियोंमें चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदन्तका स्मरण किया है। वे लिखते हैं—चतुर्मुखका मुख सरस्वतीका आवास-मन्दिर था। स्वयंभू लोक और अलोकके जानने वाले महान् देवता थे और पुष्पदन्त वह आलौकिक पुरुष थे जिनका साथ सरस्वती कभी छोड़ती ही नहीं थी। हरिषेण कहते हैं कि इनकी तुलनामें मैं अत्यन्त मन्दमतिका मनुष्य हूँ। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५में पूर्ण किया है और उन्होंने स्वयंभू तथा चतुर्मुखका भी उल्लेख किया है। स्वयंभूकी अपेक्षा चतुर्मुख पूर्ववर्ती हैं।

धर्मपरीक्षा, पहले जयरामने गाथा-छन्दमें लिखी थी और हरिषेणने उसीको पद्धडिया छन्दमें लिखा है।

उपरिलिखित बातें प्रारंभके कडावकमें पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं:—

संधि १, कडावक—१:—

सिद्धि-पुरंधिहि कंतु सुद्धें तणु-मण-वयणें।
भत्तिए जिणु पणवेवि चिंतिउ बुह-हरिसेणें॥
मणुय-जम्मि बुद्धिए किं किज्जइ
मणहरु जाइ कव्वु ण रइज्जइ।
तं करंत अवियाणिय आरिस
हासु लहहिं भड रणि-गय पोरिस।
चउमुहं कव्वविरयणि संयभु व
पुप्फयंतु अण्णाणु णिसुंभिवि।
तिण्णि वि जोग्ग जेण तं सीसइ
चउमुह-मुहे थिय ताव सरासइ।
जो सयंभु सो देउ पहाणउ
अह कह लोया लोय-वियाणउ।
पुप्फयंतु णवि माणुसु वुच्चइ
जो सरसइए कयावि ण मुच्चइ।
ते एवंविह हउं जडु माणउ
तह छंदालंकार-विहूणउ
कव्वु करंतु केम णवि लज्जमि
तह विसेस पिय-जणु किह रंजमि।
तो वि जिणिंद-धम्म-अणुराएं
बुह-सिरि-सिद्धसेण-सुपसाएं।
करमि सयं जि णलिणि-दल-थिउजलु
अणुहरेइ णिरुवमु मुत्ताहलु।
घत्ता—जा जयरामें आसि विरइय गाह-पबंधि।
साहमि धम्मपरिक्ख सा पद्धडिया-बंधि

मालूम होता है सिद्धसेन, हरिषेणके गुरु रहे हैं और इसीलिए सिद्धसेन अन्तिम सर्गमें भी इस प्रकार स्मरण किए गए हैं:—संधि ११, कडावक २५:—

घत्ता-सिद्धसेण-पय वंदहिं दुक्किउ णिंदहिं जिण हरिसेण णवंता
तहिं थिय ते खग-महयर कय-धम्मायर विविह सुहइं पावंता

(सी) इन तथ्योंको ध्यानमें रखते हुए, कि हरिषेण और अमितगतिके ग्रन्थोंका नाम एक ही है और एक रचना दूसरीसे केवल २६ वर्ष पहलेकी है, यह अस्वाभाविक न होगा कि हम दोनों रचनाओंकी विस्तारके साथ तुलना करनेके लिए सिद्ध हों। दोनों ग्रन्थोंमें उल्लेखनीय समानता है और जहांतक घटना-चक्रके क्रमका सम्बन्ध है अमितगतिकी धर्मपरीक्षाके विभिन्न सर्ग हरिषेणकृत धर्मपरीक्षाकी विभिन्न संधियोंकी तुलनामें स्थूल रूपसे विभक्त किये जा सकते हैं:—हरि० १=अमित० १, १७-३. ४३; हरि० २=अमित०, ३, ४४-७, १८; हरि० ३=अमित० ७, १९-१०, ५१; हरि० ४=अमित०, १०, ५२-१२ २६; हरि०, ५=अमित० १२, २७-१३; हरि० ६=हरिषेणने लोकस्वरूपका जो विस्तृत वर्णन किया है वह उस कोटिका अमितगतिकी रचनामें एक जगह नहीं है। हरि० ७=अमित० १४, १-१५ १७; हरि० ८=अमित० १५, १८ आदि; हरि० ९=अमित १६, २१ इत्यादि; हरि० १०=कल्पवृक्षोंके वर्णनके लिए अमितगतिकी धर्मपरीक्षाका १८वाँ सर्ग देखिए और हरि० ११=अमित० २०, कुछ प्रारम्भिक पद्य।

कुछ स्थानोंमें ठीक ठीक समानता इस कारण नहीं मालूम की जा सकती है कि दोनों रचनाओंमें एक ही स्थानपर शिक्षाप्रद और सैद्धान्तिक चर्चायें समानकोटिकी नहीं पाई जाती। लोकस्थितिके जो विवरण हरिषेणने सातवीं संधिमें दिए हैं उन्हें अमितगतिने उन्हींके समानान्तर स्थानपर सम्मिलित नहीं किया है और न उन्होंने अपनी

रचनामें कहीं भी इतने विस्तारके साथ इन्हें दिया है। हरिषेणने आठवें सर्गके कतिपय कडावकोंमें रामचरितके सम्बन्धमें कुछ जैनशास्त्रानुसारी कथाएं लिखी हैं। लेकिन अमितगति इन कथाओंको बिलकुल उड़ा गए हैं इसी प्रकार हरिषेणने ११ वें सर्गमें अपने सिद्धांतोंसे अनुरंजित रात्रि-भोजन-विरमणके सम्बन्धमें जो एक विशेष कथा दी थी वह भी उन्होंने कुछ सैद्धान्तिक निरूपणोंके साथ बिलकुल उड़ा दी है, किन्तु आचारशास्त्र के अन्य नियमों पर उन्हीं प्रकरणोंमें सबसे अधिक उपदेशपूर्ण विवेचन किया है। लेकिन इधर-उधरके कुछ इस प्रकारके प्रकरणों को छोड़कर अमितगतिकी रचनासे कुछ ऐसे पद्योंका निर्देश किया जा सकता है जो हरिषेणके कडावकोंसे बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। हरिषेणने अपने ग्रन्थका जो ग्यारह संधियोंमें विभाजन किया है इसकी अपेक्षा अमितगतिका अपनी रचनाको २२ सर्गोंमें विभक्त करना अधिक अस्वाभाविक है। जहांतक कथानककी घटनाओं और उनके क्रमका सम्बन्ध है। दोनोंकी रचनाओंमें बहुत समानता है। विचार एकसे हैं और उन्हें उपस्थित करनेके तरीकेमें भी प्रायः अन्तर नहीं है। नैतिक नियमों, लोकबुद्धिसे पूर्ण हितकर उपदेशों तथा सारगर्भित विवेचनोंके निरूपणमें अमितगति विशेषरूपसे सिद्धहस्त हैं। भोग-विलास तथा सांसारिक प्रलोभनोंकी निंदा करनेमें वे अधिक वाक्पटु हैं। गृहस्थ और मुनियोंके लिए जैन आचारशास्त्रके नियमानुसार जीवनके प्रधान लक्ष्यको प्रतिपादन करनेका कोई भी अवसर वे हाथसे नहीं जाने देते। यहांतक कि नीरस, सैद्धांतिक विवेचनोंको भी वे धारावाहिक शैलीमें सजा देते हैं। इस प्रकारके प्रकरणोंके प्रसङ्गमें हरिषेणकी धर्म परीक्षाकी अपेक्षा अमितगतिकी रचनामें हमें अधिक विस्तार देखनेको मिलता है। यद्यपि दोनोंका कथानक एक-सा है फिर भी सैद्धान्तिक और धार्मिक विवेचनोंके विस्तारमें अन्तर है।

अमितगतिके वर्णन उच्चकोटिके संस्कृत-कलाकारोंकी सालंकार कविताके नमूने हैं, जबकि हरिषेणके वही वर्णन पुष्पदन्त सरीखे अपभ्रंश कवियोंके प्रभावसे प्रभावित हैं। इसलिए नगर आदिके चित्रणमें हमें कोई भी सदृश भावपूर्ण विचार और शब्द दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

यद्यपि मधुबिन्दु-दृष्टान्तके वर्णनमें कुछ विभिन्न प्रकार अंगीकार किया गया है। फिर भी उसके विवरण मिलते जुलते हैं।

यदि उनका परंपरागत सिद्धान्तोंसे समन्वय न किया जाय तो यह संभव है कि कुछ प्रकरणोंमेंसे एक-सी उक्तियां खोज निकाली जांय:—

(१) हरिषेण १, १६—

त अवराहं खमहु दरहं।
तो हसिऊणं महवेएणं ।
भणियो मित्तो तं परधुत्तो ।
माया-मोहिय अप्पाणे हिय।

(१) अमितगति ३, ३६—७—

यस्त्वां धर्ममिव त्यक्त्वा तत्र भद्र' चिरं स्थितः।
क्षमितव्यं ममाशेषं दुर्विनीतस्य तत्त्वया ॥
उक्तं पवनवेगेन हसित्वा शुद्धचेतसा।
को धूर्त्तो भुवने धूर्त्तै- र्वञ्च्यते न वशंवदैः ॥

(२) हरिषेण २, ४—

इय दुत्थिण त्रि दुग्गय-तणय-तणं
गिण्हेविणु लक्कड-भारमिणं ।
आइय गुरु पूर णिएवि मए
व्.यउ ण उ जायए वायमए।

(२) अमितगति ३, ८४—

तं जगाद खचराङ्गजस्ततो
भद्र निर्धनशरीरभूरहम् ।
आगतोऽस्मि तृणकाष्ठविक्रयं
कर्तुमत्र नगरे गरीयसि—

[क्रमशः]

वानर-महाद्वीप

(लेखक—प्रो० ज्वालाप्रसाद सिंहल, एम० ए०, एल-एल० बी०, एफ० आर० ई० एस०)
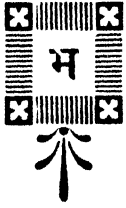
भगवान् रामचन्द्रके जीवनका सर्वोपरि महत्व उनके शील स्वभाव व आचरणका अद्वितीय होना, उनका मर्यादापुरुषोत्तम होना, रामराज्यका आदर्श उपस्थित करना तो है ही; परन्तु उनके जीवनकी विशेष घटना, जिसके लिये वे आर्य-सभ्यताके प्रतीक चिरस्मरणीय हैं, यह थी कि उन्होंने पहले पहल आर्य-सभ्यताका प्रकाश वानर-महाद्वीपमें फैला दिया। उनके समयसे पूर्व आर्य ऋषिगण बनवासमें घोर तपस्या करते हुए दण्डक वन तक पहुंच चुके थे। उसके आगेके प्रदेशोंमें कोई कोई विशिष्ट व्यक्ति आर्य-सभ्यता व साहित्यसे कदाचित् उसी प्रकार परिचित थे जिस प्रकार आज भारतवर्षका कोई सज्जन तिब्बत या चीन की भाषा व साहित्यके पण्डित हों। विश्वविजयी रावण तथा उनके भाई विभीषणके वेदोंके ज्ञाता होनेमें कोई आश्चर्य नहीं परन्तु उस समय तक उन दक्षिणी देशोंकी जनतामें आर्य-सभ्यताका प्रकाश नहीं फैला था। भगवान् रामचन्द्रके दण्डक वनसे निकल किष्किन्धा तक पहुंचने और फिर लंका विजयने आर्य-सभ्यताको फैलाकर आर्य-आदर्शोंको सर्वव्यापी बना दिया।

यह वानर महाद्वीप कहां था? यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसके यथावत् उत्तरसे संसारके इतिहासकी वे समस्याएँ हल हो जाती हैं जिन्होंने बड़े बड़े इतिहासज्ञोंको चक्करमें डाल रखा है। उदाहरणके लिये लीजिये—

(१) आर्योंका मूल निवास-स्थान दुनिया भरमें चक्कर लगाता फिरता है और फिर भी निश्चित उत्तर नहीं मिलता। तिब्बत, साइबेरिया, तुर्किस्तान, मध्य एशिया, उत्तरध्रुव, मध्य यूरुप, नोरवे–स्वीडन, फारस, मेसोपुटामिया, आर्मीनिया, काकेशस, इत्यादि सभी प्रदेशोंमें आर्योंके जन्म-स्थानका भ्रम हो चुका है।

(२) फारस और भारतके आर्योंमें विरोध हुआ था, परन्तु वह क्यों और कब हुआ, इसका कोई उत्तर नहीं मिलता।

(३) संसार-व्यापी एक सभ्यता है जिसको "हीलियोलिथिक कलचर" कहते हैं। इसके विशेष तत्व तीन हैं—सूर्य की उपासना, बड़े बड़े पत्थरोंके प्रासाद व मन्दिर बनाना, तथा मनुष्यकी बलि देना। यह सभ्यता संसारमें कहां उत्पन्न हुई और किस कारणसे कब और किन रास्तोंसे संसारमें फैली, इसका कोई संकेत इतिहासज्ञ प्राप्त नहीं कर सके।

(४) संसारकी सर्वप्रथम सभ्यता सुमेरियन सभ्यता कही जाती है, जिसके चिन्ह मेसोपुटामियाके मोहेन्जोदारोंमें मिले हैं। परन्तु इसका मूलस्थान कहां है, इन भारतीय और मेसोपुटामियाके अंशोंमें क्या सम्बन्ध था, फिर इसका कब और क्यों अंत हुआ, इसका कोई जवाब नहीं।

(५) अमरीकामें माया लोगोंकी सभ्यता वहीं की है अर्थात् बाहरसे नहीं आई और यदि बाहरसे आई तो कहाँ से, कब और किस रास्तेसे? इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता।

(६) भूतत्त्ववेत्ताओंका विचार है कि किसी समय एक महाद्वीप था जिसका नाम "गोंडवाना" अथवा "लीमूरिया" था जो अफ्रीका और अमरीकाको मिलाता था और अब समुद्रके गर्भमें है। भारतका दक्षिण प्रदेश, आस्ट्रेलिया व निकटवर्ती द्वीपसमूह, लङ्का मेडेगास्कर इत्यादि इसके अवशेष समझे जाते हैं। परन्तु इस महाद्वीपके लोगोंकी क्या सभ्यता थी और उसका क्या हुआ? इसका पता नहीं। अमरीकामें एक "लीमूरियन" समाज बनी है जिसका कहना है कि सन् १९५३ के बाद फिर एक महान विश्व-युद्ध होगा। उसमें "लीमूरियन" सभ्यताका आरम्भ होगा और उस सभ्यताकी शिक्षा देनेका दावा वह सभा करती है, परन्तु इन लीमूरियनोंका ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं।

पुराणोंकी विशेषता

इन सभी समस्याओंका बड़ा सुन्दर समाधान हमारे पुराणोंमें दिये हुए इतिहाससे प्राप्त होता है, जो संसारकी किसी और पुस्तकमें नहीं मिलता। पुराणोंको लोगोंने गप्प समझ रखा है। परन्तु यह बड़ी भूल है। पुराणोंमें वे कथाएँ हैं जो उनके लिखे जानेके समय भारतीय इतिहासके सम्बन्धमें प्रचलित थीं। उनके वर्णनमें अतिशयोक्ति तथा क्रम-परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परन्तु उनमें कुछ तत्व नहीं ऐसा समझना नितान्त अन्याय है। विशेषकर जिन बातोंका समर्थन यूनानी, पारसी इत्यादि विदेशी इतिहासज्ञों द्वारा हो, जिनसे इन कठिन समस्याओंका संतोषजनक उत्तर मिले उनका निरादर करना तो सत्यसे आंखें बन्द करना है। पुराणोंकी एक विशेषता है। वैदिक मन्त्रोंके तो विभिन्न विद्वान अनेक अर्थ करते हैं परन्तु पुराणोंके सम्बन्धमें भाषाकी ऐसी कठिनाई नहीं होती। अतएव जहां इस विषयमें भिन्न मत हो सकते हैं कि वेदोंमें इतिहासका वर्णन है अथवा अध्यात्मका, वहां पुराणोंमें दिये हुए इतिहासमें ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती।

पौराणिक इतिहासमें हमको दो बातें बड़ी अद्भुत मिलती हैं। एक तो यह कि जब कभी मनुष्योंका वर्णन आता है तो उनके समकालीन दैत्य दानव, देवता, गन्धर्व, गरुड़, सर्प, किन्नर आदिका भी वर्णन है। अतएव यदि हम यह पता लगा सकें कि देवता व दैत्य कहाँ रहते थे तो उनके सम्पर्कमें आने वाले मनुष्यों अथवा आर्योंका मूल स्थान निश्चयपूर्वक बता सकेंगे।

दूसरी बात यह है कि वानर और राक्षसका उल्लेख पहले पहल त्रेतायुगमें ही आता है। भगवान राम ही पहले सम्राट हैं, जिनको वानरोंसे ऐसा गहरा सम्पर्क प्राप्त हुआ हो। इससे आर्योंके दक्षिणमें विस्तार व समयका निश्चय होता है तथा उसीके सहारे उससे पूर्वके इतिहासका भी समर्थन होता है।

वानर कौन थे?

वानरोंको लोग बन्दर कहा करते हैं। पूज्यपाद तुलसीदासजीने उनकी पूंछों और नखोंका वर्णन किया है। आधुनिक विचारके लोग वानरका अर्थ "वनमें रहने वाले मनुष्य" करते हैं। तो क्या वे भीलोंके समान मनुष्य थे? नहीं। क्योंकि उनकी बड़ी ऊंची सभ्यता थी बड़े बड़े राज्य थे, उन राज्योंकी अच्छी व्यवस्था थी (वानरराज बालीका मंत्रिमण्डल था जो राज्यका प्रबन्ध करता था), बड़े-बड़े इंजिनियर थे (बाल्मीकि रामायणमें स्पष्ट उल्लेख है कि नल और नीलने यन्त्रोंकी सहायतासे समुद्रपर पुल बनाया), और उनमें भगवान हनुमानसे योगी व ज्ञानी थे (जो ऐसे सिद्ध थे कि आकाशमें उड़ सकें, शरीरको भारी व हलका बना सकें इत्यादि)। अस्तु, ये "वानर" वनमें रहने वाले असभ्य मनुष्य कदापि नहीं थे। फिर उनको वानर क्यों कहा जाता था?

भारतवर्षका दक्षिण प्रदेश पहले 'लीमूरिया' महाद्वीपका भाग था। वानरोंका देश भी दक्षिण प्रदेशमें था, जहां रामजीकी उनसे भेंट हुई थी। इस महाद्वीपको 'लीमूरिया' इस लिये कहते हैं कि इसके निवासी 'लीमूर' के स्वरूपके होते थे। 'लीमूर' एक प्रकारका बन्दर होता है। इसके निवासी बन्दरके समान मुख वाले होते थे। संसारकी मुख्य चार जातियोंमें 'नीग्रो' (हब्शी) जातिका मुख कुछ आगेको निकला हुआ होता है और कदाचित् उसी जातिके किसी वंशभेदको 'लीमूरियन' कहते होंगे। नीग्रो अभी तक अफ्रीका, अमरीका व प्रशांत महासागरके अन्य द्वीपोंमें पाये जाते हैं। परन्तु वे लीमूरियन असभ्य नहीं थे। समयके चक्रमें पड़कर नीग्रो जाति अपनी सभ्यता व राज्य खो चुकी है परन्तु वह सदैवसे असभ्य नहीं थी। अब भी अमरीकामें इस जातिके बड़े-बड़े विद्वान् व कार्य-कुशल लोग उपस्थित हैं। इससे यह भी सहजमें ही समझमें आता है कि इस जातिको हमारे इतिहासमें वानरजाति क्यों कहा गया है। अस्तु यह 'वानर महाद्वीप' वही 'लीमूरिया महाद्वीप' है जिसका अधिकांश भाग अब समुद्रके भीतर है।

जिस समय यह वानर महाद्वीप समुद्रसे ऊपर था उस समय दक्षिण-प्रदेश भारतके उत्तरी भागसे पृथक् था। हिमालय और विन्ध्याचलके बीच बड़े समुद्र थे। इसका प्रमाण भूतत्व-विज्ञानसे भी मिलता है और पौराणिक इतिहास तथा 'ऋग्वेद' से भी भूतत्व शास्त्रके अनुसार लगभग २५ से ५० हजार वर्ष पूर्व राजपूताना और 'गङ्गा जमुनी मैदान' में दो बड़े 'भू-मध्यसागर' थे। कदाचित्

दोनों जुड़े हुए थे। इसका नाम 'टेथीज सी' था। हिमालयके उत्थानके कारण इनका जल नीचेकी ओर अरबसागर और बंगालकी खाड़ीमें मिल गया और इनके स्थान पर सूखी जमीन निकल आई। कदाचित् उसी जल-प्रलयके समय 'लीयूरियन महाद्वीप" के अनेक अंश जलमें डूब गये और ऊंचे भाग द्वीपोंके स्वरूपमें रह गये, तथा दक्षिण प्रदेशका सम्बन्ध उत्तर भारतसे हो गया।

पुराणोंकी कथा है कि वर्तमान 'वैवस्वतः' मन्वन्तर के आरम्भसे पहले 'चाक्षुप' मन्वन्तरके अंत पर 'मत्स्य अवतार' हुआ, जिसने सरस्वती नदीके तीर पर संध्या करते हुए राजा सत्यव्रतको आनेवाले जल-प्रलयकी सूचना दी और वे राजा सत्यव्रतको आर्यावर्तकी अन्य वस्तुओंके "बीज" सहित नौका पर चढ़ा कर ले गये। उस समय कदाचित आर्यावर्त सरस्वती तक सीमित था। जल-प्रलयके उपरान्त वैवस्वत मन्वन्तरके आरम्भ में वैवस्वत मनु आर्यावर्तको लौटे और अयोध्याका नया सूर्यवंशी राज्य स्थापित किया। यह अयोध्या उस प्रदेश में है जो जल-प्रलयसे पूर्व समुद्र था और जल-प्रलयके पश्चात् जहाँ सूखी जमीन निकल आई। अस्तु, वैवस्वत मन्वन्तरमें ही आर्य लोग पूर्वीय और दक्षिण भारतकी ओर अग्रसर हुए और इसीलिए वानर महाद्वीपके अवशिष्टोंके साथ आर्य सभ्यताका सम्बन्ध इसी समय हुआ। इससे पहले अर्थात चाक्षुप मन्वन्तर तक आर्य लोग पंजाब प्रान्त तक ही रहे, क्योंकि इसके पूर्व और दक्षिण में समुद्र थे।

ऋग्वेद २५००० वर्ष पुराना

इस विचारका समर्थन ऋग्वेदसे भी होता है। ऋग्वेदमें गंगा और यमुना दोनों नदियां 'पूर्वीय समुद्र' में गिरती हुई कही गई हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदके निर्माणके समय उनका संगम 'प्रयागस्थान' उपस्थित न था। उसके पश्चिम तक समुद्र रहा होगा जिससे यमुना भी समुद्रमें गिरती हुई कही गई है।

इस विचारकी पुष्टि उस कथासे भी होती है जिसके अनुसार गंगा को सूर्यवंशी राजा भगीरथ ही पृथ्वी पर लाये थे। अर्थात् उससे पहले गंगा हिमालयके अंचलमें ही गिरती थी और वहां जमीन निकल आने पर कदाचित् वह पहाड़ोंमें गुप्त होजाती थी अर्थात पृथ्वीमें विलीन होजाती थी। फिर राजा भगीरथने उसके प्रवाहको दिशा देकर व्यवस्थित कर दिया। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि ऋग्वेदमें पूर्वी प्रदेश मिथिला और मगध का कोई उल्लेख नहीं है। अर्थात् इन प्रदेशोंके प्रकट होनेसे पूर्व ही ऋग्वेद बन चुका था।

उपर्युक्त विवेचनसे दो बातें सिद्ध होती हैं। पाश्चात्यों का 'लीयूरियन' महाद्वीप ही हमारा 'वानर' महाद्वीप है। दूसरी यह कि जिस समय वानर महाद्वीपके अंश जल-प्रलयमें समुद्रके गर्भमें नहीं गये थे, जिस समय राजपूताना और गंगा-जमुनी मैदानमें 'टेथीज सी' लहरें मार रहा था, जो समय भूतत्त्व-विज्ञानके अनुसार लगभग २५ से ४० हजार वर्ष पूर्व तक था, जो समय वैवस्वत मन्वन्तरसे पहले चाक्षुप मन्वन्तरका था, उस समय ऋग्वेद उपस्थित था और उस समयके आर्यावर्तकी प्रधान नदी कदाचित् 'सरस्वती' थी जो अब विलीन होगई और उस समयका आर्यावर्त मुख्यतः पंजाब प्रदेशमें था। कदाचित् ये विचार इतिहासमें क्रान्तिकारी प्रतीत होंगे परन्तु ये मनगढन्त तो नहीं हैं। समयकी गणना हम अपने विचारसे निश्चित न करके पाश्चात्य भूतत्त्ववेत्ताओंके ऊपर छोड़ते हैं। यदि राजपूताना व गंगा-जमुनी समुद्र २५ हजार वर्ष पूर्व थे तो ऋग्वेद २५ हजार वर्ष पुराना है और यदि एक लाख वर्ष पूर्व थे तो वह एक लाख वर्ष पुराना है।

भारतीय इतिहासज्ञ

प्रायः पाश्चात्य इतिहासज्ञोंके पद-चिन्हों पर चलनेको लोग प्रामाणिकता समझते हैं और पाश्चात्य विद्वान् संसारके इतिहासको 'बाइबिल" के समयसे ही गढ़ना चाहते हैं। अनेक प्रमाणोंसे अब कहीं वे ५ या ६ हजार वर्ष ईस्वीपूर्व तक पहुँचे हैं। परन्तु हमारे लिये यह अकाट्य प्रमाण नहीं कहा जा सकता। हम अपनी गणना किसी कल्पनाके आधारपर नहीं करते, वरन् पाश्चात्य भूतत्त्व-विज्ञानके अनुसार ही करते हैं। यदि हमें पाश्चात्य इतिहासज्ञोंकी हांमें हां मिलानेका मोह छोड़कर अपने अमूल्य पौराणिक इतिहासका आदर करने लगें तो हम और भी अद्भुत

रहस्योंका उद्घाटन कर सकते हैं।

आर्योंका मूलस्थान

इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि आर्योंका मूल स्थान पंजाब प्रांत व उत्तरी हिमालयका अंचल ही था। यह भी ज्ञात होता है कि भगवान रामचन्द्रका वंश सूर्यवंश क्यों कहलाता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि पौराणिक इतिहासके अनुसार मनुष्य अथवा आर्य लोग व देवता, दैत्य इत्यादि समकालीन जातियां थीं। यदि हम यह पता लगालें कि देवता और दैत्य कहाँ रहते थे तो आर्योंका भी मूलस्थान मालूम हो जायगा।

यूनानी इतिहासज्ञोंके अनुसार 'एशिया माइनर' में पहले कोई 'कसपीआई' जाति रहती थी। इस 'कसपीआई' जातिके पूर्वजका नाम 'केस्पीओस' था। इसी 'केस्पीआई' जातिके नाम पर 'काकेशस' पहाड़ और 'केस्पीअन सागर' के नाम पड़े। यह कथा बिलकुल पुराणोंके 'कश्यप' ऋषिकी सी मालूम होती है। यह समानता प्रामाणिकताको पहुंच जाती है जब यह मालूम होता है कि इस 'केस्पीआई' जातिकी राजधानी 'हिरकेनिया' थी जो केस्पीअन सागरके किनारे थी। तथा पारसी पैगम्बर 'जरदश्त' का जन्म 'दैत्य' नदीके किनारे हुआ था और 'दैत्य' नदी केस्पीअन सागरमें गिरती थी। कश्यप ऋषिके वंशज 'हिरण्यकश्यप' ने ही हिरण्यपुर नामक नगर बसाया था। दैत्य नदीके किनारे निवास करनेसे 'केस्पीआई' जातिका 'दैत्य' कहा जाना भी समझमें आता है। दैत्य जाति यदि पास में केस्पीअन सागरके किनारे रहती थी तो अन्य जातियां जो सब कश्यपकी अन्य स्त्रियोंसे उत्पन्न कही जाती हैं कहां रहती थीं?

कंधारका पुराना संस्कृत नाम गांधार प्रसिद्ध है जहां की राजकुमारी गांधारी महाभारतके धृतराष्ट्रकी रानी थी। कदाचित् यही देश गंधर्व लोगोंका था और उसके पास का काबुल प्रदेश किन्नर लोगोंका रहा होगा। गंधर्व और किन्नर दोनों ही बड़े बलवान और डीलडौलवाले समझे जाते थे। द्रौपदीने जब विराटके यहां नौकरी की थी तब पाँचों पांडवोंको उसके रक्षक पाँच गंधर्वोंके रूपमें ही कहा गया है और अफगानिस्तानके रहनेवाले होते भी ऐसे ही हैं। अफगानिस्तानसे ऊपर तुर्किस्तान है और उसके सामनेका मैदान 'गिरेडेशिया' मैदान कहा जाता है। श्रीयुत नन्दलाल डेने अपनी पुस्तक 'रसातल' में सिद्ध किया है कि तुर्क लोग ही पुराने नाग जाति हैं। तुर्कोंकी उपजातियां जैसे 'सेस' 'बासक' इत्यादि भी सर्पोंके राजाओंके नाम हैं। तक्षक, शेष, वासुकी प्रसिद्ध नागराज हैं। और इनका निवास गिरेडेशियामें रहने वाले 'गरुड़ों' से मिला रहनेके कारण दोनोंमें लड़ाई होते रहना स्वाभाविक है।

बड़ी विचित्र बात

एक और बड़ी विचित्र बात है। ये नागराज, शेष और गरुड़ लोग जिस प्रदेशमें रहते थे वह तिब्बतके समीपवर्ती है पश्चिमकी ओर।

तिब्बतका अर्थ कदाचित किसी दूसरी भाषामें नहीं मिलता परन्तु संस्कृतमें इसका नाम 'त्रिविष्टप' है जिसके अर्थ वैकुण्ठ' होते हैं। वैकुण्ठ विष्णुका निवास स्थान है और गरुड़ व शेषनाग दोनों ही विष्णुके वाहन हैं। जिस समयकी बात कर रहे हैं—जबकि राजपूताना और गंगा-जमुनी समुद्र तथा 'लीमूरियन' महाद्वीप विद्यमान थे—उस समय तिब्बतका अधिकांश भाग बर्फसे ढका हुआ था। कदाचित् वही 'वैकुण्ठ' का निर्माण हुआ होगा। अस्तु, विष्णुका क्षीरसागरमें निवास भी कहा जा सकता है। इसी प्रदेशके पास आज भी 'समरकन्द' एक प्रसिद्ध नगर है और उसी प्रदेशमें आज भी 'मेरु' नामक पर्वत है। भगवान विष्णुका निवास भी मेरु या सुमेरु पर्वतपर कहा जाता है और उसके पासका प्रदेश 'सुमेरु खण्ड' कहा ही जायगा। तिब्बतके राजाको आज तक भगवानका अवतार समझा जाता है।

वैकुण्ठके निर्माण सम्बन्धी एक कथा प्रसिद्ध है। जब 'वामन' का अवतार हुआ तो इन्द्रने विश्वकर्माको आज्ञा दी कि वह स्वर्गके समीप ही उसके छोटे भाई 'वामन' के लिये एक नया स्वर्ग बनावे। उसी नये स्वर्गका नाम वैकुण्ठ रखा गया। यदि तिब्बत वैकुण्ठ था तो इन्द्रका स्वर्ग उसका समीपवर्ती देश चीन समझा जाना चाहिए।

चीनको अब तक सेलेशियम एम्पायर या स्वर्गीय महाराज्य कहते थे। जिस प्रकार इन्द्र किसीकी तपस्यासे झट घबरा उठता था कि कहीं उसका इन्द्रासन न चला जाय, उसी प्रकार चीनी लोग भी बाहरके लोगोंका अपने देशमें आना अच्छा नहीं समझते। देवताओंके दिव्य अस्त्र प्रसिद्ध हैं। चीन वालोंके भी प्राचीन अस्त्र प्रसिद्ध हैं। बारूद भी चीनका ही आविष्कार समझा जाता है। चीनी कथाके अनुसार चीनकी सभ्यता दक्षिणसे चीनमें आई थी। चीन के दक्षिणमें 'ब्रह्म' देश है। पुराणोंके अनुसार देवता लोग ब्रह्माके पुत्र हैं। देवताओंका निवास हिमालयके उस पार ही कहा गया है। रावण देवताओंसे लड़ने हिमालयको पार करके गया था। आर्य राजा दुष्यन्त व दशरथ हिमालयको पार करके ही इन्द्रकी सहायता करने गये थे। अर्जुनने दिव्य अस्त्रोंको प्राप्त करनेके लिये हिमालयपर ही तपस्या की थी। धनके देवताका स्थान कैलाश हिमालयका ही भू-भाग है। देवताओंके स्नान करनेकी झील 'मानसरोवर' हिमालयके उस पार है। पाण्डवोंने जब स्वर्गकी यात्रा की तो वे हिमालयपर ही गये। देवता लोग विमानोंमें चढ़कर आकाश मार्गसे हिमालयको पार करके ही आर्यावर्तमें आ पाते थे। अस्तु, यह स्पष्ट है कि चीन ही देवताओंका निवास स्थान था और वहांके गौर वर्णके सुन्दर स्त्रीपुरुष ही दिव्यास्त्रवाले देवता थे।

अस्तु, उस समय आर्यावर्तके पश्चिम, उत्तरमें बड़ी बलवान सभ्य जातियाँ—दैत्य, किन्नर, गन्धर्व, नाग, गरुड देवता रहती थीं। उनके और आर्यावर्तके बीच हिमालय स्थित था। आर्यावर्तके दक्षिणमें और पूर्वमें राजपूताना व पूर्वी समुद्र थे। फिर आर्योंका बाहरसे आना कैसे कहा जा सकता है? पुराणोंमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि आर्य अथवा मनुष्य लोग उत्तर पश्चिमसे दैत्यों या देवताओंको मारकर या जीतकर उनके देशमें होते हुए भारतवर्ष आए। देवता और दैत्य मनुष्योंसे किसी प्रकार भी कम बलवान नहीं थे। जल-प्रलयसे पहले संसारकी जातियोंके निवासका भौगोलिक मानचित्र ऐसा व्यवस्थित और संपूर्ण संसारके किसी और इतिहासमें नहीं मिलता।

दैत्य लोग केवल मनुष्यकी बलि ही नहीं देते थे वरन् वे शिल्पशास्त्रके बड़े मर्मज्ञ थे। देवताओंका शिल्पी विश्वकर्मा नये लोक बनानेकी क्षमता रखता था तो दैत्योंका मयदानव महान शिल्पज्ञ था। दैत्य लोग सूर्यके उपासक भी थे। दैत्योंकी सभ्यता ही 'हीलियोलिथिक कलचर' थी जो अमरीकामें 'माया' लोगोंके स्वरूप, मिस्रमें मेसोपुटानिया और बेबेलोनमें असुरके रूपमें फैल गयी। मिस्री भाषामें सूर्यका नाम रा' है। मिस्री 'इसफिक्स' सूर्यके देवताका ही प्रतीक समझा जाता है। कदाचित् 'मत्स्य भगवान्' मेसोपुटामिया या मत्स्य देशके अधीश्वर थे जिनको देवताओंने अपने मित्र आर्य सम्राट सत्यव्रतको होनेवाले जल-प्रलयसे बचानेके लिये भेजा था। जिस प्रदेशमें राजा सत्यव्रतने आर्योंके बीज सहित जाकर आश्रय प्राप्त किया उसीका नाम 'आर्योंका बीज, अथवा 'आर्यनम बीजो' (पारसी भाषामें) अथवा 'आजर बीजान' अथवा आधुनिक 'आरमेनिया' है। यहीं आर्योंके बीजकी रक्षा हुई और इस समयमें सूर्य उपासक दैत्योंके घनिष्ट सम्पर्कमें रहनेके पीछे जब आर्य लोग फिर जलप्रलय समाप्त होनेपर भारतवर्ष या आर्यावर्तकी ओर लौटे तो वैवस्वत मनुने सूर्यवंशकी स्थापना की जिसमें दैत्योंका तेज और आर्योंकी आध्यात्मिकता दोनोंका ही समावेश था।

दैत्योंकी 'हीलियोलिथिक कल्चर' के संसार-व्यापी होनेका कारण भी पुराण स्पष्ट बताते हैं। देवता, दैत्य और नागोंने मिलकर समुद्र मंथन किया। उससे प्राप्त रत्नोंके बटवारेपर झगड़ा हुआ। देवासुर संग्राम हुआ। उसमें दैत्यराज राजा बलि हारकर भागे। उनके चार सरदार हारकर पातालको भागे। एक मयदानव तो सीधा पातालको गया। तीन भाई माली, सुमाली और माल्यवान पहले लंकाको गये। परन्तु कुबेरने वहांसे भी उन्हें निकाल दिया और लंकामें यक्षोंका राज्य स्थापित किया। माली, सुमाली व माल्यवान लंकासे पातालको भागे। अस्तु पाताल कदाचित वह प्रदेश था जो वानर महाद्वीप या लीमूरियन कहलाता था। मयदानव उसके पूर्वी भाग अमरीकाकी ओर सीधा भागा। और ये तीनों भाई लंका होकर उसके किसी अन्य भागको गये। जलप्रलय तक कदाचित माली नष्ट होगया, परन्तु जलप्रलयके पश्चात् सुमाली और माल्यवान पातालसे निकलकर फिर मनुष्य-लोकमें आये। यहां सुमालीने अपनी पुत्रीका विवाह

विश्रवपुत्री मुनिसे किया। इनकी संतानमें रावण पैदा हुआ जिसने लंकाको यक्षोंसे जीत लिया। रावण महापण्डित और राजनीतिज्ञ था। उसने यक्षोंका संहार नहीं किया वरन् यक्ष और 'रा' के उपासक दैत्योंकी सभ्यताका मिश्रण कर 'राक्षस' (रा–यक्ष) सभ्यता स्थापित की। इन राक्षसोंसे पूर्व उद्दण्ड स्वभावके लोग दैत्य व दानव कहलाते थे। परन्तु राक्षसोंका प्रादुर्भाव रावणके साथ ही होता है।

ये राक्षस लोग फिर दक्षिण प्रदेशके किनारे किनारे बढ़े। एक किनारे मारीचने राज्य जमाया और दूसरे किनारेके अधीश्वर खरदूषण थे। यही सुमालीकी संतान महेन्द्रजोदारो होती हुई फिर मेसोपुटामिया पहुंची, जहां उन्होंने सुमाली अथवा सुमेरियन सभ्यताकी स्थापना की। वहांपर पूर्व स्थित दैत्य-सभ्यता थी ही। दोनोंमें समानता भी थी। अस्तु, दोनोंका एकत्व होकर पीछेकी सभ्यताएं बन गईं।

राजा बलि जब देवासुर–संग्राममें हार गये तब उन्होंने इन्द्रासन जीतनेको यज्ञ आरम्भ किये अर्थात् लड़ाईकी तैयारी की, इन्द्र वामन ऋषिकी शरण गये। उन्होंने राजा बलिको आध्यात्मिक उपदेश देकर इस प्रयत्नसे निवृत्त किया। और आगेको झगड़ेकी शंका न रहे इसलिये राजा बलिको पातालका राज्य दिया तथा दैत्य लोकका त्याग करा दिया। इसपर पारसमें प्रह्लादके समयके गये हुये आर्योंका तथा उनके अगुवा शुक्राचार्यका वामन से घोर विरोध हुआ। इसी कारण भारतीय आर्य (वामन जिनके प्रतिनिधि थे) और पारसी आर्योंमें विरोध होगया।

ऊपरका वर्णन संकेतमात्र है। यह वह विषय है जिसमें खोज करनेके लिये बहुमूल्य अवसर हैं। यह खोज संसारके इतिहास और विशेषकर भारतीय इतिहासमें क्रांति पैदा कर देगी। क्या भारतीय विद्वान् पश्चिमी इतिहासज्ञोंके अनुसरण करने मात्रके बदले इस प्रायः अछूते विषयकी खोज करके आर्य देशके सिरको ऊँचा नहीं करेंगे? भारत-वर्षका नया इतिहास बन रहा है। परन्तु उसमें भी क्या हमारे पश्चिमी स्वामियोंकी कही हुई बातोंका प्रचार होगा? मुझे विश्वास है कि इस जातीय उत्थानके युगमें इन विचारोंके प्रचारमें सभी आर्याभिमानी प्रियजन सहयोग देकर इतिहासका एक नया युग आरम्भ करेंगे। इसमें और भी अनेक विचित्र बातें प्राप्त होंगी। जो कुछ लिखा है वह इसके लिये पर्याप्त है कि भारतीय विद्वान समझें व देखें कि हमारे पुराणोंमें कैसा खजाना भरा पड़ा है।

सम्पादकीय नोट—

प्रो० ज्वालाप्रसादजी सिंहल एम० ए०का यह लेख 'छाया हिन्दुस्तान' नामक पत्रके ४ नवम्बर सन् १९४१ के अङ्कमें मुद्रित हुआ है और 'अनेकान्त' को श्रीमाई दौलतरामजी 'मित्र' इन्दौरके सौजन्यसे प्राप्त हुआ है, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। लेखमें लेखक महोदय ने अपनी खोजके आधारपर जो कल्पनाएँ की हैं और जिन के वर्णनको लेखके अन्तमें स्वयं ही 'संकेतमात्र' बतला कर यह सूचनाकी है, कि उनके विषयमें खोज करनेके लिये बहुमूल्य अवसर है,वे निस्सन्देह विचारणीय हैं और खोजियों के लिये खोजकी एक अच्छी दिशा प्रदान करती हैं। उनकी जरूर गहरी तथा गंभीर खोज होनी चाहिये, उससे भारतीय इतिहासमें ही नहीं किन्तु संसार भरके इतिहासमें बहुत कुछ क्रान्तिका होना संभव है।

यद्यपि सभी भारतीय पुराणोंके विषयमें लोगोंकी एक सी धारणा नहीं है और न सब हिन्दू तथा अहिन्दू पुराण पूर्णतः अथवा अंशतः गप्प समझे जाते हैं, फिर भी जो लोग पुराणोंको सर्वथा गप्प समझते हैं और यह मान बैठे हैं कि उनमें वर्णित कथाओंमें कुछ भी तत्त्व नहीं। वे गलतीपर अवश्य हैं और लेखकके शब्दोंमें यह उनकी 'बड़ी भूल' तथा पुराणोंके प्रति 'अन्याय' जरूर है। प्रोफेसर साहबका यह लिखना प्रायः ठीक है कि "पुराणोंमें वे कथाएँ हैं जो उनके लिखे जानेके समय भारतीय इतिहास के सम्बन्धमें प्रचलित थीं। उनके वर्णनमें अतिशयोक्ति तथा क्रम-परिवर्तन होना स्वाभाविक है।" परन्तु उनमें भूलोंका होना तथा कल्पित बातोंका शामिल होजाना भी कुछ अस्वाभाविक नहीं है—खासकर उन पुराणोंमें जो सर्वज्ञके ज्ञानकी परम्परासे संस्कारित नहीं हैं अथवा राग-द्वेषादिसे अभिभूत व्यक्तियोंके द्वारा लिखे गये हैं। क्योंकि अलङ्कारों, रूपकों तथा द्वयर्थकादि-शब्दोंके पर्देमें छिपे हुए अभिमत अर्थको समझनेमें बहुतोंने भूलें की हैं और उन परसे पुराणोंमें अनेक विचित्र देवी–देवताओंकी कल्पनाएँ

भी होगई हैं। हनुमानजी जैसे महान् पराक्रमी राजा, विद्याधर एवं योगी पुरुषको बन्दर बतला देना और उनके पूंछ तक लगा देना ऐसी ही भूलों तथा कल्पनाओंका परिणाम है। अतः खोजमें प्रवृत्त होनेवालोंको इन अलङ्कारों तथा रूपकों आदिके पर्दोंको फाड़कर उसके भीतर-स्थित प्रकृत अर्थको सूक्ष्मदृष्टिसे खोज निकालना चाहिये और विकृत अर्थके विकारका पता लगाना चाहिये, तभी सच्ची खोज बन सकेगी। इसके लिये जैनपुराणों, चरितग्रंथों तथा द्रावडीय रामायणादिको जरूर देखना चाहिये—उनसे वस्तुस्थितिको समझनेमें कितनी ही मदद मिल सकेगी।

यहाँपर मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि जैन समाज और उसके पुराणोंमें हजारों वर्ष पहलेसे ही हनुमानादिको बन्दर नहीं माना जाता और न उन्हें असभ्य जंगली मनुष्य ही बतलाया जाता है, बल्कि विद्याधरों द्वारा प्रतिष्ठित उस सुसभ्य वानरवंशके प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता है। जिनमें बड़े बड़े राजा, योद्धा, विद्याधर, योगी, त्यागी और तपस्वी मुनि तक हो गये हैं और जो छत्र, ध्वजा तथा सिंहासनादिमें सर्वत्र वानर चिन्ह धारण करनेसे वानरवंश कहलाता था। वानरवंशकी उत्पत्ति-विषयक अच्छी रोचककथा भी जैनपुराणोंमें दी हुई है; इसके लिये विमलसूरिका 'पउमचरिय' और रविषेणाचार्यका 'पद्मचरित' खास तौरसे देखनेके योग्य हैं। पद्मचरित वीर-निर्वाणसे १२०३ वर्ष ६ महीने बाद (वि० सं० ७३४ में) बनकर समाप्त हुआ है और पउमचरियमें उसका रचनाकाल वीरनिर्वाणसे ५३० वर्ष बाद (वि० सं० ६०) दिया हुआ है। इन दोनों प्राचीन पुराणग्रन्थोंमें उस 'वानर-महाद्वीप' का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है जिसकी प्रो० सिंहलजीने अपने इस लेखमें कल्पना की है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि वह समुद्रमें तीनसौ योजनके फासलेपर उत्तरकी ओर स्थित है। रविषेणाचार्यने इस वानर-द्वीपमें बहुतसे अन्तर द्वीपोंका भी उल्लेख किया है और इसे 'अलं' तथा 'पृथु' विशेषण भी दिये हैं, जिससे इस वानरद्वीप का महाद्वीप होना और भी स्पष्ट हो जाता है। इस संबंध में दोनों ग्रन्थोंपरसे कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"अवरुत्तराए एत्तो तिण्णेव जोयणसयाइं।
लवणजलमज्झयारे वाणरदीवो त्ति नामेणं।३४।
चेत्तस्स पढमदिवसे सिरिकंठो निग्गओ सपरिवारो।
रह-गय-तुरय-समग्गो दीवाभिमुहो समुप्पइओ ॥३६॥
+ + +
"इक्खण य इक्खागो जाओ विज्जाहराण विज्जाए।
तह वाणराण वंसो वाणरचिन्धेण निव्वडिओ ॥८८॥
वाणरचिन्धेण इमे छत्ताइ-निवेसिया कई जेण।
विज्जाहरा जणेणं वुच्चंत्ति हु वाणरा तेणं ॥८६॥
सेयंसस्स भयवओ जिणंतरे तह य वासुपुज्जस्स।
अमरप्पभेण एयं वाणरचिन्धं परिट्ठवियं ॥९०॥
—पउमचरिय, उद्देस ६

इतो वरोत्तरे भागे समुद्र-परिवेष्टिते।
शतत्रयमतिक्रम्य योजनानामलं पृथुः ॥७१॥
अस्ति शाखामृग-द्वीपः प्रसिद्धो भुवनत्रये।
यस्मिन्नवान्तरद्वीपाः सन्ति रम्याः सहस्रशः ॥७२॥
ततश्चैत्रस्य दिवसे प्रथमे मंगलार्चिते।
ययौ सपरिवारोऽसौ (श्रीकण्ठः)द्वीपं वानर लाँछितम्॥८६
तथा वानरचिन्हेन छत्रादिविनिवेशिना।
विद्याधरा गता ख्यातिं वानरा इति विष्टपे ॥२१५॥
श्रेयसो देवदेवस्य वासुपूज्यस्य चान्तरे।
अमरप्रभसंज्ञेन कृतं वानरलक्षणम् ॥२१६॥
—पद्मचरित, पर्व ६

अब मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि ऊपरके वाक्योंमें जिस 'श्रीकण्ठ' राजाका चैत्र मासके प्रथम दिन (वदि १ को) वानरद्वीपको सपरिवार प्रस्थान करनेका उल्लेख है वही भारतीय प्रथम विद्याधर राजा था जो विजयार्ध (वैताढ्य) पर्वत परसे उक्त वानरद्वीपमें जाकर बसा था और जिसने वहाँ चौदह योजन (५६ कोस) के विस्तारका किष्कुपुर अथवा किष्किंधापुर नामसे एक महान् समृद्धिशाली नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था। इस राजाकी ७वीं पीढ़ीमें होनेवाले 'अमरप्रभ' नामके विद्याधर राजासे वानरवंशकी उत्पत्ति हुई है, जिसका उत्पत्तिसमय ११ वें श्रेयांस और १२ वें वासुपूज्य तीर्थङ्करके मध्यमें पड़ने वाले अन्तरालका कोई समय है; जबकि श्री भ० रामका अवतार इससे हजारों वर्ष बाद २० वें तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत जिनेन्द्रके समयमें हुआ है। और इसलिये प्रो० साहबने जो यह कल्पना की है कि भ०

रामने ही पहले पहल इस वानर-महाद्वीपमें आर्य सभ्यताका प्रकाश फैलाया है और यही उनके जीवनकी सब से अधिक महत्त्वशाली घटना है, वह जैन पुराणोंकी दृष्टिसे कुछ संगत मालूम नहीं होती। जैन पुराणोंके अनुसार वानर महाद्वीपमें आर्य-सभ्यताका प्रवेश श्रीकण्ठ राजाके द्वारा हुआ है, जिसे उसके उत्तरवर्ती राजाओंने वृद्धिगत किया है। और यह वहाँकी बढ़ी हुई अनेकमुखी आर्य-सभ्यताका ही प्रताप था जो श्रीरामको हनुमानजी जैसे बुद्धिमान, बलवान, कार्यकुशल एवं सुयोग्य साथियोंकी सम्प्राप्ति होसकी थी। हो सकता है कि कालके प्रभावसे क्षीणशक्ति हुई आर्य-सभ्यताको भ० रामचन्द्रने वहाँ प्रगति प्रदान की हो, परन्तु उनके द्वारा द्वीपमें उसका आद्य प्रवेश नहीं बनता।

आशा है प्रो० सिंहलजी तथा दूसरे खोजी विद्वान भी जैनपुराणोंकी इन बातोंको ध्यानमें रखते हुए खोजके कार्यमें अग्रसर होंगे। जैनपुराणोंपरसे उन्हें रावणादिकी विद्वत्ता, नीतिमत्ता, धार्मिकता, सभ्यता और कार्यकुशलता आदिके कितने ही नये हालात भी मालूम होसकेंगे। साथ ही, राक्षसवंश क्या था, कैसे उसकी उत्पत्ति हुई और माली, सुमाली, माल्यवान तथा नल-नीलादि व्यक्ति किस स्थितिमें थे, इन बातोंका भी कितना ही पता चल सकेगा।

जैन सरस्वती

(लेखक—बा० ज्योतिप्रसाद जैन 'विशारद' एम० ए०, एल-एल० बी०)

न देवी-देवताओंमें ज्ञानकी अधिष्ठात्री सरस्वती देवीका एक विशिष्ट स्थान है। अर्हन्तदेवके अतिरिक्त जैन धर्ममें मान्य जितनी अन्य देवी-देवता हैं, अर्थात् शासन देवता, यक्ष, यक्षिणी क्षेत्रपाल, दिक्पाल, नवग्रह, योगिनी, अष्ट-मातृका, प्रासाद, देवियाँ सम्प्रदाय-देवियाँ, कुल-देवियाँ इत्यादि, उन सबमें वाग्देवी सरस्वती ही सर्व-प्रधान है। इनकी पूजा-प्रतिष्ठा भी उक्त सर्व देवी-देवताओं से पहिले की जाती है।

वास्तवमें तो जैनधर्म आत्म-प्रधान है इसका लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-रूप रत्नत्रयकी साधना-द्वारा ही संभव है, और इस साधना में सर्वप्रधान सहायक निमित्त सर्वज्ञ-वीतराग-हितोपदेशी अर्हन्तके रूपमें सच्चे देव, उक्त अर्हन्त-द्वारा उपदेशित अहिंसा प्रधान, मोक्षमार्ग-निदर्शक पूर्वापर-अविरुद्ध सम्य-ज्ञानके प्रतिपादन करने वाले सच्चे शास्त्र, तथा अर्हन्तदेव के पदानुसरण कर्त्ता, संसार-देह-भोगोंसे विरक्त, ज्ञान ध्यान-तपमें लीन, स्व-परकल्याणमें तत्पर, निस्पृह, निर्ग्रन्थ साधुओंके रूपमें सच्चे गुरु, इन तीनोंकी आराधना-उपासना है। इनके अतिरिक्त अन्य जितने देवी-देवता हैं वे रागी-मोही अल्पज्ञ होनेसे अपूज्य हैं। उनकी पूजा-उपासना-द्वारा परमार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः यद्यपि जैन मन्दिरोंमें कहीं कहीं अर्हन्त प्रतिमाओंके साथ साथ अन्य देवी-देव-ताओंकी मूर्तियां भी प्रतिष्ठित देखी जाती हैं तथापि उनकी पूजा-उपासनाको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, उसे प्रायः हेय ही माना जाता है।

किन्तु वाग्देवी सरस्वतीके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। इस देवीकी पूजा-उपासनाका फल आचार्योंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि आत्मीक गुणोंकी उपलब्धि-वृद्धि-विशुद्धि प्रतिपादन किया है[1]। दर असल यह कहना कठिन है कि क्या प्रारंभमें जैन श्रुतज्ञानको ही अलङ्कारिक भाषामें श्रुत-देवीका नाम देदिया गया और कलाकारने मूर्तिक रूपमें

[1] विद्याप्रियाः षोडश दृग्विशुद्धि-पुंगामाहॅन्त्यकृदर्थगाथाः। इत्यादि —आशाधर-प्रतिष्ठासारोद्धार ३-३२

उसकी साकार अभिव्यञ्जना करती, अथवा वह यक्षिणी, योगिनी आदि देवियोंकी भाँति भवन वासी, व्यन्तरादि देव-जातियोंमेंसे ही किसी जातिकी देवी है।

जैनग्रन्थोंमें सोलह विद्यादेवियोंका वर्णन मिलता है जिनके नाम हैं—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, जम्बुनदा वा अप्रतिचक्रा पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, महाज्वाला वा ज्वालमालिनी, मानवी, वैरोटी, अच्युता, मानसी और महामानसी[1]। इन सोलहों विद्यादेवियोंकी अधीश्वरी सरस्वती देवी हैं। श्री, भारती, श्रुतदेवी, वाग्देवी, ब्राह्मी, वाणी आदि इस देवीके अन्य अनेक नाम हैं[2]।

सरस्वती-सहित ये सब विद्यादेवियां यूनानी 'म्यूज़' (Muse) नामक देवियोंकी भाँति भिन्न भिन्न कलाओं और विज्ञानोंका पृथक् पृथक् प्रमुख नहीं करतीं, बल्कि सामूहिकरूपसे, जैनश्रुतकी अर्थात् समस्त जैनसाहित्यकी अधिष्ठात्री एवं रक्षिका हैं। और वर्तमानमें उपलब्ध जैनसहित्य बहुत विशाल होते हुए भी पूर्ण जैनश्रुतका अत्यल्पांश मात्र ही है।

श्वेताम्बर ग्रंथ 'आचारदिनकर' (प्रतिष्ठाविधि) के अनुसार देवियां तीन प्रकारकी होती हैं—प्रासाददेवी, कुलदेवी, और साम्प्रदायदेवी। सरस्वती तथा विद्यादेवियाँ तीसरे भेद—सम्प्रदायदेवियोंके अन्तर्गत आती हैं।

विद्यादेवियोंमेंसे अनेक २४ तीर्थङ्करोंसे सम्बन्धित शासनदेवियों (यक्षियों) मेंसे कई एकके साथ रूप और नामादिका अद्भुत साम्य रखती हैं। तथापि ये देवियां उक्त यक्षियोंसे सर्वथा भिन्न ही हैं। और यदि साहित्यमें यक्षियोंका उल्लेख अत्यन्त प्राचीनकालसे ही मिलता है तो साहित्य तथा कला दोनोंमें ही सरस्वतीकी अभिव्यक्ति भी उसी समयसे मिलती है। डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालकी राय है कि सरस्वती देवी जैन धार्मिक कलाके प्रारम्भ काल से ही इस धर्मके देवसमूहमें अपना स्थान बनाये हुए हैं[3]। मथुरा कंकाली टीलेसे प्राप्त सरस्वती प्रतिमा इस बातका ज्वलन्त उदाहरण है। और प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्वके मध्यमें जब आचार्य धरसेन स्वामीने अपने पास अध्ययनके लिये आने वाले शिष्यद्वयके आनेका पूर्वाभास स्वप्नमें पाया तो उनके मुखसे यह शब्द निकले थे कि "श्रुत-देवता जयवन्त हो" (जयउ सुयदेवदा[4])। श्रुतदेवतामें समस्त अंग-पूर्वरूप द्वादशांगश्रुतका समावेश है, जैसा कि आचार्य वीरसेनके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

बारहअंगंगिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
विविह-वर-चरणभूसा पसियउ सुयदेवया सुइरं ॥
(धवला)

अस्तु सरस्वती देवीकी मान्यताकी प्राचीनतामें तो कोई सन्देह है ही नहीं। इस देवीकी विशिष्ट वार्षिक पूजा दिगम्बर सम्प्रदायमें श्रुतावतारकी वर्षगांठके उपलक्षमें ज्येष्ठ शुक्ला ५ (श्रुतपंचमी) के दिन होती है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कार्तिक शुक्ला ५ (ज्ञानपंचमी) के दिन। इस अवसर पर धार्मिक ग्रन्थोंकी जांचपड़ताल, झाड़-पोंछ सफाई इत्यादि तथा नवीन वेष्टनोंसे वेष्टित कर सन्दली पर सजा कर सामूहिक पूजन की जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैनाचार्योंने सरस्वतीकी मूर्ति के निर्माण और पूजा-प्रतिष्ठाको विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया, उसकी मूर्तिके स्थानमें भावश्रुत (अर्थात्मक) तथा द्रव्यश्रुत (शब्दात्मक तथा रचनाबद्ध) रूप श्रुतज्ञान अर्थात् तीर्थङ्कर देव द्वारा प्रतिपादित और गणधरों द्वारा द्वादशाङ्गमें ग्रन्थित ज्ञानके आधार पर चतुरनुयोगान्तर्गत रचित जैन शास्त्र-समुदायको ही उन्होंने सरस्वती अथवा श्रुतदेवीके रूपमें प्रतिष्ठित किया। बहुत संभव है उन्होंने ऐसा इस कारणसे किया हो कि कहीं जनता पाषाणादिकी सरस्वती प्रतिमाके पूजा-पाठ-संबंधी क्रियाकांडमें उलझ कर ज्ञान-विमुख न हो जाय, ज्ञानाभ्यास न छोड़दे। अतः सरस्वतीकी आराधनाका स्वरूप यही बताया जाता रहा है कि शास्त्रोपदेश, शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय और शास्त्राभ्यास ही श्रुतदेवताकी वास्तविक

---

१ प्रतिष्ठासारोद्धार।

२ "वाग्ब्राह्मी भारती गौर्गीर्वाणी भाषा सरस्वती।
श्रुतदेवी वचनं तु व्याहारो भाषितं वचः ॥१-२४१
—अभिधानचिन्तामणि, हेमचन्द्राचार्य

३ V. S. Agarwal– Guide to the Arch. Sec. of the Lucknow Prov. Museum.

४ षटखंडागम–१, १, १ पृ० ६८

उपासना है। सम्भवतया इसी कारण सरस्वतीकी प्रतिमाएँ भी बहुत अल्प संख्यामें उपलब्ध हैं।

इस देवीके सम्बंधमें साहित्य तो पर्याप्त है—कई एक पूजा-पाठ, स्तोत्र, कल्प, विनती, प्रतिष्ठाविधि इत्यादि दोनों ही सम्प्रदायोंमें मिलती हैं[१]। इसके रूप आकृति आदिका जो वर्णन उक्त साहित्यमें मिलता है उसमें भी भिन्न २ आचार्यों में थोड़ा थोड़ा मतभेद है। इसकी जो भी पांच छः मूर्तियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं उनमेंसे कोई भी किसी भी एक आचार्यके वर्णनसे पूर्णतया नहीं मिलती।

दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार इसका वाहन मयूर है[२] और श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार हंस[३]। कुछ आचार्यों के अनुसार यह चतुर्भुजा है, कुछके अनुसार द्विभुजा। एक हाथमें पुस्तक अवश्य है, दूसरा अभयज्ञान-मुद्रामें या कमल पुष्प लिये हुए। चार हाथ होनेसे, शेष एक हाथमें वीणा है, दूसरेमें अक्षमाला। इसकी वीणा कच्छपके आकारकी होती है और कच्छपी वीणा कहलाती है[४]। एक आचार्यके अनुसार यह त्रिनेत्रा, बालेन्दु और जटामण्डिता भी होती है। इसके वर्ण और बसनके श्वेत होनेमें सब एक मत हैं।

अब तक सरस्वती देवीकी केवल ६ प्राचीन मूर्तियाँ हमारे जानने-सुननेमें आयी हैं, और वे इस प्रकार हैं—

(१) देवगढ (झांसी जिला) में १२वीं १३वीं शताब्दी की, बैठी हुई[५]।

पल्लू (बीकानेर राज्य) में—मध्यकालीन, खड्गासन, चतुर्भुजा, तीन हाथोंमें—वीणा, पुस्तक, माला, चौथा अभयमुद्रामें[६]।

(३) मदागिरि (मैसूर) की मल्लिनाथ बस्तीमें, मध्यकालीन[७]।

(४) सिरोही राज्यके अजारी नामक स्थानमें, महावीर स्वामीके[८] मन्दिरमें। प्रतिमाके आसन पर 'विक्रम संवत् १२६६' खुदा हुआ है।

(५) सांगानेर और जयपुरके बीच चन्द्रवती नामक स्थानमें १२ वीं शताब्दीकी बैठी हुई, एक हाथमें 'कच्छपी वीणा' स्पष्ट है[९]।

(६) लखनऊ प्रान्तीय अद्भुतालय (म्यूजियम) में—मथुरा-कंकाली टीलेकी खुदाईमें प्राचीन जैन मंदिरके भग्नावशेषके समीपसे प्राप्त (सन् १८८६ ई० में[१०]।

यह मूर्ति रेतीले लाल पत्थरकी, आदमकद, उकडूं बैठी हुई है। मूर्ति खंडित है। गर्दनसे ऊपरका भाग गायब है, दाहिना हाथ भी पहुँचेके ऊपरसे टूटा हुआ है। देवी किसी एक ही वस्त्रमें अच्छी तरह वेष्टित है। दाहिना हाथ ऊपर उठा हुआ 'अभय-ज्ञानमुद्रा' में प्रतीत होता है बांये हाथमें डोरेसे बँधी ताड़पत्रीय पुस्तक है। पादमूलमें एक व्यक्ति शकजातिकी पोशाक (ट्यूनिक) पहने हुए तथा दोनों हाथोंमें एक बन्द पात्र लिये हुए खड़ा है। बाईं ओर

---

१ भ० अरिष्टनेमिकृत श्रीदेवता-कल्प; मल्लिषेण-सूरिकृत-भारतीकल्प; जिनप्रभाचार्यकृत वाग्देवता-स्तोत्र; पद्मनन्दि-आचार्यकृत सरस्वतीस्तोत्र इत्यादि।

२ "ॐ ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः इति वागधिदेवतां स्थापयेत्" —प्रतिष्ठासारोद्धार

३ "श्वेतवर्णा श्वेतवस्त्रधारिणी हंसवाहना श्वेतसिंहासनासीना ....चतुर्भुजा।" तथा "श्वेताब्ज-वीणालंकृत-वामकरा पुस्तक-मुद्राक्षमालालंकृत-दक्षिणकरा।"—आ.दि.प्रतिष्ठा० तथा—ॐ ह्रीं भगवति ब्रह्माणि वीणा-पुस्तक-पद्माक्षसूत्र-हंसवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ।"आ. दि. प्र० "नानावृत्त- पदन्यास - वर्णालंकारहारिणी, सन्मार्गाङ्गीसिता जैनी प्रसन्ना नः सरस्वती।"—श्रीदेवताकल्प ने. अ० "अभयज्ञानमुद्राऽक्षमाला-पुस्तक-धारिणी। त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटा-बालेन्दु-मण्डिता॥ —सरस्वती (भारती) कल्प—मल्लिषेणसूरि

४ जिनप्रभाचार्यकृत वाग्देवता-स्तुति।

६ B. C. Bhattacharya—Jaina Iconography page 165 F. N.

७ Ibid.

८ Annual Report of Arch .Survey of Mysore 1918, Benglore 1919, p. 6

९ Sita Ram's History of Sirohi Raj.

१० श्री अशोककुमार भट्टाचार्यके चित्रसंग्रहमें।

११ V. Smith—Jain stupas and other Antiquities of Mathura p. 56, plate XCIX. In the Lucknow Museum the number of the statue is 8-9/507.

एक अन्य व्यक्ति भारतीय पोशाक (उत्तरीय) में हाथ जोड़े खड़ा है। नीचे आसन पर एक सात पंक्तियोंका अभिलेख शुङ्ग-कुशन कालकी ब्राह्मी लिपि और प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित भाषामें खुदा हुआ है। अन्तिम पंक्ति त्रुटित है।

बुल्हर साहिबके अनुवादके अनुसार मूर्तिके लेखका भाव निम्न प्रकार है—

"सिद्धि सं० ५४ (४४ स्पष्ट है) हेमन्तके ४ थे, १० वें दिन (११ या ३२ भी हो सकता है) कोट्टिय (कोलिय) गण, स्थानीय कुल, वइर शाखा श्रीगृहसंभोगतो वाचकाचार्य हस्तहस्तिके शिष्य गणी आर्य नागहस्तिक श्रद्धाचारी वाचक आर्यदेवके उपदेशसे सिंहक पुत्र लोहिकार गोवाने सर्व सत्वों के हित सुखके लिये एक सरस्वती प्रति स्थापित की।"

लेखमें दिया हुआ सं० कुशन संवत् अनुमान किया जाता है। अतः इस प्रतिमाकी निर्माणतिथि सन् १३२ ई०(वा १२२ ई०) हुई। किन्तु यदि यह संवत् वह हो जिसमें मथुराके उसी स्थानसे प्राप्त कितने ही अन्य अभिलेख हैं और साथ में सौदास आदि शक क्षत्रपोंका नामोल्लेख भी है तो यह मूर्त्ति प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्वके उत्तरार्धमें निर्मित हुई होनी चाहिये। अर्थात् इस मूर्तिकी निर्माण-तिथि या तो ई० पूर्व २५ के लगभग है अथवा सन् ईस्वी १२२ (या १३२)।

ऐतिहासिक दृष्टिसे यह मूर्ति बड़े महत्वकी है और कई बातों पर अनोखा प्रकाश डालती है—

(१) प्रथम तो यह मूर्त्ति जैन सरस्वतीकी ही सर्व प्राचीन प्रतिमा नहीं है वरन् सरस्वती-मात्रकी सर्व प्राचीन मूर्त्ति[1] है। जैनधर्मकी भांति हिन्दु और बौद्ध धर्मोंमें भी सरस्वती देवीकी मान्यता है, किन्तु हिन्दू सरस्वतीकी मूर्तियां गुप्तकालके बादसे ही उपलब्ध होती हैं। ५ वीं ६ठी शताब्दीसे पूर्वकी हिन्दू सरस्वतीकी कोई मूर्त्ति नहीं मिलती। बौद्ध मूर्त्तियाँ उससे भी पीछेकी मिलती हैं।

(२) शक लोग भी, जैनदेवी-देवताओंके उपासक—जैनधर्मावलम्बी थे। कलामें उनकी अभिव्यक्ति इस बातको सूचित करती है कि उस कालमें कमसे कम मथुरा निवासी शक तो प्राय: जैन थे। यदि यह मूर्त्ति प्रथम शताब्दी ई० पूर्व की है, जैसा कि संभव है, तो शकोंके मथुरा-प्रवेशके ३०-४० वर्षके भीतर ही निर्मित हुई होनी चाहिये। अतः स्पष्ट है कि मथुरामें आकर बसनेके साथ ही उन्होंने वहांके सर्वाधिक प्रचलित धर्मको अङ्गीकार कर लिया था।

(३) अर्हन्त प्रतिमाओंके पश्चात् जो अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियां बननी प्रारंभ हुईं उनमें सरस्वती देवीकी मूर्ति प्रथम अथवा प्राथमिक देवमूर्तियोंमें रही।

(४) इतनी शीघ्र और इस प्रकार सरस्वती देवीकी प्रतिस्थापना प्रारम्भसे ही जैनधर्मकी ज्ञान-प्रधान-प्रकृतिको चरितार्थ करती है।

(५) प्रतिमाके केवल दो हाथ होना—एकमें पुस्तक, दूसरा अभयज्ञानमुद्रामें तथ वीणा, माला वाहन आदि अन्य सर्व चिन्होंका अभाव मूल सरस्वतीकी आडम्बर-विहीन सादगी तथा उसे श्रुतका सच्चा उपयुक्त प्रतीक व्यक्त करता है और उपासक ध्यान द्वारा देवीकी अभयज्ञानमुद्रा और ज्ञानकी वास्तविक दात्री पुस्तकमें आकर्षित एवं केन्द्रित होता है।

(६) अभिलेख, जहां एक ओर तत्कालीन जैनसंघके गण, गच्छ, कुल, शाखा आदिरूप संङ्गठन पर अच्छा प्रकाश डालता है, वहाँ यह भी सूचित करता है कि उस समय बड़े २ वाचकाचार्य इस देवीकी प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करा रहे थे।

(७) उस समय भी जैन-जनता पुस्तकोंसे अपरिचित नहीं थी, जैनोंके यहाँ प्रथप्रणयन उसके पर्याप्त पूर्व प्रारंभ हो चुका था, तभी तो कलामें भी उसकी ऐसी स्पष्ट अभिव्यञ्जना हो सकी। अतः यह धारणा भ्रमपूर्ण ही प्रतीत होती है कि आचार्य पुष्पदन्त-भूतवलि-द्वारा षट्खंडागम आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंके रूपमें कथित श्रुतावतारसे पूर्व जैनों में धार्मिक ग्रन्थरचना होती ही नहीं थी। श्रुतावतारकी कथाओंका तात्पर्य तो परम्परागत द्वादशाङ्ग सम्बन्धी मूल श्रुतागमके लिपिबद्ध करनेकी घटनासे ही प्रतीत होता है।

(८) वस्तुत: जिस कालमें प्रस्तुत मूर्तिका निर्माण हुआ उस समय जैनजगतमें ज्ञानजागृति (Jaina Renaissance) का प्रथमत: एक बड़ा प्रबल आन्दोलन चल रहा था, जिसका पूर्वाभास हमें कलिङ्गसम्राट खारवेल के हाथी गुफा वाले अभिलेखमें मिलता है। और जिसके फलस्वरूप ई० सन् ८० के लगभग दिगम्बर श्वेताम्बर

१ Dr. V. S. Agarwal Guide to Arch. Sec. of Lucknow Museum.

मतभेद पुष्ट हुआ। इस आन्दोलनका कारण यह था कि अब ज्ञान-ध्यान-तपमें लीन निर्ग्रन्थ जैन साधुओंको यह प्रतीति होने लगी थी कि धर्म और जिनवाणीकी रक्षा केवल स्मरणशक्तिके बल पर नहीं हो सकती। शक्ति और संहननकी उत्तरोत्तर होती हीनता, चारित्र्य-शैथल्य, श्रद्धानकी विकृति, सम्प्रदायभेद संघभेद आदिका होना, इन सब कारणोंसे यह आवश्यक होगया कि भगवान महावीरके पश्चात् धारणाद्वारसे परम्परागत चले आये श्रुतज्ञानका जो कुछ अवशिष्टांश विद्यमान है, अर्थात कतिपय विद्वान आचार्योंकी धारणामें सुरक्षित है उसे लिपिबद्ध कर डाला जाय, तथा उसके आधारपर और भगवानके अन्य उपदेशों और धार्मिक अनुश्रुतियोंके आधार पर स्वकीय मौलिक रचनाओं तथा टीका-भाष्य आदि ग्रन्थोंसे जैनभारतीका भंडार भर दिया जाय, ग्रन्थ-प्रणयनका कार्य जोरोंके साथ प्रारम्भ कर दिया जाय। जिस प्रकार अन्य सर्व नवीन आन्दोलनोंका विरोध होता है इस आन्दोलनके भी अनेक प्रबल विरोधी होंगे। सैकड़ों वर्ष प्रयत्न करनेके पश्चात् आन्दोलन सफल हुआ होगा। शक, यवन-आदि नवागत पाश्चात्य जातियोंने, जिन्होंने जैनधर्म अपना लिया था, इस आन्दोलनको पर्याप्त प्रोत्साहन दिया होगा, क्योंकि भारतीयों की अपेक्षा उस समय भी वे लोग लेखन-कलाके अधिक आदी रहे प्रतीत होते हैं। इस आन्दोलनके परिणाम-स्वरूप भद्रबाहु स्वामी द्वितीय (प्रथम शताब्दी ई० पूर्वका मध्य) के पश्चात् ही एक ओर प्रातः स्मरणीय धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, आर्यमंखु, नागहस्ति, यतिवृषभ आदि आचार्योंने मूल आगम ग्रन्थोंकी रचना द्वारा, दूसरी ओर शिवार्य, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, विमलसूरि, समन्तभद्रादि उद्भट आचार्योंने अपनी विद्वत्तापूर्ण आध्यात्मिक, दार्शनिक, नैतिक, पौराणिक रचनाओंसे जैन वाग्देवीका भंडार कुछ ही समयमें आश्चर्यजनक रूपमें समृद्ध कर दिया। इस आन्दोलनकी व्यापकता तथा उसके उपर्युक्त नेताओंकी सफलता उस समय रचे गये जैनसाहित्यका जो अवशेष आज भी उपलब्ध है उसीसे भली प्रकार विदित हो जाती है।

मथुराकी यह दो हजार वर्ष पुरानी सरस्वती-प्रतिमा उस महान ज्ञानजागृतिका सर्वप्रकार उपयुक्त एवं सच्चा प्रतीक है। श्रुतकी अधिष्ठात्री सरस्वती पुस्तक हाथमें लिये धर्मभक्तोंसे यह प्रेरणा करती प्रतीत होती है कि उसकी सच्ची उपासना ग्रन्थ-प्रणयन तथा साहित्यके प्रचार एवं प्रसारमें ही है। वास्तवमें मनुष्य अपनी भावनाओं और अपने आदर्शोंको मूर्तरूप देनेका सदैव प्रयत्न करता है। और इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ-प्रणयनका आन्दोलन करने वाली श्रुतभक्त जैनजनताकी कामनाको कुशल कलाकारने सरस्वतीकी इस पाषाण-प्रतिमामें बड़े सुन्दर और प्रभावक रूपमें अभिव्यक्त किया है।

लखनऊ, ११-१-१९४६

क्या मथुरा जंबूस्वामीका निर्वाणस्थान है ?

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

महुराए अहिछित्ते वीरं पासं तहेव वंदामि ।
जंबुमुणिंदो वंदे णिव्वुइ पत्तो वि जंबुवण ग णो ।।

मुद्रित दशभक्त्यादि संग्रहमें प्राकृत निर्वाणभक्तिके अनन्तर कुछ पद्य और भी दिये हुए हैं। उनमेंसे इस तृतीय पद्यमें मथुरा और अहिक्षेत्रमें भगवान महावीर और पार्श्वनाथकी वंदना करनेके पश्चात् जंबु नामके गहन वनमें अन्तिमकेवली जंबूस्वामीके निर्वाण प्राप्त होनेका उल्लेख किया गया है। परन्तु जंबूवन किस देशका वन है यह पद्य परसे कुछ भी फलित नहीं होता। मालूम होता है जंबू स्वामीने जिस वनमें ध्यानाग्नि द्वारा अवशिष्ट अघातिकर्मोंको भस्मकर कृतकृत्यता प्राप्त की, संभवतः उसी वनको जंबूवन नामसे उल्लेखित करना विवक्षित है। अब प्रश्न रह जाता है कि उक्त जंबूवन किस देश, ग्राम अथवा नगरके समीपका स्थान है और मथुराके साथ उसका क्या

सम्बन्ध है।

मथुराके समीप ही चौरासी नामका स्थान है जहाँपर एक विशाल जैन मन्दिर बना हुआ है। इसी स्थानको जंबू स्वामीका निर्वाणस्थान कहा जाता है, परन्तु अन्वेषण करने पर भी जंबूस्वामीके चौरासीपर निर्वाण प्राप्त करनेका कोई प्रामाणिक उल्लेख अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया। मालूम नहीं इस कल्पनाका क्या आधार है।

प्रो० हीरालालजी एम० ए० ने अपनी जैन इतिहासकी पूर्वपीठिका और हमारा अभ्युत्थान' नामकी पुस्तकके पृष्ठ ८०में संयुक्तप्रान्तका परिचय कराते हुए जंबूस्वामीकी निर्वाणभूमि उक्त चौरासी स्थान पर बतलाई है। उनकी इस मान्यताका कारण भी प्रचलित मान्यता जान पड़ती है। क्योंकि लेखमें किसी प्रमाणविशेषका उल्लेख नहीं है।

यद्यपि मथुरा जैनियोंका प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। यहाँके कंकाली टीलेसे प्राप्त मूर्तियाँ आज भी जैनियोंके प्राचीन गौरवको उद्दीप्त कर रही है और जैनियोंकी अतीत स्मृतिके गौरवका प्रतीक हैं। उनकी वास्तुकला और मूर्तियोंकी प्रशान्तमुद्रा भक्तिमार्गका निदर्शन कर रही है। पंडित राजमलजीके जंबूस्वामिचरितमें, जिसका रचनाकाल १६३२ है, मथुरामें ५१४ दिगम्बर स्तूपोंके होनेका उल्लेख है और उनका जीर्णोद्धार आगरा निवासी साहू टोडरने कराया था। इन सब बातोंसे जैनियोंके लिये मथुराकी महत्ता गौरवकी वस्तु है। परन्तु वह निर्वाणभूमि है यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि इसका समर्थन किसी प्राचीन उपलब्ध प्रमाणसे नहीं होता। और यह भी प्राय: अनिश्चित है कि इस मान्यताके प्रचलित होनेका आधार क्या है, कब और किसने इसे जन्म दिया है। हाँ, यह हो सकता है कि जब अन्तिम केवली जम्बूस्वामी गंधकुटी-सहित विहार करते हुए मथुराके उद्यानमें पधारे हों और वहाँ अपने धर्मोपदेश द्वारा जनताका कल्याण किया हो और उनकी उस पवित्र यादगारमें कोई मन्दिर या स्तूप बनवा दिया गया हो और बादको उसी स्थानपर या उसके पासके स्थानमें यह विशाल मन्दिर बनवाया गया हो। तथा बादमें भ्रमसे जनताने इसे ही जंबूस्वामीका निर्वाणस्थान कहना प्रारम्भ कर दिया हो। और बहुत सम्भव है कि उक्त कल्पना या इसी तरहकी कोई अन्य बात मथुरा या चौरासीकी निर्वाणभूमि-प्रसिद्धिका कारण बन गई हो; पं० राजमलके जंबूस्वामिचरित्रसे इतना तो निश्चित है कि जम्बूस्वामीने मगधादि नगरियोंमें विहार करते हुए धर्मोपदेश दिया था जैसाकि निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

> विजहर्ष ततो भूमौ अनो गंधकुटीं जिनः।
> मगधादि-महादेश-मथुरादि-पुरीस्तथा ॥११६॥
> कुर्वन्धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः।
> वर्षाष्टदशपर्यन्तं स्थितस्तत्र जिनाधिपः ॥१२०॥

परन्तु जम्बूस्वामीका निर्वाण विपुलाचल या विपुलगिरिसे ही बतलाया है, जो वर्तमान राजगिरके, जिसे पंचशैलपुर भी कहते हैं, पंच पहाड़ोंमें से प्रथम है। जैसाकि निम्न पद्यसे प्रकट है:—

> ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्।
> कर्माष्टकविनिर्मुक्तः शाश्वतानंतसौख्यभाक् ॥१२१॥

महाकवि वीरने भी अपने जम्बू-स्वामी-चरितमें, जिसका रचनाकाल वि० सं० १०७६ है, जम्बूस्वामीका निर्वाणस्थान विपुलाचल ही बतलाया है; जैसाकि उसकी १०वीं संधिके २४वें कड़वकके निम्न अंशसे प्रकट है:—

> भव्वयण-चित्त-ग्रयिय-कुलक्कु, अट्ठारह वरिसह जामथक्कु
> विउलइरिसिहरि कम्मट्ठचंतु, सिद्धालय-सासय-सोक्खय-पत्तु

ऊपरके जम्बूस्वामि-चरित ग्रन्थोंके उल्लेखोंपर से यही स्पष्ट जाना जाता है कि जम्बूस्वामीकी निर्वाणभूमि मथुरा या चौरासी नहीं है किन्तु विपुलगिरि है। यदि मथुराकी निर्वाणभूमिकी मान्यता विक्रमकी ११वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक प्रचलित होती तो उसका उल्लेख उक्त दोनों ग्रन्थकार अवश्य करते। किन्तु यह प्रचलित मान्यता १७वीं शताब्दीके बहुत बादकी है, इसीलिए पं० राजमलजीने उसका निर्देश तक नहीं किया। अतः मथुरा या चौरासीको निर्वाणभूमि कहना या मानना ठीक मालूम नहीं होता।

ता० ११—१—४६ वीरसेवामन्दिर सरसावा

वीरसेवामंदिरमें पंतजीका आगमन

ता० २५ जनवरी सन् १९४६ को प्रान्तीय चुनावोंके सिलसिलेमें युक्तप्रान्तके भूतपूर्व प्रधान मंत्री माननीय पं० गोविन्दवल्लभ पन्तजी का सरसावा (सहारनपुर) में आगमन हुआ। वीरसेवामन्दिरके भव्य प्राङ्गणमें स्थानीय कांग्रेसमंडलद्वारा आयोजित सभामें आपने एक संक्षिप्त वक्तव्यमें कांग्रेसके उसूलोंपर और अनुशासनमें चलनेकी प्रेरणा करते हुए कहा कि 'अब जनता और किसानोंका राज्य होगा और वे मालिक बनकर रहेंगे। पुलिस उनकी सेवक बनकर रहेगी। हिन्दू और मुसलमान दोनों भाई-भाई हैं। कांग्रेस देशकी आजादीके लिये है। मुस्लिम लीग केवल नवाबों और राजाओंकी है इसलिये वह जनता अथवा किसान राज्य कैसे चाह सकती है? अतएव आगेके प्रान्तीय चुनावोंमें कांग्रेसी उम्मीदवारको ही अपनी वोट दें।' सभामें जनताकी उपस्थिति अच्छी थी। आपको १६०) रु.की थैली भेंट की गई। इसके बाद पन्तजी करनालके लिये रवाना होगये।

—दरबारीलाल जैन कोठिया

Regd. No. A-736.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१-आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्र, मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य।)

२-सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ-मुख्तारश्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानोंद्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य-स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमङ्गल-कामना, २ नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पांच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

३-अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रंथोंके कर्ता कविवर-राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बंद किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीका सुंदर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

४-उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तारश्रीजुगलकिशोरजीको ग्रंथपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रंथपरीक्षाओंके इतिहासको लिए हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मू० ।)

५-न्याय-दीपिका—(महत्वका नया संस्करण)—न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्याय-दीपिकाका यह विशिष्टसंस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियां चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रंथ और उसके हिंदी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंमें संकलित है, जिनमेंसे एक बड़ा परिशिष्ट तुलनात्मक टिप्पणका भी है, साथमें सम्पादक द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका भी एक संस्कृतटिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रंथगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस बृहत्संस्करणका लागत मू० ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

प्रकाशनविभाग

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक चौदह रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरोंपर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेशाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रंथोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखोंपर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनी ओरसे उपहार ग्रंथोंका योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखों की सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित।

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ८

किरण २

फरवरी

१९४६

विषय-सूची

१ भगवान्-शरणमें कारण—[सम्पादक ... पृष्ठ ६७
२ हृदय है बना हुआ फुटबाल (कविता)—['युगवीर' ... ६८
३ खजुराहाके मन्दिरोंसे (कविता)—[श्री इकबालबहादुर ... ६९
४ देहली और दिल्लीकी राजावली—[पं० परमानन्द जैन शास्त्री ७१
५ जैनसंस्कृति-संशोधन-मण्डलपर अभिप्राय—[न्या० पं० दरबारीलाल ७५
६ जैनियोंपर घोर अत्याचार—[प्रो० हेमुल्ट ग्लाजेनाप
अनुवादक पं० परमेष्ठीदास जैन ... ८०
७ 'संजद' पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्वपूर्ण अभिमत
—[न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया ८३
८ क्या खाक बसन्त मनाऊँ मैं (कविता)—[पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' ८३
९ रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं
—[प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए० ८६
१० हरिषेणकृत अपभ्रंश-धर्मपरीक्षा—[डा० ए० एन० उपाध्ये
अनुवादक पं० राजकुमार साहित्याचार्य ९०
११ धवलाप्रशस्तिके राष्ट्रकूटनरेश—[बा० ज्योतिप्रसाद एम० ए० ९७
१२ वीरोपदेश—[पं० लोकमणि जैन १०२
१३ साहित्य-परिचय और समालोचन १०४

अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंसे आवश्यक निवेदन

अनेकान्त' के प्रेमी पाठकोंसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि 'अनेकान्त' ने जैनसाहित्य और जैन-समाजकी क्या क्या सेवाएँ की हैं और कर रहा है। कार्यालयमें इस विषयके अनेक पत्र आरहे हैं। अभी भारतके प्रसिद्ध विद्वान् सर यदुनाथ सरकार कलकत्ताने अनेकान्तकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'ऐसे शोध-खोजके महत्वपूर्ण पत्रका विदेशोंमें प्रचार होना चाहिए और उसका अंग्रेजी संस्करण भी निकालना चाहिए, इससे हजारों पाठकोंके लिए जैनधर्म और जैनसाहित्यका ठीक ठीक परिचय मिल सकेगा।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि भारतीय राष्ट्रमें हिन्दी के जो कुछ महत्वपूर्ण-साहित्यिक पत्र निकल रहे हैं उनमें 'अनेकान्त' का अपना खास स्थान है। फिर भी यह खटकने योग्य है कि इसके पाठक, सर यदुनाथसरकारके शब्दोंमें 'हजारों' नहीं हो पाये हैं। आज तो वह समय है जब लोग एक दूसरेके नजदीक आना चाहते हैं—एक दूसरेके धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व और कलाको जाननेके लिये उत्सुक हैं। ऐसे समय भगवान महावीरके अपरिग्रह, अहिंसा और अनेकांत आदि गौरवपूर्ण लोकहितंकर सिद्धांतोंको प्रचारित करने तथा जैनसाहित्य, जैनइतिहास, जैनपुरातत्व और जैनकलाका लोकको परिचय करानेका बड़ा सुन्दर अवसर प्राप्त है। मतलब यह कि सांस्कृतिक उन्नतिके लिये आजका समय बड़ा अनुकूल और स्वर्णिल है। और अनेकान्त इन बातोंकी कितने हो अंशोंमें पूर्ति करता है।

अतः अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंसे अनुरोध है कि वे इसके बहुसंख्यामें ग्राहक बनावें। जैनेतर विद्वानों, लायब्रेरियों, पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों, म्यूजियमों और मन्दिर-उपाश्रयोंमें इस पत्रको अपनी ओरसे अथवा दूसरोंसे प्रेरणा करके भिजवावें। अनेकान्तका मूल्य सिर्फ ४) है। पर चार स्थानोंको फ्री भिजवाने वालोंसे मात्र १४) और आठ स्थानोंको फ्री भिजवाने वालोंसे २८) ही लिये जाते हैं। इससे अधिकको फ्री भिजवाने वालोंसे प्रतिव्यक्ति मूल्य ३) लिया जाता है। यह सब सहूलियत सिर्फ प्रचारकी दृष्टिसे की गई है।

खेद है कि अबकी बार कुछ श्रीमान ग्राहकोंने वीपियाँ वापिस की हैं। इसका कारण शायद यही मालूम होता है कि वर्ष ८ की १ ली किरण लगभग ४ माह बाद प्रकट होसकी है पर वापिसीमें यह कारण नहीं होना चाहिये, क्योंकि इस किरणके जनवरीमें निकालनेकी सूचना 'अनेकान्त' सम्पादक पहले ही कर चुके थे। और फिर भी इसमें ग्राहकोंको कोई नुकसान नहीं है क्योंकि उन्हें पूरी किरणें दी जावेंगी और ८ वें वर्ष का प्रारम्भ भी इसी जनवरी माससे किया गया है। अतः यदि उन श्रीमान ग्राहकोंने वी० पी० भूलसे वापिस की हों या मुनीम आदि द्वारा की गई हों तो वे पत्रकी उपयोगिता और महत्वको समझकर पुनः मंगालें। पत्र कितना उपयोगी और महत्वका है यह; दूर न जाकर इसी आठवें वर्षकी पहली किरणसे ही, जिसे उन्होंने वापिस कर दिया है, मालूम हो जाता है। हम अन्य लेखोंका, जो सब ही खोजपूर्ण और महत्वके हैं, यहाँ उल्लेख नहीं करते। केवल प्रोफेसर ज्वालाप्रसाद सिंहल एम० ए०, एल-एल० बी० के 'वानर-महाद्वीप' शीर्षक खोजपूर्ण लेख और उसपर सम्पादक द्वारा लिखे गये महत्वपूर्ण नोटका जिक्र करते हैं जो जैन पुराणोंमें वर्णित विषयोंकी प्रामाणिकता और उनकी सचाईकी कितनी ही घोषणा करते हैं और इसलिये ऐसे लेखोंका मूल्य कुछ भी नहीं आंका जा सकता। इसी प्रकारका 'रावणके पूर्वकी ४३ वर्षकी जंत्री' वाला लेख है।

यहांपर पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि कितने ही अनेकान्त प्रेमी सज्जनोंने अपनी ओरसे विद्वानों, छात्रों और संस्थाओंको अनेकान्त अर्द्ध कीमतमें भिजवानेकी स्वीकृति प्रदान की है, इसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। अतः जिन विद्वानों, छात्रों और संस्थाओंको अनेकान्त अर्द्ध मूल्यमें मंगाना हो वे शीघ्र ही २) मनीआर्डरसे भेजकर उसे मंगालें। अन्यथा बादको मंगानेपर भेजनेमें लाचारी होगी।

—दरबारीलाल जैन, कोठिया

* ॐ अर्हम् *

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ८	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	फर्वरी
किरण २	फाल्गुन, वीरनिर्वाण संवत् २४७२, विक्रम संवत् २००२	१९४६

भगवत्-शरणमें कारण

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्! पादद्वयं ते प्रजाः
हेतुस्तत्र विचित्र - दुःख - निचयः संसार-घोरार्णवः।
अत्यन्त-स्फुरदुग्र-रश्मि-निकर-व्याकीर्ण-भूमण्डलो
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपाद - सलिल - च्छायाऽनुरागं रविः ॥ १ ॥

—शान्तिभक्तौ, श्रीपूज्यपादः

'हे भगवन्!—श्रीशान्तिजिनेन्द्र!—आपके प्रजाजन—उपासकगण—स्नेहसे—विशुद्ध प्रेमके वश—आपके चरण-शरणमें प्राप्त नहीं होते हैं, बल्कि उस शरणागतिमें दूसरा ही (प्रधान) कारण है, और वह है विचित्र प्रकारके दुःख-समूहसे परिपूर्ण घोर संसार-समुद्र- जिसमें उन्हें रहना पड़ रहा है और जिसकी घोर यातनाओं एवं कष्ट-परम्पराको सहते सहते वे बहुत ही ऊब गये तथा बेचैन हो उठे हैं, अब उनसे और अधिक वे दुःख-कष्ट सहे नहीं जाते, वे उनसे भयभीत हैं और इस लिये उन सब संसार-क्लेशोंसे छुटकारा पानेके हेतु ही आपकी शरणमें आ रहे हैं। सो ठीक ही है, अपनी अत्यन्त स्फुरायमान उग्र किरणोंके समूहसे भूमण्डलको व्याप्त और संतप्त करने वाला ज्येष्ठमासका सूर्य चन्द्रकिरणों (चांदनी), जल और छायाके प्रति संतप्त प्राणियोंका अनुराग कराता ही है।—अर्थात् जिस प्रकार प्रचण्ड-सूर्य-घामके आतापसे संतप्त हुए प्राणी उस आतापसे बचने तथा प्रविष्ट हुए आतापको मिटानेके लिये जल, छाया और चन्द्रकिरणोंका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार घोर संसार-समुद्रके असह्य

दुःखोंमे उत्पीडित विवेकीजन उन दुःखोंसे बचने तथा अपनेको शान्तिलाभ करानेके लिये आपकी शरणमें प्राप्त होते हैं; क्योंकि आप स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें—"स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्" इस वाक्यके अनुसार अशान्तिके कारणभूत अज्ञान, राग, द्वेष, मोह और काम-क्रोधादि सकल विकार-भावोंको दूर करके अपने आत्मामें शान्तिकी पूर्णप्रतिष्ठा किये हुए हैं और इसीसे शरणागत भव्यजनोंके लिये शान्तिके विधाता हैं।

हृदय है बना हुआ फुटबाल !

विविध विचारोंकी ठोकर खा, होता है बे-हाल !
कभी लुढ़कता इधर-उधर तो, लेता कभी उछाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १

जाति-भेदके गड्ढेमें पड़, भूल गया सब चाल !
मानवताकी सुन पुकार भी, कर देता है टाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! २

सांसारीक-प्रपञ्च-जालमें फँसा हुआ हर हाल !
नहीं निकलनेकी सुधि करता, ऐसा हुआ निढाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ३

कभी विषय-सम्पर्क सोचकर, होता है खुशहाल !
कभी प्राप्त सुन्दर विषयोंको भी लखता निज-काल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ४

प्रेम-मग्न सञ्चित द्रव्योंकी करता कभी सँभाल !
उदासीन हो कभी समझता उनको जान-बवाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ५

कभी धनिक बननेकी इच्छा, कभी रुचिर-कंगाल !
ध्यान-मग्न हो गिरि-गह्वरमें बसने का बस ख्याल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ६

देश-सेवकोंकी गाथा सुन, लख वीरोंकी चाल !
उन ही जैसा हो रहनेको, उमड़त है तत्काल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ७

कभी सोचता—'सबसे पहले अपने दोष निकाल !
तभी बनेगी सच्ची सेवा, होगा देश निहाल' !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ८

कभी आपसे बातें करता, फँस उत्प्रेक्षा-जाल !
कभी हवाई क़िले बनाता, शेख़चिलीकी ढाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ९

कभी खूब डरता-घबराता, आता लख निज-काल !
काम अधूरे लखकर अपने, पड़ता चिन्ता-जाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १०

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योगकी चिन्ता उधर कराल !
फ़िकर फ़िकरमें मुरझाया तन, सुकड़ गई सब खाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! ११

पर-चिन्तामें पड़कर, अपना भूल गया सब हाल !
मकड़ी जाला-सा रच-रचकर, फँसा जगत-जञ्जाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १२

अपनी भूल-मोहपरिणतिसे सहता दुख बिकराल !
राग-द्वेषके वशीभूत हो, होता है पामाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १३

हो करके 'युगवीर' भटकता फिरता क्यों बेहाल !
जीवन शेष रहा है कितना ? अपनी सुरत सँभाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १४

बहुत किया अन्वेषण परका, लिखे अनेकों हाल !
अब निजरूप सँभाल खोजकर, छोड़ सकल जंजाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १५

विपुलाचल चल वीर-ज्योति लख, शांति-प्रद सुविशाल !
अपनी ज्योति जगा ले, उसके चरणोंमें रख भाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १६

यों निज-आत्म-विकास सिद्ध कर, करले प्राप्त कमाल !
भ्रम-बाधा-चिन्तासे हटकर, होजा चित्त ! निहाल !!
हृदय है बना हुआ फुटबाल ! १७

वीरसेवामन्दिर, ता० ३-२-१९४६

'युगवीर'

खजुराहाके मन्दिरोंमें

(रचयिता श्री इकबाल बहादुर श्रीवास्तव)

[खजुराहा बुन्देलखण्ड प्रान्तकी छत्रपुर रियासतमें राजनगर तहसीलका एक गांव है, जो किसी समय राजवैभवको लिये हुए राजधानी था, जन-धनसे परिपूर्ण समृद्धिशाली नगर था और जैनियोंका अतिशय क्षेत्र रहा है। इस स्थानपर जैनियोंके प्रधान कलापूर्ण मन्दिरोंके अलावा, जिनकी संख्या २५ से कम नहीं, बौद्धों वैष्णवों और शैवोंके भी कुछ सुंदर मन्दिर हैं। परन्तु सभी मन्दिर, दर्शनीय होते हुए भी, वर्तमानमें दुर्दशा-ग्रस्त हैं और अपने अभ्युदयकी कहानीको दर्शकोंपर रो रो कर प्रकट कर रहे हैं! कोई भी सहृदय दर्शक ऐसा नहीं हो सकता जिन्हें इन मन्दिरोंकी वर्तमान दशाको देखकर रोना न आजाय। आजसे कोई ११ वर्ष पहले, १७ अक्तूबर सन् १९२६ को, मैं इन मन्दिरोंके दर्शनोंको गया था। उस समय इनकी अंग-भंगादिको लिये हुए अव्यवस्थापूर्ण अनाथदशाको देखकर और इनके अतीत गौरवका स्मरण कर मेरे हृदयमें हर्ष और विषादके कितने ही भावोंका उदय हुआ था। आज उन भावोंको कवि इकबाल बहादुरजी श्रीवास्तवकी इस कवितामें मूर्तिमान देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और यह जान पड़ा कि जो कोई भी भावुक व्यक्ति इन मन्दिरोंको देखता है उसके हृदयमें वैसे भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते। श्रीवास्तवजीने इन मन्दिरोंकी दशाका अच्छा भावपूर्ण चित्र खींचा है, और इसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। उनकी यह सुन्दर कविता हालके 'जैनसन्देश' (अंक ३५) में प्रकाशित हुई है। वहींसे इसे 'अनेकान्त' पाठकोंके लिये उद्धृत किया जाता है।

—सम्पादक

(१)
ओ अनुपम देवालय-समूह !
कुछ अपनी गाथा गाओ तो ?
अपने जीवनके विविध रूप-
की झांकी तनिक दिखाओ तो ?

(२)
युग बीत गए उन्मन तुमको,
बोलो-बोलो, निर्जन-वासी !
किस विरह-व्यथाने बना दिया—
है आज तुम्हें यह संन्यासी ?

(३)
कबसे इस ध्यानावस्थामें,
चुपचाप खड़े हो मौन गहे ?
किस इष्ट-सिद्धिके लिये कहो,
यह दुसह ताप हो ताप रहे ?

(४)
किस शान्ति-प्राप्तिके साधनने
जर्जर शरीर यह बना दिया ?
वह मंत्र-मुग्ध करने वाला,
हा, गर्वित यौवन लूट लिया !

(५)
जिस दिव्य ज्योतिसे आलोकित,
दिक्विदिक हुआ करते प्रतिक्षण !
क्यों मन्द पड़ गई वह आभा,
छाया तम चारों ओर गहन ?

(६)
निशदिन ही जहाँ लगा रहता,
जगकी विभूतियोंका ताँता,
उस आँगनमें किसलिये आज,
करुणाका सागर लहराता ?

(७)
अभिशाप कौन किसका आकर,
हे तेजस्वी, तव शीश चढ़ा ?
किस महा पापका घोर दण्ड
यह आज तुम्हें भोगना पड़ा ?

(८)
किन किन आशाओंको लेकर,
किन-किन अरमानोंको लेकर ?
आये थे तुम अवनी-तल पर,
किन-किन वरदानोंको लेकर ?

(९)
किस शुभ मुहूर्तमें दिव्य तेज,
इस भू-प्रदेशमें आया था ?
यह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का-
अनुपम स्वरूप कब पाया था ?

(१०)
कैसे थे वे सोनेके दिन,
कैसी चाँदी की रातें थीं ?
सुख स्वप्न होगईं जो तुमको,
वे किस वैभवकी बातें थीं ?

प्रति अंग-अंगकी दिव्य-ज्योति, (११)
जब हृदयोंका तम खोती थी !
अमिताभासे जगमग-जगमग,
जब अन्तरात्मा होती थी !

(१२) कितनी श्रद्धाएँ बढ़ती थीं,
लख चरणोंका उज्ज्वल प्रताप ?
कितने हृदयोंमें मान लिये
नत हो जाते थे भाल आप ?

उस मधु-जीवनकी मधुर कथा, (१३)
कह आज सुधा-रस बरसाओ ?
फिर आज उसी यौवन-लयमें,
वह मधुर रागनी दुहराओ ?

(१४) हे मौन-व्रती, बोलो, तुमको
किसने है साँचेमें ढाला ?
किसने सम्मोहन रूप दिया,
किसने पहनाई जयमाला ?

यह किन हाथोंका कौशल है, (१५)
यह किन अस्त्रोंकी माया है ?
यह यत्न कौन-सा है जिसने,
प्रस्तरको मोम बनाया है ?

(१६) वे कौन कलाविद् थे महान,
जो रचकर नैसर्गिक रचना,
स्वर्गीय -- कला -- कौतूहलसे
कर गये अमर जीवन अपना ?

अब तक इन भग्न-शिलाओंमें, (१७)
है निहित भावनाएँ जिनकी।
प्रति मूर्ति-मूर्ति से बोल रहीं
वे पुन्य आत्माएँ जिनकी।

(१८) प्रस्तर की ये प्रतिमाएँ हैं,
या कलाविदों की तपोलोक।
या आर्य संस्कृति का स्वरूप,
स्वर्गीय — भावनाका प्रतीक ?

युग-युगी सभ्यता का सुपाठ (१९)
शत-मुखसे जगको पढ़ा रहीं।
प्राचीन शिल्पके विधि-विधान-
की गौरव-गाथा सुना रहीं।

(२०) गत, दिवसोंमें क्या-क्या देखा,
उनका भी गौरव गान करो ?
झंकृत हो उठे हृदय-तंत्री
वह भूला स्वर सन्धान करो ?

क्या यही धरणि थी, वही व्योम, (२१)
क्या तब भी था संसार यही ?
क्या थे रवि-शशि-नक्षत्र यही,
था ऋतुओंका व्यौहार यही ?

(२२) क्या ऐसे ही थे नर-नारी,
थीं यही धारणाएँ उनकी ?
क्या इसी तरह की थीं तब भी,
प्रतिकार - भावनाएँ उनकी ?

क्या इसी तरहका आडम्बर, (२३)
धोखा दुराव था आपसमें ?
क्या इसी तरहकी स्वार्थ-सिद्धि
ईर्षा छाई थी घर-घरमें ?

(२४) यह छूत-छात, यह वर्ग-दोष,
यह वर्ण-भेद, यह तिरस्कार !
दुर्दम्य घृणा, कल्मष, पशुता,
क्या तब भी था लिप्सा-प्रसार ?

बोलो-बोलो, कुछ तो बोलो, (२५)
हे युग-युगके प्रहरी महान् ?
इस महाघोर परिवर्तनका
क्या कारण है, हे भाग्यवान ?

(२६) वे स्वर्ण-युगी संगी-साथी,
क्यों तुमसे नाता तोड़ गये ?
इस निर्जन सूनेपनमें क्यों
वे तुम्हें बिलखता छोड़ गये ?

धँस गये कहाँ चन्देलोंके (२७)
वे सिंह-द्वार, वे राज-भवन ?
विगलित होगये कहाँ किसमें
बहु-रत्न जटित वे सिंहासन ?

(२८) वह यशोवर्म, वे धंग, गंड,
वैभवशाली सोगये कहाँ ?
वे दो खजूरके स्वर्णवृक्ष
जीवन-सहचर खोगये कहाँ ?

जिन वृक्षोंने ही प्रांगनको (२६)
'खर्जूरवाह'-सा नाम दिया।
किस काल-प्रभंजनने तुम से
उन बाल-सखों को छीन लिया ?

(३०) क्या उस वैभवके साथ-साथ
हो गई प्रतिष्ठा भी विलीन ?
या इस युगका मानव-समाज
होगया आज है हृदय-हीन ?

शत-शत शङ्खों का तुमुल घोष (३१)
अब नहीं सुनाई पड़ता क्यों ?
शत-शत पुजारियों का समूह
अब नहीं दिखाई पड़ता क्यों ?

(३२) सदियाँ हैं बीत गईं तुमको
युग की गतिमें ढहते बहते।
इन निर्मम दुनिया वालों की
क्षण-क्षण भीषण कटुता सहते !

(३३) तुमको सब एक बराबर है
तम रहे कहीं, आलोक कहीं !
सुख-दुख का कैसा अनुभव है,
होता कुछ हर्ष-विषाद नहीं ?

ये बहते अश्रु दर्शकों के (३४)
अब नहीं रुला सकते तुमको।
पथिकों के ये परिहास-हास
अब नहीं हँसा सकते तुमको !

(३५) हे देवालय ! उत्तुङ्गकाय
हे गर्वोन्नत-गिरि भूतल के !
हे आर्य शिल्प स्वर्णिम स्व-कीर्ति !
हे दर्पण भारत-कौशलके !

तुम जीर्ण-शीर्ण ही बने रहो (३६)
इतना ही गौरव क्या कम है ?
तुम उस अतीत की संस्मृति हो
जो अनुपम है, सर्वोत्तम है।

दिल्ली और दिल्ली की राजावली

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

दिल्लीका नामकरणादिविषयक इतिहास-

दिल्लीकी गणना भारतवर्षके प्रधान शहरोंमें है, वह वर्तमानमें बृटिश साम्राज्यकी राजधानी है और पिछले समयमें भी मुगल साम्राज्य तथा उससे पूर्व तोमर या तंवर वंशियोंके शासनकालमें राजधानी रही है। दिल्लीके नामकरण और उसके बसानेके सम्बन्धमें अभीतक मतभेद पाया जाता है। कोई कहता है कि लोहेकी कीलीके ढीली होजानेके कारण उसका नाम 'ढीली' पड़ा है। दूसरा (फरिश्ता) लिखता है कि यहांकी मिट्टी नरम है उसमें कठिनाईसे मेख (कील) दृढ़ गड़ सकती है, इसीसे इसका नाम 'ढीली' रक्खा गया है। कुछ भी हो, वर्तमान दिल्लीका प्राचीन नाम 'इन्द्रप्रस्थ' था और बादको ढिल्ली, ढिल्लिका, योगिनीपुर, जोइणिपुर, दिल्ली तथा देहली आदि नामोंसे उल्लेखित किया गया है। जैन साहित्यमें ढिल्ली, जोइणिपुर योगिनीपुर और दिल्ली नामोंका खूब उपयोग हुआ है, परन्तु अपभ्रंशभाषाके जैन साहित्यमें केवल ढिल्ली और जोइणिपुर इन दो नामोंका ही प्रयोग हुआ मिलता है।

दिल्लीको कब और किसने बसाया, यह एक प्रश्न है। देहली म्यूजियममें सं० १३८४ का एक शिलालेख है उसके निम्न वाक्यमें[१] तोमर या तंवर वंशियोंद्वारा दिल्लीके निर्माण करनेका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है:—

देशोऽस्ति हरियानाख्यो पृथिव्यां स्वर्गसंनिभः।
ढिल्लिकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता ॥

तोमर या तंवर शब्द एक प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशका

---

१ देखो, राजस्थान इतिहास भाग २ पृ० ६८४ टि०, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रद्वारा अनुवादित।

Regd. No. A-731

सूचक है जो तोमरवंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ है।[1] दिल्ली को तोमरवंश द्वारा बसाये जानेमें कोई मतभेद नहीं है; परन्तु इस वंशके किस राजाने और कब बसाया, इसपर ऐतिहासिकोंका एक मत नहीं है। अबुलफजल सं० ४२९ में और फरिश्ता सन् ६२० में दिल्लीका बसाना मानता है[2]। पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार सन् १०५० में अनंगपाल नामके एक तोमर सरदार द्वारा दिल्लीके स्थापित होनेका उल्लेख करते हैं[3]। और प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता ओझा जी भी द्वितीय अनंगपालको उसका बसानेवाला मानते हैं[4]।

कनिंघम साहब सन् ७३६में अनंगपाल (प्रथम) द्वारा दिल्लीके बसाये जानेका उल्लेख करते हैं और अनेक हस्तलिखित पुस्तकों एवं ख्यातोंके आधारसे दिल्लीके तोमरवंश की नामावली देकर द्वितीय अनंगपालका उल्लेख १६ वें नम्बर पर करते हैं[5]।

पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी भी तोमरवंशके अनंगपाल (प्रथम) को दिल्लीका मूलसंस्थापक प्रकट करते हैं जिनका राज्याभिषेक सन् ७३६ में हुआ था, उसने सबसे प्रथम दिल्लीमें राज किया और उसके बाद उसके वंशज कन्नौजमें चले गये वहाँसे उन्हें चन्द्रदेव राठौड़ने भगा दिया था। इसके बाद दूसरा अनंगपाल दिल्लीमें आया और वहां उसने अपनी राजधानी बनाई[6]। पुनः नूतन शहर बसाया और उसकी सुरक्षाके लिये कोट भी बनवाया था। कुतुब मीनारके आस पास प्राचीन इमारतोंके जो अवशेष एवं चिन्ह देखे जाते हैं वे सब अनंगपाल द्वितीयकी राजधानीके चिन्ह माने जाते हैं। इसके राज्यसमयका एक शिलालेख भी मिला है जिसमें लिखा है कि—"संवत् ११०९ अनंगपाल वही।" साथ ही उक्त कुतुब मीनारके पास अनंगपाल के मन्दिरके एक स्तम्भपर उसका नाम भी उत्कीर्ण हुआ मिला है[7]।

इससे मालूम होता है कि अनंगपाल द्वितीयने दिल्ली का पुनरुद्धार किया था और उसे सुन्दर महलों मकानातों तथा धनधान्यादिसे समृद्ध भी बनाया था। संभवतः इसी कारण उसके सम्बन्धमें दिल्लीके बसाए जानेकी कल्पनाका प्रचार हुआ जान पड़ता है। अनंगपाल द्वितीय को दिल्लीका संस्थापक या बसानेवाला माननेपर मिसराली मसऊदीके इस कथनको गलत ठहराना पड़ेगा। कि सालार मसऊदने सन् १०२७ से सन् १०३० के मध्यमें दिल्ली पर चढ़ाई की थी, उस समय वहांका राजा महीपाल था, जिसके पास उस समय भारी सैन्य थी और बहुतसे हाथी भी थे और जिसका पुत्र गोपाल लड़ाईमें मारा गया था[8]।

द्वितीय अनंगपालके राज्याभिषेकका समय कनिंघम साहबने सन् १०५१ (वि० सं० ११०८) दिया है और

१ यद्यपि इस वंशके नामकरण और विकास आदिका कोई प्रामाणिक इति वृत्त उपलब्ध नहीं है। सुना जाता है कि दिल्लीके दक्षिण पश्चिममें 'तुआरवती या तोमरवती' नामका एक जिला है, उसमें आज भी एक तोमरवंशी सरदार रहता है। बहुत संभव है कि इस वंशका निकास उक्त तुआरवती या तोमरावतीसे हुआ हो; क्योंकि प्रायः अनेक गोत्र, जाति एवं वंशोंके नामोंका निर्माण गांव और नगरोंके नामोंसे हुआ है। और यह हो सकता है कि उक्त नगरोंके नामपर ही तोमरवंशकी कल्पना हुई हो। आइनेअकबरीमें 'तुयार' नामसे ही इसका उल्लेख है। और अपभ्रंशभाषाके कवि रइधूने अपने ग्रन्थोंमें तुंवर या तंवर शब्दसे ही इस वंशका सूचन किया है। इस वंशके वंशधर आज भी राजपूताने और आरा प्रान्तमें पाए जाते हैं। राजपूतानेमें यह 'तुमार' नामसे ही प्रसिद्ध है। इस वंशमें अनेक वीर क्षत्रिय राजा हुए हैं जिन्होंने इस भारत वसुन्धरापर या इसके कुछ प्रदेशोंपर शासन किया है। दिल्लीके बसानेका श्रेय भी इसी वंशको प्राप्त है। इस वंश के कई वीर राजाओंने दोसौ या ढाईसौ वर्षके करीब ग्वालियरपर शासन किया है और उसे धन धान्यादिसे खूब समृद्ध किया था। इसका विशेष परिचय नागेन्द्रनाथ वसुकृत विश्वकोष भाग ६ में देखना चाहिये।

२ देखो, टाडराजस्थान हिन्दी पृ० २२७ ओझा. सं०

३ देखो इतिहास प्रवेश प्रथम भाग पृ० २२०।

४ टाडराजस्थान हिन्दी पृ० २३०।

५ दी आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया By जनरल कनिंघम साहब पृ० १४६।

६ देखो, दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ पृ० ६।

७ देखो, टाडराजस्थान पृ० २२७ तथा महामना ओझाजी द्वारा सम्पादित राजपूतानेकाइतिहास प्रथमजिल्दपृ०२३४।

८ टाडराजस्थान पृ० २३०।

राज्यकाल २१ वर्ष छह महीना, अठारह दिन बतलाया है। अतएव इसका राज्यसमय सन् १०५१ (वि० सं० ११०८) से सन् १०८१ (वि० सं० ११३८) के करीब पाया जाता है[1]। यदि इसका यह राज्यसमय ठीक है तो उसके पश्चात् दिल्लीपर अन्य किसने शासन किया यह कुछ मालूम नहीं होता।

हां, बुध श्रीधरके अपभ्रंशभाषाके पार्श्वनाथ-चरितसे जिसका रचनाकाल वि० सं० ११८९ मंगशिर कृष्णा अष्टमी रविवार है[2]। उसमें दिल्ली और उसके राजा अनंगपालका उल्लेख किया है और उसे तलवार द्वारा शत्रु-कपालोंको तोड़ने वाला बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे स्पष्ट हैं:--

हरियाणए देसे असंखगाम,
गामिय जणिय अणवरय काम।
घत्ता—परचक्क विहट्टणु सिरि संघट्टणु जो सुर वइणा परिगणिउं।
रिउ-रुहिरावट्टणु विउलु पवट्टणु ढिल्ली णामेण जि भणिउं॥

× × × ×

जहिं असिवरतोडिय रिउ-कवालु,
णरणाहु पसिद्ध अणंगवालु।

इससे मालूम होता है कि उस समय वि०सं० ११८९ में अनंगपालका राज्य था। यह अनंगपाल उक्त दोनों अनंगपालोंसे जिनका समय सन् ७३६ (वि० सं० ७९३) और सन् १०५१ (वि० सं० ११०८) दिया हुआ है? भिन्न ही प्रतीत होता है; क्योंकि उनके समयके साथ इसका कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता। ग्रन्थमें इसके वंशका कोई परिचय या उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी यह मालूम होता है कि इसका वंश भी संभवतः तोमर ही होगा और यह तृतीय अनंगपाल तोमर वंशका अन्तिम राजा जान पड़ता है। पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी भी सन् १०५२ वाले अनंगपाल (द्वितीय) से सौ वर्ष बाद तृतीय अनंगपालको तुम्बर घरानेका अन्तिम राजा होना स्वीकार करते हैं। साथ ही उसके शासनकालमें अजमेरके राजा वीसलदेव चौहान द्वारा दिल्लीके जीते जानेका भी उल्लेख करते हैं[3]।

तोमरवंशियोंसे दिल्ली चौहानवंशी राजा आना के पुत्र विग्रहराज (वीसलदेव चतुर्थ) ने वि० सं० १२०७ के लगभग प्राप्त की थी और उसी समयसे उसे अजमेरका सूबा बनाया गया था[4]।

देहलीकी प्रसिद्ध फीरोजशाहकी लाटपर अशोककी धर्मआज्ञाओंके नीचे शिवालिक स्तम्भपर उत्कीर्ण हुए सन् ११६३ (वि० सं० १२२०) के वैशाख शुक्ला १५ के शिला वाक्यमें यह लिखा है कि चौहानवंशी राजा वीसलदेव (चतुर्थ) ने तीर्थयात्राके प्रसंगको लेकर विन्ध्याचलसे हिमालयतकके प्रदेशोंको जीतकर कर वसूल किया और आर्यावर्तसे म्लेच्छोंको निकालकर पुनः आर्यभूमि बनाया[5]। और वि० सं० १२२६ में उत्कीर्ण हुए बिजोलियाके शिलालेखमें यहांतक लिखा है कि दिल्ली लेनेसे श्रान्त (थके हुए) और आशिका (हांसी) के लाभसे लाभान्वित हुए विग्रहराजने अपने यशको प्रतोली और बलभीमें विश्रान्ति दी— वहां उसे स्थिर किया[6]।

१ दी आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया By जनरल कनिंघम।

२ विक्कमणरिंद सुपसिद्ध कालि, ढिल्ली पट्टण धणकणविसालि स-णवासी एयारह सएहिं, परिवाडिए वरिस परिगएहिं। कसणट्ठमीहिं आगहणमासि, रविवार समाणउ सिसिरभासि पार्श्वनाथचरित, आमेर प्रति।

३ देखो, दिल्ली या इन्द्रप्रस्थ पृ० ६।

४ नागरीप्रचारिणीपत्रिका भाग १पृ० ४०५ टिप्पण ४४।

५ आविन्ध्यादा हिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगाद्ग्रीवेषु प्रहर्षान्नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रपन्नः।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छ विच्छेदनाभि-
र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः॥
ब्रूते सम्प्रति चाहुवाणतिलकः शाकंभरी भूपतिः ?
श्रीमान विग्रहराज एष विजयी सन्तान जानात्मनः।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः,
शेषं स्वीकरणाय मास्तु भवता मुद्योगशून्यं मनः॥
—इंडियन एण्टी क्वेरी जिल्द १९ पृ० २१८

६ प्रतोल्यां च बलभ्यां च येन विश्रामितं यशः।
ढिल्लिका ग्रहणश्रान्तमाशिका लाभलंभितः (तं)॥ २२॥
—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १ पृ० ४०५ टि० ४४

ऊपरके उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट है कि संवत् १२०७ के आस-पास दिल्लीपर चौहानोंका अधिकार हुआ; परन्तु इस बातका अभीतक कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिला जिसमें यह बतलाया गया हो कि उक्त पार्श्वनाथ चरितमें उल्लिखित अनंगपालसे ही वीसलदेव या विग्रहराजने दिल्ली हस्तगत की थी। यद्यपि पं० लक्ष्मीधर वाजपेयीने तृतीय अनंगपालके शासनकालमें दिल्लीका वीसलदेव द्वारा विजित करनेका उल्लेख तो किया है; परन्तु उसकी पुष्टिमें कोई प्रामाणिक उल्लेख उपस्थित नहीं किया।

देहलीके ऐतिहासिक दि० जैन मन्दिर

दिल्ली या देहलीमें जहां मुगलकालीन इमारतें दर्शनीय हैं और ऐतिहासिकताके साथ साथ मुस्लिम कालीन संस्कृति एवं कलाका प्रदर्शन करती हैं वहां देहलीके दिगम्बर जैनियोंके मन्दिर भी अपनी सानी नहीं रखते। उनमें धर्मपुराका मन्दिर, जिसे 'नयामन्दिर' के नामसे पुकारते हैं। इसकी सुवर्णखचित चित्रकारी तो दर्शकके चित्तको मोह लेती है। यद्यपि यह मन्दिर विशेष प्राचीन नहीं है इससे भी पुराने वहाँ दूसरे मन्दिर मौजूद हैं। उदाहरणस्वरूप लालमन्दिरको ही ले लीजिये, जिसे उर्दू मन्दिरके नामसे पुकारा जाता है। यह जैन मन्दिर लाल किलेके पास है। कहा जाता है कि इस मन्दिरका निर्माण शाहजहांकी सेनाके जैन सैनिकोंके लिये किया गया था। यह मन्दिर जिस स्थानपर बना है वहाँपर पहले शाही छावनी थी और वहां एक जैनी सैनिकको छोलदारी लगी हुई थी, उसीमें उसने एक ओर एक मूर्ति अपने दर्शन करनेके लिये रक्खी हुई थी। यह मन्दिर उसी स्थानपर बना है। यद्यपि इस लालमन्दिरसे भी पूर्व देहलीमें जैन-मन्दिर थे और वहां अनंगपाल तृतीयके शासनकालमें वि० सं० ११८९से पूर्व वहांके प्रसिद्ध अग्रवाल कुलावतंश साहू नट्टलने एक चैत्यालय बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठाभी की थी[1]। ये सब मन्दिर बादशाही शासनकालमें नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गए, इसीसे इनका कोई पता नहीं चलता और इन्हीं नट्टलसाहूकी प्रेरणासे बुध श्रीधरने अपने उक्त पार्श्वनाथ चरितकी रचनाकी थी[2]।

प्रस्तुत नया मन्दिर वि० सं० १८५७ से १८६४ तक सात वर्षमें बनकर तय्यार हुआ था और सं० १८६४ की वैशाख शुक्ला तृतीयाको इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। उस समय इस मन्दिरकी लागत सात लाख रुपया थी। इस मन्दिरमें समोसरणाक वेदीमें जो कमल बना हुआ है वह अत्यन्त दर्शनीय है और उसकी लागत दस हजार रुपया बतलाई जाती है। इस मन्दिरके निर्माणकर्ता ला० हरसुखरायजी थे, जो बादशाहके खजाँची थे और जिन्हें बादशाहकी ओरसे 'राजा' का खिताब मिला हुआ था। यह धर्मात्मा पुरुष थे और उस समय देहलीके जैनियोंमें प्रमुख थे।

पं० लक्ष्मीधर वाजपेयीने[3] इस मन्दिरके सम्बन्धमें उसका परिचय देते हुए लिखा है कि—"इस मन्दिरमें बुद्धकी मूर्ति हाथीदांतके सिंहासनमें बैठाई गई है।" और इसमें उन्होंने उस समय दिल्लीमें बौद्धधर्मके प्रचलित होनेकी कल्पना की है जो सर्वथा निराधार और भ्रममूलक है; क्योंकि प्रथम तो इस मन्दिरमें हाथीदांतका कोई सिंहासन नहीं है। जैनियोंके मन्दिरोंमें हाथीदांतसे बनी हुई किसी भी चीजका उपयोग भी नहीं होता—वह एक एक प्रकारकी हड्डी समझी जाती है। दूसरे इसमें कोई बुद्ध-मूर्ति भी नहीं हैं, क्योंकि बुद्धमूर्ति सवस्त्र होती है जबकि दि० जैनियोंकी मूर्तियां नग्न होती हैं जो यथा जात मुद्राके समान वीतराग, सौम्य तथा शान्तिका मुजस्सिम पिंड और जीवनमुक्तरूप अर्हन्त अवस्थाका प्रतीक होती हैं। मालूम नहीं इस तरहकी ग़लत कल्पना उन्होंने कैसे करली है? साथ ही उनकी यह कल्पना तो और भी विचित्र जान पड़ती है कि देहलीमें उस समय (वि० सं० १८५७ से १८६४ में) बौद्धधर्म मौजूद था। इस बातको इतिहास का एक विद्यार्थी भी अच्छी तरहसे जानता है कि भारतमें

---

१ येनाराध्य विशुद्ध धीरमतिना देवाधिदेवं जिनं
सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः संतोषिता बान्धवाः।
जैनं चैत्यमकारि सुंदरतरं जैनीं प्रतिष्ठां तथा,
स श्रीमान् विदितः सदैव जयतात् पृथ्वीतले नट्टलः॥ १॥
—पार्श्वनाथचरित संधी ५

२ इस ग्रंथ और कर्तादिके सम्बन्धमें किसी स्वतंत्र लेख द्वारा प्रकाश डालनेका विचार है।

३ देखो, दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ पृ० ५५

कई शताब्दियोंसे बौद्ध धर्म नहीं था - उसका बहुत समय पहले ही भारतसे निष्कासन होचुका था। आशा है इसमें बाजपेयीजी अपनी गलत धारणा को दुरुस्त कर लेंगे और पुस्तकके द्वितीय एडीशनमें उसे निकालकर पुनः यथार्थरूपमें लिखनेकी कृपा करेंगे।

इस मन्दिरमें एक अच्छा शास्त्र भंडार भी है, जिसमें हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है। इसके प्रबन्धक ला० रतनलाल जी हैं जो प्रकृतितः भद्र हैं और अपना समय रोजाना शास्त्रोंकी सम्हाल एवं व्यवस्थामें लगाते हैं।

दूसरा पंचायती मन्दिर है जो मस्जिद खजूरके पास है और कुछ वर्ष पूर्व नये सिरेसे पुनः बना है। यह मंदिर पहले बहुत छोटे रूपमें था और भट्टारकीय मन्दिर कहलाता था यहां भट्टारक जी भी रहते थे। इस मन्दिरमें भी एक विशाल हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थोंका संग्रह है। इसके प्रबन्धक ला० बन्नूरामजी हैं जो बड़े ही सज्जन हैं और आगन्तुक विद्वानोंको ग्रंथ पठन-पाठनादिको देते रहते हैं।

प्राचीन गुटका और राजावली

इस पंचायती मन्दिरके शास्त्र भंडारको देखते हुए मेरी दृष्टि एक पुराने गुटकेपर पड़ी जिसका नं० ६६ है और जिसमें फुटकर विषयोंके साथ साथ 'ढीली स्थानकी राजावली' लिखा हुआ है। यह गुटका बहुत ही जीर्ण मालूम होता है परन्तु ग्रन्थोंकी मरम्मत कराते समय उसी साइजके किसी दूसरे खंडित गुटकेका अंश इसके साथ जोड़ दिया गया है जिससे सहसा उसकी अपूर्णताका प्रतिभास नहीं होता। इस गुटकेमें सं० ८३६ से सं० १५८२ तक होने वाले राजाओंके नाम दिये हुए हैं। और लिखा है कि—"सं० १५८३ वर्षे बैशाख सुदी ८ पातिसाहि बब्बरु मुगलु काबुल तहिं आया, राज्यं करोति इदानीं।" इससे स्पष्ट है कि यहांतक वंशावलि उक्त सं० १५८२ से पहले लिखी गई है। इसके अनन्तर बाबरके राज्यके ६ वर्ष दिये हैं और १५८८ से १६१२ तककी वंशावली दी गई है; किन्तु बादको किसी दूसरी कलमसे दो मुसलमान बादशाहों का राज्यकाल और पीछेसे लिख दिया गया है।

सं० ८३६ से सं० १२१६ तक तोमर या तंवर वंशके २० राजाओंके नाम दिये हैं। इसके बाद सं० १२४६ तक सात चौहान वंशी राजाओंके नाम अंकित हैं, जिनमें अन्तिम दो नामोंका कोई उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया। उसके बाद लिखा है कि—"सं० १२४६ वर्षे चैत्र सुदी १३ सुलतान शहाबुद्दीन (तुर्कवंश) गज्नी तहिं आयो १४ वरिस राज्य कियो।" इसके अनन्तर दिल्लीकी गद्दीपर बैठने वाले बादशाहोंके नाम तथा राज्य करनेका समय मय तिथिके उल्लेखित किया गया है। गुटकेमें दियेहुए प्रायः मुसलमान बादशाहोंके नाम और समय श्रीमत् गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा अजमेर द्वारा सम्पादित राजपूतानेके इतिहासकी प्रथम जिल्दके पृष्ठ ५३४-३६ पर प्रकाशित 'दिल्ली के सुलतान' नामके छठे परिशिष्टसे प्रायः मिलते जुलते हैं कहीं २ कुछ थोड़ा सा फर्क दृष्टिगोचर होता है। साथही उसके कुछ नाम प्रस्तुत गुटकेमें नहीं हैं, जिनका होना आवश्यक जान पड़ता है।

गुटकेकी इस राजावलीको यहां ज्योंकी त्यों नीचे दिया जाता है। परन्तु उसमें ब्रेकट वाला पाठ अपनी ओरसे रक्खा गया है, इसके सिवाय उसमें जहां कहीं कुछ विशेष कहने योग्य अथवा अनुकूल-प्रतिकूल जान पड़ा उसे नीचे फुटनोटमें दे दिया गया है।

अथ ढीली स्थानकी राजावली लिख(ख्य)ते।

तोमरवंशे संवत ८३६ आदिराजा जाजू १ बाजू २ राजू ३ सीहा ४ जवालु ५ ओढरू ६ जेहरू ७ वच्छराउ ८ पीपलु ९ रावलु विहणपालु १० रावलु तोल्हणपालु ११ रावलु गोपालु[1] १२ रावलु मल्लखणु[2] १३ रावलु जयपालु[3] १४ रावलु कम्वरू (कुंवर) पालु[4] १५ रावलु अनंगपालु[5]

१ कनिंघम साहिबकी आर्कियोलाजिकलसर्वे आफ इण्डिया नामक पुस्तककी जिल्द प्रथम पृष्ठ २४९ में ११-१२ वें नम्बर पर 'गोपाल' नाम पाया जाता है।

२ उक्त पुस्तकमें १३ वें नम्बर पर 'सल्लक्षणपाल' दिया है।

३ उक्त पुस्तक में १४ वें नं० पर 'जयपाल' नाम दिया है।

४ उक्त पुस्तक में १५ वें नंबर पर कुंवरपाल, यह नाम गुटके में कुछ अशुद्धरूपमें लिखा गया है।

५ उक्त पुस्तकमें १६ वें नम्बरपर अनंगपालका नाम दिया है और इसका राज्यकाल २९ वर्ष ६ महीना और १८ दिन बतलाया है। गुटकेमें भी यह नाम १६वें नम्बरपर है।

१६ रावलु तेजपाल[1] १७ रावलु मदनपालु १८ रावलु कृतपलु १९ रावलु लखणपालु २० राणा पृथ्वीपालु[2] २१ (ए)ती राजावली ॥छ॥

ततः संवत् १२१९ वर्षे तोमर राजानुपमतें चौहाण वंसि रावलु वीसल राजु लियो[3] १ अमरगंगेय[4] २ पृथ्वीराज[5] (पृथ्वीराज द्वितीय) ३ सोमेसरु[6] रावलु पीथरु[7] (पृथ्वीराज तृतीय) ५ रावलु बाहलु नागद्यो (नागदेवः) ७ रावलु पृथ्वीराज[8] ८ इतने चौहाण हुए।

संवत् १२४६ वर्षे चत्रवदि २ तेजपाल ढीली लई, पृथ्वीराजको सवकु वरवीसलपालकौपुत्र दिवाकर बांधलियो[9]

संवत् १२४६ वर्षे चैत्रसुदी २ सुलितान सहाबुद्दीन (शहाबुद्दीन तुर्कवंश) गजनीतहिं आयो। १४ बरसि (वर्ष) राजु कियो[10]।

संवत् १२६३ वर्षे सुलितानु कुतुबदीन ऐवक[11] गुलामवंश) राजुवर्ष ३। संवत १२६६वर्षे सुलितानु समसुदीन[12] (शमसुद्दीन अल्तमश) वर्ष २६ राज्यं कृत।

संवत् १२९२ वर्षे राजा पेरोशाहि (फिरोजशाह) राज्यं कृतं[13] मास ६ वर्ष ३। संवत १२९७ सुलितानु मोजुदीन (मुइजुद्दीन बहरामशाह) वर्ष ३ राज्यं कृतं[14]। संवत १२९९ वर्षे सुलितानु अलावदी (अलाउद्दीन मसूदशाह) राज्यं कृत[15] वरष (र्ष) २।

संवत १३०१ सुलितानु नसीरदी (नासिरुद्दीन महमूदशाह) वर्ष २१ राज्यं कृतं[16]। सं० १३२३ चैत्रवदि २

१ यह नाम ग्वालियरकी ख्यातमें पाया जाता है।

२ २०वें नम्बर पर 'पृथ्वीराज' नाम दिया है और उसका राज्यकाल २२ वर्ष २ महीने १६ दिन बतलाया है, देखो नागरी प्र० पत्रिका भाग १ पृ० ४०५।

३ श्रीमान ओझाजीने तोमर वंशियोंसे चौहानों द्वारा दिल्ली लेनेका समय वि० सं० १२०७ के लगभग बतलाया है।

४ यह अर्णोराजका पुत्र और जगदेवका छोटा भाई था। वीर तथा पराक्रमी था और अपने ज्येष्ठ भ्रातासे राज्य छीनकर उसका अधिकारी बना था।

—देखो, भारतके प्रा० राज० भा० १ पृ० २४५

५ यह विग्रहराज (वीसलदेव चतुर्थ) का पुत्र था और अपने पिताके बाद राज्यका उत्तराधिकारी था। प्रबन्धकोषके अन्तकी वंशावलीमें इस वीसलदेवके बाद अमरगंगेयका अधिकारी होना लिखा है।

६ प्रबंधकोशकी वंशावलीमें अमरगंगेयके बाद पेथड़देवको अधिकारी होना लिखा है। यह जगदेवका पुत्र और वीसलदेवका भतीजा था। इसने अमरगंगेयसे राज्य छीना था और यह पृथ्वीराज द्वितीय कहलाता है।

७ यह अर्णोराजका तृतीय पुत्र था और पृथ्वीराज द्वितीयका चाचा। और पृथ्वीराज द्वितीयके बाद उसके मंत्रियों द्वारा राज्यका उत्तराधिकारी घोषित किया गया था।

८ इन तीन राजाओंका अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता।

९ संवत् १२४६ में किस तेजपालने दिल्ली ली और दिवाकर ने उसे कब बांधा, यह कुछ मालूम नहीं हो सका।

१० महाम० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझाकृत राजपूतानेका इतिहास प्रथमजिल्दके परिशिष्ट नं० ६ में दिल्लीके सुलतानोंकी वंशावलीमें शहाबुद्दीनगौरीका राज्यकाल वि० सं० १२४६ से १२६२ तक १४ वर्ष बतलाया है। अतः दोनोंका समय परस्पर मिल जाता है। आगेके नोट इसी वंशावलीके आधारसे दिये गए हैं।

११ ओझाजीकी उक्त वंशावलीमें कुतुबुद्दीन ऐबकके बाद वि० सं० १२६३ से १२६७ तक आरामशाहके राज्य करनेका उल्लेख किया गया है। यह उल्लेख गुटकेकी राजावली में नहीं है।

१२ वंशावलीमें वि० सं० १२४७ से १२९३ तक शमसुद्दीन अल्तमशके राज्यका उल्लेख किया गया है।

१३ उपर्युक्त वंशावलीमें रुक्नुद्दीन फीरोजशाहका वि० सं० १२९३ वें में राज्य करना बतलाया है और उसी सं० १२९३ में रजियाबेगमके राज्य करनेका उल्लेख भी किया गया है। परन्तु गुटकेमें पेरोज या फीरोजशाहका ही ३ वर्ष ६ महीना राज्य करना लिखा है, जो चिन्तनीय है।

१४ वंशावलीमें मुइजुद्दीन बहरामशाहका राज्यकाल वि० सं० १२९७ से १२९९ तक दो वर्ष बतलाया है, परन्तु गुटकेकी राजावलीमें ३ वर्ष लिखा है।

१५ इसका राज्य वि० सं० १२९९ से १३०३ तक ४ वर्ष रहा है। —देखो, राजपू०का इतिहास भाग १ परि० नं० ६

१६ ओझाजीकी उक्त वंशावलीमें इसका नाम नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह दिया है और राज्यकाल वि० सं० १३०३ से १३२२ तक १९ वर्ष बतलाया है।

सोमदिने सुल्तितानु ग्यासदी बलिवद (गयासुद्दीन बलबन) वर्ष २ राज्यं कृतं[१] । सं० १३४३ वर्षे फाल्गुन वदी ६ शुक्रदिने सुलतानु मोजदी (मुइजुद्दीन कैकवाद) वर्ष ३ राज्यं कृतं ।[२]

सं० १३४६ वर्षे फल्गुण सुदी ६ शुक्रदिने सुल्तितानु समसदी(शमसुद्दीन)वर्ष २ राज्यं कृतं[३]। संवत १३४८ र्षे ज्येष्ट सुदी ५ सोमदिने सुल्तितानु जलालदी (जलालुद्दीन खिलजी वंश) वर्ष ६ मास ३ राज्यं कृतं[४] । सं० १३५३ वर्षे कार्तिक सुदी ११ भौमदिने सुल्तितानु रुकनुदी (रुक्नुद्दीन) मास तीन राज्यं कृतं[५] । संवत् १३५४ वर्षे पौष सुदी ८ भौम दिने सुल्तितानु अलावदी (अलाउद्दीन मुहम्मदशाह) वर्ष १६ मास ३ दिन १५ राज्यं कृतं[६] । संवत १३७३ वर्षे माघसुदी ६ भौम दिने सुल्तितानु पुत्र लहौबी राणी छीतमदे को पुत्र सहाबदी (शहाबुद्दीन उमरशाह) मास ३ राज्यं कृतं[७] ।

संवत् १३७३ वर्षे फाल्गुन वदी २ नि दिने सुल्तितानु षसु षरोखानु राज्यं कृतं[८] नाम नसीरदी वर्ष ४ । संवत १३७७ वर्षे अश्वनि सुदी ३ सु (शु) क दिने सुल्तितानु ग्यासदी वर्ष ४ राज्यं कृतं[९] तुगलकु अंतरं मास ८ राज्यं कृतं ।

संवत १३८२ वर्षे ज्येष्ठ सुदी ३ गुरौ दिने सुल्तितानु महमदु वर्ष २७ राज्यं कृतं[१०] । संवत् १४०६ वर्षे श्रावण सुदी ८ शनि दिने मुहरम तेरीक २१ कातिक वदी ४ सु (शु) क दिने सुल्तितानु पेरोसाहि राज्यं कृतं[११] । वर्ष ३७ मास ३ दिन ११ राज्य कृतं । संवत १४४६ कातिग वदी ४ सुक्र दिने सुल्तितानु तुगलसाहि राज्यं कृतं[१२] मास ५ । संवत १४४६ वर्षे चैत्र सुदी ८ सुल्तितानु अबूकसाहि महमूदसाहि राज्यं कृतं[१३] । संवत १४४७ वर्षे अश्विन सुदी

१ उक्त वंशावलीमें इसका नाम गयासुद्दीन बलबन है और राज्यकाल वि० सं० १३२२ से १३४४ तक २२ वर्ष बतलाया है ।

२ उक्त वंशावली में इसका नाम मुइजुद्दीन कैकवाद है और राज्य समय वि० सं० १३४४ से १३४६ तक दिया हुआ है ।

३ इसका नाम उक्त वंशावलीमें नहीं है ।

४ इसका वंश 'खिलजी' है और नाम जलालुद्दीन फीरोजशाह पाया जाता है । इसने वि० सं० १३४६ से १३५३ तक राज्य किया था ।

५ रुकनुद्दीनका दूसरा नाम इब्राहीम शाह है । और राज्यकाल उक्त वंशावलीमें वि० सं० १३५३ में दिया है, जिससे भी मालूम होता है कि इसने कुछ महीनों ही राज्य किया था ।

६ उक्त वंशावलीके अनुसार इसका नाम अलाउद्दीन मुहम्मदशाह था । इसने वि० सं० १३५३ से १३७२ तक १६ वर्ष राज्य किया हैं । गुटकेमें १६ वर्ष से ३।। मास अधिक बतलाया है ।

७ उक्त वंशावलीमें इसका वंश 'खिलजी' है और नाम शहाबुद्दीन उमरशाह दिया हुआ है ।

८ इसका शुद्ध नाम नासिरुद्दीन खुशरोशाह था । राजपूताने के इतिहास वाली वंशावलीमें इससे पहले कुतुबुद्दीन मुबारिकशाहका नाम और दिया हुआ है और उसका राज्यकाल वि० सं० १३७२ से १३७७ तक बतलाया है । गुटकोंकी राजावलीमें यह नाम नहीं है किन्तु नासिरुद्दीन शाहका राज्यकाल ४ वर्ष बतलाया है । जब कि वंशावली में वि० सं० १३७७ में ही कुछ समय रहा है, क्यों कि सं० १३७७ में तुगलक वंशका राज्य हो गया था ।

९ उक्त वंशावलीमें इसका नाम गयासुद्दीन तुगलक और राज्यकाल वि० सं० १३७७ से १३८१ तक लिखा है ।

१० इसे मुहम्मद तुगलक कहते हैं । और इसका राज्य समय उक्त वंशावलीमें वि० सं० १३८१ से १४०८ तक २७ वर्ष पाया जाता है, जो गुटकेके उक्त समयसे मिल जाता है ।

११ इसे फीरोजशाह कहते हैं । वंशावलीमें इसका वि० सं० १४०८ से १४४५ तक ३७ वर्ष राज्यकाल पाया जाता है । गुटके में उल्लिखित समय भी मिल जाता है । और वह प्रमाणिक मालूम होता है ।

१२ उक्त वंशावलीके अनुसार यह तुगलकशाह द्वितीय है । इसका राज्यकाल वि० सं० १४४५ में ही कुछ समय तक रहना बतलाया है ।

१३ उक्त वंशावलीमें अबूशाह मुहम्मदशाह नाम दिये हैं, जो गुटकेके नामोंसे मिल जाते हैं ।

११ वरष (वर्ष) १ मास ७ दिन ७ राज्यं कृतं[1] । तत: मल्लू राज्यं कृतं । पश्चात् दौलतिषां खां)[2] राज्यं कृतं । संवत् १४७२ खदिरखान राज्यं कृतं[3] वर्ष ७ । संवत् १४७६ वर्षे वैशाख·······मुमारषषान राज्यं कृतं[4] वरष (वर्ष) ११।

संवत १४६० वर्षे फाल्गुण सुदी ११ सुक दिने महमूद साहि जखकसु (?) वर्ष १२ राज्यं कृतं[5] । संवत् १५०२ वर्षे अल वदी मास ३[6] । अमानतखां वर्ष ६ राज्यं कृतं । संवत १५०८ वर्षे वैशाख सुदी ३ सुलितानु बहलोलमाहि[7] पठाणु लोदी राज्यं कृतं वर्ष ३८ मास २ दिन ८ राज्यं कृतं । संवत् १५४६ वर्षे मार्गसिर मासे सुलितानु वराहिमु[8] राज्यं कृतं वर्ष ८ मास ५ राज्यं कृतं । संवत् १५८२ वर्षे वैशाल सुदी ८ पातिशाहि बब्बरु[9] मुगल काबुल तहिं आया राज्यं करोति इदानीं ॥ छ ॥ राज्य कृतं वर्ष ६ दिन । संवत १५८८ वर्षे पोह वदि ······ हुमाऊं पातिसाहि[10] राज्य करोति वर्ष८ मास·····राज्यं क्रियते । संवत् १५९७ वर्षे ज्येष्टमध्ये हसनसूरका पुत्र साहि आलमु[11] राज्यं करोति । संवत १६०६ सलेमसाहि राज्यं कृतं[12] वर्ष ६ । संवत् १६०८ वर्षे पेरोमाहि राज्यं कृतं[13] दिन १० । संवत् १६०८ अदलीं[14] राज्यं कृतं वर्ष ४ । संवत् १६१२ असौज बदि २ हमाउं[15] राव सीत राज्य हिंदू (?) संवत् १६१२ फाल्गुण वदि २ अकबर[16] राज्यं करोति । संवत् १६६२ कार्तिक सुदी १४ अकबरको पुत्र साह सलेम[17] राज्य करोति । संवत १६८४ साह सलेमको पुत्र शेरशाह[18] सुलतान राज्यं करोति ।

उपसंहार

ऊपरके इस सब विवेचन परसे दिल्लीकी प्राचीनता एवं महत्ता आदिका कितना ही परिचय मिल जाता है । साथ ही, यह भी मालूम हो जाता है कि उसे कब और

(शेषांश पृष्ठ ८२ पर)

१ वंशावलीमें सिकन्दरशाह, महमूदशाह, नसरतशाह, महमूदशाह (द्वितीय) के नाम और पाए जाते हैं । और इन सबका राज्यकाल वि० सं० १४४५ से १४५६ तक ११ वर्ष दिया है । गुटकेमें ये नाम नहीं हैं । इससे मालूम होता है कि उसमें कोई भूल अथवा त्रुटि जरूर हुई है ।

२ उक्त वंशावलीमें दौलतखां लोदीका राज्यकाल वि० सं० १४६६ से १४७१ तक दिया है ।

३ इसका नाम खिजरखां और वंश सैयद था, और राज्य समय ७ वर्ष सं० १४७१ से १४७८ तक रहा है, ऐसा उक्त वंशावलीसे जाना जाता है ।

४ यह मुइजुद्दीन मुबारकशाह कहलाता था । उक्त वंशावली में इसका राज्य समय वि० सं० १४७८ से १४६० तक पाया जाता है ।

५ इसे मोहम्मदशाह कहते थे, उक्त वंशावलीमें इसका राज्य १० वर्ष वि० सं० १४६० से १५०० तक दिया है ।

६ यह आलमशाह कहलाता था । उक्त वंशावलीमें इसका वि० सं० १५०० से १५०८ तक आठ वर्ष बतलाया है जब कि गुटकेमें ३ मास, पश्चात् अमानतखाका राज्य ६ वर्ष करना लिखा है । ओझाजीकी वंशावलीमें इसका कोई उल्लेख नहीं है ।

७-८ इन दोनोंका राज्यकाल उक्त वंशावलीसे मिल जाता है ।

९ इसका नाम इब्राहीम लोदी था, और उक्त वंशावलीमें राज्यकाल वि० सं० १५७४ से १५८३ तक दिया है ।

१० उक्त वंशावलीमें इसका राज्यकाल वि० सं० १५८३ से १५८७ तक ४ वर्ष दिया है ।

११ इसका नाम हुमायूं था और वंश 'सूर' कहलाता था । उक्त वंशावलीके अनुसार इसका राज्य वि० सं० १५८७ से १५९६ तक रहा है ।

१२ वंशावलीमें हुमायूंके बाद इसलाशाहका राज्य वि० सं० १६०२ से १६०९ तक करना लिखा है ।

१३ वंशावलीमें मुहम्मद आदिलशाह नाम दिया है और राज्य अमल वि० सं० १६०९ से १६१० तक बतलाया है ।

१४-१५ ये दोनों नाम वंशावलीमें नहीं पाये जाते किन्तु उसमें इब्राहीम सूर और सिकन्दरशाह सूरके नाम दिये हैं । हुमायूं दूसरी बार गद्दी पर बैठा था इसका वंश मुगल कहा जाता है ।

१६ यह अकबरशाह कहलाता था, बड़ा राजनीतिज्ञ और योग्य शासक रहा है ।

१७ इसे जहांगीर कहते हैं ।

१८ यह शाहजहांके नामसे मशहूर था । वंशावलीके अनुसार इसका राज्य वि० सं० १६८५ से १७१५ तक रहा है ।

जैनसंस्कृति-संशोधन-मण्डलपर अभिप्राय

एक वर्षके लगभग हुआ, बनारसमें 'जैन संस्कृति-संशोधन-मण्डल' के नामसे एक नई संस्था स्थापित हुई है। और अपने उद्देश्य तथा कार्यप्रवृत्तिके प्रदर्शनार्थ एक पत्रिकाका प्रकाशन भी इसके द्वारा शुरू किया गया है। पत्रिकाके नं० ३, ४, ५ और ६ ये चार अङ्क सुहृद्वर प्रो० दलसुख मालवणियाने हमें अभिप्रायार्थ भेजे हैं। इन अंकोंमें संशोधन-मण्डलकी आवश्यकता, उसके उद्देश्य और कार्यप्रवृत्तिकी योजना मालूम होजाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि जैनधर्म, जैनसाहित्य, जैन इतिहास, जैनदर्शन और जैन कला आदिका विश्वको परिचय कराना आज बड़ा आवश्यक है। प्राय: प्रत्येक समझदार व्यक्ति आज एक-दूसरेकी संस्कृतिसे परिचित होना चाहता है। अत: यह समयोचित और अत्यन्त आवश्यक है कि जैन संस्कृतिको उसके संशोधित—अविकृतरूपमें ही लोकको परिचय कराया जाय और वर्तमान दोनों जैन परम्पराओंके मध्यवर्ती छोटे-मोटे गड्ढोंको पाटते हुए एक अखण्ड जैन परम्पराके विशुद्ध तत्त्वोंको प्रकाशमें लाया जाय।

बनारसके इस नव-स्थापित जैनसंस्कृति संशोधन-मण्डलसे आशा की जाती है कि वह इस कार्यको करनेमें समर्थ होगा। जैसा कि उसके निम्न उद्देश्योंसे प्रतीत होता है—

(१) जैन तत्त्वज्ञान, इतिहास और सांस्कृतिक साहित्यका अन्वेषण।

(२) जैन सम्प्रदायोंके इतिहास तथा मौलिक एकताके आधारोंका अन्वेषण।

(३) संशोधनात्मक साहित्यका प्रकाशन।

(४) उक्त अन्वेषणको प्रगतिशील बनानेके लिये प्रयत्न

इन उद्देश्योंमें जो भावना निहित है उसमें दो मत नहीं हो सकते—प्राय: प्रत्येक निष्पक्ष समझदार व्यक्ति इस भावनाका हृदयसे अनुमोदन और अभिनन्दन करेगा और यदि इन उद्देश्योंके अनुसार ही कार्यप्रवृत्ति होती है तो जिन कतिपय व्यक्तियोंको इन उद्देश्योंमें सन्देह होगा उनका वह सन्देह भी नहीं रह सकेगा। जैन संस्कृति-संशोधनका तात्पर्य ही यही होना चाहिये कि जैन संस्कृति को प्रामाणिकताके साथ विशुद्ध रूपमें प्रस्तुत किया जाय। वस्तुत: ऐसी भावना और कार्यप्रवृत्तिकी हमें बड़ी जरूरत है। यदि प्रारम्भमें ऐसे व्यक्ति कम भी होंगे तो बादमें एक संघके रूपमें वे आदरणीय स्थानपर दिखाई देंगे।

अतएव हम उपर्युक्त संशोधन-मण्डलकी स्थापनाका अभिनन्दन और स्वागत करते हैं। साथमें इसके प्रवर्त्तकोंसे यह भी कहना चाहते हैं कि संशोधन-मण्डल द्वारा जो साहित्य संशोधित और सम्पादित किया जाय उसके संशोधकों और सम्पादकोंमें दोनों परम्पराओंके निष्पक्ष विद्वानोंको सम्मिलित करना चाहिये। वर्तमानमें जो सम्पादकसमिति बनी है उसमें एक ही परम्पराके विद्वानोंको सम्मिलित किया गया है—दूसरी परम्पराके एक भी विद्वानका न होना खटकने योग्य है। यह बात नहीं है कि दूसरी परम्परामें असाम्प्रदायिक विद्वान नहीं हैं—उसमें भी वर्तमान सम्पादक समितिके विद्वानों जैसे विद्वान मौजूद हैं। अतएव हम संशोधन-मण्डलका ध्यान इस खटकने योग्य चीजकी ओर आकर्षित करते हैं और निम्न विद्वानोंको उल्लिखित सम्पादक-समितिमें सम्मिलित करनेके लिये अपनी राय प्रस्तुत करते हैं:—

१ डा० ए० एन० उपाध्ये पी० एच० डी०, कोल्हापुर।

२ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा।

३ डा० हीरालालजी एम० ए०, एल-एल० बी०, नागपुर।

४ पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, बनारस।

५ पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, बनारस।

आशा है इन विद्वानोंको उक्त सम्पादक समितिमें सम्मिलित करके मण्डल दूरदर्शिताका परिचय देगा और उसका गौरव एवं शक्ति बढ़ायेगा। इस मण्डलकी हर तरह प्रगति चाहते हैं। पत्रिकाके उक्त अंकोंको देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई।

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा
२७-२-१९४९

दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य)

जैनियोंपर घोर अत्याचार !!

(ले०—प्रो० हेमुल्ट ग्लाजेनाप)

[अनुवादक—पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ]

[जर्मन जैन विद्वान प्रोफेसर हेमुल्ट ग्लाजेनाप (बर्लिन) द्वारा Jainism नामक एक विद्वत्ता एवं खोज पूर्ण ग्रंथ लिखा गया है। उसको जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगरने गुजराती भाषांतर छपाया है। इस ग्रंथमें जैनधर्म सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों पर करीब ५०० पृष्ठोंमें विवेचन किया गया है। उसमें 'अवनति' नामक प्रकरणका हिन्दी अनुवाद पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है। इस प्रकरणको पढ़ कर आपके हृदयकी दीवालें हिल जायेंगी। —अनुवादक]

महावीर स्वामीके समयसे ही जैनधर्मको प्रतिस्पर्धी शक्तियोंके सामने युद्ध करना पड़ा है। वैदिक ब्राह्मण धर्मके विरुद्ध और बौद्ध धर्मके विरुद्ध। वेदके सिद्धांतोंके सामने पशु-बलिके कारण और समाजमें ब्राह्मण दूसरे वर्णोंके उच्च स्थान दबा बैठे थे, इस परिस्थितिके कारण जैनधर्मका ब्राह्मण धर्मके साथ युद्ध चलता था।

बौद्ध धर्मने थोड़े समय तक तो जैनधर्म पर ऐसा प्रचंड दबाव डाला कि उनको अपने अनेक प्रदेश खाली करने पड़े थे। इन की मातृभूमि बौद्धोंका ही प्रदेश हो गया और वहां इतने अधिक विहार बंधवाये गये कि जिससे इस प्रदेशका नाम ही विहार हो गया। परन्तु समय बीतने पर वहांसे उनको खिसकना पड़ा। दक्षिण और पश्चिममें तो यह जैनधर्मकी बराबरी कर ही न सका था।

इसके अतिरिक्त कुमारिलने (करीब ई० सन् ७००) और शंकरने (ई० सन् ७८८—८२०) फिरसे ब्राह्मण धर्म की स्थापना की! और समस्त भारतमेंसे बौद्ध धर्मको विदा किया। इस प्रकार यह अपनीजन्म-भूमिमेंसे अस्त हो गया। वैदिक यज्ञ काण्डके पुनरुद्धारक कुमारिलने और मायावाद ब्रह्मवादके स्थापक महान शंकरने वेदधर्म विरोधी जैनधर्मके विरुद्ध अपने तमाम शास्त्रीय शस्त्रोंके द्वारा युद्ध किया। और यह युद्ध धीरे धीरे ऐसा बलवान हुआ कि जैनधर्मको नष्टप्रायभूत होजाना पड़ा। हालांकि इसने पूर्ण बलसे अपने रक्षणका प्रयत्न किया था फिर भी अनेक कारणोंसे यह कमज़ोर हो गया और डिग गया।

ब्राह्मण धर्मके पुनरुत्थानके कारण वैष्णव और शैव संप्रदाय भी नये रूपसे बलवान बन गये। ये दोनों सम्प्रदाय जैनधर्मके भयंकर शत्रु बन गए और दक्षिण भारतमें इन्होंने जैनधर्म पर भयंकर प्रहार किया।

नानसंवर और अप्पर (७ वीं सदीमें), सुंदर मूर्ति और माणिक्कवाचकर (६०० के करीब) तथा ऐसे ही अन्य शैव भक्तोंने अपने भजनोंसे अनेकोंको जैनधर्मसे खींचकर शैव-धर्ममें ले लिया। अप्परने इसी प्रकार पल्लव राजा महेन्द्र

बर्माको शैव धर्ममें ले लिया। उसके बाद इस राजाने कड-लोरका जैन मंदिर तोड़कर शिव मंदिर बनवाया! चोल वंशके राजाओंके दरबारमें तो शैवोंको खास सम्मान प्राप्त हुआ। इनके प्रभावका खास कारण तो यह था कि मदुरा के पांड्य राजा भी जो अन्त तक जैन थे, शैव बन गए। पांड्य राजा सुंदरने (११ वीं सदीमें ?) चोल कन्या राजा राजेन्द्रकी बहिनके साथ विवाह किया और रानीके प्रभावसे सुंदरने शैवधर्म स्वीकार कर लिया। पीछे सुंदर इतना दुराग्रही शैव हुआ कि जिनने शैवधर्म स्वीकार नहीं किया उन पर अनेक जुल्म किये। जिन लोगोंने जैनधर्म नहीं छोड़ा ऐसे करीब आठ हजार लोगोंको इसने फांसी पर चढ़ानेका हुक्म किया !!! कहा जाता है कि इन भाग्य-हीन धर्मवीरोंकी प्रतिमायें उत्तर आर्काटमें विद्यमान तिवतूर के देवालयोंकी भीतों पर अङ्कित हैं।

जैनधर्मके दूसरे प्रचण्ड शत्रु शैवधर्मके लिंगायत सम्प्रदायी निकले, बसव नामक ब्राह्मणने लिंगायत धर्मकी स्थापना की अथवा उसका पुनरुद्धार किया। बसव, कलचुरि राजा विज्जलका (११५६-११६७) अमात्य था। जैनोंका कहना है कि 'बसवने विवेकशून्य बनकर अपने महा प्रचंड बलसे अनेक लोगोंको अपने एकेश्वर संप्रदायका शिष्य बनाया।' लिंगायतोंने जैनों पर असह्य अत्याचार किये। उनके जान मालका नाश किया, उनके मन्दिर तोड़ डाले और उन्हें स्वधर्मी बना लिया। इस नवीन सम्प्रदायके प्रचारमें आचार्य एकांतद रामैयका नाम विशेष उल्लेखनीय है।

लिंगायत अपनेको वीर-शैव कहते हैं। इन्होंने थोड़े समयमें ही कनड़ी और तेलुगु प्रदेशोंमें उत्तम स्थान प्राप्त कर लिया। इन लोगोंका धर्म मैसूर, उम्मतूर, वोडेयर (१३६६-१६१०) तथा केलडीके नायक राजाओंका (१५५० १७६३) राजधर्म था। अभी तक दक्षिण भारतके पश्चिम किनारेके प्रदेशोंमें बहुसंख्यक लोग यह धर्म पालते हैं। जैन लोगोंके साथ इन लोगोंका सम्बन्ध हमेशासे द्वेषभाव पूर्ण रहा मालूम होता है।

एक शिलालेखसे मालूम होता है कि १६३८ में एक मतांध लिंगायतने हलेवीडके जैनोंके एक मुख्य हस्तिस्तम्भ पर शिवलिंग चिह्नित कराया। जैनोंने इसका घोर विरोध किया। अन्तमें सुलह हो गई। सुलहकी शर्त यह हुई कि जैनोंको अपने मन्दिरमें शैव क्रियाकांडके अनुसार पहले भस्म और ताम्बूल खाना चाहिये और इसके बाद अपने धर्मकी क्रिया करना चाहिये।

जब दक्षिण भारतमें शैवधर्म इस तरहसे नये रूपसे महत्वशाली बन रहा था उसी समय वैष्णव धर्ममें भी प्रचंड विकास हो रहा था।

प्रसिद्ध आचार्य रामानुज (१०५०-११३७) त्रिचिनो-पलीके पास श्रीरंगमें वैष्णव धर्मके विशिष्टाद्वैत मतका प्रचार करते थे और लोगोंको अपना शिष्य बनाते थे। चोल-राजाने रामानुजाचार्यसे "विष्णुसे शैव बड़े हैं" इस मतका प्रचार करनेको कहा, मगर आपने यह स्वीकार नहीं किया और वहांसे अन्यत्र चले गये। तब होयसल राजा विट्टिदेवने उन्हें आश्रय दिया और वह उनका शिष्य होगया। तथा पहलेके जिन सहधर्मी जैनोंने इस नए धर्म में आनेसे इन्कार किया उन्हें घानीमें डालकर पिलवा डाला !!!

सन् १३६८ के एक शिलालेखसे मालूम होता है कि इसके बाद भी वैष्णवोंने जैनियोंपर बहुत जुल्म किये थे। इस शिलालेखमें बताया गया है कि--जैनोंने विजय नगर के राजा बुक्करायके पास फरियाद की थी कि हमें वैष्णव लोग सताते हैं। उसपरसे राजाने आज्ञा दी कि "हमारे राज्यमें सभी धर्मके लोगोंको समान भावसे रहने और अपने २ धर्म पालन करनेकी संपूर्ण स्वतंत्रता है।" इस शिलालेखमें यह भी बताया गया है कि श्रवण बेल्गोलमें गोम्मट (गोम्मटस्वामी-बाहुबलि) की प्रतिमाको कोई भ्रष्ट न करे, इसी लिए वहां २० आदमियोंका पहरा रखा गया था। खंडित किए गए देवालयोंके पुनरुद्धारकी आज्ञा दी गई थी।

रामानुजके सौ वर्ष बाद कानड़ा प्रदेशमें एक दूसरे वैष्णवाचार्य हुए। उनका नाम मध्व अथवा आनंदतीर्थ (११९९-१२७८) था। इनने द्वैतमतका प्रचार किया। पश्चिम किनारेपर इनके अनेक अनुयायी होगए।

इस संप्रदायने भी जैन धर्मपर बड़ा धक्का लगाया। इसके बाद ब्राह्मण कुलोत्पन्न निम्बकाचार्यने (१३वीं सदी में !) भेदाभेद वादका प्रचार खास करके उत्तर भारतमें मथुरामें किया। परन्तु इनके द्वारा जैनोंकी हानि हुई मालूम नहीं होती है। एक लेखसे तो मालूम होता है कि जैनोंने उनके सम्प्रदायको उखाड़ दिया था, फिर पीछेसे

श्रीनिवासने उसका पुनरुद्धार किया था।

पश्चात् जैनोंके जबरदस्त विरोधी तेलुगु प्रदेशमें शुद्धाद्वैत सम्प्रदायके स्थापक वल्लभ (वल्लभाचार्य) नामक ब्राह्मण हुए (१४७९–१५३१) मथुरा, राजपूताना और गुजरात प्रांतमें इस सम्प्रदायका खूब प्रचार हुआ। विशेषतः तो अनेक धनिक व्यापारी जैन इस सम्प्रदायमें चले गये। इसके अतिरिक्त बंगाली आचार्य चैतन्यने (१४८५–१५३३) कृष्ण भक्तिके भजन गाये। उनके आध्यात्मिक उपदेशका प्रभाव समस्त भारतमें फैल गया और उसमें अनेक जैन बह गए।

हिंदूधर्मकी विशिष्ट कलाके कारण जैन धर्मके अनेक शिष्य उस धर्ममें चले गये हैं। इतना ही नहीं, मगर अभी इसके जो शिष्य हैं उनमें भी हिंदू धर्मके अनेक आचार विचार प्रवेश कर गये हैं। इसी प्रकारसे हिंदू धर्मके जिन देवी देवताओंको जैनोंमें किंचितमात्र भी स्थान नहीं था उनमें उन देवी देवताओंका प्रवेश होगया है।

वेदांतके प्रभावसे अनेक पारिभाषिक शब्द भी जैन साहित्यमें घुस गए हैं। भावनाओं और सामाजिक जीवन में भी जैन लोग हिंदू भाव स्वीकार करते जारहे हैं।

मुस्लिम राज्यके नीचे जैन

मुसलमानोंने भारतपर आक्रमण किया और ई० सन् ७१२ में सिंधमें मुसलमान राज्यकी स्थापना हुई। महमूद गजनवीने (ई० सन् १००१) अनेकबार भारतपर आक्रमण किया। महमूदगौरीने (ई० ११७५) भी इस देशपर सवारी की। इस नई सत्ताके बलपर जैन तथा हिंदू धर्मपर अत्याचार होने लगे। सुलतान अलाउद्दीन महमूदशाह खिलजीने (ई० १२९७–९८) गुजरात प्रान्त जीत लिया और वहांपर जो जुल्म किये गए इन्हें वहांके लोग अभी भी याद करते हैं। मूर्त्तियां खण्डित की गईं, मंदिर तोड़े गए, उनकी जगह मस्जिदें बनाई गईं, ग्रन्थ जलाए गए, खजाने लूटे गए, और अनेक जैन मार डाले गए!!

मतांध मुसलमानोंने जब द्राविड़ राज्योंको नष्ट किया तब दक्षिणमें भी उन्होंने ऐसे ही भयंकर अत्याचार किए। यह समय जैनोंके लिए घोर संकटका था। शैव और वैष्णव धर्ममें चले जानेसे जैनोंकी संख्या कम तो हो ही गई थी, उसमें भी इन मुसलमानोंने विनाश करना शुरू कर दिया। इस संकटमें से बचनेका उपाय मात्र भाग जानेके सिवाय और कोई नहीं था। जैनोंने अपने ग्रंथ भण्डार भोंयराओंमें भर दिए और वहांपर कुछ साधुओं के अतिरिक्त कोई प्रवेश न कर सके ऐसी व्यवस्था कर दी। तथा अपने (जैन) मन्दिरोंको मुसलमानी राजाओंको कुछ घाट (!) देकर मतान्धोंके अत्यचारोंसे बचा लिया।

अनेक मुसलमान राजाओंने जैनोंका विनाश अग्नि तथा तलवारोंसे किया, उन्हें बलात्कारसे भ्रष्ट किया, और अनेक अत्याचार किए।

(पृ० ७८ का शेषांश)

किसने बसाया तथा समृद्ध किया और किस वंशके कितने राजाओंने कब तथा कितने समय तक वहां राज्य किया। तोमर वंशके राजाओंके जो नाम राजावलीमें उल्लिखित हैं उनकी अन्य प्रमाणोंसे जांच कर यह निर्णय करना आवश्यक है कि उन्होंने कब और कितने समय तक दिल्लीमें तथा अन्यत्र शासन किया है। तथा ऐतिहासिक दृष्टिसे यह भी अन्वेषण करना आवश्यक है कि दिल्लीमें संवत् ११८९ से पूर्व तथा उस समय कितने जैनमन्दिर थे और वे कहां गए—उन्हें किसने कब नष्ट किया! और कुतुबमीनारमें अंकित पाषाण दिल्लीके जैनमंदिरोंके ही अवशेष हैं या अन्यत्रसे लाए हुए मन्दिरोंके हैं? उनमें उत्कीर्ण दिगम्बर जैनमूर्तियां आज भी जैन-संस्कृतिके महत्वको ख्यापित करती हैं। जैनियोंके पुरातत्वकी महत्वपूर्ण विशाल सामग्री यत्र तत्र अव्यवस्थित रूपसे बिखरी हुई पड़ी है, जिसका एकत्र संकलन होना बहुत जरूरी है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

ता० २०–१०–४५

'संजद' पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्वपूर्ण अभिमत

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

षट्खण्डागमके ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पद होना चाहिये या नहीं, इस विषयमें काफी समयसे चर्चा चल रही है। कुछ विद्वानोंका मत है कि 'यहां द्रव्यस्त्रीका प्रकरण है और ग्रन्थके पूर्वापर सम्बन्धको लेकर बराबर विचार किया जाता है तो उसकी ('संजद' पदकी) यहाँ स्थिति नहीं ठहरती।' अतः षट्खण्डागमके ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पद नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत दूसरे कुछ विद्वानोंका कहना है कि 'यहां (सूत्रमें) सामान्यस्त्रीका ग्रहण है और ग्रन्थके पूर्वापर सन्दर्भ तथा वीरसेनस्वामीकी टीकाका सूक्ष्म समीक्षण किया जाता है तो उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी स्थिति आवश्यक प्रतीत होती है। अतः यहां भाववेदकी अपेक्षासे 'संजद' पदका ग्रहण समझना चाहिये। प्रथम पक्षके समर्थक पं० मक्खनलालजी मोरेना, पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई, श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंहजी, और पं० तनसुखलालजी काला आदि विद्वान् हैं। दूसरे पक्षके समर्थक पं० वंशीधरजी इन्दौर, पं० खूबचन्दजी शास्त्री बम्बई, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री बनारस और पं० पन्नालालजी सोनी ब्यावर आदि विद्वान् हैं। ये सभी विद्वान् जैनसमाजके प्रतिनिधि विद्वान् हैं। अतएव उक्त पदके निर्णयार्थ अभी हालमें बम्बई पंचायत की ओरसे इन विद्वानोंको निमंत्रित किया गया था। परन्तु अभी तक कोई एक निर्णयात्मक नतीजा सामने नहीं आया। दोनों ही पक्षोंके विद्वान् युक्तिबल, ग्रन्थसन्दर्भ और वीरसेनस्वामीकी टीकाको ही अपने अपने पक्षके समर्थनार्थ प्रस्तुत करते हैं। पर जहाँ तक मुझे मालूम है षट्खण्डागम के इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रोंके भावको बतलाने वाला वीरसेनस्वामीसे पूर्ववर्ती कोई शास्त्रीय प्रमाणोल्लेख किसीकी ओरसे भी प्रस्तुत नहीं किया गया है। यदि वीरसेनस्वामीसे पहले षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रोंका स्पष्ट अर्थ बतलानेवाला कोई शास्त्रीय प्रमाणोल्लेख मिल जाता है तो उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी स्थिति या अस्थितिका पता चल जावेगा और फिर विद्वानोंके सामने एक निर्णय आ जायगा।

अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थराजवार्तिक वस्तुतः एक महान् सद्रत्नाकर है। जैनदर्शन और जैनागमविषयका बहुविध और प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिये केवल उसीका अध्ययन पर्याप्त है। अभी मैं एक विशेष प्रश्नका उत्तर ढूंढनेके लिये उसे देख रहा था। देखते हुए मुझे वहां 'संजद' पदके सम्बन्धमें बहुत ही स्पष्ट और महत्वपूर्ण खुलासा मिला है। अकलङ्कदेवने षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी समग्र सूत्रोंका वहाँ प्रायः अविकल अनुवाद ही दिया है। इसे देख लेनेपर किसी भी पाठकको षट्खण्डागमके इस प्रकरणके सूत्रोंके अर्थमें जरा भी सन्देह नहीं रह सकता। यह सर्वविदित है कि अकलङ्कदेव वीरसेन स्वामीसे पूर्ववर्ती हैं और उन्होंने अपनी धवला तथा जयधवला दोनों टीकाओंमें अकलंकदेवके राजवार्तिकके प्रमाणोल्लेखोंसे अपने वर्णित विषयोंको कई जगह प्रमाणित किया है। अतः राजवार्तिकमें षट्खण्डागमके इस प्रकरण-संबंधी सूत्रोंका जो खुलासा किया गया है वह सबके द्वारा मान्य होगा ही। वह खुलासा निम्न प्रकार है—

"मनुष्यगतौ मनुष्येषु पर्याप्तकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति, अपर्याप्तकेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्यग्दृष्टयसंयतसम्यग्दृष्ट्याख्यानि। मानुषीपर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षेण तु पंचाद्यानि। अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्।'—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ३३१ अ. ९-सू. ७।

पाठकगण इसे षट्खण्डागमके निम्न सूत्रोंके साथ पढ़ें—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९०॥

एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

षट्खण्डागम और राजवार्तिकके इन दोनों उद्धरणों-परसे पाठक यह सहजमें समझ जावेंगे कि राजवार्तिकमें षट्खण्डागमका ही भाष्यानुवाद किया हुआ है और सूत्रोंमें जहां कुछ भ्रान्ति हो सकती थी उसे दूर करते हुए सूत्रोंके हार्दका सुस्पष्ट शब्दों द्वारा खुलासा कर दिया गया है। राजवार्तिकके उपर्युक्त उल्लेखमें यह स्पष्टतया बतला दिया गया है कि पर्याप्त मनुष्यणियोंके १४ गुणस्थान होते हैं किन्तु वे भावलिंगकी अपेक्षासे हैं, द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षामें तो उनके आदिके पांच ही गुणस्थान होते हैं। इससे प्रकट है कि वीरसेनस्वामीने जो भावस्त्रीकी अपेक्षा १४ गुणस्थान और द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षा ५ गुणस्थान षट्खण्डागमके ९३ वें सूत्रकी टीकामें व्याख्यात किये हैं और जिन्हें ऊपर अकलंकदेवने भी बतलाये हैं वह बहुत प्राचीन मान्यता है और वह सूत्रकारके लिये भी इष्ट है। अतएव सूत्र ९२ वें में उन्होंने अपर्याप्त स्त्रियोंमें सिर्फ दो ही गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया है और जिसका उपपादन 'अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्यक्त्वेन सह स्त्रीजननाभावात्' कहकर अकलङ्कदेवने किया है। अकलङ्कदेवके इस स्फुट प्रकाशमें सूत्र ८९ और ९२ से महत्वपूर्ण तीन निष्कर्ष और निकलते हुए हम देखते हैं। एक तो यह कि सम्यग्दृष्टि स्त्रियोंमें पैदा नहीं होता। अतएव अपर्याप्त अवस्था में स्त्रियोंके प्रथमके दो ही गुणस्थान कहे गये हैं जब कि पुरुषोंमें इन दो गुणस्थानोंके अलावा चौथा असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी बतलाया गया है और इस तरह उनके पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान कहे गये हैं। इसी प्राचीन मान्यताका अनुसरण और समर्थन स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक ३५) में किया है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि यह मान्यता कुन्दकुन्द या स्वामी समन्तभद्र आदि द्वारा पीछेसे नहीं गढ़ी गई है। अपितु उक्त सूत्रकालके पूर्वसे ही चली आरही है।

दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि अपर्याप्त अवस्थामें स्त्रियोंके आदिके दो गुणस्थान और पुरुषोंके पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान ही संभव होते हैं और इसलिये इन गुणस्थानोंको छोड़कर अपर्याप्त अवस्थामें भाववेद या भावलिङ्ग नहीं होता, जिससे पर्याप्त मनुष्यणियोंकी तरह अपर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ भी गुणस्थान कहे जाते और इस लिये वहां भाववेद या भावलिङ्गकी विवक्षा-अविवक्षा का प्रश्न नहीं उठता। हां, पर्याप्त अवस्थामें भाववेद होता है इस लिये उसकी विवक्षा-अविवक्षाका प्रश्न जरूर उठेगा। अतः वहां भावलिङ्गकी विवक्षासे १४ और द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा से प्रथमके पांच ही गुणस्थान बतलाये गये हैं। इन दो निष्कर्षोंपरसे स्त्रीमुक्ति-निषेधकी मान्यतापर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है और यह मालूम हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति-निषेधकी मान्यता कुंदकुंदकी अपनी चीज नहीं है किन्तु वह भ० महावीरकी ही परम्पराकी चीज है और जो उन्हें उक्त सूत्रों—भूतबलि और पुष्पदन्तके प्रवचनोंके पूर्वसे चली आती हुई प्राप्त हुई है।

तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि यहाँ सामान्य मनुष्यणीका ग्रहण है—द्रव्यमनुष्यणी या द्रव्यस्त्रीका नहीं। क्योंकि अकलङ्कदेव भी पर्याप्त मनुष्यणियोंके १४ गुणस्थानोंका उपपादन भावलिङ्गकी अपेक्षासे करते हैं और द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षासे पांच ही गुणस्थान बतलाते हैं। यदि सूत्रमें द्रव्यमनुष्यणी या द्रव्यस्त्रीमात्रका ग्रहण होता तो वे सिर्फ पांच ही गुणस्थानोंका उपपादन करते भावलिङ्गकी अपेक्षासे १४ का नहीं। इस लिये जिन विद्वानोंका यह कहना है कि 'सूत्र' में पर्याप्त शब्द पड़ा है वह अच्छी तरह सिद्ध करता है कि द्रव्यस्त्रीका ही यहां ग्रहण है क्यों कि पर्याप्तियां सब पुद्गल द्रव्य ही हैं'... 'पर्याप्तस्त्री का ही द्रव्यस्त्री अर्थ है[1]' वह संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अकलंकदेवके विवेचनसे प्रकट है कि यहां 'पर्याप्तस्त्री' का अर्थ द्रव्यस्त्री नहीं है और न द्रव्यस्त्रीका प्रकरण है किन्तु सामान्यस्त्री उसका अर्थ है और उसीका प्रकरण है और भावलिङ्गकी अपेक्षा उनके १४ गुणस्थान हैं। दूसरे,

१ देखो, पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके विभिन्न लेख और 'दि० जैनसिद्धान्तदर्पण' द्वितीयभाग पृ० ८ और पृ० ४५।

यद्यपि पर्याप्तियां पुद्गल हैं लेकिन पर्याप्तकर्म तो जीव-विपाकी है, जिसके उदय होनेपर ही 'पर्याप्तक' कहा जाता है। अतः 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ केवल द्रव्य नहीं है—भाव भी है।

अतः राजवार्तिकके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि षट्खंडागमके ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदकी स्थिति आवश्यक एवं अनिवार्य है। यदि 'संजद' पद सूत्रमें न हो तो पर्याप्त मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंका अकलंकदेवका उक्त प्रतिपादन सर्वथा असंगत ठहरेगा और जो उन्होंने भावलिंगकी अपेक्षा उसकी उपपत्ति बैठाई है तथा द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा ५ गुणस्थान ही वर्णित किये हैं वह सब अनावश्यक और अयुक्त ठहरेगा। अतएव अकलङ्कदेव उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका होना मानते हैं और उसका सयुक्तिक समर्थन करते हैं। वीरसेनस्वामी भी अकलंकदेव के द्वारा प्रदर्शित इसी मार्ग पर चले हैं। अतः यह निर्विवाद है कि उक्त सूत्रमें 'संजद' पद है। और इस लिये ताम्रपत्रोंपर उत्कीर्ण सूत्रोंमें भी इस पदको रखना चाहिये तथा भ्रान्तिनिवारण एवं स्पष्टीकरणके लिये उक्त सूत्र ९३ के फुटनोटमें तत्त्वार्थराजवार्तिकका उपर्युक्त उद्धरण दे देना चाहिये।

हमारा उन विद्वानोंसे, जो उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं, नम्र अनुरोध है कि राजवार्तिकके इस दिनकर-प्रकाशकी तरह स्फुट प्रमाणोल्लेखके प्रकाशमें उस पदको देखें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो मुझे आशा है कि वे भी भावलिङ्गकी अपेक्षा उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका होना मान लेंगे। श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराजसे भी प्रार्थना है कि वे ताम्रपत्रमें उक्त-सूत्रमें 'संजद' पद अवश्य रखें—उसे हटायें नहीं।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २९-१-४६।

क्या ख़ाक बसन्त मनाऊँ मैं !

(र०—श्री० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित')

यह घोर गुलामीका कलंक,
साम्राज्यवादका भार-भूत;
अपनी आँखों मिटते देखे,
माँ ने, अपने कितने सपूत!
उन अमर-शहीदोंका तर्पण करनेको रक्त बहाऊँ मैं!
क्या ख़ाक बसन्त मनाऊँ मैं!

हम धो न सके पहले अपने,
होलीके गीले रक्त दाग़।
आजादीका रण-ढोल पीट,
गोलीसे खेले, वीर फाग!
शोणितसे लिखे धरे उनके पहले इतिहास दिखाऊँ मैं!
क्या ख़ाक बसन्त मनाऊँ मैं!

कैसा बसन्त, किसका बसन्त, है अन्त यहाँ अरमानोंका!
आगत-स्वागतके साज कहाँ, हो राज जहाँ शैतानोंका!
अभिशापोंका, चिर पापोंका, पहले अपमान मिटाऊँ मैं!

हम क्षुब्ध हुए, अतिक्रुद्ध हुए,
हैं उग्र हमारे भाव, आज।
कण-कणसे पीड़ा सिहर उठी,
रग रगमें गहरे घाव आज!
आकुल प्राणोंमें आग लगी मर-जीकर इसे बुझाऊँ मैं!
क्या ख़ाक बसन्त मनाऊँ मैं!

अब रोम-रोम हुङ्कार उठीं,
बन्धन-कड़ियाँ झङ्कार उठीं!
प्रलयङ्कारी युगवीरोंकी—
फुङ्कारें नभ गुञ्जार उठीं!
इस शोषणकारी शासनकी, सत्ताकी राख बनाऊँ मैं!
क्या ख़ाक बसन्त मनाऊँ मैं!

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं

(ले०— प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०)

[गत किरणसे आगे]

(६ क) कारिकामें अपेक्षित हेतु और उसका स्थान—

न्यायाचार्यजीने अपने पूर्वलेखमें कहा था कि "आप्तमी० का० ९३ में जो वीतराग मुनिमें सुख दुःख स्वीकार किया गया है वह छठे आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनियोंके ही बतलाया है, न कि तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनि—केवलियोंके।" इसपर मैंने अपने पूर्व लेखमें लिखा था कि यदि उक्त कारिकामें 'छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया जाय तो फिर प्रतिपाद्य विषयकी युक्ति ही बिगड़ जाती है और विपरीत होनेसे जो बात असिद्ध करना चाहते हैं वही सिद्ध होती है, क्योंकि छठे गुणस्थानमें सुख-दुःखकी वेदनाके साथ प्रमाद और कषाय इन दो बन्धके कारणोंसे कर्मबन्ध अवश्य होगा। यहां ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंका एवं वेदनीयादि अघातिया कर्मोंकी पुण्य प्रकृतियोंका परिणामानुसार बन्ध होना अनिवार्य है। सातवें गुणस्थानमें प्रमादका अभाव हो जानेपर भी कषायोदयसे कर्मबन्ध होगा ही, और यही बात सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक भी उत्तरोत्तर हीनक्रमसे पाई जावेगी। अतएव छठेसे दशवें गुणस्थान तक तो आप्तमीमांसाकारकी युक्ति किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।"

न्यायाचार्यजीके मतानुसार "इस शंकाका समाधान यह है कि पूर्वपक्षी प्रमाद और कषायको बन्धका कारण नहीं मानना चाहता, वह तो केवल एकान्ततः दुःखोत्पत्तिको ही बन्धकारण कहना चाहता है, और उसके इस कथनमें ही उपर्युक्त दोष दिये गये हैं। जब उसने अपने एकान्त पक्षको छोड़कर यह कहा कि 'अभिसन्धि' (प्रमाद और कषाय) भी उसमें कारण हैं तब उससे कहा गया कि यह तो अनेकान्त सिद्धि आ गई।"

यहाँ प्रश्न यह है कि आचार्यने पूर्वपक्षीका वह एकान्त पक्ष छुड़ाया कैसे, और उसे यह कैसे विश्वास कराया कि बन्धका कारण केवल सुख-दुख नहीं होता? यदि कोई गीली लकड़ीको जलती देखकर कहता है कि अग्नि ही धूमकी उत्पत्तिका कारण है, तब उसे सूखी लकड़ी निर्धूम जली हुई दिखाकर ही तो यह विश्वास कराया जा सकता है कि शुद्ध अग्नि धूमका कारण नहीं किन्तु लकड़ीके गीलेपन सहित अग्नि ही उसका कारण है। केवल गीली लकड़ी ही सधूम जलती हुई दिखा दिखाकर उसकी भ्रांतिका निवारण नहीं किया जा सकता। ठीक इसी प्रकार आप्तमीमांसाकी उस कारिकामें पूर्वपक्षीकी जो शंका है कि अपने दुखसे पुण्य और सुखसे पापका बंध होता है, उसके निराकरणके लिये आचार्य उसे एक ऐसा व्यक्ति दिखलाते हैं जिसके दुख-सुख तो हैं, किन्तु फिर भी पुण्य-पापका बन्ध नहीं है। ऐसा व्यक्ति वेदनीयोदयसे युक्त किन्तु अबन्धक जीव ही हो सकता है। छठे आदि गुणस्थानवर्ती बंधक जीवोंके उदाहरण पेश करनेसे पूर्वपक्षीकी बातका खंडन कदापि नहीं हो सकता, बल्कि उससे तो उसकी शंकाकी ही पुष्टि होगी, क्यों कि उन साधुओंके सुख-दुख कषाययुक्त होनेसे कर्मबन्धक हैं ही। अतएव पंडितजीके समाधानसे उनके पक्षका समर्थन नहीं होता, बल्कि उससे और भी सुस्पष्ट हो जाता है कि आप्तमीमांसाकी ९३ वीं कारिकामें छठे गुणस्थानवर्ती मुनिका नहीं, किन्तु अबन्धक गुणस्थानवर्ती संयमीका ग्रहण किया गया है और यदि विद्वान् विशेषण वहां कोई सार्थकता रखता है तो उससे केवलीका ही बोध होता है जैसा कि आगे दिखाया जायगा।

(६ ख) स्वयं आप्तमीमांसा और उसकी टीकाओंमें अज्ञानको मल ही कहा है—

इस सिलसिलेमें पंडितजीने मेरे सिर एक सैद्धान्तिक भूल जबर्दस्ती मढ़ दी है कि मैंने "अज्ञानको भी बन्धका कारण" बतलाया है और फिर आपने उस पर एक लम्बा व्याख्यान भी झाड़ा है। मुझे आश्चर्य है कि पंडितजीने मेरे

लेखमें उक्त बात कहाँ पढ़ ली ? उन्होंने अपने दोषारोपण की पुष्टिमें जो मेरा वाक्यांश उद्धृत किया है वह अपनी कारणपरंपराको लिये हुए पूर्णत: इस प्रकार है—

"कारिकामें जो विद्वान् विशेषण भी लगाया गया है, और जिसपर न्यायाचार्यजीने सर्वथा ही कोई ध्यान नहीं दिया है, उससे स्पष्ट है कि आचार्य ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंके भी पार जाकर केवलीके दो स्थानोंकी ओर ही यहाँ दृष्टि रखते हैं। उनके ऐसा करनेका कारण यह प्रतीत होता है कि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें वीतरागता होते हुए भी अज्ञानके सद्भावसे कुछ मलोत्पत्ति की आशंका हो सकती है। किन्तु अन्तिम दो गुणस्थान ऐसे हैं जहाँ साता व असाता वेदनीय आदि अघातिया कर्मोंके उदयसे सुख और दुखका वेदन तो संभव है, किन्तु कषाय व अज्ञानके अभावसे पुण्यपाप बन्ध या किसी भी प्रकारके अन्तरंग मलकी संभावना नहीं रहती। अतएव उन्होंने इन्हीं दो गुणस्थानोंका ग्रहण किया है।"

कृपाकर पाठक देखें कि मैंने यहां कहां अज्ञानको बन्ध का कारण कहा है ? मैंने तो उससे मलोत्पत्तिकी बात कही है और वह ठीक भी है क्यों कि स्वयं आप्तमीमांसाकारने उसे दोष कहा है और उसे मलकी उपमा दी है और अकलंक तथा विद्यानन्दि जैसे टीकाकारोंने भी उसे आत्मा का मल ही कहा है। यथा—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः।.........प्रतिपन्न एवात्मना-आगन्तुको मलः परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्। द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च। तत्र स्वाभाविकोऽनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात्। मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः कर्मोदयनिमित्तकत्वात्।

धवलाकारने ज्ञान और दर्शन आवरणोंको रज कहा है। यथा—

ज्ञान-दृगावरणानि रजांसीव बहिरंगान्तरंगाशेष-त्रिकालगोचरानन्तार्थव्यंजनपरिणामकवस्तुविषयबोधानुभ-वप्रतिबन्धकत्वाद् रजांसि। (षट् ख० प्र० १ पृ० ४३)

मैं पंडितजीसे जानना चाहता हूं कि इसमें मेरी कौनसी सैद्धान्तिक भूल है ? अज्ञानको बन्धका कारण तो न्याया-चार्यजीने इसकी भूल बतलानेका सुयश लूटनेके लिये जान बूझ कर स्वयं कल्पित कर लिया है। ऐसी हीनप्रवृत्ति एक न्यायाचार्यके योग्य नहीं।

(६ ग) वीतराग और विद्वान् पद दो अलग अलग मुनियोंके वाचक नहीं—

यद्यपि पूर्वोक्त विवेचनसे पूर्णत: सिद्ध हो जाता है कि आप्तमीमांसाकी ९३ वीं कारिकामें छठे आदि गुणस्थानवर्ती साधुका ग्रहण कदापि नहीं बन सकता और इस लिये पंडितजीकी तत्संबंधी अन्य कल्पनाओंकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती। तथापि उन्होंने अपने निष्फल प्रयासमें ऐसी भूलें की हैं जिनसे साधारण पाठकोंको भ्रान्तियां उत्पन्न हो सकती हैं। अतएव उनका निवारण कर देना भी उचित जान पड़ता है। पंडितजी लिखते हैं कि "९३ वीं कारिकामें जो वीतरागो मुनिर्विद्वान् शब्दका प्रयोग है वह एक पद नहीं है और न एक व्यक्ति उसका वाच्य है। किन्तु ९२ वीं कारिकामें आये हुए 'अचेतनाकषायौ' की तरह इसका प्रयोग है और उसके द्वारा वीतराग मुनि' तथा 'विद्वान् मुनि' इन दोका बोध कराया है" किन्तु उक्त दोनों कारिकाओंमें जो बड़ा भारी भेद है उस पर पंडितजीकी दृष्टि नहीं गई जान पड़ती। प्रथम कारिकामें आचार्यने परमें सुख-दुख उत्पन्न करने वाले दो भिन्न प्रकार के उदाहरण दिये हैं—एक अचेतनका और दूसरा सचेतन का और इसी लिये उन्होंने उनके साथ द्विवचनका प्रयोग किया है और उनकी क्रिया भी द्विवचनमें रखी गई है। किन्तु दूसरी कारिकामें स्वत: दुख सुख संवेदन करने वाला उदाहरण केवल एक सचेतनका ही दिया जा सकता है, अचेतनका नहीं। वीतराग और विद्वान् गुण परस्पर विरोधी भी नहीं जो एक ही व्यक्तिमें न पाये जाते हों। यथार्थत: तो वे परस्पर सापेक्ष हैं। यह बात भी नहीं कि वीतराग मुनि के दुखसे तो पुण्यबंध न होता हो किन्तु सुखसे पाप बन्ध होने लगता हो और न विद्वान् मुनिके सुखसे पापका अभाव होते हुए दुखसे पुण्यबंध हो जाता हो। इस कारिकामें क्रिया भी एक वचन है। तब फिर यहां वीतराग और विद्वान् दोनोंके विशेष्य दो अलग अलग मुनि मानने की क्या सार्थकता है और इसके लिये कारिकामें क्या आधार है ? यदि टीकाकारने 'वीतरागो विद्वांश्च मुनिः' भी

कर दिया तो उनका जोड़ा हुआ 'च' दोनों विशेषणोंको जोड़कर उन्हें एक मुनिके ही तो विशेषण बनाता है। उस से दो मुनि कहाँसे खड़े होगये, जिनमेंसे एक वीतराग है पर विद्वान् नहीं और दूसरा विद्वान् है किन्तु वीतराग नहीं? पंडितजीने इन्हें अलग अलग तपस्वी साधु और उपाध्याय परमेष्ठी पर घटाया है। परन्तु क्या जो तपस्वी साधु होता है वह वीतराग होकर विद्वान् नहीं होता या उपाध्याय परमेष्ठी विद्वान् होकर वीतराग नहीं होते? न्यायाचार्यजीने इस सम्बन्धमें लिखा है—"जान पड़ता है प्रो० सा० को कुछ भ्रान्ति हुई है और उनकी दृष्टि 'च' शब्द पर नहीं गई। इसीसे उन्होंने बहुत बड़ी गलती खाई है और वे 'वीतराग विद्वान् मुनि' जैसा एक ही पद मान कर उसका केवली अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं।" मैं पंडितजीसे पूछता हूँ कि 'च' शब्द पर मेरी ही दृष्टि नहीं गई या स्वयं आप्तमीमांसाकारकी भी नहीं गई, क्यों कि उनकी कारिकामें भी 'च' कहीं दिखाई नहीं देता? बड़ी कृपा होगी यदि पंडितजी यह बतला देंगे कि प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें कौनसा तप करके साधु 'वीतराग' संज्ञा प्राप्त कर लेता है जिससे उसके दुःखसे पुण्यबंध नहीं होता और कौन सी विद्या पढ़कर वह ऐसा 'विद्वान्' हो जाता है जिस से उसके सुखसे पापबन्ध नहीं होता? उनके इस स्पष्टीकरणसे मेरी ही नहीं, किन्तु समस्त जैनसिद्धान्तकी 'भ्रांति' और 'बहुत बड़ी गलती' सुधर जावेगी, क्यों कि अभी तक उस सिद्धान्तानुसार छठे गुणस्थानमें अबन्धक भाव किसी अवस्थामें भी नहीं पाया जाता। इस गुणस्थानवाला साधु तो जो भी दुःख-सुख अनुभव करता या कराता है उससे पुण्य-पाप बन्ध होना अनिवार्य है, क्यों कि उसकी कोई भी प्रवृत्ति कषायसे सर्वथा मुक्त हो ही नहीं सकती। वीतरागता और विद्वत्ताके बलसे मन, वचन और काय की ऐसी प्रवृत्तियां जिनके द्वारा पुण्य-पाप बन्ध न हो, तो स्वामी समन्तभद्रने केवल सयोगिकेवलीके ही मानी हैं क्यों कि उन्होंने स्वयंभूस्तोत्रमें स्पष्ट कहा है कि—

> काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
> नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्॥

(६ घ) किसी गुणस्थानमें किसी कर्मका बन्ध न होने से वहाँ उसका उदयाभाव नहीं सिद्ध होता—

पंडितजीने सिद्धान्तमें एक नया शोध यह किया है कि "*यथार्थतः* संसारी जीवोंमें स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्धपूर्वक ही सुख-दुःखकी वेदना देखी जाती है। केवली में यह दोनों प्रकारके बन्ध नहीं होते तब उनके वेदना कैसे हो सकती है?" न्यायाचार्यजीकी इतनी स्थूल सैद्धान्तिक भ्रान्तिसे एक साधारण कर्मसिद्धान्तज्ञको भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। यदि जिस गुणस्थानमें जिस कर्मका बन्ध नहीं होता उसका वेदन अर्थात् उदय भी न होता हो तो मैं पंडितजीसे पूछता हूँ कि जब नपुंसक वेदका बन्ध प्रथम गुणस्थानमें व स्त्रीवेदका द्वितीय गुणस्थानमें ही व्युच्छिन्न होजाता है तब उनका वेदन नौवें गुणस्थान तक किस प्रकार होता होगा? नरक गतिका बन्ध प्रथम गुणस्थानमें ही समाप्त होजाने पर भी चौथे गुणस्थान तक उसका उदय कैसे होता है? तिर्यंचगति व मनुष्यगतिका बंध क्रमशः द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानमें ही टूट जाने पर भी उनका उदय क्रमशः पांचवें और चौदहवें गुणस्थान तक कैसे माना गया होगा? ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका बंध दशवें गुणस्थानके आगे नहीं होता, फिर बारहवेंके अन्त तक उनकी वेदना कैसे होती होगी? स्वयं तीर्थंकर प्रकृति आठवें गुणस्थानसे आगे नहीं बंधती, तब फिर उसका वेदन तेरहवें गुणस्थानमें कैसे संभव होता है? *यथार्थतः* सयोगिकेवलीके बन्ध तो केवल सातावेदनीय-मात्रका होता है और वह भी स्थिति और अनुभाग-रहित केवल ईर्यापथिक। किन्तु उदयानुसार वेदना उनके ४२ कर्म प्रकृतियोंकी पाई जाती है और अयोगिकेवलीके भी १३ की। इनका वहां स्थिति व अनुभाग बन्ध न होने पर भी वेदन कहांसे आता है?

पंडितजी! कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्था तो यह है कि सब प्रकृतियोंकी बन्ध और उदयव्युच्छित्ति एक ही साथ व एक ही गुणस्थानमें नहीं होती। बांधे हुए कर्मोंका तत्काल उदय भी नहीं होता। उनके स्थितिबन्धानुसार जब उनका आबाधाकाल समाप्त हो जाता है तभी वे उदयमें आ सकते हैं, और फिर वे अपने उदयव्युच्छित्ति स्थान तक अपना वेदन कराते रहते हैं, चाहे वहां उनका

नवक बन्ध होता हो और चाहे न होता हो। वेदनीय कर्मकी बन्ध व उदय व्यवस्था यह है कि उसका तीस कोड़ाकोड़ी सागरका उत्कृष्ट स्थितिबंध कम होते-होते सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें उसका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्तका होता है। जब जीव इस गुणस्थानसे ऊपर जाकर अबन्धक हो जाता है उस समय उसके वेदनीय कर्मका पूर्व संचित स्थितिसत्त्व अपने अविनाभावी योग्य अनुभाग सहित असंख्यात वर्ष प्रमाण का रहता है जो, क्षीणकषाय और सयोगी गुणस्थानोंमें भी बराबर अपना साता व असातारूप वेदन कराया करता है। सयोगी गुणस्थानमें आयुके अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर यदि उसका स्थितिसत्त्व आयुप्रमाणसे अधिक शेष रह गया तो केवली समुद्घात द्वारा उसकी स्थिति आयुप्रमाण करली जाती है। इससे कम उसका स्थितिसत्त्व कदापि नहीं हो सकता और इसीसे अयोगी गुणस्थानमें भी आयु के अन्तिम समय तक उसका साता व असातारूप उदय केवलीको भोगना ही पड़ता है। अतएव न्यायाचार्यजीका यह कथन कि "केवलीमें बिना स्थितिबंध और अनुभाग-बन्धके सुख और दुखकी वेदना किसी भी प्रकार संभव नहीं है" सर्वथा कर्मसिद्धान्तके प्रतिकूल है और केवलीमें साता व असाता कर्मजन्य सुख दुखकी वेदनायें सिद्धान्त-सम्मत हैं।

(६२) केवलीमें सुख-दुखकी वेदनायें सिद्धान्त सम्मत हैं!

पंडितजीकी आशंका है कि "केवलीके सुख दुखकी वेदना माननेपर उनके अनन्तसुख नहीं बन सकता।" किन्तु यदि ऐसा होता तो फिर कर्मसिद्धान्तमें केवलीके साता और असाता वेदनीय कर्मका उदय माना ही क्यों जाता? और यदि सुख दुखकी वेदनामात्रसे किसी जीवके गुणका घात होता तो वेदनीय कर्म अघातिया क्यों माना जाता? हम ऊपर देख ही चुके हैं कि वेदनीय जीवके गुणों का घात तो तभी तक करता है जब तक वह मोहनीयसे अनुलिप्त रहता है। किन्तु अपने अघातिया रूप उदयमें तो वह आयु, नाम व गोत्र कर्मोंके समान फल देते हुए भी जीवके गुणोंका घात नहीं करता। हम ऊपर राजवार्तिक कारिका मत उद्धृत कर चुके हैं जिसके अनुसार वेदनीय जन्य वेदना ज्ञान दर्शनकी विरोधिनी नहीं किन्तु उनकी अनुषंगिनी है। अतएव सयोगि अयोगि केवलियोंका ज्ञान और सुख अन्य अघातिया कर्मोंके अतिरिक्त वेदनीय जन्य वेदनाओंसे विशिष्ट तो रहता ही है, और यही एक विशेषता नष्टघातिक केवलियों और विनष्टकर्म सिद्धोंके अनुभवनमें पाई जाती है। सिद्धोंको कोई साता-असाता रूप कर्मफल भोगना शेष नहीं रहा, इससे उनका सुख अव्याबाध कहा जाता है; परन्तु सयोगि-अयोगि केवलियोंको अपने साता-असाता कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है और इसी से उनका सुख सिद्धोंके समान अव्याबाध नहीं है। धवलाकार सिद्धों और अर्हन्तोंमें भेद बतलाते हुए कहते हैं—

सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः, नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्तः इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदय सत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपातान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदय-सत्त्वास्तित्व-सिद्धेः। तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जाति जरा-मरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातन सामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतभेद इति चेन्न आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमन-सुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्।

(षट् ख० भा० १ पृ० ४६-४७)

अर्थात —

१ प्रश्न - सिद्धों और अर्हन्तोंमें क्या भेद है?

उत्तर - सिद्धोंके आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, परन्तु अर्हन्तोंके केवल चार घातिया कर्म ही नष्ट हुए हैं, यह दोनोंमें भेद है।

२ प्रश्न—घातिया कर्मोंके नाश हो जानेसे तो आत्मा के समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इस लिये गुणोंकी अपेक्षा तो दोनोंमें कोई भेद नहीं रहता?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्यों कि अर्हन्तोंमें अघातिया कर्मोंका उदय और सत्त्व दोनों पाये जाते हैं।

३ प्रश्न - ये अघातिया कर्म तो शुक्लध्यानरूपी अग्निसे अधजले हो जानेके कारण होते हुए भी अपना कोई कार्य नहीं कर पाते?

उत्तर—ऐसा भी नहीं है, क्यों कि शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध ही नहीं होता, अतएव आयु आदि

शेष कर्मोंके उदय और सत्त्व दोनोंका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

४ प्रश्न—कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त संसार है जो अर्हन्तोंके नहीं पाया जाता, तथा अघातियाकर्म आत्माके गुणोंका घात करनेमें असमर्थ भी हैं; अतएव सिद्धों और अर्हन्तोंमें गुणकृत कोई भेद नहीं पाया जाता?

उत्तर—यह बात नहीं है, क्योंकि जीवके ऊर्ध्वगमन-स्वभावका प्रतिबन्धक आयुकर्मका उदय और सुखका प्रतिबन्धक वेदनीयकर्मका उदय अर्हन्तोंमें पाया जाता है। अतएव अर्हन्तों और सिद्धोंमें गुणकृत भेद मानना ही पड़ेगा।

वीरसेन स्वामीके इन प्रश्नोत्तरोंसे सूर्य प्रकाशवत् सुस्पष्ट हो जाता है कि अर्हन्तावस्थामें भी वेदनीय कर्म अपने उदयानुसार सुखमें बाधा उत्पन्न करता ही है, जिससे अर्हन्तकेवली भगवानका सुख सिद्धोंके समान अव्याबाध नहीं है। (शेष अगली किरणमें)

हरिषेणकृत अपभ्रंश-धर्मपरीक्षा

(लेखक—डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०)
(अनुवादक—साहित्याचार्य पं० राजकुमार शास्त्री)

[गत किरणसे आगे]

(२) हरिषेण २, ११—
णिद्धण जाणेविणु जारएहिं
तण्यि-आगमणास किएहिं।
मुक्की झड त्ति झाडे वि केम
परिपक्क पंथि णिय बोरि जेम।
णिय-पिय-आगमणु मुणंतियाए
किउ पवसिय-पिय-तिय-वेसु ताए।

(३) अमितगति, ४. ८४-८५—
पत्युरागममवेत्य विटौघैः
सा विलुण्ठ्य सकलानि धनानि।
मुच्यते स्म बदरीदरयुक्तै—
स्तस्करैरिव फलानि पथिस्था॥
सा विबुध्य दयितागमकालं
कल्पितोत्तमसतीजनवेषा।
तिष्ठति स्म भवने त्रपमाणा
वञ्चना हि सहजा वनितानाम्॥

(४) हरिषेण २, १५—
भणिउ तेण भो णिसुणहि गहवइ,
छाया इव दुगेज्झ महिला-मइ।

(४) अमितगति ५, ५६—
चर्मेव स्वार्थतानिष्ठा
वाङ्कजालेव तापिका।
छायेव दुर्ग्रहा योषा
सन्ध्येव क्षणरागिणी॥

(५) हरिषेण २, १६—
भणिउ ताय संसारे असारए
को वि ण कासु वि दुह-गरुयारए।
मुय-मणुयं सहु अत्थु ण गच्छइ
सयणु ससाणु जाम अणुगच्छइ।
धम्माहम्मु णवरु अणुलग्गउ
गच्छइ जीवहु सुइ-दुइ-संगउ।
इय जाणेवि ताय दाणुल्लउ
दिज्जइ सुरत्ते अइभल्लउ।
इट्ठ-देउ णिय-मणि झाइज्जइ
सुइ-गइ-गमणु जेण पाविज्जइ।

(५) अमितगति ५, ८२-५—
तं निजगाद तदीयतनूज—
स्तात विधेहि विशुद्धमनास्त्वम्।

कंचन धर्ममपाकृतदोषं
यो विदधाति परत्र सुखानि ॥
पुत्रकलत्रधनादिषु मध्ये
कोऽपि न याति समं परलोके ।
कर्म विहाय कृतं स्वयमेकं
कर्तुमलं सुखदुःखशतानि ॥
कोऽपि परो न निजोऽस्ति दुरन्ते
जन्मवने भ्रमतां बहुमार्गे ।
इत्थमवेत्य विमुच्य कुबुद्धिं
तात हितं कुरु किंचन कार्यम् ॥
मोहमपास्य सुहृत्तनुजादौ
देहि धनं द्विजसाधुजनेभ्यः ।
संस्मर कंचन देवमभीष्टं
येन गतिं लभसे सुखदात्रीम् ॥

(एफ) अमितगति अपनी निरूपण-कलामें पूर्ण कुशल हैं और उनका सुभाषितसन्दोह[1] सालंकार कविता और अत्यन्त विशुद्ध शैलीका सुन्दर उदाहरण है। 'वह संस्कृत भाषाके व्याकरण और कोष पर अपना पूर्णाधिकार समझते हैं और क्रियाओंसे भिन्न भिन्न शब्दोंकी निष्पत्तिमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती।' इनकी धर्मपरीक्षामें अनुसन्धान करनेपर बहुत कुछ प्राकृतपन मिलता है। लेकिन अपेक्षाकृत वह बहुत कम है और सुभाषितसन्दोहमें तो उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। धर्मपरीक्षामें जो प्राकृत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वह केवल कुछ उधारू शब्दों तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह अधिकांशमें धातु-सिद्ध शब्दोंके उपयोग तक पहुँच गया है जैसा कि हम कुछ उदाहरणोंसे देख सकते हैं। 'जो धातु-रूप भूत कर्म-कृदन्त के रूपमें उपयुक्त किया गया है वही बादको प्राकृतमें करीब करीब कर्तृरूपमें व्यवहृत हुआ है। और यह ध्यान देनेकी बात है कि द्विवचन और बहुवचनमें आज्ञासूचक लकारके स्थानमें स्वार्थ-सूचक लकारका उपयोग किया गया है। उत्तरवर्ती प्राकृतमें भी इस प्रकारके कुछ तत्सम प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही एक और वास्तविक स्थिति यह है कि अमितगतिने अनायास ही जिन प्राकृत शब्दोंका उपयोग किया है उनके स्थानपर संस्कृत शब्दों[2] को वह आसानीसे काममें ले सकते थे। मिरोनो तो इस निष्कर्षपर पहुंचे हैं कि प्रस्तुत रचनाके कुछ अध्याय किसी प्राकृत मूल-ग्रन्थके आधारसे तैयार किए गए हैं। छोहार (७-६३) और मंकारतमठ (७-१०) जैसे उपयुक्त नाम इस बातको पुष्ट करते हैं कि कुछ कथाएँ अवश्य ही किसी मूल प्राकृत रचनासे ली गई हैं। एक स्थान पर इन्होंने संस्कृत योषा शब्दकी शाब्दिक व्युत्पत्ति बनाई है और उनके इस उल्लेख से ही मालूम होता है कि वे किसी मूल प्राकृत रचनाको ही फिरसे लिख रहे हैं। अन्यथा संस्कृतके योषा शब्दको जुष् जोष् जैसी क्रियासे निष्पन्न करना अमितगतिके लिए कहाँ तक उचित है? वे पद्य निम्न प्रकार हैं—

यतो जोषयति क्षिप्रं विश्वं योषा ततो मता।
विदधाति यतः क्रोधं भामिनी भण्यते ततः॥
यतश्छादयते दोषैस्ततः स्त्री कथ्यते बुधैः।
विलीयते यतश्चित्तमेतस्या विलया ततः॥

उपरिलिखित संकेत इस निर्णयपर पहुँचनेके लिए पर्याप्त हैं कि अमितगतिने किसी मूल प्राकृत रचनाके सहारे अपनी रचना तैयार की है। इसमें सन्देह नहीं कि उपदेशपूर्ण विवेचनोंमें उन्होंने स्वयं ही स्वतंत्ररूपसे लिखा है। इसमें ही नहीं, बल्कि अमितगतिको भी इस बातका विश्वास था कि उनका संस्कृत भाषापर अधिकार है। उन्होंने लिखा है कि मैंने धर्मपरीक्षा दो महीनेके भीतर और अपनी संस्कृत आराधना चार[3] महीनेके भीतर लिख कर समाप्त की है। यदि इस प्रकारका कोई आशुकवि प्राकृतके ढाँचेका अनुसरण करता हुआ संस्कृतमें उन रचनाओंको तैयार करता है तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। इसके साथ ही अमितगति मुञ्ज और भोजके समकालीन थे, जिन्होंने अपने समयकी संस्कृत-विद्याको बड़ा अवलम्ब या प्रोत्साहन दिया था। उनकी आराधना इतनी अच्छी है जैसे कि वह शिवार्य

१ काव्यमाला नं० ८२ में संपादित, और स्मिटके जर्मन अनुवादके साथ लीपजिग १६०८ और सिद्धनाथ प्रचारिणी सभा कलकत्ताके द्वारा हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित।

२ डी धर्मपरीक्षा देस अमितगति पृ० ७-६

३ देखो पं० नाथूरामजी प्रेमीका 'अमितगतिका समय और उनकी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध। ('जैनसिद्धान्तभास्कर' ८-१ पृ० २६-३८)।

की प्राकृत आराधनाका निकटतम अनुवाद हो और उनकी पंचसंग्रह प्रधानतः प्राकृत पंचसंग्रहके आधारपर ही तैयार किया गया है जो एक हस्तलिखितमें उपलब्ध हुआ है और जिसे कुछ ही दिन हुए पं० परमानन्दजीने[1] प्रकाशमें लाया है। इस प्रकार अमितगतिने अपनी संस्कृत धर्मपरीक्षाकी रचना किसी पूर्ववर्ती मूलप्राकृत रचनाके आधारपर की है, इसमें हरतरहकी संभावना है।

हरिषेणकी अपभ्रंश धर्मपरीक्षा—जो अमितगतिकी धर्म-परीक्षासे २६ वर्ष पहले लिखी गई है और विवरण तथा कथावस्तुकी घटनाओंके क्रमकी दृष्टिसे जिसके साथ अमित-गति पूर्णरूपसे एकमत हैं—को प्रकाशमें लानेके साथ ही इस प्रश्नपर विचार करना आवश्यक है कि क्या अमितगति अपने कथानकके लिये हरिषेण ऋणी हैं? इस संबंधमें हरिषेणने जो एक महत्त्वपूर्ण बात बतलाई है वह हमें नहीं भूल जानी चाहिए। उन्होंने लिखा है कि जो रचना जय-रामकी पहलेसे गाथा-छन्दमें लिखी थी उसीको मैंने पद्धड़िया छन्दमें लिखा है। इसका अर्थ है कि हरिषेणके सामने भी एक धर्मपरीक्षा थी, जिसे जयरामने गाथाओंमें लिखा था और जिसकी भाषा महाराष्ट्री या शौरसेनी रही होगी। जहाँ तक मेरी जानकारी है, इस प्राकृत धर्मपरीक्षाकी कोई भी प्रति प्रकाशमें नहीं आई है और न ही यह कहना संभव है कि यह जयराम उस नामके अन्य ग्रन्थकारोंमेंसे थे, जिन्हें हम जानते हैं[2]। जब तक यह रचना उपलब्ध नहीं होती है और इसकी हरिषेण और अमितगतिकी उत्तरवर्ती रच-नाओंसे तुलना नहीं की जाती है, इस प्रश्नका कोई भी परीक्षणीय ही (tentative) बना रहेगा। हरिषेणने जिस ढंगसे पूर्ववर्ती धर्मपरीक्षाका निर्देश किया है उससे मालूम होता है कि उनकी प्रायः समस्त सामग्री जयरामकी रचनामें मौजूद थी। इससे हम स्वभावतः इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि धर्मपरीक्षाकी संपूर्ण कथावस्तु जयरामसे ली हुई होनी चाहिए और इस तरह अमितगति हरिषेणके ऋणी हैं यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह अधिक संभव है अमितगतिने अपनी धर्मपरीक्षाकी रचना जयरामकी मूल प्राकृत रचनाके आधार पर की हो, जैसे कि उन्होंने अपने पंचसंग्रह और आराधनाकी रचना प्राकृतके पूर्ववर्ती उन उन ग्रन्थोंके आधार पर की है। संस्कृत रचनाके लिए अपभ्रंश मूल-ग्रन्थके उपयोग करनेकी अपेक्षा प्राकृत मूल (महाराष्ट्री या शौरसेनी) का उपयोग करना सुलभ है।

(एच) उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरके प्रसंगमें मैं प्रस्तुत समस्या पर कुछ और प्रकाश डालना चाहता हूँ। अमित-गतिकी धर्मपरीक्षामें इस प्रकारके अनेक वाक्यसमूह हैं, जिनमें हम प्रत्यक्ष प्राकृतपन देख सकते हैं। यदि यह प्राकृतपन हरिषेणकी धर्मपरीक्षामें भी पाया जाता तो कोई ठीक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में हरिषेण और अमितगति—दोनों ही की रचनाएं जयराम की रचनानुसारी होतीं। लेकिन यदि यह चीज प्रसंगानुसार हरिषेणकी रचनामें नहीं है तो हम कह सकते हैं कि अमितगति किसी अन्य पूर्ववर्ती प्राकृत रचनाके ऋणी हैं और संभवतः वह जयरामकी है। यहाँ पर इस तरहके दोनों रचनाओंके कुछ प्रसंग साथ साथ दिए जाते हैं—

(१) अमितगतिने ३, ६ में 'हट्ट' शब्दका उपयोग किया है।

(१) स्थानोंकी तुलनात्मक गिनती करते हुए हरिषेणने इस शब्दका उपयोग नहीं किया है। देखिए, १, १७

(२) अमितगतिने ५, ३६ और ७, ५ में जेमु धातुका उपयोग किया है। जो इस प्रकार है—

ततोऽवादीन्नृपो नास्य दीयते यदि भूषणम्।
न जेमति तदा साधो सर्वथा किं करोम्यहम्॥

(२) तुलनात्मक उद्धरणको देखते हुए हरिषेणने कडवक ११–१४ में इस क्रियाका उपयोग नहीं किया है। तथा दूसरे उद्धरण (११–२४) में उन्होंने इस प्रकार भुंजक्रियाका व्यवहार किया है—

ता दुद्धरु पभणइ णउ भुंजइ,
जइ तहोणउ आहरणउ दिज्जइ।

(३) अमितगतिने (४,१६ में) योषा शब्दका इस प्रकार शाब्दिक विश्लेषण किया है—

यतो जोषयति क्षिप्रं विश्वं योषा ततो मता।
विदधाति यतः क्रोधं भामिनी भण्यते ततः॥

(३) इसमें सन्देह नहीं है कि अमितगतिकी यह शाब्दिक व्युत्पत्ति प्राकृतके मूल ग्रन्थके आधारपर की गई है,

---

१ 'अनेकान्त' ३, ३ पृ० २५८।

२ देखो, एम० कृष्णमाचारियर कृत 'हिस्ट्री आफ क्लासि-कल लिटरेचर' का इन्डैक्स (१९३७)।

लेकिन हरिषेणने तुलनात्मक प्रसङ्गमें इस प्रकारकी कोई शाब्दिक व्युत्पत्ति नहीं की है। देखो २, १८

(४) अमितगतिने 'ग्रहिल' शब्दका प्रयोग किया है। देखो १३, २३

(४) हरिषेणने तुलनात्मक उद्धरणमें 'ग्रहिल' शब्दका प्रयोग नहीं किया है।

(५) अमितगतिने (१५, २३ में) 'कचग' कब्दका प्रयोग किया है।

(५) तुलनात्मक कडवक (८, १) में हरिषेणने इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है।

उल्लिखित परीक्षणसे इस संभावनाका पर्याप्त निरसन होजाता है कि अमितगतिने अकेली अपभ्रंश रचनाके आधार पर ही अपनी रचनाका निर्माण किया है। इसके सिवाय यत्र-तत्र हमें कुछ विभिन्नताएँ ही मालूम होती हैं। हरिषेणने (१-८ में) विजयपुरी (अपभ्रंश, विजयउरी) नगरीका नाम दिया है, लेकिन अमितगतिने उसी वाक्य-समूहमें उसका नाम प्रियपुरी[1] रक्खा है। दूसरे प्रकरणमें हरिषेणने (२,७में) मंगलउ ग्रामका नाम दिया है, जब कि अमितगतिने (४,८में) उसे संगालो[2] पढ़ा है। मैं नीचे उन उद्धरणोंको दे रहा हूँ। मुझे तो मालूम होता है कि अमितगति और हरिषेणके द्वारा मूल प्राकृतके उद्धरण थोड़ेसे हेरफेरके साथ समझ लिए गए हैं।

हरिषेणकृत धर्मपरीक्षा २, ७—
तो मणवेउ भणइ सुक्खालउ
अत्थि गामु मलए मंगालउ।
भमरु णामि तहिं णिवसइ गिहवइ
तासु पुत्तु णामें महुयरगइ।

अमितगति-धर्मपरीक्षा ४,७ बी-८—
उवाचेति मनोवेग: श्रूयतां कथयामि व:।
देशो मलयदेशोऽस्ति संगालो गलितासुख:।
तत्र गृहपते: पुत्रो नाम्ना मधुकरोऽभवत्॥

उपरिलिखित तर्कोंको ध्यानमें रखते हुए यह निष्कर्ष युक्तिसंगत होगा कि हरिषेण और अमितगति—दोनों ही ने अपने सामनेकी किसी उपलब्ध मूल प्राकृत रचनाके सहारे ही अपनी रचनाका निर्माण किया है और जहाँ तक उपलब्ध तथ्योंका सम्बन्ध है यह रचना जयरामकी प्राकृत धर्मपरीक्षा रही होगी। जहां हरिषेणने अपनी रचनाके मूल स्रोतका स्पष्ट संकेत किया है, वहां अमितगति उस सम्बन्ध में बिलकुल मौन है। यदि कुछ साधारण उद्धरण, जैसे पैराग्राफ नं० सीमें नोट किए गए हैं खोज निकाले जांय तो इसका यही अर्थ होगा कि वे किसी साधारण मूल स्रोतसे ज्योंके त्यों ले लिए गए हैं। चूंकि अमितगति अपने मूल स्रोतके बारेमें बिलकुल मौन हैं इस लिए हम सिद्धान्तरूप से नहीं कह सकते कि अमितगतिने अपनी पूर्ववर्ती मूल प्राकृत रचनाके सिवाय प्रस्तुत अपभ्रंश रचनाका भी उपयोग किया है।

(आइ) धर्मपरीक्षाका प्रधानभाग पौराणिक कथाओंके अविश्वसनीय और असंबद्ध चरित्र-चित्रणसे भरा पड़ा है। और यह युक्त है कि पुराणों और स्मृतियोंके विषय पूर्वपक्षके रूप में उद्धृत किए जाते। उदाहरणके लिए जिस तरह हरिभद्रने अपने प्राकृत धूर्ताख्यानमें संस्कृत पद्योंको उद्धृत किया है और इस बातकी पूर्ण संभावना है कि जयरामने भी अपनी धर्मपरीक्षामें यही किया होगा। हरिषेणकी धर्मपरीक्षामें भी एक दर्जनसे अधिक संस्कृतके उद्धरण हैं और ये तुलनामें अमितगतिकी धर्मपरीक्षाके उद्धरणोंकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं, क्यों कि अमितगतिने इन पद्योंका मनचाही स्वतंत्रताके साथ उपयोग किया है। एक प्राकृत और अपभ्रंशका लेखक उन्हें उसी तरह रखता, जैसे कि वे परंपरासे चले आरहे थे, लेकिन जो व्यक्ति अपनी रचना संस्कृतमें कर रहा है वह उन्हें अपनी रचनाका ही एक अङ्ग बनाने की दृष्टिसे उनमें यत्र-तत्र परिवर्तन कर सकता है। अमितगतिने इन पद्योंको 'उक्तं च' आदिके साथ नहीं लिखा है। हम नीचे हरिषेणके द्वारा उद्धृत किए गए यह पद्य दे रहे हैं और साथमें अमितगतिके पाठान्तर भी। इससे मूलका पता लगाना सुलभ होगा। यह ध्यान देनेकी बात है कि इनमें के कुछ पद्य सोमदेवकी **यशस्तिलक**-चम्पू (ई० स० ९५९) में भी उद्धरणके रूपमें विद्यमान हैं।

---

[1] प्राकृत नाम पियाउरी रहा होगा

[2] यह भेद स और म—जो प्राकृत (हस्तलिखित) में करीब करीब एकसे मालूम होते हैं—के वर्ण-विन्यास सम्बन्धी संदेहसे उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।

(१) हरिषेणकृत धर्मपरीक्षा ४, १ पृ० २२ (नं० १००६ वाली हस्तलिखितका तथा चोक्तम्—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥
अक्षराक्षरनिर्मुक्तं जन्ममृत्युविवर्जितम्।
अव्ययं सत्यसंकल्पं विष्णुध्यायी न सीदति[1] ॥

इन दो पद्योंको अमितगतिने निम्नलिखित रूपमें दिया है—

व्यापिनं निष्फलं ध्येयं जरामरणसूदनम्।
अच्छेद्यमव्ययं देवं विष्णुं ध्यायन्न सीदति ॥
मीनः कूर्मः पृथुः पोत्री नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की दश स्मृताः ॥१०,५८-६

(२) हरिषेणकी धर्मपरीक्षा, ४, ७, पृ० २४—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुकः[2] ॥

अमितगतिका पद्य निम्न प्रकार है—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो न तपसो यतः।
ततः पुत्रमुखं दृष्ट्वा श्रेयसे क्रियते तपः ॥ ११, ८

(३) हरिषेणकृत ध० प०, ४,७ पृ० २४—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते[3] ॥

उल्लिखित पद्यसे अमितगतिके इस पद्यके साथ तुलना की जा सकती है—

पत्यौ प्रव्रजिते क्लीबे प्रनष्टे पतिते मृते।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ११, १२

(४) हरिषेणकृत ध० प०, ४, ६, पृ० २४ ए०—

का त्वं सुन्दरि जाह्नवी किमिह ते भर्ता हरो नन्वयं
अम्भस्त्वं किल वेत्सि मन्मथरसं जानात्ययं ते पतिः।
स्वामिन् सत्यमिदं न हि प्रियतमे सत्यं कुतः कामिनां
इत्येवं हरजाह्नवीगिरिसुतासंजल्पनं पातु वः ॥

अमितगतिकी रचनामें इस पद्यकी तुलनाका कोई पद्य नहीं मिला।

(५) हरिषेणकी ध० प०, ४, १२, पृ० २५ ए—

अङ्गुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिले माधवः किं वसंतो
नो चक्री किं कुलालो न हि धरणिधरः द्विजिह्वः फणीन्द्रः।
नाहं घोराहिमर्दी किमसि खगपतिर्नो हरिः किं कपीशः
इत्येवं गोपवध्वा चतुरमभिहितः पातु वश्चक्रपाणिः[4] ॥

अमितगति इस कोटिका कोई पद्य प्राप्त नहीं कर सके।

(६) हरिषेण ध० प० ५ ६, पृ० ३१ ए—तथा चोक्तं तेन—

अश्रद्धेयं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि यद्भवेत्।
यथा वानरसंगीतं तथा सा प्लवते शिला ॥

अमितगतिके इन दो पद्योंसे भी यही अर्थ निकलता है—

यथा वानरसंगीतं त्वयादर्शि वने विभो।
तरन्ती सलिले दृष्टा सा शिलापि मया तथा ॥
अश्रद्धेयं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि वीक्षितम्।
जानानैः पण्डितैर्नूनं वृत्तान्तं नृपमन्त्रिणोः ॥१२,७२-३

(७) हरिषेण—ध० प०, ५, १७ पृ० ३४—

भो भो भुजंगतरुपल्लवलोलजिह्वे
बन्धूकपुष्पदलसन्निभलोहिताक्षे।
पृच्छामि ते पवनभोजनकोमलाङ्गी
काचित्त्वया शरदचन्द्रमुखी न दृष्टा

अमितगतिकी रचनामें इसकी तुलनाका कोई पद्य नहीं है।

(८) हरिषेणकृत ध० प०, ७, ५, पृ० ४३—

अद्भिर्वाचापि दत्ता या यदि पूर्ववरो मृतः।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति[5] ॥

यद्यपि अर्थमें थोड़ा सा अन्तर है फिर भी उपरिलिखित पद्यकी अमितगतिके अधोलिखित पद्यसे तुलना की जा सकती है—

---

१ इन उद्धरणोंमें हमने केवल इधर-उधरकी घसीटकी अशुद्धियोंको ही शुद्ध किया है।

२ यह पद्य **यशस्तिलकचम्पू** (बम्बई १९०३) के उत्तरार्ध पृ० २८६ में है।

३ यह पद्य **पाराशरस्मृति** १, २८ से मिलता-जुलता है और इसे मिरोनोने अपनी **'दी धर्मपरीक्षा'** में पृ० ३१ पर उद्धृत किया है। इसका मनुसे भी सम्बन्ध मालूम होता है और यह **स्मृतिचन्द्रिकामें** भी है। देखिए, मनुस्मृतिका साप्लीमेंट, गुजराती प्रेस संपा० बम्बई १९१३ पृ० ६ पद्य १२६

४ यह पद्य कुछ पाठ-भेदके साथ सुभाषितरत्नभाण्डागारम्में संगृहीत है। प्रकरण है दशावतार, पृ० सं० ३८, पद्य सं० १६६ (बम्बई १८९१)।

५ प्रकरणानुसार **वाशिष्ठस्मृतिका** १७, ६४ पद्य भी इससे मिलता-जुलता है।

एकदा परिणीतापि विपन्ने दैवयोगतः ।
भर्तर्यक्षतयोनिः स्त्री पुनः संस्कारमर्हति ॥ १४, ३८

(६) हरिषेण—ध० प०, पृ० ४३—
अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी पतितं पतिम् ।
अप्रसूता च चत्वारि परतोऽन्यं समाचरेत् ॥

अमितगतिका पद्य (१४, ३६) निम्नप्रकार है—
प्रतीक्षेताष्टवर्षाणि प्रसूता वनिता सती ।
अप्रसूतात्र चत्वारि प्रोषिते सति भर्त्तरि ॥

(१०) हरिषेण—ध० प०, ७, ८, पृ० ४३ ए—
पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सकम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः[1] ॥
अमितगतिकी धर्मपरीक्षा (१४, ४६) में यह पद्य एकसा है ।

(११) हरिषेण—ध० प०, पृ० ४३ ए०—
मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् ।
अप्रमाणं तु यो ब्रूयात्स भवेद्ब्रह्मघातकः ॥

अमितगतिका तुलनात्मक पद्य (१४, ५०) इस प्रकार है—
मनुव्यासवशिष्ठानां वचनं वेदसंयुतम् ।
अप्रमाणयतः पुंसो ब्रह्महत्या दुरुत्तरा ॥

(१२) हरिषेण—ध० प०, ८, ६, पृ० ४६—
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ।
पश्य लोकस्य मूर्खत्वं हारितं ताम्रभाजनम् ॥

अमितगतिका पद्य प्रथम-पुरुषमें है—
दृष्टानुसारिभिर्लोकैः परमार्थविचारिभिः ।
तथा स्वं हार्यते कार्यं यथा मे ताम्रभाजनम् ॥ १५, ६४

(१३) हरिषेण—ध० प०, ६, २५, पृ० ६१—
प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं ।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ॥
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनतिः सर्वसत्त्वानुकम्पा
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतमतिः श्रेयसामेष पन्थाः[2] ॥

यह पद्य भर्तृहरिके नीतिशतकसे लिया गया है। (नं ५४)

अमितगतिने इस प्रकारके ४ चार विभिन्न प्रकरणोंमें व्यक्त किए हैं। लेकिन इस प्रसंगमें हमें कोई तुलनात्मक पद्य इस कोटिका नहीं मिला है।

(१४) हरिषेण—ध० प०, १०, ६ पृ० ६४—
(ए) स्वयमेवागतां नारीं यो न कामयते नरः ।
ब्रह्महत्या भवेत्तस्य पूर्वं ब्रह्माब्रवीदिदम् ॥
(बी) मातरमुपैहि स्वसारमुपैहि पुत्रार्थी न कामार्थी ।

अमितगतिकी रचनामें उल्लिखित कोटिके कोई उल्लेख नहीं हैं।

(जे) हरिभद्रसूरिका (सन् लगभग ७००-७७०का) प्राकृत का धूर्ताख्यान[3] प्राकृत और संस्कृतके धर्मपरीक्षा ग्रन्थोंमें उपस्थित साहित्यके अग्रवर्ती रूपका सुन्दर उदाहरण है। इन रचनाओंका लक्ष्य पौराणिक कथाओंके अविश्वसनीय चरित्र-चित्रणका भण्डाफोड़ करना है। हरिभद्र अपने उद्देश्य में अत्यन्त बुद्धिपूर्ण ढंग पर सफल हुए हैं। कथानक बिलकुल सीधा-सादा है। पाँच धूर्त इकट्ठे होते हैं और वे निश्चय करते हैं कि प्रत्येक अपना अपना अनुभव सुनावे। जो उनका असत्य कहेगा उसे सबको दावत देनी पड़ेगी और जो पुराणोंसे तत्सम घटनाओंको सुनाता हुआ उसे सर्वोत्तम संभव तरीकेपर निर्दोष प्रमाणित करेगा वह धूर्त-राज समझा जायगा। प्रत्येक धूर्त मनोरंजक और ऊटपटांग अनुभव सुनाता है जिनकी पुष्टि उनका कोई साथी पुराणोंमें तत्सम घटनाओंका उल्लेख करता हुआ करता है।

---

1 यह और निम्नलिखित पद्य **यशस्तिलकचम्पू** उत्तरार्द्ध पृ० १२६ में है। पद्य नं० १० **मनुस्मृतिके** १२, ११०-१ की कोटिका है।

2 यह पद्य **यशस्तिलकचम्पू** उत्तरार्द्ध पृ० ६६ में कुछ विभिन्न पाठान्तरोंके साथ पाया जाता है—**प्रदानम्** के स्थानपर **प्रदेयम्**, **सत्वनुकम्पा**की जगह **भूतानुकम्पा**, **मतिः** के स्थानपर **विधिः** **पन्थाः** के स्थानमें **मार्गः**। दो नामाङ्कित विभिन्न पाठान्तरोंके साथ यह पद्य **सुभाषितरत्नभाण्डागारम्** (पृ० २८२ पद्य सं० १०५६) में भी है—**विनतिः** के स्थानपर **विनयः** और **सत्वानुकम्पा** की जगह **भूतानुकम्पा**।

3 धर्मपरीक्षाके अध्ययनके प्रसंगमें मिरोनोने **धूर्ताख्यान** का पहलेसे ही निर्देश किया है। मैं प्रो० जिनविजयजी भारतीय विद्याभवनका अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने कृपाकर अप्रकाशित धूर्ताख्यानके—जिसका कि वे संपादन कर रहे हैं—एडवांस फार्मोंको, मुझसे यह ज्ञात कर भेज दिया कि मैंने हाल ही में एक नई अपभ्रंश धर्मपरीक्षा उपलब्ध की है।

आख्यान केवल रोचक ही नहीं है, बल्कि विविध पुराणोंके विश्वसनीय चरित्र-चित्रणके विरुद्ध एक निश्चित पक्ष भी जागृत करता है। हरिभद्रने जैनधर्मके पक्षका अभिनय जान बूझ कर नहीं किया है, यद्यपि उन्होंने ग्रन्थके अंत तक पहुंचते पहुंचते इस बातका संकेत कर दिया है (१२०-२१)। पुराणोंके विरुद्ध हरिभद्रका आक्रमण विवाद-रहित और सुझाव-पूर्ण है, जब कि धर्मपरीक्षाके रचनाकारों—हरिषेण और अमितगतिने इसे अत्यन्त स्पष्ट और तीव्र कर दिया है। दोनोंने आक्रमणके साथ ही जैन आध्यात्मिक, धार्मिक और आचारसम्बन्धी बातोंका प्रतिपादन बहुत जोरके साथ किया है। हरिभद्रने पुराणोंकी काल्पनिक कथाओंके भवनको बड़े ही विनोदके साथ छिन्न-भिन्न किया है, लेकिन हरिषेण और अमितगति तो इससे कुछ कदम इतने आगे और बढ़ गए हैं कि उन्होंने उनके स्थान पर जैन उपदेशोंके गगन-चुम्बी महल ही खड़े कर देने चाहे हैं। जयरामकी रचनाके विशुद्ध जैनवर्णनोंका ठीक परिमाण हमें मालूम नहीं है, लेकिन हरिषेणने उन्हें खूब रक्खा है और अमितगतिने तो हद ही करदी है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्मपरीक्षाके प्रथम कलाकार—जो मेरी समझमें जयराम हैं—को धूर्तख्यान या इसके अन्य किसी मूल-ग्रन्थकी जानकारी अवश्य रही होगी। उद्देश्य और लक्ष्य एक है। लेकिन रचनाएं भिन्न भिन्न तरीके पर संपादित की गई है, कथानकके मुख्यकथाके पात्र, स्थितियाँ, सम्बन्ध और कथावस्तुका ढाचा—सब कुछ धूर्तख्यान में उपलब्ध इन वस्तुओंमे विभिन्न है। दस अन्तर्कथाए और चार मूर्खोंकी कथाएं, जो धर्मपरीक्षामें ग्रथित हैं, इस बातको निश्चितरूपसे बताती हैं कि इसमें—धूर्ताख्यान जैसे अन्य ग्रन्थोंका जरूर उपयोग किया गया है। अमितगतिकी धर्मपरीक्षामें भी कुछ अप्रामाणिक कथाएं हैं जो प्रस्तुत धर्मपरीक्षाकी कथाओंसे मिलती-जुलती हैं। उदाहरणके लिए हाथीकमण्डलु (अमि० ध० १-१७ आदि और ध० प० १२-७७ आदि) की उपकथा तथा उस विच्छिन्न शिरकी उपकथा जो वृक्षपर फल खा रहा है (अ० ध० ३, १७ आदि और ध० प० १६-३४ आदि) इत्यादि। यत्र-तत्र वही एकसी पौराणिक कथाएं दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे कि इन्द्र-अहल्याकी, अग्निको भक्षण करती हुई यम-पत्नीकी और ब्रह्मा-तिलोत्तमाकी उपकथा आदि। लेकिन उपरिनिर्दिष्ट पौराणिक विवरण जो साधारण अप्रामाणिक कथाओंकी पृष्ठिमें उपस्थित किए गए हैं, दोनों धर्मपरीक्षाओंमें एकसे नहीं पाए जाते हैं। इसका यह आशय है कि जयराम और उनके अनुयायी—हरिषेण और अमितगति—ने ऊटपटांग कथाओं और अविश्वसनीय विवरणोंके लिए पुराणोंकी स्वतंत्रताके साथ खूब छानबीन की है। जो हो, अमितगतिकी धर्मपरीक्षा और हरिषेण की धर्मपरीक्षा—दोनों ही रुचिकर और शिक्षाप्रद भारतीय साहित्यके सुन्दर नमूने हैं। पुराणपंथके उत्साही अनुयायियों को एक तीखा ताना इन रचनाओंसे मिल सकता है। किन्तु भारतीय साहित्यके निष्पक्ष विद्यार्थीपर उसका अधिक असर नहीं पड़ेगा; क्योंकि उसके लिए कल्पनाकी प्रत्येक दृष्टि अतीतकी उस महान् साहित्यिक निधिको और अधिक समृद्ध करती है जो उसे विरासतमें मिली है[1]।

१ यह निबंध अखिल भारतीय प्राच्यसम्मेलन-हैदराबादके ग्यारहवें अधिवेशनमें भी उपस्थित किया गया था।

भूल-सुधार

'अनेकान्त' की गत १ली किरणमें (पृ० ६ पर) जो 'श्रीजम्बूजिनाष्टकम्' मुद्रित हुआ है उसके दो वाक्य—तीसरे पद्यका उत्तरार्द्ध और चौथे पद्यका पूर्वार्द्ध—छपनेसे छूट गये हैं। पाठक उन्हें यथास्थान निम्न प्रकारसे संयोजित करलें :—

विहाय यो बाल्यवयस्यसीमान्भुजङ्गभोगान्करुणान्तरात्मा।
निमित्तमासाद्य गृहीतदीक्षो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी॥३॥
विजित्य विद्याधररत्नचूलं महाबलं दुर्जय-विक्रमं यः।
प्रपन्ननिर्वेददिगम्बरत्वो जिनोऽस्तु जम्बूर्मम मार्गदर्शी॥४॥

धवला-प्रशस्तिके राष्ट्रकूट नरेश

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०)

'अनेकान्त' वर्ष ७ किरण ११-१२ में मेरा एक लेख 'श्रीधवलाका समय, शीर्षक प्रकाशित हुआ था। उस लेख में मैंने षट्खंडागम पुस्तक १ की प्रस्तावनामें प्रो० हीरालालजी द्वारा निर्णीत धवलाके रचना-काल पर प्रबल ऐतिहासिक एवं ज्योतिष-संबंधी बाधाएँ उपस्थित करते हुए सप्रमाण यह सिद्ध किया था कि धवला-प्रशस्तिमें उल्लिखित समय शक संवत् ७३८ न होकर विक्रम संवत ८३८ है। मेरे उस लेखके उत्तरमें प्रो० हीरालालजीके सुपुत्र श्रीप्रफुल्लकुमार मोदीका एक लेख श्रीधवलका रचना-काल' शीर्षक अनेकान्तकी गत किरण १ में प्रकाशित हुआ है।

अपने लेखमें मोदीजीने मेरे लेखमें प्रस्तुत अनेक बातों को ऐतिहासिक दृष्टिसे चिन्तनीय बतलाते हुए भी उनकी चिन्ता करना तब तक निष्फल ही बताया है जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि विक्रम संवत ८३८ भी धवलाकी समाप्तिके लिये संभव माना जा सकता है। सबसे ज्यादा जबरदस्त बाधा जो आपने उपस्थित की है वह 'शक संवत् ७०३ (वि० सं० ८३८) में वीरसेन द्वारा जगतुंगदेव के राज्यके उल्लेखके किये जानेका सर्वथा असंभव होना है। अतः यह लिख कर आपने अपने इस लेखका अन्त कर दिया कि 'जब तक इस एक प्रधान बातके प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत न किये जायँ तब तक बा० ज्योतिप्रसादजीकी शेष कल्पनाओंके विचारमें समय व शक्ति लगाना निष्फल है।"

यह तो विद्वान लोग ही निर्णय कर सकेंगे कि क्या मेरा उपर्युक्त लेख मोदीजीके अनुसार मात्र कल्पनाओंकी नींव पर ही खड़ा है और इतना उपेक्षणीय है, तथा मोदीजीके ही शब्दोंमें उनके "पिताजी प्रो० डाक्टर हीरालालजी ने अपना विवक्षित समय-निर्णय कैसी 'विशेष खोज-बीन पूर्वक' किया है? वास्तवमें मोदीजी द्वारा किये गये वैयक्तिक आक्षेपोंका उत्तर देना तो व्यर्थ है। देखना तो यही है कि क्या धवलाकी समाप्ति विक्रम संवत् ८३८ में होनेमें कोई बाधा भी है? और क्या मोदीजी द्वारा प्रस्तुत की गई प्रधान बाधामें भी कोई सार है? प्रशस्तिका 'जगतुंगदेव-रज्जे' पद ही इस समय विचारणीय है। जैसा कि मोदीजीने प्रतिपादन किया है, और मेरी स्वयंकी भी पहिले जैसी धारणा थी, कि "राष्ट्रकूट वंशके जगतुंग उपाधिधारी अनेक राजाओंमें सबसे प्रथम गोविन्द तृतीय पाये जाते हैं" सो बात भ्रमपूर्ण है जैसा कि मुझे इस बीच में उक्त वंश और कालके विशेष अध्ययनसे मालूम हुआ है। गोविन्द द्वितीयका अपने समयका कोई ताम्रपत्र इत्यादि अभिलेख न होनेसे तथा वाणी-डिंडोरी, राधनपुर, बड़ौदा आदिके दानपत्रोंमें उसका कोई उल्लेख न होने से डा० फ्लीटका यही विश्वास था कि गोविन्द द्वितीयने कभी राज्य ही नहीं किया[1]। डा० भंडारकर[2], रेऊ[3] तथा अन्य विद्वान् भी इस सबंधमें संदिग्ध ही रहे। बड़ौदा ताम्रपत्र (८८१ ई०) कपडवंज दानपत्र (६१० ई०) तथा वेगुमारा दानपत्र (६१४ ई०) में दी हुई राष्ट्रकूट वंशावलियोंमें भी उसका नाम नहीं है[4] किन्तु बादको दो एक ऐसे प्रमाण उपलब्ध हो गये कि जिनके आधारपर उसके राजा होनेमें सन्देह नहीं रहा। इन प्रमाणोंमें सबसे प्रबल वह स्तम्भ लेख है जो मि० राइस साहिबने खोज निकाला था और जिसमें गोविन्द द्वि० का उल्लेख 'अकाल वर्ष (कृष्ण) के पुत्र जगतुङ्ग प्रभूतवर्ष प्रतापावलोक" के रूपमें

१ E. I. X 1909-10 p. 84.

२ Bhandarkar: Early History of the Dekkan p. 49. & Vani-Dindori and and Radhanpur gratns-I. A. XI. P. 157.

३ रेऊ : भारतके प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृ० ३२-३३

४ Alteka: Rashtra kutas & their timies p 48 & n. 1.

दिया है[१]। इससे स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि गोविन्द द्वितीयकी एक उपाधि जगतुंग भी थी और इस प्रकार राष्ट्रकूट वंशका जगतुंग उपाधिधारी सर्व प्रथम राजा वही था न कि गोविन्द तृतीय।

साथ ही, गोविन्द द्वि०के राज्यकालके संबंधमें प्रायः सब ही विद्वान अनिश्चित हैं। उसके पिता कृष्णराजके समयके सन् ७७० ई० के अभिलेखमें उसका उल्लेख गोविंदराजके नामसे मात्र एक राजकुमारके रूपमें है[२]। सन् ७७२ ई० के अभिलेखमें वह 'युवराज'के रूपमें मिलता है[३]। उसका अपना कोई समकालीन अभिलेख है नहीं। सन् ७७५ ई० के पिंपरीके ताम्रपत्रमें उसका कोई उल्लेख नहीं, उसके स्थानमें उसके भाई ध्रुवराजका 'परमभट्टारक महाराजा धराज परमेश्वर पृथ्वीवल्लभ धारावर्ष श्रीध्रुवराजदेव' के रूपमें उल्लेख मिलता है[४]। इस ताम्रपत्रकी सत्यतामें किसीको कोई संदेह नहीं और इससे उस समय राष्ट्रकूट साम्राज्यका एकाधिपति ध्रुवराज ही सूचित होता है। अलबत्ता सन् ७७६ ई० के धूलियाके ताम्रपत्रमें, जो ध्रुवराजके छोटे पुत्र कर्कराज द्वारा लिखाया गया कहा जाता है उसके राज्यका उल्लेख 'श्रीप्रभूतवर्षस्य ···प्रवर्धमानराज्ये' शब्दोंमें मिलता है, साथ ही उसमें ध्रुवराजका उल्लेख 'श्रीध्रुवराजनाम्ना (मा) महानुभावो विहितप्रतापः प्रसाधिताशेषनरेन्द्र-चक्रचूडामणिः' इत्यादिरूपमें किया गया है, और कहा गया है कि उनके (ध्रुवके) पुत्र कर्कराजने उनकी (ध्रुवकी) आज्ञासे समस्त आधीन राजाओं–सामन्तोंको आज्ञा दी···इत्यादि[५]। प्रथम तो प्रायः सब ही विद्वानोंको धूलियाके इस ताम्रपत्रकी सत्यतामें ही सन्देह है, अनेक कारणोंसे कई विद्वान इसे जाली ही समझते हैं[६]। डा० अल्तेकर इत्यादि इसे बिल्कुल जाली नहीं तो कमसे कम असल नहीं वरन बीसयों वर्ष पीछे असल परसे की गई नकलमात्र मानते हैं[७]। और जैसा भी है धूलियाका यह ताम्रपत्र ही गोविन्द द्वि० के समयका अन्तिम उपलब्ध उल्लेख है। राइस साहिबवाले जो स्तम्भ लेख हैं उनमें कोई तिथि नहीं दी हुई है। उपर्युक्त के अतिरिक्त इस राजा के संबंध में अन्य कोई समकालीन उल्लेख न तो साहित्यमें मिलता है और न पुरातत्वमें। सैकड़ों वर्ष पीछेके अन्य राष्ट्रकूट नरेशोंके अभिलेखोंमें प्रसंगवश इसके जो उल्लेख मिलते हैं उनपरसे इतना ही जाना जाता है कि यह व्यक्ति यद्यपि अच्छा योद्धा और वीर था किन्तु बड़ा दुश्चरित्र था, अतः सारा राज्यकार्य उसके भाई ध्रुवके ही हाथोंमें था। ध्रुवकी आधीनतासे छुटकारा पानेके लिये उसने कुछ सामन्तोंकी सहायतासे ध्रुवको पद-च्युत करना भी चाहा, किन्तु उसकी यह चेष्टा सफल नहीं हुई, ध्रुवने उसे तथा उसके सहायकोंको पराजित करके सम्पूर्ण राज्यसत्ता अपने आधीन करली।[८] यह राज्य-क्रान्ति कब हुई और परिणामस्वरूप गोविन्दद्वि० का क्या अन्त हुआ इसे कोई नहीं जानता। ऐसी स्थिति में इन प्रमाणोंपर भिन्न २ विद्वानोंने अपने २ अनुमानों द्वारा उसके राज्यका वर्णन किया है। उपर्युक्त वर्णनसे यह भी स्पष्ट है कि राज्य-क्रान्ति सन् ७७५ ई० के लगभग, पिम्परी ताम्रपत्रके पूर्व भी हो सकती है और धूलिया ताम्रपत्रके पश्चात् (७७६ ई०के पश्चात्) भी। डा० अल्तेकरने गोविन्द द्वि०की राज्यसमाप्ति और ध्रुवकी राज्यप्राप्ति ई० सन् ७८० के लगभग अनुमान की है।[९] सो भी केवल धूलिया के (प्रायः सन्दिग्ध समझे जाने वाले) ताम्रपत्रको निभानेके लिये[१०]।

१ E. C. XI challakere no. 34.
२ Talegaon plate of 770-Altekar: R. T p. 49 & n. 2
३ Ibid
४ E. I. X. 1909-10 p. 81-9.
५ Ibid p. 81.
६ Ibid p. 81, 82 also foot note.
७ Altekar: R. T. p. 51, & n. 2.
८ Karhad plate of Krishna III of 959 A. D.—E. I. IV. p. 278, Kharda plate of karka II of 972 A. D.—E. I. XII p. 263.; Doultabad plates–E. I. p. 193 H., and Altekar : R. T. p. 51.
९ Altekar : R. T. p. 51.
१० Ibid f. n. 12.

ऐसी परिस्थितिमें यदि मैंने भी यह निष्कर्ष निकाला कि गोविन्द द्वि० की मृत्यु सन् ७७६-८० में होचुकी थी और उसके पश्चात् ध्रुवराज ही राष्ट्रकूट राज्यका एक अधिपति हुआ तो इसमें आपत्तिकी कौनसी बात है? मोदीजीने मेरे वाक्यको कोष्टकमें उद्धृत करके और उससे पहिले अपनी ओरसे ही 'धूलियाके ताम्रपटसे' इन शब्दों को जोड़कर मेरे कथनको अयुक्तिपूर्ण सिद्ध करने तथा उसे सर्वथा असत्य कहनेका व्यर्थ कष्ट उठाया है। यह मैं भी जानता हूँ कि धूलियाके ताम्रपत्रमें इस राज्य-क्रान्तिका कोई उल्लेख नहीं है, न मेरे शब्दोंसे ही यह आशय निकलता है। मेरा अभिप्राय तो मात्र इतना ही है कि गोविन्द द्वि० सम्बन्धी समस्त प्रमाणों और उपलब्ध जानकारीके आधारपर उसका अन्त सन् ७७६-८० के लगभग ही हुआ होना प्रतीत होता है। ऐसी बातोंमें शाब्दिक खेंचतानसे कुछ नहीं बनता। सत्यकी खोजके लिये परिस्थिति और प्रमाणोंका गंभीर अध्ययन तथा लेखकके वास्तविक अभिप्रायको समझनेका ही प्रयत्न करना उचित है।

जहां तक जिनसेनके हरिवंशकी प्रशस्तिमें उल्लिखित कृष्णके पुत्र श्रीवल्लभका प्रश्न है उस सम्बन्धमें भी मोदीजीकी युक्तियां भ्रमपूर्ण हैं। आपने जो यह लिखा है कि गोविन्द द्वि० की उपाधि श्रीवल्लभ पाई जाती है और यह कि 'हां डा० अल्तेकरने यह अवश्य बतलाया है कि श्रीवल्लभ उपाधि ध्रुवराजकी भी पाई जाती है" वह इस ढंगसे लिखा है कि जिससे यह प्रकट होता है कि यह उपाधि गोविन्द द्वि० की ही थी और डा० अल्तेकर का अनुमान है कि ध्रुवकी भी थी। वास्तवमें जैसा कि रेऊ महाशयने अपने 'भारतके प्राचीन राजवंशमें, कथन किया है, पश्चिमके सोलङ्कियोंकी मुख्य उपाधि 'वल्लभराज' थी और उन्हींको जीतकर राष्ट्रकूटोंने भी इसे धारण कर लिया था।[१] अतः दन्तिवर्माके समयसे ही राष्ट्रकूट राजाओंके नामके साथ यह उपाधि लगी मिलती है। हां उनमेंसे कई एकने इस (वल्लभ) के साथ श्री, पृथ्वी, लक्ष्मी, कलि आदि विशेषण और जोड़ लिये थे। श्रीवल्लभ रूपमें भी यह कृष्ण प्रथम, गोविन्द द्वि०, ध्रुवराज, गोविन्द तृतीय आदि कई राजाओंके नामके साथ मिलती है। मोदीजीने जो डा० भंडारकरके मतको अधूरा उद्धृत करके तथा रेऊ महाशयके मतका हवाला देकर गोविन्द द्वि० के जिनसेन कथित 'श्रीवल्लभ' होनेका प्रमाण उपस्थित किया है वह भी आपका युक्तिचातुर्य ही चरितार्थ करता है। डा० भंडारकरने जिस समय अपना ग्रन्थ लिखा था उन्हें यह मालूम ही न था कि श्रीवल्लभ उपाधि किसी और राष्ट्रकूट राजाकी भी है, उन्होंने वल्लभ और श्रीवल्लभमें भी कोई अन्तर नहीं किया। उनका मत ज्योंका त्यों पूरा पढ़ लेने से स्पष्ट होजाता है कि उसमें कितना बल है[२]। रेऊ महाशयके जिस मतका आपने उल्लेख किया है वह डा० भंडारकरके वाक्योंका अक्षरशः हिन्दी अनुवाद है[३]; किन्तु आगे चलकर स्वयं रेऊ महाशयने यह स्वीकार किया है कि *ध्रुवकी उपाधि भी श्रीवल्लभ थी*[४]। *डा० अल्तेकरने मात्र यह कथन ही नहीं किया कि यह उपाधि ध्रुवराजकी भी* पाई जाती है, वरन् ध्रुवराजके समकालीन प्रामाणिक अभिलेखोंमें उसके लिये यह उपाधि स्पष्टतया प्रयुक्त हुई

१ रेऊ: भा० प्रा० रा०, भाग ३, पृ० २८।

२ "At the end of puran entitled Harivamsa of the Digambara Jainas, it is stated that the work was composed by Jinsena in the Saka year 705 while Vallabha the son of Krishna was ruling over the south. Govind II. is in the Kavi grant called Vallabha, while one of the names of Dhruva the second son of Krishna I. was Kallivallabha Govind II., therefore must be the prince alluded to, and he appears thus to have been on the throe in the Saka year 705, or A. D. 783."—Bhandarpur E. H. D., suppliment Section XI p. 1.

३ रेऊ: भा०प्रा०रा०, भाग ३, पृ० ३३-३४

४ उपर्युक्त—पृ० ३५

मिलती है[१]।

जिनसेनके हरिवंशकी प्रशस्तिका विवेचन सर्वप्रथम के० बी० पाठकने इंडियन एंटीक्वेरी[२] में किया था। उस पर टिप्पणी देते हुए डा० फ्लीटके विवक्षित श्रीवल्लभ को गोविन्द द्वि० माना था[३]। किन्तु कुछ वर्ष बाद ही उन्होंने अपने मतको संशोधित किया। उन्होंने बतलाया कि श्लोकके 'कृष्णनृपजे' पदका सम्बन्ध, भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे, 'इन्द्रायुध' से होता है न कि 'श्रीवल्लभ' से। और यह श्रीवल्लभ गोविन्द द्वितीय नहीं हो सकता, गोविन्द तृतीय ही हो सकता है[४]। रेऊ महाशयके अनुसार भी कुछ विद्वान् "शक संवत् ७०५ में गोविन्द द्वि० के बदले गोविन्द तृतीयका होना अनुमान करते हैं"[५]। उनका स्वयंका विश्वास भी ऐसा ही था यह उनके ग्रन्थके पृ० ६७ पर दिये हुए "मान्यखेटके राष्ट्रकूटों" के नकशेसे प्रगट होता है, जिसमें उन्होंने हरिवंश-प्रशस्तिमें उल्लिखित नरेशोंको गोविन्द तृतीय का समकालीन सूचित किया है, न कि गोविंद द्वितीयका। कुछ समय पश्चात डा० फ्लीट ने एक तीसरा सुझाव भी पेश किया था कि यह उल्लेख ध्रुवराजका होना चाहिये। उसमें उन्होंने यह हेतु दिया था कि "श्रीवल्लभ ध्रुवकी प्रमुख एवं विशिष्ट उपाधि थी जबकि गोविंद द्वितीयकी वल्लभ थी, श्रीवल्लभ नहीं, जोकि एक बिल्कुल दूसरी बात है[६]।"

अपने उपर्युक्त इतिहास ग्रंथके बहुत पीछे लिखे गये अपने अन्य लेखमें डा० भंडारकरने भी यह स्वीकार किया है कि "किन्तु इस बातका निर्णय सरलतासे किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता कि (जिनसेनके) श्रीवल्लभ का आशय गोविंद द्वितीयसे है या उसके भाई ध्रुवसे? क्योंकि दोनोंकी ही यह उपाधि थी और दोनों ही कृष्ण प्रथमके पुत्र थे।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होजाता है कि श० सं० ७०५ में जिनसेनद्वारा प्रयुक्त 'श्रीवल्लभ' शब्दसे अभिप्राय यद्यपि गोविंदद्वि० ध्रुवराज तथा गोविंद तृतीय—तीनोंमेंसे किसी भी एकसे हो सकता है तथापि प्रमाण-बाहुल्य तथा युक्ति-बाहुल्यको देखते हुए उक्त उल्लेखका अभिप्राय ध्रुवराज से ही होनेकी सर्वाधिक संभावना है और गोविन्द द्वितीय के होनेकी सबसे कम।

अब रह जाता है प्रश्न ध्रुवराजके जीवनकालमें ही अगतुग गोविन्द तृतीयके राज्याभिषेकका। धूलिया ताम्र-पत्रके समय सन् ७७६ में ध्रुवकी आयु ५० वर्षसे ऊपर अनुमान की जाती है[७]। उस समय उसके कमसे कम चार पूर्णवयस्क सुयोग्य और समर्थ पुत्र थे—स्तम्भ, कर्क, गोविन्द और इन्द्र। इस समयके पूर्व ही स्तम्भ रणावलोक गंगवाडी प्रान्तका शासक था और कर्क सुवर्णवर्ष खानदेशका। किन्तु ध्रुव अपने पुत्रोंमें सर्वाधिक सुयोग्य गोविन्दको समझता था, अपने पीछे कोई गड़बड़ या राज्यके लिये गृहयुद्ध न हो, इसलिये उसने अपने जीवनकालमें गोविन्द का युवराज्याभिषेक कर दिया था। किन्तु वह इतनेसे ही सन्तुष्ट नहीं था और गोविन्दका राज्याभिषेक करके उसे, चाहे नामके लिये ही हो, राष्ट्रकूट साम्राज्यका अधीश्वर बना देना चाहता था। गोविन्द इससे सहमत नहीं था, किन्तु पिताकी आज्ञा उसे मान्य करनी ही पड़ी[८]। पैठनका ताम्र-पत्र स्पष्टतया सूचित करता है कि गोविन्दके पिताने स्वयं उसका राज्याभिषेक करके उसे राज्य सौंप दिया था[९]। जैसाकि मैंने अपने पहले लेखमें सूचित किया था इस बातका अभीतक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है कि यह अभिषेककी रस्म कब हुई। विद्वानोंने अपनी-अपनी अटकल ही लगाई है। सन् ७७६-८० में भी ध्रुव अपने

१ Altekar: R. T. p. 53, & Sravanbelgola Insticripon no. 14-E. C. I; Matpari record-E. C. IV p, 93; also E. I. X 1919-10 p. 84.

२ I. A. vol. XV p. 142.

३ Ibid-note on the paper.

४ Bombay Gazeteer vol. I part II p. 395, f. n. 1.

५ रेऊ: भा० प्रा० रा०, भाग ३, पृ० ३८-३६।

६ E. I. vol. VI p. 197.

७ Altekar: R. T. p. 53.

८ Ibid p. 59-61.

९ Ibid p. 60, and the Paithan plates of Govind III of 794 A. D. and th Kadha plates of 814 A. D.

जीवनके मध्यान्हको तो पार कर ही चुका था। मृत्युका किसे भरोसा है कब आजाय। अपने जीवनमें उसने गृह-युद्ध और राज्यक्रान्तियाँ देखी ही थीं, राज्यक्रान्ति द्वारा ही उसने बड़े भाईको राज्यच्युत करके स्वयं राज्य प्राप्त किया था। राजनैतिक कारणोंसे उसने उपर्युक्त प्रबन्ध किया था। कब उसके ऐसे विचार हुए और कब उसने वह राज्याभिषेक किया, कौन कह सकता है? डा० अल्तेकरका अनुमान है कि अपने अन्तिम दिनोंमें उसने वैसा किया होगा, किन्तु यह भी तो संभव है कि अपने राज्यकालके प्रारम्भमें ही कर दिया हो। कावीके दानपात्रसे यही बोध होता है कि उसके कुटुम्बके उच्छेदमें तत्पर शत्रुओंके दमनके लिये ही उसने गोविन्दको सिंहासनासीन किया था और यही कार्य उसके सिपुर्द किया था[४]। उसके कुटुम्बके उच्छेदमें तत्पर शत्रु उसी समय अधिक थे जबकि उसने अपने भाईके राज्यका अपहरण किया। ये शत्रु उसके भाई गोविन्दद्वि-के सहायक राजा और सामन्त थे। उनके विरुद्ध लड़ने और उनका दमन करनेमें ही उसका शेष सारा जीवन व्यतीत हुआ।

मैंने तो अपने लेखमें यह सुझाव भी उपस्थित किया था कि यदि उसका राज्याभिषेक भी वि० सं० ८३८ (सन् ७८३) में नहीं होचुका था तो कमसेकम अपने अन्य भाइयों-स्तम्भ, कर्क इत्यादिकी भाँति वह उस प्रान्तका जिसमें रहकर वीरसेनने धवलाकी समाप्ति की, तत्कालीन प्रान्तीय शासक तो हो ही सकता है। राजकुलके अन्य प्रान्तीय शासकों और राजपुरुषोंके लिये भी राजा और उनके शासनके लिये राज्य शब्द प्रयुक्त होता ही था। स्वयं स्वामी वीरसेनने धवलाटीकाके प्रारम्भिक विवेचनमें कुछ एक गांवोंके अधिपति तक को राजा कहा है।

इसके अतिरिक्त धवला प्रशस्तिके अशुद्ध पाठों और वर्ण विपर्ययोंको देखते हुए लिपि-प्रतिलिपिकारोंकी असावधानीसे 'ध्रुवराज' नामके प्राकृत रूप 'धुव्वराय' का 'बोद्दणराय' रूपमें उपलब्ध होना भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं। अथवा यह शब्द 'बल्लहराय' का भी भ्रष्ट रूप हो-सकता है। डा०भंडारकरके अनुसार (पृ० ५७) 'वल्लभराज' का प्राकृत रूप बल्लहाराय या 'बल्लहराय' होगा। तत्कालीन अरब लेखकोंका 'बल्हैरा' शब्द इसी नामको सूचित करता है। और यह वल्लभराज उपाधि दन्तिदुर्गके समयसे ही राष्ट्रकूट नरेशोंके नामके साथ लगी चली आती है। ध्रुवराज की भी यह उपाधि थी। अतः उसके ध्रुवराजके लिये प्रयुक्त होनेमें कोई बाधा नहीं आती। ध्रुवराजके लिये पिम्परी और धूलियाकेताम्रपत्रोंमें नरेन्द्र, नरेन्द्रचक्रचूडामणि मदृपचूडामणिजैसे शब्द-प्रयोग वीरसेनके 'बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्मि' लेखसे भी अक्षरशः मिल जाता है। इस प्रकार उसके ध्रुवराज होनेकीही सर्वाधिक संभावना है।

सारांश यह कि धवलाप्रशस्तिका उल्लिखित जगतुंग देव चाहे गोविन्द द्वितीय हो, अथवा गोविन्द तृतीय, अपने कथित राज्याभिषेकके पूर्व, चाहे पश्चात् सम्राटके रूपमें अथवा प्रान्तीय शासकके रूपमें उस उल्लेखके विक्रम सं० ८३८ में होनेमें तो कोई बाधा ही नहीं आती। जिनसेनका श्रीवल्लभ भी चाहे गोविन्द द्वितीय ध्रुव, अथवा गोविन्द तृतीयमेंसे कोई भी हो शक ७०५ में उसके राष्ट्रकूटनरेश होनेकी एकसी संभावना है और इस कारणसे भी धवलाकी समाप्ति वि०सं० ८३८ में होनेमें कोई आपत्ति नहीं आती। प्रत्युत इसके, शक संवत ७३८ में तो किसी भी जगतुंगके होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। जगतुंग गोविन्द तृ.का अस्तित्व भी शक सं० ७३५के पूर्व ही समाप्त होजाता है।

प्रोफेसर हीरालालजीके विवक्षित समय-निर्णयके विषयमें जो मैंने अपने मूल लेखमें अन्य अनेक ज्योतिष, इतिहास, अनावश्यक पाठ-संशोधनादि विषयक प्रबल दोष निर्दिष्ट किये हैं और जिन प्रबल प्रमाणों और युक्तियोंसे यह सिद्ध किया है कि धवलाप्रशस्तिमें उल्लिखित उक्त ग्रन्थकी समाप्तिका समय वि० सं० ८३८ (श० सं ७०३, सन् ७८० ई०) ही हो सकता है, प्रोफेसर साहिब द्वारा निर्णीत शक संवत् ७३८ (सन्८१६ ई०) नहीं, सो यह तो विषयविशेषज्ञ ही निर्णय करेंगे कि वह सब तथा इस लेखमें प्रस्तुत विवेचन भी क्या केवल मेरी थोथी कल्पनाएँ ही हैं और उनके पीछे अपनी शक्ति और समयका दुरुपयोग करना निष्फल है या सफल। मैंने तो इतिहासविषयके एक विद्यार्थी और सत्यान्वेषककी हैसियत से प्रस्तुत विषयपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है।

---

१ Kavigrant–Ind. Ant. vol. V p.147, v.27.

वीरोपदेश

(लेखक—श्री पं० लोकमणि जैन)

आजसे करीब २५०० वर्ष पहिले वीर प्रभुने जन्म लिया था, उस समय भारतवर्षमें ब्राह्मणोंका प्रभुत्व था उनकी सर्वत्र गति थी। वेदोंसे, रामायणसे उन्होंने इस बात के प्रमाणपत्र ले रखे थे कि 'गो, ब्राह्मण सदा अवध्य हैं'— इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणवर्गमें एक विकृति हुई—विद्वान तो थे ही वेदोंसे वाक्य लेकर उनका इच्छानुकूल अर्थ करके हिंसक प्रवृत्तिमें लीन हो गए यज्ञमें हवन किए हुए पशु स्वर्ग जाते हैं और यज्ञ करने वाले तो स्वर्ग जाते ही हैं—उन्हें परमधाम प्राप्त होता है। कहने लगे तथा हिंसक यज्ञको वेदोंमें विहित बताकर अश्वमेधादि यज्ञ कराने लगे, और इसके श्रमस्वरूप असंख्य द्रव्य भेंटमें प्राप्त करने लगे इस तरह हिंसक यज्ञोंको धर्मकी पोशाक पहना कर असंख्य पशुओंको अग्निके हाथों स्वर्ग भेजनेमें तल्लीन होगए। समाजका उपयोगी पशुवर्ग जब स्वर्ग बसाने लगा तो यहां इसकी कमीसे मनुष्योंको भारी नुकसान उठाकर तकलीफोंका सामना करना पड़ा और हिंसक प्रवृत्तिसे सारा भारतवर्ष लोहूलुहान होगया, और वह सब हुआ धर्मके नामसे, वेदोंकी आज्ञासे, ब्राह्मणोंके कर-कमलों द्वारा ! इस लिए महान संकटोंका सामना करने पर भी जनता ब्राह्मणोंके भयसे उफ़ न कर सकती थी। भीतर ही भीतर इसे हिंसा-काण्डोंसे मनुष्य-समाज व्याकुल हो उठा था, जरूरत थी ऐसी महान् विभूतिकी, जो इनके विरुद्ध आवाज उठाकर प्राणोंकी बाजी लगा देवे। प्रकृतिने ऐसे संकटकालमें वीर प्रभुका प्रसव किया, वयस्क होते ही उसने जनताकी दर्दभरी आहको पहचाना, घर-द्वार, राज-पाटका मोह छोड़ जंगलकी ओर चल पड़ा। १२ वर्षकी घोर तपस्याके बाद उसने जो मननके द्वारा ज्ञान-शक्ति प्राप्त की थी उससे दुनियाको धर्मका उपदेश देना शुरू किया। उन्होंने जीवन्मुक्त अवस्थामें ही हिंसाके विरुद्ध बुलन्द आवाज़ उठाई, जिसे मेघध्वनि कहा जाता है। वह निरक्षरी नहीं थी वह बहुत ही स्पष्ट शब्दोंवाली और प्रत्येक प्राणीके अन्तस्तलको स्पर्श करनेवाली होती थी। उन्होंने साफ शब्दोंमें बतलाया कि कोई जाति-विशेष अवध्य न होकर उसके गुण—परोपकारी भावनाएँ ही अवध्य होती हैं। वेदोंमें हिंसा करनेका आदेश नहीं है वे तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पुकार लगा रहे हैं. वे कभी नहीं कहते कि मूक पशुओंकी बलिसे ईश्वर तुष्ट होकर उन्हें परमधाममें स्थान देता है। जगह जगह वीरने सभाएँ कीं उनमें अहिंसा तत्वका दिग्दर्शन कराया—हर एक प्राणी अपनी जिन्दगी कायम रखना चाहता है और जिन्दगीवालों के साथ रहना पसंद करता है, अतएव जिओ और जीने दो—यह उपदेश दिया।

जिस तरह हिंसकयज्ञोंके विषयमें वीरने आवाज उठाई उसी तरह ईश्वरतत्वके विषयमें भी। जो लोगोंकी असत धारणाएँ थी उन्हें दूर करनेमें अनथक परिश्रम किया, जिस समय ईश्वर-तत्वपर वीरोपदेश हुआ सारी दुनिया एकदम सन्न रह गई। वीरने बतलाया कि ईश्वर ज्ञानतत्व से जुदा नहीं है, ज्ञानपुंजका नाम ही ईश्वर है, वह सत्यके सहारे स्थिर है, दुनियाके निर्माणमें, रक्षा करनेमें और उसके संहार करनेमें वह अपनी शक्तिका कोई उपयोग नहीं करता, सारी दुनियाका कार्य प्रकृतिके सहारे चलता रहता है। ईश्वरको भी प्रकृतिके नियमोंका पालन करना पड़ता है, न वह किसी तरह रुष्ट किया जा सकता है न उसे खुश ही किया जा सकता है। खुशी और नाराज होने के समस्त कारण उससे दूर होगए हैं, उसे किसी चीजकी जरूरत नहीं रह गई है वह आत्मतत्व परमानन्द अवस्थामें लीन और समदर्शी हो चुका है, वह हमारी प्रसन्नता—अप्रसन्नताकी कोई अपेक्षा नहीं करता। इस वैज्ञानिक विवेचनसे मुमुक्षु लोग वीरके झंडेके नीचे आने लगे, इस तरह ईश्वराज्ञाकी ओटमें किये जारहे हिंसक यज्ञोंका अन्त होगया।

वीर भगवानने धर्मकी व्याख्या प्राणीमात्रको सुख पहुंचानेवाली की और बतलाया कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज विकाशको ओर संलग्न है। निरन्तर सुख

साधनोंमें परिवर्तन होता जा रहा है. हजार वर्ष पहिले समाजको सुख पहुंचाने वाले जो साधन थे आज उनमें घोर परिवर्तन हो गया है। मनुष्य-समाजको अपनी जिंदगी कायम रखनेके लिए आचार-विचारोंमें भारी परिवर्तन करना पडा है। इस लिए युग-धर्मने भी अपना स्वरूप जन-सुख की सीमामें निहित कर दिया। पहिले जब 'युगल' (लडका-लडकी) एक साथ पैदा होते थे वे बहिन भाई न होकर नर मादाके रूपमें रहते थे. वे ही दोनों मिलकर सन्तानें पैदा करते थे जिनके कि वंशज आज हम सब हैं, पर आज वह नियम समाजने अपनाया नहीं, इस लिए धर्म भी उसे पाप कहता है। यदि वैसा व्यवहार आज कोई करे तो समाज उसे अपनेसे अलग कर देगा और धर्मशास्त्र भी उसे अनुमति न देवेंगे, पर उस युगमें न तो समाज उसे बुरा समझता था न धर्मने ही उसको बुरा कहा, इस लिए जिस युगमें जिन सदाचारोंसे समाज सुख पाता है वही सदाचार उस युगका धर्म बन जाता है। धर्म धारण करनेकी वस्तु है, न कि दिखावेकी, अथवा सिर्फ शास्त्रोंमें लिखे रहनेकी।

सदाचारके जो नियम वीरभगवानने बतलाए वे संक्षेप में पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जो इनका पूर्णरूपेण पालन करता है वह ऋषि और जो एक देश पालन करता है वह गृहस्थ श्रावक कहलाता है। इन नियमोंसे समाज सुखी होता है, इस लिये इस युगने इसे धर्म ठहराया, इन पांच नियमोंके पालन करनेसे मनुष्य समाज परस्परमें किसीका घात नहीं कर सकता—एक दूसरेमें बंधुभाव पैदा होता है। झूठ बोलकर समाजका नुकसान और अपना पतन नहीं कर पाता—समाजकी व्यवस्था सत्यके सहारे घडीकी तरह नियमपूर्वक होती रहती है, समाजके सुखमें वृद्धि होती है। चोरीकी इच्छा नष्ट करने से मनुष्य कर्मठ बनकर किसीकी संपत्तिपर कुदृष्टि नहीं करता न आलसी होकर समाजका भारस्वरूप बनता है। देश ब्रह्मचर्य अच्छी सन्तान समाजको देता है. एकपत्नीव्रत मनुष्यका प्रेम एक नारीके रग-रगमें व्याप्त कर स्त्रीसमाजको सुख पहुंचाकर पुरुषको बलवान बनाता है—पूर्णब्रह्मचारी कर्मठ बनकर समाजकी निरपेक्ष सेवा करता है—समाज सुखी होता है। अपरिग्रहका व्रत—परिग्रहका आवश्यकताके अनुसार परिमाण—समाजमें विलासिता नहीं बढने देता—त्यागवृत्तिको और समाजको आमंत्रित करता रहता है. अतिसंग्रहसे जो सामाजिक हानि होती है उसका समूल नाश करता है। इसके अलावा वीरने बतलाया कि प्रत्येक मनुष्य यदि वह सेवा-भावसे प्रेरित हो निवृत्तिके पथ पर चले तो नरसे—नारायण हो सकता है। इसमें जाति-भेद बाधक नहीं हो सकता, मनुष्य जाति सिर्फ पेशेकी वजहसे चार भागोंमें विभाजित है पर वह एक मानवजाति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आर्य और म्लेच्छ यह भेद भी भौगोलिक हैं तथा सदाचार और कदाचारके सूचक है।

इसके अतिरिक्त भगवानने तत्त्वोपदेशमें बतलाया कि जगत चलने वाली चीज़ है, वह स्वयं चलती है, जगतका प्रत्येक परमाणु गतिशील है स्वतः पहिली अवस्थाका त्याग, अगली अवस्थाकी संप्राप्ति करता हुआ भी नाश नहीं होता—जगतका कण कण उत्पाद-व्यय, ध्रौव्यात्मक है, जगतका न कोई निर्माता न रक्षक न संहारक है, वह गमनशील होनेसे हालतें बदलता रहता है—आगे भी यही क्रम जारी रहेगा—इसमें न तो किसी चीजकी नई पैदायश होती है न इसमेंसे किसी वस्तुका नाश ही हुआ है। ईश्वरको भी जगतकी गतिशीलताके नियमोंको बदलनेकी शक्ति प्राप्त नहीं है, ईश्वर सिर्फ शुद्धात्मतत्त्वका नाम है, न कि किसी कर्ता धर्ताका। अनन्त विश्वके बीच मनुष्य एक छोटा सा ज्ञानवान प्राणी है, इसने अपने बुद्धिबलसे प्रकृतिके बहुतसे रहस्योंको जान लिया है, और अभी अनन्त रहस्य विश्वके इसके जाननेके लिए बाकी हैं और वह उत्तरोत्तर क्रमिक विकासके साथ चरम विकासावस्थामें उन सब रहस्योंको जान लेता है और तब वह स्वयं भी सर्वज्ञ परमात्मा ईश्वर बन जाता है।

वीर भगवानकी इस महत्त्वपूर्ण देशनाने ही मनुष्य समाजको अपनी ओर खींचा, प्रेमका पाठ सिखाया, वस्तुतः धर्म सबके पालन करनेकी चीज़ है इस लिए जैनधर्म सर्व-धर्म है। इसे बिना किसी भेदभावके सब प्राणी पालन कर सकते हैं, यह संतापहारी प्राकृतिक नियमोंसे बना स्वावलंबी धर्म है, जिसे भी अपना संताप दूर कर अनंत शान्तिकी जरूरत हो वह इसे पालन कर शान्ति लाभ कर सकता है।

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर—भाग १२ किरण २ संपादक प्रो० हीरालाल एम० ए०, प्रो० ए० एन उपाध्ये एम० ए० डी० लिट, बा० कामताप्रसाद एम० आर० एस०, पं० के० भुजबली शास्त्री, और पं० नेमीचन्द्र जैन साहित्यरत्न। प्रकाशक जैनसिद्धान्तभवन आरा, मूल्य १॥) रुपया।

प्रस्तुत किरण जैनसिद्धान्तभवन आराकी षाण्मासिक पत्रिकाका दूसरा हिस्सा है। इसके दो विभाग हैं हिन्दी और अंग्रेजी। दोनों ही विभागों में १४–१६ विषयों पर अच्छे एवं खोजपूर्ण निबन्ध लिखे गए हैं और उनमें विद्वान लेखकोंने विचारकी कितनी ही सामग्री प्रस्तुत की है। केवलीजिन कवलाहार नहीं लेते, आठवीं शताब्दीमें भारतके प्रधान राज्य, तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा, प्रक्रियावतार उणादि सूत्र वृत्ति उपासक संस्कार और अर्थ व्यंजन पर्याय निरूपण आदि सभी लेख पठनीय हैं। जैनाचार्य ऋषिपुत्रका समय और उनका ज्योतिषज्ञान सम्बन्धी लेख पं० नेमीचन्द्रजीने बड़े परिश्रम और खोजके साथ लिखा है और उसमें विक्रमकी छठी शताब्दीके वराहमिहर आदि दूसरे विद्वानोंके ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थोंके तुलनात्मक वाक्यों द्वारा उसपर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

ग्रन्थमाला विभागका 'ध्यानस्तव' भी अच्छा ग्रंथ है इसके कर्ता भास्करनन्दी हैं जो तत्त्वार्थवृत्तिके कर्ता हैं। यह किरण अपनी पिछली किरणसे बहुत सुन्दर है, छपाई सफाई भी अच्छी है। विद्वानों, पुस्तकाध्यक्षों, रिसर्च स्कालरों, वाचनालयोंके लिये ग्रंथ संग्रहणीय है।

कई ग्रन्थ समालोचनार्थ प्राप्त हुए हैं जिनमेंसे षट्खण्डागमके भाग ७ आदि कुछ ग्रन्थोंकी समालोचना अगली किरणमें दी जावेगी।—परमानन्द जैन, शास्त्री

२ सामायिकपाठ—आचार्य अमितगति, सम्पादक और गुजराती अनुवादक श्री रावजी नेमचन्द शहा वकील, सोलापुर, प्रकाशक श्री वीरग्रन्थमाला, सांगली।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य कुन्थुसागरजीकी पवित्र स्मृतिमें सम्पादकद्वारा अर्पित की गई है। आचार्य अमितगतिके दोनों बड़े और छोटे सामायिक पाठोंके अलावा पण्डित महाचन्द्रकृत हिन्दी सामायिक पाठ भी दिया गया है और इन सबका गुजरातीमें अनुवाद है। पुस्तक सामायिक प्रेमियोंके लिये अच्छी उपयोगी है। पुस्तकपर कोई मूल्य नहीं दिया हुआ है इससे मालूम होता है कि स्वाध्याय प्रेमियोंके हितार्थ निःशुल्क प्रकट की गई है।

३ वीर तपस्वी—सम्पादक मुनि छोगालाल म० आत्मार्थी, प्रकाशक मेघराज बख्तमलजी धाकड़ बड़ी सादड़ी (मेवाड़), मूल्य आत्मसुधार।

इसमें स्थानकवासी मुनि घब्बालालजी म० का जीवन-परिचय दिया गया है और यह बताया गया है कि किस प्रकार उन्होंने अपने आत्माको आत्मोन्नतिके मार्ग पर लगाया है। पुस्तक पठनीय है।

अनेकान्तमें समालोचनार्थ पुस्तकें भेजने वालोंके लिये यह जानकर खुशी होगी कि अब कागज़ आदिकी दिक्कत दूर होजानेसे अनेकान्तमें पहलेकी तरह साहित्य-समालोचना की जाया करेगी। अतः समालोचनार्थ पुस्तकें भेजने वाले सम्पादक 'अनेकान्त' के पतेपर ही पुस्तकें भेजते रहें। और उनकी दो दो प्रतियां आनी चाहिएं।

—दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य)

अनेकान्तके इस वर्षके सहायक

आठवें वर्षके अनेकान्तको संस्थाओं, विद्वानों और लायब्रेरियोंके लिये भिजवानेके जिन सज्जनोंने आर्थिक सहायताके वचन दिये हैं अथवा सहायता भेजनेकी कृपा की है उनके नाम सधन्यवाद मय सहायताकी रकमके नीचे दिये जाते हैं:—

२०) प्रकाशचन्द्रजी जैन रईस, नानौता जिला सहारनपुर (दश संस्थाओं या विद्वानोंको अनेकान्त अर्द्धमूल्यमें देनेके लिये।

२०) जैन संगठन सभा, पहाड़ीधीरज, देहली (दश संस्थाओं या दश विद्वानोंको अर्द्धमूल्यमें देनेके लिये)

२१) ला० रूड़ामलजी शामियाने वाले, सहारनपुर ६ स्थानोंको फ्री भिजवानेके लिये, जो इस प्रकार हैं:—
१ पं० हरिसत्यभट्टाचार्य कलकत्ता, २ सर यदुनाथ सरकार कलकत्ता, ३ पं० वासुदेवशरण अग्रवाल क्यूरेटर, देहली म्यूज़ियम, ४ बा० गुलाबराय एम० ए० सम्पादक साहित्य-सन्देश आगरा, ५ पं० एम० गोविन्द पै, मंजेश्वरम्, साउथ कनारा, ६ सुपरिन्टेन्डेन्ट, स्याद्वादमहाविद्यालय, भदैनी घाट बनारस।

१७।।) बा० नेमीचन्दजी पाटनी, मदनगंज (किशनगढ़) (इन पांच संस्थाओंको फ्री भिजवानेके लिये—१ सेक्रेटरी भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना नं० २, २, सेक्रेटरी दी आर्चिकोलाजिकल डिपार्टमेंट आफ मैसूर, बंगलोर, ३ लायब्रेरियन बम्बई यूनिवर्सिटी, ५ मैनेजर नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।

३५) सर्शार बहादुर सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या, इन्दौर निम्न स्थानोंको अपनी ओरसे फ्री भिजवानेके लिये—
१ मंत्री सार्वजनिक वाचनालय, गोराकुण्ड, इन्दौर
२ लायब्रेरियन दी गवर्नमेन्ट कालेज, अजमेर
३ लायब्रेरियन बनारसीदास कालेज लायब्रेरी अम्बालाकेन्ट
४ सी० एस० मल्लिनाथ जैन
 ३७, वेलवाल स्ट्रीट पो० अमीजी कराय मद्रास
५ मैनेजर हिन्दुस्तान एकेडेमी इलाहाबाद
६ लायब्रेरियन कलकत्ता यूनिवर्सिटी कलकत्ता
७ मंत्री, महेशवाचनालय बड़ा सराफा, इन्दौर
८ लायब्रेरियन, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती
९ लायब्रेरियन ओरियन्टल कालेज, लाहौर
१० लायब्रेरियन विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर

विलम्बका कारण

इस किरणका मैटर ३१ जनवरीको प्रेसमें उसी समय देदिया गया था जब पहली किरण रवाना कीगई थी, परन्तु उसने समयपर छापकर नहीं दी, इस कारण इसके प्रकाशनमें विलम्ब होगया। इस मजबूरीके लिये पाठक क्षमा करेंगे। हम मुद्रणकी उचित व्यवस्था कर रहे हैं जो शीघ्र ही होजानेवाली है। —प्रकाशक

Regd. No. A-736.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१—आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य ।)

२—सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ-मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उसके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों-द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य-स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमङ्गल-कामना, २ नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ।।)

३—अध्यात्म-कमल-मार्त्तण्ड—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रंथोंके कर्ता कविवर-राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बंद किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं०परमानन्द शास्त्रीका सुंदर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रंथ है। मू० १।।)

४—उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तारश्री जुगलकिशोरजीकी ग्रंथपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रंथ-परीक्षाओंके इतिहासको लिए हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मू० ।)

५—न्याय-दीपिका—(महत्वका नया संस्करण)—न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्याय-दीपिकाका यह विशिष्टसंस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियां चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिए हुए यह संस्करण मूलग्रंथ और उसके हिंदी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृ० की विस्तृत प्रस्तावना, विषय-सूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, साथमें सम्पादक द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक संस्कृतटिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रंथगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस बृहत्संस्करणका लागत मू० ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मंगा लेना चाहिये।

६—विवाह-समुद्देश्य—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण

यह पुस्तक हिन्दी साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह-जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है—अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनके दृष्ट विरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? उसकी असली गरज (मौलिक दृष्टि) और सैद्धान्तिक स्थिति क्या है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रमसे उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम हो सकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? विवाहके पश्चात किन नियमों अथवा कर्त्तव्योंका पालन करनेसे स्त्री पुरुष दोनों अपने जीवनको सुखमय बना सकते हैं? और किस प्रकार अपनी लौकिक तथा धार्मिक उन्नति करते हुए वे समाज और देशके लिये उपयोगी बनकर उनका हित साधन करनेमें समर्थ हो सकते हैं? इन सब बातोंका इस पुस्तकमें संक्षेपमें बड़ा युक्ति पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन दिया है। मू० ।।)

प्रकाशनविभाग-**वीरसेवामन्दिर सरसावा, (सहारनपुर)**

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित।

अनेकान्त

सम्पादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार

विषय-सूची

१ पापभार-वहनकी मर्यादा ... ... पृष्ठ १०५
२ बौद्धाचार्य बुद्धघोष और महावीर-कालीन जैन-[बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए० एल एल० बी० १०६
३ भविष्यवाणी (कविता)-[पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' १०८
४ हमारी यह दुर्दशा क्यों ?-[सम्पादकीय १०९
५ कौनसा कुंडलगिरि सिद्धक्षेत्र है ? [न्या० पं० दरबारीलाल कोठिया ११५
६ भगवान महावीर-[पं० परमानन्द जैन शास्त्री ११७
७ आधुनिक जैन साहित्यमें प्रगति क्योंकर हो ?-[मुनि कांतिसागर १२१
८ वीरवाणीकी विशेषताएँ और संसारको उनकी अलौकिक देन -[बा० दशरथलाल कौशल १२२
९ रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं -[प्रो० हीरालाल जैन एम० ए० १२५
१० आध्यात्मिक पद-[कविवर द्यानतराय ... १३२
११ देहली धर्मपुरेका दि० जैनमन्दिर-[बा० पन्नालाल अग्रवाल १३३
१२ बच्चोंकी दर्दनाक दशा और प्राकृतिक चिकित्सा -[पं० श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री १३५
१३ आत्मविश्वास ही स० मूल है-[श्री अखिलानंद रूपराम शास्त्री १३८
१४ चित्तौड़के जैनकीर्तिस्तंभका निर्माणकाल और निर्माता -[बा० अगरचन्द नाहटा १३९
१५ वीरसेनस्वा०के स्व०समयपर एक दृष्टि-[पं० दरबारीलाल कोठिया १४४

वर्ष ८ किरण ३

मार्च १९४६

प्रो० दलसुखजी मालवणियाका पत्र

['अनेकान्त' वर्ष ८ किरण २ में जो 'जैनसंस्कृति-संशोधन-मण्डल' पर अभिप्राय प्रकट किया था, उसके सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरणको लेकर उक्त संशोधन-मण्डलकी सम्पादकसमितिके मंत्री प्रो० दलसुखजी मालवणिया, बनारसका एक पत्र प्राप्त हुआ है जिसे उन्होंने 'अनेकान्त' में प्रकाशित करनेकी प्रेरणा की है। अत: उसे हम यहाँ ज्योंका त्यों दे रहे हैं— —दरबारीलाल जैन, कोठिया]

आपने अनेकान्तके फरवरी १९४६ के अंकमें जैन-संस्कृति-संशोधन-मंडलका परिचय दिया एतदर्थ धन्यवाद।

आपने सम्पादकसमितिके विषयमें अपना जो सुझाव रखा है उसके विषयमें थोड़ा स्पष्टीकरण आवश्यक है। मंडलका ध्येय असांप्रदायिक कार्य करनेका है किन्तु मंडल ने अपने बंधारणमें ऐसा कोई नियम नहीं रखा है जिससे यह आवश्यक हो जाय कि मंडलकी उपसमितियोंमें तीनों सम्प्रदायके व्यक्ति अवश्य हों। मंडलकी कार्यकारिणी जिस व्यक्तिको अपने किसी खास कार्यमें सहायक हो सके ऐसी समझती है उसे वह अपनी उपसमितियोंमें स्थान देती है। इसका मतलब यह कदापि नहीं कि जो सज्जन उपसमितिमें नहीं वे मंडलकी दृष्टिमें विद्वान नहीं या असांप्रदायिक भी नहीं। किसी भी एक उपसमितिमें समाजके सभी विद्वानोंका समावेश तो असंभव है। मंडल के नियमानुसार सात सदस्योंकी सम्पादकसमिति है। उन सदस्योंका चुनाव मंडल अपने सुभीतेकी दृष्टिसे, कार्यकी सरलताकीसे दृष्टि करता है। चुनावके समय यह स्वाभाविक है कि मंडलके अन्तरंग लोग ही उसमें प्रधान रहें जिससे कार्यवेग और एकरूपता बनी रहे। चुनावके समय किसीके ऊपरका उनके सम्प्रदायका लेबल नहीं, किन्तु मण्डलको-वह व्यक्ति अपनी दृष्टिसे कितना उपयोगी होगा—यह देख कर ही पसंदगी की जाय यह स्वाभाविक है। इसी दृष्टिसे आजसे चार महीने पहले प्रो० उपाध्येका नाम सम्पादक-समितिमें सम्मिलित करनेका प्रस्ताव पास हुआ था। उन को लिखा गया था। किसी कारणवश उनकी स्वीकृति अभी तक मिली नहीं अतएव उनका नाम छापा नहीं है' स्वीकृति आनेपर उनका नाम सम्पादक-समितिमें सम्मिलित हो जायगा। इस प्रकार सात सदस्य हो जानेपर उस समितिमें अन्य नामकी गुंजाइश नहीं।

रहा यह कि सभी संप्रदायके लोग संपादक समितिमें न होंगे तो लोग मंडलके कार्यको शंकाकी दृष्टिसे देखेंगे, यह जो आपकी शंका है उसका उत्तर न हम दे सकते हैं न कोई दे सकता है। हमारा कार्य यदि समाजको पसंद आयगा तो वह उसे मंजूर करेगा। सभीके नाम करके भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि जो भी कार्य होगा वह समूचे समाजको ग्राह्य होगा ही। समाजको इतनी दृष्टि होती तो फिर इतने झगड़े होते ही क्यों?

मण्डलके कार्यमें न सिर्फ जैन ही अपितु जैनेतरका भी सहकार है। मंडल समाजकी उपासना करने नहीं चला है वह तो सत्यकी उपासना करना चाहता है। समाज तो अपने आप उसमें तथ्य देखेगी तो अपना सहकार देगी यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता कि हम जो कुछ कहेंगे वह सत्य ही होगा। अपना प्रयत्न सत्यको पानेका है, इतना ही कहा जा सकता है।

आशा है उपर्युक्त स्पष्टीकरण आप अनेकान्तके अगले अंकमें छापेंगे।

भवदीय—

दलसुख (मंत्री सम्पादकसमिति)

आवश्यक सूचना

सेठ शान्तिप्रसाद जैनको एक ऐसे सहकारी, असिस्टेंटकी आवश्यकता है जो आचार्य या शास्त्री इंगलिशके ग्रेजुएट हों, हिन्दी और अंग्रेजीके अच्छे लेखक तथा व्यापक साहित्यिक रुचिके हों, वेतन योग्यतानुसार, आवेदनपत्र डालमियानगर, बिहारके पते पर शीघ्र भेजना चाहिए। —लक्ष्मीचंद जैन, एम० ए०

* ॐ अर्हम् *

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ८	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	मार्च
किरण ३	चैत्रशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत २४७२, विक्रम संवत २००३	१९४६

पापभार-वहनकी मर्यादा

यावन्नोदयते प्रभापरिकरः श्रीभास्करो भासयं-
स्तावद्धारयतीह पङ्कजवनं निद्राऽतिभारश्रमम् ।
यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन् ! न स्यात्प्रसादोदय-
स्तावज्जीव-निकाय एष वहति प्रायेण पापं महत् ॥

—शान्तिभक्तौ, श्रीपूज्यपादः

'जिस प्रकार पङ्कजवन—कमलोंका समूह—निद्राके अत्यन्त भारी श्रमको—अविकासके अतिगाढ़ क्लेशको—उसी वक्त तक वहन करता है जब तक कि उद्योतन एवं विकास करता हुआ प्रभापुञ्ज श्रीसूर्यदेव उदयको प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार हे भगवन्—श्रीशान्ति जिनेन्द्र ! यह संसारी जीवोंका समूह प्रायः उसी समय तक गुरुतर पापभारको वहन करता है—भारी पापोंका बोझा ढोता है—जब तक कि आपके चरण-युगलका प्रसाद उदयको प्राप्त नहीं होता है—प्रसन्नतापूर्वक आपके पदोंका सम्यक् आराधन अथवा आपकी वाक्किरणोंका भलेप्रकार सेवन उससे नहीं बनता है । क्योंकि आप निष्पापात्मा होकर पापाऽन्धकारके विनाशक हैं, आपकी चरण-शरणमें यथाविधि प्राप्त होने वाला प्राणिवर्ग सहजमें ही अपने संपूर्ण पापोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ होजाता है ।

"बौद्धाचार्य बुद्धघोष और महावीर कालीन जैन"

(ले०--ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए० एल एल० बी० लखनऊ)

आचार्य बुद्धघोष और बौद्धधर्मके एक सुप्रसिद्ध महान् प्राचीन आचार्य थे। वह थेरवाद सम्प्रदायके सबसे बड़े टीकाकार माने जाते हैं और उनका समय ईसाकी ५ वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। उन्होंने अधिकांश बौद्ध आगम ग्रंथोंपर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य रचे और इस प्रकार उक्त आम्नायमें उनकी स्थिति प्रायः वही है जो जैन-दिगम्बर सम्प्रदायमें स्वामी वीरसेनकी तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आचार्य हरिभद्रसूरिकी। डा० विमलचरण लाने अंगरेजी भाषामें आचार्य बुद्धघोषकी जीवनी तथा कार्मोंपर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है[1]। इस ग्रंथके छठे अध्यायमें बुद्धघोषकी बहुविज्ञता प्रदर्शित करते हुए लॉ महाशयने उनकी बुद्धकालीन बौद्धेतर धर्मों और जातियों आदि सम्बन्धी जानकारीपर भी प्रकाश डाला है जिससे विदित होता है कि बुद्धघोषने अपने ग्रन्थोंमें, प्रसंग-वश, महात्मा बुद्धके समयमें प्रचलित जैन, आजीवक आदि धर्मों शाक्य कोलिय, लिच्छवि आदि जातियों, राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती आदि नगरियोंके विषयमें उपयोगी और दिलचस्प जानकारी प्रदानकी है। इसमें सन्देह नहीं कि इनके तत्सम्बन्धी ज्ञानका आधार प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति और साहित्य था, वह स्वयं भी अबसे लगभग १५०० वर्ष पूर्व हो चुके हैं और उत्तर पूर्वीय भारतके ही निवासी थे। अस्तु, उनका उक्त कथन अधिकांशतः प्रमाणीक ही होना चाहिये, और विशेष कर जबकि वह प्रतिपक्षी वर्ग या वर्गों के सम्बन्धमें है।

डा० ला के शब्दोंमें[2] 'भाष्यकार (बुद्धघोष) वैशाली नगरसे भली भाँति परिचित थे, और वे उसके शासकों—लिच्छवियोंके विषयमें बहुत सी उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करते हैं। तपस्वियोंके विविध सम्प्रदायोंके इतिहासका भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। वह आजीवकों और निर्ग्रंथोंके तात्त्विक विचारोंसे भी सुपरिचित थे। मृत्युके उपरान्त आत्माका क्या परिणाम होता है, इस विवेचनमें उन्होंने उक्त सम्प्रदायोंके तत्सम्बंधी विचारोंका भी उल्लेख किया है[3]। 'विनय' और 'निकाय' ग्रन्थोंमें उल्लिखित विभिन्न धर्मोपदेष्टाओंके जीवन वृत्तों पर भी उन्होंने थोड़ा थोड़ा प्रकाश डाला है।

बुद्धघोषके अनुसार, महावीर कालीन एक अन्य धर्म प्रवर्तक, पूरणकस्सप भी नग्न ही रहते थे[4], और आजीवक सम्प्रदायके प्रवर्तक मक्खलिगोशाल भी। पकुध कात्यायन शीतल जलका उपयोग नहीं करते थे, केवल गरम जल या चावलोंके गरम मांडका ही उपयोग करते थे[5]।

बुद्धघोषके कथनानुसार, श्रावस्ती नगरीमें महारानी मल्लिकाके उद्यानमें एक भवन बनाया गया था (संभवतः महात्मा बुद्धकी व्याख्यान शाला)। इस भवनके आस पास अन्य धर्मोंके आचार्योंके लिये भी कितने ही भवन बन गये थे, किन्तु यह सब भवनसमूह 'व्याख्यान भवन' के नामसे ही प्रसिद्ध था। इस स्थानमें ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ, अचेलक परिव्राजक आदि विभिन्न आचार्य मिलते थे, अपना अपना मत प्रतिपादन करते थे और वाद विवाद होता था[6]।

'सुमंगलविलासिनी' नामक ग्रंथमें (पृ० १३८-१३९) बुद्धघोष लिखते हैं कि म० बुद्धके प्रमुख शिष्य देवदत्तने उनसे यह प्रार्थना की थी कि वे संघके नियम बहुत कड़े करदें और यह आज्ञा प्रचारित करदें कि भिक्षु लोग मांस मच्छीको बिल्कुल न छुएँ, केवल तीन वस्त्र अपने पास रक्खें, खुले मैदानमें रहें (विहार आदि किसी मकानमें नहीं),

---

१ The life & work of Budhaghosa —by B. C. Law.

२ Ibid, P. 107.

३ Dialogues of the Budha, pt. I, P. 44 F. N.

४ सुमंगल विलासनी, भा० १, पृ० १४८

५ सुमंगल विलासनी, भा० १, पृ० १४४

६ बुद्धवार्ता—पृ० २४४ फु० नो०

सदैव भिक्षासे अपना निर्वाह करें। किन्तु बुद्धने उसकी यह बातें नहीं मानी और फलतः देवदत्त संघसे अलग होगया और अपने मतका स्वतन्त्र प्रचार करने लगा। देवदत्तके बहकानेसे ही कुणीक (अजातशत्रु) ने अपने पिता श्रेणिक पर अत्याचार किये बताये जाते हैं।

बुद्धघोष कहते हैं कि मल्ल लोग (महावीर कालीन एक अन्य जाति) क्षत्रिय थे[1] और इनकी राज्यव्यवस्था राजाओं की गणतंत्र शैलीकी थी[2]।

'खुद्दकपाठ' की अपनी टीका 'परमत्थजोतिका' में वह कहते हैं कि लिच्छवियोंके देहकी चर्म इतनी सुंदर थी कि इसमें शरीरके भीतरकी वस्तुएं झलकती थीं। एक दूसरे ग्रंथ 'धम्मपद अत्थ कथा' (भा० ३ पृ० ४६०) में वह बतलाते हैं कि लिच्छवियोंके यहां एक बड़ा त्यौहार होता था जो 'सब्बरत्तिवार' या सब्बरत्तिचार' कहलाता था। इस अवसर पर गीत गाये जाते थे, दुन्दुभी मृदंग आदि अनेक वादित्र बजाये जाते थे, पताकायें फहराई जातीं थीं। राजागण, राजकुमार, सेनापति सभी इस सार्वजनिक उत्सव में भाग लेते थे और रातभर आनन्द मनाते थे। स्त्रियें भी इसमें सम्मिलित होती थीं। धम्मपदअत्थकथा ग्रंथमें यह भी उल्लेख है कि लिच्छवि लोग प्रायः उद्यान और वाटिकाओंमें "नगर शोभनियों" को साथ लेकर जाते थे।

सुमंगलविलासनी ग्रंथमें (पृ० १०३-१०५) इन्हीं लिच्छवियोंके विषयमें लिखा है कि जब कोई लिच्छवि बीमार पड़ जाता तो वे उसे देखने जाते थे, वे शीलसंयमका बहुत ध्यान रखते थे, बलात्कार आदि अपराध सुननेमें भी नहीं आते थे। वे अपनी परम्परागत प्राचीन धार्मिक क्रियाओंको करते थे। किसी लिच्छविके यहां यदि कोई मंगल कार्य होता तो सारी जाति, बिना किसी भेदभावके उसमें सम्मिलित होती। जब कोई विदेशी राजपुरुष इनके देशमें आता तो सब लिच्छवि मिलकर उसका स्वागत करने नगरसे बाहर जाते और बड़े आदर सम्मानके साथ उसे लिवा कर लाते। अतिथिसत्कारके लिये वे प्रसिद्ध थे। किन्तु यदि कोई विदेशी शत्रु इनके देश पर आक्रमण करता तो ये उसका डट कर बड़ी वीरताके साथ मुकाबला करते। लिच्छिवियोंका संगठन आदर्श था। नवीन राजकरोंके वे विरोधी थे, जो कुछ थोड़ेसे पुराने राज्यकर चले आते थे उन्हींसे सन्तुष्ट थे। ये वज्जी गण राजनीतिमें भी निपुण थे और अपने वयोवृद्ध अनुभवी देशवासियोंके पास राज्य-कार्यों व राजनीतिकी शिक्षा लेते थे। जब तब इनकी सार्वजनीन सभायें होती रहती थीं जिनमें देशके विविध प्रदेशों तथा अन्य राज्यकीय विषयोंके सम्बंधमें वादविवाद होते और जनताको उनसे अवगत कराया जाता था। ढोल पीट कर सभाके होनेकी घोषणा की जाती थी। प्रत्येक व्यक्ति उपस्थित होनेका प्रयत्न करता और सभा समाप्त होते ही सब तुरन्त अपने अपने स्थानको चले जाते। लिच्छवियोंकी इन सभाओंमें राजकीय विषयोंके अतिरिक्त, जनताकी रुचिके अनुसार अन्य लौकिक विषयों तथा धार्मिक प्रश्नोंपर भी वाद-विवाद होते थे। एक समय बुद्धके सिंह नामक एक शिष्यने जब लिच्छवियोंकी इस महती सभाको देखा तो उसने कहा कि 'यदि तथागतको इस सभामें धर्मप्रचार करनेका अवसर मिल जाय तो वह अत्यन्त प्रसन्न होंगे।' धर्मप्रचारके लिये यह सभा एक आदर्श सभा समझी जाती थी। अपने ग्रंथ 'समन्तपासादिका (पृ० ३३८) में बुद्धघोष ने इस सभाको तावतिंश देवोंकी सभा (इन्द्रसभा) से उपमा दी है। 'सुमंगलविलासनी' में महाली नामक एक सामान्य लिच्छविके एक कथनका उल्लेख है जिसमें उस वीरभक्तने कहा था कि "मैं एक क्षत्रिय हूं। बुद्ध भी एक क्षत्रिय ही हैं। यदि उसका ज्ञान बढ़ते २ सर्वज्ञताकी सीमा को पहुंच सकता है तो मैं भी क्यों नहीं सर्वज्ञ होसकता ?" इसी ग्रंथमें लिच्छवियोंके न्यायशासन पर भी प्रकाश डाला गया है। जब कोई चोर पकड़ा जाता तो वह न्यायाधीश सामने लाया जाता। यदि वह निरपराध सिद्ध होता तो छूट जाता और यदि अपराध सिद्ध हुआ तो तुरन्त दण्ड न देकर उसे व्यौहारिक नामक राजकर्मचारीके सन्मुख उपस्थित किया जाता। वह भी उसे दण्डका पात्र समझता तो 'अन्तःकारिक' के पास भेजता, वहांसे वह सेनापतिके सन्मुख पेश किया जाता, यहाँ भी यदि अपराध प्रमाणित होता तो वह उपराजाके सामने पेश किया जाता और अन्त में राजाके सन्मुख उसकी सुनवाई होती। इस अन्तिम अदालतमें भी यदि वह अपराधी ही सिद्ध होता तब उसे 'पवेनियोत्थक' (नजीरोंका संग्रह) नामक ग्रंथके आधारपर

[1] बुद्धवार्ता भाग २, पृ० १४१ [2] बुद्धवार्ता भाग २, पृ० २०१

दण्डित किया जाता। इस प्रकार अपराधी भले ही छूट जाय किन्तु निरपराधी कभी भी दण्डित नहीं किया जा सकता था। वैशाली नगरीके निकट ही गंगाके किनारे एक पर्वतपर हीरे जवाहरातकी एक भारी खान थी। मगधनरेश अजातशत्रुका उसपर दांत था, किन्तु लिच्छावियोंके अद्भुत संगठन और साहसके सम्मुख उसकी एक न चली। अन्तमें उसने कूट नीतिसे काम लिया और लिच्छावियोंमें फूटके बीज बोने शुरू किये फलस्वरूप वह इस अनुपम वज्जिदेश, भगवान महावीरकी जन्मभूमिपर आक्रमण करने का साहस कर सका और उसपर विजय पा सका।

बुद्धघोषके कथनानुसार बुद्धके समय मगधदेश का राजा बिम्बसार था और उसके इस नामका कारण उसके शरीरका सुनहरी रंग था (बिम्ब=सुनहरी), एक बड़ी सेना का अधिपति होनेके कारण वह 'सेनिय' (श्रेणिक) भी कहलाता था। उसके पुत्र अजात शत्रुकी माता कौशलनरेश महकौशलकी कन्या वैदेही थी। इस महाकौशलका पुत्र पसेनदी (प्रसेनजित) था। मज्झिमनिकायकी टीकामें बुद्ध-घोष लिखते हैं कि पसेनदीने जब बुद्धकी ख्याति सुनी तो उसे ईर्ष्या हुई। वह उस समय बुद्धके विरोधी अन्य मतों के पक्षमें था। इसकी वय बुद्धके समान ही थी। बुद्धने उसका मत परिवर्तन करनेके लिये अपने प्रधान शिष्य सारिपुत्रको उसके पास भेजा किन्तु राजाने उससे मिलनेसे इन्कार कर दिया। अन्तमें वह बौद्धधर्ममें दीक्षित होगया और उसने संघकी बड़ी सेवायें की। उसके अन्तःपुरकी स्त्रियां बुद्धकी सेवामें लगी रहती थीं।

संयुत्तनिकायका एक अध्याय 'कौशलसंयुत्त' है जिसमें बुद्ध और प्रसेनजितके धार्मिक प्रश्नोत्तर दिये हुए हैं। उसकी टीकामें बुद्धघोष लिखते हैं कि बुद्ध और प्रसेनदीकी प्रथम भेंट जेतवनमें हुई। उसने म० बुद्ध बुद्धसे प्रश्न किया कि जब निगंथनातपुत्त (महावीर) मक्खलि गोशाल, पुरण कस्सप आदि वयोवृद्ध महात्मागण जीवित हैं तब बुद्ध अपने आपको 'सम्मासंबुद्ध' क्यों कहते हैं। इसके उत्तरमें बुद्धने कहा कि क्षत्रिय, उरग, अग्नि और अर्हत वयमें छोटे होनेपर भी उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। राजाने प्रश्न किया 'क्या पृथ्वीपर कोई ऐसा भी प्राणी है जिसे बुढापा या मृत्यु नहीं प्राप्त होगी?" बुद्धने इसका शुद्ध उचित समाधान कर दिया। तदनन्तर इन दोनोंके बीच इस विषयपर वाद विवाद हुआ कि 'प्रार्णा' को आयें का मोह इससे ज्यादा है।' बुद्धघोष कहते हैं कि बौद्धधर्म में दीक्षित होनेके पश्चात भी प्रसेनजितने अन्य धर्माचार्यों से यथा निगंथ, जटिल, अचेलक, परिव्राजक एक शतक आदिकोंसे उपेक्षा नहीं की वरन पूर्ववत आदरभाव रक्खा उसने एक वार बुद्धसे प्रश्न किया कि "अर्हतोंमें सबसे प्रमुख कौन है?" तो बुद्धने उत्तर दिया—"तुम गृहस्थी हो तुम्हें विषयभोगोंमें आनन्द आता है। तुम इस विषय को नहीं समझ सकोगे।" राजा बेचारा चुप होगया। बुद्धने राजाको धनकी उपयोगिता भी बताई।

इस प्रकार बौद्धाचार्य बुद्धघोषके ग्रन्थोंसे महावीर कालीन इतिहास विषयक अनेक दिलचस्प बातोंपर प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत लेखमें हमने केवल उन्हीं कथनांशोंको लिया है जो भगवान महावीर, उनके धर्म, उनके अनु-यायियों, उनके पितृवंश, उनकी जन्मभूमि और उनके शिष्य राजागण आदिसे सम्बंधित है।

भविष्य वाणी

(श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित')

होने वाला है रामराज्य, भारत वालो मङ्गल गावो!

पश्चिम में सूरज छिपा शाम,
अब पूरब में उजियाली है।
चिर पराधीनता-तिमिर चीर;
पल में पौ-फटने वाली है!
आजादी की रण-गङ्गा का यह पुण्य पर्व, वीरो न्हावो!
मङ्गल गावो, मङ्गल गावो!

अब रात नहीं, दिन पहिचानो,
नेता सुभाष जिन्दा जानो!
धनवानो! दो धन-निधि बखेर,
बल तोलो अपना बलवानो!
दर्शन करने आजादी का, पीछे वालो आगे आवो!
मङ्गल गावो, मङ्गल गावो!

हमारी यह दुर्दशा क्यों ?

[सम्पादकीय]

एक समय था जब यह भारतवर्ष स्वतन्त्र था, अन्य देशोंका गुरु बना हुआ था, सब प्रकारसे समृद्ध था और स्वर्गके समान समझा जाता था। यहाँपर हजारों वर्ष पहलेसे आकाशगामिनी विद्याके जानकार, दिव्य विमानों द्वारा आकाशमार्गको अवगाहन करने वाले, वैक्रियक आदि ऋद्धियोंके धारक और अपने आत्मबलसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालोंका हाल प्रत्यक्ष जानने वाले विद्यमान थे। भारतकी कीर्तिलता दशों दिशाओंमें व्याप्त थी। उसका विज्ञान, कला-कौशल और आत्मज्ञान अन्य समस्त देशोंके लिये अनुकरणीय था। उसमें जिधर देखो उधर प्रायः ऐसे ही मनुष्योंका सद्भाव पाया जाता था जो जन्मसे ही दृढाङ्ग नीरोगी और बलाढ्य थे; स्वभावसे ही जो तेजस्वी, मनस्वी और पराक्रमी थे; रूप और लावण्यमें जो स्वर्गोंके देव-देवाङ्गनाओंसे स्पर्धा करते थे; सर्वाङ्गसुन्दर और सुकुमारशरीर होनेपर भी वीर-रससे जिनका अङ्ग-अङ्ग फड़कता था; जिनकी वीरता, धीरता और दृढ प्रतिज्ञताकी देव भी प्रशंसा किया करते थे; जो कायरता भीरुता और आलस्यको घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे; आत्मबलसे जिनका चेहरा दमकता था; उत्साह जिनके रोम-रोमसे स्फुरायमान था; चिन्ताओंमें जो अपना आत्म-समर्पण करना नहीं जानते थे; जन्मभरमें शायद ही कभी जिनको रोगका दर्शन होता हो, जो सदैव अपने धर्म-कर्ममें तत्पर और पापोंसे भयभीत थे; जिनको पद पदपर सच्चे साधुओं का सत्सङ्ग और सदुपदेश प्राप्य था; जो तनिकसा निमित्त पाकर एकदम समस्त सांसारिक प्रपञ्चोंको त्यागकर वनोवासको अपना लेते थे और आत्मध्यानमें ऐसे तल्लीन हो-जाते थे कि अनेक उपसर्ग तथा परीषहोंके आनेपर भी चलायमान नहीं होते थे; जो अपने हित-अहितका विचार करनेमें चतुर तथा कला-विज्ञानमें प्रवीण थे और जो एक दूसरेका उपकार करते हुए परस्पर प्रीति-पूर्वक रहा करते थे।

परन्तु खेद ! आज भारत वह भारत नहीं है ! आज भारतवर्षका मुख समुज्ज्वल होनेके स्थानमें मलिन तथा नीचा है ! आज वही भारत परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें जकड़ा हुआ है और दूसरोंका मुंह ताकता है ! आज भारतका समस्त विज्ञान और वैभव स्वप्नका साम्राज्य दिखाई पड़ता है ! और आज उसी भारतवर्षमें हमारे चारों तरफ प्रायः ऐसे ही मनुष्योंकी सृष्टि नज़र आती है जिनके चेहरे पीले पड़ गये हैं; १२-१३ वर्षकी अवस्थाही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ होगये हैं; जिनकी आंखें और गाल बैठ गये हैं; मुँहपर जिनके हवाई उड़ती है; होंठोंपर हरदम जिनके खुश्की रहती है; थोड़ासा बोलनेपर मुख और कण्ठ जिनका सूख जाता है; हाथ और पैरोंके तलुओंसे जिनके अग्नि निकलती है जिनके पैरोंमें जान नहीं और घुटनोंमें दम नहीं; जो लाठीके सहारेसे चलते हैं और ऐनकके सहारेसे देखते हैं; जिनके कभी पेटमें दर्द है तो कभी सिरमें चक्कर; कभी जिनका कान भारी है तो कभी नाक; आलस्य जिनको दबाये रहता है; साहस जिनके पास नहीं फटकता, वीरता जिनको स्वप्नमें भी दर्शन नहीं देती; जो स्वयं अपनी छायासे आप डरते हैं, जिनका तेज नष्ट होगया है; जो इन्द्रियोंका विजय नहीं जानते, विषय-सेवनके लिये जो अत्यन्त आतुर रहते हैं परन्तु बहुत कुछ स्त्री प्रसंग करनेपर भी संभोग-सुखका वास्तविक आनन्द जिनको प्राप्त नहीं होता; प्रमेहसे जिनका शरीर जर्जर है; हरतहारी दवाओं की परीक्षा करते करते जिनका चित्त घबरा उठा है; हकीमों वैद्यों और डाक्टरोंकी दवाई खाते खाते जिनका पेट अस्पताल और औषधालय बन गया है, परन्तु फिर भी जिनको चैन नहीं पड़ता; जिनके विचार शिथिल हैं; जो अपने आत्माको नहीं पहचानते और अपना हित नहीं जानते; स्वार्थने जिनको अन्धा बना रक्खा है; परस्परके ईर्षा और द्वेषने जिनको पागल बना दिया है; विज्ञानसे

जिनको डर लगता है; पापमयी जिनकी प्रवृत्ति है और चिन्ताकी ज्वालाओंमें जिनका अन्त:करण दग्ध रहता है !!!

इसीसे आजकल हमारे अधिकांश भारतवासियोंके हृदयोंमें प्राय: इस प्रकारके प्रश्न उठा करते हैं और कभी कभी अपने इष्ट मित्रादिकोंसे वे इस प्रकारका रोना भी रोया करते हैं कि—हमारी शारीरिक अवस्था ठीक क्यों नहीं? हमारा दिल, दिमाग तथा जिगर (यकृत-Liver) ठीक काम क्यों नहीं करता? हमारे नेत्रोंकी ज्योति कैसे मन्द है? कानोंसे हमको कम क्यों सुनाई देता है? तनिकसा परिश्रम करनेपर हमारे सिरमें चक्कर क्यों आने लगता है? हम क्यों घुटनोंपर हाथ धर कर उठते और बैठते हैं? थोड़ी सी दूर चलने या जरासी मेहनतका काम करनेपर हम क्यों हाँफने लगते हैं? हमारा उदर भोजनका पाक ठीक तौरसे क्यों नहीं करता? क्यों हमेशा कब्ज (Constipetion) और बदहजमी (अजीर्णता-Dyspepsia) हमको सताती रहती है? क्यों चूरन व गोली वगैरहका फिकर हरदम हमारे सिर पर सवार रहता है? हमारा हृदयस्थल व्यर्थकी चिन्ताओं और झूठे संकल्प-विकल्पोंकी रङ्गभूमि क्यों बना रहता है? क्यों अनेक प्रकारके रोगोंने हमारे शरीरमें अड्डा जमा रक्खा है? हमारा स्वास्थ्य ठीक क्यों नहीं हो पाता? किसी कार्यका आरम्भ करते हुए हमें डर क्यों लगता है? कार्यका आरम्भ कर देने पर भी हम क्यों निष्कारण उसे बीचमें छोड़ बैठते हैं? हममें हिम्मत, उत्साह और कार्य-पटुताका संचार क्यों नहीं होता? क्यों हमारे हृदयोंसे धार्मिक विचारोंकी सृष्टि उठती जाती है? हम विषयोंके दास क्यों बनते जाते हैं? क्यों हम अपने पूर्वज-ऋषि मुनियोंकी तरह आत्मध्यान करनेमें समर्थ नहीं होते? क्यों अपने प्राचीन गौरवको भुलाये जाते हैं? और क्यों हम स्वार्थत्यागी बनकर परोपकारकी ओर दत्तचित्त नहीं होते? इत्यादि

परन्तु इन सब प्रश्नों अथवा 'हमारी यह दुर्दशा क्यों?' इस केवल एक ही प्रश्नका वास्तविक और संतोष-जनक उत्तर जब उनको प्राप्त नहीं होता अथवा यों कहिये कि जब इन दुर्दशाओंसे छुटकारा पानेका सम्यक् उपाय उन्हें सूझ नहीं पड़ता तो वे बहुत ही खेदखिन्न होते हैं—कभी कभी वे निराश होकर अपने नि:सार जीवनको धिक्कारते हैं, अपने आपको दोष देने लगते हैं और कोई कोई हतभाग्य तो यहां तक हताश हो बैठते हैं कि उनको मरणके सिवाय और कोई शरण ही नज़र नहीं आता, और इस लिये वे अपना अपघात तक कर डालते हैं! बहुतसे मनुष्य विपरीत श्रद्धामें पड़ कर बारहों महीने दवा खाते खाते अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर देते हैं! उनके मनोरथोंका पूरा होना तो दूर रहा, उनको प्रकट होनेतक का अवसर नहीं मिलता! वे उठ उठकर हृदयके हृदयमें ही विलीन हो जाते हैं! मरते समय उन असिद्ध मनोरथों की याद (स्मृति) उन्हें कैसा बेचैन करती होगी और अपने मनुष्य जन्मके व्यर्थ खोजानेका उनको उस वक्त कितना अफसोस तथा पश्चात्ताप होगा, इसकी कल्पना सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ऊपरके इस वर्णन एवं चित्रणपरसे पाठक इतना तो सहज हीमें जान सकते हैं कि हमारे भाई भारतवासी आज-कल कैसी कैसी दु:खावस्थाओंसे घिरे हुए हैं—प्रमाद और अज्ञानने उनको कैसा नष्ट किया है। वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो इन समस्त दु:खों और दुर्दशाओंका कारण शारीरिक निर्बलता है। निर्बल शरीरपर सहज ही में रोगोंका आक्रमण हो जाता है, निर्बलता समस्त रोगोंकी जड़ मानी गई है—'एक कमजोरी हजार बीमारी' की कहावत प्रसिद्ध है। जब हमारा शरीर कमजोर है तो कदापि हमारे विचार दृढ नहीं हो सकते। जब हमारे विचार दृढ नहीं होंगे तो हम कोई भी काम पूर्ण सफलता के साथ सम्पादन नहीं कर सकते, हमारा चित्त हर वक्त डाँवाडोल रहेगा तथा व्यर्थकी चिन्ताओंका नाट्यघर बना रहेगा और इन व्यर्थकी चिन्ताओंका नतीजा यह होगा कि हमारा कमजोर दिमाग और भी कमजोर होकर हमारी विचार शक्ति नष्ट हो जावेगी और तब हम हित-अहितका सम्यग्विचार करनेकी योग्यताके न रहनेसे यद्वा तद्वा प्रवृत्ति कर अपना सर्वनाश कर डालेंगे।

यही कारण है कि प्राचीन ऋषियोंने शारीरिक बलको बहुत मुख्य माना है, उन्होंने लिखा है कि जिस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है वह उत्तम ध्यान उसी मनुष्यके हो सकता है जिसका संहनन उत्तम हो—अर्थात जिसका शरीर खास तौरसे (निर्दिष्ट प्रकारसे) मजबूत और वज्रका

बना हुआ हो। और इसी लिये उन्होंने इस शारीरिक बलकी रक्षाके लिये मुख्यतासे ब्रह्मचर्यका उपदेश दिया है और सबसे पहला अर्थात गृहस्थाश्रमसे भी पूर्वका आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम कायम किया है। साथ ही वैद्यकशास्त्रके नियमोंको पालन करनेका आदेश भी दिया है, और इन नियमोंको इतना उपयोगी तथा जरूरी समझा है कि उनको धार्मिक नियमोंमें गर्भित कर दिया है, जिससे मनुष्य उन्हें धर्म और पुण्यका काम समझकर ही पालन करें। वास्तव में महर्षियोंका यह काम बड़ी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्तासे सम्बन्ध रखता है। वे अच्छी तरहसे जानते थे कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' 'धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्'—अर्थात धर्मसाधनका ही नहीं किन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ऐसे चारों ही पुरुषार्थों साधनका सबसे प्रथम और मुख्य कारण शरीर ही है। शरीरके स्वस्थ और बलाढ्य हुए बिना किसी भी पुरुषार्थ का साधन नहीं बन सकता और पुरुषार्थका साधन किये बिना मनुष्यका जन्म बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनों (थनों) के समान निरर्थक है। ऐसी स्थितिमें जो मनुष्य अपने शरीरकी रक्षाके लिये उक्त नियमोंका पालन करता है वह वास्तवमें धर्मका कार्य करता है और उससे अवश्य उसको पुण्य फलकी प्राप्ति होती है। हम लोगोंने ऋषियों के वाक्योंका महत्व नहीं समझा और न यह जाना कि शरीरका बली निर्बली तथा स्वस्थ-अस्वस्थ होना प्रायः सब आहार-विहारपर निर्भर है और आहार-विहार सम्बन्धी जितनी चर्या है वह सब प्रायः वैद्यशास्त्रके अधीन है। इसी लिये हम अपने आपको सबसे पहले ब्रह्मचर्याश्रममें नहीं रखते हैं—अर्थात एक खास अवस्था तक ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते हैं—बल्कि उसका निर्मूल करनेके लिये यहां तक उद्यत रहते हैं कि छोटीसी अवस्थामें ही बच्चोंका विवाह कर देते हैं! यही कारण है कि हम योग्य आहार-विहार करना नहीं जानते, और यदि जानते भी हैं तो प्रमाद या लापर्वाहीसे उसके अनुसार प्रवर्तन नहीं करते।

उदाहरणके तौर पर, बहुतसे मनुष्य इस बातको तो जानते हैं कि यदि हम कोई हांडी चूल्हेपर चढ़ावें और उसमें थोड़ेसे चावल पकनेके लिये डाल देवें, और फिर थोड़ीसी देरके बाद उसमें और कच्चे चावल डाल देवें, उससे पीछे गेहूँ डाल देवें, उससे कुछ काल पश्चात कच्चे चने डाल देवें, और उससे भी कुछ समय बाद फिर कच्चे चावल या और कोई वस्तु डाल देवें और उनमेंसे किसीका भी पाक पूरा होनेका अवसर न आने देकर दूसरी दूसरी वस्तु उसमें डालते रहें तो कदापि इस हांडीका पाक ठीक तथा कार्यकारी न होगा। परन्तु यह जानते हुए भी खाने-पीनेके अवसरोंपर इसका कुछ ध्यान नहीं रखते—जो वस्तु जिस समय मिल जाती है उसको उसी समय चट कर जाते हैं—इस बातका कुछ विचार नहीं करते कि पहलेका खाया हुआ भोजन हजम हो चुका है या कि नहीं? परिणाम जिसका यह होता है कि खाया-पीया कुछ भी शरीरको नहीं लगता और अनेक प्रकारके अजीर्णादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जो कभी कभी बड़ी भयंकरता धारण कर लेते हैं और प्राण ही लेकर छोड़ते हैं। अंग्रेज लोग प्रायः नियमपूर्वक ठीक और नियत समयपर भोजन करते हैं, अपने डक्टरोंकी आज्ञाको बड़े आदरके साथ शिरोधार्य करते हैं और बड़े यत्नके साथ स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंका पालन करते हैं; यही वजह है कि उनको रोग बहुत कम सताते हैं और वे प्रायः हृष्ट-पुष्ट तथा बलिष्ट बने रहते हैं। हम लोगोंने वैद्यकशास्त्रमें विख्यात वाग्भट जैसे वैद्यराजोंके वाक्योंकी अवज्ञा की—न उनको पढ़ा और न तदनुसार आचरण किया—और स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण की, उसीका यह फल हुआ कि भारतवर्षमें निर्बलताने अपना अड्डा जमा लिया और हम दिन पर दिन निर्बल तथा निस्तेज होकर किसी भी कार्य करनेके योग्य न रहे।

हमारी इस निर्बलताके संक्षेपसे चार चार कारण कहे जा सकते हैं—पहला पैतृक निर्बलता अर्थात माता और पिताके शरीरका निर्बल होना; दूसरा, स्वास्थ्यरक्षाके नियमों से उपेक्षा धारण करना; तीसरा, बाल्यावस्थामें अनेक खोटे मार्गोंसे कच्चे वीर्यका स्खलित होना; और चौथा, अच्छी खुराक (Food भोज्य) का न मिलना। इन कारणोंमें यद्यपि पहला कारण, जिसकी उत्पत्ति भी अन्य तीन कारणोंसे ही है, हमारे आधीन नहीं है—अर्थात माता-पिताकी शारीरिक निर्बलतासे उनकी भावी सन्तान कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकती, उनके शरीरमें इसका असर

अवश्य आता है; परन्तु इससे हमारी प्रायः कुछ भी हानि नहीं हो सकती यदि हम अन्य तीन कारणोंको अपने पास फटकने देवें और विधिपूर्वक अच्छे पौष्टिक पदार्थोंका बराबर सेवन करते रहें। ऐसा करनेसे हमारी जन्मसे प्राप्त हुई निर्बलता सब नष्ट हो जावेगी और हम आगामीके लिये अपनी सन्तानको इस प्रथम-कारण-जनित व्यर्थकी पीडासे सुरक्षित रखनेमें समर्थ हो सकेंगे।

दूसरे कारणकी बाबत ऊपर संकेत रूपमें बहुत कुछ कहा जा चुका है और यह विषय ऐसा है कि जिस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु यहांपर संक्षेपमें मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि स्वास्थ्य-रक्षाके नियम हम लोगोंको दृढताके साथ पालन करने चाहियें और सर्व-साधारणको उन नियमोंका ज्ञान कराने तथा उन नियमोंको पालन करनेकी प्रेरणा करनेके लिये वैद्यकशास्त्रोंको मथनकर आहार-विहार सम्बन्धी अत्यन्त सरल पुस्तकें तय्यार कराकर सर्वसाधारणमें निःस्वार्थभावसे उनका प्रचार करना चाहिये। यदि वाग्भटजीके निम्न श्लोककी छोटी बड़ी टीकाएँ कराकर अथवा अन्य आहार-विहार तथा पूर्ण दिन-चर्या सम्बन्धी पुस्तकें तैय्यार कराकर स्कूलोंमें भरती कराई जावें तो उनसे बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। वह श्लोक यह है—

कालाऽर्थ-कर्मणां योगा हीन-मिथ्या-ऽतिमात्रकाः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोग्याऽऽरोग्यैक-कारणम्॥

इसका सामान्य अर्थ इतना ही है कि—'कालका हीन योग, मिथ्यायोग तथा अतियोग; अर्थ (पदार्थ) का हीन योग, मिथ्यायोग तथा अतियोग; और कर्म (क्रियादि) का हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, ये सब रोगोंके प्रधान कारण है, और इन काल, अर्थ तथा कर्मका सम्यक् योग आरोग्यका प्रधान कारण है।' परन्तु काल, अर्थ और कर्मका वह हीनयोग, मिथ्यायोग अतियोग और सम्यक्-योग क्या है उसे टीकाओं द्वारा सप्रमाण स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत है, जिससे तद्विषयक ज्ञान विकासको प्राप्त होवे और जनताको संयोग-विरुद्धादिके रूपमें अपनी मिथ्या-चर्याका भान हो सके।

तीसरा कारण यद्यपि दूसरे कारणकी ही एक शाखा है और उसीकी व्याख्यामें आता है, फिर भी उसपर खास तौरसे दृष्टि रखनेकी जरूरत है। बहुतसे बालक अपनी अज्ञानतासे बचपनकी अत्यन्त निन्दनीय खोटी प्रवृत्तियों (Self destroying habits) में फँसकर हमेशाके लिये अपना सर्वनाश कर डालते हैं और फिर सारी उम्र हाथ मल मल कर पछताते हैं, इस लिये माता-पिताकी इस विषयमें बालकोंपर कड़ी दृष्टि रहनी चाहिये और उनको किसी न किसी प्रकारसे ऐसी शिक्षा देनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे बालक इस प्रकारकी खोटी प्रवृत्तियोंमें पड़ने न पावें। अधिकांश माता-पिता इस ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते और उनकी यह उपेक्षा विचारे हिताऽहित ज्ञान-शून्य बालकोंके लिये विषका काम देती है, जिसका पापभार माता-पिताओंकी गर्दनपर होता है। अतः माता-पिताओंको इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिये और छोटी अवस्थामें तो बच्चोंका विवाह भूल कर भी नहीं करना चाहिये, बल्कि उनको कमसे कम २० वर्षकी अवस्था तक ब्रह्मचर्याश्रममें रखना चाहिये, और यही काल उनके विद्याध्ययनका होना चाहिये। इसके पश्चात् यह उनकी इच्छा रही कि वे चाहे और विद्याध्ययनकरें या विवाह कराकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करें।

चौथा कारण सबसे प्रधान है, अच्छी खुराकका मिलना निर्बलताको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करने वाला है। जब अच्छी खुराक अथवा उत्तम भोज्य पदार्थोंकी प्राप्ति ही नहीं होगी तो केवल स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंके जाननेसे ही क्या लाभ हो सकता है? वैद्यक-शास्त्र हमें किसी वस्तुकी उपयोगिता-अनुपयोगिताको बतलाता है परन्तु किसी उपयोगी पदार्थकी प्राप्ति करा देना उसका काम नहीं। यह हमारा काम है कि हम उसका प्रबन्ध करें। इस लिये स्वास्थ्यरक्षाके नियम भी उस वक्त तक पूरी तौरसे नहीं पल सकते जब तक कि हमारे लिये अच्छी खुराक मिलनेका प्रबन्ध न होवे। वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो मनुष्यके शरीरका सारा खेल उसके भोजनपर निर्भर है। अच्छे और श्रेष्ठ भोजनसे मनुष्यका शरीर सुन्दर, नीरोगी एवं बलाढ्य बनता है और मनुष्यके हृदयमें उत्तम विचारोंकी सृष्टि होती है। विपरीत इसके, बुरे अथवा निकृष्ट भोजनसे मनुष्यका शरीर रोगाक्रान्त एवं निर्बल तय्यार होता है और उसमें प्रायः छोटे तथा हीन विचार ही उत्पन्न

होते हैं। अच्छी खुराक वह वस्तु है कि उसके प्रभावसे अन्यकारणोंसे उत्पन्न हुई निर्बलताका भी सहज हीमें संशोधन हो जाता है। इसीके प्रभावसे रोगोंके आराम होने में भी बहुत कुछ सहायता मिलती है।

हमलोग कुछ तो जन्मसे ही निर्बल पैदा हुए, कुछ बचपनकी गलतकारियों—अयोग्य प्रवृत्तियों एवं स्वास्थ्य-रक्षक नियमोंको न पालन करनेने हमको निर्बल बनाया, और जो कुछ रहा सहा बल था भी वह अच्छी खुराकके न मिलनेसे समाप्तिको पहुंच गया! हम लोगोंकी सबसे अच्छी खुराक थी घी और दूध वही हमको प्राप्त नहीं होती। इधर हम लोगोंने गोरस-प्राप्ति और उसके सेवनकी विधिको भुला दिया, उधर धर्म-कर्म-विहीन अथवा मानवतासे रिक्त निर्दय मनुष्योंने घी-दूधकी मशीन-स्वरूप प्यारी गौओंका वध करना प्रारम्भ कर दिया और प्रतिदिन अधिकसे अधिक संख्यामें गोवंशका विनाश होता रहनेसे घी-दूध इतना अकरा (महँगा) हो गया कि सर्वसाधारणके लिये उसकी प्राप्ति दुर्लभ होगई! जो घी आजसे कोई १०० वर्ष पहले रुपयेका धड़ी (५ सेर पक्का) और ७५ वर्ष पहले तीन सेरसे अधिक आता था वही घी आज रुपयेका ३ या ४ छटांक आता है और फिर भी अच्छा शुद्ध नहीं मिलता[1]! इसी प्रकार जो दूध पहले पैसे या डेढ़ पैसे सेर आया करता था वही दूध आज आठ आने, बारह आने अथवा रुपये सेर तक मिलता है और फिर भी उसके खालिस होनेकी कोई गारण्टी नहीं! ऐसी हालतमें पाठकजन स्वयं विचार सकते हैं कि कैसे कोई घी-दूध खा सकता है और कैसे हम लोग पनप सकते हैं? भारतवर्षमें आज कल शायद सैकड़े पीछे दो या तीन मनुष्य ही ऐसे निकलेंगे जिनको घीसे चुपड़ी रोटी नसीब होती है, शेष मनुष्योंको घी-दूधका दर्शन भी नहीं मिलता और अच्छी तरहसे घी दूधका खाना तो अच्छे अच्छोंको भी नसीब नहीं होता! फिर कहिये यदि भारतमें निर्बलता अपना डेरा अथवा अड्डा न जमाव तो और क्या करे?

यहां पर एक बात और भी उल्लेखनीय है और वह यह कि हम महगीके कारण बहुतसे स्वार्थी-अविवेकी मनुष्य घीमें चर्बी तथा कोकोजम आदि दूसरी वस्तुएँ मिलाने लगे हैं और दूधमें पानी मिला कर अथवा दूधसे मक्खन निकालकर और कोई प्रकारकी पाउडर उसमें शामिल करके उसे असली दूधके रूपमें बेचने लगे हैं, जिससे हमारा धर्म-कर्म और आचार-विचार भ्रष्ट होनेके साथ साथ हमारे शरीरमें अनेक प्रकारके नये रोगोंने अपना घर बना लिया है। ऐसे घृणित घी-दूधको खाने वाले शायद यह समझते होंगे कि हम घी-दूध खाते हैं और शायद उनको कभी कभी यह चिन्ता भी होती हो कि घी-दूध खानेपर भी हम हृष्ट पुष्ट तथा नीरोगी क्यों नहीं रहते? परन्तु यह सब उनकी बड़ी भूल है। उनको समझना चाहिये कि वे वास्तवमें घी-दूध नहीं खाते बल्कि एक प्रकारकी विषैली वस्तु खाते हैं जो उनके स्वास्थ्यको बिगाड़ कर शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंको उत्पन्न करने वाली है। एकबार कलकत्तेके किसी व्यापारीका बहीखाता पकड़ा गया था और उससे मालूम हुआ था कि उसने ४००) रु० के सांप चर्बीके लिये खरीद किये थे और उनकी चर्बी घीमें मिलाई गई थी!!

हा! हम लोगोंके यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि जिस चर्बीके नामसे ही हमको घृणा आती थी जिस चर्बीके दर्शनमात्रसे कै (वमन) हो जाती थी और जिस चर्बीके स्पर्शनमात्रसे स्नान करनेकी ज़रूरत होती थी वही चर्बी घीमें मिलकर हमारे पेटमें पहुँच रही है और पूजन-हवनके लिये पवित्र देवालयोंमें जा रही है!! इतनेपर भी हम लोग हिन्दू तथा जैनी कहलानेका दम भरते हैं, हमको कुछ भी लज्जा अथवा शर्म नहीं आती और न हम इसका कोई सक्रिय प्रतीकार ही करते हैं!! जान पड़ता है हमने कभी इस बात पर गम्भीरताके साथ विचार ही नहीं किया कि पहले इतना सस्ता और अच्छा घी-दूध क्यों मिलता था? यदि हम विचार करते तो हमें यह मालूम हुए बिना न रहता कि पहले प्रायः सभी गृहस्थी लोग दो दो चार चार गौएँ रखते थे, बड़े प्रेमके साथ उनका पालन करते

[1] मेरे विद्यार्थीजीवन (सन १८९६ आदि) में, सहारनपुर बोर्डिङ्गहाउसमें रहते हुए मुझे केवल दो रुपये मासिकका घी भेजा जाता था और वह वजनमें प्रायः साढ़े तीन सेर पक्का होता था। साथ ही इतना शुद्ध, साफ़ और सुगंधित होता था कि उस जैसे घीका आज बाजारमें दर्शन भी दुर्लभ होगया है। यह भारतकी दशाका कितना उलट-फेर है!!

थे, गौ-माताओंको अपना जीवनाधार समझते थे और दूध न देने या रोगी होजाने आदि किसी कारणपर उनको कभ अपनेसे अलग नहीं करते थे, और यदि अलग करने की जरूरत ही आ पड़ती थी तो किसी ऐसे भद्र मनुष्यको समर्पण करते थे जो अपनेसे भी अधिक प्रेमके साथ उनको रखने और उनकी प्रतिपालना करने वाला हो। परिणाम इसका यह होता था कि गौएँ कसाइयोंके हाथमें नहीं जाती थीं घर घरमें घी-दूधकी नदियां बहती थीं और सब लोग आनन्दके साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। तथा हृष्ट-पुष्ट बने रहते थे। परंतु आजकल हम लोग ऐसे प्रमादी अथवा जैन्टलमैन हो गये हैं कि हमने गौओंका पालन करना बिल्कुल छोड़ दिया, हमें प्राणोंके आधाभूत गौओं का रखना ही भार मालूम होता है और हम यह कहकर ही अपना जी ठण्डा करलेते हैं कि "गाय न बच्छी नींद आवे अच्छी!" इसीका यह फल है कि प्रतिदिन हजारों गौओंके गलेपर छुरी फिरती है, घी दूध हदसे ज्यादह महँगा हो गया और हम लोग शरीरसे कमजोर, कमहिम्मत तथा अनेक प्रकार रोगोंके शिकार बने रहते हैं!! ऐसी अवस्थामें हमलोग कैसे अपनी उन्नति या अपने समाज और देशका सुधार कर सकते हैं? कदापि नहीं।

अतः हम भारतवासियोंको बहुत शीघ्र इस ओर ध्यान देकर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि जिससे बहुलता के साथ उत्तम घी-दूधकी प्राप्ति होती रहे, और उसके लिये सबसे अच्छा उपाय यही है कि सब लोग पहलेकी तरह अपने घरोंपर दो दो चार चार गौएँ तथा भैंसें रक्खा करें और कदापि उनको किसी ऐसे अविश्वसनीय मनुष्यके हाथ न बेचें जिससे उनके मारे जानेकी संभावना होवे। साथ ही, उनके लिये अच्छी चरागाहोंका प्रबन्ध करें और गोचर-भूमि छोड़ना हर एक अपना कर्तव्य समझे, जिससे चारे-घासका कोई कष्ट न रहे और वे प्रायः जंगलसे ही अपना पेट भर कर घर आया करें। इसके अलावा स्थान स्थानपर ऐसे सुव्यवस्थित और विश्वस्त डायरी फार्मोंका भी प्रबन्ध होना चाहिये, जिससे साधन-विहीनोंको समय पर उचित दामोंमें यथेष्टरूपसे शुद्ध घी-दूध मिल जाया करे। यदि हमने शीघ्र ही इस ओर ध्यान न देकर कुछ भी प्रबन्ध न किया और कुछ दिनों और यही हालत चलती रही तो याद रहे दो एक वर्षमें ही वह समय भी निकट आजायगा जब दवाईके लिये भी खालिस (शुद्ध) घी दूध का मिलना दुर्लभ हो जायगा और हम लोगोंकी और भी वह दुर्दशा होगी कि जिससे हमारी तरफ कोई आंख उठा कर देखना भी पसन्द नहीं करेगा और हम सब प्रकारसे हीन तथा नगण्य समझे जावेंगे। यदि हम भारतवासी सचमुच ही इन (उपर्युक्त) समस्त दुःखों और दुर्दशाओंसे छुटकारा चाहते हैं और हममें अपने हित अहितका कुछ भी विचार अवशेष है तो हमें उक्त चारों प्रकारकी निर्बलताको दूर करनेका शीघ्रसे शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये। ज्यों ही हम इस निर्बलताको दूर करनेमें सफल होंगे त्यों ही हमें फिरसे इस भारतवर्षमें भीम, अर्जुन महावीर, बुद्ध, राम-रावणादि जैसे वीर पुरुषोंके दर्शन होने लगेंगे और हम सब प्रकारसे अपने मनोरथोंको सिद्ध करनेमें समर्थ हो सकेंगे*।

* यह लेख आजसे कोई ३६ वर्ष पहले लिखा गया था और देवबन्द जि० सहारनपुरसे प्रकट होने वाले 'कामधेनु' नामक साप्ताहिक पत्रके ३० सितम्बर सन् १९१० के अंकमें प्रकाशित हुआ था। उस समय घीका भाव रुपयेका १० छटाँक और दूधका तीन आने सेरका था। आजकी स्थिति उससे भी अधिक खराब एवं भयंकर है, और इसलिये ऐसे लेखोंके सर्वत्र प्रचारकी बड़ी जरूरत है। यही सब सोच कर आज इसे कुछ आवश्यक परिवर्तनों तथा परिवर्धनोंके साथ अनेकान्त-पाठकोंके सामने रक्खा गया है। उस समय घी-दूधका ही रोना था, आज तो देशमें अन्न तथा दूसरे खाद्य पदार्थोंका भी संकट उपस्थित है! पिछले साल मनुष्यकृत अकालके कारण खाद्य सामग्रीके न मिलनेसे बंगालके करीब ३५ लाख मनुष्य कालके गालमें चले गये!! और आज सारे भारतपर उसी प्रकारके अकालके काले बादल मँडरा रहे हैं!!! ऐसी स्थितिमें हमें बहुत ही सतर्क तथा सावधान होना चाहिये और स्वावलम्बनको अपनाकर सामूहिक प्रयत्नद्वारा उस दोषपूर्ण परिस्थितिको ही बदल देना चाहिये जिसने हमारी यह सब दुर्दशा कर रक्खी है और करनेको तत्पर है। —सम्पादक

कौनसा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?

—(लेखक—न्या० पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)—
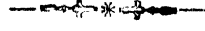
'तिलोयपण्णत्ती' में आचार्य यतिवृषभने 'कुण्डलगिरि' से श्री अन्तिमकेवली श्रीधरका सिद्ध (मुक्त) होना बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कुण्डलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।

—तिलोयप० अधा० ४, गाथा १४७६।

इसपरसे कुछ लोगोंका विचार है कि यहां उसी 'कुण्डलगिरि' का उल्लेख किया गया है जो मध्यप्रान्तके दमोह शहरके पास कुण्डलगिरि—कुण्डलपुर है और जिसे आजकल अतिशयक्षेत्र कहा जाता है। अतएव उपर्युक्त प्रमाणोल्लेखके आधारपरसे अब उसे सिद्धक्षेत्र मानना और घोषित कर देना चाहिए।

गत वर्ष जब विद्वत्परिषद्का कटनीमें अधिवेशन हुआ था, तब इसके निर्णयके लिये तीन विद्वानोंकी एक समिति बनाई गई थी। उसमें एक नाम मेरा भी रखा गया था। अतएव यह आवश्यक था कि इसका अनुसन्धान किया जाय कि तिलोयपण्णत्तीके उपर्युक्त उल्लेखमें कौनसे कुण्डलगिरिसे अन्तिम केवली श्री श्रीधरका निर्वाण हुआ है? और उसको सिद्धक्षेत्र बतलाया गया है? अत: आज हम अपने अनुसन्धानविचार और उसके निष्कर्षको विद्वानोंके सामने प्रस्तुत करते हैं।

प्राय जैनसाहित्यमें 'कुण्डलगिरि' के नामसे उसके सिर्फ दो उल्लेख मिलते हैं। एक तो पूर्वोक्त तिलोयपण्णत्तीगत ही है और दूसरा पूज्यपादकी 'निर्वाणभक्ति' के अन्तर्गत है जो इस प्रकार है—

द्रोणीमति प्रवरकुण्डल-मेढ्रके च,
वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रि-बलाहके च,
विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च।

—दशभक्त्या० पृ० २३३।

इन दो उल्लेखोंके अतिरिक्त हमें अभी तक और कोई उल्लेख नहीं मिला। यदि पूज्यपाद यतिवृषभके पूर्ववर्ती हैं तो कुण्डलगिरिका सबसे पुराना नामोल्लेख उन्हींका समझना चाहिए।

अब देखना यह है कि जिस कुण्डलगिरिका नामोल्लेख पूज्यपाद स्वामी कर रहे हैं वह कौनसा है और कहां है? क्या उसके दूसरे भी नाम हैं? तिलोयपण्णत्तीमें उन पंच पहाड़ियोंके नाम और अवस्थान दिये गये हैं जिन्हें 'पंचशैल' कहा जाता है और जो राजगिरि (राजगृही) के पास हैं। वे इस प्रकार हैं—

चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो।
णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा॥
चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु
ईसाणाए पंडू वण्णा सव्वे कुसग्गपरियरणा॥

१-६६, ६७।

हरिवंशपुराणमें निम्नप्रकारसे उन पांचका उल्लेख है—

ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः।
दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम्॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः।
दक्षिणापरदिङ्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः।
सज्जचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः।
शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे॥

३-५३ से ३-५५ तक।

वीरसेन स्वामीने धवला और जयधवलामें उन्हें निम्न प्रकार से उल्लेखित किया है—

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र॥
धनुराकारश्छिन्नो वारुण-वायव्य-सोमदिक्षु ततः।
वृत्ताकृतिरैशाने पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृताः।

—धवला (मु०) पृ० ६२, जयधवला (मु०) पृ० ७३।

इन तीनों-चारों स्थानोंमें ऋषिगिरि (ऋष्यद्रिक), वैभार, विपुलगिरि, बलाहक (छिन्न) और पाण्डुगिरि (पाण्डुकगिरि) इन पांच पर्वतोंका समुल्लेख किया गया है और उनकी स्थिति (अवस्थान) बतलाया गया है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि बलाहकको छिन्न भी कहा जाता है। अतः एक पर्वतके ये दो नाम हैं और उल्लेख ग्रन्थकारोंने छिन्न अथवा बलाहक दोनों नामोंसे किया है। जिन्होंने 'बलाहक' नाम दिया है उन्होंने 'छिन्न' नाम नहीं दिया और जिन्होंने 'छिन्न' नाम दिया है उन्होंने 'बलाहक' नाम नहीं दिया और अवस्थान सभीने एकसा बतलाया तथा पंच पहाड़ोंके साथ उसकी गिनती की है। अतः बलाहक और छिन्न ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं। इसी तरह ऋष्यद्रिक और ऋषिगिरि ये भी पर्याय नाम हैं।

अब इधर ध्यान दें कि जिन वीरसेन और जिनसेन स्वामीने पाण्डुकगिरिका नामोल्लेख किया है उन्होंने फिर कुण्डलगिरिका उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार पूज्यपादने जहां सभी निर्वाणक्षेत्रोंको गिनाते हुए कुण्डलगिरिका नाम दिया है फिर उन्होंने पाण्डुकगिरिका उल्लेख नहीं किया। हां, यतिवृषभने अवश्य पाण्डुगिर और कुंडलगिरि दोनों नामों का उल्लेख किया है। लेकिन दो विभिन्न स्थानोंमें किया है। पाण्डुगिरिका तो पांच पहाड़ोंके साथ प्रथम अधिकारमें और कुण्डलगिरिका चौथे अधिकारमें किया है। अतएव उन्हें पाण्डुगिरिसे भिन्न कुण्डलगिरि अभीष्ट हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा मान पड़ता है कि यतिवृषभने पूज्यपादकी निर्वाण भक्ति देखी होगी और उसमें पूज्यपाद के द्वारा पाण्डुगिरिके लिये नामान्तर रूपसे प्रयुक्त कुण्डलगिरिको पाकर इन्होंने कुण्डलगिरिका भी नामोल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि पूज्यपादके समयमें पाण्डुगिरिको कुण्डलगिरि भी कहा जाता था। अतएव उन्होंने पाण्डुगिरिके स्थानमें कुण्डलगिरि नाम दिया है।

कोई आश्चर्य भी नहीं और न असम्भव है कि पाण्डुगिरि ही कुण्डलगिरि कहा जाता हो; क्योंकि कुण्डलका आकार गोल होता है और पाण्डुगिरिको गोलाकार (वृत्ताकृति) सभी आचार्योंने बतलाया है। जैसाकि ऊपरके उद्धरणोंसे प्रकट है। दूसरे, पुरातनाचार्य पूज्यपादने पांच पहाड़ोंके अन्तर्गत पाण्डुगिरिका उल्लेख नहीं किया—(जिसका कि उल्लेख करना लाजिमी था क्योंकि वह पांच सिद्धक्षेत्र शैलोंमें परिगणित है।) किन्तु कुण्डलगिरिका उल्लेख किया है। तीसरे, एक पर्वतके एकसे अधिक भी नाम देखे जाते हैं। जैसे बलाहक और छिन्न, ऋषिगिरि और ऋष्यद्रिक। अतः इस संक्षिप्त अनुसंधानपरसे यही निष्कर्ष निकलता है कि साहित्यमें पाण्डुगिर और कुण्डलगिरि एक है—पृथक् पृथक् नहीं—एक ही पर्वतके दो नाम हैं। ऐसी वस्तुस्थितिमें यह कहना युक्त प्रतीत होता है कि यतिवृषभने पाण्डुगिरिको ही कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र बतलाया एवं उल्लेखित किया है। और वह राजगृहीके पास पंच पहाड़ोंके अन्तर्गत है। इसलिये मध्यप्रान्तके दमोह शहरके पासका कुंडलगिरि या कुण्डपुर सिद्धक्षेत्र नहीं है और न उसको शास्त्रोंमें सिद्धक्षेत्र कहा है जिसे कहा गया है वह राजगृहीके पासका पाण्डुगिरि-कुण्डलगिरि है।

अतः मेरे विचार और खोजमें दमोहका कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र घोषित करने या बनानेकी चेष्टा की जायगी तो एक अनिवार्य भ्रान्त परम्परा उसी प्रकारकी चल उठेगी, जैसी कि वर्तमान केशरिसिद्धी गिर और सोनागिरकी चल रही है। मैं इन दोनोंको भी वर्तमान सिद्धक्षेत्र माननेको तैयार नहीं हूँ।

राजगिर, ता० ३-४-१९४६

❋ सूचना ❋

अनेकान्त जैनसमाजका कितना महत्वपूर्ण एवं आवश्यकपत्र है यह उसके पाठकों से छिपा हुआ नहीं है—उसका प्रत्येक अंक संग्रहकी वस्तु है उसमें खोजपूर्ण ऐतिहासिक सामग्रीका अच्छा संकलन रहता है। सर यदुनाथ सरकार आदिके महत्वपूर्ण पत्रोंसे पाठक उसकी महत्ताका अन्दाज लगा सकते हैं। ऐसे पत्र की वर्ष ४-५-६-७ की कुछ पुरानी फाइलें अवशिष्ट हैं जिन्हें मंगाना होवे शीघ्रता करें अन्यथा फिर उनका मिलना कठिन हो जायगा।

मैनेजर—अनेकान्त

भगवान महावीर

(ले०—श्री पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

ईसाकी ६ वीं शताब्दी पूर्व वैशालीकी स्थिति

बिहार प्रान्तके मुजफ्फुर जिलेकी गण्डिका नदीके समीपस्थित बसाढ ही प्राचीन वैशाली है। यह राजा विशाल की राजधानी थी, इसीसे इसका नाम वैशाली हुआ जान पड़ता है।* यह नगरी कोल्लाग आदि समीपस्थ प्रान्तों और वसुकुण्ड तथा वाणियग्राम आदि उपशाखा नगरोंसे विभूषित थी। प्राचीन वैशालीका वैभव अपूर्व था, वह वह धनधान्यादिसे समृद्ध और उत्तुङ्ग महलों एवं मकानातोंसे अलंकृत थी। ईसाकी छठवीं शताब्दीसे पूर्व वैशाली तीन भागोंमें विभक्त थी और जिन्हें वसाढ (वैशाली) कुण्डग्राम और वणियाग्राम कहते थे। इनमें उस समय ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य जातिके लोग ही अधिकांशतः निवास करते थे।† यह वज्जीगण तन्त्रकी राजधानी थी, और वज्जीदेश× की शासक जातिका नाम लिच्छवि था। यद्यपि लिच्छवि वंशके उदय अभ्युदयका कोई प्रामाणिक इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है, फिर भी यह लिच्छवि उच्चवंशीय क्षत्री थे। यह वंश उस समय अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता था। यह जाति अपनी वीरता और पराक्रमके लिये प्रसिद्ध थी इनका संगठन, रीति-रिवाज, धर्म और शासन प्रणाली सभी उत्तम थे इनका शरीर अत्यन्त कमनीय, मनोहर और ओज एवं तेजसे सम्पन्न था। यह विभिन्न रंगोंके वस्त्रोंका उपयोग करते थे।

वज्जीगणतंत्रमें उस समय अनेक जातियां सम्मिलित थी और जिनकी संख्या संभवतः आठ या नौ थी। इनमें परस्पर बड़ा ही सौहार्द और वात्सल्य था यह एक दूसरेके सुख दुखमें बराबर काम आते थे। वैशालीके शासक राजा चेटकके राज्यकालमें वैशाली अपनी प्रतिष्ठा एवं वैभवकी पराकाष्ठाको पहुंच चुकी थी। काशी कौशल और विदेह (वैशाली) आदि अनेक देशोंकी राज्य व्यवस्था उस समय गणतन्त्र (प्रजातन्त्र) के आधीन थी। इस व्यवस्थासे वहांकी प्रजा अत्यन्त सुखी और समृद्ध थी। जनतामें आदर सत्कार धर्म कर्म और आचार-विचार आदिकी सभी प्रवृत्तियां समादरणीय थीं। राजा चेटक[1] की पत्नीका नाम सुभद्रा था, इसकी सात पुत्रियां थीं,[2]

* वैशालीके नामके बारेमें पालीग्रन्थोंमें लिखा है कि दीवारोंको तीन बार हटाकर उन्हें विशाल करना पड़ा था, इसीलिये इसका नाम वैशाली पड़ा।
—पुरातत्व निबंधावली पृ० १४

† देखो, मुजफ्फरपुर जिलेका गजटियर सन् १६०७ और सन् १६०२ का रायलएशियाटिक सोसाइटीका जनरल।

× वज्जिविदे (वज्जाभिदे) देशे विशाली नगरी नृपः।
—हरिषेण कथाकोष ५५, १६५ पृ० ८६

वज्जीदेशमें आजकलके चम्पारन और मुजफ्फरपुरके जिले, दरभंगाका अधिकांश भाग, तथा छपरा जिलेके मिर्जापुर, परसा, सोनपुरके थाने एवं कुछ और भाग सम्मिलित थे।
—देखो, रा० कृत पुरातत्व नि० पृ० १२ का फुटनोट

१ मुनि कल्याणविजयजीने श्रमण भगवान महावीरके पृ० ४ में चेटकको 'हैहयवंश' का राजा लिखा है। किन्तु दिगम्बरीय हरिवंशपुराणके अनुसार विदेहदेशके क्षत्रियोंको 'इक्ष्वाकुवंशी' सूचित किया है। जिससे राजा चेटक भी इक्ष्वाकवंशी मालूम होते हैं। देखो हरि० २, ४ पृ० २२

२ भद्रभावा सुभद्राऽस्य बभूव वनितोत्तमा।
अस्या दुहितरा सप्त बभूवू रूपराजिता:।
तन्मध्ये प्रथमा प्रोक्ता परमा प्रियकारिणी।
द्वितीया सुप्रभा ज्ञेया तृतीया च प्रभावती।
प्रियावती चतुर्थी स्यात् सुज्येष्ठा पंचमी परा।
षष्ठी चेलना दिव्या सप्तमी चन्दना मता॥
—हरिषेण कथा-कोष, ५५, १६७ से १६६

जो रूप, गुण, कला और विद्या तथा यौवन और गृहस्थोचित सभी आवश्यक उत्तम गुणोंसे विभूषित थीं। इनमेंसे प्रथम पुत्री प्रियकारिणी विदेह (वैशाली या वसाढ़) देशमें अवस्थित कुंडपुर या क्षत्रिय कुण्डपुरके राजा सिद्धार्थ[1] को विवाही गई थी, जो उस समयमें वैशालीके मांडलिक राजाके रूपमें प्रसिद्ध थे। क्षत्रिय कुण्डपुरमें उस समय ज्ञातृवन्शी क्षत्रियोंके पांचसौ घर थे[2] इस कारण उसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें 'खत्तिय कुंडपुर' के नामसे उल्लेखित किया गया है। यह नगर उस समय खूब समृद्ध था, भोग और उपभोगकी सभी चीजोंसे परिपूर्ण था। राजा सिद्धार्थ क्षत्री थे, इनका वंश नात णात या ज्ञात वंश कहलाता था।

भगवान वर्द्धमानका जन्म और बाल्य जीवन—

भगवान महावीरका जीव अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानसे चलकर आषाढ़ शुक्ला षष्ठीके दिन जबकि हस्त और उत्तरानक्षत्रोंके मध्यमें चन्द्रमा अवस्थित था, रानी प्रिय कारिणीके गर्भमें आया।[3] नवमास आठ दिन अधिक व्यतीत होनेपर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको सौम्यग्रहों और शुभ लग्नमें जबकि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुणी नक्षत्रपर स्थित था, भगवान महावीरका जन्म हुआ।[4] इन्द्रने श्री वृद्धिके कारण भगवानका नाम वर्धमान रक्खा।

भ० वर्धमानका जन्म जनताके लिये बड़ा ही सुखप्रद हुआ। उनके जन्म समय संसारके सभी जीवोंको क्षणिक शान्तिका अनुभव हुआ था। भगवान वर्द्धमानकी बाल्यकालीन दो खास घटनाओंके कारण वे बादको महावीर और सन्मतिनामसे ख्यापित हुए।[5] भगवान वर्द्धमान बाल्यकालसे ही प्रतिभासम्पन्न पराक्रमी, वीर, निर्भय, धीर और मति-श्रुत, अवधिरूप तीन ज्ञानरूपी नेत्रोंसे संयुक्त थे। उनका शरीर अत्यन्त सुंदर और मनमोहक था, उनकी सौम्य आकृति देखते ही बनती थी और उनका मधुर संभाषण प्रकृतितः भद्र और लोक हितकारी था। उनके तेज पुंजसे वैशाली और कुण्डपुरकी शोभा द्विगुणित होगई थी और वह इन्द्रपुरीसे किसी बातमें कम नहीं थी।

भगवान महावीरका वैराग्य

भगवान महावीरका बाल्यजीवन उत्तरोत्तर युवावस्थामें परिणत होगया राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणीने महावीरको वैवाहिक सम्बन्ध करानेके लिये प्रेरित किया; क्योंकि राजा जितशत्रु जिसके साथ कुमार वर्द्धमानके पिता सिद्धार्थकी छोटी बहिन विवाही गई थी। अपनी पुत्री यशोदाके साथ कुमारवर्द्धमानका विवाह-सम्बन्ध करना चाहता था। परन्तु कुमारवर्द्धमानने विवाह-संबंध

परन्तु श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें इनके नामोंमें कुछ भेद—पाया जाता है और वहां त्रिशला प्रियकारिणीको राजा चेटककी बहन बतलाया जाता है।

१ सिद्धार्थ नृपति तनयो भारतवास्ये विदेह कुंडपुरे।
देव्या प्रियकारिण्या.............................॥
निर्वाणभक्तौ पूज्यपाद:

२ देखो श्रमण भगवान महावीर पृ० ५

३ आषाढ सुसित षष्ठ्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते शशनि।
आयात: स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीश: ॥
—निर्वाणभक्तौ पूज्यपाद:

४ नवमासेष्वतीतेषु स जिनोऽष्टदिनेषु च।
उत्तरा फाल्गुनीष्विंदौ वर्तमानेऽजनि प्रभु: ॥
—हरिवंशपुराण २, २५

चैत्रसितपक्षफाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्यां।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥ ५ ॥
—निर्वाणभक्तौ पूज्यपाद:

यहां यह प्रकट करदेना भी अनुचित न होगा कि श्वेताम्बरीय कल्पसूत्र और आवश्यक भाष्यमें ८२ दिन बाद देवनन्दा ब्राह्मणीके गर्भका बालक त्रिशलाके गर्भमें और त्रिशला (प्रियकारिणी) के गर्भका बालक देवनन्दा ब्राह्मणीके गर्भमें इन्द्रकी आज्ञासे देवों द्वारा परवर्तित कराये जानेका क्या कारण है? निर्युक्तिकार भद्रबाहुने इस कल्पनाका आवश्यक निर्युक्तिमें कोई उल्लेख नहीं किया। अत: बहुत संभव है कि उसके बाद ब्राह्मणोंको नीचा दिखानेके लिये इस कल्पनाका उद्गम हुआ हो।

करानेके लिये सर्वथा इंकार कर दिया;[1] क्योंकि वर्द्धमान अपना आत्मविकास करते हुए जगतका कल्याण करना चाहते थे। इसी कारण उन्हें सांसारिक भोग और उपभोग अरुचिकर प्रतीत होते थे। वे राज्य वैभवमें पले और रह रहे थे; किन्तु वह जलमें कमलवत रहते हुए उसे एक कारागृह ही समझ रहे थे। उनका अन्तःकरण सांसारिक भोगाकांक्षाओंसे विरक्त और लोक कल्याणकी भावनासे ओत प्रोत था। अतः विवाह सम्बन्धकी चर्चा होनेपर उसे अस्वीकार करना समुचित ही था। कुमार वर्द्धमान स्वभावतः ही वैराग्यशील थे। उनका अन्तःकरण प्रशान्त और दयासे भरपूर था, वे दीन दुखियोंके दुःखोंका अन्त करना चाहते थे। अब उनकी अवस्था भी तीस वर्षकी होगई थी अतः आत्मोत्कर्षकी भावना निरन्तर उदित होरही थी जो अन्तिम ध्येयकी साधक ही नहीं किन्तु उसके मूर्तरूप होनेका सच्चा प्रतीक थी। अतः भगवान महावीरने द्वादश भावनाओंका चिन्तन करते हुए संसारको अनित्य एवं अशरणादिरूप अनुभव किया और राज्य-विभूतिको छोड़कर जिन दीक्षा लेनेका दृढ़ संकल्प किया। उनकी लोकोपकारी इस भावनाका लौकान्तिक देवोंने अभिनन्दन किया और भगवान महावीरने 'ज्ञातखण्ड' नामके वनमें मंगशिर कृष्णा दशमीके दिन जिन दीक्षा ग्रहण की; बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंको उतारकर फेंक दिया और पंच मुष्टियोंसे अपने केशोंका भी लोचकर डाला। इस तरह भगवान महावीरने सर्व ओरसे निर्ममत्व एवं निस्पृह होकर दिगम्बर मुद्रा धारण की।[2]

तपश्चर्या और केवलज्ञान

भगवान महावीरने अपने तपस्वी जीवनमें अनशनादि द्वादश प्रकारके दुष्कर एवं दुर्धरतपोंका अनुष्ठान किया। घोर एवं हिंस्र जन्तुओंसे भरी हुई अटवीमें विहार किया तथा डांस मच्छर, शीत उष्ण और वर्षादि जन्य घोर कष्टोंको सहा। ग्राम, खेट, कर्वट और वन मटम्बादि अनेक स्थानोंमें मौनपूर्वक[3] उग्रोग्र तपश्चरणोंका अनुष्ठान एवं

[2] श्वेताम्बरोंमें भगवान महावीरके विवाह-सम्बन्धमें दो मान्यताएँ हैं विवाहित और अविवाहित। कल्पसूत्र और आवश्यक भाष्यकी विवाहित मान्यता है। और आवश्यक निर्युक्तिकार भद्रबाहुकी अविवाहित मान्यता है, देखो, 'श्वेताम्बरोंमें भी भगवान महावीरके अविवाहित होनेकी मान्यता' शीर्षक मेरा लेख अनेकान्त वर्ष ४ किरण ११-१२- पृ० ५७६

आवश्यक निर्युक्तिकी 'गामायारा विसया जे भुत्ता कुमाररहिएहिं' वाक्यमें कुमार तीर्थंकरोंको छोड़कर शेष तीर्थंकरोंका भोग भोगना सूचित किया है। अतः निर्युक्तिकारकी यह मान्यता दिगम्बर परम्पराके समान ही है। परन्तु कल्पसूत्र गत समरवीर राजाकी पुत्री यशोदासे विवाह-सम्बन्ध होने और उससे प्रियदर्शना नामकी लड़की के उत्पन्न होने और उसका विवाह जामालिके साथ करने की मान्यताके उद्गम् का मूलाधार क्या है? यह कुछ मालूम नहीं होता, और भगवान महावीरके दीक्षित होनेसे पूर्व एवं पश्चात् यशोदाके शेष जीवनका अथवा उसकी मृत्यु आदिके सम्बन्धमें कोई उल्लेख श्वे० साहित्यमें उपलब्ध नहीं होता है जिससे यह कल्पना भी निष्प्राण एवं निराधार जान पड़ती है कि यशोदा अल्पजीवी थी और वह भगवान महावीरके दीक्षित होनेसे पूर्व ही दिवंगत होचुकी थी। अतः उसकी मृत्युके बाद भगवान महावीरके ब्रह्मचारी रहनेसे वे ब्रह्मचारी रूपमें प्रसिद्ध हो गए थे; क्योंकि आवश्यक निर्युक्तिकी २२२ की गाथामें प्रयुक्त 'कुमारवासम्मि पव्वइया' वाक्यमें भगवान महावीर के कुमार अवस्थामें दीक्षित होनेसे इस प्रकारकी मन गढ़न्त एवं भ्रामक कल्पनाओंका कोई मूल्य नहीं रहता।

[1] श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें दीक्षा लेनेके बाद इन्द्रके द्वारा दिये हुए 'देवदूष्य' वस्त्रके १३ महीने तक बायें कन्धेपर पड़े रहने और उसमेंसे आधा फाड़कर एक गरीब ब्राह्मण को देनेका उल्लेख पाया जाता है।

[2] श्वे०सम्प्रदायमें आमतौरपर तीर्थंकरका मौनपूर्वक तपश्चरण का विधान नहीं है; किन्तु उनके यहाँ जहां तहां छद्मस्थ अवस्थामें उपदेशादि देनेका उल्लेख पाया जाता है। परन्तु आचारांग सूत्रके टीकाकार शीलांकने साधिक बारह वर्ष तक महावीरके मौनपूर्वक तपश्चरणका विधान किया है वे वाक्य इस प्रकार हैं—नानाभिधाभिग्रहोपेतो घोरानपरीषहोपसर्गानधि सहमानो महासत्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयत् द्वादशवर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार।"—आचारांगवृत्ति पृ० २७३।

आचरण करते हुए बारह वर्षका समय व्यतीत होगया, और वे घोर तपोंके साधन द्वारा चित्त शुद्ध करते हुए जृम्भिका ग्रामके समीप आये और वहां ऋजुकूला नदीके किनारे शाल वृक्षके नीचे वैशाख शुक्ला दशमीको तीसरे प्रहरके समय जब वे एक शिलापर षष्ठोपवाससे युक्त होकर क्षपक श्रेणीपर आरूढ थे। उस समय चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्रके मध्यमें स्थित था, भगवान महावीरने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा ज्ञानावरणादि घाति कर्म मलको दग्ध किया[3] और स्वाभाविक आत्मगुणोंका पूर्ण विकास किया।[1] कर्मकलंकके विनाशसे संसारके सभी पदार्थ उनके ज्ञानमें प्रतिभासित होने लगे। और भगवान महावीर वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होगए। इस तरह भगवान महावीर अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए। उनके समक्ष जाति विरोधी जीव भी अपना वैर छोड़ देते थे।[2] उनकी अहिंसा विश्वशान्ति और स्वतंत्रताका प्रतीक है और इसीलिये आचार्य समन्तभद्रने उसे परमब्रह्म कहा है[3]

भगवान महावीरका उपदेश और विहार

केवल ज्ञान होनेके पश्चात् उनकी दिव्यवाणीको झेलने या अवधारण करने योग्य कोई गणधर नहीं था इस कारण छयासठ दिन तक भगवान मौन पूर्वक रहे, पश्चात् राजगृहके विपुलगिरिपर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको अभिजितनक्षत्रमें भगवान महावीरके शासनतीर्थकी धारा प्रवाहित हुई। उनकी सभाका नाम समवसरण था और उसमें देव दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी वगैरह सभीको समुचित स्थान मिला, सभी मनुष्य निर्भय बिना किसी भेदभावके एक स्थानपर बैठकर धर्मोपदेश सुन रहे थे। मनुष्योंकी तो बात क्या उस समय सिंह, हिरण, सर्प, नकुल और चूहा बिल्ली आदि तिर्यंचोंमें भी कोई वैर-विरोध दृष्टिगोचर न होता था वे सब बड़ी ही शान्तिके साथ दिव्य देशनाका पान कर रहे थे। इससे पाठक भगवान महावीरके शासनकी महत्ताका अनुमान कर सकते हैं। भगवान महावीरने ३० वर्ष तक काशी कौशल पांचाल, मगध, बिहार और मथुरा आदि विविध देशोंमें विहारकर जीवोंको कल्याणकारी उपदेश किया। उनकी अन्ध-श्रद्धाको हटाकर उसे समीचीन किया। और दया दम, त्याग तथा समाधिका स्वरूप बतलाते हुए यज्ञादि कार्योंमें होने वाली भारी हिंसाको विनष्ट किया और इस तरह बिलबिलाट करते हुए पशुकुलको अभयदान मिला। जनसमूहको अपनी भूलें मालूम हुईं और वे सत्पथके अनुगामी हुए। शूद्रों और स्त्रियोंको अपनी योग्यतानुसार आत्मसाधनका अधिकार मिला। और इस तरह भगवान महावीरने अपने विहार एवं उपदेश द्वारा जगतका कल्याण करते हुए कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम प्रहरमें पावासे निर्वाण प्राप्त किया।

वीरशासन और हमारा कर्तव्य

भगवान महावीरके शासन सिद्धान्त बड़े ही गम्भीर और समुदार हैं वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ वृत्तिकी उच्चभावनाओंसे ओत-प्रोत हैं; क्योंकि उनका मूलरूप अहिंसा है। वीरशासनमें अहिंसाकी बड़ी सुन्दर परिभाषाएँ बनाई गई हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। उनमें दर्जे व दर्जे अहिंसाके क्रमिक विकासका मौलिक रूप विद्यमान हैं जिनमें अहिंसाको जीवनमें उतारनेका बड़ा ही सरल तरीका बतलाया गया है। साथ ही उसकी महत्ता एवं उसके व्यवहार्यरूपका मनोरम कथन विहित है जिस पर चलनेसे जीवात्मा परमात्मा बन सकता है अहिंसासे आत्मबलकी वृद्धि होती है क्रूरता और कायरताका विनाश होता है। मानवताके साथ साथ नैतिकचरित्रमें प्रतिष्ठा और बलका संचार होता है और मानव सभ्यताकी ओर अग्रसर होने लगता है, स्वार्थवासना और विषयलोलुपता जैसी घृणित भावनाएँ फिर उसके मार्गमें बाधक नहीं हो पातीं। विश्वविभूति महात्मा गांधी महावीरकी अहिंसा अहिंसा और सत्यके आंशिक पालकमें आज विद्यमान हैं। सत्य और अहिंसाकी एक देश निष्ठासे ही वे विश्वके महात्मा बन सके हैं और इस समय समूचे भारतका

(शेष पृष्ठ ४३ पर)

धवलामें भी भगवान महावीरके तपश्चरणका काल १२ वर्ष पांच मास १५ दिन बतलाया है।

१ देखो, निर्वाणभक्ति पूज्यपादकृत १० से १२ तक।

२ पातंजलि योगसूत्र ३५, ३ बृहत्स्वयंभू०—११६

३ हरिवंश पुराण २-६१ तिलोय प० १-६६, ७०, ध० प्र०खण्ड, अ०वर्ष २ कि० ८

आधुनिक जैनसाहित्यमें प्रगति क्योंकर हो ?

(लेखक-मुनि कान्तिसागर, साहित्यालङ्कार)

प्राचीन जैन साहित्यपर भारतीयोंको, खासकर जैनोंको बड़ा ही गौरव है। सचमुचमें होना ही चाहिये, पर प्राचीन साहित्यपर हम तो गौरव मनाते ही हैं, लेकिन आगामी सन्तान किसपर गौरव करेगी, जबकि उनके लिये वर्तमान साहित्य न होगा। अत: आधुनिक प्रगतिशील युगमें नूतन जैन साहित्य निर्माण करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, प्रत्युत अनिवार्य है। वर्तमानमें बाह्य साधनों तथा विचारोंकी कोई कमी नहीं और न विद्वानोंकी कमी है फिर भी न मालूम इस ओर जैन विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट क्यों नहीं होता। यद्यपि मेरा मन्तव्य नहीं है कि सभी सज्जन इस कार्यमें व्यस्त रहें और प्राचीन साहित्योद्धार कार्य बन्द कर दिया जाय। मेरी रायमें तो दोनों कार्य–क्या प्राचीन, क्या अर्वाचीन—तेजीके साथ होनेचाहिए, और यह इतर समाजवालोंको मालूम न होने देना चाहिये कि जैन लोगोंका एक मात्र प्राचीन है ही साहित्य—आधुनिक तो है ही नहीं। अर्थात् दोनोंमें समान प्रगति हो। फिलहालमें हम बहुतसे ऐसे विषय देखते हैं जो आधुनिक जैन साहित्यमें नहीं पाये जाते। जैसेकि सम्पूर्ण जैनइतिहास, जैनभूगोल, जैनसाहित्य, सर्वदेशीय एवं प्रान्तीय, जैन कला आदि। उपरोक्त विषयोंके नूतन साहित्यका होना आधुनिक जैनसमाजके लिये अत्यन्त आवश्यक है। या स्पष्ट शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि उक्त साधन जैन धर्मोन्नतिके महत्वपूर्ण सोपान हैं—जैनेतरोंको जैनधर्मका परिचय करानेके लिये प्रकाशका काम दे सकते हैं।

जैनसाहित्यमें सर्वविषयके साधन होते हुए ऐसे विषयों में प्रगति न करना बड़ी भारी भूल है। हालांकि आधुनिक जैन साहित्य अल्परूपमें उपलब्ध होता है पर अपेक्षाकृत वह अपर्याप्त है। देखिये, हिन्दी साहित्यकी ५० वर्ष पूर्व कितनी दयनीय हालत थी, अब आज उस हिंदी वाङ्मय-संसारपर दृष्टिपात करनेसे स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान हिन्दी साहित्यने अभूतपूर्व उन्नति कर भारतीय साहित्यमें उच्च स्थान प्राप्त किया है, जिसमें कई कई तो ऐसे विषय हैं जो प्राचीन साहित्यमें दृष्टिगोचर तक नहीं होते हैं फिर भी हिन्दीके सुयोग्य विद्वानोंने अपनी मातृभाषाका भंडार परिपूर्ण किया है और देशके योग्य आत्मगौरवमें महत्वपूर्ण वृद्धि की है। जैनविद्वानोंके लिये हिन्दी साहित्यिकोंके प्रति स्पर्धा होनी चाहिये।

यहांपर एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि हरएक देशमें इतनी साहित्यिक वृद्धि क्यों होती है? अर्थात् साहित्य उत्तरोत्तर वृद्धिको क्यों प्राप्त होता है? इस प्रश्नको सोचनेके बाद मस्तिष्क यही उत्तर देता है कि **प्रत्येक देशकी साहित्यिक उन्नति-अवनति एकमात्र उस देशके आलोचकोंपर अवलम्बित है।** आप देख सकते हैं—योरुपीय साहित्य १०० वर्ष पहले कितनी गिरी हुई हालतमें नजर आता था और आज पूर्णोन्नतिके शिखरपर आरूढ है। इसका प्रधान कारण क्या है? यही है कि वहां सच्चे अर्थोंमें आलोचकोंकी बाहुल्यता है। जबकि भारतमें उन आलोचकोंकी कमी है जो साहित्यके हरएक विषयपर समान योग्यता रखते हों। इससे पाठक यह न समझें कि भारतमें ऐसे समीक्षकोंका अभाव है पर कमी तो अवश्य है। यही हालत हमारे जैन साहित्यकी है। जब तक कि जैन समाजमें पाश्चात्य प्रणालीके समीक्षक पैदा न होंगे तब तक आधुनिक जैन साहित्यका विपुल निर्माण अथवा पूर्णोत्थान कदापि संभव नहीं। वर्तमानमें आलोचक इस प्रकारकी आलोचना करनेमें बहुत ही कुशल हैं—जैसेकि लेखककी तारीफ, प्रकाशककी प्रशंसा, सुन्दर छपाई, बढ़िया कागज, लेकिन उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि यह आलोचनाका रूप नहीं है मात्र परिचय है। आलोचना क्या और कैसी होनी चाहिये, इस सम्बन्ध

में 'आलोचकका कर्त्तव्य' शीर्षक मेरा निबन्ध देखना चाहिये जिसमेंसे कुछ नियम यहाँ बतलाये देता हूँ— आलोचकको चाहिये कि निम्न विषयोंपर जितना भी उनकी लेखनीमें बल हो, प्रयोग करें—ग्रन्थ विषय, लेखकको कहाँ तक सफलता मिली है, वह विषय कहाँ तक सुलझा सका है, भाषा सौन्दर्य कैसा है, आदि। गुण-दोषकी इन बातोंको बतलाने वाला आलोचक वस्तुतः आलोचना (आसमन्तात् लोचना विचारणा आलोचना) के सच्चे अर्थों में सर्व श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकता है।

जैन समाजमें हमने ऐसे भी आलोचक देखे हैं जिनकी आलोचना मूलग्रन्थसे कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यह भी देखनेमें आता है कि समीक्षकने सिद्धान्तको छोड़कर सीधा व्यक्तिपर आक्षेप किया है। जिसका परिणाम यह निकलता है कि परस्पर साहित्यिक प्रेम तो दूर रहा, पर भयंकर मनोमालिन्यमें वृद्धि होती है और समाज सच्चे साहित्यसे वंचित रह जाता है।

मेरे ऊपरके शब्दोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जब तक जैन समाजमें सच्चे अर्थोंमें आलोचक पैदा न होंगे तब तक हमारी साहित्यवाटिकाके सुन्दर पुष्प कदापि पल्लवित न हो सकेंगे। अतः सर्वप्रथम जैन विद्वानोंका यह परम कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे ऐसे आलोचक पैदा करें जो जैन-साहित्यकी शोचनीय हालतको दूर करते हुए और उसकी अभिवृद्धि करते हुए उसे पूर्णोन्नतिके शिखरपर पहुंचायें और इस तरह विश्वमें जैन साहित्यकी धवल पताका फहरायें।

निःसन्देह वह दिन जैनियोंका स्वर्णदिन होगा, जिस दिन दसपाँच उपरोक्त गुण-सम्पन्न आलोचक हमारी नजरमें आवेंगे। उस दिन हमें पूर्णविश्वास होगा कि अब हम साहित्यके सुविस्तृत क्षेत्रमें आशातीत वृद्धि कर सकेंगे।

वीर-वाणीकी विशेषताएँ और संसारको उनकी अलौकिक देन

(लेखक—श्री दशरथलाल जैन 'कौशल' पटना)

प्रायः देखा जाता है कि कृष्ण, राम, ईसा, महावीर, मुहम्मद बुद्ध आदि महात्मा पुरुषोंकी जयन्ती मनाई जाने का रिवाज चल पड़ा है और उसका कारण यह है कि उपरोक्त सभी महात्माओंने अपने जमानेके लोगोंको मानवताके दर्जेसे पतित समाजको उनकी जहालतको हटाकर मनुष्यताके समीप लानेका युगान्तरकारी कार्य किया था। लेकिन प्रश्न हो सकता है कि उसी तरह जब जैन लोग महावीर जयन्ती मनाते हैं तब उनके मुखारविन्दसे प्रगट हुई इस युगमें प्रथम धर्मवाणीको महत्व देनेकी निराली प्रथाका श्रीगणेश करनेकी क्या आवश्यकता हुई ? इसका सीधा और सही उत्तर है। वह यह कि एक तो उस तिथि और स्थानको ऐतिहासिक महत्व देना। और दूसरे, संसार भरसे निराली किन्तु विज्ञानसम्मत अश्रुतपूर्व आध्यात्मिकताकी ओर झुकाने वाले बुद्धिगम्य तत्वोंको संसारके तमाम धर्मोंके मुकाबले जोरदार शब्दोंमें पेश करना। तीसरे, उपर्युक्त महापुरुषोंकी जयंतियोंमें व्यक्ति पूजाकी प्रधानता और गुणपूजाकी गौणता पाई जाती है जबकि वीर-वाणीको महत्व प्रदान करनेमें गुणपूजाको प्रधानता और व्यक्तिपूजाको गौणता प्राप्त होती है। अतः भगवानकी प्रथम धर्मदेशनाके उत्सवको महत्व प्रदान कर हम दुनिया के स्टैन्डर्डसे ऊँचा उठते हैं। दुनियाके लोगोंने जहां अपने अपने महापुरुषों और पैगम्बरोंकी इसलिये पूजा की है कि वे ईश्वरके अवतार थे। इसलिये उनके सभी कार्य हमारे लिये सराहनीय और सत्य हैं या खुदाकी खास मेहरबानी हजरत ईसा वा हजरत मुहम्मद साहबपर थी और इसलिये उनके सभी कार्य और धर्मके नामपर दिये गये उपदेश ही सर्वोत्तम थे और उससे परे सत्य हो नहीं सकता, यहां जैनियोंका बड़ा विचित्र और अजीबो ग़रीब रवैया रहा है। उनके यहां तत्वतः कोई ईश्वरत्वको प्राप्त हुई आत्माको अवतार लेकर पृथ्वीपर उतरनेकी आवश्यकता ही नहीं होती। अतः यहां अवतारी पुरुष माना ही नहीं गया। इसलिये जैनेतर दृष्टिसे उनकी कभी यह धारणा ही नहीं

रही कि चूंकि महावीर अवतारी पुरुष हैं, इसलिये उनका उपदेश, चरित्र या कलाम हमारे लिये धर्म है, नहीं; बल्कि महावीर इसलिये पूज्य हुए कि उन्होंने उनके पूर्व मुक्ति प्राप्त तीर्थंकरों (विश्वहितैषी कल्याण-पथ-दर्शकों) द्वारा प्रणीत प्रत्येक जी रहों को पाक व पवित्र करनेवाले धर्मको पालकर जिस तरह अपनी आत्माको पहचाना, उसको अमलकर विकास करनेके तरीकेको जाना और चरित्रके द्वारा अमलकर ईश्वरत्वप्राप्तिमें कमाल हासिल किया था इसलिये वे कामिल इन्सान होकर जीवन्मुक्त होगये। उस अवस्थामें उन्होंने संसारमें भटकते जन्म मरणके चक्करमें पड़े जीवोंको जो अनुभूत सच्चा धर्मोपदेश अपनी वाणीमें दिया वह हमारे कल्याणका कारण है। अतः उस वाणी का हम जितना मूल्य करें, थोड़ा है। भगवान महावीरके पूर्व और भगवान पार्श्वनाथके पश्चात् मध्यका काल धर्म और चरित्रमें हीन होकर जैसा अंधकारमय होगया था उस घनघोर निशामें वीर भगवानकी सर्वतोप्रथम श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको धर्मदेशना होना—हमारे परम सौभाग्य का विषय है और जिस जगह वह हुई वह है हमारे लिये पुण्यभू। अतः हमारे समीप भगवानकी वह वाणी ज्यादा महत्वकी है और तदुपरान्त भगवान महावीरका व्यक्तित्व।

अब हम संक्षेपमें उन कुछ बातोंको कहनेका प्रयत्न करेंगे जो इस वाणीकी अलौकिक और अभूतपूर्व विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

(१) सबसे पहले हम 'विश्वास' की बातको लेते हैं। प्रायः हर धर्म कहता है कि हम पर विश्वास लाओ और तुम्हें विहिश्त या निजात हासिल होगी। जैसे ईसाई धर्म कहता है कि तुम विश्वास करो कि ईसा खुदाका बेटा है और वह तुम्हारे गुनाहोंको बख्शवानेके लिये सूलीपर चढ़ा। जो उसपर यकीन लायगा उसे यकीनन मुक्ति या नजात हासिल होगी। दुनियामें इस धर्मके माननेवाले सबसे ज्यादा है। दूसरे नम्बरपर है इस्लाम धर्म। उसका कहना है 'ला इलाहा इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलल्लिाह'—कुरान शरीफ़। अर्थात् खुदा एक है और मुहम्मद साहब उसके रसूल या पैगम्बर हैं। इसपर विश्वास करो तुम्हें नजात हासिल होगी। हिन्दु धर्ममें ईश्वर जगतकर्ता है, उसकी भक्ति किये जाओ या योगसाधन करो, ईश्वर प्रसन्न होगा और उससे तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी। जबकि वीर भगवानने संसारके इतर धर्मोंसे पृथक यह फरमाया कि अपनी अपनी आत्माको पहिचानो और उसके अन्दर पाई जाने वाली अचिन्त्य और अनन्त ईश्वरीय शक्तिपर विश्वास करो

N an objection by, is a creature of fate and subjectindly has a conscrousness and is free.

गरज आत्माको उत्तरोत्तर पवित्र करते रहनेसे जीव अनन्त कर्मराशिको नष्ट कर सकता है, पतितसे पतित आत्मा मनुष्यके दर्जेको पाकर परमात्मा अथवा कृतकृत्य हो सकता है।

(२) दूसरी जगह प्रायः सर्वत्र जहां ईश्वरमें कर्तृत्वपनेके कारण मनुष्यको सदैव उसका सेवक या गुलाम बना रहना और उसकी मर्जीपर अनन्त सुखका पाना बताया है वहां वीरने ईश्वरकी गुलामी सदैव करते रहनेके खिलाफ़ बगावत करने और आजाद होकर खुद ईश्वर बनजानेका नायाब नुसखा पेश कर दिया है।

(३) दूसरी जगह जहां संसारके धर्मप्रवर्तक महापुरुषोंने अहिंसा धर्मके एक एक अङ्गका पालन व प्रचार करनेमें अपना नाम अमर किया है वहां जैनधर्मने यह बताया कि संसारमें जहां २ जीवरक्षाका कार्य है वहां २ सब जगह अहिंसा तत्व कार्य करते हुए पाया जाता है। अहिंसा धर्म सर्वव्यापी सिद्धांत है। ईसाइयोंका सेवाधर्म, मुस्लिमोंका बिरादराना सलूक (बराबरीका भाईचारापन), बुद्धकी दया, हिन्दुओंकी भक्ति और कर्तव्य-परायणता, सब महावीरकी 'अहिंसा' के अन्तर्भूत अंग हो जाते हैं अहिंसाधर्मकी अनुपम सार्वभौमिकता एवं अश्रुतपूर्व वृहद् रूपका जैसा सांगोपांग वर्णन महावीरने किया वैसा अन्यत्र पाना असंभव है।

(४) सारे संसारने जहां ईश्वरको जगतका कर्त्ता-हर्त्ता माना और जीवके सुख-दुखका उत्तरदायित्व जहां परमात्मापर लादा गया है वहां महावीर-धर्मने इसे अपने शुभ-अशुभ कर्मोंका फल माना और परमात्माके दर्जेको शुद्ध, बुद्ध, कृतकृत्य, सतचित आनंदमय, रागद्वेष परिणति से रहित और निर्विकार, यानी महावीरका धर्म तुलसीदास के शब्दों में 'कर्मप्रधान विश्वकरि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा॥' का शतप्रतिशत हामी है। कर्मोंका

जैसा भेद-प्रभेद वर्णन यहां मिलेगा वह अन्यत्र है ही नहीं। मनुष्योंके किन परिणामोंसे कौनसे कर्म बंधते हैं, उनकी सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमणक्रिया या फलोंका उदय आदिका ब्यौरेवार वर्णन आपको यहां मिलेगा।

(५) दुनियामें मूर्तिपूजा या बुतपरस्ती जहां कुफ्र या मिथ्यात्वका बढ़ाने वाला और खुदाकी राहसे भटका देने वाला माना गया वहां जैनधर्मने सिद्धासन ध्यानावस्थाकी मूर्तिको इस रंगविरंगे संसारकी चित्रशालामें हमें ध्यान लगाने और योगावस्थाकी ओर खींचनेके लिये गृहस्थोंको अत्यावश्यक और अध्यात्म रसमें लीन साधुओंके लिये अनावश्यक करार दिया।

(६) इसी तरह दुनियामें देखनेमें आता है कि ईसाइयोंमें जब कोई मर जाता है तो मुर्देको अच्छे वस्त्र इत्र फुलेलसे सुसज्जित करते हैं और उसकी आत्माको शांति मिले इस लिये पादरी साहब बाइबिलसे प्रार्थना पढ़ते हैं। इसी तरह मुस्लिमोंमें मृतक शरीरको कलमा पढ़ कर माफ किया जाता है और उसके लिये दुआएँ पढ़ी जाती है। हिंदुओंमें भी मरने पर 'राम नाम सत्य है सत्य बोलो गति है' की रट लगाई जाती है। जैनधर्म इसे ऐसा मानता है जैसे कोई सर्प निकल जाने पर लकीर पीटता हो। जैनधर्म जीव निकल जाने पर उपर्युक्त क्रियाएँ व्यर्थ मानता है इस लिये वह कहता है कि जब मनुष्य मरणासन्न हो तो अपने चित्तसे क्रोध, मान, माया, लोभ और गृह कुटुम्बसे मोहका त्याग करे अपने पापोंसे घृणा, प्रायश्चित्त कर सबसे क्षमा याचना करे दान-पुण्य करे इस तरह समाधिमरण पूर्वक स्वयंके पवित्र परिणामोंसे शरीर त्याग करे तो उसे स्वयं सद्गति प्राप्त होगी।

(७) संसारमें जहां अपने अपने धर्म और धर्मप्रचारक को ही सत्य और सच्चा धर्म माना और दूसरेको अधर्म समझा वहां जैनधर्मने कहा 'नहीं जी, वे भी एक दृष्टिसे सच्चे हैं और धर्मके एक अंशका प्रतिपादन करते हैं उसे यह दृष्टि उसके स्याद्वादनयकी न्यायदृष्टिसे प्राप्त हुई है— इस तरह जैनधर्म सर्व-धर्म-समन्वयका एक मात्र स्थान है यह हर पदार्थको भिन्न २ पहलूसे समझनेका मादा या योग्यता प्रदान करता है, इत्यादि।

इस तरह दुनिया देखेगी कि इस युगमें जिस वीर वाणीके सर्वप्रथम प्रगट होनेको जो इतना महत्व दिया जा रहा है उसका कारण उनकी वाणी द्वारा प्रगट ऐसी असाधारण, अपूर्व, तर्क, विज्ञान और न्यायकी कसौटी पर खरा उतरने वाले बुद्धिगम्य अकाट्य क्रांतिकारी सिद्धांत हैं जो सारे संसारको चेलैंज देनेके लिये अपनी शानके इकता कहे जा सकते हैं ये तो बहुत सी बातोंमेंसे कुछ नमूने है जो वीर-शासनके गौरवको प्रदर्शित करते हैं।

क्या ही अच्छा हो इन्हीं या और कोई खास खास विशेषताओंको खुदवा कर वीर प्रभुके अपूर्व प्रथम धर्मदेशनाके प्रमाण स्वरूप एक ऐसा आधुनिक विविध कला पूर्ण ढंगका विशाल ऊँचा स्मारक स्तम्भ राजगृहीके किसी मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य युक्त भूमि पर निर्माण किया जावे, जो संसारकी और खास कर भारतवर्षकी एक दर्शनीय चीज़ हो और देश विदेशके पर्यटकों और विद्वानोंको बरबस अपनी ओर आकर्षित करे और उन्हें अपने अजीब सिद्धान्तोंके चेलैंजको स्वीकृत करानेके लिये ऐसा बाध्य करे कि वे अपनी आत्माकी बेचैनीसे एक बार जैनधर्मके शांत सरोवरमें डुबकी अवश्य ही लगायें।

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं

(लेखक—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०)

[गत किरणसे आगे]

पार्श्वनाथचरितके रत्नकरण्डक सम्बन्धी उल्लेखकी ऊहापोह

(एक) न्यायाचार्यजीका आत्मनिवेदन—

पार्श्वनाथचरितके अन्तर्गत देवागम और रत्नकरण्डके उल्लेखोंकी व्याख्यापर आकर न्यायाचार्यजी लिखते हैं कि —'मुख्तार सा० ने वादिराजसूरिके जिन दो श्लोकोंके आधारसे अपना उक्त प्रतिपादन किया था वे दोनों श्लोक और उनका उक्त प्रतिपादन उस समय मेरे लिये विशेष विचारणीय थे। एक तो वे दोनों श्लोक उक्त ग्रन्थमें व्यवधान सहित हैं। दूसरे कुछ विद्वान उससे विरुद्ध भी कुछ विचार रखते हैं। अतएव मैं उस समय कुछ गहरे विचारकी आवश्यकता महसूस कर रहा था, और इसलिये न तो मुख्तार साहबके उक्त कथनसे सहमत हो होसका और न असहमत तटस्थ रहा।

पंडितजीके इसी आत्मनिवेदनसे सिद्ध होजाता है कि कि उन्होंने अपने पूर्व लेखमें जान बूझकर प्रकृतोपयोगी एक महत्वपूर्ण बातको छिपाया था कि वादिराजके दोनों उल्लेख व्यवधान सहित होनेके कारण देवागम और और रत्नकरण्डकके एक कर्तृत्वकी सिद्धिमें साधक नहीं किन्तु बड़े बाधक हैं। वे और भी लिखते हैं कि—'वहां मुझे वादिराजके जितने असंदिग्ध उल्लेखसे प्रयोजन था उतने ही को उपस्थित किया, शेषको छोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त एक सच्चे विचारकका कोई अच्छा तरीका नहीं है।" किन्तु यदि न्यायाचार्यजी विचारकर देखेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि यह तरीका सच्चे विचारक का नहीं, किन्तु एक घोर पक्षपातीका है। क्या कोई सच्चा विचारक इतना बड़ा उपर्युक्त बाधक प्रमाण अपनी दृष्टिमें रखता हुआ भी अपने लेखमें उसपर जरा भी विचार नहीं करेगा, न अपने पाठकोंको उसका कुछ भी पता लगने देगा और बार बार निश्शंक रूपसे यह दावा करता चला जायगा कि 'वे दोनों एक ही ग्रन्थकारकी कृति हैं और वे है स्वामी समन्तभद्र" "अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार और आप्तमीमांसादिके कर्ता एक हैं और वे स्वामी समन्तभद्र हैं" तथा "इन सबका कर्ता एक ही है और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।" "प्रकट कर देना चाहता हूँ ताकि दोनोंके कर्तृत्वके सम्बन्धमें कोई सन्देह या भ्रम न रहे?" जो लेखक उपर्युक्त उतना बड़ा सन्देह और भ्रम अपने मनमें रखता हुआ भी अपने पाठकोंको निस्सन्देह और निर्भ्रम बन जानेके लिये ललकारे उसकी बौद्धिक ईमानदारीमें कहांतक विश्वास किया जा सकता है? यदि न्यायाचार्यजी अपने उस लेखमें यह कह देते कि उक्त समस्याके कारण मैं उस प्रश्नपर 'गहरे विचारकी आवश्यकता महसूस कर रहा हूं जैसाकि उन्होंने अब कहा है, तब तो यह माना जा सकता था कि वे निष्पक्ष विचारक हैं और तटस्थ रहना भी जानते हैं। किन्तु उनकी वर्तमान प्रवृत्तिसे तो वे न्यायके क्षेत्रमें अपनेको बड़ा अयोग्य विचारक सिद्ध कर रहे हैं।

(ख) न्यायशास्त्रका दुरुपयोग—

मैंने जो यह लिखा था कि 'इससे वादिराजकृत पार्श्वनाथ चरितको उठाकर देखा" उसपर भी पंडितजी एक लम्बी टिप्पणी करते हैं कि 'उनकी अन्तिम पंक्ति तो बहुत आपत्तिके योग्य है, क्योंकि उनके इस कथनसे यह मालूम होता है कि उन्होंने अपने प्रस्तुत लेख लिखने तक पार्श्वनाथ चरितको उठाकर नहीं देखा था और अब मेरे द्वारा वादिराज सम्बन्धी पार्श्वनाथ चरितका उल्लेख प्रस्तुत किये जानेपर ही उसके देखनेकी ओर आपकी प्रवृत्ति हुई है।" इत्यादि। पंडितजी मुझे क्षमा करेंगे

यदि मैं कहूं कि मुख्य विषयको छोड यह जो वे बात बात पर अपने न्यायशास्त्रके ज्ञानका दुरुपयोग करते हैं एवं युक्ति, तर्क और अनुमानके उत्कृष्ट नियमोंसे हीन व्यवसाय कराते हैं उसमें वे धीरे धीरे विलुप्तताकी ओर बढते हुए दिखाई देते हैं। मेरे यह कहनेमें कि 'हमने पार्श्वनाथ चरितको उठाकर देखा' यह अनुमान किस नियमसे निकलता है कि मैंने इसके पहले उसे कभी नहीं देखा था और उससे प्रकृत विषय कैसे निर्णयकी ओर बढता है? पंडितजी अप्रयोजक प्रश्न उठानेका मुझपर दोष रोपण करते हैं और स्वयं उस प्रणालीको क्रियात्मक रूप देकर दिखाते हैं। क्या जो पुस्तक एक वार उठाकर देखली जाय उसे दूसरी वार उठाकर देखना न्यायशास्त्रके विरुद्ध है? मुझे तो जब जब काम पड़ा तब तब मैंने पार्श्वनाथचरित को उठाकर देखा और पढा है, उक्त लेख लिखते समय भी उसे उठाकर देखा और पढा था, तथा आगे भी जब जब काम पड़ेगा तब तब उसे उठाकर देखना पड़ेगा, क्योंकि बिना ऐसा किये मैं उस ग्रन्थके संबंधमें कुछ लिख न सकूंगा। शायद न्यायाचार्यजीको उनके विशेष क्षयोपशम के कारण एक बार पढी पुस्तककी सब बातें सदैव याद रह जाती होंगी और उन्हें फिर उसके उल्लेखोंके सम्बन्धपर लिखते समय भी उसे उठाकर देखनेकी आवश्यकता न पड़ती होगी। किन्तु मेरा क्षयोपशम तो इतना बलिष्ठ नहीं है। मैं तो हर बार पुस्तक देख लेता हूँ, क्योंकि प्राय पुरानी पढी हुई बातोंका विस्मरण होजाता है या उनके ज्ञानमें कुछ अस्पष्टता आजाती है। यदि मेरी यह पद्धति न्यायाचार्यजीको 'बहुत आपत्तिके योग्य' दिखाई देती है, तो मैं उनसे क्षमायाचना करनेके अतिरिक्त और किसी प्रकार उनका संतोष नहीं कर सकता। हां यथार्थतः न्यायाचार्यजी स्वयं भी इस प्रकारकी आपत्तिसे वंचित नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने लिखा है कि जब मैंने 'जन्म-जरा-जिहासया' इस ४१ वें पद्यके आगेका ५० वां पद्य देखा तो वह मेरी विवक्षा मिल गई।" क्या न्यायाचार्यजीके ही न्यायानुसार मैं नहीं कह सकता कि उनकी यह पंक्ति तो बहुत ही आपत्तिके योग्य है, क्योंकि उनके इस कथनसे यह मालूम होता है कि उन्होंने इससे पूर्व स्वयंभू स्तोत्रका ५० वां पद्य कभी नहीं देखा था। इत्यादि।

(ग) 'देव' का वाच्यार्थ

वादिराजने जिन तीन पद्योंमें क्रमसे स्वामिकृत देवागम देवकृत शब्दशास्त्र और योगीन्द्रकृत रत्नकरण्डकका उल्लेख किया है उनपरसे उनको अभिमत देवागम और रत्नकरण्ड को एक ही कर्ताकी कृतियां माननेका प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनोंके बीच देवकृत शब्दशास्त्रका व्यवधान है। यह कठिनाई जैसी अन्य विद्वानोंको प्रतीत हुई वैसी स्वयं पंडितजी को भी खटकी थी जैसाकि उन्होंने अब प्रकट किया है। किन्तु उसके परिहारमें अब आपने मुख्तार साहबके उस लेखका उल्लेख किया है जिसमें बतलाया गया है कि देवागमकी वसुनन्दिकृत वृत्तिके अन्त्य मंगलमें 'समन्तभद्रदेवाय' पद दो वार आया है, व आराधनाकथा-कोषकी कथामें समन्तभद्रको योगीन्द्र कहा है। इसपरसे न्यायाचार्यजीका मत है कि 'मुख्तार साहबका यह प्रमाण सहित किया गया कथन जीको लगता है और अब यदि इन तीनों श्लोकोंके यथास्थित आधारसे भी यह कहा जाय कि वादिराज देवागम और रत्नकरण्डका एक ही कर्ता स्वामी समन्तभद्र मानते थे तो कोई बाधा नहीं।"

किन्तु मेरा पंडितजीसे कहना है कि उक्त बात उनके जी को भले ही लगे, परन्तु बुद्धि और विवेकसे काम लेने पर आपका निर्णय बहुत कच्चा सिद्ध होता है। पार्श्वनाथ-चरितके जिस मध्यवर्ती श्लोकमें देवकृत शब्दशास्त्रका उल्लेख आया है उसे समन्तभद्रपरक मान लेने में केवल वसुनन्दि वृत्तिका 'समन्तभद्रदेव' मात्र उल्लेख पर्याप्त प्रमाण नहीं है। एक तो यह उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत पीछे का है। दूसरे, उक्त वृत्तिके अन्त्य मंगलमें जो वह पद दो बार आगया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्र 'देव' उपनामसे भी साहित्यिकोंमें प्रसिद्ध थे। वहां तो उस पदको दो बार प्रयुक्त कर यमक और परमात्मदेवके साथ श्लेषका कुछ चमत्कार दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। तीसरे, समन्तभद्रको उक्त 'देव' का वाच्य बना लेनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस श्लोकमें वादिराजने उनके कौनसे शब्दशास्त्रका संकेत किया है? यह प्रश्न इस कारण और भी गंभीर होजाता है क्योंकि वादिराजसे पूर्व देवनन्दि पूज्यपादका जैनेन्द्र व्याकरण सुप्रसिद्ध होचुका था और जैन साहित्यके दो

महारथियों, हरिवंश पुराणके कर्ता तथा आदिपुराणके कर्ता ने इन्हींका उल्लेख 'देव' पद द्वारा अपने ग्रंथोंमें किया है उन्होंने समन्तभद्रका उल्लेख भी किया है, किन्तु उनके उल्लेखोंमें उनकी ख्याति शब्दशास्त्रकारके रूपमें बिलकुल नहीं पाई जाती। आदि पुराणमें तो समन्तभद्रका यश कवि, गमक, वादी और वाग्मियोंमें सर्व श्रेष्ठ वर्णन किया गया है, किन्तु उनके किसी व्याकरण जैसे ग्रंथका वहां कोई संकेत नहीं। इसके विपरीत देवनन्दि पूज्यपाद और उनके शब्दशास्त्रकी प्रसिद्धि परम्परा ध्यान देने योग्य है—

(१) जिनसेन अपने हरिवंशपुराणमें कहते हैं—

इन्द्र - चन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षणाः।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम्॥

(२) आदिपुराणमें जिनसेनाचार्यने कहा है—

कवीनां तीर्थकृत् देवः किंतरां तत्रवर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥

(३) धनंजयने अपनी नाममालामें कहा है—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमकंटकम्॥

(४) सोमदेवने अपनी शब्दार्णवचन्द्रिकामें कहा है—

अनु पूज्यपाद वैयाकरणाः।

(५) गुणनन्दिने जैनेन्द्रप्रक्रियामें कहा है—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥

(६) शुभचन्द्र अपने ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

(७) पद्मप्रभमलधारिदेव अपनी नियमसार टीका में कहते है—

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे

(८) शुभचन्द्र कृत पांडवपुराणमें पाया जाता है—

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः॥

ऐसे उल्लेख जैनसाहित्यमें और भी अनेक हैं। शिलालेखोंमें भी—

सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।

जैसे अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। इस सब उल्लेख मालासे निर्विवाद सिद्ध है कि शक संवत् ७०५ से लेकर १५ वीं १६ वीं शताब्दि तक देवनन्दि पूज्यपाद और उन के व्याकरण शास्त्रकी प्रसिद्धि धाराप्रवाह रूपसे अक्षुण्ण बनी रही है। इसी परम्पराके बीच हम शक संवत् ६४७ वादिराजका पार्श्वनाथचरितान्तर्गत यह उल्लेख पाते हैं—

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥

इस पद्यको स्वयं मुख्तार सा० ने समाधितन्त्रकी प्रस्तावना (सन् १६३६) तथा सत्साधुस्मरण मंगल पाठ (सन् १६४४) में पूज्यपादके लिये ही उद्धृत किया है। पार्श्वनाथचरितान्तर्गत इस लम्बी गुर्वावलीमें उक्त पद्यको छोड़ अन्य कोई पूज्यपादका स्मरण करने वाला पद्य नहीं रह जाता जो कि चिन्तनीय है। प्राचीन साहित्यिक परम्परामें वादियोंमें जो कीर्ति और प्रसिद्धि समन्तभद्रकी पाई जाती है वैसी ही कीर्ति देवनन्दि पूज्यपादकी शब्दशास्त्रियोंमें उपलब्ध होती है। ऐसी अवस्थामें केवल वसुनन्दि वृत्तिमें 'समन्तभद्रदेव' का उल्लेख मिल जाने मात्रसे वादिराजके इस उल्लेखको उक्त समस्त परम्पराके विरुद्ध समन्तभद्र परक घोषित कर देना अतिसाहसका कार्य है। यह बात मात्र एक अंधपरम्परा सम्बन्धी हठाग्रहके कारण न्यायाचार्यजीके जीको भले ही लगे, किन्तु जब तक वादिराजके समयमें समन्तभद्रकी देवनामसे प्रसिद्धि और उनके किसी शब्द शास्त्रकी भी ख्यातिके स्वतंत्र प्रमाण उपस्थित न किये जावें तब तक उनकी यह कल्पना विचारक समाजमें कभी ग्राह्य नहीं हो सकती।

(५ घ) योगीन्द्रका वाच्यार्थ—

यह 'देव' सम्बन्धी पद्यका व्यवधान जहां तक उपस्थित है वहां तक यह तो कभी माना ही नहीं जा सकता कि उसके ऊपर और नीचेके पद्योंमें वादिराजने एक ही आचार्यके दो ग्रंथोंका अलग अलग दो उपनामोंके साथ उल्लेख किया होगा। उस पद्यमें योगीन्द्र ऐसा गुणवाचक विशेषण भी नहीं है जिसकी वहां अर्थमें कोई सार्थकता सिद्ध होती हो। वह तो रत्नकरण्डक ग्रंथके कर्ताका खास ही नाम या उपनाम है जैसे समन्तभद्रका स्वामी। इस परिस्थितिमें समन्तभद्रके आराधनाकथाकोषके आख्यानमें योगीन्द्र कहे जाने मात्रसे वह पद्य समन्तभद्र परक कदापि

सिद्ध नहीं होता। मुख्तार सा० तथा न्यायाचार्यजीने जिस आधार पर 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्र कृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिये प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्र का कथाकोष स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना कि प्रभाचन्द्रकृत कथाकोषमें समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' शब्द आया है। केवल प्रेमीजीने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि "दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथा का प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" उसीके आधारपर आज उक्त दोनों विद्वानोंको "यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचद्रने भी अपने गद्य कथाकोषमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित नहीं किया है।" यद्यपि मेरी दृष्टिमें उस शब्दका वहां होना न होना कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि उसके होनेसे भी उक्त परिस्थितिमें उससे वादिराजके पद्यमें देवागमकारसे तात्पर्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। तथापि मुझे यह आश्चर्य अवश्य होता है कि जो विद्वान् दूसरोंकी बात बात पर कठोर न्याय और नुक्ताचीनी किये बिना नहीं रहते, वे भी पक्षपातकी ओर अपने न्यायकी बागडोर कितनी ढीली कर लेते हैं।

(७क) प्रभाचन्द्रका वादिराजसे उत्तरकालीनत्व—यह प्रमाणकी कचाई इस कारण और विचारणीय हो जाती है क्यों कि उसीके आधार पर यह दावा किया जाता है कि "स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोगका अनुसन्धान वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितकी रचनासे कुछ पहले तक पहुंच जाता है।" न्यायाचार्यजीने तो यहां तक कह डाला है कि "वादिराज जब प्रभाचन्द्रके उत्तरवर्ती हैं तो यह पूर्णत: संभव है कि उन्होंने प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोष और उनकी रत्नकरण्ड टीकाको जिसमें रत्नकरण्डका कर्ता स्वामी समन्तभद्रको ही बतलाया गया है, अवश्य देखा होगा और इस तरह वादिराजने स्वामी समन्तभद्रको लक्ष्य (मन:स्थित) करके उनके लिये ही 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग किया है।"

यहां फिर मुझे उक्त विद्वानोंकी शिथिल प्रामाणिकता की शिकायत करना पड़ती है, क्योंकि जिस आधार पर वे रत्नकरण्ड टीकाको पार्श्वनाथचरितसे पूर्ववर्ती मान रहे हैं उसमें उन्हें बड़ी भ्रान्ति हुई है। उनका आधार मुख्तार सा० के शब्दोंमें यह है कि "प्रभाचन्द्राचार्य धाराके परमार वंशी राजा भोजदेव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंह नरेशके राज्यकालमें हुए हैं और उनका 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' भोजदेवके राज्यकालकी रचना है, जब कि वादिराजसूरिका पार्श्वनाथचरित जयसिंहके राज्यमें बन कर शक संवत् ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त हुआ है।" मुख्तार सा० के इस लेखसे मालूम होता है कि वे पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित जयसिंह और प्रभाचन्द्र द्वारा उल्लिखित जयसिंह देवको एक ही समझते हैं, और वह भोजका उत्तराधिकारी परमारवंशी नरेश। किन्तु इस बातका उन्होंने जरा भी विचार नहीं किया कि जब वादिराज शक ९४७ (वि० सं० १०८२) में जयसिंहका उल्लेख कर रहे हैं उस समय और उससे भी कोई तीस वर्ष पश्चात तक धार के सिंहासन पर तो भोजदेव दिखाई देते हैं और जयसिंहदेवका उस समय वहां पता भी नहीं है। बात यह है कि वादिराजके जयसिंह चालुक्यवंशी थे जिनके परमारवंशी राजा भोजको पराजित करनेका उल्लेख शक ९४५ के एक लेखमें पाया जाता है। प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्रोदय भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंह परमारके कालमें रचा गया था और ये नरेश वि० सं० ११९२ में व उसके पश्चात गद्दीपर बैठे थे। रत्नकरण्डटीकामें न्यायकु०का उल्लेख पाया जाता है जिससे उसकी रचना उक्त समयसे पश्चात् की सिद्ध होती है। इस प्रकार पार्श्वनाथचरितकी रचना रत्नकरण्ड टीकासे कमसे कम तीस पैंतीस वर्ष पूर्ववर्ती सिद्ध होती है। प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराण टिप्पणकी अंतिम प्रशस्तियोंमें कर्ताने अपने गुरु पद्मनन्दि व अपने समयके नरेश भोजदेव या जयसिंहदेवका तथा स्थान धाराका उल्लेख किया है। किन्तु रत्नकरण्डटीकामें ऐसा कुछ नहीं पाया जाता। इसीसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके मतानुसार तो रत्नकरण्डटीकाके उन्हीं प्रभाचन्द्रकृत होनेकी संभावना अभी भी खास तौरसे विचारणीय है (न्या०कु० भाग २ प्रस्ता० पृ० ६७) प्रभाचन्द्रका गद्यकथा कोष भी

परमार जयसिंहदेवके समयका बना हुआ है। ऐसी अवस्थामें वादिराजके उल्लेखको रत्नकरण्ड टीका व गद्य कथाकोषके पीछे ढकेलनेका प्रयत्न सर्वथा भ्रान्त और निराधार है।

(१ ब) प्रभाचन्द्रकृत उल्लेखका आधार विचार-

मैंने जो अपने पूर्व लेखमें वादिराजके उक्त उल्लेखको पंडितजी द्वारा दबाये जानेका उल्लेख किया था जिसका कि सब रहस्य अब स्वयं पंडितजीने खोल दिया है, जान पड़ता है उसीका बदला लेनेके लिये न्यायाचार्यजीने मुझ पर यह दोषारोपण किया है कि—"प्रो० सा० ने वादिराजके उक्त उल्लेखपर जहां जोर दिया है वहां प्रभाचन्द्रके सुस्पष्ट एवं अभ्रान्त ऐतिहासिक उल्लेखकी सर्वथा उपेक्षा की है—उसकी आपने चर्चा तक भी नहीं की है जो कि यथार्थतः समस्त प्रमाणोंमें दिनकर प्रकाशकी तरह विशद प्रमाण है और वादिराजसे पूर्ववर्ती है। सच पूछा जाय तो आपने इस ज्यादा सुस्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणको दबाया है और जिसका आपने कोई कारण भी नहीं बतलाया है।"

प्रभाचन्द्रका उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं उन्होंने यह तो कहीं प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्डके कर्ता आप्तमीमांसाके भी रचयिता हैं। मैंने तो अपने सर्व प्रथम लेख 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' में ही लिखा था कि 'रत्नकरण्डके कर्ता समन्तभद्रके साथ जो स्वामी पद भी जुड़ गया है और पूर्ववर्ती समन्तभद्रके सम्बन्धकी अन्य घटनाओंका सम्पर्क भी बतलाया गया है वह या तो भ्रान्तिके कारण हो सकता है या जान बूझ कर किया गया हो तो भी आश्चर्य नहीं।" इसके पश्चात् मैंने अपने दूसरे लेखमें पुनः लिखा है कि—"न्यायाचार्यजीने वादिराज और प्रभाचन्द्र सम्बन्धी दो उल्लेख ऐसे दिये हैं जिनसे रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी रचना ग्यारहवीं शताब्दिसे पूर्वकी सिद्ध होती है। किन्तु उसका आप्तमीमांसाके साथ एक कर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये उन्होंने केवल तुलनात्मक वाक्यों आश्रय लिया है, पर ऐसा कोई ग्रंथोल्लेख पेश नहीं किया जिसमें किसी ग्रंथकार द्वारा वे स्पष्ट रूपसे एक ही कर्ताकी कृतियां कही गई हों।"

इसके पश्चात मैंने उसी लेखमें टीकाकार प्रभाचन्द्र कृत रत्नकरण्डके उपान्त्य श्लोकके वाच्यार्थका उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्रके उल्लेखों संबंधी न्यायाचार्यजीके भ्रान्तिरूपी अन्धकारको 'दिनकर प्रकाशकी तरह' विशदतासे दूर करने वाले मेरे इन सब लेखांशोंके होते हुए आश्चर्य है पंडितजीने मुझ पर यह लांछन कैसे लगा दिया कि मैंने उनके 'वादिराजसे पूर्ववर्ती, ज्यादा सुस्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणको दबाया है'? मैं ऊपर बतला ही चुका हूँ रत्नकरण्डटीका वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितसे पूर्ववर्ती नहीं किन्तु उससे बहुत पीछेकी है। उसमें केवल रत्नकरण्डके कर्ताका नाम स्वामी समन्तभद्र पाया जाता है, पर उसमें आप्तमीमांसाके साथ एक कर्तृत्वका कोई संकेत नहीं है, जब कि पार्श्वनाथचरितमें स्वामीकृत देवागम, और योगीन्द्रकृत रत्नकरण्डके उल्लेख सुस्पष्टतः अलग अलग पद्योंमें है जिनके बीच देवकृत शब्दशास्त्र सम्बन्धी उल्लेख वाले एक और पद्यका व्यवधान भी पाया जाता है। इस तुलनामें यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि प्रभाचन्द्रका उल्लेख ज्यादा सुस्पष्ट या विशद है। रत्नकरण्डटीकाका कोई समय भी अभी तक सुनिश्चित नहीं हो सका है और यह भी अभी सन्देहात्मक है कि उसके कर्ता वे ही प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रंथोंके रचयिता हैं। किन्तु वादिराजकृत पार्श्वनाथ चरितमें स्पष्ट उल्लेख है कि उसकी रचना शक ६४७ में हुई थी उससे पूर्वका कोई एक भी उल्लेख रत्नकरण्डका नाम लेने वाला उपलब्ध नहीं होता, जिससे रत्नकरण्डके सम्बन्धका अभी तक यही प्राचीनतम उल्लेख है और उसके समक्ष रत्नकरण्डटीकाका उल्लेख कोई ऐतिहासिकता नहीं रखता क्योंकि, स्वयं न्यायाचार्यजी ही अपने एक पूर्व लेखमें यह मत प्रकट कर चुके हैं कि 'स्वामी' पद कुछ आप्तमीमांसाकारका ही एकान्ततः बोधक नहीं है। समन्तभद्र नामके तो अनेक आचार्य हुए हैं और अप्रकट भी अनेक हो सकते हैं और किसी लेखक विशेषद्वारा उनके साथ स्वामी पदका भी प्रयोग करना कुछ असाधारण नहीं है। इस प्रकार प्रभाचन्द्रके जिस उल्लेख पर पंडितजीने इतना जोर दिया है वह न तो सुस्पष्ट है, न अभ्रान्त है और न उसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व है। वह वादिराजसे पूर्ववर्ती कदापि नहीं है, प्रकृत विषयपर उसकी प्रमाणता भी आशंकित है और मैंने न उसकी उपेक्षा और न उसे दबाया है, किन्तु उसका उल्लेख भी किया है और निरसन भी।

रत्नकरण्डके उपान्त्य श्लोक पर विचार

वसुनन्दी वृत्तिके मंगलमें 'समन्तभद्रदेव' शब्द आया है और कथाकोशके किस्सेमें समन्तभद्रको योगीन्द्र कहा है, इसलिये वादिराज द्वारा उल्लिखित 'देव' और 'योगीन्द्र' वे ही हैं, प्रभाचन्द्रकृत कथाकोष देखा भी नहीं है फिर भी उसमें योगीन्द्रका उल्लेख माना जा सकता है, वादिराजसे कोई तीस पैंतीस वर्ष पश्चात् लिखे जाने पर भी गद्य कथाकोश वादिराजसे पूर्ववर्ती प्रमाण है, इत्यादि यह सब तो न्यायाचार्यजीके 'जीको लगता है', किन्तु मैंने जो रत्नकरण्डके उपान्त्य श्लोकमें आये हुए 'वीतकलंक' 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' पदोंमें अकलंक, विद्यानन्दि और सर्वार्थसिद्धिके संकेतका उल्लेख किया था वह उन्हें 'बहुत ही विचित्र कल्पना' प्रतीत हुई है और उसमें उन्होंने दो आपत्तियां उठाई हैं। एक तो यह कि मेरी उक्त बात "किसी भी शास्त्राधारसे सिद्ध नहीं होती, इसके लिये आपने कोई शास्त्रप्रमाण प्रस्तुत भी नहीं किया।" किन्तु मेरी उक्त कल्पनामें कौनसे शास्त्राधार व शास्त्रप्रमाणकी आवश्यकता पंडितजीको प्रतीत होती है? 'वीतकलंक' और 'अकलंक' सर्वथा पर्यायवाची शब्द बहुधा और विशेषतः श्लेष काव्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। उदाहरणार्थ लघु समन्तभद्रने अकलंकका उल्लेख 'देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या' आदि पद्यमें 'अमल' पद द्वारा किया है। यथार्थतः रत्नकरण्डके उक्त पद्यमें जब तक किसी श्लेषात्मक अर्थकी स्वीकृति न की जाय तब तक केवल 'सत्' या 'सम्यक्' अर्थके लिये 'वीतकलंक' शब्दका प्रयोग कुछ अस्वाभाविक और द्राविड़ी प्राणायाम सा प्रतीत होता है। विद्यानन्दको 'विद्या' शब्दसे व्यक्त किये जानेमें तो कोई आपत्ति ही नहीं है। नामके एक देशसे नामोल्लेख करना लौकिक और शास्त्र दोनोंमें रूढ है। पार्श्वसे पार्श्वनाथ, राम से रामचन्द्र, देवसे देवनन्दिकी अर्थव्यक्ति सुप्रसिद्ध है। 'सर्वार्थसिद्धि' में तन्नामक ग्रंथके उल्लेखको पहचाननेमें कौनसी विचित्रता है और उसके लिये किस शास्त्रका आधार अपेक्षित है? इस प्रकार पंडितजीकी प्रथम आपत्तिमें यदि कुछ सार हो तो उसका अब समाधान हो जाना चाहिये। आपकी दूसरी आपत्तिने प्रश्नका रूप धारण किया है कि "जो आपने श्लोकके 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ 'तीनों स्थलों पर' किया है, कृपया बतलाइये कि वे तीन स्थल कौनसे हैं?" मेरा ख्याल था कि वहां तो किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलोंकी संगति सुस्पष्ट है जो टीकाकारने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन ज्ञान और चारित्र क्योंकि वे तत्त्वार्थसूत्रके विषय होनेसे सर्वार्थसिद्धिमें तथा अकलंकके और विद्यानन्दिकी टीकाओंमें विवेचित हैं और उनका ही प्ररूपण रत्नकरण्डकारने भी किया है। इस प्रकार न्यायाचार्यजीकी इस शंकाका भी समाधान हो जाता है। और तो कोई आपत्ति उक्त अर्थमें वे बतला नहीं सके। अतएव उस श्लोकमें अकलंक, विद्यानन्दि और सर्वार्थसिद्धिके उल्लेख ग्रहण करनेमें कोई बाधा शेष नहीं रह जाती।

६—आप्तमीमांसा सम्मत आप्तका लक्षण

मैंने अपने पूर्व लेखमें अन्ततः जिन तीन बातों पर विचार किया था उनके संबंधमें न्यायाचार्यजीकी शिकायत है कि मैंने उन्हें "उपसंहार रूपसे चलती सी लेखनीमें प्रस्तुत की हैं।" मालूम नहीं पंडितजीका 'चलतीसी लेखनी' से क्या अभिप्राय है? मैंने अपने उक्त लेखांशमें यह बतलानेका प्रयत्न किया था कि आप्तमीमांसामें जो 'दोषावरणयोर्हानि' आदि रूपसे आप्तका स्वरूप बतलाया गया है उसमें क्षुत्पिपासादि वेदनीयकर्मजन्य वेदनाओंको दोषके भीतर ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसके लिये मैंने जो 'अहिरन्तर्मलक्षयः' 'निर्दोष' व 'विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम्' जैसे पदोंको उपस्थित करके यह बतलाया था कि उनसे ग्रंथकारका यह अभिप्राय स्पष्ट है कि वे दोषके द्वारा केवल उन्हीं वृत्तियोंको ग्रहण करते हैं जिनका केवली में विनाश हो चुका है। "अब यदि अघातिया कर्मजन्य वृत्तियोंको भी आप्त सम्बंधी दोषोंमें सम्मिलित किया जाय तो केवलीमें अघातिया कर्मोंके भी नाशका प्रसंग आता है जो सर्वसम्मत कर्मसिद्धांतके विरुद्ध है। अतएव दोषसे वे ही वृत्तियां ग्रहण की जा सकती हैं जो ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंसे उत्पन्न होती हैं एवं जो उन कर्मोंके साथ ही केवलीमें विनष्ट हो चुकी हैं। स्वयंभूस्तोत्रके 'स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् (३) आदि वाक्य भी ठीक इसी अर्थका प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि सयोगी केवली जिन दोषोंके मूलको भस्मसात् कर

सके हैं वे घातिया कर्म ही हैं, न कि अघातिया कर्म।

मेरे इस समस्त प्रतिपादनपर न्यायाचार्यजीने कोई ध्यान नहीं दिया। केवल उसपर 'चलतीसी' नज़र डाल कर लिख दिया है कि मैंने वहां "कुछ पद वाक्योंका ही अवलम्बन लिया है, जिनमें वस्तुतः 'दोष' शब्दके प्रयोगके अतिरिक्त उसका स्वरूप कुछ भी नहीं बतलाया।" किन्तु उन्होंने यह देखने समझनेका प्रयत्न नहीं किया कि मेरे द्वारा वहां प्रस्तुत किया गया समस्त कर्मसिद्धान्त तो उसका स्वरूप बतला रहा है जिसपर विचार करना उन्हें लाज़मी था। उसकी ओर आंख मींचकर केवल उसे "चलतीसी लेखनीमें प्रस्तुत" कह देनेसे उसका परिहार कैसे होगया? न्यायाचार्यजीकी इच्छा यह जान पड़ती है कि इस विषय पर मैं अपने विचार और भी कुछ विस्तारसे प्रकट करूँ तभी वे उनपर अपना लक्ष्य देना उचित समझेंगे। अस्तु।

आप्तमीमांसासम्मत आप्तके लक्षण समझनेमें हमें इस ग्रंथकी प्रथम छह कारिकायें विशेषरूपसे सहायक होती हैं। प्रथम और द्वितीय कारिकाओंमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियोंका उल्लेख किया गया है जो मायावियों और सरागी देवोंमें भी पाई जाती हैं, अतएव वे आप्तके लक्षणमें ग्राह्य नहीं। न्यायाचार्यजीके मतानुसार इन्हींमें क्षुत्पिपासादि वेदनाओंके अभावजन्य अतिशय भी सम्मिलित हैं। यदि यह बात ठीक है तो उन्हींके मतानुसार यह सिद्ध हो जाता है कि ग्रंथकारको उनका अभाव आप्तके लक्षणमें स्वीकृत करना सर्वथा अमान्य है। तीसरी कारिकामें तीर्थ स्थापित करना भी आप्तका कोई लक्षण नहीं हो सकता यह स्थापित कर दिया गया। इन वृत्तियोंका आप्तके लक्षणोंमें निषेध करके ग्रंथकारने अपनी चौथी व पांचवीं कारिकामें कहा है कि दोष और आवरणकी हानि तर-तम भावसे पाई जाती है जिससे क्वचित् उनकी निश्शेष हानि भी होना संभव है। अतएव किसीको सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं और इस प्रकार सर्वज्ञकी सिद्धि हो जाती है। सर्वज्ञकी निर्दोषताका फल कारिका छहमें यह बतलाया गया है कि उससे उनके वचन युक्ति-शास्त्र अविरोधी होते हुए किसी प्रमाणसिद्ध बातसे बाधित नहीं होते।

आप्तमीमांसाकारके इस प्रतिपादनसे आप्तके संबन्धमें उनकी निम्न मान्यतायें स्पष्ट दिखाई देती हैं—

(१) देवागमनादि विभूतियां, विग्रहादि महोदय तथा तीर्थस्थापन ये आप्तके कोई लक्षण नहीं क्योंकि ये बातें मायावियों, सरागियों एवं परस्पर विरोधियोंमें भी पाई जाती हैं। न्यायाचार्यजीके अनुसार क्षुत्पिपासादिका अभाव विग्रहादि महोदयमें ही सम्मिलित है, अतएव उनके मतसे भी आप्तमीमांसाकार उसे आप्तका कोई लक्षण नहीं स्वीकार करते।

(२) आप्तका लक्षण यह है कि उनमें ऐसी निर्दोषता होना चाहिये जिससे उनके वचन युक्ति शास्त्र-अविरोधी और प्रसिद्धिसे बाधित हों। ऐसी निर्दोषता सर्वज्ञके ही हो सकती है जो सूक्ष्म, अन्तरित और दूरस्थ पदार्थोंको भी अपने प्रत्यक्ष कर सके। ऐसा सर्वज्ञ हो सकता है दोष और आवरण इन दोनोंके निश्शेष क्षयसे।

(३) आचार्यने जो 'दोषावरणयोः हानि' में द्विवचन का प्रयोग किया है, बहुवचनका नहीं उससे जान पड़ता है कि उनकी दृष्टिमें एक ही दोष और एक ही आवरण प्रधान है। उनकी उपर्युक्त अपेक्षा पर ध्यान देनेसे स्पष्ट भी हो जाता है कि वह दोष कौनसा और आवरण कौनसा है? जो हमारी समझदारीमें बाधक होता है वह दोष है अज्ञान और इसको उत्पन्न करने वाला आवरण है ज्ञानावरण कर्म। इन्हीं दो का अभाव होनेसे सर्वज्ञताकी सिद्धि होती है और आप्तता उत्पन्न होती है।

(४) शेष जितनी बातें सर्वज्ञमें अपेक्षित हैं वे ज्ञानावरणके सर्वथा अभावसे सुतरां सिद्ध हो जाती हैं। ज्ञानावरणके साथ दर्शनावरण व अन्तराय कर्म क्षय हो ही जाते हैं और मोहनीयका क्षय उससे पूर्व ही अनिवार्य होता है जिससे उनमें वीतरागता पहले ही आजाती है। अतएव आप्तमीमांसाने उनका पृथक् निर्देश करना आवश्यक नहीं समझा।

(५) शेष चार अघातिया कर्मोंसे उत्पन्न वृत्तियोंका आप्तमें न केवल अभाव नहीं माना गया, किन्तु उनके सद्भावका निर्देश पाया जाता है। आप्तमें वचनका होना आवश्यक है और वचन विना शरीरके नहीं हो सकता। यह बात नामकर्माधीन है। शरीर अपनी जीवन-मरण वृत्तियों सहित ही होता है और यह कार्य आयुकर्मके अधीन है। शरीरसे उच्चवृत्तिका कार्य लिया जाता है जो उच्च गोत्र कर्मसे सिद्ध होता है। एवं शरीरके साथ जो

क्षुधा, तृषाकी बाधा शीत-उष्णकी बाधा आदि दुख-सुख लगे हुए हैं वे भी आयुकर्मके साथ तक चलने वाले वेदनीयकर्मके आधीन होनेसे अनिवार्य हैं। यह बात कारिका ९३ में वीतराग केवलीमें सुखदुखकी बाधा के निर्देशसे स्वीकार करली गई है।

आप्तमीमांसाकारका यह मत है और वह सर्वथा जैन-सिद्धान्त सम्मत है। अकलंक विद्यानन्दि आदि टीकाकार जहां तक इस मर्यादाओंके भीतर अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं वहाँ तक तो वह सर्वथा निरापद है किन्तु यदि वे कहीं आप्तमीमांसाकारके निर्देशसे बाहर व कर्मसिद्धान्तकी सुस्पष्ट व्यवस्थाओंके विपरीत प्रतिपादन करते पाये जाते हों तो हमें मानना ही पड़ेगा कि वे एक दूसरी ही विचारधारासे प्रभावित हैं जिसका पूर्णतः समीकरण उक्त व्यवस्थाओंसे नहीं होता।

१०—उपसंहार

इस पूर्वोक्त समस्त विवेचनसे जो वस्तुस्थिति हमारे सन्मुख उपस्थित होती है वह संक्षेपतः निम्न प्रकार है—

(१) रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें आप्तका जो क्षुत्पिपासादिके अभावरूप लक्षण किया गया है वह आप्तमीमांसान्तर्गत 'दोषावरणयोर्हानिः' आदि आप्तके लक्षणसे मेल नहीं खाता, तथा 'पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्' आदि ९३ वीं कारिकासे सर्वथाविरुद्ध पड़ता है, एवं उसकी संगति कर्म-सिद्धान्तकी व्यवस्थाओंसे भी नहीं बैठती जिनके अनुसार केवलीके भी वेदनीय कर्मजन्य वेदनायें होती हैं।

(२) रत्नकरण्डका कोई उल्लेख शक संवत ९४७ से पूर्वका उपलब्ध नहीं है, तथा उसका आप्तमीमांसाके साथ एक कर्तृत्व बतलाने वाला कोई भी सुप्राचीन उल्लेख नहीं नहीं पाया जाता।

(३) रत्नकरण्डका सर्वप्रथम उल्लेख शक ९४७ में वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितमें पाया जाता है। किन्तु वहां वह स्वामी समन्तभद्र कृत न कहा जाकर 'योगीन्द्र' कृत कहा गया है एवं उसका उल्लेख स्वामीकृत देवागम (आप्तमीमांसा) और देवकृत शब्दशास्त्र सम्बन्धी पद्योंके पश्चात पाया जाता है, आप्तमीमांसाके साथ नहीं। देवकृत शब्दशास्त्रसे हरिवंशपुराण व आदिपुराण आदि ग्रंथोंके अनुसार देवनन्दि पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरणका ही अभिप्राय सिद्ध होता है और उसके व्यवधानसे रत्नकरण्ड आप्तमीमांसाकार कृत कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(४) रत्नकरण्डके उपान्त्य श्लोकमें जो 'वीतकलंक' 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' पद आये हैं उनमें 'अकलंक' 'विद्यानन्दि' और 'सर्वार्थसिद्धि टीकाका उल्लेख श्लेष रूपसे किया गया प्रतीत होता है। बिना ऐसी कोई विवक्षाके उक्त पदोंका और विशेषतः सत् या सम्यक्के लिये 'वीतकलंक' पदका ग्रहण किया जाना अस्वाभाविक दिखाई देता है।

इन प्रमाणोंसे रत्नकरण्डकार पूज्यपाद, अकलंकदेव व विद्यानन्दि आचार्योंके पश्चात् हुए पाये जाते हैं एवं उनका आप्तमीमांसाके कर्तासे एकत्व सिद्ध नहीं होता।

आध्यात्मिक पद——ले० कविवर द्यानतराय

अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों कर देह धरेंगे॥
उपजै मरै काल तैं प्राणी, तातैं काल हरेंगे।
राग दोष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे॥
देह विनाशी मैं अविनाशी, भेदज्ञान पकरेंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे हो निखरेंगे॥
मरे अनन्तवार बिन समझैं अब सब दुख बिसरेंगे।
द्यानत निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरैंगे॥

कर कर आतमहित रे प्रानी।
जिन परिनामनि बंध होत है, सो परनति तज दुखदानी॥
कौन पुरुष तुम कहाँ रहत हो, किहिको संगती रति मानी।
जे पर जाय प्रगट पुद्गलमय, ते तैं क्यों अपनी जानी॥
चेतन-जोति झलक तुममाहीं, अनुपम सो तैं विसरानी।
जाकी पटतर लगत आन नहिं, दीप रतन शशि सूरानी॥
आपमें आप लखो अपनो पद, द्यानत कर तन मन-बानी।
परमेश्वर पद आप पाइये, यौं भाषैं केवलज्ञानी॥

देहली धर्मपुरेका दिगम्बर जैन-मन्दिर

(लेखक—बा० पन्नालाल जैन, अग्रवाल)

संवत् १८४७ में श्रीमान् लाला हरसुखरायजी (कुछ लेखकोंके मतानुसार मोहनलालजी) ने धर्मपुरा (देहली) में नये मन्दिरजीकी बुनियाद रक्खी, जो सात वर्षमें पांच लाखकी लागतसे बनकर तय्यार हुआ।[1] कुछ लेखकोंका खयाल है कि वह आठ लाख[2] रुपयेकी लागतका है। यह लागत उस समय की है जब कि राज चार आने और मजदूर दो आने रोज लेते थे। इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा मिति वैशाख शुक्ला ३ संवत् १८६४ (सन् १८०७) में हुई। मन्दिरकी मूलनायक वेदी जयपुरके स्वच्छ मकराने संगमरमरकी बनी है और उसमें सच्चे बहुमूल्य पाषाणकी पच्चीकारीका काम और बेलबूटोंका कटाव ऐसा बारीक और अनुपम है कि ताजमहलके कामको भी लजाता है। जो यात्री विदेशोंसे भारतभ्रमणके लिये यहां आते हैं वे इस वेदीको देखे बिना देहलीसे नहीं जाते। जिस कमलपर श्रीआदिनाथ भगवानकी प्रतिमा विराजमान है उस कमलकी लागत दश हजार रुपये तथा वेदीकी लागत सवा लाख[3] रुपये बताई जाती है। कमलके नीचे चारों दिशाओंमें जो सिंहों के जोड़े बने हुए हैं। उनकी कारीगरी अपूर्व और आश्चर्यजनक है। यह प्रतिमा संवत् १६६४ की है। यह दुःखकी बात है कि मूलनायक प्रतिमा इस समय मन्दिरजीमें मौजूद नहीं है। कहा जाता है कि वह खण्डित होगई और बम्बईके समुद्रमें प्रवाहित कर दी गई है।

१ आसारेसनादीद सन् १८४७ पृष्ठ ४७–४८ रहनुमाये देहली सन् १८७४ पृष्ठ १६६, लिस्ट आफ महोम्मडन एन्ड हिन्दु मौनूमैन्स् Vol 1 पृ० १३२।

२ देहली दी इम्पीरियल सिटी पृ० ३५, देहली डायरेक्टरी फोर सन् १६१५ पृ० १०३, पंजाब डिस्ट्रिक्टगजेटियर सन् १६१२ पृ० ७८, गजेटियर आफ देहली डिस्ट्रिक्ट सन् १८८३–८४ पृ० ७८–७६, दिल्लीदिग्दर्शन पृ० ६, देहली इनट्रूडेज़ पृ० ४३, वन्डरफुल देहली पृ० ४३।

३ आसारेसनादीद पृ० ४७–४८।

वेदीके चारों ओर दीवारोंपर दर्शनीय बहुमूल्य चित्रकारी है। यह चित्रकारी बड़ी खोजके साथ शास्त्रोक्त विधिसे बनवाई गई है। जैसे वेदीके पीछे ३ चित्र पावापुरी, अनन्तस्कन्ध यंत्र और मुक्तागिरिके अङ्कित हैं। इसके ऊपर ६ भक्तामर काव्य यंत्रसहित, इससे ऊपर ६ भाव, वेदीके द्वारा पांच चित्र १५ भक्तामर काव्य, १५ भाव, वेदीके बाई ओर ५ चित्र, १५ भक्तामर काव्य, १५ भाव, सामने ३ चित्र, ६ भक्तामर काव्य, ६ भाव इस तरह चारों ओर १६ चित्र, ४८ भक्तामर काव्य यंत्रसहित, ४८ भाव हैं जो दर्शनीय हैं। कुछ भावोंके नाम ये हैं—सनत्कुमार चक्रीकी परीक्षाके लिये देवोंका आना, भरत बाहुबलि के तीन युद्ध, शुभचन्द्रका शिलाको स्वर्णमय बनाना, समन्तभद्रका स्वयंभूस्तोत्रके उच्चारणसे पिण्डीके फटनेसे चन्द्रप्रभकी प्रतिमाका प्रकट होना, गजकुमार मुनिको अग्निका उपसर्ग, सुदर्शन सेठके शीलके प्रभावसे शूलीका सिंहासन होना, रावणका कैलाश को उठाना, सुकमालजीका वैराग्य और उपसर्गसहन, सीताजीका अग्निकुण्डमें प्रवेश, भद्रबाहु स्वामीसे चन्द्रगुप्तका स्वप्नोंका फल पूछना, नेमि स्वामी और कृष्णकी बलपरीक्षा, रात्रिभोजन त्यागकी महिमा, अकलंकदेवका बौद्धाचार्यसे वाद आदि २। बीचकी वेदीमें सबसे ऊपर इन्द्र बाजा मृदङ्ग आदि लिए हुए हैं इस तरह चारों ओर मन्दिरका नकशा चित्रकलामें है।

पहले इस मन्दिरमें एक यही वेदी थी फिर एक पृथक वेदी उस प्रतिबिम्ब समूहके विराजमान करने के वास्ते बनवाई गई। जिनकी रक्षा सन् १८५७ के बलवेके समयमें अपने जीजानसे जैनियोंने की थी। उसके बहुत वर्ष पीछे दो स्वर्गीय आत्माओंकी स्मृति में उनके प्रदान किए रुपयेसे दोनों दालानोंमें वेदियाँ बनाई गई। इन वेदियोंमें नीलम, मरगजकी मूर्तियें तथा पाषाणकी प्राचीन संवत् ११११ की प्रतिमाएँ हैं। एकछत्र स्फटिकका बना हुआ है।

बाहरके एक दालानमें दैनिक शास्त्रसभा होती है,

यहाँकी शास्त्रसभा दूर २ मशहूर है । दशलाक्षणीमें प्रायः बाहरके प्रौढ विद्वान बुलाए जाते हैं। एकमें स्वाध्यायशाला हैं तथा पुरुषवर्ग स्वाध्याय किया करते हैं।

तीसरे दालानमें स्त्रियां शास्त्र सुनतीं व स्वाध्याय किया करती हैं ऊपरके भागमें सुनहरी अक्षरोंमें कल्याणमन्दिर स्तोत्र लिखा हुआ है । इसके अन्दर विशाल सरस्वती भंडार है जिसमें हस्तलिखित लगभग १८०० शास्त्र व छपे हुए संस्कृत भाषाके ग्रंथों का अच्छा संग्रह है इससे स्थानीय व बाहरके विद्वान यथेष्ट लाभ उठाते हैं। स्वयं लेखकने अनेक बार ग्रंथों को बाहर भेजा है। लेखककी भावना है कि कब वह दिन आवे जब देहलीके विशाल ग्रन्थोंका जिनकी तादाद छह हजारके करीब है उद्धार हो । क्या कोई जिनवाणी भक्त इस ओर ध्यान देगा ! यहीं स्त्रियोंकी भी शास्त्रसभा होती है । इधरसे एक जीना नीचे जाता है जिसमें प्रायः स्त्रीसमाज आती जाती है वह नीचे उतरकर श्री जैन कन्या शिक्षालय भवनमें पहुँचता है। शिक्षालय सन १६०८ से स्थापित है। पाँचवीं कक्षा तककी शिक्षा दी जाती है । तीन सौसे ऊपर जैन व जैनेतर बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त कर रही हैं इसको परिश्रम कर मिडिल कक्षा तक पहुँचा देना चाहिये। यहीं ऊपर, नीचेकी मंजिलमें स्त्रीसमाजकी दो शास्त्रसभाएँ होती हैं। मन्दिरका सहन भी काफी बड़ा है जिसमें बहुधा पंचायतकी बैठकें हुआ करती हैं।

मन्दिरकी दर्शनीय पत्थरकी छतरी है एक ओर सबसे पुरानी संवत १६४३ से चालू जैन पाठशाला भवन है जिसमें चौथी कक्षा तक शिक्षा दी जाती है १५६ विद्यार्थी हैं। इतनी पुरानी शिक्षणसंस्था होते हुए भी कोई खास उन्नति न हो यह दुःखकी ही बात है।

मन्दिरके निचले भागमें सर्दीके मौसममें रात्रिको शास्त्रसभा हुआ करती है तथा मिथ्यात्व तिमिर-नाशिनी दिगम्बर जैन सभा द्वारा स्थापित आराईश फंडका सामान तथा दिगम्बर जैन प्रेम सभा द्वारा स्थापित बर्तनोंका संग्रह है जो बहुधा विवाह शादीके काममें आता है।

श्रीमान लाला हरसुखरायजीने[1] २६ विशाल मन्दिर (कहा जाता है कि आपने इससे भी कहीं ज्यादा मन्दिर बनवाए, परन्तु लेखकको कोई प्रमाण नहीं मिला) दिल्ली जयसिंहपुरा (न्यू देहली) पटपड़, शाहदरा देहली, हस्तिनागपुर, अलीगढ़, सोनागिर, सोनीपत, पानीपत, करनाल, जयपुर, सांगानेर आदि स्थानोंमें बनवाए और उन मन्दिरोंके खर्चके वास्ते भी यथेष्ट जायदादें प्रदान कीं।

आप शाही खजांजी[2] थे । आपको सरकारी सेवाओंके उपलक्ष्यमें तीन जागीरें सनद सार्टीफिकेट आदि प्राप्त हुए[3]। आप भरतपुर राज्यके कौंसिलर थे। आपके पुत्र सुगनचंदजीका फोटु देहलीके लाल किलेमें सुरक्षित है और उक्त फोटूमें आपको 'राजा सुगनचंद लिखा हुआ है।

मन्दिरके बाहर जैनमित्र मंडलका कार्यालय है, जो सन १६१५ से स्थापित है और जिसने अब तक १०० से ऊपर बहुमूल्य ट्रैक्ट प्रकाशित किए हैं जिस को सरकारने Chief Literary Society लिखा है तथा मंडल द्वारा स्थापित सन १६२७से श्रीवर्धमान पब्लिक लायब्रेरी है जिसमें धार्मिक पुस्तकोंका खासा संग्रह है मैं लायब्रेरी व मंडलको उन्नतदशामें देखनेका उत्सुक हूँ। कुछ कमियां हैं जिनपर ध्यान देनेकी तुरन्त आवश्यकता है। इसके बाद ही इसी नये मन्दिरजी की जमीनपर बीबी द्रौपदी देवीकी विशाल धर्मशाला है जिसमें कई सभाओंके कार्यालय हैं जिनका कुछ कार्य नजर नहीं आता। यह धर्मशाला बहुधा विवाह शादी, उठावनी आदिके काममें आती है । यहां यात्रियोंको ठहरानेके लिये कोई खास सुविधा नहीं है। प्रबंधक व ट्रस्टी महोदयोंको खास ध्यान देकर ऐसे नियम बना देने चाहियें जो यात्रियोंको विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकें। यहां आसपास बहुधा जैनियों के ही घर हैं।

---

१ अंग्रेजी जैनग० अक्तूबर १६४५ । २ नकल बयान हस्तिनागपुर पृ० ६-१२ मशमूला ता० जि० मेरठ १८७१

३ पंजाब डि० गज० देहली डि० सन् १६१२ पृ० ७८।

बच्चोंकी दर्दनाक दशा और प्राकृतिक चिकित्सा

(लेखक—पं० श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री)

हमारी और हमारे बच्चोंकी कैसी शोचनीय अवस्था है, यह किसीसे छिपा नहीं है। प्राय: बच्चो से लेकर बड़ों तक प्रत्येक का चेहरा किसी न किसी रोगसे आक्रान्त है।

एक वर्षसे लेकर तीन वर्ष तक के अधिकांश बच्चे प्राय: रोगोंसे ग्रस्त पाये जाते हैं। जैसे दस्त आन्व, दूध गिराना, पेटमें मुद्दे पड़कर दर्द होना, साधारण तौरसे आँखें दुखनेपर उपचार न होनेसे आँखोंमें रोहे पड़ जाना तथा सर्दी और जुकाम हो जाना। प्रारंभमें ही बच्चोंकी ऐसी दशा देखकर सभीका हृदय दुखी हो उठता है। इन सभी रोगोंका कारण केवल शरीरमें विकारका इकट्ठा होना है। मां बापकी पालन पोषणकी खराबियोंका प्रमाद पाकर ही बच्चे रोगोंका शिकार होते हैं। माताएँ अशिक्षिता होनेके कारण, या थोड़ी बहुत शिक्षिता होती हुई भी स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण अपने बच्चोंका पालन-पोषण उचित रीतिसे नहीं कर पातीं। इस अज्ञानताके कारण जन्मसे ही बच्चोंके शरीर रोगोंके अड्डे बन जाते हैं और बेचारे कोमल व निरपराध बच्चे नाना प्रकार के कष्ट भोग अकालमें कालकवलित होकर संसारसे चल बसते हैं। थोड़े बहुत जो कुछ तकदीरसे बच जाते हैं वे दुबले-पतले और कमजोर होनेके कारण हमेशा ही किसी न किसी बीमारीके घर बने रहते हैं और बड़े होनेपर तो वे और भी भयानक रोगोंके चंगुलमें फंस जाते हैं।

संरक्षण-सम्बन्धी प्रधान भूलें:—

बच्चोंके लालन-पालन सम्बन्धी भूलें साधारण होती हुई भी भावी कटु परिणामको लिये हुए होती हैं। वह निम्न प्रकार हैं:—

(१) सबसे बड़ी भूल बच्चोंके खिलाने पिलानेमें की जाती है। प्रारम्भमें ही उनके खाने-पीनेकी आदत बिगाड़ दी जाती है। समयका तो अंश मात्र भी ध्यान नहीं रखा जाता। किसी भी कारणसे बच्चे के रोने-चिल्लानेपर उसके रोने-धोनेका कारण समझने और न समझने वाली हरएक माता उसे चुप करनेका सबसे सरल उपाय दूध पिलाना समझती है, भले ही वह दर्दसे छटपटा रहा हो। यह एक बहुत बड़ी भूल है। जिसका नतीजा लगातार पेटका खराब होना है। इसी कारण खूनमें विकार पैदा होजाना प्रारंभ होजाता है और बच्चा बीमार होजाता है।

(२) जिन बच्चोंको जरा अधिक रोनेकी आदत पड़ जाती है, उनको बहुतसी माताएँ जब कभी अफीम घोलकर दूधमें पिला देती हैं, जिससे बच्चे सोते रहें और वे काम कर सकें। जरासे अपने कार्य करनेके कारण यह बच्चेके साथ घोर अन्याय किया जाता है, जान-बूझकर उसे विष दिया जाता है। उसका बुरा प्रभाव पड़नेके कारण स्वास्थ्य नष्ट होजाता है, दिल कमजोर होजाता है और मस्तिष्कमें गर्मी आ जाती है। बड़े होनेपर भी यह कुटेव नहीं छूटती और इसीके कारण भयानक बीमारियां उसे घेर लेती हैं।

(३) बच्चेका पाँच-छ: महीनेकी उम्रमें अन्न-प्राशन होते ही उसे नाजपर डाल दिया जाता है, उस समय घरके सभी लोग लाड़-चाव आदिके कारण बच्चेको रोटी, दाल चावल इत्यादि सभी चीजें दिनमें कई-कई बार अपने-अपने साथ खिलाने लगते हैं। जिससे बड़ी खराबियाँ पैदा हो-जाती हैं। प्रथम दांत न निकलनेके कारण वह अन्न चबाने में बिलकुल असमर्थ होता है, जिससे उदरमें वह अन्न पच न सकनेके कारण विषवत् आचरण करता है। दूसरे दूधके बाद एक दम अन्न ग्रहण करनेके लिए पेट भी तैयार नहीं रहता। फलत: बच्चे बीमार होजाते हैं। और ऐसी दशामें अन्न चबानेकी आदत भी हमेशाके लिए छूट जाती है।

(४) खिलाने पिलानेके समय निश्चित न रहनेके कारण बच्चे समय-कुसमय हरदम ठूंसते रहते हैं और यद्वा-तद्वा उचित-अनुचित सभी खाते रहते हैं। फलत: वे बीमार रहते हैं।

(५) सवेरेके समय मिठाई आदि गरिष्ठ, देरसे पचने वाला भोजन दिया जाता है, जो अतीव हानिकर है।

(६) बहुतसे बच्चे कच्चे वीर्यसे पैदा होनेके कारण जरासी सर्दी-गर्मीमें बीमार पड़ जाते हैं।

ये कुछ कारण हैं जिनसे बच्चे बीमार होजाते हैं और कष्ट भोगते रहते हैं। यही कारण है कि विश्वके किसी भी राष्ट्रमें इतने बच्चे नहीं मरते जितने भारतवर्षमें मरते हैं। अप्राकृतिक भोजन और दूषित रहन-सहन इसके प्रधान कारण हैं।

चिकित्सा-प्रणालीका गलत ढंगः—

बच्चोंके बीमार पड़ते ही हम डाक्टर-हकीमोंकी शरणमें पहुंचते हैं, जो औषधियोंको देकर तत्काल या कुछ समयके लिये रोगको शान्त कर देते हैं किन्तु जड़से नाश नहीं करते। परिणाम यह होता है कि कुछ समय बाद रोग फिर उमड़ता है। इसमें भी उपरोक्त कार्यवाही कीजाती है जिससे शरीरकी हालत दिनों-दिन खराब होती जाती है। इसी तरह करते-करते बच्चेके शरीरके वह आवश्यकीय अङ्ग जो जीवन संजीवनी देनेका काम करते हैं उसकी मौतका इन्तजाम करने लगते हैं और नतीजा यह निकलता है कि वे बेचारे या तो अकालहीमें काल कवलित होजाते हैं या जिन्दा भी रहते हैं तो पूरा जीने और सिर्फ सांस लेनेके बीचकी दशामें रहते हैं। ऐसे बच्चे देश और समाज का कुछ भी कल्याण नहीं कर सकते।

मैंने आधुनिक चिकित्सा-प्रणालीको गलत कहा है अतः प्रसंगवश उसका कुछ विवेचनकर देना अनुचित न होगा। विस्तृत रूपसे तो किसी दूसरे लेखमें लिखूंगा, विस्तारभयसे यहाँपर छोड़ा जाता है। देखिए:—

औषधिका प्रयोग करना शरीरके प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल नहीं है। अधिकांश औषधियां रोगको अच्छा करनेके बदले शरीरमें विकारोंको दबा और छिपा रखती है केवल बाहरी पीड़ा औषधिके प्रभावसे कम होजाती है, जिससे कुछ समयके लिए रोगीको कष्ट नहीं मालूम होता और वह समझता है कि मैं अच्छा होगया। वस्तुतः दवाका काम रोगपर एक ढकन बना देना होता है जिसके कारण रोगी शान्ति अनुभव करता है। परन्तु विकार उसके शरीरमें पूर्ववत् ही रह जाता है। यही कारण है ८५ प्रतिशत रोगी कुछ समय बाद फिर उसी रोगसे या किसी दूसरे रोगसे ग्रस्त होजाते हैं और दिनों-दिन इसी प्रकार शारीरिक ह्रास होता जाता है। शरीरमें इस दबे हुए विकारका प्रभाव बहुत बुरा होता है। जिस तरह नालीका गन्दा पानी जिसे बहकर निकल जानेका रास्ता नहीं मिलता उसी स्थानमें पड़ा-पड़ा सड़ता रहता है और दुर्गन्धि फैलाता है, उसी तरह औषधियोंसे दबा हुआ विकार भी शरीरमें सड़ता रहता है और यदि वह बाहर नहीं निकल सका तो अन्दर ही अन्दर फैल कर भीषण लक्षण प्रकट कर देता है, जिस तरह नालीके सड़ते हुए पानीमें फिनाइल छोड़नेसे उसकी दुर्गन्धि केवल थोड़ी देरके लिए दब जाती है उसी प्रकार शरीरके अंगोंमें दबा हुआ विकार औषधिके प्रभावसे थोड़ी देरके लिए मंदाग्नि अख्त्यार कर लेता है। एक दिन वह आता है जब ये लोग बीमारी को लाइलाज करार देदेते हैं और बेचारे निरपराध भोले-भाले जीव अकालमें ही लोक-लीला समाप्त करके कूच कर जाते हैं।

दिनों-दिन अस्पताल तथा आरोग्य-भवन (Sanitorium) बनते ही जाते है, लेकिन रोगोंका वेग घटने के बजाय बढ़ता ही जाता है। वस्तुतः सैकड़ों वर्षोंसे चिकित्सक हमारे शारीरिक रोगोंको जड़से मिटा देनेका हौसला भरते चले आरहे हैं, लेकिन सचाई कुछ और ही है। निम्नलिखित डाक्टरोंके मतसे इसपर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है:—

पाश्चात्य देशके एलोपैथी (Allopathy) धातु, नशीले और विषैले पदार्थोंसे औषधियाँ बनाकर व्यवहार में लाई जाने वाली सामूहिक औषधियोंका नाम एलोपैथी है जिसका अर्थ विपरीत प्रभावशाली औषधि होता है, के एक एक सुविख्यात डाक्टर सर विलियम औसलर (Sir William Osler) का कहना है (we put drugs, of which we know little, into bodies, of whice we know less. इत्यादि 'हम लोग औषध, जिसके बारेमें कम ज्ञान रखते हैं शरीर में, जिसके बारेमें हम और भी कम ज्ञान रखते हैं, पहुँचाते हैं।' अमेरिकाके डाक्टर क्लार्क (Clark) का कहना है कि चिकित्सकोंने रोगियोंको लाभ पहुँचानेके

प्रयत्नमें हानि अधिक पहुँचाई है। उन्होंने सहस्रों ऐसे रोगियोंके प्राण छीन लिये जो यदि प्रकृतिके भरोसे छोड़ दिये जाते तो अवश्य निरोग होजाते। जिन्हें हम औषधि समझते हैं वे वास्तवमें विष हैं और उनकी प्रत्येक मात्रासे रोगीकी शक्तिका ह्रास होता जाता है।

'Like cares Like' अर्थात् 'विषस्य विषमौषधम्' विधिको 'होमियोपैथी' अनुकूल प्रभावकी औषधि चिकित्सा कहते हैं। इसमें एलोपैथीके अपेक्षा बहुत कम अवगुण हैं, क्योंकि इसमें दवा विकारके अनुकूल और नाम-मात्रके लिए होती है, जिससे रोग उमड़कर निकल तो जाता है परन्तु फिर भी औषधिका कुछ अंश शरीरमें रह ही जाता है। अतः सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती।

हाँ प्राकृतिक चिकित्सक इनसे भी एक क़दम आगे बढ़ा हुआ है। उसका कहना है कि "मैं न तो रोगकी चिकित्सा करता हूँ न लक्षणकी, बल्कि सारे शरीरकी, क्योंकि विकार आजानेसे सारा शरीर दूषित होजाता है। यह दोष-युक्त अवस्था एक अंग या कई अंगोंसे प्रकट हो सकती है, पर सारे शरीरको स्वच्छ और परिमार्जित करना आवश्यक है।' अतः सर्वोत्तम चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा है। जिसमें अवगुण संभावना ही नहीं रह जाती।

भली-भांति समझ लो, स्वास्थ्य दवाखानों और शीशियों में नहीं है, अस्पतालके बन्द कमरोंमें नहीं है—दवामें नहीं है स्वास्थ्य प्रकृतिके साम्राज्यमें, जंगलमें, बागमें, सुन्दर फलों में, दूधमें व मेवोंमें है। जहाँके विशाल प्राङ्गणमें पशु और पक्षि जगत सदैव स्वस्थ्य विचरण करता है। अतः निश्चित है स्वास्थ्यकी तबाही करना हो, तो औषधियोंका सेवन करो विस्तार भयसे प्रस्तुत प्रकरण छोड़कर प्रकृत प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

प्रस्तुत विषयमें कहना यही है कि सब बीमारियोंका मुख्य कारण भोजनकी अव्यवस्था है। प्राणीका स्वाभाविक भोजन फल है, उससे उतरकर अन्न, दूध, मक्खन, छाछ, फल, रोटी, दाल, तरकारियाँ और मेवायें वास्तवमें शक्ति-दायक भोज्यपदार्थ हैं। शेष आवाय पदार्थ हैं। इनके नियमित सेवनसे स्वस्थ और अनियमित सेवनसे अस्वस्थ अवस्था होती है।

बच्चोंकी प्राकृतिक चिकित्सा:—

बच्चोंके सभी रोगोंमें यदि वह खाना खाता हो तो उसे बंद करके केवल दूध और फल देने चाहिये। सर्व प्रथम बच्चोंको कब्ज या दस्तोंकी शिकायत होती है। इसमें यदि बच्चा माँका दूध पीता हो तो माँको मसालोंका व्यवहार छोड़कर फल, साग-सब्जी और सादी रोटियोंपर ही निर्वाह करना चाहिये। परन्तु यदि बच्चा अन्न खाता हो तो दो-तीन दिन उसे फल ही देना चाहिये। मीठे नीबू, सतरे, अनार, अंगूर, पपीता आदि फल दिये जा सकते हैं। दस्त आनेपर रसदार फल ही काममें लाना चाहिये, लेकिन कब्जमें केला कटहल आदि छोड़कर सभी फल खाये जा सकते हैं।

ज्वरमें केवल फलोंका रस ही देना चाहिये, जरूरत पड़नेपर ताजे दूधके साथ संतरेका रस मिलाकर दे सकते हैं। अवस्थाके लिहाजसे छोटी या बड़ी चिकनी मिट्टीकी पट्टी सवेरे शाम दोनों समय आधे घण्टे पेटपर बांधना चाहिये। एनीमा भी लगा लेना चाहिये।

दूध फैंकनेमें भी उपरोक्त उपचार ही काममें लाना चाहिये। एक दो बार एनीमासे पेट भी साफ कर लेवें।

आँखें दुखनेपर ऊपरकी ही भोजन व्यवस्था रखते हुए आँखोंपर गर्म ठंढे पानीकी सेंक पाँच मिनटके लिये देना चाहिये। सेंकनेकी तरकीब यह है। एक बरतनमें गर्म सहता हुआ पानी और दूसरे बर्तनमें ताजा ठंडा पानी भर देवें। दो छोटी तौलिया या रूईके फाये दोनों बर्तनोंमें डाल देवें फिर गर्म पानीकी तौलिया या फाया निकालकर उसे निचोड़कर आँखोंपर रखे। इसके बाद इसी प्रकार ठंडे पानीकी रखे। इसीतरह एकके बाद दूसरा रखता जाय। गर्मसे शुरू और ठंडेसे खतम करे। मिट्टीकी ठंडी पट्टी भी आँखोंको बन्द करके उनपर दे सकते हैं। पुराने रोहोंमें पांच छः मिनटका पेड़ू नहान भी देना चाहिये।

सर्दी लगने और खाँसी आनेपर यदि बच्चा बड़ा हो तो सुबह शाम मिट्टीकी पट्टी आध घण्टे रखे और इसके बाद ही एनीमा लगा देवे। बच्चेको दिनमें चार बार यानी तीन २ घण्टेके बाद चार छः बूंद नींबूका रस और शहद मिलाकर देवें। खानेमें मुनक्के या ताजे फल देना चाहिये खाँसीमें सीनेपर उपरोक्त विधिसे १० मिनट लगातार गर्म-

टण्डे पानीकी सेक दिनमें दो बार देवे। पेटकी सफाईपर सदैव ध्यान रखना चाहिये। यदि खाँसी तेज हो तो एक मोटे कपड़ेकी पट्टी ताजे पानीमें भिगोकर निचोड लेवे और उसीको गलेमें लपेटकर उसी भीगी पट्टीके ऊपर एक ऊनी कपड़ेकी पट्टी आध घण्टे बाँधकर सब खोल देनी चाहिये।

वस्तुत: बच्चोंकी तन्दुरुस्ती माताओंके हाथमें है उन्हें स्वत: और बच्चोंको होशियारीसे रखना चाहिये।

आत्मविश्वास ही सफलताका मूल है

(लेखक--श्री अखिलानन्द रूपराम शास्त्री)

आत्मा हमारी प्रकृतिका आध्यात्मिक तथा दिव्य भाग है। जिन लोगोंको अपनी आन्तरिक दिव्यशक्तिका ज्ञान नहीं और जिनके पास इसे जगानेके लिए बल नहीं उनके अन्दर यह गुप्त रहता है। इस अन्तरात्माके साथ वार्तालाप करनेपर तुम्हारे सब बंधन टूट जावेंगे; क्योंकि तुम्हें मालूम हो जायगा कि तुम स्वामी हो और संसारकी कोई भी शक्ति तुम्हारे सामने 'नहीं' कहनेका साहस नहीं रखती। कृतकार्य बननेका साहस करो, एक सत्तावान व्यक्तिकी भांति विचार और कार्य करनेका साहस करो, अपने अस्तित्वका अनुभव करो, अपने आपको 'आत्मा' मानो, उस दिव्य शक्तिका अनुभव करो, अपने लिये आप सोचो फिर देखो कि तुम्हारी सब रुकावटें, विघ्न बाधाएँ ऐसे दूर होती हैं जैसे सूर्यके निकलते ही अंधकार लुप्त हो जाता है।

आत्मविश्वासी व्यक्ति अपनी मनोवांछित कामनाकी प्राप्तिके लिए बिना पूर्ण विचार किये, घबराहट और जल्दी में किसी कार्यको आरम्भ नहीं करता। वह कार्य करते समय अन्यावश्यक दिखलावे और कोलाहलके द्वारा अपनी कार्यक्षमताको व्यर्थ नष्ट नहीं करता। वह जानता है और भलीभांति अनुभव करता है कि उसकी प्रबल इच्छा प्रत्येक विघ्नबाधाको दूर कर देगी। वह अपने कार्यकी प्रगति और वृद्धिके लिए कोई भी कोर कसर उठा नहीं रखता और अपनी विचारशक्तिको इधर उधर भी गौण बातोंमें नष्ट नहीं करता। वह अपने कार्यसे प्रेम करता है उसीमें प्रसन्न होता है और तत्संबंधी प्रत्येक बातमें अपना तन, मन लगा देता है। चूंकि उसका निश्चय दृढ़ होता है, सफलता उसकी ओर खिंची चली आती है।

यदि सफलता देवीकी प्राप्ति अभीष्ट है तो अपनी निजकी शक्तिका प्रयोग करो और स्मरण रक्खो कि भगवान उन्हींकी सहायता करते हैं जो अपनी सहायता स्वयं करना जानते है। खूब दृढ़निश्चय करो "मैं अवश्य कृतकार्य हूंगा।" आत्मनिग्रह द्वारा बलवान बनो क्योंकि आत्मसंयमसे ही आर्थिक सफलताको वशमें करनेवाली मानसिक शक्ति प्राप्त हो सकती है। सदैव वचनके पक्के रहो, इससे आत्मनिग्रहकी शक्ति बढ़ती है। उद्योग और परिश्रमके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। तुम नररत्न नहीं बन सकते जब तक कि अपनी त्रुटियोंको दूर न करो। निश्चय करो कि 'मैं सफलताकी मूर्ति' हूं, मैं एक उन्नतिशील आत्मा हूं; मेरी शक्ति प्रतिदिन, नहीं नहीं प्रतिपल बढ़ रही है।

चित्तौड़के जैनकीर्तिस्तंभका निर्माणकाल एवं निर्माता

(ले०—श्री अगरचन्द नाहटा, सिलहट)

मेवाड़के प्राचीन दुर्ग चित्तौड़गढ़से जैनसमाजका बहुत प्राचीन एवं घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। श्वेताम्बर ऐतिहासिक संबंधोंमें इसके उत्पत्तिकी कथा पाई जाती है[1] एवं ७ वीं शताब्दीके सुप्रसिद्ध जैनविद्वान सिद्धसेन दिवाकरसे पूर्व भी चित्तौड़में जैनसमाजका अच्छा सम्बन्ध था प्रमाणित होता है। महान् समदर्शी श्री हरिभद्रसूरिजी (८ वीं शताब्दी) भी यहींके थे। १२ वीं शताब्दीमें यहां चैत्यवासका जबरदस्त प्रचार था जिसका विरोध खरतरगच्छाचार्य जिनवल्लभसूरिजीने किया था, आपके भक्त श्रावक साधारणशाहने यहां महावीरस्वामीका विधि चैत्यालय बनवाया था। सूरिजीके प्रभावसे यहांकी चामुण्डादेवी आपकी भक्त होगई थीं। सं० ११६७ में आपका आचार्य महोत्सव भी यहीं हुआ था और विधिचैत्यालयमें आपके रचित संघ पट्टकादि ग्रन्थ शिलापट्ट पर उत्कीर्ण किये गये थे। आपके पट्टधर प्रगट प्रभावी श्रीजिनदत्तसूरिजीका महोत्सव भी (सं० ११६९ में) इसी महावीर मंदिरमें हुआ था[2]। १६ वीं शताब्दी तक यहांका सितारा अधिकाधिक चमकता रहा। यद्यपि १४ वीं शताब्दीमें अलाउद्दीनखिलजीने इसमें व्याघात उत्पन्न किया था पर उसका प्रभाव अधिक समय तक नहीं रहा[3]। १७ वीं शताब्दीमें सम्राट अकबर द्वारा विध्वंस होनेके पश्चात् चित्तौड़ अपने पूर्व गौरवको पुनः प्राप्त करनेमें समर्थ न होसका आज भी उसके गौरव के ध्वंसावशेष जगह जगह बिखरे पड़े हैं। यहांके जिन मनोरम मंदिरोंमें भक्तजन भगवद् उपासना कर शांतिलाभ करते थे, जिन मंदिरोंके घंटारवसे एकवार दुर्ग शब्दायमान हो उठता था। आज वे देवालय सूने पड़े हैं भक्तोंकी तो बात ही क्या। मूर्तियोंका भी पता नहीं। जिन राजप्रसादोंमें नरवीर एवं सती स्त्रियें निवास करती थीं, पहरेदार भीतर जानेसे रोके रहते थे आज वहाँ बिना रोकटोकके भीतर जाते भी भयका संचार होता है। यहांकी सुंदर अट्टालिकाओंकी दुर्दशा देख कर कौन सहृदय व्यक्ति दो आंसू बहाये बिना रह सकेगा?

श्वेताम्बर जैनमुनियोंके कतिपय ग्रन्थोंमें यहांके जैन-मंदिरों एवं श्रावकों आदिके सम्बन्धमें बहुत कुछ ज्ञातव्य प्राप्त होता है। जयहेम[4] रविगजेन्द्र[5] के रचित चित्तौड़ चैत्यपरिपाटी द्वयके अनुसार यहां ३२ जिनालय थे जिनमें ८ हजारसे अधिक जैनमूर्तियें प्रतिष्ठित थीं। चित्रकूट महावीर प्रसाद प्रशस्ति[6] से वीर प्रासादके निर्माता गुणराज एवं प्रतिष्ठायक आचार्यके इतिहासके साथ और भी कई महत्व की बातोंपर प्रकाश पड़ता है। शत्रुंजयके १६ वें उद्धारके उद्धारक कर्माशाह भी यहींके निवासी थे और उन्होंने यहाँ पार्श्व एवं सुपार्श्वके दो मंदिर भी बनवाये[7] थे। चैत्य-परिपाटीके अनुसार यहां श्वेताम्बर सम्प्रदायके १ खरतर २ तपा ३ अंचल ४ मलधारी ५ नाणावाल ६ पल्लीवाल चित्राकाल एवं ८ पूर्णिमागच्छके पृथक् पृथक् जिनालय थे। दिगम्बर समाजका भी यहां अच्छा प्रभाव ज्ञात होता है। जैनकीर्तिस्तंभ इसी समाजके एक श्रावकका महत्वपूर्ण कार्य है एवं चैत्यपरिपाटीके अनुसार यहां एक पार्श्वनाथ स्वामीका दि० मंदिर[8] भी था, जिसमें ६०० जैनप्रतिमाएँ

---

१ देखें पुरातनप्रबन्धसंग्रहमें चित्रकूटोत्पत्ति प्रबंध।

२ देखें—सुमति गणि रचित गणधर सार्धशतक बृहद् वृत्ति (सं० ११९५)

३ पन्द्रहवीं सोलवीं शताब्दीमें ही यहां कीर्तिस्तंभ एवं अनेक मंदिर बने अतः पुनः उत्कर्ष ही हुआ, कह सकते हैं।

४ प्रकाशित 'जैनयुग' वर्ष ३ पृ० ५४।

५ मूलप्रति पल्लपपुरभंडारमें है, प्रतिलिपि हमारे संग्रहमें हैं।

६ मूलप्रति भांडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में है। प्रतिलिपि हमारे संग्रहमें है। सन १९०८ में डा० देवधर भांडारकरने इसे प्रकाशित भी की थी।

७ जैनगुर्जर कविओ भा० १ पृ० १४५ में इन दोनों मंदिरों की प्रतिष्ठा विवेकमंडन गणिनेकी लिखा है।

८ शीतलप्रसादजीने अपने मध्य प्रान्त एवं राजपूतानेके जैन-स्मारक ग्रंथके पृ० १३८ में अष्टापदावतार शांतिनाथ

प्रतिष्ठित थीं। जैनसाहित्य और इतिहासके पृ० ४३० में श्रीयुत् नाथूरामजी प्रेमीने इस मन्दिरका निर्माता जिनदास शाहको लिखा है। वीरनिर्वाण संवत् २१७७ के लगभग गोम्मटसारटीकाके कर्ता नेमिचंद्र गुजरातसे लाला ब्रह्मचारीके आग्रहसे यहाँ पधारे थे व इसी मन्दिरमें ठहरे थे इसका भी उक्त ग्रन्थमें निर्देश है।

यहाँके ३२ जैन मन्दिरोंमेंसे कइयोंके खंडहर आज भी विद्यमान हैं, पर ८७६ हजार मूर्तियोंमेंसे एक भी मूर्तिका नहीं पाया जाना सचमुच आश्चर्यका विषय है। मेरे नम्र मतानुसार मुगलोंके आक्रमणके भयसे जितनी मूर्तियां स्थानांतरित की जा सकीं कर दी गईं, अवशेष वहींके भूमिगृह एवं आसपासके स्थानोंमें छिपा दी गई होंगी। कुछ वर्ष हुए श्रीविजयनीतिसूरिका यहां पधारना हुआ और उन्होंने जैनमन्दिरोंकी वर्तमान दुरवस्था देख जीर्णोद्धारका काम प्रारंभ करवाया। फलतः तीन चार मन्दिरोंका जीर्णोद्धार हो चुका है बाकीका काम चालू है। इन जीर्णोद्धारित मंदिरोंकी प्रतिष्ठाके समय वहां मूर्ति नहीं होने कारण अन्य स्थानोंसे मूर्तियां मंगवाकर प्रतिष्ठित की गई पर इसके पश्चात् खुदाई करते हुए कई मूर्तियें उपलब्ध हुई हैं[1] जो कि मंदिरमें रखदी गई हैं इन मूर्तियोंमें १ मूर्ति दिगम्बर भी थी जो दि० समाजकी देख रेखमें है। इस मूर्तिका लेख व रेखाचित्र मुझे भी दुर्गाशंकरजी श्रीमाली एवं लक्ष्मीनारायणजीकी कृपासे प्राप्त हुआ है प्राप्त लेख इस प्रकार है—

"संवत १३७२ वर्षे माघ सुदि ६ गुरौ श्रीमूलसंघे।"

चित्तौड़ और जैन समाजके सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रासंगिक निवेदन कर देनेके पश्चात् अब लेखके मूल विषय पर आता हूँ। चित्तौड़के किलेपर सबसे महत्वके एवं दर्शनीय स्थानोंमें जैनकीर्तिस्तंभ एवं महाराणा कुंभका कीर्तिस्तंभ ही मुख्य हैं। भारतीय शिल्पके ये अपूर्व प्रतीक हैं। पहला कीर्तिस्तंभ ७५॥ फुट ऊँचा, नीचेका व्यास ३१ फुट, ऊपर का १५ फुट है। यह ऊँचे स्थानपर बना हुआ होनेके कारण काफी दूरीसे दिखाई देता है यह ७ मंजिला है। बाहर चारों ओर सुन्दर कारीगरी है। जैनकारित होनेके कारण चारों ओर जैनमूर्तियें बनी हुई हैं। दूसरा कीर्तिस्तंभ इसके पीछेका बना हुआ होने कारण पहलेमें जो त्रुटियें रह गई थीं उनकी पूर्ति करके उसे अधिकाधिक सुन्दर एवं कलापूर्ण बनानेका प्रयत्न किया गया है। यह बाहरसे तो आकर्षक है ही पर ९ मंजिला होनेपर भी कहीं अन्धकार एवं असुभीतेका अनुभव नहीं होता। हिन्दू देवी देवताओंकी मूर्तियोंका तो यह अजोड़ संग्रहालय है। अतः मूर्तिविज्ञानके अभ्यासीके लिये यह अत्यन्त महत्वका है।

सबसे ऊपरकी मंजिलमें २ बड़ी प्रशस्तियाँ लगी हुई हैं जिसमें इसके निर्माणका इतिहास है। प्रशस्तियोंके दो खंडोंके स्थान रिक्त पड़े हैं। ये दोनों कीर्तिस्तंभ वास्तबमें एक अद्भुत शिल्पप्रतिष्ठान हैं। जिनको देखते ही उनके निर्माता कुशल शिल्पियों एवं अर्थव्यय करनेवाले उदारमना धनकुबेरोंके प्रति सहज श्रद्धाका भाव जागृत होता है दर्शकके मुंहसे बरबस उनकी प्रशंसामें वाह वाह शब्द निकले बिना नहीं रहते। मैंने तो इनके दर्शनकर अपनी उदयपुर यात्राको सफल समझी। खेद है कि वहां अधिक समय तक रहकर वहांके उन स्मारकोंके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डालनेकी मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकी। फिर भी उस स्मृतिको बनाये रखनेके लिये यत् किंचित प्रकाश डाला जारहा है। आशा है अन्य विद्वान् इसपर विशेष प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे।

जैनकीर्तिस्तंभके निर्माता एवं निर्माणकालके सम्बन्धमें अभी तक ऐतैक्य नहीं हैं। अतः पहले विभिन्न मतोंको

मंदिरके लेख देनेके पश्चात् लिखा है कि—इसके थोड़ा पीछे जाकर एक जैन मंदिर है जो पुराना है बड़ा है तथा दिगम्बरी मालूम होता है। भीतर वेदीके कमरेके द्वारपर पद्मासन मूर्त्ति पार्श्वनाथ व यक्षादि हैं भीतर प्रतिमा नहीं शिखर बहुत सुन्दर है। इसकी फेरीमें पीछे तीन मूर्त्ति पद्मासन प्रातिहार्य सहित अंकित हैं। इसकी बगलमें एक खड्गासन दि०जैन मूर्त्ति है दूसरी बगलमें खड्गासन १ हाथ ऊंची है। ऊपर पद्मासन है।

१ मेरा अनुमान है कि भलीभांति निरीक्षण कर मन्दिरोंके आसपासकी जगह खुदाई हो तो और भी मूर्तियें मिल जायेंगी। किसी लगनशील विद्वान्की देखरेखमें किसी उदारमना धनीके द्वारा यह कार्य करवाया जाना आवश्यक है।

उद्धृत कर फिर नवीन प्राप्त प्रमाणोंको उपस्थित किया जायेगा।

१ माननीय गौरीशंकरजी हीराचंद ओझा अपने उदयपुर राज्यके इतिहासमें लिखते हैं कि—

जैन कीर्तिस्तंभ आता है। जिसको दिगम्बर संप्रदाय के बघेरवाल महाजन सा० नायके पुत्र जीजाने वि० स० की चौदहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें बनवाया था। यह कीर्तिस्तंभ आदिनाथका स्मारक है। इसके चारों भागोंपर आदिनाथकी एक एक विशाल दिगम्बर (नग्न) जैनमूर्ति खड़ी है और बाकीके भागपर अनेक छोटी जैनमूर्तियें खुदी हुई हैं। इस कीर्तिस्तंभके ऊपरकी छत्री बिजली गिरनेसे टूट गई और इस स्तंभको भी हानि पहुंची थी परन्तु वर्तमान महाराणा (फतहसिंह जी) सा० ने अनुमान ८० हजार[1] रुपये लगा कर ठीक वैसी ही छत्री पीछे बनवादी है और स्तंभकी भी मरम्मत हो गई है।

२ ब्र० शीतलप्रसादजीने म० राज० के जैनस्मारक (पृ० १३३से १४१) में लिखा है कि इसे बघेरवाल जीजाने सं० ११००के लगभग बनाया था। पर चारित्ररत्नगणिकी चित्रकूटीय महावीरमंदिरकी प्रशस्तिसे राजा कुमारपाल[2] ने इसे बनाया यह भी आ० सर्वे सन १९०५–६ पृ० ४९ में लिखा है।

३ बाबू कामताप्रसादजीसे पूछनेपर आपने लिखा है—

"कीर्तिस्तम्भको सं० ९५२ में बघेरवाल जातिके जीजा या जीजकने बनवाया था—इसका लेख कर्नल टॉड को मिला था। (Arch. Pa Report of Western India pr. 1906 में नं० २२०५ स २३०९ में चित्तौड़के शिलालेख हैं। उनमेंसे एकमें जीजक बघेरवालके बनवानेका उल्लेख है[3]।

४ श्रीयुत मोहनलाल दलीचन्द देशाई अपने जैन-साहित्यके संक्षिप्त इतिहासके पृ० ४५५ में लिखते हैं—

"जे कीर्तिस्तंभ ऊपर जणाव्यो छे ते कीर्तिस्तंभ प्राग्वंश (पोरवाड) संघवी कुमारपाले आप्रासाद नी दक्षिणे बंधाव्यो हतो।"

आपने ओझाजीका मत उद्धृत करते हुए वह सप्रमाण नहीं लिखा है।

५ जैनसत्यप्रकाश वर्ष ७ अं० १-२-३ के पृ० १७७ में मुनि ज्ञानविजयजीने अपने "जैनतीर्थो" निबन्धमें लिखा है कि—

"चित्तौड ना किल्लामां बे ऊंचा कीर्तिस्तंभो छे जो पैकीनो एक भ० महावीरस्वामीना कंपाउंड मां जैन-कीर्तिस्तंभ छे जे समये श्वेताम्बर अने दिगम्बरना प्रतिमा भेदो पड्या हता ते समयनो एटले वि० स० ८९५ पहेलानो ए जैन श्वेताम्बर कीर्तिस्तंभछे। × उत्कृष्ट राजा जैनधर्मप्रेमी हतो × तेना समय मां भ० महावीरस्वामी नुं मंदिर अने कीर्तिस्तंभ बनो हसे। आ कीर्तिस्तभ नो शिल्पस्थापत्य अनेप्रतिमाविधान ते समयने अनुरूप छे।

पर मुनिजीका उपर्युक्त लेखन सही नहीं है उन्होंने वि० सं० ८९५ से पूर्वके होनेकी कल्पना इसी लिये की है कि उसमें उत्कीर्ण मूर्तियें दिगम्बर नग्न हैं।

उपर्युक्त अवतरणोंसे स्पष्ट है कि "विद्वानोंके मत कीर्तिस्तंभके निर्माणकालके सम्बन्धमें एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं कोई उसे ८९५से पूर्व कोई ९५२ कोई ११०० कोई १० वीं का उत्तरार्द्ध और कोई १५ वें मानते हैं एवं

---

१ जिसके ऊपरकी छत्री बनाने व मरम्मत करनेमें ८० हजार रुपये व्यय होगये उसके निर्माणमें कितना अधिक अर्थ व्यय हुआ होगा पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं। एक एक स्मारकके पीछे लाखों करोडों रुपये लगाने वाले उन धनकुबेरोंके प्रति किसको आदर न होगा।

श्रीयुत् जगदीशसिंहजी गहलोतके राजपूतानेके इतिहासमें भी यही लिखा है। ब्र० शीतलप्रसादजीने मध्य भारत व राजपूतानेके जैनस्मारकके पृ० १३६ में २२ हजार व्यय करने व ऊपरके तोरण नये बनानेका उल्लेख किया है। अर्थ व्ययका परिमाण ओझाजी सूचित ही सही प्रतीत होता है।

२ राजा कुमारपाल गलत समझा गया है प्रशस्तिमें पोरवाड संघपति कुमारपाल लिखा है।

३ मुझे उक्त रिपोर्ट नहीं प्राप्त होसकी पर यदि उसमें कीर्ति-स्तंभका लेख होतो उसे बाबू कामताप्रसादजीसे प्रकाशित करनेका अनुरोध है मेरे ख्यालमें आपने जो संवत् बतलाया है वह लेखमें नहीं होगा फिर भी इसका निर्णय तो मूललेखके मिलने पर ही हो सकता है।

कीर्तिस्तंभके निर्माताके सम्बन्धमें पिछले दोनों विद्वानोंका मत श्वे० कारित (जिसमें देशाईने पोरवाड कुमारपाल कारित भी बतला दिया है) होनेके पक्षमें है। ब्र० शीतलप्रसादजीने ओ० सर्वेके मतानुसार दोनों मत उद्धृत किये हैं अतः निर्माता एवं निर्माणकालका निर्णय करना परमावश्यक है।

श्रीयुत देशाई एवं ओ० सर्वेका कुमारपाल कारित कहनेका आधार चित्रकूट महावीरप्रसाद प्रशस्ति है इसकी प्रति मंगाकर देखनेपर ज्ञात हुआ कि इस प्रशस्तिके पाठको ठीक तरहसे नहीं समझनेके कारण ही यह भ्रम हुआ प्रतीत होता है जिस श्लोकके अर्थ भ्रमके कारण यह गलत धारणा हुई है वह श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है जिससे पाठकोंको स्वयं निर्णय करनेमें सुगमता होगी—

उच्चैर्मंडपपंक्ति - देव - कुलिका विस्तीर्णमाणश्रियं।
कीर्तिस्तंभ समीपवर्तिनममुं श्रीचित्रकूटाचले।
प्रासाद सृजत प्रसादसममं श्री मोकलोर्वीपतेः।
आदेशाद्गुणराजसाधुरमित स्वर्च्चैदधार्षीन्मुदा ॥८६"

× × ×

प्राग्वशस्य ललाम् मंडपागिरि शोभनयक्षेक।
अष्टः प्रत्यहद्दष्टजिनपतेः पूजा सृजन् द्वादश।
सघाधीश कुमारपाल सुकृती कैलाश लक्ष्मी हृतो।
दत्त दक्षिणतोऽस्य सोदरमिव प्रासाद मार्दीधपत् ॥६५

ओकेश वंशः तिलकः सुकृतोहतेजने।
स्तेजात्मजः प्रति वर्षमिह चित्रकूटे।
धात्राद्वयः सुजन लोचनदत्त शैत्यं।
चैत्यं चचारु निरमी ापदुत्तरस्य ॥ ६६ ॥

अर्थात्—कीर्तिस्तंभके समीपमें गुणराजने मोकलराणाके आदेशसे महावीर जिनालयक बनाया उस मंदिरके दक्षिण में पोरवाड सं० कुमारपालका जिन मंदिर था और उत्तर में ओसवाल तेजाके पुत्र चाचाके कारित मंदिर था।

अतः कीर्तिस्तंभको श्वे० व कुमारपाल कारित कहना भ्रममूलक ही प्रतीत होता है।

अब मैं मुझे प्राप्त तीन महत्वपूर्ण प्रमाणोंको उद्धृत करता हूँ जिनके आधारसे बघेरवाल सा० जिजाके पुत्र पुनसिहने अपनी पुत्रीके अनुरोधसे प्रस्तुत कीर्तिस्तंभ १५ वीं शताब्दीमें बनायासिद्ध होता है।

१ सं० १४६६ से पूर्व रचित (जयहेम कृत) चित्तौड़ चैत्यपरिपाटीमें—

हुंबडपूना तणी धूम्र तेणि ए मति मंडाअ।
कीरति थंभ कराविं जात मा हरी सूखडीअ।
मात मंदि मोहामणीइ बिंब सहस दोइ देखि।
पंखी पाला सचरिआ ए वंदी वीर विशेष ॥१८॥

२ सं० १५७३ में गयंदिरचित चित्तौड़ चैत्य परिपाटीमें—

"पामइ हुंबड पूनानीसुता देवालकहइ इक ताता तारनरे।
सूखडी नइ धन वेगि करावीउ रे कीरतिथंभ विख्यात रे॥
चउपरि चोखी चिहु परि कोरणी रे ऊंचउ अति विस्तार रे।
चडता जे मंड मात मोह मणी रे बिंब सहसदोइ सार सारनग॥

ढाल—हवइ दिगंबरदेहरह रे, तिहां जे नवसइ बिंब।
भामंडल पूठइ भलउ रे, छत्र त्रय पडिबिंब॥
आलियां पूजइ प्रभु पास, पनु पूरइ मनवी आस।
चर्चो चंदन केवडइ रे, गोरी गावइ रास। भवियांपू०।

ये दोनों रचनायें श्वेताम्बर मुनियोंकी रचित हैं उन्होंने उस समय जैसा प्रसिद्धि सुननेमें आई वर्णित की है। गत मार्गशीर्ष प्रतिपदको साहित्यालङ्कार मुनिकांतिसागरजीसे रामपुरमें इस संबंधमें वार्तालाप होनेपर आपने अपने संग्रहके एक लेखकी नकल बतलाई जिससे इस कीर्तिस्तंभ के निर्माणकाल एवं निर्माताके अन्य धार्मिक कार्यों तथा वंशक्रमपर नवीन प्रकाश मिलता है। अतः इससे उसे भी नीचे दिया जारहा है। प्रस्तुत लेख कारंजाके नामोल्लेख होनेसे और भी महत्वका है क्योंकि कारंजाके उल्लेख वाला अन्य लेख अद्यावधि अज्ञात है।

३ स्वस्ति श्री संवत १५४१ वर्षे शाके १४११ (१४०६?) प्रवर्तमाने क्रोधीता संवत्सरे उत्तरायणे मासे शुक्लपक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वातिनक्षत्रे—योगे २ करणे मि० लग्ने श्री वराट (ड) देशे कारंजानगरे श्री श्री सुपार्श्वनाथचैत्यालये श्री म(मू)लसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत् वृद्धसेनगणधराचार्ये पारंपर्योद्गत श्री देववीर महावाद वादीश्वर रायवादियिकी महासकल विद्वज्जन सार्व (र्व)भौम साभिमानवादीसिंहभिनवत्रै—विद्य सोमसेन भट्टारकाणामुपदेशात श्री बघेरवालज्ञाति खमइवाड गोत्रे अष्टोत्तरशत महोत्तुंगशिखरप्रासद समुद्धरणे धीरः

त्रिलोक श्री जिनमहाबिंबोद्धारक अष्टोत्तरशत श्रीबिंबप्रतिष्ठाकारक अष्टदशस्थाने अष्टादशकोटिश्रुतभंडारसंस्थापक सवालक्षबंदी मोक्षकारक मेद(द)पाट देशे चित्रकूटनगरे श्रीचंद्रप्रभ जिनेन्द्रचैत्यालयस्याग्रे निजभुजोपार्जितवित्तबलेन श्री कीर्तिस्तंभ आरोपक साह जिजा सुतस्य पूनसिंहस्य साहदेउ तस्य भार्या बूह तुकाई तयोः पुत्र चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र साह लखमण भार्या पाई जसमाई सुत संघवी ...भार्या हांसाई द्वितीयपुत्र सा० भीम तृतीय पुत्र संघवी वीरू भार्या संघवीन गोगाइ गोगाई चतुर्थ पुत्र— मदे भार्या पदमाई तयोः सुताः सं० पूनसी सा० धमसी सा० देदसी ... चैत्यालयोद्धरणाय रेण नजभुजो... पार्जितवित्तानुसारेण महायात्रा प्रतिष्ठातीर्थक्षेत्र·······

उपर्युक्त लेख अधूरासा प्रतीत होता है पर इससे यह तो स्पष्ट होजाता है कि कीर्तिस्तंभके निर्माता बघेरवाल जीजा उनके पुत्र पुनसिंह थे उन्होंने १०८ शिखरबद्ध मंदिरोंका उद्धार कराया, अनेकों जिनबिंब बनवाये, १०८ प्रतिष्ठायें करवाई, १८ स्थानोंमें १८ कोटि श्रुतभंडारकी संस्थापना की। १। लाख बंदी छुड़ाये और अद्भुत कीर्तिस्तंभ बनवाया इस प्रकार यह परिवार बहुत ही धनी एवं समृद्ध था। लेख १५४१ का लगता है अतः कीर्तिस्तंभ संभवतः सं० १५०० के आसपास ही बना होगा।

(पृष्ठ १२० का शेषांश)

नेतृत्वकर रहे हैं। परन्तु जैनी अहिंसाका पालन कायर पुरुष नहीं कर सकता। आत्मनिर्भय, इन्द्रिय विजयी, सदृष्टि मनुष्य ही उसका यथेष्टरीत्या पालक हो सकता है। जिस सर्वोदय शासनकी छत्रछायामें रहकर पशु भी अपनी आत्माका विकासकर सकें वही विश्वका सार्वभौमिक धर्म हो सकता है। वीरके शासनमें यह खास विशेषता है कि वह दुनियाकी विरोधोंको पचा सकता है— अनेकान्त या स्याद्वाद द्वारा उनका निरसन एवं समन्वय कर सकता है, तथा उनकी विषमताको दूर करता हुआ, उनमें अभिनव मैत्रीका संचार भी कर सकता है। इसपर अमल करनेसे हमारे दैनिक जीवनकी कठिनाइयां भी सरलतासे हल हो सकती हैं।

भारतके दूसरे धर्मोंमें जहां जीवको परतन्त्र माना जाता है—उसके सुख दुःख आदि सभी कार्य ईश्वरके प्रयत्न एवं इच्छा से सम्पन्न होते बतलाये जाते हैं, वहां वीरशासनमें जीवको स्वतन्त्र माना है—वह सुख दुःख अच्छे या बुरे कार्योंको अपनी इच्छासे करता है और उनका फल भी स्वयं भोगता है वीरशासनमें द्रव्यदृष्टिसे (जीवत्वकी अपेक्षासे) सभी जीव समान हैं, परन्तु पर्याय दृष्टिसे उनमें राजा, रंक आदि भेद हो जाते हैं। इस भेदका कारण जीवोंके द्वारा समुपार्जित स्वकीय पुण्य पापकर्म है। उसके अनुसार ही जीव अच्छी बुरी पर्यायें प्राप्त करता है और उनमें अपने कर्मानुसार सुख दुःखका अनुभव करता है। जीव स्वयं अपनेको उन्नत और अवनत बनाता है। तत्त्वदृष्टिसे आत्माका गुरु आत्मा ही है।

परिग्रहपरिमाण अथवा अपरिग्रहव्रत विश्वशान्तिका अमोघ उपाय है। ममत्वपरिणामका नाम परिग्रह है और परिग्रहसे हिंसा होती है। अतः अहिंसक जीवके लिये परिग्रहका परित्याग या प्रमाण करना श्रेयस्कर है। परन्तु जो मनुष्य परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं कर सकता वह गृहस्थअवस्थामें रहकर न्यायसे धनादि सम्पत्तिका अर्जन एवं संग्रह करे, परन्तु उसके लिये उसे इतने ही प्रयत्नकी ज़रूरत है जिससे उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति आसानीसे हो सकती हो। अतः गृहस्थके लिये परिग्रहका प्रमाण करना आवश्यक है। मुनि चूंकि परिग्रह रहित होते हैं। अतः उन्हें अपरिग्रही एवं अकिंचिन कहा जाता है। वास्तवमें यदि विचारकर देखा जाय तो संसारके सभी अनर्थोंका मूलकारण परिग्रह अथवा साम्राज्यकी लिप्सा है। इसके लिये ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको निगलने एवं हड़पनेकी कोशिश करता है। अन्यथा विभूतिके संग्रहकी अनुचित अभिलाषाके बिना रक्तपात होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि अनर्थोंका मूलकारण लोभ अथवा स्त्री, राज्य और वैभवकी सम्प्राप्ति है। इनके लोभमें ही महाभारत जैसे काण्ड हुए हैं और होरहे हैं। अतः समाजको भगवान महावीरके इन सिद्धान्तोंपर स्वयं अमल करना चाहिये। साथ ही संगठन सहनशीलता, तथा वात्सल्यका अनुसरण करते हुए भगवान महावीरके सिद्धान्तोंके प्रचार एवं प्रसारकर उसे विश्वका सार्वधर्म बनाना चाहिये।

वीरसेन स्वामीके स्वर्गारोहण-समयपर एक दृष्टि

(ले०—न्या० पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

कुछ विद्वानोंका मत है कि धवलाटीकाके लिखनेमें २१ वर्ष लगे हैं अतः जयधवलाटीकामें भी इतना समय अपेक्षित है। चूंकि जयधवलाका दो-तिहाई भाग वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन स्वामीने रचा है और प्रारम्भका एक-तिहाई भाग वीरसेन स्वामीका रचा हुआ है अतएव दो-तिहाई भागकी रचना १४ वर्षमें और एक-तिहाई भागकी रचना ७ वर्षमें हुई होगी। प्रो० हीरालालजी आदि कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि धवलाकी समाप्ति सन् ८१६ में हुई है[1], धवलाके समाप्त होनेके बाद ही वीरसेन स्वामीने जयधवलाका कार्य हाथमें ले लिया होगा और ७ वर्ष तक उसे करते रहे होंगे। बादमें स्वर्गवास होजानेकी वजहसे ही वे जयधवलाका कार्य पूरा नहीं कर सके और इस लिये उनके शिष्य जिनसेन स्वामीको वह पूरा करना पड़ा। अतः वीरसेन स्वामीका स्वर्गारोहण-समय सन् ८१६+७=८२३ के लगभग मानना चाहिए।

इस मान्यताका एक आधार यह भी बतलाया जाता है कि जिनसेन स्वामीने जयधवलाका अगला भाग वीरसेन स्वामीके पूर्व रचे गये भागको देखकर लिखा कहा है। यदि वीरसेन स्वामी उस समय जीवित होते तो जिनसेनको उन के बनाये हुए पूर्वार्द्धको ही देखकर पश्चार्धको पूरा करनेकी क्या आवश्यकता थी? वे वृद्ध गुरुके चरणोंमें बैठकर उसे पूरा कर सकते थे। अतः इससे यही निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि जयधवलाके कार्यको अधूरा ही छोड़कर स्वामी वीरसेन दिवंगत हो गये थे[2]।

परन्तु ये दोनों ही आधार विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कोई अनिवार्य एवं आवश्यक नहीं है कि गुरुके अस्तित्वमें गुरुके समीप रहकर ही ग्रन्थरचनादिका कार्य किया जाय, अथवा पास रहते हुए भी उनकी पूर्वरचित रचनाको आदर्श बनाकर उसका अवलोकन न किया जाय। साक्षात परामर्श लेते हुए भी कितनी ही विशेषताओंका प्रदर्शन और परिज्ञान उनकी कृतियोंसे होता है। वर्तमान समयमें भी इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। दूसरे यह भी सम्भव है कि गुरु वीरसेन स्वामी वृद्धत्वके कारण ग्रंथरचनादिकार्यसे विराम लेकर आत्म-साधनाके निमित्त अन्यत्र विहार कर गये हों और शिष्य जिनसेन दूसरी जगह हों और ऐसी हालतमें उन्हें साक्षात् परामर्श न मिल सकनेसे उनके द्वारा रचित पूर्वभागको देखकर ही अपना अग्रिमभाग जिनसेनने लिखा हो। तीसरे प्रशस्ति लिखनेका प्रश्न ग्रंथ-समाप्तिके बाद ही प्रस्तुत होता है—पहले नहीं। अतः जब जयधवला समाप्त हुई तब जिनसेनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि जयधवलाकी प्रशस्ति कौन लिखे? क्योंकि जयधवला टीका गुरु (वीरसेन) और शिष्य (जिनसेन) दोनोंने मिलकर रची थी। और इस लिये गुरु वीरसेन स्वामी भी जयधवलाकी प्रशस्तिके लिखनेमें साझेदार थे। इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि वृद्ध गुरुने प्रशस्ति लिखनेका भार अपने विनीत एवं प्रतिभासम्पन्न प्रिय शिष्य जिनसेनपर छोड़ दिया होगा और उन्हें उसके लिखनेकी आज्ञा देदी होगी। जब हम इस विचारको लेकर जयधवला की समाप्ति-प्रशस्तिके उस ३५ वें पद्यको ध्यानसे पढ़ते हैं जिसमें जिनसेन स्वामी कहते हैं कि 'यह पुण्य-शासन (पुण्य-प्रशस्ति) गुरु (वीरसेन स्वामी) की आज्ञासे लिखा है' तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वीरसेन स्वामीका स्वर्गारोहण ई० ८२३ के लगभग नहीं हुआ बल्कि जयधवला की समाप्तिके समय (ई० ८३७) के कुछ वर्ष बाद हुआ है और वे जयधवला-प्रशस्तिके लिखनेके समय मौजूद थे। यद्यपि उसी प्रशस्तिके ३६ वें पद्यमें उन्होंने यह भी लिखा है कि 'गुरुके द्वारा विस्तारसे लिखे गये पहलेके आधे भाग को देखकर ही उत्तर भागको लिखा है।' पर उनका यह लिखना उपर्युक्त विचारमें कोई बाधक नहीं है; क्योंकि गुरुकी मौजूदगीमें भी गुरु जैसी पद्धतिको अपनानेके लिये जिनसेनने पूर्वभागको देखा होगा तथा वीरसेन स्वामीने वृद्धत्वादिके कारण जयधवलाके अगले कार्यको स्वयं न कर जिनसेनके सुपुर्द कर दिया होगा ......। इससे यह विदित होता है कि वीरसेनस्वामीका स्वर्गारोहण सन् ८२३ में न होकर जयधवलाकी समाप्तिसमय शक सं० ७५९ (ई० सन् ८३७) के कुछ बाद हुआ है।

---

१ बा० ज्योतिप्रसादजी एम० ए० ने धवलाके समय-संबंधमें जो नया विचार हालमें प्रस्तुत किया है उसे अभी यहाँ छोड़ा जाता है। —लेखक

२ जयधवला मुद्रित, प्रस्तावना पृ० ७५।

वीरसेवामन्दिरको सहायता

प्रथम किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवा-मन्दिरको सदस्य फीसके अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्नप्रकार है और उसके लिये वे सब धन्यवादके पात्र हैं।

५१००) बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता (अपनी धर्मपत्नी स्व० मूँगाबाईके दानद्रव्यमेंसे पूर्व स्वीकृत ५०००) की सहायतामें १०० की वृद्धिके साथ)

१००) ला० कन्हैयालाल बलवन्तसिंहजी जैन, खतौली जिला मुजफ्फरनगर (लायब्रेरीमें ग्रंथ मंगानेके लिये) मा० पं० परमानन्द जैन शास्त्री।

३०) ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन तिस्सा जि० मुजफ्फरनगर(धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक स्वो. भाष्यको मंगानेके लिये) मा० पं० परमानन्दजैन शास्त्री।

५२३०)

अधिष्ठाता
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

अनेकान्तको सहायता

गत दूसरी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्त को जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्नप्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

२१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी जैन बजाज सहारनपुर। (निम्न ६ संस्थाओंको अनेकान्त अपनी ओरसे फ्री भिजवानेके लिये) १ दी प्रिन्सिपल जैन कालेज सहारनपुर २ दी प्रिन्सिपल जैन कालेज, बड़ौत ३ वीर दि० जैनविद्यालय मु० पपौरा पो० टीकमगढ़ सी० आई० ४ मैनेजर श्री जैनगुरुकुल पो० मवरा via विजावर जि० झांसी, ५ मैनेजर श्री ऐ० प० दि० जैनसरस्वती भवन ब्यावर (अजमेर) ६ मैनेजर श्री उत्तर प्रान्तीय दि० जैन गुरुकुल, सहारनपुर

३१॥) श्रीमन्तसेठ लक्ष्मीचन्दजी जैन भेलसा ग्वालियर। (निम्न ९ स्थानोंको अनेकान्त फ्री भिजवानेके लिये १ श्री दिगम्बर जैन बड़ा परवार मन्दिर, ग्वालियर २ श्रीमान् सूबा साहिब जिला कलेक्टर, भेलसा (ग्वालियर) ३ दी हेडमास्टर वी० श्रीमन्तसेठ लक्ष्मीचन्द जैनहाईस्कूल, लायब्रेरी भेलसा (ग्वालियर) श्री दि० जैनपुस्तकालय ठि० जैनधर्मशाला, भोपाल ५ सार्वजनिक वाचनालय, जैनधर्मशाला माधवगंज भेलसा (ग्वालियर) ६ श्री दि० जैनमन्दिर वासौदा ठि० बन्नालाल दुलीचन्दजी जैन. वासौदा, (ग्वालियर) ७ श्री दुलीचन्द सीमतरायजी जैन, मंडी गुलाबगंज, ८ श्री दि० जैन चैत्यालय, भेलसा (ग्वालियर) ९ ला० प्रेमचन्दजी जैन, माधवगंज भेलसा (ग्वालियर)।

५) ला० तनसुखरायजी जैन, तिस्सा जि० मुजफ्फरनगर

५) हकीम ला० चन्द्रसैन ,, ,, ,, ,,

६२॥)

मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा
सहारनपुर

Regd. No. A-736.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१-आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य ।)

२-सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ-मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उसके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके, अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य-स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमङ्गल-कामना, २ नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पांच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

३-अध्यात्म-कमल,मार्त्तण्ड—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रंथोंके कर्ता कविवर-राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बंद किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीका सुंदर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रंथ है। मू० १॥)

४-उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा-मुख्तारश्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रंथपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिए हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मू० ।)

५-न्याय-दीपिका-(महत्वका नया संस्करण)—न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्टसंस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियां चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिए हुए यह संस्करण मूलग्रंथ और उसके हिंदी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृ० की विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे सकलित हैं, साथमें सम्पादक द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक संस्कृतटिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रंथगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस बृहत्संस्करणका लागत मू० ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मंगा लेना चाहिये।

६-विवाह-समुद्देश्य—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है अनेक विरोधी विधि-विद्वानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनके दृष्टविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? उसकी असली गरज (मौलिकदृष्टि) और सैद्धान्तिक स्थिति क्या है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रमसे उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम हो सकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? विवाहके पश्चात् किन नियमों अथवा कर्त्तव्योंका पालन करनेसे स्त्री-पुरुष दोनों अपने जीवनको सुखमय बना सकते हैं? और किस प्रकार अपनी लौकिक तथा धार्मिक उन्नति करते हुए वे समाज और देशके लिये उपयोगी बनकर उनका हित साधन करनेमें समर्थ हो सकते हैं? इन सब बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा युक्तिपुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। मू० ॥)

प्रकाशनविभाग,
वीरसेवामन्दिर, सरसावा
सहारनपुर

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ८ किरण ३-४ ४-५

अप्रैल-मई १९४६

विषय-सूची

१ समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक १४५
२ अहिंसा और मांसाहार—[प्रो० ए० चक्रवर्ती १४८
३ हम आज़ादीके द्वार खड़े हैं—[पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' १५३
४ रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है
[—पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया १५४
५ कौनसा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?-[पं० दरबारीलाल कोठिया १६२
६ मनुष्यनीके 'संजद' पदके सम्बन्धमें विचारणीयशेष प्रश्न—
[डा० हीरालाल जैन एम. ए. ... १६३
७ जैनवाङ्मयका प्रथमानुयोग—[बा० ज्योतिप्रसाद जैन १६६
८ एक ऐति० अन्तःसाम्प्रदायिक निर्णय—[बा० ज्योतिप्रसाद जैन १६९
९ महाशक्ति (कविता)—['शशि' १७२
१० अमृतचन्द्र सूरिका समय—[पं० परमानन्द जैन १७३
११ राजगृहकी यात्रा—[पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया १७५
१२ जैनसंस्कृतिकी सप्ततत्त्व और षट्द्रव्यव्यवस्थापर प्रकाश—
[पं० वंशीधर जैन, व्याकरणाचार्य १८०
१३ अदृष्टवाद और होनहार—[श्री दौलतराम 'मित्र' १९२
१४ वीरके संदेशकी उपेक्षा—[प्रभुलाल जैन, प्रेमी १९३
१६ क्या तीर्थंकरप्रकृति चौथे भवमें तीर्थंकर बनाती है ?
—[बा० रतनचन्द मुख्तार १९९
१७ धर्मरत्नाकर और जयसेन नामके आचार्य-[पं० परमानन्दशास्त्री २००
१८ जैन धर्ममें वर्ण-व्यवस्था कर्मसे ही है, जन्मसे नहीं
—[पं० इन्द्रजीत जैन, न्यायतीर्थ ... २०५
१९ साहित्य-परिचय और समालोचन—[पं० परमानन्द जैन २१३
२० सम्पादकीय—[सम्पादक २१५
२१ देहलीके जैनमन्दिर और जैन संस्थाएँ—[बा० पन्नालाल जैन, २१७

विलम्बपर भारी खेद !

अनेकान्तकी इस किरणके प्रकाशनमें जो असाधारण विलम्ब हुआ है और उसके कारण प्रेमी पाठकोंको बहुत ही प्रतीक्षा-जन्य कष्ट उठाना पड़ा है उसका मुझे भारी खेद है !! मैं समझता हूं अनेकान्तके इतिहासमें यह पहला ही अवसर है जो वर्षका प्रारम्भ होजानेके बाद मध्यकी किसी किरणके प्रकाशनमें इतना विलम्ब हुआ हो। इससे कितने ही पाठकोंके धैर्यका बाँध टूट गया और वे आवेशकी भाषामें यद्वातद्वा जो जीमें आया लिख गये ! एक सज्जनने लिखा—"साल शुरू होनेपर नई स्कीमें रखी जाती हैं और लच्छेदार बातोंमें ग्राहक बनाये जाते हैं पर सालमें ४-६ अङ्क देकर चन्दा खतम कर दिया जाता है।।" दूसरे एक विद्यार्थी महाशय यहाँ तक कुपित हुए कि वे सम्पादक या प्रकाशकको कोसने के बजाए सारे जैन समाजको ही कोसने लगे और आवेशमें आकर लिख गये—"ऐसी जैनसमाज, जो एक ऐसे उच्चकोटिके पत्रका प्रबन्ध नहीं कर सकती, यदि वह संसारसे नष्ट होजाय, तो अच्छा है।" और कुछने अन्य प्रकारसे ही अपना रोष व्यक्त किया। यद्यपि ग्राहकोंका यह रोष मुझे बुरा नहीं लगा, मैंने उसे अपने लिये एक प्रकारकी चेतावनी समझा और साथ ही यह भी समझा कि पाठकोंको अनेकान्तका समयपर न निकलना कितना अखर रहा है और वे उसके लिये कितने आतुर होरहे हैं; परन्तु फिर भी मैं मजबूर था। मैंने पिछले वर्षके अन्तमें अपनी स्थिति और प्रेसके कारण होने वाली परेशानीको स्पष्ट कर दिया था। मैं नहीं चाहता था कि प्रेसकी समुचित व्यवस्था हुए बिना पत्रको अगले सालके लिये जारी रक्खा जाय, और इस लिये वैसी व्यवस्थाके अभावमें मुझे पत्रका बन्द कर देना तक इष्ट था। परन्तु कुछ सज्जनों एवं मित्रोंका अनुरोध हुआ कि पत्रको बन्द न करके बराबर जारी रखना चाहिये और उधर प्रेसकी ओरसे यह दृढ आश्वासन मिला कि अब हम जितने फार्मोंका कोई अंक होगा उसे उससे दूने—डाईगुने दिनोंमें छाप कर जरूर देदिया करेंगे। इसी अनुरोध और आश्वासनके बलपर आठवें वर्षका प्रारम्भ किया गया था।

आठवें वर्षका प्रारम्भ करते हुए कोई लच्छेदार बातें नहीं बनाई गईं, न ऐसी बातोंके द्वारा ग्राहक बनानेका कोई यत्न ही किया गया है और न ऐसा कभी हुआ है कि ४-६ अंक निकालकर ही चन्दा खतम कर दिया गया हो। हमेशा यह ध्यान रक्खा जाता है कि ग्राहक मैटरकी दृष्टिसे टोटेमें न रहें, और मैटर भी प्रायः स्थायी होता है—सामयिक समाचारों आदिके रूपमें अस्थायी नहीं, जो पढ़कर फेंकदिया।

यह किरण मई मासमें छपनेके लिये प्रेसको दीगई थी—अप्रेलमें मैं राजगृह था और उधर बुकिंग बन्द होने आदिके कारण कागजके देहलीसे सहारनपुर पहुंचनेमें काफी विलम्ब होगया था। खयाल था कि यह अप्रेल-मईकी किरण जूनमें प्रकाशित होजावेगी और जुलाईमें वीरशासन-जयन्तीके अवसरपर जूनकी किरण निकल जावेगी; परन्तु प्रेसने अपने वादे और आश्वासनके अनुसार उसे छापकर नहीं दिया—वह हमेशा कम्पोजीटरोंके न मिलने, किसीके बीमार पड़जाने-चलेजाने अथवा प्रेसकर्मचारियोंके अभावकी ही शिकायत करता रहा! हम बार बार कहते और प्रेरणा करते हुए थक गये तथा हर तरहसे मजबूर होगये! सरकारी कायदे-कानून भी कुछ ऐसे बाधक रहे, जिससे एक प्रेस दूसरे प्रेसके कामको हाथमें लेनेके लिये तय्यार नहीं हुआ। इन्हीं सब मजबूरियोंके कारण यह किरण अक्तूबरमें प्रकाशित होरही है। अगली किरणोंका पूरा मैटर यथासाध्य शीघ्र देनेका प्रयत्न होरहा है-पेजोंमें कोई कमी नहीं की जायगी—भलेही वे किरणें संयुक्तरूपमें निकलें। कागज़ भी अब आगे न्यूजप्रिंट न लगकर ह्वाइट प्रिंटिंग लगेगा, जो चौथे पांचवें वर्षमें लगे हुए कागज जैसा सफेद और पुष्ट होगा। इतनेपर भी जो ग्राहक अपना शेष चन्दा वापिस चाहते हों वे उसे सहर्ष वापिस मँगा सकते हैं अथवा वीरसेवामन्दिरके प्रकाशनोंमेंसे उतने मूल्यकी कोई पुस्तकें मँगा सकते हैं। सम्पादक

* ॐ अर्हम् *

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ८ किरण ४-५	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर वैशाख-ज्येष्ठशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत् २४७२, विक्रम संवत् २००३	अप्रैल मई १९४६

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

['समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने' इस शीर्षकके नीचे अनेकान्तके प्रायः पाँचवें और छठे वर्षमें स्वामी समन्तभद्रके 'स्वयंभूस्तोत्र'का अनुवाद पाठकोंके सामने प्रस्तुत किया गया था, जो अब संशोधनादिके साथ पुस्तकाकार छप गया है—मात्र कुछ परिशिष्ट तथा प्रस्तावना छपनेको बाकी हैं, जिनके छपते ही ग्रन्थके शीघ्र प्रकाशित होजानेकी दृढ आशा है। आज उन्हीं महान् आचार्यकी एक दूसरी अद्वितीय कृति 'युक्त्यनुशासन' को, जो कि स्व-पर-सिद्धान्तोंकी मीमाँसाको लिये हुए श्री वीर भगवानका एक बड़ा ही गम्भीर स्तोत्र है, क्रमशः पाठकोंके सामने अनुवादके साथ रक्खा जाता है। यह कृति स्वामीजीकी उपलब्ध कृतियोंमें यद्यपि सबसे छोटी (कुल ६४ पद्यात्मक) है परन्तु बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इसका एक एक पद बीजपदोंके रूपमें सूत्र है अथवा सूत्रवाक्यका अंग है। इसीसे श्रीजिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रके इस प्रवचनको 'वीरस्येव विजृम्भते' लिखकर वीरभगवानके बीजपदात्मक प्रवचनके तुल्य प्रकाशमान बतलाया है। इसके पदोंमें बड़ा ही अर्थ-गौरव भरा हुआ है। क्लिष्ट और दुर्गम भी यह सबसे अधिक है। शायद इसीसे आजतक इसका हिन्दी अनुवाद नहीं हो पाया। इसपर एकमात्र संस्कृतटीका श्रीविद्यानन्द-जैसे लब्धप्रतिष्ठ महान् आचार्यकी उपलब्ध है, जो बहुत कुछ संक्षिप्त होते हुए भी वातायन (झरोखे) की तरह ग्रन्थके प्रमेयको प्रदर्शित करती है। इसी टीकाका प्रधान आश्रय और सहारा पाकर मैं मूल ग्रन्थको कुछ विशेषरूपमें समझने और उसका यथाशक्ति अनुवाद करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। मेरा यह अनुवाद मूलके कितना अनुरूप और उसे संक्षेपसे अभिव्यक्त करनेमें

कितना समर्थ हुआ है, इसे विद्वज्जन ही जान सकेंगे। अतः विद्वानोंसे मेरा सानुरोध निवेदन है कि वे अनुवादमें जहाँ कहीं भी कोई त्रुटि देखें उससे उसी समय मुझे सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे ग्रन्थ-प्रकाशनादिके अवसरपर उसे दूर किया जा सके। इसके लिये मैं उनका हृदयसे आभारी हूँगा। क्योंकि जिस समन्तभद्रभारतीको श्रीवीरनन्दी आचार्यने (चन्द्रप्रभचरितमें) उस निर्मल गोल मोतियोंकी मालासे भी परमदुर्लभ बतलाया है जिसे नरोत्तम अपने कण्ठका विभूषण बनाते हैं और श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य (सिद्धान्तसारसंग्रहमें) जिसे मनुष्यत्वकी प्राप्तिके समान दुर्लभ बतलाते हैं उसके विषय प्रायः ऐसे ही गूढ प्रवचन ग्रन्थ हैं, और इसलिये मैं चाहता हूँ कि ये ग्रन्थ जनसाधारणके ठीक परिचयमें आवें—लोग उनके महत्व तथा मर्मको समझनेमें समर्थ हो सकें। उसीके अर्थ, लोकहितकी भावनासे, मेरा यह सब प्रयत्न है और उसके लिये सभी विद्वानोंका सहयोग वाँछनीय है। आशा है स्वामी समन्तभद्रके उपकारोंसे उपकृत और उनके ऋणसे कुछ उऋण होनेके इच्छुक सभी समर्थ विद्वान् मेरे इस सत्प्रयत्नमें बिना किसी विशेष प्रेरणाके सतर्कताके साथ सहयोग देकर अपने कर्तव्यका पालन करेंगे। —सम्पादक]

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुति-गोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धम् ॥ १ ॥

'हे वीरजिन !—इस युगके अन्तिम तीर्थप्रवर्तक परमदेव !—आप दोषों और दोषाऽऽशयोंके पाश-बन्धनसे विमुक्त हुए हैं—आपने अज्ञान-अदर्शन-राग-द्वेष-काम-क्रोधादि विकारों अर्थात् विभावपरिणामरूप भावकर्मों और इन दोषात्मक भावकर्मोंके संस्कारक कारणों अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-अन्तरायरूप द्रव्यकर्मोंके जालको छिन्न-भिन्न कर स्वतन्त्रता प्राप्त की है—; आप निश्चितरूपसे ऋद्धमान (प्रवृद्धप्रमाण) हैं—आपका तत्त्वज्ञानरूप प्रमाण (केवलज्ञान) स्याद्वाद-नयसे संकृत होनेके कारण प्रवृद्ध है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट एवं अबाध्य है—; और (इस प्रवृद्धप्रमाणके कारण) आप महती कीर्तिसे भूमण्डलपर वर्द्धमान हैं—जीवादितत्त्वार्थोंका कीर्तन (सम्यग्दर्शन) करनेवाली युक्ति-शास्त्रा-ऽविरोधिनी दिव्यवाणीसे साक्षात् समवसरणकी भूमिपर तथा परम्परासे परमागमकी विषयभूत सारी पृथ्वीपर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, निकटवर्ती-दूरवर्ती, तत्कालीन और उत्तरकालीन सभी पर-अपर परीक्षकजनोंके मनोंको संशयादिके निरसन-द्वारा पुष्ट एवं व्याप्त करते हुए आप वृद्धि-व्याप्तिको प्राप्त हुए हैं—सदा सर्वत्र और सबोंके लिये 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्' के रूपमें अवस्थित हैं, यह बात परीक्षा द्वारा सिद्ध हो चुकी है। (अतः) अब—परीक्षाऽवसानके समय अर्थात् (आप्तमीमांसा-द्वारा) युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्त्वहेतुसे परीक्षा करके यह निर्णय कर चुकनेपर कि आप विशीर्ण-दोषाशय-पाशबन्धत्वादि तीन असाधारण गुणों (कर्मभेतृत्व, सर्वज्ञत्व, परमहितोपदेशकत्व) से विशिष्ट हैं—आपको स्तुतिगोचर मानकर—स्तुतिका विषयभूत आप्तपुरुष स्वीकार करके—, हम—परीक्षाप्रधानी मुमुक्षुजन—आपको अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते हैं—आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त होना चाहते हैं।'

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या लोके स्तुतिर्भूरि-गुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम ॥ २ ॥

'यथार्थताका—यथावस्थित स्वभावका—उल्लंघन करके गुणोंके—चौरासी लाख गुणोंमेंसे किसीके भी—उदय-उत्कर्षकी जो आख्या-कथनी है—बढ़ा चढ़ाकर कहनेकी पद्धति है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। परन्तु हे वीरजिन ! आप भूरिगुणोदधि हैं—अनन्तगुणोंके समुद्र हैं—और उस गुणसमुद्रके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंशका भी हम (पूरे तौरसे) कथन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं— बढ़ा चढ़ा कर कहनेकी तो बात ही दूर है। अतः वह स्तुति तो हमसे बन नहीं सकती; तब हम-छद्मस्थजन (कोई भी उपमान न देखते हुए) किस तरहसे आपकी स्तुति करके स्तोता बनें, यह कुछ समझमें नहीं आता !!'

तथाऽपि वैय्यात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥ ३ ॥

'(यद्यपि हम छद्मस्थजन आपके छोटेसे छोटे गुणका भी पूरा वर्णन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं) तो भी मैं भक्तिके वश धृष्टता धारण करके शक्तिके अनुरूप वाक्योंको लिये हुए आपका स्तोता बना हूँ—आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। किसी वस्तुके इष्ट होनेपर क्या पुरुषार्थीजन अपनी शक्तिके अनुसार क्रियाओं—प्रयत्नों—द्वारा उसकी प्राप्तिके लिये उत्साहित एवं प्रवृत्त नहीं होते ?—होते ही हैं। तदनुसार ही मेरी यह प्रवृत्ति है—मुझे आपकी स्तुति इष्ट है।'

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्म-पथस्य नेता महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥ ४ ॥

'हे वीरजिन ! आप (अपनी साधनाद्वारा) शुद्धि और शक्तिके उदय-उत्कर्षकी उस काष्ठाको—परमावस्था अथवा चरमसीमाको—प्राप्त हुए हैं जो उपमा-रहित हैं और शान्ति-सुख-स्वरूप है—आपमें ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप कर्ममलके क्षयसे अनुपमेय निर्मल ज्ञान-दर्शनका तथा अन्तरायकर्मके अभावसे अनन्तवीर्यका आविर्भाव हुआ है, और यह सब आत्म-विकास मोहनीयकर्मके पूर्णतः विनाश-पूर्वक होनेसे उस विनाशसे उत्पन्न होनेवाले परम शान्तिमय सुखको साथमें लिये हुए है। (इसीसे) आप ब्रह्मपथके—आत्मविकास-पद्धति अथवा मोक्ष-मार्गके नेता हैं—अपने आदर्श एवं उपदेशादि-द्वारा दूसरोंको उस आत्मविकासके मार्गपर लगानेवाले हैं—और महान् हैं—पूज्य परमात्मा हैं—, इतना कहने अथवा दूसरोंको सिद्ध करके बतलानेके लिये हम समर्थ हैं।'

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-प्रभुत्व-शक्तेरपवाद-हेतुः ॥ ५ ॥

'(इस तरह आपके महान् होते हुए, हे वीरजिन !) आपके शासनमें—अनेकान्तात्मक मतमें—(निःश्रेयस और अभ्युदयरूप लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण होनेसे) एकाधिपतित्वरूप-लक्ष्मीका—सभी अर्थ-क्रियार्थिजनोंके द्वारा अवश्य आश्रयणीयरूप सम्पत्तिका—स्वामी होनेकी जो शक्ति है—आगमान्विता युक्तिके रूपमें सामर्थ्य है—उसके अपवादका—एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकनेका—कारण (वर्तमानमें) एकतो कलिकाल है—जो कि साधारण बाह्य कारण है, दूसरा प्रवक्ताका वचनाऽनय है—आचार्यादि प्रवक्तृवर्गका प्रायः अप्रशस्त-निरपेक्ष-नयके साथ वचनव्यवहार है अर्थात् सम्यक्नय-विवक्षाको लिये हुए उपदेशका न देना है—जो कि असाधारण बाह्य कारण है, और तीसरा श्रोताका—श्रावकादि श्रोतृवर्गका—कलुषित आशय है—दर्शनमोहसे प्रायः आक्रान्त चित्त है—जोकि अन्तरंग कारण है।'

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैःप्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ ६ ॥

'हे वीरजिन ! आपका मत—अनेकान्तात्मक शासन—दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है—पूर्णतः अथवा देशतः प्राणिहिंसासे निवृत्ति तथा परोपकारमें प्रवृत्तिरूप वह दयाव्रत, जिसमें असत्यादिसे विरक्तिरूप सत्यव्रतादिका अन्तर्भाव (समावेश) है, मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयोंमें राग-द्वेषकी निवृत्तिरूप संयम; बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंका स्वेच्छासे त्यजन अथवा दान; और धर्म्य तथा शुक्लध्यानका अनुष्ठान; ये चारों उसके प्रधान लक्ष्य हैं। (साथ ही) नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा (असम्भवद्बाधकविषय-स्वरूप) सम्यक् वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करने वाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंसे अबाध्य है—दर्शनमोहोदयके वशीभूत हुए सर्वथा एकान्तवादियोंकेद्वारा प्रकल्पित वादोंमेंसे कोई भी वाद (स्वभावसे मिथ्यावाद होनेके कारण) उसके (सम्यग्वादात्मक) विषयको बाधित अथवा दूषित करनेके लिये समर्थ नहीं है—; (यही सब उसकी विशेषता है और इसी लिये वह) अद्वितीय है—अकेला ही सर्वाधिनायक होनेकी क्षमता रखता है।'

अहिंसा और मांसाहार

(अंग्रेजी अनुवादक—प्रिंसपल ए० चक्रवर्ती एम० ए०, मद्रास)
[हिन्दी अनुवादक—बा० जयभगवान एडवोकेट, पानीपत]

['नीलकेशी' तामिल साहित्यका एक बहुत ही सुन्दर, शिक्षाप्रद और अपने ढंगका अनोखा ग्रन्थ है। ई० सन् १९३६ में माननीय प्रिंसपल ए० चक्रवर्तीने इसके तामिल मूलपाठका अंग्रेजी भावार्थके साथ सम्पादन और प्रकाशन करके साहित्य-प्रेमियोंको सदाके लिये अपना ऋणी बना लिया है। यद्यपि ग्रन्थ परसे अथवा अन्यसाधनोंसे अभी तक इसके कर्ता और उसके समयका ठीक निर्णय नहीं हो पाया है, फिर भी इसके प्रतिपादित विषय और प्रसंग-वश लिखी हुई, तत्सम्बन्धी अनेक बातों परसे यह निश्चित है कि यह किसी महामनस्वी जैन विद्वान्‌की कृति है, जिसने ई० सन् की पहिली शताब्दीसे लेकर पाँचवीं शताब्दी तकके मध्यवर्ती किसी समयमें जन्म लेकर अपनी गुण गरिमासे तामिल देशको सुशोभित किया है। इसका मुख्य विषय 'अहिंसा' है, अहिंसा-धर्मका अनेक दृष्टियोंसे ऊहापोह करनेके लिये इसके सुयोग्य लेखकने भारतके तत्कालीन सभी दार्शनिक सम्प्रदायोंकी गवेषणपूर्ण चर्चा की है। इस ग्रन्थके चौथे भागके चौथे अध्यायमें अहिंसाधर्मके मानने वाले बौद्ध लोगोंके माँसाहारवाले चलनकी कड़ी समालोचना की गई है। उसी समालोचनाके भावार्थका निम्न निबन्धमें दिग्दर्शन कराया गया है। यदि पाठकोंको यह निबन्ध रुचिकर सिद्ध हुआ, तो उपरोक्त ग्रन्थके अन्य प्रकरणोंका भी इसी भाँति हिन्दी भाषामें दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न किया जायेगा।

—हिन्दी अनुवादक]

नीलकेशी—बुद्धधर्मका कल्प्यमाँसका सिद्धान्त, जिसकी मान्यताके आधार पर बौद्ध समाजमें माँसाहारकी प्रवृत्ति फैली हुई है, बहुत ही अयुक्त और हिंसात्मक है।

बौद्ध—यह बात ठीक है कि पशु-पक्षियोंको मारना अयुक्त और हिंसात्मक है; परन्तु, इसका माँसाहारसे क्या सम्बन्ध ?

नीलकेशी—यदि आप पशु-पक्षियोंको मारना पाप समझते हैं, तो आपको माँसाहारको भी पाप मानना ही होगा, क्योंकि दोनोंमें कारण कार्य सम्बन्ध है। बिना पशु-पक्षियोंको मारे माँसाहारकी प्राप्ति नहीं होती, प्राणियोंको मारना पाप है, इस लिये मारनेसे प्राप्त हुआ माँसाहार भी पाप है।

बौद्ध—पशु-वध और माँसाहारमें कोई भी कारण-कार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं है। हाँ, मनुष्य पुण्यार्थ जो कार्य सम्पादन करता है, उनका सम्बन्ध पुण्यात्मक कारणोंसे जरूर होता है और उस सम्बन्धके कारण ही वे कार्य पुण्य कर पाते हैं; जैसे बोधिवृक्षकी प्रदक्षिणा देना, उसकी पूजा करना पुण्य कार्य हैं; क्योंकि इसका परम्परागत सम्बन्ध भगवान बुद्धसे है।

नीलकेशी—ठीक, यदि तुम्हारी तर्कणा अनुसार कारण कार्यमें परम्परागत सम्बन्ध होनेसे पुण्यका उपार्जन हो सकता है, तो कारण कार्यमें परम्परागत सम्बन्ध होनेसे पापका उपार्जन क्यों नहीं हो सकता। जैसे बोधिवृक्षकी पूजा करनेसे तुम्हारा ध्यान भगवान बुद्धकी ओर आकर्षित होता है, वैसे ही माँसाहारका ग्रहण तुम्हारे ध्यानको माँस प्राप्तिके उपायोंकी ओर आकर्षित करता है।

बौद्ध—अच्छा, यदि पशुवध होनेके कारण आपको हमारे माँसाहार पर आपत्ति है, तो आप अपनी मोरपिंछी रखनेकी प्रथाको कैसे प्रशस्त सिद्ध कर सकते हैं ? क्योंकि मोरपिंछीमें लगे हुये मोरके पंख भी तो मोरोंके वध-द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

नीलकेशी—आपने हमारी मोरपिंछीकके सम्बन्ध

में जो हिंसाकी आपत्ति उठाई है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिन मोर-पंखोंसे हमारी पिंछी बनाई जाती है वे मोरोंको मारकर प्राप्त नहीं किये जाते, बल्कि जिन पंखोंको मोर स्वयं समय समयपर झाड़ता रहता है, उन्हें जंगलके लोग जमा करके बेच जाते हैं, उन्हींसे पिंछी बनाई जाती है। इस तरह हमारी मोरपिंछीका परम्परागत कारण हिंसा नहीं है।

इसके अतिरिक्त हमारी चर्या अनुसार साधुके लिये इतना सावधान रहना जरूरी है कि वह कोई वस्तु ग्रहण करनेसे पहिले यह निश्चय करले कि उसकी उत्पत्ति किसी हिंसा द्वारा तो नहीं हुई है, मोरपिंछी लेते समय साधुको यदि पंखोंके सिरोंपर लगे हुए रक्त चिन्होंसे या किन्हीं अन्य उपायों द्वारा हिंसाकी आशंका हो जाय तो उस के लिये वह मोरपिंछी त्याज्य हो जाती है।

इसके अलावा हमारे साधुओंमें जो मोरपिंछी रखनेका चलन है, वह सूक्ष्म जन्तुओंकी रक्षाके लिये है, अपनी किसी माँस लालसाको तृप्त करनेके लिये नहीं। इस तरह आपके माँसाहारके चलन और हमारी मोरपिंछीके चलनमें जमीन आसमानका अन्तर है। माँसाहार पशु-वध द्वारा हासिल किया जाता है और अपनी जिह्वाकी लालसाके लिये प्रयुक्त किया जाता है; परन्तु मोरपंख बिना किसी पशुपक्षिवधके प्राप्त किये जाते हैं, और वे सूक्ष्म जन्तुओंकी रक्षा करनेके नेक कामके वास्ते प्रयुक्त किये जाते हैं।

बौद्ध—निस्संदेह हिंसायुक्त होनेके कारण पशु-पक्षियोंको मारना पाप है; लेकिन इस पाप कार्यके सम्पादन के लिये दो कारण आवश्यक होते हैं, एक मारने वाला मनुष्य दूसरा मरनेवाला पशु अथवा पक्षि। बिना मरनेवालेके कोई भी वध-कार्य सम्पादन नहीं हो सकता। अतः यदि वध करना पाप है, तो इस पापके भागी मारने वाला और मरने वाला दोनों ही कारण होने चाहियें।

नीलकेशी—आपकी यह तर्कणा ठीक नहीं है। यदि इस तर्कणाको ठीक मान लिया जाय, तो पापकी जिम्मेवारी केवल मारने वाले और मरने वाले पर ही लागू न होगी, बल्कि उन अस्त्र-शस्त्रोंपर भी लागू होगी, जो वध करनेमें कारण हुए हैं, परन्तु किसीकी भी धारणा इस प्रकार नहीं है। वास्तवमें बात यह है कि पाप-पुण्यकी नैतिक जिम्मेवारीका सवाल केवल मनुष्य-व्यवहारमें ही सार्थक ठहरता है, और वह भी तब, जब कि कार्य इच्छापूर्वक किया जाता है। जो कोई किसी मनोरथ सिद्धिके लिये इच्छा-पूर्वक कोई कार्य करता है, वही उसके भले बुरेका जिम्मेवार होता है। इस लिये आपका यह कहना कि मरने वाला पशु भी पापका जिम्मेवार है, बिल्कुल निरर्थक है, क्योंकि कोई भी पशु अपना वध कराना नहीं चाहता।

बौद्ध—अच्छा, मैं अपनी मान्यताको एक और उदाहरण द्वारा सिद्ध करता हूँ। देखिये, कोई मनुष्य द्वेषवश एक देवालयको तोड़-फोड़ कर गिरा देता है; दूसरा मनुष्य, उस गिरे हुये मलबेमें लोक कल्याणार्थ, देवालय को बनाकर तैयार कर देता है तो क्या दूसरा मनुष्य भी पहिलेके किये हुए दुष्कर्मका जिम्मेवार है?

नीलकेशी—आपका उदाहरण हमारी समस्यासे कुछ भी समानता नहीं रखता, यह हमारे प्रश्नको हल करनेमें तनिक भी सहायक नहीं है। आपके दिये हुये उदाहरणमें वह मनुष्य जो गिरे हुए मलबेमे देवालयका पुनः निर्माण करता है, पहिले दुष्कर्म करने वाले मनुष्यके चलन का किसी प्रकार भी अनुमोदन नहीं करता, बल्कि देवालय को बनाकर उसे गिराने वालेके आचरणका प्रतिषेध करता है, परन्तु तुम्हारे माँसभक्षण वाले आचरणमें कोई बात भी ऐसी नहीं है, जिससे वध करने वाले मनुष्यके आचरणका प्रतिषेध होता हो बल्कि माँसभक्षक, चुपचाप रीतिसे मारने वालेका अनुमोदन ही करता है। दूसरे, देवालयको पुनः निर्माण करने वाला पहले मनुष्य द्वारा किये हुए दुष्कर्मका सुधार करके देवालयका उद्धार करता है, लेकिन आपके दिये हुये उदाहरणमें माँस-भक्षक माँसाहार द्वारा मृत पशुका पुनरुद्धार नहीं करता, बल्कि वह उसके द्वारा लालसावश अपने ही शरीरका पोषण करता है।

बौद्ध—नहीं, आपका कारण-कार्य वाला तर्क दोष-पूर्ण है। यदि कारणके सदोष होनेसे कार्यको भी सदोष माना जाय तो इसका यह परिणाम होगा कि पुत्र-द्वारा किये हुए अपराधका फल पिता पर भी लागू होगा।

नीलकेशी—निस्संदेह अगर पिता अपने पुत्रके दोषोंकी आलोचना और सुधार नहीं करता और वह

चुपचाप उस आचरणकी ऐसी अनुमोदना करता है जैसे कि मांसभक्षक पशुवधकी करता है तो पिता निश्चय रूपसे नैतिक दृष्टिमें अपने पुत्रके दुराचारका उत्तरदायी है।

बौद्ध—आप मेरे आशयको नहीं समझे, मेरा अभिप्राय यह है कि मांसभक्षक पशुको मारकर माँसकी प्राप्ति नहीं करता वह तो उसे या तो कहींसे खरीदता है या माँगकर लेता है या चोरी द्वारा प्राप्त करता है। इस तरह उसका पशुवधसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी हालतमें वह वध-क्रियाके लिये कैसे उत्तरदायी हो सकता है?

नीलकेशी—यदि कोई मनुष्य बुद्ध भगवानके चरणोंकी पूजा करनेके पश्चात बौद्ध-मन्दिरसे फूल ले जाता हुआ रास्तेमें किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा अधमुआ कर दिया जावे और वह दूसरा व्यक्ति भगवानकी पूजाके भावसे उन फूलोंको छीनकर ले जावे तो आपकी मान्यतानुसार दोनों मनुष्य समान पुण्यके अधिकारी हैं। यदि प्रशस्त अथवा अप्रशस्त किसी भी उपाय-द्वारा फूलोंका प्राप्त करना पूजाके समान ही पुण्यका देनेवाला है तो अच्छे या बुरे किसी भी उपाय-द्वारा माँसको प्राप्त करना पशुवधके समान ही पापका देनेवाला ठहरता है। आप पहले उदाहरणमें पुण्यकी समानताको मानकर दूसरे उदाहरणमें पापकी समानतासे इन्कार नहीं कर सकते, आप जब पुण्यके कार्योंमें कारण-कार्य सम्बन्धकी सार्थकताको मानते हैं तो आपको पाप-कार्यमें भी कारण-कार्यकी सार्थकताको मानना ही होगा।

बौद्ध—आप अब भी मेरे आशयको ठीक नहीं समझे, मैं फिर इसको स्पष्ट किये देता हूँ। पशुको मारने वाला मनुष्य न तो हमारे लिये पशुको मारता है न हमारे कहनेपर ही ऐसा काम करता है, वह किसी भी विशेष व्यक्तिको दृष्टिमें न रखकर माँसको बेचनेके लिये लाता है जो कोई उसकी कीमत देता है वह ही उसको ले जाता है। इस तरह मारनेवालेने किसी विशेष ग्राहकको लक्ष्यमें रख कर वध नहीं किया है, इसलिये खरीदने वाले और मारने वालेमें कोई भी सम्बन्ध नहीं ठहरता।

नीलकेशी—आपकी उक्त तर्कशैली बहुत ही दोषपूर्ण है, यह बात आपको एक ही उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगी। कल्पना कीजिये कि भगवान बुद्ध एक नगरके समीप उद्यानमें आकर ठहरे—नगरवासियोंको यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि भगवान आहार लेनेके लिये नगरमें पधारेंगे। यद्यपि यह बात निश्चित है कि वह केवल एक गृहस्थ के पाससे ही आहार ग्रहण करेंगे; परन्तु सब ही नगरवासी उनके पधारनेकी आशा करके अपने अपने घर पुण्यार्थ भोजन तय्यार करते हैं। ऐसी दशामें आप यह बात जरूर स्वीकार करेंगे कि यद्यपि इन गृहस्थोंमेंसे केवल एकको ही आहार देनेका सौभाग्य प्राप्त है। परन्तु, सभी गृहस्थ जिन्होंने भगवानका संकल्प करके भोजन तय्यार किया है निश्चयपूर्वक एक समान पुण्यके अधिकारी हैं। इस उदाहरण में यद्यपि आतिथ्य-कार्य केवल एक गृहस्थके साथ ही सम्बन्धित है परन्तु आप सभी गृहस्थोंको पुण्य अधिकारी इस वास्ते ठहराते हैं कि सभी भगवानके दर्शनोंके इच्छुक थे, सभी उनके सत्कारद्वारा अपनी आत्मतृप्तिके उत्सुक थे, इसी तरह माँसाहारके विवादस्थ विषयमें भी आप पापके उत्तर-दायित्वको समझनेकी कोशिश करें। ऊपर वाले उदाहरणमें जिस प्रकार भगवान बुद्ध बिना किसी विशेष व्यक्तिको लक्ष्य किये नगरमें पधारते हैं, वैसे ही पशुघातक बिना किसी विशेष व्यक्तिको लक्ष्य किये माँस बेचनेके लिये बाज़ारमें आता है। ऊपर वाली मिसालमें जैसे सभी गृहस्थ बिना इस अपेक्षाके कि उनमेंसे किसने भगवानकी सेवा की, भगवत् सेवाकी अभिलाषाके कारण पुण्यके अधिकारी हैं, वैसे ही विचारणीय प्रकरणमें, बिना इस अपेक्षाके कि किसने माँसका उपभोग किया, सभी माँसभक्षक जो माँस लालसाके कारण माँस खरीदनेकी प्रतीक्षामें लगे हैं, हिंसा पापके उत्तरदायी हैं क्योंकि वे सभी जानते हैं कि बिना पशुवधके माँसकी प्राप्ति नहीं होती। इस तरह सभी माँस-भक्षक हृदयसे पशुवधका अनुमोदन करते हैं।

बौद्ध—आपके उदाहरणको मैंने भली भाँति समझ लिया है; परन्तु आपकी उठाई हुई आपत्ति तभी ठीक हो सकती है, जब कि माँसभक्षक माँस खरीदनेके लिये पशुघातकको पेशगी मूल्य दे दे। लेकिन हम तो किसी पशुघातक या पशुमाँस-विक्रेताको कभी कोई दाम पेशगी नहीं देते; इसलिये हम माँसविक्रेताके आचरणके किस प्रकार अनुमोदक ठहराये जा सकते हैं।

नीलकेशी—आपकी यह युक्ति भी ठीक नहीं है। पेशगी दाम देने या न देनेसे हिंसा-पापके उत्तरदायित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि आप अच्छी तरह जानते हैं कि माँस-विक्रेता पशु मारकर या मरवाकर ही माँसकी प्राप्ति करता है, और वह पशु मारने या मरवानेका काम उस धनकी लालसा-वश ही करता है, जो वह माँसके बदलेमें आपसे प्राप्त करनेकी इच्छा या आशा रखता है। इस तरह समस्या का विश्लेषण करनेपर यह स्पष्ट होजाता है कि पशु-बध करने अथवा माँस बेचनेका मूल प्रेरक कारण माँस खानेवालों की माँस-लालसा ही है। चूंकि माँसभक्षक लालसा-वश दाम देकर माँस खरीदना चाहते हैं, इसलिये माँस-विक्रेता पशु मारकर बाजारमें लाते हैं। यदि माँसाहार बन्द होजाय तो माँसविक्रय और पशुबध भी खतम होजाय। इस तरह पशुहिंसाका उत्तरदायित्व उन लोगोंपर है जो माँस-भक्षण करते हैं।

बौद्ध—नहीं, नहीं, मानव जीवनमें पुण्य और पाप रूप नैतिक मूल्योंका सम्बन्ध उसके सुकर्म अथवा दुष्कर्मसे है, भोग-उपभोगसे नहीं। चूंकि माँसभक्षण भोग-उपभोग की कोटिमें आता है, किसी सुकर्म अथवा दुष्कर्मकी कोटिमें नहीं आता, इसलिये माँसभक्षणका पुण्य अथवा पाप-रूप कोई भी नैतिक मूल्य नहीं है। माँसभक्षणके सम्बन्धमें पापाचारकी कल्पना करना भ्रममात्र है।

नीलकेशी—ओह! आपकी पुण्य-पाप-सम्बन्धी यह धारणा तो बहुत ही भयंकर है। कर्म और भोगमें इस प्रकारका भेद करके, पुण्य-पापकी व्यवस्था बनाना और भोक्ताको नैतिक उत्तरदायित्वसे सर्वथा मुक्त करना सदाचार और संयमको लोप करना है। इस तरह तो स्त्रियोंके सतीत्व को बलात हरण करनेवाले आततायी भी, अफीम, शराब आदि मादक पदार्थोंका भोग करने वाले दुराचारी भी सभी जिम्मेवारीसे आजाद हो जायेंगे। सच तो यह है कि मनुष्य का मन, वचन अथवा कायसे होनेवाला व्यापार कोई भी ऐसा नहीं जिसका अच्छा या बुरा प्रभाव उसके अपने निजी जीवनपर अथवा बाह्य लोकके हित-अहितपर न पड़ता हो, इसलिये नैतिक दृष्टिसे मनुष्यका प्रत्येक कार्य चाहे वह भोग-उपभोगरूप हो, चाहे अन्य प्रकारका हो, पुण्य-पापकी व्यवस्थामें आये बिना नहीं रह सकता।

बौद्ध—बहुत अच्छा, आपकी उपरोक्त धारणा ठीक सही; पर यह तो बतलाइये, कि यदि माँस खाना पाप है, तो आप दूध क्यों पीते हैं! दूध भी तो आखिरकार माँसमें से ही उत्पन्न होता है। फिर दूध पीना माँस खानेसे भिन्न कैसे हो सकता है।

नीलकेशी—हूँ! यह आपने क्या नासमझीकी बात कही! माँसाहारके सम्बन्धमें हमारी आपत्ति अहिंसा सिद्धान्तपर अवलम्बित है। चूंकि माँसाहार अन्य प्राणियों के प्राणोंका घात किये बिना नहीं हो सकता। इसलिये माँसाहार पाप है। परन्तु, दूधके लिये किसीके भी प्राणोंका घात करना आवश्यक नहीं। दूधकी प्राप्ति बिल्कुल निर-हिंसक है। स्वयं पशु अपने नियत समयपर दूध देनेके लिये सदा ऐसे ही तय्यार रहते हैं जैसे कि वृक्ष अपने फलोंको। चूंकि दुग्ध देना पशुओंके लिये हानिकारक नहीं, हितकर है, दुःखमय नहीं, सुखमय है, पशुओंमें दुग्ध-मोचनकी क्रिया अपनी पुष्टि, सन्तुष्टि और अपनी सन्तान की परिपालनाके लिये बिल्कुल स्वाभाविक और आवश्यक है, इसलिये दूध पीना पाप नहीं है।

आपकी यह धारणा भी कि दूध माँसकी पर्याय है, बिल्कुल भ्रम है। दूध माँसकी पर्याय नहीं, बल्कि जैसा कि उसके रस अथवा गन्धसे सिद्ध होता है, वह तो उस घास चारेकी निकटतम पर्याय है जो पशुको खानेके लिये मिलता है। क्या आपको यह मालूम नहीं कि दूधकी विशेषता पशुओंके चारेकी विशेषतापर निर्भर है। क्या खल और बिनोला खानेवाली गऊके दूधमें अधिक स्निग्धता नहीं होती? क्या माँका खाया हुआ आहार छातीका दूध पीनेवाले बच्चेके स्वास्थ्यपर अपना असर नहीं डालता? क्या माँको खिलाई हुई औषधि बहुत बार दूधमुंहे बच्चोंके रोगोंका निवारण नहीं करती?

इसके अतिरिक्त, लोक व्यवहारमें भी आज तक किसीने दूधको अशुद्ध ठहरा कर उसकी निन्दा नहीं की—जब कि संसारके सभी मान्य विज्ञ पुरुषोंने मांसको अशुद्ध और अप्राकृतिक आहार ठहरा कर उसकी निन्दा की है।

इन सब तर्कोंकी मौजूदगीमें भी यदि आप दूधको

माँस समान कहनेका दुराग्रह करते हैं; तो करें, इस तरह तो कोई भी मनुष्य मनुष्यभक्षी कहलानेके अपराधसे खाली न बच सकेगा,—क्योंकि सभी अपने बचपनके जमानेमें माँकी छातीका दूध पीनेवाले होते हैं।

बौद्ध—दूधके सम्बन्धमें आपने जो अनेक बातें ऊपर कही हैं, उनमेंसे यह बात तो कदापि मानने योग्य नहीं हो सकती कि संसारके सभी माननीय विज्ञ पुरुषों ने माँसको त्याज्य ठहराया है। जहाँ तक सर्वसाधारणका सवाल है, सभी सभ्यजन शराब और अन्य मादक पदार्थों की निन्दा करते चले आये हैं; परन्तु मदिराके समान, माँस की सब जगह निन्दा होना सिद्ध नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि यदि माँस वास्तवमें निन्दनीय होता, तो मदिरा के समान सारा संसार बिना किसी मतभेदके उसका भी निन्दक होता!

नीलकेशी—आपने माँसाहारको निष्पाप कार्य सिद्ध करने के लिये जो सर्वसाधारण मतका सहारा लेनेकी कोशिश की है, यह प्रयास भी आपका निष्फल है; क्योंकि माँस, मदिरा, मैथुन आदि भोग-उपभोगकी बातोंमें मनुष्य कभी भी एकमत अथवा समान-व्यवहारी नहीं रहा है। इसलिये इन बातोंके सत्य और तथ्यका निर्णय करनेके लिये सर्वसाधारण मतका सहारा लेना निरर्थक है। दूर जानेकी जरूरत नहीं, मदिरापानको ही ले लीजिये। क्या सभी युगोंमें सभी लोगोंने इसकी निन्दा की है? नहीं! इस सम्बन्धमें हमें प्राचीन वैदिक कालके व्यसनोंकी आलोचना करनेकी जरूरत नहीं, स्वयं बौद्धधर्मी—खासकर महायान और मन्त्रयान सम्प्रदायोंके लोग शराबका खूब प्रयोग करते हैं। इनके अलावा बहुतसे अन्य धर्मवाले भी शराबको आजादीसे पीते हैं। इन हालातके रहते हुए, भला आप कैसे कह सकते हैं कि शराब लोक-निन्द्य वस्तु है? मगर इसके मुकाबलेमें माँसभक्षणकी बात सर्वथा भिन्न प्रकार की है। सिवाय बौद्धधर्मियोंके, जो तर्कद्वारा माँसभक्षणका समर्थन करते हैं; सभी माँसभक्षक चाहे उन की यह लत कितनी ही पुरानी क्यों न हो, कभी इसकी प्रशंसा नहीं करते और न इसे अच्छी चीज़ समझते हैं। यह बात स्वयं उनके प्रचलित व्यवहार से ही जाहिर है क्योंकि वे एकादशी आदि पर्वके दिनोंमें माँसको अशुद्ध समझते हुए इसके आहारका त्याग कर देते हैं। जब बौद्ध धर्मियोंके अलावा सभी माँस खाने वाले विधर्मी लोग माँसाहारको अशुद्ध और अयुक्त समझते हैं तो यह बहुत ही आश्चर्य की बात है कि आप लोग माँसको ग्राह्य वस्तु कहते हैं।

बौद्ध—खैर! आप इस विषयमें हमारे खिलाफ कुछ भी कहें मगर इतनी बात तो आप जरूर स्वीकार करेंगे ही कि माँसाहारी होते हुये भी किसीके प्राणघात करना या कराना हमारा अभिप्राय नहीं है और इस अभिप्रायके अभावमें, माँस-प्राप्तिके लिये जो कुछ भी पशुघात होता है उसके लिये हमारी कोई भी नैतिक जिम्मेवारी नहीं है।

नीलकेशी—खूब! यदि आपके कहे अनुसार अभिप्रायवादका अर्थ लिया जाय, तो स्वयं मारनेवाला भी इस प्रकारके अभिप्राय वाला सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि मारने वाला कभी भी मारनेके अभिप्रायसे नहीं मारता, वह तो केवल धनके अभिप्रायसे ही मारता है। उसका मुख्य उद्देश्य धन बनाना है, मारना तो धन सिद्धिके लिये एक साधन मात्र ही है। इस तरह यदि आपकी मान्यतापर अमल किया जाये तो मारने वाला भी हत्याके अपराधसे मुक्त होजायेगा।

बौद्ध—अच्छा आपका आशय यह है कि, चूँकि माँसाहार परम्परा रूपसे पशुघातका कारण है, इस वास्ते माँसाहारी पशुघातका दोषी है, परन्तु आपकी यह धारणा सचाई और व्यवहारके विरुद्ध है। व्यवहारमें हम हमेशा देखते हैं कि केवल मृत्युका कारण होजानेसे कोई मनुष्य हत्यारा नहीं कहलाता। इस सम्बन्धमें बहुतसे उदाहरण पेश किये जासकते हैं। किसी शत्रु द्वारा घायल किये हुये मनुष्यके शरीरसे तीर निकालते समय संभव है कि आप उसकी मृत्युके कारण होजायें अथवा किसी बच्चेके गलेमेंसे अटकी हुई कौड़ीको निकालनेकी कोशिशमें उसकी माँ उसकी मृत्युका कारण बन जाये, इसी तरह किसी रोगीका आप्रेशन करते हुये चिकित्सक-डाक्टर उसकी मृत्युका कारण होजाये; परन्तु यह बात निश्चित है कि कोई भी उपर्युक्त व्यक्तियोंको मृत्युका अपराधी नहीं ठहरायेगा।

नीलकेशी—निस्सन्देह, ऊपर वाले उदाहरणोंमें वे, मृत्युका कारण होते हुये भी मृत्युके लिये उत्तरदायी नहीं हैं। क्यों नहीं इस वास्ते कि उनके आचरणका प्रेरक हेतु प्रेम था, परोपकार था। उनकी दिली भावना थी कि वे उनके दुख-दर्दको दूर करके उनको मृत्युसे बचा लें। यह बात दूसरी है कि वे अपने मनोरथमें सफल नहीं हुए, कार्य की सफलता और असफलता केवल मनोरथपर निर्भर नहीं, इसके लिये बहुतसे, सहायक कारणोंके सहयोग और विरोधी कारणोंके अभावकी जरूरत है। परन्तु माँस-प्राप्तिके लिये पशुवध वाली क्रियामें अथवा माँसभक्षण वाली आदतमें प्रेरक हेतु प्रेम वा परोपकार नहीं है। यह काम पशुओंके दुखदर्द हरने और उन्हें मृत्युसे बचानेके लिये नहीं किये जाते, बल्कि यह काम प्रमाद, मोह और स्वार्थवश धन-लालसा अथवा विषय-लालसासे प्रेरित होकर किये जाते हैं। इस वास्ते ऊपरके उदाहरणों वाले काम पुण्य हैं और पशु-बध वा माँसभक्षण वाले काम पाप हैं, प्रेरक भावनाओंमें भेद होनेसे क्रियाओंके फल और उनके नैतिक मूल्योंमें भेद होना स्वाभाविक ही है। हिंसा-अहिंसा तत्त्वका निर्णय केवल कारण-कार्यसम्बन्धको देखनेसे नहीं होता, इसके लिये क्रियाओंकी प्रेरक भावनाओंको परखना भी जरूरी है।

इस तरह आप इस माँसभक्षण वाले विषय पर किसी पहलूसे भी विचार करें, आप हिंसा और पापकी जिम्मेवारी से नहीं बच सकते।

इस लम्बे वाद-विवादके पश्चात् मेरी यही अन्तिम प्रार्थना है कि आप भगवान बुद्ध द्वारा घोषित अहिंसा तत्त्व पर निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करें; और दुराग्रह छोड़कर देखें कि वह कहाँ तक आपके प्रचलित माँसाहारकी पुष्टि करता है। केवल इसलिये कि आप मुद्दतसे माँसाहारकी लतमें पड़े हुए हैं और उसे छोड़ना कठिन है; उसकी युक्तियों द्वारा समर्थन करनेकी चेष्टा करना आप जैसे अहिंसा धर्म मानने वालोंके लिये शोभा नहीं देता। मैं समझता हूँ, आपका पूर्ण विश्वास है कि अहिंसा तत्त्वका प्रचार करनेमें आप न केवल दूसरोंकी ही आचार-शुद्धि करते हैं। भगवान बुद्धने डाकुओंके सरदार अङ्गुलिमालको अहिंसा धर्मका उपदेश देकर न केवल उसका सदाके वास्ते पापसे उद्धार कर दिया, बल्कि उसके द्वारा भविष्यमें वध होनेवाले बहुतसे मनुष्यों का भी मृत्युसे उद्धार कर दिया। भगवानका यह आचरण कितना उदार और कितना प्रेमपूर्ण था? आप भी अपने जीवनमें यदि इस प्रकार उदार और वात्सल्य पूर्ण आचारको स्थान दें तो आपके आदर्श और व्यवहारमें बड़ी समता पैदा होगी, जीवनमें शुद्धि आयेगी और संघमें वह शक्ति उदित होगी कि आप संसारके हिंसात्मक प्रवाहको बदलकर उसे अहिंसात्मक बना देंगे।

हम आज़ादीके द्वार खड़े हैं

[रचयिता—श्री पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']

जनहितके अरमान लिये हम आज़ादीके द्वार खड़े हैं!

भारतको आज़ाद कराने,
मानवताके साज सजाने,
दुष्ट दु:शासनके हाथोंसे—
द्रुपद-सुताकी लाज बचाने,
चीर बढ़ाने; 'मोहन' खुद वाहन तजकर भगवान उड़े हैं!

साम्य-सुखोंकी धार बहाने,
नवजीवनकी ज्योति जगाने,
दिन पलटेंगे, जग बदलेगा,
दम्भ—द्वेषमें आग लगाने,
विश्व-तिरङ्गा झण्डा लेकर वीर जवाहरलाल बढ़े हैं!

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

'अनेकान्त' वर्ष ७, किरण ९-१० और ११-१२ में 'क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है ?' शीर्षकका मेरा दूसरा लेख प्रकाशित हुआ था। उसपर प्रो० हीरालालजी एम० ए०, एल-एल० बीने 'अनेकान्त' वर्ष ८, किरण १, २ और ३ में 'रत्नकरण्ड और आप्तमीमाँसाका एक कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं' शीर्षक लेख लिखा है। आज उसीपर यहाँ विचार प्रस्तुत किया जाता है।

प्रो० सा० की मुंझलाहट—

मैंने अपने द्वितीय लेखके प्रारम्भमें प्रो० सा०की कई असंगत बातोंकी आलोचनाएँ की थीं और लिखा था कि मेरा वह प्रमाणपूर्ण प्रथम लेख अनेक विचारशील विद्वानोंने पसन्द किया है, पर प्रो० सा० को वह पसन्द नहीं आया। इसमें विद्वद्वर्य पं० सुमेरचन्द्रजी शास्त्री, दिवाकर, की स्वतः प्राप्त एक सम्मति भी प्रदर्शित की थी। इसपर आप बहुत मुंझला उठे हैं और न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके उस लेखकी, जो मेरे 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक प्रथम लेखके उत्तरमें उन्होंने लिखा था, कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करके मुझे उसके द्वारा 'चेतावनी' मिल जाने और उससे 'कुछ सीख' न लेनेका उपालम्भ दिया है। साथमें सम्मतिसंग्रहकी प्रवृत्तिको अश्रेयस्कर बतलाया है। किन्तु मालूम होता है कि उन्होंने मेरे उस लेखको, जिसमें उक्त पण्डितजीके उल्लिखित लेखका विस्तृत, जवाब दिया गया है, देखनेका कष्ट नहीं किया। मुझे आश्चर्य है कि प्रो० सा० मेरी तो 'कुछ सीख' न लेनेकी शिकायत करते हैं और सम्मतिसंग्रहकी प्रवृत्तिको अश्रेयस्कर बतलाते हैं; परन्तु वे स्वयं अपनेको इन दोषोंसे मुक्त रखते हैं। यदि वस्तुतः किसी विषय या लेखपर प्रामाणिक विद्वानोंकी सम्मतियोंको प्राप्त करना और उन्हें विषय-निर्णयके लिये प्रदर्शित करना बुरा है—श्रेयस्कर नहीं है—तो उन्हें इसे स्वयं चरितार्थ करना चाहिये था। विद्वान् पाठकोंको मालूम है कि प्रो०सा०ने लगभग पाँच वर्ष पूर्व 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' शीर्षक निबन्ध लिखा था और उसे, उसपर विद्वानोंकी सम्मतियाँ प्राप्त करनेके लिये, उनके पास भेजा था और जिसकी सम्मत्यर्थ आई हुई एक प्रति मेरे पास भी मौजूद है। और जब मैंने अपने पुस्तकसंग्रहमेंसे उसे निकाल कर देखा तो मुझे उसके द्वितीय और उपान्त्य एवं अन्तिम पृष्ठोंपर 'षट्खण्डागमके प्रकाशित भागोंपर कुछ सम्मतियाँ' शीर्षकके साथ श्रीचारुकीर्त्ति पण्डिताचार्य मूडबिद्री, न्यायाचार्य पं० गणेश-प्रसादजी वर्णी, पं० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर, शास्त्री, पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ और जवाहरलाल जैन 'वैद्यशास्त्री, प्रतापगढ़ प्रभृति डेढ़ दर्जन विद्वानोंकी सम्मतियोंका संग्रह भी उसमें संकलित मिला। जबकि मैंने अपने उक्त लेखमें केवल एक ही विद्वान्की सम्मति प्रदर्शित की थी, जिन्हें प्रो० सा० स्वयं प्रामाणिक विद्वानोंमें रखते हैं और उनकी सम्मतिको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत करते हैं। ऐसी हालतमें मेरी एक सम्मतिको तो 'सम्मतिसंग्रह' कहकर उसकी प्रवृत्तिको अश्रेयस्कर बतलाना और अपनी डेढ़ दर्जन सम्मतियोंके संग्रहकी प्रवृत्तिको श्रेयस्कर समझना ही क्या कानून-सम्मत है ? वास्तवमें यदि प्रो० सा० स्वयं निष्पक्ष दृष्टिसे विचार कर देखेंगे तो उन्हें अपनी भूल नजर आजायगी और किसी विवाद विषयके निर्णयमें प्रामाणिक विद्वानोंकी सम्मतियोंको प्रदर्शित करना उसी प्रकार श्रेयस्कर समझेंगे, जिस प्रकार 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' निबन्धमें उन्होंने श्रेयस्कर समझा है और तब मेरा भी वह सम्मति-प्रदर्शन उन्हें अनुचित न लगेगा।

आत्म-नियंत्रणकी ओर—

मैंने पूर्व लेखमें यह उल्लेख किया था कि रत्नकरण्ड सम्बन्धी लेखके उत्तर लिखनेके पहले 'भद्रबाहु' सम्बन्धी लेखका उत्तर प्रथमतः लिखना क्रमप्राप्त एवं न्याययुक्त था। इसका प्रो०सा० ने यह जवाब लिखा था कि 'चूंकि दूसरे

लेखका विषय हमारी चिन्तन-धारामें अधिक निकटवर्ती है' इसीसे पहले उसे लिया गया है। इसपर मैंने उनसे पूछा था कि 'वह चिन्तन-धारा कौनसी है? और उसमें इस लेखसे क्या निकटवर्तित्व है? वास्तवमें तो मेरे पहले लेखका विषय ही उनकी चिन्तन-धारामें अधिक निकटवर्ती जान पड़ता है, जहाँ निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र को दो पृथक् व्यक्ति स्पष्ट करके बतला दिया गया है और जिन्हें कि प्रो० सा० ने एक व्यक्ति मान कर अपने विलुप्त अध्यायकी इमारत खड़ी की थी।' इसपर अब आप लिखते हैं कि 'ऐतिहासिक चर्चामें भी साम्प्रदायिक विक्षोभ उत्पन्न होते देख मैंने स्वयं अपने ऊपर यह नियंत्रण लगा लिया है कि फिलहाल मैं जो कुछ जैनपत्रोंके लिये लिखूंगा वह विषय व प्रमाणकी दृष्टिसे दिगम्बर जैन इतिहास, साहित्य और सिद्धान्तके भीतर ही रहेगा। बस, इसी आत्म-नियंत्रण के कारण निर्युक्तिकार भद्रबाहु सम्बन्धी चिन्तन दूर पड़ जाता है और प्रस्तुत विषय पूर्णतः उक्त सीमाके भीतर आजाता है।'

पाठक, देखेंगे कि मेरे प्रश्नसे प्रो० सा० ने किस ढंगसे किनाराकशी की है और भद्रबाहु-सम्बन्धी लेखका उत्तर न देनेमें यह कारण बतलाया है कि उन्हें उससे साम्प्रदायिक विक्षोभ उत्पन्न होनेका भय है। वास्तवमें बात यह है कि उक्त लेखके तथ्योंका उनके पास उसी प्रकार प्रमाणपूर्ण कोई उत्तर नहीं है जिस प्रकार पं० परमानन्दजी शास्त्रीद्वारा[1] लिखे गये 'शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार' शीर्षक लेख के तथ्योंका कोई उचित उत्तर नहीं है। और यदि वे इन दोनों लेखोंके तथ्योंको स्वीकार करते हैं तो उनके विलुप्त अध्यायकी सारी इमारत ढह जाती है। इसी असमंजसमें पड़कर अब प्रो० सा० को साम्प्रदायिक विक्षोभके उत्पन्न होनेका बहाना ढूंढना पड़ा है और इसीसे अब आत्म-नियंत्रणकी ओर भी प्रवृत्त होना पड़ा है। जो कुछ हो, यह निश्चित है कि उनके ये वकीली दाव-पेंच विचार-जगतमें कोई मुल्यवान् नहीं समझे जा सकते हैं।

अप्रयोजक प्रश्नोंका आरोप गलत नहीं है—

आगे चलकर मैंने अपने उसी लेखमें लिखा था कि 'प्रो० सा० की रीति-नीति ही कुछ ऐसी बन गई है कि वे मुख्य विषयको टालनेके लिये कुछ अप्रयोजक प्रश्न या प्रसंग अथवा गौण बातें प्रस्तुत कर देते हैं और स्पष्ट तथ्यको झमेलेमें डाल देते हैं।' इसके प्रमाणस्वरूप मैंने पं० फूलचन्द्रजी शिद्धान्तशास्त्रीकी उस चर्चाका उल्लेख किया था, जो वेद-वैषम्यको लेकर 'जैन-सन्देश' में कई महिनों तक चली थी और जिसे विद्वान पाठकोंने दिलचस्पीके साथ पढ़ा होगा। इसकी पुष्टिमें भी अपनी स्वयंकी प्रत्यक्ष देखी हुई कलकत्ताकी चर्चाका निर्देश किया था। इसपर प्रो० सा० पाठकोंकी दृष्टिमें अपनेको गिरते जानकर बड़े क्षुभित एवं कुपित होगये और मेरे उक्त कथनको कुत्सित वृत्तियाँ' एवं 'घोर अपराध' बतलाते हैं? साथमें कलकत्ताकी चर्चासम्बन्धी बातोंको 'विगतवार पेश' करनेके लिये उन्होंने मुझे बड़ी डाटके साथ ललकारा है। इस सम्बन्धमें मैं यदि कितनी भी ईमानदारीसे लिखूंगा तो भी प्रो०सा० उसे कदापि माननेको तैयार नहीं होंगे; क्योंकि उनकी वर्तमान प्रवृत्तिमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न तत्त्वतः जिज्ञासाका भाव जान पड़ता है। अतएव यदि वे उक्त बातोंको जाननेके लिये उत्सुक हैं तो मेरे अलावा उन उपस्थित विद्वानों और प्रत्यक्ष द्रष्टाओंसे उनको जान सकते हैं। फिर भी मैं एक बातका उल्लेख किये देता हूं। आपने कलकत्ताकी प्रथम दिनकी चर्चाके समय सबसे पहले यह प्रश्न किया था कि वेद-वैषम्य सम्भव नहीं हैं, जब उसे पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थने जीवकाण्ड गोम्मटसारकी गाथा 'कहिं विषमा' का प्रमाण देकर उसे सिद्ध किया। तब आपने युक्तिसे सिद्ध करनेके लिये कहा तो उन्होंने बन्ध तत्त्वका विश्लेषण करते हुये उसे युक्तिसे भी सिद्ध कर दिया। फिर आपका प्रश्न हुआ कि यह तो स्त्रीमुक्तिनिषेधके लिये दिगम्बर परम्पराने माना है। इसका जवाब दिया गया कि स्त्रीमुक्तिको मानने-वाली श्वेताम्बर परम्परामें भी वेद-वैषम्य माना गया है। इसके बाद यद्यपि वेद-वैषम्य सिद्ध होजानेपर मामला खतम होगया था, किन्तु कुछ और प्रश्न किये गये जो प्रस्तुत चर्चाके उपयुक्त न थे और सर्वथा किनारा कसीके थे। उपस्थित लोगोंने जान लिया कि अब आपसे उत्तर नहीं बन रहा और इस लिये आपका चेहरा फीका पड़ने लगा एवं अन्यत्र जानेकी बात कही गई तो फिर चर्चा

---

१ 'अनेकान्त' वर्ष ७, किरण १-२।

दूसरे दिनको स्थगित की गई, इन सब बातोंको प्रत्यक्षद्रष्टाओंने स्पष्ट देखा था। ऐसी स्थितिमें मेरे 'अप्रयोजक प्रश्न' या 'अप्रयोजक प्रसंग' अथवा गौण बातें कहनेपर उन्हें 'कुत्सित वृत्तियाँ' और 'घोर अपराध' बतलाना सर्वथा गलत है। मैं नहीं चाहता था कि उक्त बातें प्रस्तुत की जायें, पर प्रो० सा० ने क्षोभमें आकर मुझे उनको प्रकट करनेके लिये बाध्य किया है। अत एव इस एक ही बातसे प्रकट है कि वे किस ढंगसे अनेकों अप्रयोजक प्रश्न खड़े करते हैं—[1] और तथ्यको झमेलेमें डालकर उसे ईमानदारीके साथ स्वीकार नहीं करते। और इस लिये उनका क्षुभित एवं कुपित होना सर्वथा व्यर्थ है।

मान्यताकी परिभाषा और उसका ग्रहण-परित्याग—

मैंने पहले लेखमें यह उल्लेख किया था कि 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' नामक निबन्धमें रत्नकरण्डश्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया गया है और अब विलुप्त अध्यायमें उसे उनकी रचना न होनेका कथन किया गया है और इसलिये यह तो पूर्व-मान्यताका छोड़ देना है। इसपर प्रो० सा० ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमाँसाका कर्तृत्व' शीर्षक अपने लेखमें मेरे इस आलोचनात्मक प्रतिपादनको पहले तो 'भ्रम' बतलाया और फिर आगे उसी जगह बादमें यह कहते हुए उसे स्वीकार कर लिया कि 'गवेषणाके क्षेत्रमें नये आधारोंके प्रकाशमें मतपरिवर्तन कोई दोष नहीं है।' किन्तु अब आप लिखते हैं कि 'मान्यता तो तभी होती है जब किसी बातको मनन पूर्वक ग्रहण और स्थापित किया जावे। किन्तु जहाँ पूर्वमें ऐसी मान्यता प्रकट ही नहीं की गई वहाँ उसे छोड़ने आदि का लाँछन लगाना तो निर्मूल और निराधार आक्षेप ही कहलायगा, जिसका प्रमाणक्षेत्रमें कोई मूल्य नहीं।'

मुझे सखेद कहना पड़ता है कि प्रो० सा० अपनी पहले कही हुई बातको सर्वथा भूल जाते हैं। जब वे पहले यह डंकेकी चोट स्वीकार कर लेते हैं कि 'गवेषणाके क्षेत्रमें नये आधारोंके प्रकाशमें मत-परिवर्तन कोई दोष नहीं है।' तो हमें समझमें नहीं आता कि मतसे अतिरिक्त और मान्यता क्या है? और उसके परिवर्तनको छोड़कर परित्याग और क्या चीज़ है? साधारण विवेकी भी मत और मान्यता तथा परिवर्तन और परित्यागकी अभिन्नताको समझ सकता है और निश्चय ही उसे कबूल करेगा। यथार्थतः मत और मान्यता एवं परिवर्तन और परित्याग ये पर्यायवाची ही शब्द हैं। थोड़ी देरको यदि हम प्रो० सा० की यह मान्यता की परिभाषा मान भी लें कि जिस बातको मननपूर्वक ग्रहण और स्थापित किया जावे वह मान्यता है तो मैं कह देना चाहता हूँ कि मत भी तो इसीको कहते हैं। दूसरे, अध्ययन के अधिकार नामक निबन्धमें जो कथन प्रस्तुत किया गया है वह मननपूर्वक किया हुआ है या नहीं? यदि है, तो वहाँ रत्नकरण्डश्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्रकृत कहा जाना मान्यता क्यों न कहलायगी? और यदि मननपूर्वक नहीं है—गैरमननका है तो अधिकारका वह सब कथन निरर्गल ही कहा जायगा। ऐसी हालतमें प्रो० सा० स्वयं बतलायें कि ऐसे अयुक्त कथन और पूर्वापरविरुद्ध कथनका प्रमाणक्षेत्रमें कोई मूल्य नहीं है या संगत और पूर्वापर-अविरुद्ध कथनका कोई मूल्य नहीं है? स्पष्टतः विवेकीजन अयुक्त और पूर्वापरविरुद्ध कथनका ही प्रमाणक्षेत्रमें कोई मूल्य न बतलायेंगे। और युक्तिपूर्ण अविरोधी कथनको ही मूल्यवान् कहेंगे। और इस लिये मेरे उक्त मान्यता छोड़नेके कथनको निर्मूल और निराधार आक्षेप' बतलाना सर्वथा अनुचित एवं बेबुनियाद है।

केवलीके १२ दोषोंके अभावका स्वीकार—

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें आप्तके लक्षणमें आये 'उच्छिन्न-दोष' विशेषणका स्वरूप क्षुधादि १८ दोष-रहित बतलाया गया है। इसपरसे प्रो० साहबने उसे आप्तमीमाँसाकार स्वामी समन्तभद्रकी रचना न होनेका मत प्रकट किया था और लिखा था कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचारको उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करनेके लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ होगया है कि वह उन्हीं ग्रन्थकारकी रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने आप्तमीमाँसा लिखी थी; क्योंकि उसमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमाँसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।'

---

१ पं० फूलचन्द्रजी और पं० जीवन्धरजीकी चर्चाओंमें भी आपके द्वारा किये गये अनेकों अप्रयोजक प्रश्न भरे पड़े हैं। जिन्हें पाठक उन चर्चाओंसे जान सकते हैं।

इसपर मैंने अपने प्रथम लेखमें आप्तमीमाँसाकारकी ही दूसरी रचना स्वयम्भूस्तोत्रके उल्लेखोंके आधारपर यह सिद्ध किया था कि आप्तमीमाँसाकारको भी आप्तमें क्षुधादि १८ दोषोंका अभाव इष्ट है। हमारे इस कथनकी आलोचना करते हुए प्रो० सा० ने लिखा था कि 'पंडितजीने जिस प्रकारके उल्लेख प्रस्तुत किये हैं उनको देखते हुये मुझे इस बातकी अब भी आवश्यकता प्रतीत होती है कि यहाँ सबसे पहले मैं अपने दृष्टिकोणको स्पष्ट करदूं। केवलीमें चार घातिया कर्मोंका नाश होचुका है, अत एव इन कर्मोंसे उत्पन्न दोषोंका केवलीमें अभाव माननेमें कहीं कोई मतभेद नहीं है। रत्नकरण्डके छठे श्लोकमें उल्लिखित दोषोंमें इस प्रकारके पाँच दोष हैं—भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह। अत एव इन दोषोंके केवलीमें अभावके उल्लेख प्रस्तुत करना अनावश्यक है।'

यहाँ यह स्मरण रहे कि विलुप्त अध्यायमें प्रो० सा० ने अष्टसहस्री टीका (आ० मी० श्लो० ४ और ६) का हवाला देकर राग, द्वेष और मोह (अज्ञान) इन तीनको आप्तमीमाँसाकारका अभिप्राय बतलाकर दोषका स्वरूप प्रकट किया था—उनमें भय और स्मय ये दो दोष नहीं कहे थे। और जब मेरे द्वारा स्वयम्भूस्तोत्रके उक्त उल्लेख उपस्थित किये गये तो बादमें 'रत्नकरण्ड और आप्तमीमीमाँसाका एक-कर्तृत्व' लेखमें यह कहते हुए कि 'रत्नकरण्डके छठे श्लोकमें उल्लिखित दोषोंमें इस प्रकारके पाँच दोष—भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह।' राग, द्वेष और मोहके अलावा भय और स्मय इन दो दोषोंको और भी मान लिया गया और इस लिये मैंने द्वितीय लेखमें लिखा था कि 'प्रसन्नताकी बात है कि 'राग, द्वेष, मोहके साथ भय और स्मयके अभावको भी केवलीमें प्रो० सा० ने मान लिया है और इस तरह उन्होंने रत्नकरण्डमें उक्त १८ दोषोंमेंसे पाँच दोषोंके अभावको तो स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है। और चिन्ता, खेद, रति, विस्मय और विषाद ये प्रायः मोहकी पर्यायविशेष हैं, यह प्रकट है। अतः मोहके अभावमें इन दोषोंका अभाव भी प्रो० सा० अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। निद्रा दर्शनावरण कर्मके उदयसे होती है, इसलिये केवलीमें दर्शनावरण कर्मका नाश होजानेसे निद्राका अभाव भी प्रो० सा० को अमान्य नहीं हो सकता। विद्यानन्दके अष्टसहस्री-गत उल्लेखानुसार स्वेदके अभाव—निःस्वेदत्वको भी स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अस्पष्टतः ७ दोषोंके अभावको और भी आप मान लेते हैं। अर्थात् आप्तमें ५+७=१२ दोषोंका अभाव माननेमें प्रो० सा०को कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती। इस मेरे विशद विवेचनके किये जानेपर अब प्रो० सा० मुझसे पूछते हुए कहते हैं कि 'मैं पण्डितजीसे पूछता हूँ कि उन बारह दोषोंका केवलीमें अभाव माननेमें मुझे आपत्ति थी कब?' मेरे ऊपर उद्धृत लेखाँशसे सुस्पष्ट है कि मैंने तो उस सम्बन्धमें पण्डितजीके उल्लेखोंमें अविवेक और अनावश्यकताकी ही सूचना की थी।'

मुझे पुनः खेद सहित कहना पड़ता है कि प्रो० सा० कितनी चतुराईसे पाठकोंको भुलावेमें डालना जानते हैं। पाठक देखेंगे कि उनके उपर्युक्त उल्लेखाँशमें उक्त १२ दोषोंका कोई उल्लेख नहीं है, जिनके बारेमें वे 'सुस्पष्ट' कहनेका निःसंकोच निर्देश करते हैं। वहाँ तो सिर्फ पांच ही दोषोंका स्पष्टतः उल्लेख है। हां, प्रस्तुत लेखमें अब अवश्य उन १२ दोषोंके केवलीमें अभाव माननेमें अनापत्ति स्वीकार करली है। सो कब? जब मैंने विश्लेषण करके विशदतासे उन्हें दिखाया और उनके माननेमें आपत्ति न होनेको कहा। पहले तो उन्होने विलुप्त अध्यायमें तीन ही दोष बतलाये थे फिर पाँच दोष होगये और अब बारह दोष होगये। और शायद अगले लेखमें पूरे १८ दोष मान लें और उनका केवलीमें अभाव स्वीकार करलें? ऐसी स्थितिमें पाठक जान सकते हैं कि अविवेक और अनावश्यकता किस ओर है? मेरे विवेचनयुक्त उल्लेखोंमें है या उनके उत्तरोत्तर संशोधन होने वाले कथनमें है? इससे प्रकट है कि जब उनके कथनमें उत्तरोत्तर संशोधन होता गया तो मेरे उन उल्लेखोंमें विवेकीजन विवेक और सार्थकता ही निश्चयसे प्राप्त करेंगे। प्रो० सा० ने स्वयं भी पहले अपने 'दृष्टिकोण' को अस्पष्ट स्वीकार किया है और पीछे उसे 'स्पष्ट' किया है। जैसा कि उनके ऊपरके वाक्योंसे प्रकट है।

आप्तमीमाँसामें भी रत्नकरण्डोक्त दोषका स्वरूप माना गया है—

मैंने स्वयम्भूस्तोत्रके प्रमाणोल्लेखोंसे यह सिद्ध किया था कि आप्तमीमाँसाकारको भी रत्नकरण्डोक्त दोषका स्वरूप

स्वीकार है। इसपर प्रो० सा०ने लिखा था कि 'न्यायाचार्य जी आप्तमीमांसा तथा युक्त्यनुशासनमेंसे तो कोई एक भी ऐसा उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सके, जिसमें उक्त मान्यताका विधान पाया जाता हो। यथार्थतः यदि आप्तमीमाँसाकारको आप्तमें उन प्रवृत्तियोंका अभाव मानना अभीष्ट था तो उसके प्रतिपादनके लिये सबसे उपयुक्त स्थल वही ग्रन्थ था, जहाँ उन्होंने आप्तके ही स्वरूपकी मीमाँसा की है।' इसपर मैंने उनसे प्रश्न किया था कि 'क्या किसी ग्रन्थकारके पूरे और ठीक अभिप्रायको एकान्ततः उसके एक ही ग्रन्थपरसे जाना जा सकता है? यदि नहीं तो आप्तमीमाँसापरसे ही आप्त-मीमाँसाकार स्वामी समन्तभद्रके पूरे अभिप्रायको जाननेके लिये क्यों आग्रह किया जाता है? और उनके ही दूसरे ग्रन्थपरसे वैसे उल्लेख उपस्थित किये जानेपर क्यों अश्रद्धा की जाती है? समझमें नहीं आता कि प्रो० सा०के इस प्रकारके कथनमें क्या रहस्य है?' इसके साथ ही पाँच हेतु-प्रमाणोंसे आप्तमीमाँसामें भी कारिका दोमें रत्नकरण्डोक्त दोषका स्वरूप प्रमाणित किया था। अब उन्होंने लिखा है कि 'जो ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थमें आप्तके सुस्पष्ट लक्षण स्थापित करे और आप्तमीमाँसापर ही एक पूरा स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे उससे स्वभावतः यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस ग्रन्थमें उन्हीं लक्षणोंकी व्यवस्थित मीमाँसा करेगा।' मालूम होता है कि उन्होंने मेरे उन पाँच हेतु-प्रमाणोंपर सर्वथा ही ध्यान नहीं दिया, जिनके द्वारा यह बतलाया गया है कि आप्तमीमाँसा का० २ में दोषका लक्षण वही किया है जो रत्न-करण्डमें है। थोड़ी देरको यह मान भी लें कि आप्तमीमाँसा में वह लक्षण कण्ठतः नहीं है तो यह जोर देना अनुचित है कि वह लक्षण भी उसमें कण्ठतः ही होना चाहिए। इसके बारेमें आप्तपरीक्षा और उसकी आप्तपरीक्षालंकृति टीकाका हवाला भी दिया गया था जहाँ मुख्यतः उक्त क्षुधादि दोषों के अभावरूपसे आप्तका स्वरूप वर्णित नहीं किया गया है। फिर भी इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि उसके कर्ताको उक्त लक्षण इष्ट न होगा या उसे बाधित समझा होगा। किन्तु वह लक्षण फलित होजानेसे वर्णनीय नहीं रहा। यही स्थिति आप्तमीमांसाके लिये है और इस लिये उन तीन विकल्पोंका कोई महत्व नहीं रहता जो इस प्रसंगमें प्रस्तुत किये हैं क्योंकि आप्तमीमाँसा और आप्तपरीक्षा दोनोंकी स्थिति एक है और दोनों ही में दार्शनिक दृष्टिकोण मुख्यतः विवेचनीय है और आगमिक गौणतः। अतएव इस सम्बन्धमें और अधिक विवेचन अना-वश्यक है। पूर्व लेखमें वह विस्तृत रूपसे किया जा चुका है।

क्षुधादि वेदनाएँ मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य कही गई हैं—

पिछले लेखमें हमने क्षुधादि वेदनाओंको शास्त्रीय प्रमाणपूर्वक मोहनीय जन्य बतलाया है। यह हमने कहीं नहीं लिखा कि 'क्षुधादि वेदनाएँ सर्वथा मोहनीय कर्मोत्पन्न हैं।' किन्तु प्रो० साहबको कुछ ऐसी गन्ध आगई है कि मैं उन्हें सर्वथा मोहनीय कर्मोत्पन्न मानता हूँ। इसके लिये उन्होंने मेरे लेखके दो स्थलोंकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जो अधूरे रूपमें उपस्थित की गई हैं। वे पंक्तियाँ अपने पूरे रूपमें निम्न प्रकार हैं:—

'वास्तवमें आप्तमीमाँसामें आप्तके राग, द्वेषादि दोष और आवरणोंका अभाव बतला देनेसे ही तज्जन्य क्षुधादि प्रवृत्तियों-लोकसाधारण दोषोंका अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है। उनके अभावको आप्तमें अलग बतलाना अमुख्य एवं अनावश्यक है।'

'तात्पर्य यह कि समन्तभद्रको आप्तमीमाँसामें यथार्थ-वक्तृत्व और उसके जनक वीतरागत्व तथा सर्वज्ञत्व रूपसे ही आप्तके स्वरूपका स्पष्टतः निर्वचन करना इष्ट है। क्षुधादि तुच्छ प्रवृत्तियोंके अभावकी सिद्धि तो आप्तमें मोहका अभाव होजानेसे अस्पष्टतः एवं आनुषंगिक रूपमें स्वतः होजाती है। अतः उसके साधनके लिये सीधा प्रयत्न या उपक्रम करना खासतौरसे आवश्यक नहीं है। क्षुधादि प्रवृत्तियाँ वस्तुतः मोह नीय सहकृत वेदनीयजन्य हैं। अतएव मोहनीयके बिना केवलीमें वेदनीय उन प्रवृत्तियोंको पैदा करनेमें सर्वथा असमर्थ है।'

इन मेरे पूरे उद्धरणोंपरसे विज्ञ पाठक जान सकेंगे कि मेरी क्षुधादिवेदनाओंको सर्वथा मोहनीय कर्मोत्पन्न माननेकी मान्यता है या मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य माननेकी है? स्पष्टतः वे मेरी मान्यता क्षुधादिवेदनाओंको मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य होनेकी ही उक्त उद्धरणोंमें देखेंगे, अब मैं उसी जगह स्पष्टतया लिख रहा हूं कि क्षुधादि प्रवृत्तियाँ वस्तुतः मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य हैं।' तब समझमें नहीं आता कि प्रो० सा० ने मेरी मान्यताका विपर्यास क्यों

किया और उसे पाठकोंके सामने अन्यथा रूपमें क्यों रखा ? यदि उक्त उद्धरणोंमें मोहनीयपर जोर दिया गया है तो उसका मतलब यह नहीं है कि वहां उन वेदनाओंको सर्वथा मोहनीय जन्य बतलाया है, किन्तु उसकी वेदनीयमें कार्यकारी प्रबल एवं अनिवार्य सहायकता प्रतिपादित की गई है। यह सब जानते हैं कि घड़ेकी जनक मिट्टी है लेकिन कुम्हार भी उसका अनिवार्य निमित्तकारण होनेसे उसका जनक कहा जाता है और 'कुम्भकार' ऐसा उसमें सर्वप्रसिद्ध व्यपदेश भी होता है। बस, इसी रूपमें वहाँ मोहनीयपर जोर दिया गया है। और यह जोर देना शास्त्रसम्मत ही है—अशास्त्रीय नहीं है। यहाँ मैं नमूनेके तौरपर इस विषयके एक-दो शास्त्रीय प्रमाण भी प्रस्तुत किये देता हूं:-

मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोषाश्च विद्रुताः।
छिन्नमूलतरोर्यद्वद् ध्वस्तं सैन्यमराजवत् ॥
नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम्।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥
नष्टाः क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम्।
नष्टं भूमिगतस्पर्शो नष्टं चेन्द्रियजं सुखम् ॥'

—आप्तस्वरूप।

'यस्य हि क्षुधादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात्परीषहजयो भवति। न च मोहोदयबलाधानाभावे वेदनाप्रभवोऽस्ति तदभावात्सहनवचनं भक्तिमात्रकृतम्।'

—तत्त्वार्थवार्तिक।

यहाँ मुख्यतः मोहनीयपर जोर दिया गया है लेकिन वह वेदनीयकी अनिवार्य सहायकतारूपमें ही दिया गया है। और यही मेरा वहाँ अभिप्राय है। जहाँ क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको अतिशय बतलाया है और उन्हें घातिकर्मक्षय जन्य प्रतिपादित किया गया है वहाँ भी घातिकर्मोंकी वेदनीयमें अनिवार्य सहायकता ही वर्णित की गई है। और यह वर्णन भी स्वकाल्पनिक या अशास्त्रीय नहीं है—शास्त्रीय ही है। यथा—

'असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः।
त्वय्यकिंचित्करो नाथ ! सामग्र्या हि फलोदयः ॥

—आदिपुराण २५ वाँ पर्व

'घातिकर्मोदयसहायाभावात तत्सामर्थ्यविरहात।'

—तत्त्वार्थवार्तिक।

अत एव मैंने जो क्षुधादिवेदनाओंको मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य और घातिकर्मसहकृत वेदनीय जन्य बतलाया है वह प्रमाणसंगत है।

केवल वेदनीय क्षुधादिवेदनाओंका जनक नहीं है—

इसी सिलसिलेमें प्रो० सा० ने दो बातोंपर विशेष जोर दिया है। एक तो यह कि वेदनीयकर्म फल देनेमें मोहनीय या घातिकर्मके अधीन नहीं है वह उनसे निरपेक्ष स्वतंत्र फलदाता है। दूसरी यह कि शास्त्रज्ञोंने इन दोनों कर्मोंको विरोधि ही बतलाया है तब मोहनीयवेदनीयका सहकारी कैसे हो सकता है ? पहली बातके समर्थनमें आपने पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि (६-१६) और वीरसेन स्वामीकी धवला टीका (१, ६-१,७ । १,६-१,१८) गत कुछ पंक्तियोंको उद्धृत किया है। किन्तु आश्चर्य है कि प्रो० सा० यह भूल जाते हैं कि ये दोनों ही आचार्य वेदनीयको फल देनेमें मोहनीय या घाति कर्माधीन ही मानते हैं। जैसा कि उनके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है:—

'निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादशपरीषहाः सन्ति। ननु मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाऽभावे परीषहव्यपदेशो न युक्तः; सत्यमेवमेतत्; वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषहोपचारः क्रियते।'

—सर्वार्थसि० (पृ० २८१)

'ण च वेयणीयं तक्कारणं; असहेज्जत्तादो। घाइचउक्कसहेज्जं संतं वेयणीयं दुक्खुप्पाययं। ण च तं घाइचउक्कमत्थि केवलिम्मि, तदो ण सकज्जजणणं वेयणीयंजलमट्टियादिविरहियबीजं वेत्ति। वेयणीयस्स दुक्खमुप्पायंतस्स घाइचउक्कं सहेज्जमिति कधं णव्वदे ? तिरयण-पउत्तिअण्णहाणुववत्तीदो।

घाइकम्मे णट्ठे संते वि जइ वेयणीयं दुक्खमुप्पायइ तो सतिसो सभुक्खो केवली होज्ज ? ण च एवं; भुक्खातिसासु कूर-जलविसयतण्हासु संतीसु केवलिस्स समोहत्तावत्तीदो। तण्हाए ण भुंजइ, किंतु तिरयणट्ठमिदि ण घोत्तुं जुत्तं; तत्थ पत्तासेसरूवम्मि तदसंभवादो। तं जहा, ण ताव णाणट्ठं भुंजइ; पत्तकेवलणाणभावादो। ण च केवलणाणादो अहियमण्णं पत्थणिज्जं णाणमत्थि जेण तदट्ठं केवली भुंजेज्ज। ण संजमट्ठं; पत्तजहाक्खादसंजमादो। ण ज्झाणट्ठं; विसईकयासेसतिहुवणस्स ज्झेयाभावादो। ण भुंजइ केवली

केवली भुत्तिकारणाभावादो त्ति सिद्धं।

अह जइ सो भुंजइ तो बलाउ-सादु-सरीरुवचय-तेज-सुहट्ठं चेव भुंजइ संसारिजीवो व्व; ण च एवं समोहस्स केवलणाणाणुववत्तीदो। ण च अकेवलिवयणमागमो, रागदो-समोहकलंकंकिए हरि-हर-हिरण्णगब्भेसु व सच्चाभावादो। आगमाभावे ण तिरयणपउत्ति तित्थवोच्छेदो चेव होज्ज, ण च एवं, तित्थस्स णिब्बाहबोह-विसयीकयस्स उवलंभादो। तदो ण वेयणीयं घाइकम्मणिरवेक्खं फलं देदि त्ति सिद्धं।'

—जयधवला मु० पृ० ६८-७१

यहाँ पहले उद्धरणमें पूज्यपाद स्वामी स्पष्टतया कह रहे हैं कि वेदनीय कर्म मोहनीयोदयकी सहायताके बिना क्षुधादि वेदनाओंको उत्पन्न नहीं करता। दूसरे उद्धरणमें वीरसेन स्वामी सबलताके साथ वेदनीयमें मोहनीय एवं घातिकर्मकी सहायकताका समर्थन करते हैं और घाति निरपेक्ष उसके फल देनेका सख्त विरोध करते हैं। उनके इस उद्धरणका पूरा हिन्दीभाव हिन्दी-टीकाकारोंके ही शब्दोंमें दे देना आवश्यक समझता हूँ जिससे सभी पाठकोंको सहूलियत होगी। यथा—

'वेदनीय कर्म केवली भगवानमें अवगुण (दोष) पैदा नहीं करता, क्योंकि असहाय है। चार घातिया कर्मोंकी सहायतासे ही वेदनीय कर्म दुःख उत्पन्न करता है। और चार घातियाकर्म केवली भगवानमें नहीं हैं। इसलिये जल और मिट्टीके बिना जिस प्रकार बीज अपना अंकुरोत्पादन कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार वेदनीय भी घाति-चतुष्कके बिना अपना कार्य नहीं कर सकता है।

शंका—घाति चतुष्क दुःखोत्पादक वेदनीय कर्मका सहायक है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—यदि चार घातिया कर्मोंकी सहायताके बिना भी वेदनीय कर्म दुःख देनेमें समर्थ हो तो केवली जिनके रत्नत्रयकी निर्बाध प्रवृत्ति नहीं बन सकती है, इससे प्रतीत होता है कि घातिचतुष्ककी सहायतासे ही वेदनीय अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है।

यदि घातिकर्मके नष्ट होजानेपर भी वेदनीय कर्म दुःख उत्पन्न करता है तो केवलीको भूख और प्यासकी बाधा होनी चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि भूख और प्यास में भातविषयक और जलविषयक तृष्णाके होनेपर केवली भगवानको मोहीपनेकी आपत्ति प्राप्त होती है।

यदि कहा जाय कि केवली तृष्णासे भोजन नहीं करते हैं किन्तु रत्नत्रयके लिये भोजन करते हैं, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर चुके हैं, अत एव यह कहना कि वे रत्नत्रय (ज्ञान संयम और ध्यान) के लिये भोजन करते हैं, सम्भव नहीं है। वह इस प्रकारसे—केवली जिन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तो भोजन करते नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया है और केवलज्ञानसे बड़ा कोई दूसरा ज्ञान प्राप्त करने योग्य है नहीं जिसके प्राप्त करनेके लिये वे भोजन करें। संयमके लिये भी वे भोजन नहीं करते, क्योंकि यथाख्यात संयम, जो सबसे बड़ा और अन्तिम है, उन्हें प्राप्त है। ध्यानके लिये वे भोजन करते हैं, यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उन्होंने सब पदार्थोंको जान लिया है, इसलिये उनके ध्यान करने योग्य कोई पदार्थ ही नहीं रहा है। अतएव भोजन करनेका कोई कारण नहीं रहने से केवली जिन भोजन नहीं करते हैं यह सिद्ध होजाता है।

दूसरी बात यह है कि यदि केवली भोजन करते हैं तो वे संसारी जीवोंके समान ही बल, आयु, स्वाद, शरीरकी वृद्धि, तेज और सुखके लिये ही भोजन करते हैं, ऐसा समझा जायगा, परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि वे मोहयुक्त हो जायेंगे और ऐसी हालतमें उनके केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि अकेवली पुरुषोंके वचन ही आगम हैं तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर राग, द्वेष और मोहसे कलंकित उनमें हरिहरादिककी तरह सत्यताका अभाव हो जायगा और सत्यताके अभाव होजानेपर आगमका अभाव होजायगा और आगमका अभाव होजानेपर रत्नत्रयकी प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी, जिससे तीर्थका विच्छेद ही हो जायगा। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि निर्बाध बोधके द्वारा ज्ञात तीर्थकी उपलब्धि बराबर होती है। अत एव यह सिद्ध हुआ कि घाति कर्मोंकी अपेक्षाके बिना वेदनीय कर्म अपने फलको नहीं देता है।'

वीरसेन स्वामीके इस युक्तिपूर्ण विशद विवेचनसे प्रकट है कि वेदनीयको फल देनेमें मोहनीय एवं घातिकर्म सापेक्ष

घातिकर्म निरपेक्ष फल देनेमें जो वीरसेन स्वामीके वचनोंसे प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया गया है वह सर्वथा भ्रान्त है और उनकी विभिन्न स्थलीय विवक्षाओंको न समझने एवं उनका समन्वय न कर सकनेका ही परिणाम है।

इसी प्रकारकी बड़ी भूल उन्होंने अपनी दूसरी बात (वेदनीय और मोहनीयके पारस्परिक विरोध)के समर्थनमें की है। आप लिखते हैं—'परन्तु कर्मसिद्धान्तके शास्त्रोंको वैसा इष्ट नहीं है, और वे मोहनीयको वेदनीयका सहचारी न मान कर उसका विरोधी ही बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र ८, ४ की टीकामें कर्मोंके नामनिर्देश क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए राजवार्तिककार ज्ञानावरण और दर्शनावरणका साहचर्य प्रकट करके कहते हैं।' आगे राजवार्तिककी कुछ पंक्तियों को उद्धृत किया है। साथ ही वे यह कहते हुए कि 'इसी प्रकार श्लोकवार्तिककार स्वयं विद्यानन्दजीने भी स्वीकार किया है।' विद्यानन्दके श्लोकवार्तिककी भी दो पंक्तियाँ उक्त बातके समर्थनमें प्रस्तुत करते हैं!

यहाँ प्रो० सा०ने वेदनीय और मोहनीयमें विरोध प्रमाणित करनेके लिये उन दो सुप्रसिद्ध आचार्योंके ग्रन्थोंके वाक्योंको उपस्थित किया है जो मोहनीयको वेदनीयका सबलताके साथ सहायक मानते हैं और जो प्रो० सा० के मन्तव्यका जरा भी समर्थन नहीं करते हैं। यथा :—

'यस्य हि क्षुदादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात्परीषहजयो भवति। न च मोहोदयबलाधानाभावे वेदनाप्रभवोऽस्ति तदभावात्सहनवचनं भक्तिमात्रकृतम्।

घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात्। यथा विषद्रव्यं मंत्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मारणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म कदापि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुदाद्यभावः।'

—राजवार्त्तिक पृ० ३३८।

'न हि सार्द्रेन्धनादिसहायस्याग्नेर्धूमः कार्यमिति केवलस्यापि स्यात्। तथा मोहसहायस्य वेदनीयस्य यत्फलं क्षुदादि तदेकाकिनोऽपि न युज्यत एव तस्य सर्वदा मोहानपेक्षत्वप्रसंगात्। तथा च समाध्यवस्थायामपि कस्यचिद्भूतिप्रसंगः।'

'वेदनीयोदयभावात् क्षुदादिप्रसंग इति चेन्न, घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात्। तद्भावोपचाराद् ध्यानकल्पनवच्छक्तितः एव केवलिन्येकादशपरीषहाः सन्ति न पुनर्व्यक्तितः, केवलाद्वेदनीय। द्व्यक्तक्षुदाद्यसम्भवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्याः। कुतस्ते तत्रोपचर्यन्ते इत्याह—

लेश्यैकदेशयोगस्य सद्भावादुपचर्यते।
यथा लेश्या जिने तद्वद्वेदनीयस्य तत्त्वतः॥
घातिहत्युपचर्यन्ते सत्तामात्रात् परीषहाः।
छद्मस्थवीतरागस्य यथेति परिनिश्चितम्॥
न क्षुदादेरभिव्यक्तिस्तत्र तद्धेत्वभावतः।
योगशून्ये जिने यद्वदन्यथातिप्रसंगतः॥
नैकं हेतुः क्षुदादीनां व्यक्तौ चेदं प्रतीयते।
तस्य मोहोदयाद् व्यक्तेरसद्वेद्योदयेऽपि च॥
क्षामोदरत्वसम्पत्तौ मोहापाये न सेक्ष्यते।
सत्याहाराभिलाषेऽपि नासद्वेद्योदयादृते॥
न भोजनोपयोगस्यासत्त्वेऽप्यनुदीरणा।
असातावेदनीयस्य न चाहारेक्षणादिना॥
क्षुदित्यशेषसामग्रीजन्याऽभिव्यज्यते कथम्।
तद्वैकल्ये सयोगस्य पिपासादेरयोगतः॥
क्षुदादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनन्तशर्मता।
निराहारस्य चाशक्तौ स्थातुं नानन्तशक्तितः॥
नित्योपयुक्तबोधस्य न च संज्ञाऽस्ति भोजने।
पाने चेति क्षुदादीनां नाभिव्यक्तिर्जिनेऽधिपे॥'

—श्लोकवार्त्तिक पृ० ४९२।

आचार्यप्रवर अकलङ्कदेव और विद्यानन्दके इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि वे मोहनीय एवं घातिकर्मको वेदनीयका सहकारी मानते हैं—विरोधी नहीं।

हम प्रो० सा० से नम्र प्रार्थना करेंगे कि वे उन ग्रन्थकारोंके, जो उनके मतके विरोधी हैं, वाक्योंको तभी उपस्थित करें जब उनपर पूर्वापरके अनुसंधान और सन्दर्भका स्थिरतासे विचार करलें। यह नीति उनके ही पक्षमें बड़ी विघातक-साधक नहीं—सिद्ध होरही है कि उक्त ग्रन्थोंमें कोई वाक्य या पंक्ति उनके पक्षके जरा भी समर्थक मिले और तुरन्त उन्हें पूर्वापरका विचार किये बिना या तत्तत्स्थलीय विवक्षाओंका समन्वय किये बिना प्रस्तुत कर दिया, भले ही उनसे उनका मन्तव्य सिद्ध न होता हो। यह एक मामूली समझदार भी समझता है कि ग्रन्थकारोंकी यह पद्धति

होती है कि जो विषय जहाँ मुख्यतः वर्णनीय होता है वहां उसका वे अन्वय और व्यतिरेक दोनों द्वारा इस ढंगसे साधन करते हैं कि पाठक, उसकी सत्ता और अनिवार्यता स्वीकार करलें। यही बात वेदनीयको सिद्ध करनेमें उसके प्रकरणमें राजवार्तिककार और श्लोकवार्तिककारने अपनाई है अर्थात् मोहनीयको वेदनीयका विरोधी कह कर उसका स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध किया है। तात्पर्य यह कि जो कार्य वेदनीयका है वह मोहनीय द्वारा नहीं किया जासकता है हां, उसका सहायक हो सकता है। इतने अर्थमें ही वहां अकलंक और विद्यानन्द एवं दूसरे आचार्योंने दोनोंमें विरोध बतलाया है।

अतएव स्पष्ट है कि वेदनीय फल देनेमें मोहनीय या घातिकर्मकी अपेक्षा करता है और इस लिये इन दोनोंमें विरोध नामकी कोई चीज संभवित नहीं है। इस सम्बन्धमें गो० क० गाथा १६, न्यायकुमुद पृ० ८५६, चामुण्डराय कृत चारित्रसार पृ० ५७-५८, अनगारधर्मामृत पृ० ४६५, शतक, प्रथ० टी० पृ० २८, रत्नकरण्ड टी० पृ० ६, और भावसं० श्लोक ३१६ आदि शास्त्रीय प्रमाण और प्रस्तुत हैं, जहाँ भी दोनोंकी सापेक्षताका विशदतासे सयुक्तिक वर्णन है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (क्रमशः)
२३-६-४६

कौनसा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है?

[परिशिष्ट]

'अनेकान्त' की गत, किरण ३ में मेरे द्वारा उक्त शीर्षकके साथ एक लेख लिखा गया है। उस लेखसे सम्बद्ध कुछ अंश उस समय सामने न होनेसे प्रकाशित होनेसे रह गया था। उसे अब इस किरणमें यहां परिशिष्टके रूपमें दिया जा रहा है।

दमोहके कुण्डलगिरि या कुण्डलपुरकी कोई ऐतिहासिकता भी नहीं है—

जब हम दमोहके पार्श्ववर्ती कुण्डलगिरि या कुण्डलपुरकी ऐतिहासिकतापर विचार करते हैं तो उसके कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। केवल विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीका उत्कीर्ण हुआ एक शिलालेख प्राप्त होता है, जिसे महाराज छत्रसालने वहां चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराते समय खुदवाया था। कहा जाता है कि कुण्डलपुरमें भट्टारककी गद्दी थी। इस गद्दीपर छत्रसालके समकालमें एक प्रभावशाली एवं मंत्रविद्याके ज्ञाता भट्टारक जब प्रतिष्ठित थे तब उनके प्रभाव एवं आशीर्वादसे छत्रसालने एक बड़ी भारी यवन सेनापर काबू करके उसपर विजय पाई थी। इससे प्रभावित होकर छत्रसालने कुण्डलपुरके चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराया था और मन्दिरके लिये अनेक उपकरणोंके साथ दो मनके करीबका एक वृहद् घंटा (पीतलका) प्रदान किया था, जो बादमें चोरीमें चला गया था और अब वह पन्ना स्टेटमें पकड़ा गया है[1]।

जो हो, यह शिला-लेख विक्रम सं० १७५७ माघसुदी १५ सोमवारको उत्कीर्ण हुआ है और वहींके उक्त चैत्यालयमें खुदा हुआ है। यह लेख इस समय मेरे पास भी है[2]। यह अशुद्ध अधिक है। कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें यशःकीर्ति, ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति (रामदेवपुराणके कर्त्ता), पद्मकीर्ति, सुरेन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य ब्रह्म हुए सुरेन्द्रकीर्तिके

१ यह मुझे मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्रीसे मालूम हुआ है।
२ उक्त पं० जीसे यह शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

(शेषांश टाइटिलके दूसरे पेज पर)

मनुष्यनीके 'संजद' पदके सम्बन्धमें विचारणीय शेष प्रश्न

(ले०—डा० हीरालाल जैन, एम० ए०)

षट्खंडागम जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके सूत्र ९३ में 'संजद' पदकी संदिग्ध अवस्थाको लेकर एक विवाद खड़ा हो गया था। किन्तु मूड़बिद्रीकी मूल ताडपत्रीय प्रतियोंमें 'संजद' पद मिल जाने, स्वयं सूत्रोंमें अन्य सर्वत्र मनुष्यनीके 'संजद' पद ग्रहण किये जाने, उसी सूत्रकी धवला टीकापर समुचित विचार करने एवं आलापाधिकारपर दृष्टि डालने, गोम्मटसारमें भी उसी परम्पराके पाये जाने एवं बम्बईके तत्संबंधी शास्त्रार्थ और पत्रोंमें की गई ऊहापोह तथा फरवरी १९४६ के अनेकान्तमें प्रकाशित 'संजद पदके संबंधमें अकलंकदेवका महत्वपूर्ण अभिमत' शीर्षक लेखमें बतलाये गये राजवार्तिकके उल्लेखसे यह बात अब भलीभांति प्रमाणित हो चुकी है कि उस सूत्रमें 'संजद' पाठ अनिवार्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सिद्धान्त में सर्वत्र मनुष्यनीके भी चौदहों गुणस्थान माने गये हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थानोंका विधान होनेपर भी उसके छठे आदि गुणस्थानोंका निषेध माना जा सकता है? उक्त सूत्रके सम्बन्धमें धवला टीका और राजवार्तिकमें यह प्रतिपादन पाया जाता है कि मनुष्यनीके चौदह गुणस्थान भाववेदकी अपेक्षा ही होते हैं, किन्तु द्रव्यवेद की अपेक्षा उनके केवल पाँच ही गुणस्थान हो सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यके स्त्री-वेदका उदय होते हुए भी शरीर पुरुषाकार हो, वही चौदहों गुणस्थानोंकी योग्यता रख सकता है। किन्तु जिसका शरीर स्त्री-आकार हो उसके चौदह नहीं, केवल पांच गुणस्थानोंकी योग्यता हो सकती है, इस से ऊपरके गुणस्थानों की नहीं। इस संबन्धमें धवला-कारने जो समाधान किया है उसपर मैं अपने विचार 'जैनसिद्धान्त भास्कर' (जून १९४४) में प्रकाशित 'क्या षट्खंडागमसूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेनाचार्यका अभिप्राय एक ही है?' शीर्षक लेख में प्रकट कर चुका हूँ। वहाँ बतलाई गई कठिनाइयों का अभी तक कोई उचित समाधान नहीं किया गया।

सिद्धान्तकारोंका ठीक अभिप्राय समझनेके लिये यहां हमें दो चार प्रमुख बातोंपर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। पहली बात विचारणीय यह है कि गुणस्थानादि प्रतिपादनके लिये मनुष्य जातिका किस प्रकार वर्गीकरण किया गया है। षट्खंडागम सूत्रपाठ, धवला टीका, राजवार्तिक व गोम्मटसारके प्रतिपादन से सुस्पष्ट है कि गुणस्थानादि व्यवस्थाओंके लिये तिर्यंच जातिका पांच व मनुष्य जातिका चार प्रकारसे वर्गीकरण किया गया है जिसकी व्यवस्था गोम्मटसार जीवकांड गाथा १४९ में इस प्रकार पाई जाती है—

> सामण्णा पंचिंदी पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता।
> तिरिया णरा तहा वि य पंचिंदियभंगदो हीणा ॥

अर्थात्—सामान्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, योनिनी और अपर्याप्त, यह तिर्यंचोंका वर्गीकरण है। एवं इनमेंसे पंचेन्द्रियको छोड़कर शेष चार अर्थात् सामान्य, पर्याप्त, योनिनी और अपर्याप्त, यह मनुष्य जातिका वर्गीकरण है। ये ही विभाग षट्खंडागम सूत्रों, धवला टीका आदिमें तिर्यंच व मनुष्य जातिका भेद स्पष्ट निर्दिष्ट करनेके लिये प्रकरणानुसार कुछ नामोंके हेरफेरसे सर्वत्र स्वीकार किये गये हैं। उदाहरणार्थ, तिर्यंच योनिनीके लिये सत्प्ररूपणा सूत्र ८७ में 'पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणी' राजवार्तिक पृष्ठ ३३१ पर 'तिरश्ची' धवला टीका सत्प्ररूपणा पृ० २०८ में 'पंचेन्द्रियपर्याप्ततिरश्च्यः' व जीवकाण्ड गाथा १५५ में केवल 'जोणिणी' तथा गाथा २७६ में 'जोणिणी तिरिक्ख' शब्दका प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार

मनुष्य जातिके योनिनी जीवोंके लिये सत्प्ररूपणा सूत्र ६२ में 'मनुष्यनी' व राजवार्तिक पृ० ३३१ तथा जीवकाण्ड गाथा १५८ में 'मानुषी' शब्दका ग्रहण पाया जाता है। इस विभागके लिये जो सामान्य 'योनिनी' शब्दका प्रयोग किया गया है उससे सुस्पष्ट है कि उक्त विभागमें दृष्टि शरीरगत भेदोंपर ही रखी गई है और यही बात गोम्मटसारकी समस्त टीकाओं —दोनों संस्कृत और एक हिन्दी—में तिर्यंच योनिनी तथा मनुष्य योनिनी दोनोंका 'द्रव्यस्त्री' अर्थ करके प्रकट की गई है। यथा 'पर्याप्तमनुष्यराशेः त्रिचतुर्भागो मानुषीणां द्रव्यस्त्रीणां परिमाणं भवति।'

इस प्रकार शास्त्रकारोंका मनुष्यनीसे अभिप्राय द्रव्यस्त्रीका ही सिद्ध होता है। पंडित फूलचन्दजी शास्त्रीने १४ अक्तूबर १९४३ के जैनसन्देशमें अपने एक लेख द्वारा इसे 'जीवकाण्डके टीकाकारोंकी भूल' बतलानेका प्रयत्न किया। किन्तु तबसे मेरे उनके बीच उत्तर प्रत्युत्तर रूप जो दश लेख प्रकाशित हुए हैं उनके अनुसार उक्त टीकाकारोंके कथनमें कोई भूल सिद्ध नहीं होती। इस विषयपर मेरा अन्तिम लेख १७-५-४५ के जैनसन्देशमें प्रकट हुआ था। तबसे फिर पण्डितजीका उस विषयपर कोई उत्तर प्रकट नहीं हुआ।

शास्त्रकारोंके जाति संबंधी भेदोंकी व्यवस्थामें निम्न बातें ध्यान देकर विचारने योग्य हैं—

१—पर्याप्त मनुष्य जाति केवल दो भागोंमें विभाजित की गई है—मनुष्यनी अर्थात् स्त्री और शेष अर्थात् पुरुष। इससे मनुष्यकी शरीराकृति अनुसार केवल दो जातियोंका अभिप्राय पाया जाता है। यदि सूत्रकारकी दृष्टि भाववेदपर होती तो नपुंसक वेदकी दृष्टिसे भी पर्याप्त मनुष्य राशिके भीतर एक अलग विभाग निर्दिष्ट किया गया होता, जैसाकि वेदमार्गणामें पाया जाता है। यदि यहां भाववेदकी ही अपेक्षा विभाग किया गया है तो पर्याप्त नपुंसक वेदी मनुष्यका अलग विभाग क्यों नहीं किया गया?

२—पूर्वोक्त समस्त विभाग व प्रतिपादन सूत्रकारने योगमार्गणामें काययोगके प्रसंगमें किया है, अतएव उक्त विभागमें कायगत विशेषताओंकी ही प्रधानता स्वीकारकी जासकती है। यदि सूत्रकार उक्त कथनमें गतिकी या भाववेदकी प्रधानता स्वीकार करना चाहते थे तो उन्होंने गति मार्गणा या वेदमार्गणामें यह प्रतिपादन क्यों नहीं किया और काययोगके सिलसिलेमें ही क्यों किया?

३—जहां मनुष्य-मनुष्यनी विभागसे कथन किया गया वहां सर्वत्र दोनोंके चौदह गुणस्थान कहे गये हैं, और जहां भाववेदी स्त्री या पुरुषका कथन है वहां केवल नौवें गुणस्थान तकका ही है, उससे ऊपर जीव अपगतवेदी कहा गया है। इसके लिये वेदमार्गणा देखिये। अब यदि योगमार्गणा और वेदमार्गणा दोनोंमें भाववेदकी अपेक्षा ही प्रतिपादन है, तो इस सुव्यवस्थित भिन्न दो प्रकारकी कथन शैलीका कारण क्या है?

४—यदि मनुष्यनीके गुणस्थान प्रतिपादनमें ऐसे जीव ग्रहण किये गये हैं जिनके शरीर पुरुषाकार और वेदोदय स्त्रीका है, तो जिन मनुष्योंका शरीर स्त्रीका और वेदोदय पुरुषका होगा उनका समावेश मनुष्यनी वर्गमें है या नहीं? यदि है तो उनके भी चौदहों गुणस्थानोंका निषेध सूत्रके कौनसे संकेतसे फलित होता है? और यदि उनका समावेश मनुष्यनी वर्गमें नहीं होता तो पारिशेष न्यायसे उनके पर्याप्त मनुष्य कथित चौदहों गुणस्थान मानना ही पड़ेंगे। यदि किसी अन्य सूत्र द्वारा उनका और प्रकार नियमन होता हो तो बतलाया जाय?

५—षट्खंडागम सूत्रों व गोम्मटसारकी गाथाओं-में यदि कहीं भी स्त्रीके छठे आदि गुणस्थानोंका निषेध व केवल पांच ही गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया गया हो तो उन उल्लेखोंको प्रस्तुत करना चाहिये। यदि इन ग्रंथोंमें ऐसे उल्लेख न पाये जाते हों तो यह देखनेका प्रयत्न करना चाहिये कि सिद्धान्तमें यह मान्यता कबसे व कौनसे ग्रंथाधार द्वारा प्रारंभ होती है?

द्रव्यस्त्रीके छठे आदि गुणस्थानोंके निषेधकी

बात इस मान्यतापर अवलंबित है कि स्त्रीवेदी जीवके पुरुषाकार शरीर होना भी संभव है और पुरुषवेदी जीवके स्त्रीआकार। अतएव स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि क्या कर्म सिद्धांतकी व्यवस्थाओंके अनुसार ऐसा होना संभव है? उक्त प्रकार भाव और द्रव्य वेदके वैषम्यकी संभावना दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो जीवनमें भाववेदके परिवर्तनसे, या दूसरे जन्मसे ही। प्रथम संभावनाका तो शास्त्रकारोंने स्पष्ट वाक्यों एवं कालादिकी व्यवस्थाओं द्वारा निषेध ही कर दिया है कि जीवनमें कभी भावभेद बदल ही नहीं सकता। दूसरी सम्भावनापर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। शरीर रचनाके जो नियम शास्त्रमें पाये जाते हैं उनके अनुसार भवके प्रथम समयसे जीवके जो भाव होते हैं उन्हींके अनुसार वह योनिस्थलमें पहुँच कर अपने शरीर और अवयवों की रचना करता है और उन्हींके द्वारा वह अपना कर्मविपाक भोगता है। इसी कारण अंगोपांग नाम कर्मोंके उपभेदोंमें केवल शरीरोपयोगी पुद्गल वर्गणाओंका नामोल्लेख मात्र किया गया है। उनकी अंग विशेष रचना जीवविपाकी प्रकृतियोंके आधीन है। उत्पत्ति स्थानमें जीव बाहरसे केवल आहार आदि वर्गणाओंके पुद्गल स्कन्ध मात्र ग्रहण करता है जिनसे फिर, यदि वह देव या नारकी है तो, अपनी वैक्रियक शरीर रचना करता है, अथवा मनुष्य या तिर्यंच है तो औदारिक शरीर रचना। उसके जितनी इन्द्रियोंका क्षयोपशम होगा उतने ही इन्द्रियावयवोंका वह अपनी जाति अनुसार निर्माण करेगा। यदि उसके नो इन्द्रियावरणका क्षयोपशम भी हो तो हो वह द्रव्यमनकी भी रचना करेगा। इसी प्रकार जीवके जो भाववेदका उदय होगा उसीके अनुसार वह अपर्याप्तकालमें अपने शरीरकी अवश्य रचना करेगा और जीवनमें उसी अवयवसे वह अपना वेदोदय सार्थक करेगा। भाव और द्रव्यकी इस आनुषंगिक व्यवस्थाके अनुसार स्त्रीवेदी जीवके पुरुष शरीरकी रचना असंभव प्रतीत होती है। पं० फूलचन्दजी शास्त्री, पं० जीवन्धरजी शास्त्री, पं० राजेन्द्रकुमारजी शास्त्री व पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके साथ मेरी जो उत्तर-प्रत्युत्तररूपसे तत्त्वचर्चा हुई उसमें मैं इस विषय का पर्याप्त विवेचन कर चुका हूँ। बार बार मैं इस बातपर विचार करने के लिये प्रेरणा करता आया हूँ कि क्या स्त्रीवेदीके पुरुष शरीरकी उत्पत्ति होना संभव है। किन्तु वे उस प्रश्नको टालते ही रहे। अन्ततः ता० २६।३।४५ के जैनसन्देशमें मेरे एक लेखका उत्तर देते हुए पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने वेद-वैषम्यके उत्पन्न होनेकी यह व्यवस्था प्रकट की कि—

"यदि कोई स्त्रीवेदी स्त्रीवेदके साथ वीर्यान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तरायका प्रकृष्ट क्षयोपशम तथा साताके साथ गर्भमें जाता है और वहाँ यदि वीर्यकी प्रधानता हुई तो उसके पुरुषका शरीर बन जाता है। इसी प्रकार यदि कोई पुरुष वेदी उक्त अन्तरायोंके साधारण क्षयोपशय तथा असाता वेदनीय आदि कर्मोंके साथ गर्भमें जाता है और उसे वहाँ रजोप्रधान उत्पादन सामग्री मिलती है तो उसके स्त्री का शरीर बन जाता है।"

उनके इस प्रतिपादनपर मैंने निम्न शंकाएं उपस्थित कीं कि:—

१—यदि स्त्रीवेदी जीवके उक्त जीवविपाकी प्रकृतियोंका प्रकृष्ट क्षयोपशम व साताका उदय होते हुए भी योनिस्थलमें वीर्यकी प्रधानता न हुई तो उसके स्त्री शरीर उत्पन्न होगा या पुरुष? यदि फिर भी पुरुष शरीर ही उत्पन्न होगा तब वीर्यकी प्रधानता अप्रधानता निरर्थक है। और यदि स्त्री शरीर ही होगा तो उस जीवका उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट क्षयोपशम व साता—असाताका उदय अकिंचित्कर सिद्ध हुआ?

२—साधारण क्षयोपशमसे जो कार्य होते हैं वही कार्य प्रकृष्ट क्षयोपशमसे और भी उत्तम रीतिसे होना चाहिये। फिर उसमें कार्यकी विपरीतता क्यों और किस सीमापर आजाती है?

३—भोगभूमिमें उक्त कर्मोंका प्रकृष्ट क्षयोपशम व साताका उदय होता है या साधारण क्षयोपशम और असाताका उदय? यदि प्रकृष्ट होता है तो वहां स्त्रीवेदियोंका शरीर भी पुरुषाकार बनना चाहिये, और

यदि साधारण भी होता है तो कितने ही पुरुषवेदियों-की शरीर रचना स्त्रीकी होगी ? युगलियोंको एक ही योनिस्थलमें तो वीर्यकी ही या रजकी ही प्रधानता मिलेगी। तब उनमें क्यों वेदवैषम्य उत्पन्न नहीं हो पाता ?

४—स्त्रीवेदोदयसे जीवके पुरुषसे मैथुनकी अभिलाषा उत्पन्न होगी, स्त्रीमैथुनकी कदापि नहीं। और इसी अभिलाषाकी तृप्तिके लिये उसके अन्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशम व साताके उदयसे स्त्री द्रव्यवेद ही उत्पन्न होना चाहिये ? किन्तु आपकी उक्त व्यवस्थानुसार उस जीवके उसकी अभिलाषासे विपरीत अवयव उत्पन्न होगा जिसके द्वारा वह कदापि अपनी तृप्ति नहीं कर सकेगा। तब फिर यह कार्य अन्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशम व साताके उदयसे उत्पन्न कहा जाना चाहिये या इससे विपरीत ?

५—कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थानुसार तो जीव योनिस्थलमें पहुँचकर आहार पर्याप्तिकालमें केवल आहारवर्गणाके पुद्गल स्कंध मात्र ग्रहण करता है जिनको ही खल-रस भाग रूप परिणमा कर वह अपने शरीरादि पर्याप्तिके कालमें अपने परिणामानुसार शरीर-अवयवोंकी रचना करता है। तब फिर वीर्यकी प्रधानता व अप्रधानता किस प्रकार अवयव रचनामें कारणीभूत होती है, यह शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा समझाया जाय ?

मेरी इन शंकाओंके उपस्थित किये जानेपर पंडितजीने न तो वह मेरा लेख प्रकाशित करना उचित समझा और न शंकाओंके समाधान करनेकी आवश्यकता समझी। बल्कि मेरे लेखको छापनेका वायदा करते करते अन्ततः सन्देशके सम्पादकीय लेखमें यह प्रकट कर दिया गया कि "अब हम यही उचित समझते हैं कि इस चर्चाको सन्देशमें समाप्त कर दिया जाय।" इस प्रकार उक्त सैद्धान्तिक गुत्थी उलझीकी उलझी ही आँखोंके ओझल रख दी गई। शास्त्रीय विषयोंपर विद्वानोंकी ऐसी उपेक्षावृत्तिको देखकर बड़ी निराशा होती है। किन्तु जान पड़ता है अनेकान्तके सुविज्ञ सम्पादक इस विषयको अभी भी निर्णयकी ओर गतिशील बनानेकी अभिलाषा रखते हैं। अतएव जिस तत्परतासे कुछ विद्वानोंने 'सजद' पदकी चर्चाको उसके अन्तिम निर्णयपर पहुँचा दिया है, उसी प्रकार वे उक्त प्रश्नोंपर विचार कर उससे फलित होने वाली व्यवस्थाओंको भी निर्णयोन्मुख करेंगे, ऐसी आशा है।

जैन वाङ्मयका प्रथमानुयोग

(लेखक—बा० ज्योतिप्रासद जैन, विशारद एम० ए०, एल-एल० बी०)

प्राचीनतम अनुश्रुतिके आधारपर जैन वाङ्मयका मूलाधार धर्म प्रवर्तक जैन तीर्थङ्करोंका धर्मोपदेश था। अनेक प्रागैतिहासिक विशेषज्ञोंके मतानुसार धर्म और सभ्यताका सर्व प्रथम उदय भारतवर्षमें हुआ था। और इस बातके भी प्रबल प्रमाण उपलब्ध हैं। कि प्रथम जैन तीर्थङ्कर आदिदेव भगवान ऋषभ उक्त धर्म, सभ्यता तथा संस्कृतिके मूल प्रवर्तक थे। भारतीय अनुश्रुतिकी जैनधाराके अनुसार उन्हीं ऋषभदेवने सर्व प्रथम जनताको धर्मोपदेश दिया—जैनधर्मका सर्व-प्रथम प्रतिपादन किया, यह बात प्रागैतिहासिक काल (Prehistoric times) के अन्त तथा अशुद्ध ? ऐतिहासिक काल (Pro to historicti mes) के प्रारम्भ की है। भगवान ऋषभदेवके उपरान्त, उसी अशुद्ध ऐतिहासिक कालमें भगवान नेमिनाथ पर्यन्त बीस जैन तीर्थङ्कर और हुए और उन सबने अपने अपने समयमें भगवान ऋषभद्वारा

प्रतिपादित जिनधर्मका प्रचार किया। अधिकांश आधुनिक भारतीय इतिहासज्ञ विद्वानोंके मतानुसार सन् ई० पू० १५०० के लगभग प्रसिद्ध महाभारत युद्धकी समाप्तिसे भारतवर्षका नियमित इतिहास प्रारम्भ होजाता है। महाभारत-युद्धके समय बाईसवें जैनतीर्थङ्कर अरिष्टनेमि जैनधर्मका प्रचार कर रहे थे। उनके उपरान्त ई० पू० ८७७-७७७ में २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथका तीर्थ चला। और अन्तमें चौबीसवें जैन तीर्थंकर वर्धमान-महावीरने (ई० पू० ६००-६२७ उसी अहिंसामूलक, स्याद्वादमयी, कर्म-सिद्धान्तपर आधारित साम्यवादी जैन-धर्मका पुनरुद्धार किया। सन् ई० पू० ५५८ में पञ्चशैलपुर (राजगृह) के विपुलाचलपर्वतसे उनका सर्वप्रथम उपदेश हुआ और उक्त शान्तिमयी अक्षय सुखप्रद उपदेशका प्रवाह भगवानके निर्वाणपर्यन्त लगभग ३० वर्ष तक निरंतर प्रवाहित रहा।

भगवानने जो कुछ उपदेश दिया था उसे उनके प्रधान शिष्यों इन्द्रभूति-गौतम आदि गणधरोंने द्वादशाङ्गश्रुतके रूपमें रचनाबद्ध किया। द्वादशाङ्गश्रुतके भेदप्रभेद तथा विस्तार बहुत अधिक हैं और उसका अधिकांश आज उपलब्ध नहीं है।

इसी द्वादशाङ्गश्रुतके बारहवें भेद दृष्टिप्रवादाङ्गका तृतीयभेद प्रथमानुयोग था। मूलप्रथमानुयोग अर्धमागधी भाषामें था और इसका विस्तार केवल ५००० पदप्रमाण था। अन्य अधिकारोंकी अपेक्षा प्रथमानुयोगका इतना कम विस्तार था कि इससे यह अनुमान होता है कि इस अनुयोगके अन्तर्गत विषयका बहुत संक्षिप्त वर्णन किया गया था।

इसमें भगवान महावीर पर्यन्तके बारह अतीत जिनवंशों तथा राजवंशोंका इतिवृत्त था, साथ ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि त्रेसठ महापुरुषों (शलाकापुरुषों) के जीवनचरित्र तथा पूर्वभवोंका वर्णन था, इनके अतिरिक्त अन्य भी मोक्षमार्गमें प्रयत्नशील अनेक महान आत्मा स्त्री-पुरुषोंके वृत्तान्त थे।

तीर्थङ्कर ^-^र्तक होनेसे पुरुषश्रेष्ठ अर्थात 'प्रथम' पुरुष हैं, और उनके सम्यक्त्वप्राप्तिलक्षण पूर्वभवादिकका वर्णन करनेवाला होनेके कारणसे यह अनुयोग 'प्रथमानुयोग' कहलाया। शेष शलाकापुरुष तथा अन्य मोक्षमार्गमें प्रयत्नशील महान आत्माएँ भी प्रथमवर्गकी ही होनेसे इस अनुयोगमें उनका वर्णन होता है। मुमुक्षुओंको धर्मका रहस्य भली प्रकार समझानेके लिये तीर्थंकरों तथा अन्य आचार्यादिकोंको दृष्टान्तादिके लिये परम आवश्यक एवं उपयोगी इस अनुयोगका सबसे आगे और बार बार कथन करना होता है अतः यह 'प्रथमानुयोग' कहलाया।

इस सबके अतिरिक्त, जैन तीर्थंकर तथा जैनाचार्य भारी मनोविज्ञानवेत्ता होते थे। वे जानते थे कि अधिकांश मानव समाज अल्पबुद्धिका धारक होता है और इसी कारण कथाप्रिय भी। आकर्षक ढंगसे कही गई अथवा लिखी गई उपदेशप्रद तथा नीत्यात्मक कथा-कहानीको आबालवृद्ध, स्त्री, पुरुष, शिक्षित अशिक्षित अधिकांश व्यक्ति बड़े चावसे पढ़ते सुनते हैं। साथ ही, अपने पूर्वजोंके चरित्र व उनकी स्मृति को अपने अतीत इतिहासको स्थाई बनाये रखनेकी प्रवृत्ति भी मनुष्योंमें स्वभावतया होती है। दूसरे गूढ़ धार्मिक सिद्धान्तों एवं तत्वज्ञानको, शुष्क चारित्र और नियमोंको जनसाधारण इतना शीघ्र और सुगमतासे हृदयंगत नहीं करता जितना कि वह अपनेसे पूर्वमें हुए अनुश्रुत महापुरुषोंके जीवन वृत्तान्तों तथा पाप-पुण्य फलमयी दृष्टान्तोंको। इन कथनोंका सजीव वर्णन उनके हृत्तलको स्पर्श करता है, उन्हें प्रभावित कर देता है, और परिणामस्वरूप पापसे भय तथा पुण्य कार्योंसे प्रीति करना सिखलाता है। इसी लिये जैनाचार्योंने 'प्रथम' का अर्थ 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि' किया है। इन शब्दोंसे तात्पर्य उन अधिकांश देहधारियोंसे है जो न व्युत्पन्नमति ही हैं और न धर्म तथा धार्मिक क्रियाओंके प्रति ही विशेष खिचाव महसूस करते हैं, जिन्होंने धर्मका रहस्य न समझा है, न अनुभव किया है और न तदनुकूल आचरण ही किया है। इस प्रकार धर्ममार्गपर न आरूढ हुए अल्पबुद्धि जनोंके हितार्थ जो धार्मिक साहित्यका अंग जातीय

अनुश्रुतिके आधारपर जैनाचार्योंने सुरक्षित रक्खा उसे उन्होंने प्रथमानुयोगका नाम दिया।

जैसाकि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित प्रथमानुयोगके विषयको गौतमादि गणधरोंने पाँच सहस्र पद प्रमाण रचनाबद्ध किया था, किन्तु उससमय वह रचना लिपिबद्ध नहीं हुई थी, लगभग उनके पाँचसौ वर्ष पर्यन्त प्रथमानुयोगका विषय गुरुशिष्य परम्परासे 'नामावली निबद्ध गाथाओं' तथा 'कथासूत्रों' के रूपमें मौखिक द्वारसे ही प्रवाहित होता रहा। और ईस्वी सन्के प्रारम्भकालमें विच्छिन्न होजानेके भयसे तथा लिपिका विशेष प्रचार होजानेके कारण अन्य धर्म-ग्रन्थोंके साथ साथ वह भी लिपिबद्ध किया जाने लगा।

वीरनिर्वाण संवत् ५३० अर्थात् ईस्वी सन् ३ में आचार्य विमलसूरिने उपर्युक्त नामावलीनिबद्ध गाथाओं तथा कथासूत्रोंके आधारपर प्राकृत 'पउमचरियकी रचना की। २री ३री शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने ग्रन्थोंमें, तीर्थंकरादिके रूपमें अनेक पुराणपुरुषोंका निर्देश किया है ५ वीं-६ ठी शताब्दीमें श्वेताम्बर-सूत्र ग्रन्थ लिपिबद्ध हुए। इनमें प्राचीन तथा महावीर कालीन अनेक अनुश्रुत कथानक सुरक्षित हैं। ७ वीं शताब्दीमें रविषेणाचार्यने संस्कृत पद्मचरित्र, जटासिंहनन्दिने वारांगचरित्र, महाकवि धनञ्जयने प्रसिद्ध द्विसंधान काव्य की रचनायें कीं।

८ वीं शताब्दीमें आचार्य हरिषेणने प्रसिद्ध कथाकोष, जिनसेनने आदिपुराण व पार्श्वाभ्युदय ग्रन्थ रचे। ९ वीं शताब्दीमें आचार्य गुणभद्रने उत्तरपुराण, जिनसेन काष्ठासंघीने हरिवंशपुराण, महाकवि पुष्पदंतने अपभ्रंशमहापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ आदि रचनायें कीं।

प्रथमानुयोगके उपर्युक्त प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थोंके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य पुराण, चरित्र, कथाग्रन्थ, गद्य, पद्य, काव्य-चम्पू रासा आदिके रूपमें, प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश, कन्नड़ी, हिन्दी, गुजराती, मराठी भाषाओंमें रचे गये। तामिल तथा तैलुगु भाषाओंमें भी ईस्वी सन्के प्रारम्भकालसे ही प्रथमानुयोगके प्रसिद्ध एवं विशाल काव्यग्रन्थ मिलते हैं।

वास्तवमें वर्तमान जैनवाङ्मयमें अन्य साहित्य की अपेक्षा, प्रथमानुयोग सम्बन्धी साहित्य सर्वाधिक है और यद्यपि इस अनुयोगका प्रधान उद्देश्य नीत्यात्मक तथा धर्मकार्योंमें अभिरुचि एवं पापकार्योंसे भीरुताकी प्रवृत्तियोंका पोषण करना ही रहा है तथापि इस साहित्यका ऐतिहासिक महत्व कुछ कम नहीं है। प्राचीन भारतीय अनुश्रुतिकी जैन, हिन्दू, बौद्धनामक त्रिविध धारामेंसे यह जैनधाराका प्रतिनिधायक है। जहां इसके स्वाध्यायसे धर्मप्रेमियोंको धार्मिक कार्योंमें प्रोत्साहन मिलता है, जहां जनसाधारणको रुचिकर कथाप्रसंगोंके मिस सच्चारित्रका उपदेश मिलता है वहाँ विद्वानों और इतिहासकारोंको भारतवर्षके प्राचीनकाल संबंधी इतिहास निर्माणार्थ यथेष्ट प्रामाणिक सामग्री भी मिल जाती है।
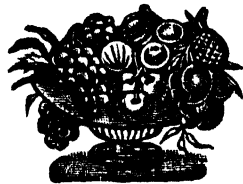
एक ऐतिहासिक अन्तःसाम्प्रदायिक निर्णय

(ले० बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम०, ए०,)

वर्तमानके सभी अन्तर्राष्ट्रीय महान विचारक विश्व-मैत्री और विश्व-बंधुत्वका प्रचार कर रहे हैं । विभिन्न देशीय राष्ट्रोंकी प्रतिद्वन्द्वताके फल-स्वरूप होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्वों, संहारकारी युद्धों,सबल राष्ट्रों द्वारा निर्बलोंका आर्थिक शोषण एवं राजनैतिक-परतन्त्रता आदि अप्रिय अश्रेयस्कर घटनाओंका अन्त करनेके लिये ये मानवताके प्रेमी एक विश्वव्यापी साम्यवादी सभ्य एवं सुसंस्कृत राष्ट्र की स्थापना के स्वप्न देख रहे हैं । तथापि यह युग प्रधानतया विभिन्न देशीय राष्ट्रीयताका ही युग है । किन्तु भारतवर्षके दुर्भाग्य से इस देशमें वह स्वतन्त्र स्वदेशीय राष्ट्रीयता भी सुलभ नहीं हो रही है । कांग्रेस जैसी संस्थाओं, महात्मा गांधी जैसे नेताओं और देश की स्वतन्त्रताके लिये अपना जीवन होम देने वाले असंख्य देशभक्तोंके सतत् प्रयत्नके परिणाम-स्वरूप जो एक प्रकार की भारतीय राष्ट्रीयता दीख भी पड़ती है उसमें भी भारी घुन लगे हुए हैं । राष्ट्रीयता के इन घुनों में सर्वाधिक विनाशकारी घुन धार्मिक विद्वेष एवं साम्प्रदायिक द्वन्द्व हैं ।

इस देशमें अनेक धर्म प्रचलित हैं और उन धर्मों से सम्बंधित उतनी ही जातियां अथवा समाज हैं । इनमें से कुछ बहुसंख्यक हैं कुछ अल्पसंख्यक । एक ओर जैन समाज है जो एक अत्यन्त प्राचीन, विशुद्ध भारतीय धर्म एवं संस्कृति से सम्बद्ध है । इसकी संख्या अल्प होते हुए भी यह एक शिक्षित, सुसंस्कृत, समृद्ध एवं शान्तिप्रिय समाज है, जो देशमें सर्वत्र फैला हुआ है । इसकी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक देन देशके लिये महान गौरवकी वस्तु है । आधुनिक समय में भी सार्वजनिक हितके कार्योंमें तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में जैनियोंका भाग और स्वातन्त्र्य संग्राममें इनका बलिदान, अपनी संख्याके हिसाबसे किसी भी जैनेतर समाजकी अपेक्षा कम नहीं है । समस्त जैन समाज भारत की अखण्ड राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता का समर्थक तथा सहायक है । फिर भी इसकी कोई आवाज नहीं—प्रायः इस समाजकी उपेक्षा ही की जाती है । राष्ट्रीय संस्थाओं और उनकी योजनाओंमें भी जैनोंकी अवहेलना ही की जाती है । बहुधा उस हिन्दु समाज के, जिसके साथ जैन समाज का सांस्कृतिक एवं सामाजिक सम्पर्क सदैव से सर्वाधिक रहा है और अब भी है, विद्वान और नेता कहलाने वाले व्यक्ति जैनों का अपमान करनेसे, जैन धर्म और संस्कृतिके साथ अन्याय करनेसे, इनके प्रति अपना हास्यास्पद धार्मिक विद्वेष और तुच्छ असहिष्णुता प्रकाशित करने से भी नहीं चूकते ।

दूसरी ओर भारतीय मुसलमान हैं । वे भी अल्पसंख्यक ही हैं । इस समाजका भी एक अल्पसंख्यक भाग आज कल मुसलिम लीगके नामसे प्रसिद्ध हो रहा है किन्तु दावा करता है समस्त मुसलिम समाजके प्रतिनिधित्व करनेका । इसके नेता वर्तमान राज्यसत्ताके इशारेसे अथवा अपने निजी स्वार्थ साधनाकी धुनमें भारतीय राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रताके सबसे बड़े शत्रु बने हुए हैं । इनके मारे कांग्रेस जैसी संस्था का भी नाकों दम आ रहा है, और देश की शान्ति प्रिय जनताका जन धन खतरे में पड़ा दीखता है । इस लीगकी उपेक्षा करनेकी शक्ति अथवा इच्छा न कांग्रेसमें है न सरकारमें । देशकी सर्वोदय उन्नति में यह सबसे बड़ी बाधा है और इसका मूल कारण धर्म वैभिन्यजन्य विद्वेष एवं असहिष्णुता ही है ।

सारे विविध धर्म न तो कभी एक हुए हैं और न हो सकते हैं, किन्तु उनके अनुयायियोंके बीच परस्पर सद्भाव और सौहार्द्र सदा ही बन सकता है । धर्म आत्माकी वस्तु है, इसका प्रश्न व्यक्तिगत बनाया जा सकता है । और प्रत्येक

धर्मके वास्तविक रूपमें पालन करने वालेको कभी भी किसी दूसरे धर्मसे अथवा उसके अनुयायियोंमें विद्वेष नहीं हो सकता। जब कभी ऐसा विद्वेष होता है तो वह अपने धर्मकी वास्तविकताको भुला देने वाले कुछ एक मतलब लोगोंके कारण ही होता है। और यदि जनसाधारण अथवा विविध धर्मों और समाजोंके नेता चाहें तो समस्त धार्मिक विद्वेष एवं साम्प्रदायिक द्वन्द्वों (झगड़ों) का अन्त सहज ही हो सकता है और परस्पर सद्भाव तथा सौहार्द्र स्थापित होना कुछ भी कठिन नहीं। इसके अतिरिक्त यदि विद्यमान राज्य-सत्ता ही इस बातका प्रयत्न करे तो वह भी सरलतामें इस कार्यमें सफल हो सकती है।

राज्यसत्ता-द्वारा इस प्रकारकी एक महत्वपूर्ण सफलता का ज्वलंत उदाहरण भारतवर्षके मध्यकालीन इतिहासमें मिलता है। यह घटना विजयनगर राज्यके प्रारंभिक कालकी है। विजयनगर साम्राज्यकी उत्पत्ति, उत्कर्ष और पतन मध्ययुगीन भारतकी महत्वपूर्ण एवं आश्चर्यजनक घटनाएं हैं। सन् १३४६ ई०में दक्षिणम विजयनगर के हिन्दु-साम्राज्यकी स्थापना हुई थी। यह वह समय था जब एक ओर योग्य एवं समर्थ नेताओंके प्रभाव में तथा नवोदित शैव वैष्णव आदि हिन्दु सम्प्रदायोंके प्रबल प्रचारके कारण भारतीय इतिहासमें जैनियोंके स्वर्णयुगका अन्त हो रहा था, और दूसरी ओर विदेशी आक्रमणकारी मुसलमान देशकी स्वतन्त्रताका अपहरण कर रहे थे। उत्तरी भारतमें तो उनका स्थायी साम्राज्य स्थापित हो ही गया था, दक्षिण भारतमें भी वे प्रवेश करने लगे थे। इस बातका श्रेय विजयनगर राज्यको ही है कि उसने लगभग दो सौ वर्ष तक दक्षिण भारतको मुसलमानों द्वारा पराभूत होनेसे बचाये रक्खा। और विजयनगर राज्य की शक्ति और सुदृढ़ताका एक प्रधान कारण उसके राजाओं और शासकोंकी धार्मिक नीति थी जिसका मूलाधार पूर्ण अन्तर्धार्मिक सहिष्णुता था।

ईस्वी सन्के प्रारंभसे ही ईसाकी लगभग ११वीं १२वीं शताब्दी तक, विशेष कर दक्षिण भारतमें, जैनोंका पूर्ण प्राधान्य था, किन्तु उसके पश्चात् श्रीवैष्णव, वीरशैव अथवा जंगम आदि सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति और उनके नयनार, अलवार, लिंगायत आदि नेताओंके विद्वेष पूर्ण प्रबल प्रचारने जैनधर्मको भारी आघात पहुँचाया, उसकी प्रगति रुक गई और ह्रास होने लगा, मतपरिवर्तनके कारण जैनियोंकी संख्या भी न्यून होती चली गई। अस्तु।

१४वीं शताब्दी ईस्वीमें, विजयनगर राज्यकी स्थापना के समय जैनोंकी स्थिति गौण हो चली थी। विजयनगर नरेश स्वयं हिन्दुधर्मानुयायी थे। तथापि उनके साम्राज्यमें संख्या समृद्धि शक्ति और विस्तारकी अपेक्षा सर्वाधिक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक समाज जैनसमाज ही था। अतः विजयनगर नरेशोंकी धार्मिक नीति हिन्दु-जैन प्रश्नको लक्ष्य में रखकर निश्चित एवं निर्मित हुई थी, उसका उद्देश्य इन दोनों धर्मोंके बीच एक प्रकारका समन्वय-सा करते हुए उनके अनुयायियोंमें परस्पर पूर्ण मैत्री एवं सद्भाव स्थापित करके राष्ट्रकी नींवको सुदृढ़ करना था। इस विषय में उन्होंने निष्पक्षता, न्यायपरता तथा सहिष्णुतासे काम लिया। उनकी इस नीतिका परिणाम भी राजा प्रजा दोनों के ही लिये अति हितकर एवं सुखद सिद्ध हुआ।

विजयनगर राज्यकी विवेकपूर्ण धार्मिक नीतिका आभास विजयनगरके प्रथम सम्राट हरिहररायके समयसे ही मिलना शुरु होजाता है। सन् १३६३ ई०में तदत्ताल-स्थित प्राचीन पार्श्वनाथ वस्तीकी मिल्कियत भूमिकी सीमा के सम्बंधमें जैनों और हिन्दुओंके बीच झगड़ा हुआ। सम्राटके पुत्र विरूपाक्ष उस प्रान्तके शासक थे। उन्होंने दोनों दलोंके नेताओंको बुलाकर पूर्ण निष्पक्षता और न्यायके साथ उक्त विवादका निपटारा कर दिया[1]।

किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध अन्तः साम्प्रदायिक निर्णय सन् १३६८ ई०में सम्राट बुक्कारायने दिया था। उसी सन्के एक शिलाभिलेख[2]से पता चलता है कि जनियों और श्रीवैष्णवोंके बीच एक भारी विवाद उपस्थित हो गया था। साम्राज्य के समस्त क्षितों और नगरोंके जैनोंने सम्राट बुक्कारायके सम्मुख एक सम्मिलत प्रार्थनापत्र पेश किया था, जिसमें कहा गया था कि वैष्णव लोग उनके साथ बहुत अन्याय कर रहे हैं। सम्राट ने तुरन्त तत्परता के साथ मामले की जाँच की और अपने दर्बार में दोनों समाजों के समस्त मुखियाओं को इकट्ठा होने

(१) E.C VIII Te.197p,.206-207.
(२)E.C.II 334,p.146-147; IX.18.p.53-54

की आज्ञा दी। अठारहों प्रान्तों के प्रमुख श्रीवैष्णव इकट्ठा हुए, उनके सब आचार्य और प्रधान मठाधीश भी आये, इनके अतिरिक्त सात्त्विक, मौलिक तथा अन्य विविध सम्प्रदायोंके आचार्य, सब ही वर्णों और जातियोंके मुखिया सब ही सामन्त सर्दार तथा अन्य विविध श्रेणियों और वर्गों के प्रधान प्रतिष्ठित व्यक्ति एकत्रित हुए। सब ही स्थानोंसे जैनियोंके भी मुखिया लोग पहुँचे थे। सबके दर्बार में इकट्ठे हो जाने पर महाराज बुक्काराय ने जैनियोंका हाथ वैष्णवोंके हाथमें देकर यह घोषणा की कि–

"जैनदर्शन पूर्ववत् 'पञ्चमहाशब्द' और 'कलश' का अधिकारी है। यदि भक्तों (वैष्णवों) के द्वारा भव्यों (जैनों) के दर्शन (धर्म) को किसी प्रकार की भी क्षति या लाभ पहुँचता है तो वैष्णव लोग उसे अपने ही धर्म की क्षति या लाभ समझें। श्रीवैष्णव को आज्ञा दी जाती है कि वे इस 'शासन' (राजाज्ञा) को साम्राज्यकी सभी बस्तियोंमें घोषित और प्रकाशित कर दें कि जब तक सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं वैष्णवधर्म जैनधर्मकी रक्षा करेगा। वैष्णव और जैन अभिन्न शरीर हैं, उनके बीच कभी कोई भेदभाव होना ही नहीं चाहिये, जैनीगण प्रत्येक घर पीछे एक एक 'हट' (मुद्राविशेष) एकत्रित करके देंगे और वैष्णव लोग एकत्रित द्रव्य के एक भागसे श्रवणबेलगोला की रक्षार्थ बीस रक्षक नियुक्त करेंगे और शेष द्रव्यसे साम्राज्य भरके जीर्ण शीर्ण जिनालयों का मरम्मत पुताई सफ़ाई आदि करायेंगे। जैनोंकी इच्छानुसार तिरुमले के तातय्य नामक प्रतिष्ठित सज्जन को यह कार्य भार सौंपा गया। इसपर जैनीगण प्रतिवर्ष उक्त द्रव्य प्रदान करके पुण्य और यशके भागी होंगे तथा वैष्णव गण उनकी रक्षा करेंगे। जो व्यक्ति इस नियमको तोड़ेगा वह राजद्रोही, संघद्रोही और समुदाय द्रोही समझा जायगा।

कल्लेहा निवासी हार्वी सेट्टीके सुपुत्र बसवि सेट्टीने जिसने कि महाराज की सेवामें जैनोंकी ओरसे प्रार्थनापत्र भेजा था तिरुमले के तातय्य द्वारा इस आज्ञापत्रका प्रचार करवाया। और दोनों ही समाजो (जैन एवं वैष्णव) ने बसवि सेट्टी को 'संघनायक' (सर्वधर्मनायक) पदसे विभूषित किया[3]।

इस आज्ञापत्र से कई बातों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। यह स्पष्ट है कि उस समय विजयनगर साम्राज्य में जैनी सर्वत्र फैले हुए थे, और विशेष कर आनेगुंडी होसनपट्टन, पेनुगोंडा, और कल्लेहा में तो वे अत्यधिक प्रभावशाली थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अठारहों नाडुओं (ज़िलों) के श्रीवैष्णव इन 'भव्यों' के कतिपय सामान्य एवं विशेषाधिकारों का प्रबल विरोध कर रहे थे। झगड़ा इतना अधिक बढ़ गया था कि वह स्थानीय अथवा प्रान्तीय शासकों, या दोनों धर्मों और समाजोंके नायकोंके बस का न रह गया था और विजयनगर सम्राटके सम्मुख उपस्थित किया गया। महाराज ने भी पूरी जाँच पड़तालके बाद विशेष रूपसे बुलाये गये एक सार्वजनिक दर्बार में, दोनों ही धर्मों और समाजों के प्रतिनिधियों, प्रधान राजकर्मचारियों, और अन्य सभी श्रेणियों तथा वर्गोंके मुखियों की उपस्थिति में अपना यह महत्वपूर्ण निर्णय दिया जो निष्पक्ष होनेके साथ साथ न्यायपूर्ण भी था। सभी ने उसे बिना किसी प्रतिवादके स्वीकार कर लिया। और इस आज्ञापत्र को श्रवणबेलगोल तथा कल्लेहाके अतिरिक्त साम्राज्य की सभी बस्तियों में स्वयं वैष्णवों द्वारा शिलाखंडोंपर अङ्कित कराने की राजाज्ञा थी। और उदाराशय जैन श्रेष्ठि बसविसेट्टी को, जो इस मामले में वादी पक्ष का प्रधान प्रतिनिधि था, जैन तथा वैष्णव दोनों ही समाजों ने उसी दर्बार में सर्वसम्मति से सर्वधर्मनायक की उपाधि प्रदान की।

अपने इस आदर्श निर्णय-द्वारा महाराज बुक्कारायने एक अल्पसंख्यक समुदायकी राज्याश्रय प्राप्त बहुसंख्यक समुदायके अत्याचारसे रक्षा भी की, साथ ही साथ उक्त बहुसंख्यक समुदायके स्वत्वों एवं अधिकारों पर भी कोई आघात नहीं किया। दोनोंके बीच मैत्री और सद्भाव स्थापित कर दिया, धार्मिक विद्वेष और तज्जन्य साम्प्रदायिक झगड़ों का बहुत समयके लिये अन्त करादिया। देशकी आन्तरिक शान्ति की ओर से राज्य निश्चिन्त होगया और अपना समय तथा शक्ति बाह्य शत्रुओंसे लोहा लेने तथा व्यापार आदि द्वारा राष्ट्रको समृद्ध और शक्तिशाली बनानेके लिये व्यय करने में समर्थ हो सका। किसी भी एक समुदायका अन्याय पूर्ण पक्षपात करके वह दूसरे समुदायको राज्यका

---

3 Saletore– Medieval Jainism ch. VIII, p .288-292.

विरोधी बना लेना, और इस आन्तरिक अशान्तिके कारण विजयनगर राज्य वैसी उन्नतिको प्राप्त न हो सकता जैसा कि वह हुआ। बुक्कारायकी नीतिका अनुसरण उसके वंशजों ने पूरी तरह किया, आधीनस्थ राजाओं, सामन्तों सर्दारों राजकर्मचारियों और प्रजापर भी उसका पूरा प्रभाव पड़ा। १४वींसे १६वीं शताब्दी तकके अनेक शिलालेखोंमें जैन अजैन दोनों हीके द्वारा अर्हन्त जिनेन्द्र, शिव और विष्णु को एक साथ ही नमस्कार किया गया है, जैन और हिन्दु दोनों ही धर्मोंकी एक साथ प्रशंसा की। स्वयं राजवंशके अनेक स्त्री पुरुष जैन धर्म का पालन करते थे। इस वंशके अनेक नरेशों ने जैनधर्मानुयायी न होते हुए जैन मन्दिरों और धर्मस्थलों को दान दिये, भव्य जैन मन्दिर स्वयं निर्माण कराये और जैन गुरुओंका सम्मान किया। राजवंशकी भांति प्रजामें भी अनेक कुटुम्बोंमें जैन में शैव और वैष्णव आदि विविध धर्मोंके अनुयायी स्त्री पुरुष एक साथ प्रेम और आनन्दके साथ रहते थे। सेनापति वैचप्प, इरुगप्प, गोपचमूपति आदि कितने ही प्रचंड जैन योद्धा साम्राज्य की सेनाके प्रधान सेनानायक रहे, अनेक उपराजा सामन्त और सर्दार भी जैनधर्मके भक्त थे। इन्हीं वीर योद्धाओंके कारण विजयनगर साम्राज्य लगभग दो सौ वर्ष पर्यन्त अपने शत्रु मुसलमान राज्योंका सफलता पूर्वक मुकाबला करता रहा। जैन व्यापारियों के कारण ही वह अत्यन्त समृद्ध हो सका और जैन विद्वानों तथा कलाकारोंने साम्राज्यको अपनी अनुपम साहित्यक एवं कलात्मक कृतियों से सुसज्जित कर दिया। प्रत्येक जैनी आहार, औषध, विद्या और अभयरूप चार प्रकारका दान करना अपना दैनिक कर्त्तव्य समझता था। इस प्रकार, समस्त जैन समाजने विजयनगर-नरेशों की धार्मिक उदारताके प्रत्युत्तर में तन-मन-धनसे साम्राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति में पूर्ण सहयोग दिया।

यह सब परिणाम महाराज हरिहरराय तथा बुक्काराय द्वारा निश्चितकी हुई सहिष्णुता और उदारतापूर्ण धार्मिक नीति का ही था, जिसका कि आदर्श उदाहरण सन् १३६८ ई० का महाराज बुक्काराय द्वारा प्रदत्त अन्त:साम्प्रदायिक निर्णय है और जो कि मध्यकालीन भारतीय इतिहासकी एक अति महत्वपूर्ण घटना है।

लखनऊ, ८-५-१८४६
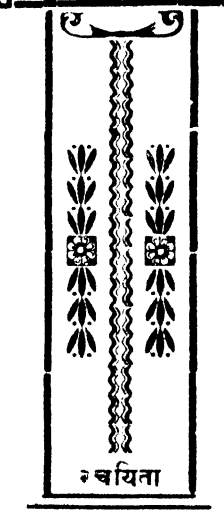
'शशि'—रामपुर

सुलझ जाय शतशत—
शताब्दियोंकी गत संचित उलझन।
जीवन तप कर बन जाये,
सोने से, निर्मल कुन्दन!

मेरी पद रज से वञ्चित हों,
संसृति के आकर्षण।
मेरे रोम - रोम में हो,
नव - प्रलय - क्रान्तिका नर्तन!

बरबस मुझे प्राण दे जाये,
महामृत्यु - आलिंगन।
करें न विचलित मुझे रंचभर,
यम अथवा पद - वन्दन,

एक बार अब फिर वह सोई,
महाशक्ति जग जाए।
बीहड़ - मरु में स्वतंत्रता - तरु,
जीवन भर लहराए।

अमृतचन्द्र सूरिका समय

(ले०—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

आचार्य अमृतचन्द्र अपने समयके एक अच्छे आध्यात्मिक विद्वान् होगए हैं। वे आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारादि प्राभृतत्रयके मार्मिक टीकाकार और अध्यात्मिक ग्रंथोंके तलस्पर्शी व्याख्याता विद्वान थे। उनका नाटक समयसार, जो समयप्राभृतकी तत्त्वदीपिका टीकाके अन्तर्गत है, कुन्दकुन्दाचार्यके समयसार पर कलशरूप है। उसकी कविता बहुत ही गम्भीर, सरस तथा आध्यात्मिकताका अपूर्व भंडार है और मुमुक्षुओंके लिये बड़े कामकी चीज है। उनकी प्रवचनसारादि ग्रंथोंकी तीनों टीकाओंसे दार्शनिक पद्धतिका अच्छा आभास मिलता है। समयसारका स्याद्वादाधिकार तो इसका पुष्ट प्रमाण है ही। इन्हें विक्रमको १३ वीं शताब्दीके विद्वान् पंडित आशाधरजीने अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञ टीका (पृ० ५८८) "एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरि-विरचितसमयसार-टीकायां दृष्टव्यम्" इस वाक्यमें ठक्कुर या ठाकुर विशेषणके साथ उल्लेखित किया है, जिससे आप क्षत्रिय जाति जान पड़ते हैं। सारत्रयकी उक्त तीनों टीकाओंके अतिरिक्त आपका तत्त्वार्थसार ग्रंथ उमास्वातिके सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्रका विशद एवं पल्लवित अनुवाद है। और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अपनी शैलीका एक उत्तम श्रावकाचार है। इसके अनेक पद्य प्राचीन प्राकृत पद्योंके अनुवादरूपमें पाये जाते हैं। इन ग्रन्थोंमेंसे किसीमें भी रचनाकाल दिया हुआ नहीं है, अतः ऐसे ग्रन्थकारके समय-सम्बन्धमें जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। कुछ विद्वानोंने अमृतचन्द्राचार्यके समय सम्बन्धमें जो विचार प्रस्तुत किये हैं और उनसे उनके समय पर जो प्रकाश पड़ता है उस पर यहाँ कुछ नवीन प्रमाणोंके आधारपर विचार किया जाता है।

डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० डी लिट् कोल्हापुरने प्रवचनसारके न्यू एडीशनकी अपनी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनामें आचार्य अमृतचन्द्रका समय ईसाकी लगभग दशवीं शताब्दीका अन्त बतलाया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि आचार्य अमृतचन्द्रने नेमिचन्द्रके गोम्मटसारसे कुछ गाथाएं उद्धृत की जान पड़ती हैं। नेमिचन्द्रका समय ईसाकी दशवीं शताब्दी है[1]। इससे अमृतचन्द्रका समय नेमिचन्द्रके समकालीन अथवा उसके कुछ बादका ही है। परन्तु उन गाथाओंमेंसे दो गाथाएं, जिन्हें उपाध्यायजीने अमृतचन्द्रकी टीकान्तर्गत स्वरचित अथवा उक्त टीकान्तर्गत वाक्योंकी सूचीमें दिया है और उन्हें जीवकाण्डमें ६१२ और ६१४ नम्बरपर बतलाया है वे वास्तवमें जीवकाण्डकी नहीं हैं। षट्खण्डागमके मूल सूत्र हैं। और भी कितनी ही गाथाएँ वहां मूलसूत्रके रूपमें पाई जाती हैं—

णिद्धाणिद्धा ण बज्झंति रुक्खा रुक्खा य पोग्गला।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥३४॥

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण
लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो
जहण्णवज्जे विसमे समे वा[2] ॥

इनमेंकी अन्तिम गाथा आचार्य पूज्यपादने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिके ५ वें अध्यायके ३६ वें सूत्रकी टीका करते हुए उद्धृत की है। अतः ये गाथाएं नेमिचन्द्रकी खुदकी कृति नहीं है। शेष दूसरी दो गाथाओंमेंसे निम्न गाथा सिद्धसेनके सम्मतितर्कके तृतीय प्रकरणकी ४७ वें नम्बरकी हैं। अतः वह भी नेमिचन्द्रकी स्वरचित नहीं कही जा सकती:—

---

१ Introduction of Pravacanasara p. 101

२ यह गाथा अकलंकदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिकमें भी उद्धृत है ५-३६।

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवाद।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥

और इस लिये इन तीन गाथाओंके आधार पर तो अमृतचन्द्रका समय नेमिचन्द्रके बादका नहीं कहा जासकता। अब रही चौथी गाथाकी बात, उस गाथा के सम्बन्धमें यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता कि वह गाथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा ही निर्मित है। हो सकता है कि उक्त तीनों गाथाओंकी तरह यह भी उससे पूर्वकी बनी हुई हो; क्योंकि गोम्मटसार एक संग्रह ग्रंथ है उसमें कितनी ही गाथाएं दूसरे ग्रंथोंपरसे उद्धृत हैं। जिन गाथाओं का प्राचीन समुल्लेख मिल गया है उनके सम्बन्धमें तो हम निश्चयतः कह ही सकते हैं कि वे गोम्मटसार के कर्ताकी नहीं हैं। शेष गाथाओंके सम्बन्धमें अभी निश्चित रूपसे कुछ कहना कठिन है। अतः यह बहुत संभव है कि उक्त गाथा भी प्राचीन हो। वह गाथा इस प्रकार है:—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहं चि वयणादो॥

ऐसी स्थितिमें यह कहना ठीक नहीं होगा कि आचार्य अमृतचन्द्रने उक्त गाथा गोम्मटसारसे उद्धृत की है; क्योंकि इससे पूर्वकी गाथा सम्मतितर्ककी है। और इसलिये अमृतचन्द्रका समय नेमिचन्द्राचार्यके बादका नहीं ठहराया जा सकता।

डा० ए० एन० उपाध्येकी उक्त प्रस्तावनाके आधारसे, जिसमें प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिके कर्ता आचार्य जयसेनका समय ईसाकी १२ वीं सदीका उत्तरार्ध और विक्रमकी १३ वीं सदीका पूर्वार्ध बतलाया है, पं० नाथूरामजी प्रेमीने आचार्य अमृतचन्द्र के समयका अनुमान १२ वीं सदीका कर लिया है[1] जो ठीक नहीं है; क्यों कि आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकरमें, जिसका रचनाकाल सं० १०५५ है[2], आचार्य अमृतचन्द्रकके पुरुषार्थसिद्धयुपायके २३, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६६, १००, १०१, १०३, १०४, १०५, १०७, १०८, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११६, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२६, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १४३, १४५, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६६, १७२, १७३, १७५, १७६, १७७, १७८, १७६, १८८, १८६, १६०, १६४, नम्बरके पद्य पाये जाते हैं। साथ ही, उसके २२५ वें पद्यका भावानुवाद भी पाया जाता है जो जैनी नीतिके रहस्यका निदर्शक है। यथाः—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥२२५

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

यस्या नैवोपमानं किमपि हि सकलद्योतकेषु प्रतर्क्य—
मन्त्ये नैकेन नित्यं श्लथयति सकलं वस्तुतत्त्वं विवर्द्धयं।
अन्येनान्त्येन नीतिं जिनपतिमहितां संविकर्षत्यजस्रं,
गोपी मंथानवद्या जगति विजयतां सा सखी मुक्तिलक्ष्म्याः

—धर्मरत्नाकर २०, ६६

ऊपरके इस कथनसे यह स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सं० १०५५ के बाद की नहीं हो सकती। और पूर्वावधि आचार्य अकलंकदेवके बाद किसी समय हो सकती है; क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारमें, प्रत्यक्ष-परोक्षादिके कितने ही लक्षण उनके तत्त्वार्थ राजवार्तिकके वार्तिकों परसे बनाए गये हैं। जैसा कि उनके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है:—

इंद्रियानिंद्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षं। तत्त्वारा० १-१२

इंद्रियानिन्द्रियापेक्षमुक्तमव्यभिचारि च।
साकार-ग्रहणं यत्स्यात् तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते॥

तत्वार्थसार १-१७

उपात्तानुपात्त प्राधान्यादवगमः परोक्षं॥

—तत्त्वा० रा० १-१२

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत्।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम्॥

—तत्वार्थसार १-१६

१ देखो, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४५८

२ वाणेन्द्रिय-व्योम-सोम-मिते संवत्सरे शुभे।
ग्रंथोऽयं सिद्धतां यात सकलीकरहाटके॥

धर्मरत्नाकर ऐ० प० स० प्रति।

इसके सिवाय सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) का लक्षण भी अकलंकदेवके लघीयस्त्रयके निम्न लक्षणको सामने रखकर बनाया गया मालूम होता है। यथा—

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।

—लघीय० ३ ६०

सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थ-व्यवसायात्मकं विदुः।

—तत्त्वार्थसार १-१८

अतः अमृतचन्द्राचार्यके समयकी पूर्वावधि अकलंकके समय विक्रम तथा ईसाकी ७ वीं शताब्दी[1] होनी चाहिये। इस लिये बहुत संभव है कि पट्टावली में उल्लिखित अमृतचन्द्रका समय विक्रम संवत् ९६२ (ई० सन ९०५) प्रायः ठीक हो। विद्वानोंको इस पर विशेष विचार कर अन्तिम निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

वीरसेवामंदिर, सरसावा, ता० १०-५-४६

१ नन्दिसूत्रकी चूर्णिमें श्रीजिनदासगणी महत्तरने अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चयग्रन्थका बड़े गौरवके साथ उल्लेख किया है, और यह चूर्णि शक सं० ५९८ अर्थात् वि० सं० ७३३ (ई० सन् ६७६) में जैसा कि उसके अन्तमें दिये हुए "शकराजः पंचसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्यध्ययनचूर्णिः समाप्ता" इस वाक्यसे जाना जाता है, जिसके ठीक होनेकी घोषणा मुनि जिनविजयजी आदिने भी अनेक ताड़पत्रीय प्रतियोंके आधार पर की है। और इसलिये आजसे कोई २० वर्ष पहले मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास (पृ०१२५) में अकलंकचरितके निम्नपद्यके आधारपर, जिसमें संवत् ७०० में अकलंकका बौद्धोंके साथ महान्वाद होनेका उल्लेख है, अकलंकका समय विक्रमकी ७ वीं शताब्दी निर्धारित किया था वह भलेप्रकार पुष्ट होता है:—

विक्रमार्क - शकाब्दीय - शतसप्त - प्रमाजुषि।
कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

राजगृहकी यात्रा

तारीख २८ मार्च सन १९४६, बृहस्पतवारके ब्राह्म मुहूर्तमें—प्रातः साढ़े पांच बजे मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोरजी और मैं राजगृहके लिये रवना हुए और सहारनपुरसे ७-२० वाली पंजाब एक्सप्रेस में सवार हुए। दैववश उस दिन तीसरे दर्जे के सब डिब्बे खूब भरे हुए थे और इस लिये लुक्सर तक इन्टरमें आये। वहांसे तीसरे दर्जेके कई और डिब्बे लग जानेसे तीसरे दर्जेके सफरमें कोई तकलीफ नहीं हुई और न विशेष रश हुआ। मौकेकी बात है कि धामपुरसे सुहृद्वर प्रो० खुशालचन्द्रजी एम० ए० साहित्याचार्य और भाई बा० चेतनलालजी भी मिल गये, जो क्रमशः आरा और डालमियानगरके लिये जारहे थे। प्रो०खुशालचन्द्रजीके साथ साहित्यिक और सामाजिक चर्चा-वार्ता भी आरा तक होती आई। इससे बड़ा आनन्द रहा। लखनऊ स्टेशनपर वयोवृद्ध बा० अजितप्रसादजी एडवोकेट और बा० ज्योतिप्रसादजी एम० ए० हम लोगोंके आनेकी खबर होनेसे मिलनेके लिये आये। यहाँ गाड़ी काफी देर तक ठहरती है और इस लिये आप लोगोंके साथ बड़े आनन्दसे गाड़ी छूटने तक बातचीत होती रही। ता० २९ को बख्त्यारपुर जंकशनपर १० बजे पहुँच कर और वहांसे सवा ग्यारह बजे दिनमें राजगृहकी गाड़ीमें बैठकर करीब पौने तीन बजे दिनमें ही राजगृह सानन्द सकुशल पहुँच गये। राजगृह आनेवालों के लिये बख्त्यारपुर जंकशनपर गाड़ी बदलना होती है और छोटी लाइनकी गाड़ीमें सवार होना होता है।

उस दिन राजगृहमें वारुणी मेला था, जो पूछनेपर मालूम हुआ कि बारह वर्ष बाद भरा करता है और दो-तीन दिन रहता है। अतएव विहारशरीफसे गाड़ी में कुछ अधिक भीड़ रही। राजगृह पहुँचनेसे कई मील पूर्वसे विपुलाचल सिद्धक्षेत्रके दर्शन होने लगते हैं। हमारे डिब्बेमें गुजराती दिगम्बर जैन बन्धु भी थे, हम सबने दूरसे ही विपुलाचल सिद्धक्षेत्रके दर्शन किये और नतमस्तक वन्दना की। स्टेशनपर पहुँचते ही दिगम्बर जैन धर्मशालाका जमादार मिल गया और वह हमें धर्मशाला लिवा लेगया। ४-५ घंटे तक तो, पहलेसे सूचना दी जानेपर भी, उचित स्थानकी कोई व्यवस्था न हो सकी, बादमें क्षेत्रके मुनीम रामलालजीने हमारे ठहरनेकी व्यवस्था श्री कालूरामजी मोदी गिरीडी वालोंकी कोठीमें कर दी। वहाँ ५ दिन ठहरे। पीछे कोठीके आदमीसे मालूम हुआ कि उसके पास श्रीकालूरामजीके भाईयोंका गिरीडीसे आनेका पत्र आया है और वे कोठीमें ठहरेंगे। अतएव हमें छठे दिन, जिस दिन वे आने वाले थे, सुबह ही उसे खाली कर देना पड़ा और दूसरे स्थानोंमें चला जाना पड़ा। बादमें मालूम हुआ कि उक्त कोठीमें कोई नहीं आया और यह सब मात्र उस आदमीकी चालाकी थी। जो कुछ हो।

फिर हम बा० सखीचन्दजी कलकत्तावालोंकी कोठीमें ठहर गये। राजगृहमें मच्छरोंकी बहुतायत है जो प्रायः यात्रियोंको बड़ा कष्ट पहुँचाते हैं और अक्सर जिससे मलेरिया हो जाता है। मच्छर होने का प्रधान कारण यह जान पड़ा है कि धर्मशाला के आस-पास गंदगी बहुत रहती है और जिसकी सफाईकी ओर कोई खास ध्यान नहीं है। धर्मशाला के पिछले भागमें पाखानेका महीनों तक पानी भरा रहता है जो नियमसे मच्छरोंको पैदा करता है और आसानीसे मलेरिया आजाता है। यह देख कर तो बहुत दुःख हुआ कि बीमारोंके लिये उनके उपचारादि का प्रायः कोई साधन नहीं है। शिखरजीसे लौटे हुए कितने ही यात्री राजगृह आकर कई दिन तक बीमार पड़े रहते हैं। या तो उन्हें बस्तीसे डाक्टर या वैद्यको बुलाना पड़ता है या भुक्तभोगी बन कर तब तक पड़ा रहना पड़ता है जब तक वे स्वयमेव अच्छे न होजायें या बीमारीकी हालतमें ही घर चले न जायें। परिणाम यह होता है कि घर पहुँचते पहुँचते कितने ही यात्री वहीं या बीचमें ही मर जाते हैं। यह बात समाचारपत्रोंसे भी प्रकट है जिसका खबरें जैन-मित्रादिमें प्रकाशित होती रहती हैं। हमने १५-२० दिनोंमें ही कई दर्जन यात्रियोंको राजगृहमें मलेरिया से पीड़ित पड़े हुए और कई दिन तक कराहते हुए देखा है। छिबरूमऊके एक सेठ सा० अपने २१ आदमियों सहित करब ८ दिन तक अस्वस्थ पड़े रहे। अन्तमें अस्वस्थ हालतमें ही उन्हें मोटरलारी करके जाना पड़ा। जबलपुरके ८ यात्री ७-८ दिन तक बुरी हालतमें बीमार पड़े रहे। अच्छे न होते देख उन्हें मुनीमजीद्वारा घर भिजवाया गया। दुःख है कि इन मेंसे एक आदमीकी रास्तेमें (सतनाके पास) मृत्यु भी होगई! हमारी समझमें नहीं आता कि तीर्थक्षेत्र कमेटीके जिम्मेदार व्यक्ति इन मौतोंका मूल्य क्यों नहीं आँक रहे? और क्यों नहीं इसके लिये कोई समुचित प्रयत्न किया जाता है? हमारा तीर्थक्षेत्र कमेटी और समाजके दानी सज्जनोंसे नम्र अनुरोध है कि वे कोठीकी ओरसे वहाँ एक अच्छे औषधालय की व्यवस्था यथा शीघ्र करें। अथवा बड़नगर जैसे स्थानोंसे दवाईयोंको मंगवाकर बीमारोंके लिये देने की उचित व्यवस्था करें। वहाँ एक योग्य वैद्य और एक कम्पोटरकी तो शीघ्र ही व्यवस्था होजानी चाहिए। यदि जब तक यह व्यवस्था नहीं होती तो तब तक तीर्थक्षेत्र कमेटीको सर्वसाधारण पर यह स्पष्टतया सभी पत्रोंमें प्रकट कर देना चाहिये कि शिखरजीका पानी अभी तक ठीक नहीं हुआ है और इस लिये लोग वन्दना स्थगित रक्खें या अपने साथ दवाई आदिका पूरा इन्तजाम करके वन्दनार्थ अथवा नीमियाघाटसे आवें*। इस स्पष्ट घोषणासे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि जो बीमार पड़ कर वापिस

* १४ फरवरी सन् १९४६, के जैनमित्रमें प्रकाशित सूचना अधूरी और अस्पष्ट है।

जाते हैं और जिन संक्लेश परिणामों को सिद्धक्षेत्र जैसे पवित्र स्थानोंसे लेजाते हैं उन परिणामोंको लेकर जानेका उन्हें अवसर नहीं आयेगा और न सिद्धक्षेत्रके प्रति अपनी भावनामें कमी होगी या अन्यथा परिणाम होंगे। आशा है. इस ओर अवश्य ध्यान दिया जावेगा।

इतिहासमें राजगृहका स्थान—

मुख्तार सा० का अरसेसे यह विचार चल रहा था कि राजगृह चला जाय और वहां कुछ दिन ठहरा जाय तथा वहांकी स्थिति, स्थानों, भग्नावशेषों और इतिहास तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी तथ्योंका अवलोकन किया जाय आदि। इसीसे हम लोग राजगृह गये। राजगृहका इतिहासमें महत्वपूर्ण स्थान है। सम्राट बिम्बसारके, जो जैनपरंपराके दिगम्बर और श्वेताम्बर तथा बौद्ध साहित्यमें राजा श्रेणिकके नामसे अनुश्रुत हैं और मगधसाम्राज्यके अधीश्वर एवं भगवान महावीरकी धर्म-सभाके प्रधान श्रोता माने गये हैं, मगधसाम्राज्यकी राजधानी इसी राजगृहमें थी। यहां उनका किला अब भी पुरातत्त्वविभागके संरक्षणमें है और जिसकी खुदाई होने वाला है। एक पुराना किला और है जो कृष्णके समकालीन जरासन्धका कहा जाता है। वैभार पर्वतके नीचे उधर तलहटीमें पर्वत की शिला काट कर एक आस्थान बना है और उसके आगे एक लंबा चौड़ा मैदान है, ये दोनों स्थान राजा श्रेणिकके खजाने और बैठकके नामसे प्रसिद्ध हैं। तीसरे चौथे पहाड़के मध्यवर्ती मैदानमें एक बहुत विशाल प्राचीन कुआ भूगर्भसे निकाला गया है और जिसे मिट्टीसे पूर भी दिया गया है। इसके ऊपर टीन का छतरी लगादी गई है। यह भी पुरातत्त्व विभागके संरक्षणमें है। इसके आस पास कई पुराने कुए और वेदिकाएं भी खुदाईमें निकले हैं। कहा जाता है कि रानी चेलना प्रतिदिन नये वस्त्रालंकारोंको पहिन कर पुराने वस्त्रालंकारोंको इस कुएमें डाला करती थीं। दूसरे और तीसरे पहाड़के मध्यमें गृद्धकूट पर्वत है, जो द्वितीय पहाड़का ही अंश है और जहाँ महात्मा बुद्धकी बैठकें बनी हुई हैं और जो बौद्धोंका तीर्थस्थान माना जाता है, इसे भी हम लोगोंने गौरसे देखा। पुराने मन्दिरोंके अवशेष भी पड़े हुए हैं। विपुलाचल कुछ चौड़ा है और वैभारगिरि चौड़ा तो कम है पर लम्बा अधिक है। सबसे पुरानी एक चौबीसी भी इसी पहाड़ पर बनी हुई है जो प्रायः खंडहरके रूपमें स्थित है और पुरातत्त्वविभागके संरक्षणमें है। अन्य पहाड़ोंके प्राचीन मन्दिर और खंडहर भी उसी के अधिकारमें कहे जाते हैं। इसी वैभारगिरिके उत्तर में सप्तपर्णी दो गुफाएँ हैं जिनमें ऋषि लोग रहते बतलाये जाते हैं। गुफाएँ लम्बी दूर तक चली गई हैं। वास्तवमें ये गुफाएँ सन्तोंके रहनेके लिये बड़े कामकी चीज हैं। ज्ञान और ध्यानकी साधना इनमें की जा सकती है, परन्तु आजकल इनमें चमगीदड़ोंका वास है और उसके कारण इतनी बदबू है कि खड़ा नहीं हुआ जाता।

भगवान महावीरका सैकड़ोंबार यहां राजगृहमें समवशरण आया है और विपुलगिरि तथा वैभारगिरि पर ठहरा है। और वहींसे धर्मोपदेशकी गङ्गा बहाई है। महात्मा बुद्ध भी अपने संघ सहित यहाँ राजगृह में अनेकबार आये हैं और उनके उपदेश हुए हैं। राजा श्रेणिकके अलावा कई बौद्ध और हिन्दू सम्राटों की भी राजगृहमें राजधानी रही है। इस तरह राजगृह जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों संस्कृतियोंके सङ्गम एवं समन्वयका पवित्र और प्राचीन ऐतिहासिक तीर्थ स्थान है जो अपने अंचलमें अतीतके विपुल वैभव और गौरवको छिपाये हुए है और वर्तमानमें उसकी महत्ताको प्रकट कर रहा है। यहाँके लगभग २६ कुंडोंने राजगृहकी महत्ताको और बढ़ा दिया है। दूर दूरसे यात्री और चर्मरोगादिके रोगी इनमें स्नान करनेके लिये रोजाना हजारोंकी तादादमें आते रहते हैं। सूर्यकुण्ड, ब्रह्मकुण्ड और सप्तधाराओंका जल हमेशा गर्म रहता है और बारह महीना चालू रहते हैं। इनमें स्नान करनेसे वस्तुतः थकान, शारीरिक क्लान्ति और चर्मरोग दूर होते हुए देखे गये हैं। लकवासे ग्रस्त एक रोगीका लकवा दो तीन महीना इन में स्नान करनेसे दूर होगया। कलकत्ताके सेठ प्रेमसुख

जीको एक अङ्गमें लकवा हो गया वे भी वहां ठहर रहे हैं और उनमें स्नान कर रहे हैं। पूछनेसे मालूम हुआ कि उन्हें कुछ आराम है। हम लोगोंने भी कई दिन स्नान किया और प्रत्यक्ष फल यह मिला कि थकान नहीं रहती थी—शरीरमें फुरती आजाती थी।

राजगृहके उपाध्याय-पण्डे—

कुण्डोंपर जब हमने वहाँके सैकड़ों उपाध्यायों और पण्डोंका परिचय प्राप्त किया तो हमें ब्राह्मण-कुलोत्पन्न इन्द्रभूति और उनके विद्वान् पाँचसौ शिष्यों की स्मृति हो आई और उस पौराणिक घटनामें विश्वासको दृढ़ता प्राप्त हुई जिसमें बतलाया गया है कि वैदिक महाविद्वान् गौतम इन्द्रभूति अपने पाँचसौ शिष्योंके साथ भगवान् महावीरके उपदेशसे प्रभावित होकर जैनधर्ममें दीक्षित होगया था और फिर वही उनका प्रधान गणधर हुआ था। आज भी वहाँ सैकड़ों ब्राह्मण उपाध्याय नामसे व्यवहृत होते हैं। परन्तु आज वे नाममात्रके उपाध्याय हैं और यह देख कर तो बड़ा दुःख हुआ कि उन्होंने कुण्डोंपर या अन्यत्र यात्रियोंसे दो-दो, चार-चार पैसे माँगना ही अपनी वृत्ति—आजीविका बना रखी है। इससे उन का बहुत ही नैतिक पतन जान पड़ा है। यहाँके उपाध्यायोंको चाहिए कि वे अपने पूर्वजोंकी कृतियों और कीर्तिको ध्यानमें लायें और अपने को नैतिक पतनसे बचायें।

श्वेताम्बर जैनधर्मशाला और मन्दिर—

यहां श्वेताम्बरोंकी ओरसे एक विशाल धर्मशाला बनी हुई है, जिसमें दिगम्बर धर्मशालाकी अपेक्षा यात्रियोंको अधिक आराम है। स्वच्छता और सफाई प्रायः अच्छी है। पाखानोंकी व्यवस्था अच्छी है—यंत्रद्वारा मल-मूत्रको बहा दिया जाता है, इससे बदबू या गन्दगी नहीं होती। यात्रियोंके लिये भोजनके वास्ते कच्ची और पक्की रसोईका एक धाबा खोल रखा है, जिसमें पाँच वक्त तकका भोजन फ्री है और शेष समयके लिये यात्री आठ आने प्रति बेला शुल्क देकर भोजन कर सकता है और आटे, दाल, लकड़ीकी चिंता से मुक्त रहकर अपना धर्मसाधन कर सकता है। भोजन ताजा और स्वच्छ मिलता है। मैनेजर बा० कन्हैयालालजी मिलनसार सज्जन व्यक्ति हैं। इन्हींने हमें धर्मशाला आदिकी सब व्यवस्थासे परिचय कराया। श्वेताम्बरोंके अधिकारमें जो मन्दिर है वह पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोंका था। अब वह पारस्परिक समझौतेके द्वारा उनके अधिकारमें चला गया है। चार जगह दर्शन हैं। देखने योग्य है।

बा० छोटेलालजीके साथ १३ दिन—

कई बातोंपर विचार-विमर्श करनेके लिये बा० छोटेलालजी रईस कलकत्ता ता० ५ मार्चको राजगृह आगये थे और वे ता० १८ तक साथ रहे। आप काफी समयसे अस्वस्थ चले आरहे हैं—इलाज भी काफी करा चुके हैं, लेकिन कोई स्थायी आराम नहीं हुआ। यद्यपि मेरी आपसे दो-तीन बार पहले भेंट हो चुकी थी; परन्तु न तो उन भेंटोंसे आपका परिचय मिलपाया था और न अन्य प्रकारसे मिला था। परन्तु अबकीवार उनके निकट सम्पर्कमें रह कर उनके व्यक्तित्व, कर्मण्यता, प्रभाव और विचारकताका आश्चर्यजनक परिचय मिला। बाबू साहबको मैं एक सफल व्यापारी और रईसके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था, पर मैंने उन्हें व्यक्तित्वशाली, चिन्ताशील और कर्मण्य पहले पाया—पीछे व्यापारी और रईस आप अपनी तारीफसे बहुत दूर रहते हैं और चुपचाप काम करना पसन्द करते हैं। आप जिस उत्तरदायित्व को लेते हैं उसे पूर्णतया निभाते हैं। आपको इससे बड़ी घृणा है जो अपने उत्तरदायित्वको पूरा नहीं करते। आपके हृदयमें जैनसंस्कृतिके प्रचारकी बड़ी तीव्र लगन है। आप आधुनिक ढंगसे उसका अधिकाधिक प्रचार करनेके लिये उत्सुक हैं। जिन बड़े बड़े व्यक्तियोंसे, विद्वानोंसे और शासकोंसे अच्छे-अच्छों की मित्रता नहीं हो पाती उन सबके साथ आपकी मित्रता-दोस्ताना और परिचय जान कर मैं बहुत आश्चर्यान्वित हुआ। सेठ पद्मराजजी रानीवाले और अर्जुनलालजी सेठीके सम्बन्धकी कई ऐसी बातें

आपने बतलाई जो जैन इतिहासकी दृष्टिसे संकलनीय हैं। आपके एकहरे दुर्बल शरीरको देख कर सहसा आपका व्यक्तित्व और चिन्ताशीलता मालूम नहीं होती, ज्यों ज्यों आपके सम्पर्कमें आया जाये त्यों त्यों वे मालूम होते जाते हैं। वस्तुतः समाजको उनका कम परिचय मिला है। यदि वे सचमुचमें प्रकट रूपमें समाजके सामने आते और अपने नामको अप्रकट न रखते तो वे सबसे अधिक प्रसिद्ध और यशस्वी बनते। अपनी भावना यही है कि वे शीघ्र स्वस्थ हों और उनका संकलित वीरशासनसंघका कार्य यथाशीघ्र प्रारम्भ हो।

राजगृहके कुछ शेष स्थान—

बर्मी बौद्धोंका भी यहाँ एक विशाल मन्दिर बना हुआ है। आज कल एक बर्मी पुङ्गी महाराज उसमें मौजूद हैं और उन्हींकी देखरेखमें यह मन्दिर है। जापानियोंकी ओर से भी बौद्धोंका एक मन्दिर बन रहा था, किन्तु जापानसे लड़ाई छिड़ जानेके कारण उसे रोक दिया गया था और अब तक रुका पड़ा है। मुसलमानोंने भी राजगृहमें अपना तीर्थ बना रखा है। विपुलाचलसे निकले हुए दो कुण्डोंपर उनका अधिकार है। एक मस्जिद भी बनी हुई है। मुस्लिम यात्रियों के ठहरनेके लिये भी वहीं स्थान बना हुआ है और कई मुस्लिम बासिंदाके रूपमें यहाँ रहते हुए देखे जाते हैं। कुछ मुस्लिम दुकानदार भी यहाँ रहा करते हैं। सिखोंके भी मन्दिर और पुस्तकालय आदि यहाँ हैं। कुंडों के पास उनका एक विस्तृत चबूतरा भी है। ब्रह्मकुंड के पास एक कुंड ऐसा बतलाया गया जो हर तीसरे वर्ष पड़ने वाले लौंडके महीनेमें ही चालू रहता है और फिर बन्द होजाता है। परन्तु उसका सम्बन्ध मनुष्य कृत कलासे जान पड़ा है। राजगृह की जमींदारी प्रायः मुस्लिम नवाबके पास है, जिसमें से रुपयामें प्रायः चार आने भर (एक चौथाई) जमीदारी सेठ साहू शान्तिप्रसादजी डालमियानगर ने नवाबसे खरीद ली है। यह जानकर खुशी हुई कि जमीदारीके इस हिस्सेको आपने दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र राजगृहके लिये ही खरीदा है। उनके हिस्सेकी जमीनमें सर्वत्र S. P. Jainके नामसे चिन्ह लगे हुए हैं, जिससे आपकी जमीनका पार्थक्य मालूम होजाता है। और भी कुछ लोगोंने नवाबसे छोटे छोटे हिस्से खरीद किये हुए हैं। राजगृहमें खाद्य सामग्री तेज तो मिलती है। किन्तु बेइमाना बहुत चलता है। गेहुंओंको अलगसे खरीद कर पिसानेपर भी उसमें चोकर बहुत मिला हुआ रहता था। आटा हमें तो कभी अच्छा मिलकर नहीं दिया। बा० छोटेलालजीने तो उसे छोड़ ही दिया था। क्षेत्रके मुनीम और आदमियोंसे हमें यद्यपि अच्छी मदद मिली, लेकिन दूसरे यात्रियों के लिये उनका हमें प्रमाद जान पड़ा है। यदि वे जिस कार्यके लिये नियुक्त हैं उसे आत्मीयताके साथ करें तो यात्रियोंको उनसे पूरी मदद और सहानुभूति मिल सकती है। आशा है वे अपने कर्त्तव्यको समझ निष्प्रमाद होकर अपने उत्तरदायित्वको पूरा करेंगे।

आरा और बनारस—

राजगृहमें २० दिन रह कर ता० १८ अप्रेलको वहाँ से आरा आये। वहाँ जैन सिद्धान्तभवनके अध्यक्ष पं० नेमीचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यके मेहमान रहे। स्टेशनपर आपने प्रिय पं० गुलाबचन्द्र जी जैन, मैनेजर जैन बाला विश्रामको हमें लेनेके लिये भेज दिया था। आरामें स्व० बा० देवकुमारजी रईस द्वारा स्थापित जैन-सिद्धान्त-भवन और श्रीमती विदुषी पण्डिता चन्दाबाईजी द्वारा संस्थापित जैनबाला-विश्राम तथा श्री १००८ बाहुबलिस्वामीकी विशाल खड्गासन मूर्ति वस्तुतः जैन भारतकी आदर्श वस्तुएँ हैं। आरा आनेवालोंको जैनमन्दिरोंके अलावा इन्हें अवश्य ही देखना चाहिये। भवन और विश्राम दोनों ही समाजकी अच्छी विभूति हैं। यहाँ स्व० श्रीहरिप्रसाद जी जैन रईसकी ओरसे कालेज, लायब्रेरी आदि कई संस्थाएं चल रही हैं। यहाँ भी प्रो० खुशालचंदजीसे दो दिन खूब बातचीत हुई। आरासे चलकर बनारस आये और अपने चिरपरिचित स्याद्वादमहाविद्यालयमें ठहरे संयोगसे विद्यालयके सुयोग्य मंत्री सौजन्यमूर्ति बा० सुमतिलालजीसे भी भेंट हो गई। आपके मंत्रित्वकाल

में विद्यालयने बहुत उन्नति की है। कई वर्षसे आप गवर्नमेन्ट सर्विससे रिटायर्ड हैं और समाजसेवा एवं धर्मोपासनामें ही अपना समय व्यतीत करते हैं। आपका धार्मिक प्रेम प्रशंसनीय है। यहां अपने गुरुजनों और मित्रोंके सम्पर्कमें दो दिन रह कर बड़े आनन्दका अनुभव किया। स्याद्वादमहाविद्यलयके अतिरिक्त यहाँकी विद्वत्परिषद्, जयधवला कार्यालय और भारतीयज्ञानपीठ प्रभृति ज्ञानगोष्ठियाँ जैनसमाज और साहित्यके लिये क्रियाशीलताका सन्देश देती हैं। इनके द्वारा जो कार्य हो रहा है वह वस्तुतः समाजके लिये शुभ चिन्ह है। मैं तो समझता हूँ कि समाजमें जो कुछ हरा-भरा दिख रहा है वह मुख्य-तया स्याद्वादमहाविद्यालयकी ही देन है और जो उसमें क्रियाशीलता दिख रही है वह उक्त संस्थाओंके संचालकोंकी चीज है। आशा है इन संस्थाओंसे समाज और साहित्यके लिये उत्तरोत्तर अच्छी गति मिलती रहेगी।

इस प्रकार राजगृहकी यात्राके प्रसङ्गमें आरा और बनारसकी भी यात्रा हो गई और ता० २४ मार्चको सुबह साढ़े दस बजे यहां सरसावा हम लोग सानन्द सकुशल वापिस आगये।

३०-४-४६ —दरबारीलाल, जैन कोठिया
वीरसेवा-मन्दिर सरसावा (न्यायाचार्य)

जैनसंस्कृतिकी सप्ततत्त्व और षट्द्रव्य व्यवस्थापर प्रकाश

(ले०—जैनदर्शन शास्त्री पं० बंशीधरजी जैन, व्याकरणाचार्य)

नं० १ प्रास्ताविक

अखण्ड मानव-समष्टि को अनेक वर्गोंमें विभक्त कर देने वाले जितने पंथभेद लोकमें पाये जाते हैं उन सबको यद्यपि 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है, परन्तु उन्हें 'धर्म' नाम देना अनुचित मालूम देता है क्योंकि धर्म एक हो सकता है, दो नहीं, दोसे अधिक भी नहीं, धर्म धर्ममें यदि भेद दिखाई देता है तो उन्हें धर्म समझना ही भूल है।

अपने अन्तःकरणमें क्रोध, दुष्टविचार, अहंकार, छल-कपटपूर्ण भावना, दीनता और लोभवृत्तिको स्थान न देना एवं सरलता, नम्रता और आत्मगौरव के साथ २ प्राणिमात्रके प्रति प्रेम, दया तथा सहानुभूति आदि सद्भावनाओंको जाग्रत करना ही धर्मका अन्तरंग स्वरूप माना जा सकता है और मानवताके धरातल पर स्वकीय वाचनिक एवं कायिक प्रवृत्तियोंमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह वृत्तिका यथा-योग्य संवर्धन करते हुए समता और परोपकारकी ओर अग्रसर होना धर्मका बाह्य स्वरूप मानना चाहिये।

पन्थ-भेदपर अवलंबित मानवसमष्टिके सभी वर्गोंको धर्मकी यह परिभाषा मान्य होगी इसलिये सभी वर्गोंकी परस्पर भिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओं—जिन्हें लोकमें 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है—के बीच दिखाई देनेवाले भेदको महत्व देना अनुचित जान पड़ता है।

मेरी मान्यता यह है कि मानव समष्टिके हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि वर्गोंमें एक दूसरे वर्गसे विलक्षण जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यतायें पाई जाती हैं उन मान्यताओंको 'धर्म' न मानकर धर्म-प्राप्तिकी साधनस्वरूप 'संस्कृति' मानना ही उचित है। प्रत्येक मानव, यदि उसका लक्ष्य धर्म-प्राप्तिकी ओर है तो लोकमें पाई जानेवाली उक्त सभी संस्कृतियोंमेंसे किसी भी

संस्कृतिको अपनाकर उल्लिखित अविवादी धर्मको प्राप्त कर सकता है। संस्कृतिको ही धर्म मान लेनेकी भ्रान्तिपूर्ण प्रचलित परिपाटीसे हिन्दू जैन आदि सभी वर्गोंका उक्त वास्तविक धर्मकी ओर झुकाव ही नहीं रह गया है इसीलिये इन वर्गोंमें विविध प्रकार के अनर्थकर विकारों, पाखण्डों एवं रूढ़ियोंको अधिक प्रश्रय मिला हुआ है और इस सबका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ उक्त वास्तविक धर्म मनुष्यके जीवन से सर्वथा अलग होकर एक लोकोत्तर वस्तुमात्र रह गया है वहां मानवतासे विहीन तथा अन्याय और अत्याचारसे परिपूर्ण उच्छृङ्खल जीवन प्रवृत्तियोंके सद्भावमें भी संस्कृतिका छद्मवेष धारण करने मात्रसे प्रत्येक मानव अपनेको और अपने वर्गको कट्टर धर्मात्मा समझ रहा है इतना ही नहीं, अपनी संस्कृतिसे भिन्न दूसरी सभी संस्कृतियोंको अधर्म मान कर उनमेंसे किसी भी संस्कृतिके माननेवाले व्यक्ति तथा वर्गको धर्मके उल्लिखित चिन्ह मौजूद रहनेपर भी वह अधर्मात्मा ही मानना चाहता है और मानता है और एक ही संस्कृतिका उपासक वह व्यक्ति भी उसकी दृष्टिमें अधर्मात्मा ही है जो उस संस्कृतिके नियमोंकी ढोंगपूर्वक ही सही, आवृत्ति करना जरूरी नहीं समझता है, भले ही वह अपने जीवनको धर्ममय बनानेका सच्चा प्रयत्न कर रहा हो। इस तरह आज प्रत्येक वर्ग और वर्गके प्रत्येक मानवमें मानवताको कलंकित करनेवाले परस्पर विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहके दर्दनाक चित्र दिखाई दे रहे हैं।

यदि प्रत्येक मानव और प्रत्येक वर्ग धर्मकी उल्लिखित परिभाषाको ध्यानमें रखते हुए उसे संस्कृति का साध्य और संस्कृतिको उसका साधन मान लें तो उन्हें यह बात सरलताके साथ समझमें आजायगी कि वही संस्कृति सच्ची और उपादेय हो सकती है तथा उस संस्कृतिको ही लोकमें जीवित रहनेका अधिकार प्राप्त हो सकता है जो मानव जगत्को धर्मकी ओर अग्रसर करा सके और ऐसा होने पर प्रत्येक मानव तथा प्रत्येक वर्ग अपने जीवनको धर्ममय बनानेके लिये अपनी संस्कृतिको विकारों, पाखण्डों और रूढ़ियोंसे परिष्कृत बनाते हुए अधिकसे अधिक धर्मके अनुकूल बनानेके प्रयत्नमें लग जायेंगे तथा उनमेंसे अहंकार, पक्षपात और हठके साथ २ परस्परके विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहका खात्मा होकर सम्पूर्ण मानव समष्टिमें विविध संस्कृतियोंके सद्भावमें भी एकता और प्रमका रस प्रवाहित होने लगेगा।

मेरा इतना लिखनेका प्रयोजन यह है कि जिसे लोकमें 'जैनधर्म' नामसे पुकारा जाता है उसमें दूसरी २ जगह पाये जाने वाले विशुद्ध धार्मिक अंश को छोड़कर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओं के रूपमें जितना जैनत्वका अंश पाया जाता है उसे 'जैनसंस्कृति' नाम देना ही उचित है, इसलिये लेखके शीर्षकमें मैंने 'जैनधर्म' के स्थानपर 'जैनसंस्कृति' शब्दका प्रयोग उचित समझा है और लेखके अन्दर भी यथास्थान धर्मके स्थानपर संस्कृति शब्दका ही प्रयोग किया जायगा।

२ विषयप्रवेश

किसी भी संस्कृतिके हमें दो पहलू देखनेको मिलते हैं—एक संस्कृतिका आचार-सम्बन्धी पहलू और दूसरा उसका सिद्धान्त-सम्बन्धी पहलू।

जिसमें निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्राणियोंके कर्त्तव्यमार्गका विधान पाया जाता है वह संस्कृतिका आचार संबन्धी पहलू है जैनसंस्कृतिमें इसका व्यवस्थापक चरणानुयोग माना गया है और आधुनिक भाषाप्रयोगकी शैलीमें इसे हम 'कर्त्तव्यवाद' कह सकते हैं।

संस्कृतिके सिद्धान्त - संबन्धी पहलूमें उसके (संस्कृतिके) तत्त्वज्ञान (पदार्थ व्यवस्था) का समावेश होता है। जैनसंस्कृतिमें इसके दो विभाग कर दिये हैं—एक सप्ततत्त्वमान्यता और दूसरा षड्द्रव्यमान्यता। सप्ततत्त्वमान्यतामें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात पदार्थोंका और षड्द्रव्यमान्यतामें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह पदार्थोंका समावेश किया गया है। जैनसंस्कृतिमें पहली मान्यताका व्यवस्थापक करणानुयोग और दूसरी मान्यताका व्यवस्थापक द्रव्यानुयोगको माना गया है। आधुनिक भाषाप्रयोगकी

शैलीमें करणानुयोगको उपयोगितावाद और द्रव्यानुयोगको अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) कहना उचित जान पड़ता है। यद्यपि जैन संस्कृतिके शास्त्रीय व्यवहारमें करणानुयोगकी आध्यात्मिक पद्धति और द्रव्यानुयोगको दार्शनिक पद्धति इस प्रकार दोनोंको अलग २ पद्धतिके रूपमें विभक्त किया गया है परन्तु मैं उपयोगितावाद और अस्तित्ववाद दोनोंको दार्शनिक पद्धतिसे बाह्य नहीं करना चाहता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि भारतवर्षके सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक आदि सभी वैदिक तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि सभी अवैदिक दर्शनोंका मूलतः विकास उपयोगितावादके आधारपर ही हुआ है इस लिये मेरी मान्यताके अनुसार करणानुयोगको भी दार्शनिकपद्धति से बाह्य नहीं किया जा सकता है।

जगत् क्या और कैसा है? जगत्में कितने पदार्थों का अस्तित्व है? उन पदार्थोंके कैसे २ विपरिणाम होते हैं? इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर प्रमाणों द्वारा पदार्थोंके अस्तित्व और नास्तित्वके विषयमें विचार करना अथवा पदार्थोंके अस्तित्व या नास्तित्वको स्वीकार करना अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) और जगतके प्राणी दुःखी क्यों हैं? वे सुखी कैसे हो सकते हैं? इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर पदार्थोंकी लोककल्याणोपयोगिताके आधारपर प्रमाण सिद्ध अथवा प्रमाणों द्वारा असिद्ध भी पदार्थोंको पदार्थ व्यवस्थामें स्थान देना उपयोगितावाद समझना चाहिये। संक्षेप में पदार्थोंके अस्तित्वके बारेमें विचार करना अस्तित्ववाद और पदार्थोंकी उपयोगिताके बारेमें विचार करना उपयोगितावाद कहा जा सकता है। अस्तित्ववादके आधारपर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमें पहुंचते हैं जिनका अस्तित्व मात्र प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता हो, भले ही वे पदार्थ लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध न हों अथवा उनका लोककल्याणोपयोगितासे थोड़ा भी संबन्ध न हो और उपयोगितावादके आधारपर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमें स्थान पाते हैं जो लोक कल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध होते हों भले ही उन का अस्तित्व प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो सकता हो अथवा उनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध न भी हो।

दर्शनोंमें आध्यात्मिकता और आधिभौतिकताका भेद दिखलानेके लिये उक्त उपयोगितावादको ही आध्यात्मिकवाद और उक्त अस्तित्ववादको ही आधिभौतिकवाद कहना चाहिये क्योंकि आत्मकल्याणको ध्यानमें रखकर पदार्थ प्रतिपादन करनेका नाम आध्यात्मिकवाद और आत्मकल्याणकी ओर लक्ष्य न देते हुए भूत अर्थात् पदार्थोंके अस्तित्वमात्रको स्वीकार करने का नाम आधिभौतिकवाद मान लेना मुझे अधिक संगत प्रतीत होता है। जिन विद्वानोंका यह मत है कि समस्त चेतन अचेतन जगतकी सृष्टि अथवा विकास आत्मासे मानना आध्यात्मिकवाद और उपर्युक्त जगत की सृष्टि अथवा विकास अचेतन अर्थात् जड़ पदार्थ से मानना आधिभौतिकवाद है उन विद्वानोंके साथ मेरा स्पष्ट मतभेद है। इस मतभेदमें भी मेरा तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकवाद और आधिभौतिकवादके उनको मान्य अर्थके अनुसार उन्होंने जो वेदान्तदर्शन को आध्यात्मिक दर्शन और चार्वाकदर्शनको आधिभौतिक दर्शन मान लिया है वह ठीक नहीं है। मेरा यह स्पष्ट मत है और जिसे मैं पहिले लिख चुका हूँ कि सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक ये सभी वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये सभी अवैदिक दर्शन पूर्वोक्त उपयोगितावादके आधारपर ही प्रादुर्भूत हुए हैं इसलिये ये सभी दर्शन आध्यात्मिकवादके ही अन्तर्गत माने जाने चाहियें। उक्त दर्शनोंमेंसे किसी भी दर्शनका अनुयायी अपने दर्शनके बारेमें यह आक्षेप सहन करने को तैयार नहीं हो सकता है कि उसके दर्शनका विकास लोककल्याणके लिये नहीं हुआ है और इसका भी सबब यह है कि भारतवर्ष सर्वदा धर्मप्रधान देश रहा है इसलिये समस्त भारतीय दर्शनोंका मूल आधार उपयोगितावाद मानना ही संगत है। इसका विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जारहा है—

'लोककल्याण' शब्दमें पठित लोकशब्द 'जगत्का

प्राणिसमूह' अर्थमें व्यवहृत होता हुआ देखा जाता है इसलिये यहांपर लोककल्याण शब्दसे 'जगत्‌के प्राणि-समूहका कल्याण' अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कोई २ दर्शन प्राणियोंके दृश्य और अदृश्य दो भेद स्वीकार करते हैं और किन्हीं २ दर्शनोंमें सिर्फ दृश्य प्राणियोंके अस्तित्वको ही स्वीकार किया गया है। दृश्य प्राणी भी दो तरह के पाये जाते हैं—एक प्रकारके दृश्य प्राणी वे हैं जिनका जीवन प्रायः समष्टि-प्रधान रहता है मनुष्य इन्हीं समष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणियोंमें गिना गया है क्योंकि मनुष्योंके सभी जीवन व्यवहार प्रायः एक दूसरे मनुष्यकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायतापर ही निर्भर हैं मनुष्यों के अतिरिक्त शेष सभी दृश्य प्राणी पशु-पक्षी सर्प, बिच्छू, कीट-पतंग वगैरह व्यष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणी कहे जा सकते हैं क्योंकि इनके जीवनव्यवहारोंमें मनुष्यों जैसी परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायता की आवश्यता प्रायः देखनेमें नहीं आती है। इस व्यष्टिप्रधान जीवनकी समानताके कारण ही इन पशु-पक्षी आदि प्राणियोंको जैनदर्शनमें 'तिर्यग्' नाम से पुकारा जाता हैं कारण कि 'तिर्यग्' शब्दका समानता अर्थमें भी प्रयोग देखा जाता है। सभी भारतीय दर्शनकारोंने अपने २ दर्शनके विकासमें अपनी २ मान्यताके अनुसार यथायोग्य जगत्‌के इन दृश्य और अदृश्य प्राणियोंके कल्याणका ध्यान अवश्य रक्खा है। चार्वाकदर्शनको छोड़कर उल्लिखित सभी भारतीयदर्शनोंमें प्राणियोंके जन्मान्तररूप परलोकका समर्थन किया गया है इस लिये इन दर्शनोंके आविष्कर्ताओंकी लोककल्याण भावनाके प्रति तो संदेह करनेकी गुंजाइश ही नहीं है लेकिन उपलब्ध साहित्यसे जो थोड़ा बहुत चार्वाकदर्शनका हमें दिग्दर्शन होता है उससे उसके (चार्वाकदर्शनके) आविष्कर्ताकी भी लोककल्याण भावनाका पता हमें सहज ही में लग जाता है।

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

इस पद्यमें हमें चार्वाकदर्शनकी आत्माका स्पष्ट आभास मिल जाता है। इस पद्यका आशय यह है कि "धर्म मनुष्यके कर्त्तव्यमार्गका नाम है और वह जब लोककल्याणके लिये है तो उसे अखण्ड एक रूप होना चाहिये, नाना रूप नहीं, लेकिन धर्मतत्वकी प्रतिपादक श्रुतियां और स्मृतियां नाना और परस्पर विरोधी अर्थको कहने वाली देखी जाती हैं, हमारे धर्मप्रवर्तक महात्माओंने भी धर्मतत्व का प्रतिपादन एक रूपसे न करके भिन्न भिन्न रूपसे किया है इस लिये इनके (धर्मप्रवर्तक महात्माओंके) वचनोंको भी सर्वसम्मतप्रमाण मानना असंभव है ऐसी हालतमें धर्मतत्व साधारण मनुष्यों के लिये गूढ़ पहेली बन गया है अर्थात् धर्मतत्वको समझनेमें हमारे लिये श्रुति, स्मृति या कोई भी धर्म-प्रवर्तक सहायक नहीं हो सकता है इस लिये धर्मतत्व की पहेलीमें न उलझ करके हमें अपने कर्त्तव्यमार्ग का निर्णय महापुरुषोंके कर्तव्यमार्गके आधारपर ही करते रहना चाहिये तात्पर्य यह है कि महापुरुषोंका प्रत्येक कर्तव्य स्वपर कल्याणके लिये ही होता है इस लिये हमारा जो कर्तव्य स्वपरकल्याण विरोधी न हो उसे ही अविवाद रूपसे हमको धर्म समझ लेना चाहिये।"

मालूम पड़ता है कि चार्वाक दर्शनके आविष्कर्ता का अन्तःकरण अवश्य ही धर्मके बारेमें पैदा हुए लोककल्याणके लिये खतरनाक मतभेदोंसे ऊब चुका था इस लिये उसने लोकके समक्ष इस बातको रखने का प्रयत्न किया था कि जन्मान्तर रूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी चर्चा—जो कि विवादके कारण जनहितकी घातक हो रही है—को छोड़ कर हमें केवल ऐसा मार्ग चुन लेना चाहिये जो जनहित का साधक हो सकता है और ऐसे कर्तव्य मार्गमें किसी को भी विवाद करनेकी कम गुंजाइश रह सकती है।

"यावज्जीवं सुखी जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥"

यह जो चार्वाक दर्शनकी मान्यता बतलाई जाती है वह कुछ भ्रममूलक जान पड़ती है अर्थात यह उन लोगोंका चार्वाक दर्शनके बारेमें आक्षेप है जो सांप्रदायिक विद्वेषके कारण चार्वाकदर्शनको सहन नहीं कर सकते थे।

समस्त दर्शनोंमें बीजरूपसे इस उपयोगितावाद को स्वीकार लेने पर ये सभी दर्शन जो एक दूसरेके अत्यन्त विरोधी मालूम पड़ रहे हैं ऐसा न होकर अत्यन्त निकटतम मित्रोंके समान दिखने लगेंगे अर्थात् उक्त प्रकारसे चार्वाक दर्शनमें छिपे हुए उपयोगितावाद के रहस्यको समझ लेनेपर कौन कह सकता है कि उसका (चार्वाकदर्शनका) परलोकादिके बारेमें दूसरे दर्शनोंके साथ जो मतभेद है वह खतरनाक है क्यों कि जहाँ दूसरे दर्शन परलोकादिको आधार मान कर हमें मनुष्योचित कर्तव्यमार्ग पर चलनेकी प्रेरणा करते हैं वहाँ चार्वाक दर्शन सिर्फ वर्तमान जीवनको सुखी बनानेके उद्देश्यसे ही हमें मानवोचित कर्तव्य मार्गपर चलनेकी प्रेरणा करता है। चर्वाकदर्शनकी इस मान्यता का दूसरे दर्शनोंकी मान्यताके साथ समानतामें हेतु यह है कि परलोकादिके अस्तित्वको स्वीकार करनेके बाद भी सभी दर्शनकारोंको इस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आना पड़ता है कि "मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में अच्छे कृत्य करके ही परलोकमें सुखी हो सकता है या स्वर्ग पा सकता है।" इस लिये चर्वाक मतका अनुयायी यदि अपने वर्तमान जीवनमें अच्छे कृत्य करता है तो परलोक या स्वर्गके अस्तित्वको न मानने मात्रसे उसे परलोकमें सुख या स्वर्ग पानेसे कौन रोक सकता है? अन्यथा इसी तरह नरकका अस्तित्व न माननेके सबब पाप करनेपर भी उसका नरकमें जाना कैसे संभव हो सकेगा? तात्पर्य यह है कि एक प्राणी नरकके अस्तित्वको न मानते हुए भी बुरे कृत्य करके यदि नरक जा सकता है तो दूसरा प्राणी स्वर्गके अस्तित्वको न मानते हुए अच्छे कृत्य करके स्वर्ग भी जा सकता है। परलोक तथा स्वर्गादिके अस्तित्वको न मानने वाला व्यक्ति अच्छे कृत्य कर ही नहीं सकता है यह बात कोई भी विवेकी व्यक्ति माननेको तैयार न होगा कारणकि हम पहले बतला आये हैं कि मनुष्यका जीवन परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायता के आधारपर ही सुखी हो सकता है। यदि एक मनुष्य को अपना जीवन सुखी बनानेके लिये संपूर्ण साधन उपलब्ध हैं और दूसरा उसका पड़ौसी मनुष्य चार दिनसे भूखा पड़ा हुआ है तो ऐसी हालतमें या तो पहिले व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिके बारेमें सहायताके रूप में अपना कोई न कोई कर्तव्य निश्चित करना होगा अन्यथा नियमसे दूसरा व्यक्ति पहिले व्यक्तिके सुखी जीवनको ठेस पहुंचानेका निमित्त बन जायगा। तात्पर्य यह है कि हमें परलोककी मान्यतासे अच्छे कृत्य करनेकी जितनी प्रेरणा मिल सकती है उससे भी कहीं अधिक प्रेरणा वर्तमान जीवनको सुखी बनानेकी आकांक्षासे मिलती है, चार्वाकदर्शनका अभिप्राय इतना ही है।

बौद्धोंके क्षणिकवाद और ईश्वरकर्तृत्ववादियोंके ईश्वरकर्तृत्ववादमें भी यही उपयोगितावादका रहस्य छिपा हुआ है। बौद्धदर्शनमें एक वाक्य पाया जाता है—"वस्तुनि क्षणिकत्वपरिकल्पना आत्मबुद्धिनिरासार्थम्" अर्थात् पदार्थोंमें जगत्के प्राणियोंके अनुराग, द्वेष और मोहको रोकनेके लिये ही बौद्धों ने पदार्थोंकी अस्थिरताका सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसी प्रकार जगतका कर्ता अनादि-निधन एक ईश्वरको मान लेनेसे संसारके बहुजन समाजको अपने जीवन के सुधारमें काफी प्रेरणा मिल सकती है। तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति पदार्थोंकी क्षणभंगुरता स्वीकार करके उनसे विरक्त होकर यदि आत्मकल्याणकी खोज कर सकता है और दूसरा व्यक्ति ईश्वरको कर्ता धर्ता मान करके उसके भयसे यदि अनर्थोंसे बच सकता है तो इस तरह उन दोनों व्यक्तियोंके लिये क्षणिकत्ववाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद दोनोंकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इस लिये इन दोनों मान्यताओंके औचित्यके बारेमें "पदार्थ क्षणिक हो सकता है या नहीं? जगत्का कर्ता ईश्वर है या नहीं?" इत्यादि प्रश्नोंके आधार पर विचार न करके "क्षणिकत्ववाद अथवा ईश्वरकर्तृत्व लोककल्याणके लिये उपयोगी

सिद्ध हो सकते हैं या नहीं ?" इत्यादि प्रश्नोंके आधार पर ही विचार करना चाहिये ।

सांख्य और वेदान्तदर्शनोंकी पदार्थमान्यतामें उपयोगितावादकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है—इसका स्पष्टीकरण 'षड्द्रव्यमान्यता'के प्रकरणमें किया जायगा।

मीमांसादर्शनका भी आधार मनुष्योंको स्वर्ग प्राप्तिके उद्देश्यसे यागादि कार्योंमें प्रवृत्त कराने रूप उपयोगितावाद ही है, तथा जैनदर्शनमें तो उपयोगितावादके आधारपर सप्ततत्त्वमान्यता और अस्तित्ववादके आधारपर षड्द्रव्यमान्यता इस प्रकार पदार्थव्यवस्थाको ही अलग २ दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया है ।

इस तरहसे समस्त भारतीयदर्शनोंमें मूल रूपसे उपयोगितावादके विद्यमान रहते हुए भी अफ़सोस है कि धीरे धीरे सभी दर्शन उपयोगितावादके मूलभूत आधारसे निकलकर अस्तित्ववादके उदरमें समा गये अर्थात् प्रत्येक दर्शनमें अपनी व दूसरे दर्शनकी प्रत्येक मान्यताके विषयमें 'अमुक मान्यता लोककल्याणके लिये उपयोगी है या नहीं ?' इस दृष्टिसे विचार न होकर 'अमुक मान्यता संभव हो सकती है या नहीं ?' इस दृष्टिसे विचार होने लग गया और इसका यह परिणाम हुआ कि सभी दर्शकारोंने अपने २ दर्शनोंके भीतर उपयोगिता और अनुपयोगिताकी ओर ध्यान न देते हुए अपनी मान्यताको संभव और सत्य तथा दूसरे दर्शनकारोंकी मान्यताको असंभव और असत्य सिद्ध करनेका दुराग्रहपूर्ण एवं परस्पर कलह पैदा करने वाला ही प्रयास किया है ।

३ सप्ततत्त्व

ऊपर बतलाये गये दर्शनोंमें परलोक, स्वर्ग, नरक और मुक्तिकी मान्यताके विषयमें जो मतभेद पाया जाता है उसके आधारपर उन दर्शनोंमें लोककल्याणकी सीमा भी यथासंभव भिन्न २ प्रकारसे निश्चित की गयी है । चार्वाकदर्शनमें प्राणियोंका जन्मान्तर रूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमें सुख प्राप्तिका स्थान स्वर्ग, पापका फल परलोकमें दुःखप्राप्ति का स्थान नरक और प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप निःश्रेयसका स्थान मुक्ति इन तत्वोंकी मान्यता नहीं है इसलिये वहाँपर लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके और विशेषकर मानवसमाजके वर्तमान जीवनकी सुख-शान्तिको लक्ष्य करके ही निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणको ध्यानमें रखकर के ही वहाँ पदार्थोंकी व्यवस्थाको स्थान दिया गया है । मीमांसादर्शनमें यद्यपि प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप निःश्रेयस और उसका स्थान मुक्ति इन तत्वोंका मान्यता नहीं है वहाँपर स्वर्गसुखको ही निःश्रेयस पदका और स्वर्गको ही मुक्तिपदका वाच्य स्वीकार किया गया है फिर भी प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमें सुखप्राप्तिका स्थान स्वर्ग और पापका फल परलोकमें दुःखप्राप्तिका स्थान नरक इन तत्वोंको वहाँ अवश्य स्वीकार किया गया है इसलिये वहाँपर लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके वर्तमान (ऐहिक) जीवनके साथ २ परलोककी सुख-शान्तिको ध्यानमें रखकर निर्धारित की गई है और इसी लोककल्याणको रखकरके ही वहां पदार्थ-व्यवस्थाको स्थान दिया गया है । चार्वाक और मीमाँसा दर्शनोंके अतिरिक्त शेष उल्लिखित वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनोंमें उक्त प्रकारके परलोक, स्वर्ग और नरककी मान्यताके साथ २ प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरा रूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप निःश्रेयस और निःश्रेयसका स्थान मुक्तिकी मान्यताको भी स्थान प्राप्त है इसलिये इन दर्शनोंमें लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके ऐहिक और पारलौकिक सुख-शान्तिके साथ २ उक्त निःश्रेयस और मुक्तिको भी ध्यानमें रखते हुए निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणके आधारपर ही इन दर्शनोंमें पदार्थव्यवस्थाको स्वीकार किया गया है ।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक दर्शनको छोड़कर परलोकको माननेवाले मीमांसादर्शनमें और परलोक के साथ २ मुक्तिको भी माननेवाले सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध दर्शनोंमें

जगत्के प्रत्येक प्राणीके शरीरमें स्वतंत्र और शरीरके साथ घुल-मिल करके रहनेवाला एक चित्शक्ति-विशिष्ट तत्व स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्व-साधारण मनुष्योंके लिये इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है और न ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष ही वर्तमानमें मौजूद है जिसको इसका प्रत्यक्ष होरहा हो परन्तु इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्राणीमें दूसरे प्राणियोंकी प्रेरणाके बिना ही जगत्के पदार्थोंके प्रति राग, द्वेष या मोह करना अथवा विरक्ति अर्थात् समताभाव रखना, तथा हर्ष करना, विषाद करना दूसरे प्राणियों का अपकार करना, पश्चात्ताप करना, परोपकार करना, हंसना, रोना, सोचना, समझना, सुनना, देखना, सूंघना, खाना, पीना बोलना, बैठना, चलना, काम करना, थक जाना, विश्रान्ति लेना, पुनः काममें जुट जाना, सोना, जागना और पैदा होकर छोटेसे बड़ा होना इत्यादि यथासंभव जो विशिष्ट व्यापार पाये जाते हैं वे सब व्यापार प्राणिवर्गको लकड़ी, मट्टी, पत्थर, मकान, कपड़ा, बर्तन, कुर्सी, टेबुल, सोना, चांदी, लोहा, पीतल, घंटी, घड़ी, ग्रामोफोन, रेडियो, सिनेमाके चित्र, मोटर, रेलगाड़ी, टेंक, हवाई जहाज और उड़नबम आदि व्यापारशून्य तथा प्राणियोंकी प्रेरणा पाकर व्यापार करनेवाले पदार्थोंसे पृथक कर देते हैं और इन व्यापारोंके आधारपर ही उक्त दर्शनोंमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक प्राणीके शरीरमें शरीरसे पृथक एक एक ऐसा तत्व भी वद्यमान है जिसकी प्रेरणासे ही प्रत्येक प्राणीमें उल्लिखित विशिष्ट व्यापार हुआ करते हैं इस तत्वको सभी दर्शन, चित्शक्तिविशिष्ट स्वीकार करते हैं तथा अपने अपने अभिप्रायके अनुसार सभी दर्शन इसको पुरुष, आत्मा. जीव, जीवात्मा ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य अलग नामोंसे उल्लेख करते हैं।

प्रत्येक प्राणीके शरीरमें एक एक चित्शक्ति-विशिष्ट तत्वके अस्तित्वकी समान स्वीकृति रहते हुए भी उक्त दर्शनोंमेंसे कोई कोई दर्शन तो इन सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंको परस्पर मूलतः ही पृथक् २ करते हैं और कोई कोई ईश्वर या परब्रह्मके एक एक अंशके रूपमें इन्हें पृथक् २ स्वीकार करते हैं अर्थात् कोई कोई दर्शन उक्त चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करते हैं अर्थात् कोई दर्शन इनकी नित्य और व्यापक ईश्वर या परब्रह्मसे उत्पत्ति स्वीकार करके एक एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्वको उक्त ईश्वर या परब्रह्मका एक एक अंश मानते हैं उन्हें मूलतः पृथक् पृथक् नहीं मानते हैं। सांख्य, मीमांसा आदि कुछ दर्शनोंके साथ २ जैन दर्शन भी संपूर्ण चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करके उन्हें परस्पर भी पृथक् २ ही मानता है।

उक्त प्रकारसे चित्शक्तिविशिष्टतत्वकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध ये सभी दर्शन प्राणियोंको समय समयपर होनेवाले सुख तथा दुःख का भोक्ता उन प्राणियोंके अपने २ शरीरमें रहनेवाले चित्शक्तिविशिष्टतत्वको ही स्वीकार करते हैं सभी दर्शनोंकी इस समान मूलमान्यताके आधारपर उनमें (सभी दर्शनोंमें) समानरूपसे निम्न लिखित चार सिद्धान्त स्थिर होजाते हैं—

(१) प्रत्येक प्राणीके अपने २ शरीरमें मौजूद तथा भिन्न २ दर्शनोंमें पुरुष, आत्मा, जीव, जीवात्मा, ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य भिन्न २ नामों से पुकारे जानेवाले प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्टतत्वका अपने २ शरीरके साथ आबद्ध होनेका कोई न कोई कारण अवश्य है।

(२) जब कि प्राणियोंके उल्लिखित विशिष्ट व्यापारोंके प्रादुर्भाव और सर्वथा विच्छेदके आधार पर प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्ट तत्वकी अपने २ वर्तमान शरीरके साथ प्राप्त हुई बद्धताका जन्म और मरणके रूपमें आदि तथा अन्त देखा जाता है तो मानना पड़ता है कि ये सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्व सीमित काल तक ही अपने २ वर्तमान शरीरमें आबद्ध रहते हैं ऐसी हालतमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अपने २ वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पहिले ये चित्शक्तिविशिष्टतत्व किस रूपमें विद्यमान रहे होंगे? यदि कहा जाय कि अपने २ वर्तमान शरीरके

साथ आबद्ध होनेसे पहिले वे सभी चित्शक्तिविशिष्ट-तत्व शरीरके बन्धनसे रहित बिल्कुल स्वतंत्र थे तो प्रश्न उठता है कि इन्हें अपने अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेका कारण अकस्मात् कैसे प्राप्त हो गया ? इस प्रश्नका उचित समाधान न मिल सकनेके कारण चित्शक्तिविशिष्टतत्वकी सत्ताको स्वीकार करने वाले उक्त सभी दर्शनोंमें यह बात स्वीकार की गयी है कि अपने अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पूर्व भी ये सभी चित्शक्तिविशिष्टतत्व किसी दूसरे अपने २ शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे और उससे भी पूर्व किसी दूसरे २ अपने २ शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे इस प्रकार सभी चित्शक्तिविशिष्ट-तत्वोंकी शरीरबद्धताकी यह पूर्वपरंपरा इनकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा अनादिकाल तक और ईश्वर या परमब्रह्मसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा ईश्वर या परमब्रह्मसे जबसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है तब तक माननी पड़ती है।

(३) चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीरबद्धताका कारण उनका स्वभाव है—यह मानना असंगत है कारण कि एक तो स्वभाव परतंत्रताका कारण ही नहीं हो सकता है। दूसरे, स्वभावसे प्राप्त हुई परतंत्रता की हालतमें उन्हें दुःखानुभवन नहीं होना चाहिये; लेकिन दुःखानुभवन होता है इस लिये सभी चित्-शक्तिविशिष्टतत्व की शरीरबद्धताका कारण स्वभावसे भिन्न किसी दूसरी चीजको ही मानना युक्तियुक्त जान पड़ता है और इसी लिये सांख्यदर्शनमें त्रिगुणात्मक (सत्वरजस्तमोगुणात्मक) अचित् प्रकृतिको, वेदान्त-दर्शनमें असत कही जानेवाली अविद्याको, मीमाँसा-दर्शनमें चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंमें विद्यमान अशुद्धि (दोष) को, ईश्वरकर्तृत्ववादी योग, न्याय और वैशे-षिक दर्शनोंमें इच्छा, ज्ञान और कृति शक्तित्रय विशिष्ट ईश्वरको, जैनदर्शनमें अचित् कर्म (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि द्रव्योंका सजातीय पौद्गलिक वस्तुविशेष) को और बौद्धदर्शनमें विपरीताभिनिवेश स्वरूप अविद्याको उसका कारण स्वीकार किया गया है। इनमेंसे योग न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें माना गया ईश्वर उनकी मान्यताके अनुसार चित्शक्ति-विशिष्टतत्वोंके साथ असंबद्ध रहते हुए भी उनके मन, वचन और शरीर संबन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्योंके आधारपर सुख तथा दुःखके भोगमें सहायक शरीरके साथ उन्हें आबद्ध करता रहता है। शेष सांख्य आदि दर्शनोंमें चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीरबद्धतामें माने गये प्रकृति आदि कारण उन चित्शक्तिविशिष्ट-तत्वोंके साथ किसी न किसी रूपमें संबद्ध रहते हुए ही उनके मन, वचन और शरीर संबन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्योंके आधारपर सुख तथा दुःखके भोगमें सहायक शरीरके साथ उन्हें आबद्ध करते रहते हैं। इसी प्रकार चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीरबद्धताकी जिस पूर्वपरंपराका उल्लेख पहले किया जा चुका है उसकी संगतिके लिये योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें ईश्वरको शाश्वत (अनादि और अनिधन) मान लिया गया है तथा एक जैनदर्शनको छोड़कर शेष सांख्य आदि सभी दर्शनोंमें चित्शक्तिविशिष्ट-तत्वोंके साथ प्रकृति आदिके संबन्धको यथायोग्य अनादि अथवा ईश्वर या परमब्रह्मसे उनकी (चित्शक्ति-विशिष्टतत्वोंकी) उत्पत्ति होनेके समयसे स्वीकार किया गया है। जैनदर्शनमें चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीर-बद्धतामें कारणभूत कर्मके संबन्धको तो सादि स्वी-कार किया गया है परंतु उनकी २ शरीरबद्धताकी पूर्वोक्त अविच्छिन्न परम्पराकी संगतिके लिये वहांपर (जैनदर्शनमें) शरीरसम्बंधकी अविच्छिन्न अनादि परम्पराकी तरह उसमें कारणभूत कर्मसम्बंधकी भी अविच्छिन्न अनादि परंपराको स्वीकार किया गया है और इसका आशय यह है कि यदि चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीरबद्धतामें कारणभूत उक्त कर्मसंबन्धको अनादि माना जायगा तो उस कर्मसम्बंधको कारण रहित स्वाभाविक ही मानना होगा, लेकिन ऐसा मानना इस लिये असंगत है कि इस तरहसे प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःख की परंपरास्वरूप संसारका सर्वथा विच्छेदके अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा जो कि साँख्य, वेदान्त, योग

न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध इन दर्शनोंमेंसे किसी भी दर्शनको अभीष्ट नहीं है। मीमांसादर्शनमें जो प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुःख-दुःखकी परंपरा रूप संसारका सर्वथा विच्छेद नहीं स्वीकार किया गया है उसका सबब यही है कि वह चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंमें विद्यमान अशुद्धिके संबन्धको अनादि होनेके सबब कारण रहित स्वाभाविक स्वीकार करता है। परन्तु जो दर्शन प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरा स्वरूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वीकार करते हैं उन्हें चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीर-बद्धतामें कारणरूपसे स्वीकृत पदार्थके सम्बंधको कारणसहित अस्वाभाविक ही मानना होगा और ऐसा तभी माना जा सकता है जब कि उस सम्बंधको सादि माना जायगा। यही सबब है कि जैनदर्शनमें मान्य प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परम्परा स्वरूप संसारके सर्वथा विच्छेदकी संगतिके लिये वहां पर (जैनदर्शनमें) शरीरसम्बंधमें कारणभूत कर्मके सम्बंधको तो सादि माना गया है और शरीर सम्बंध की पूर्वोक्त अनादि परम्पराकी संगतिके लिये उस कर्म सम्बंधकी भी अविच्छिन्न परंपराको अनादि स्वीकार किया गया है। इसकी व्यवस्था जैनदर्शनमें निम्न प्रकार बतलायी गयी है—

जैनदर्शनमें कार्माण वर्गणा नामका चित्शक्तिसे रहित तथा रूप, रस गंध और स्पर्श गुणोंसे युक्त होनेके कारण पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्वोंका सजातीय एक पौद्गलिक तत्व स्वीकार किया गया है। यह तत्व बहुत ही सूक्ष्म है और पृथ्वी आदि तत्वोंकी ही तरह नाना परमाणुपुंजोंमें विभक्त होकर समस्त-लोकाकाशमें सर्वदा अवस्थित रहता है। प्राणियोंकी मन, वचन और शरीरके जरिये पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें जो प्रवृत्ति देखी जाती है उस प्रवृत्तिसे उस कार्माणवर्गणाके यथायोग्य बहुतसे परमाणुओंके पुंजके पुंज उन प्राणियोंके शरीरमें रहने वाले चित्-शक्तिविशिष्ट तत्वोंके साथ चिपट जाते हैं अर्थात् अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला पानीके बीचमें रख जानेसे जिस प्रकार चारों ओरसे पानीको खींचता है उसी प्रकार अपने मन, वचन और शरीर सम्बंधी पुण्य एवं पापरूप कृत्यों द्वारा गरम हुआ (प्रभावित) उक्त चित्शक्तिविशिष्टतत्व समस्त लोकमें व्याप्त कार्माणवर्गणाके बीचमें पड़जानेके कारण चारों ओरसे उस कार्माण वर्गणाके यथायोग्य परमाणु पुंजोंको खींच लेता है और इस तरहसे कार्माण वर्गणाके जितने परमाणुपुंज जब तक चित्शक्ति-विशिष्टतत्वोंके साथ चिपटे रहते हैं तब तक उन्हें जैनदर्शनमें 'कर्म' नामसे पुकारा जाता है तथा इस कर्मसे प्रभावित होकरके ही प्रत्येक प्राणी अपने मन, वचन और शरीर द्वारा पुण्य एवं पापरूप कृत्य किया करता है अर्थात् प्राणियोंकी उक्त पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति कराने वाले ये कर्म ही हैं। प्राणियों की पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति करा देनेके बाद इन कर्मोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है और ये उस हालतमें चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंसे पृथक् होकर अपना वही पुराना कार्माणवर्गणाका रूप अथवा पृथ्वी आदि स्वरूप दूसरा और कोई पौद्गलिक रूप धारण कर लेते हैं।

यहांपर यह खासतौरसे ध्यानमें रखने लायक बात है कि इन कर्मोंके प्रभावसे प्राणियोंकी जो उक्त पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति हुआ करती है उस प्रवृत्तिसे उन प्राणियोंके अपने २ शरीरमें रहने वाले चित्शक्तिविशिष्टतत्व कार्माणवर्गणाके दूसरे यथा-योग्य परमाणुपुंजोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और इस तरहसे चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी पूर्वोक्त शरीरसम्बंधपरंपराकी तरह उसमें कारणभूत कर्म-सम्बंधकी परंपरा भी अनादिकालसे अविच्छिन्नरूपमें चली आरही है। अर्थात् जिस प्रकार वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति होते हुए भी उनकी यह परंपरा अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपमें चली आरही है उसी प्रकार कर्मसम्बंधसे चित्शक्तिविशिष्ट-तत्वोंका शरीरके साथ सम्बंध होता है इस संबद्धशरीरकी सहायतासे प्राणी पुण्य एवं पाप रूप कार्य किया करते हैं उन कार्योंसे उनके साथ पुनः कर्मोंका बन्ध हो जाता है और कर्मोंका यह

अनादि कालसे अविच्छिन्न रूपमें चली जा रही है।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर के साथ चित्शक्ति विशिष्ट तत्वोंके आबद्ध होनेका कारण सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय, वैशेषिक जैन और बौद्ध इन सभी दर्शनोंमें स्वरूप तथा कारणताके प्रकारकी अपेक्षा यद्यपि यथायोग्य सत्-चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंके आबद्ध होनेका कारण अतिरिक्त पदार्थ है।

(४) उल्लिखित तीन सिद्धान्तोंके साथ २ एक चौथा जो सिद्धान्त इन दर्शनोंमें स्थिर होता है वह यह है कि जब चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंका शरीरके साथ संबद्ध होना उनसे अतिरिक्त कारणके अधीन है तो इस शरीरसंबंधपरंपराका उक्त कारणके साथ साथ मूलतः विच्छेद भी किया जा सकता है। परन्तु इस चौथे सिद्धान्तको मीमांसादर्शनमें नहीं स्वीकार किया गया है क्योंकि पहिले बतलाया जा चुका है कि मीमांसा दर्शनमें शरीरसंबंधमें कारणभूत अशुद्धिके संबंधको अनादि होनेके सबब अकारण स्वीकार किया गया है इसलिये उसकी मान्यताके अनुसार इस संबंधका सर्वथा विच्छेद होना असंभव है।

इन सिद्धान्तोंके फलित अर्थके रूपमें निम्न लिखित पाँच तत्व कायम किये जा सकते हैं— (१) नाना चित्शक्तिविशिष्ट तत्व, (२) इनका शरीर-संबंध परंपरा अथवा सुख-दुःख परंपरारूप संसार, (३) संसारका कारण, (४) संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूपमुक्ति और (५) मुक्तिका कारण।

चार्वाक दर्शनमें इन पाँचों तत्वोंको स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि ये पाँचों तत्व परलोक तथा मुक्तिकी मान्यतासे ही सम्बंध रखते हैं। मीमांसा दर्शनमें इनमेंसे आदिके तीन तत्व स्वीकृत किये गये हैं। क्योंकि आदिके तीन तत्व परलोककी मान्यतासे सम्बंध रखते हैं और मीमांसा दर्शनमें परलोककी मान्यताको स्थान प्राप्त है परन्तु वहाँ पर (मीमाँसा दर्शनमें) भी मुक्तिकी मान्यताको स्थान प्राप्त न होने के कारण अन्तके दो तत्वोंको नहीं स्वीकार किया गया है। न्याय और वैशेषिक तथा बौद्धदर्शनमें इन पाँचों तत्वोंको स्वीकार किया गया, क्योंकि इन दर्शनोंमें परलोक और मुक्ति दोनोंकी मान्यताको स्थान प्राप्त है।

जैन संस्कृतिकी जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप सप्ततत्ववाली जिस पदार्थमान्यताका उल्लेख लेखमें किया गया है उसमें उक्त दर्शनोंको स्वीकृत इन पाँचों तत्वोंका ही समावेश किया गया है अर्थात् सप्ततत्वोंमें स्वीकृत प्रथम जीव तत्वसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्वका अर्थ लिया गया है, द्वितीय अजीव तत्वसे उक्त कार्माण वर्गणास्वरूप अजीव तत्वकी सम्बंधपरम्परारूप मूल संसारको चौथे बन्ध तत्वमें समाविष्ट करके चित्शक्तिविशिष्ट तत्वके शरीरसम्बन्ध परंपरा रूप अथवा सुख-दुःख-परंपरारूप संसारको इसीका विस्तार स्वीकार किया गया है। तीसरे आस्रवतत्वमें उक्त जीव और अजीव दोनों तत्वोंकी सम्बंध परंपरारूप मूल संसारमें कारण भूत प्राणियोंके मन वचन और शरीर सम्बंधी पुण्य एवं पापरूप कार्योंका बोध होता है।

तत्वव्यवस्थामें बन्ध तत्वको चौथा और आस्रव तत्वको तीसरा स्थान देनेका मतलब यह है कि बन्ध रूप संसारका कारण आस्रव है इसलिये कारणरूप आस्रवका उल्लेख कार्यरूप बन्धके पहिले करना ही चाहिये और चूंकि इस तत्व व्यवस्थाका लक्ष्य प्राणियों का कल्याण ही माना गया है तथा प्राणियोंकी हीन और उत्तम अवस्थाओंका ही इस तत्व व्यवस्थासे हमें बोध होता है इसलिये तत्वव्यवस्थाका प्रधान आधार होनेके कारण इस तत्वव्यवस्थामें जीवतत्वको पहिला स्थान दिया गया है। जीव तत्वके बाद दूसरा स्थान अजीवतत्वको देनेका सबब यह है कि जीवतत्वके साथ इसके (अजीव तत्वके) संयोग और वियोग तथा संयोग और वियोगके कारणोंको ही शेष पांच तत्वोंमें संगृहीत किया गया है।

सातवें मोक्षतत्वसे कर्मसंबन्ध परंपरासे लेकर शरीरसंबन्ध परंपरा अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद अर्थ लिया गया है और चूंकि प्राणियोंकी यह अन्तिम प्राप्य और अविनाशी अवस्था है इसलिये इसको तत्वव्यवस्थामें अन्तिम सातवाँ स्थान दिया गया है।

पाँचवें संवरतत्वका अर्थ संसारके कारणभूत आस्रवका रोकना और छठे निर्जरातत्वका अर्थ संबद्ध कर्मों अर्थात् संसारको समूल नष्ट करनेका प्रयत्न करना स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब पूर्वोक्त संसारके आत्यन्तिक विनाशका नाम मुक्ति है तो इस प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्तिके लिये हमें संसार के कारणोंका नाश करके संसारके नाश करने का प्रयत्न करना होगा, संवर और निर्जरा इन दोनों तत्वोंकी मान्यताका प्रयोजन यही है और चूंकि इन दोनों तत्वोंको सातवें मोक्ष तत्वकी प्राप्तिमें कारण माना गया है इसलिये तत्वव्यवस्थामें मोक्ष तत्वके पहिले ही इन दोनों तत्वोंको स्थान दिया गया है। संवरको पाँचवां और निर्जराको छठा स्थान देनेका मतलब यह है कि जिस प्रकार पानीसे भरी हुई नाव को डूबनेसे बचानेके लिये नावका बुद्धिमान मालिक पहिले तो पानी आनेमें कारणभूत नावके छिद्रको बंद करता है और तब बादमें भरे हुए पानीको नावसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार मुक्तिके इच्छुक प्राणीको पहिले तो कर्मबन्धमें कारणभूत आस्रवको रोकना चाहिये जिससे कि कर्मबन्धकी आगामी परंपरा रुक जाय और तब बादमें बद्ध कर्मों को नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि पूर्ण संवर होजानेके बाद ही निजराका प्रारम्भ नहीं माना गया है बल्कि जितने अंशोंमें संवर होता जाता है उतने अंशोंमें निर्जराका प्रारम्भ भी होता जाता है इस तरह पानी आनेके छिद्रको बंद करने आर भरे हुए पानीको धीरे २ बाहर निकालनेसे जिस प्रकार नाव पानी रहित हो जाती है उसी प्रकार कर्मबन्धके कारणोंको नष्ट करने और बद्ध कर्मोका धीरे २ विनाश करनेसे अन्तमें जीव भी संसार (जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरा) स सर्वथा निर्लिप्त होजाता है।

सांख्य आदि दर्शनोंको यद्यपि पूर्वोक्त पांचों तत्व मान्य है परन्तु उनकी पदार्थव्यवस्थामें जैनदर्शनके साथ और परस्पर जो मतभेद पाया जाता है उसका कारण उनका भिन्न २ दृष्टिकोण ही है। तात्पर्य यह है कि सारभूत-मुख्य-मूलभूत या प्रयोजनभूत पदार्थोंको तत्वनामसे पुकारा जाता है। यही सबब है कि जैन दर्शनके दृष्टिकोणके मुताबिक जगत्में नाना तरहके दूसरे २ पदार्थोंका अस्तित्व रहते हुए भी तत्व शब्दके इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर प्राणियोंके आत्यन्तिक सुख (मुक्ति) की प्राप्तिमें जिनका समझ लेना प्रयोजनभूत मान लिया गया है उन पूर्वोक्त चित्शक्तिविशिष्टतत्व स्वरूप जीव, कार्माण वर्गणास्वरूप अजीव तथा आस्रव और वियोगके कारणस्वरूप संवर और निर्जराको ही सप्ततत्वमयपदार्थव्यवस्थामें स्थान दिया गया है।

सांख्य दर्शनके दृष्टिकोणके अनुसार मुक्तिप्राप्ति के लिये चित्शक्तिविशिष्टतत्वस्वरूप पुरुष तथा इनकी शरीरसंबंधपरंपरारूप संसारकी मूलकरण स्वरूप प्रकृति और इन दोनोंके संयोगसे होनेवाले बुद्धि आदि पंचमहाभूत पर्यन्त प्रकृतिविकारोंको समझ लेना ही जरूरी या पर्याप्त मान लिया गया है इसलिये सांख्यदर्शनमें नाना चित्शक्तिविशिष्ट तत्व, इनका शरीरसम्बन्धपरंपरा अथवा सुख-दुख परंपरारूप संसारका कारण, संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन पाँचों तत्वोंकी मान्यता रहते हुए भी उसकी (सांख्यदर्शनकी) पदार्थ व्यवस्था में सिर्फ पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि तेवीस प्रकृति विकारोंको ही स्थान दिया गया है।

जैनदर्शनकी सप्ततत्व स्वरूप पदार्थव्यवस्थाके साथ यदि सांख्यदर्शनकी पच्चीस तत्वस्वरूप पदार्थव्यस्थाका स्थूल रूपसे समन्वय किया जाय तो कहा जा सकता है कि जैनदर्शनके जीवतत्वके स्थानपर सांख्यदर्शनमें पुरुषतत्वको और जैनदशनके अजीव तत्व (कार्माण वर्गणा) के स्थानपर सांख्यदर्शनमें प्रकृतितत्वको स्थान दिया गया है तथा जैनदर्शनके बन्धतत्वका यदि विस्तार किया जाय तो सांख्यदर्शनकी बुद्धि आदि तेवीस तत्वोंकी मान्यताका उसके साथ समन्वय किया जा सकता है इतना समन्वय करनेके बाद इन दोनों दर्शनोंकी मान्यताओंमें सिर्फ इतना भेद रह

जाता है कि जहां सांख्यदर्शनमें बुद्धि आदि सभी तत्वोंको पुरुष संयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है वहाँ जैनदर्शनमें कुछको तो प्रकृति संयुक्त पुरुषका विकार और कुछको पुरुष सयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि सांख्य दर्शनके पच्चीस तत्वोंको जैनदर्शनके जीव, अजीव और बन्ध इन तीन तत्वोंमें संग्रहीत किया जा सकता है। इस प्रकार सांख्यदर्शनमें पच्चीस तत्वोंके रूपमें नाना चित्शक्ति विशिष्ट तत्व और इनका शरीरसंबन्धपरम्परा अथवा सुख-दुःख परम्परा रूप संसार ये दो तत्व तो कंठोक्त स्वीकार किये गये हैं। शेष संसारका कारण, संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तीन तत्वोंकी मान्यता रहते हुए भी इन्हें पदार्थमान्यतामें स्थान नहीं दिया गया है।

योगदर्शनमें नाना चित्शक्तिविशिष्टतत्व, उनका संसार, संसारका कारण, मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तत्वोंकी मान्यता रहते हुए भी उसकी पदार्थ व्यवस्था करीब करीब सांख्यदर्शन जैसी ही है। विशेषता इतनी है कि योगदर्शनमें पुरुष और प्रकृतिके संयोग तथा प्रकृतिकी बुद्धि आदि तेवीस तत्वरूप होने वाली परिणतिमें सहायक एक शाश्वत ईश्वरतत्वको भी स्वीकार किया गया है और मुक्तिके साधनोंका विस्तृत विवेचन भी योगदर्शनमें किया गया है।

सांख्यदर्शनकी पदार्थव्यवस्था योगदर्शनकी तरह वेदान्तदर्शनको भी मान्य है लेकिन वेदान्तदर्शनमें उक्त पदार्थव्यवस्थाके मूलमें नित्य, व्यापक और एक परब्रह्म नामक तत्वको स्वीकार किया गया है तथा संसारको इसी परब्रह्मका विस्तार स्वीकार किया गया है इस प्रकार वेदान्तदर्शनमें यद्यपि एक परब्रह्म हीको तत्वरूपसे स्वीकार किया है परन्तु वहाँपर (वेदान्तदर्शनमें) भी प्रत्येक प्राणीके शरीरमें पृथक् २ रहने वाले चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंको उस परब्रह्मके अंशोंके रूपमें स्वीकार करके उनका असत् स्वरूप अविद्याके साथ संयोग, इस संयोगके आधारपर उन चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंका सुख-दुःख तथा शरीर-संबन्धकी परंपरा रूप संसार, इस संसारसे छुटकारा स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण ये सब बातें स्वीकार की गयी हैं। वेदान्तदर्शनमें परब्रह्मको सत् और संसारको असत् माननेकी जो दृष्टि है उसका सामञ्जस्य जैनदर्शनकी करणानुयोगदृष्टि (उपयोगितावाद)से होता है क्योंकि जैनदर्शनमें भी संसार अथवा शरीरादि जिन पदार्थों को द्रव्यानुयोग (वास्तविकतावाद) की दृष्टिसे सत् स्वीकार किया गया है उन्हींको करणानुयोगकी दृष्टि से असत् स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमें भी करणानुयोगकी दृष्टिसे एक चित्शक्तिविशिष्ट आत्मतत्वको ही शाश्वत् होनेके कारण सत् स्वीकार किया गया है और शेष संसारके सभी तत्वों को अशाश्वत्, आत्मकल्याणमें अनुपयोगी अथवा बाधक होनेके कारण असत् (मिथ्या) स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार चित्शक्तिविशिष्ट तत्व, उनका पूर्वोक्त संसार और संसारका कारण इन तीन तत्वोंको स्वीकार करने वाले मीमांसादर्शनमें तथा इनके साथ २ मुक्ति और मुक्तिके कारण इन दो तत्वोंको मिलाकर पांच तत्वोंको स्वीकार करने वाले न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनोंमें भी इनका जैनदर्शनकी तरह जो तत्वरूपसे व्यवस्थित विवेचन नहीं किया गया है वह इन दर्शनोंके भिन्न २ दृष्टिकोणका ही परिणाम है।

इस संपूर्ण कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनदर्शनकी सप्ततत्वमय पदार्थव्यवस्था यद्यपि उक्त सभी दर्शनोंको स्वीकार्य है परन्तु जहां जैनदर्शनमें उपयोगितावादके आधारपर उसका सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढंगसे विवेचन किया गया है वहां दूसरे दर्शनोंमें उसका विवेचन सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढंगसे नहीं किया गया है।

अदृष्टवाद और होनहार

(श्री दौलतराम 'मित्र')

—o—

इस विषयमें कितने ही मत हैं, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है। उनमें सर गुरुदास बनर्जीका मत वैज्ञानिक है। देखिये—

सर गुरुदास बनर्जी कहते हैं—

"अदृष्टवाद कहनेसे अगर यह समझा जाय कि मैं किसी वांछित कार्यके लिये चाहे जितनी चेष्टा क्यों न करूँ, अदृष्ट अर्थात् मेरी न जानी हुई कोई अलंध्य-अनिवार्य शक्ति उस चेष्टाको विफल कर देगी, तो अदृष्टवाद माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह कार्य-कारण-सम्बन्ध-विषयक नियमके विरुद्ध है। किन्तु यदि अदृष्टवादका अर्थ यह हो कि कि कार्य-कारण-परंपराके क्रमसे जो कुछ होनेको है, और जो पूर्णज्ञानमय ब्रह्मके ज्ञानगोचर था कि ऐसा होगा, उसीकी ओर मेरी चेष्टा जायगी—दूसरी ओर नहीं जायगी, तो वह अदृष्टवाद माने विना नहीं रहा जा सकता। कारण, वह कार्य-कारण-संबंध-विषयक अलंध्य नियमका फल है।" (ज्ञान और कर्म पृ०१६२)

मैंने इसपर एक तुकबंदी की है, वह यह है—

"कारण हो अनुकूल, कार्य प्रतिकूल न होगा।
हों कारण प्रतिकूल, कार्य अनुकूल न होगा॥
होनहार है यही, करो यह मनमें धारण।
होनहार शुभ हेतु, इकट्ठे करो सुकारण॥

मिले सफलता यदि नहीं, हैं कारण प्रतिकूल।
निःसंशय यह जानिये, हुई कहीं भी भूल॥"

सम्पादकीय नोट—सर गुरुदास बनर्जीने अदृष्टवाद अथवा भवितव्यता (होनहार) के विषयमें कार्यकारण-सम्बन्ध-विषयक जो बात कही है वह आजसे कोई १८०० वर्ष पहले विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान् महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रके निम्न सूत्रवाक्यमें संनिहित ही नहीं किंतु अधिक स्पष्टताके साथ कही गई है:—

"अलंध्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतु-द्वयाविष्कृत-कार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः
—स्वयम्भूस्तोत्र

इसमें अलंध्यशक्ति भवितव्यताको 'हेतुद्वयाविष्कृतकार्य-लिङ्गा' बतलाया गया है और उसके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि अन्तरंग और बहिरंग अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके अनिवार्य संयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाले कार्यमें भवितव्यता जानी जाती है अर्थात् भावी होनहारके साथ कारण-कार्य-नियमका सम्बन्ध अटल है। इसमें हेतुका 'द्वय' विशेषण अपना खास महत्व रखता है, सो सर गुरुदासजीके कथनपरसे स्पष्ट नहीं है और इसीसे उत्तरार्धमें उस संसारी प्राणीका अहंकारसे पीड़ित और अनीश्वर (कार्य करनेमें असमर्थ) बतलाया गया है जो उक्त भवितव्यता अथवा हेतुद्वयकी अपेक्षा न रखता हुआ अनेक सहकारी बाह्य कारणोंको मिलाकर ही कार्य सिद्ध करना चाहता है।

और इसलिये लेखकने "कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है" इन शब्दोंके द्वारा दूसरे सभी कथनोंपर जो अरुचि व्यक्त की है वह समुचित प्रतीत नहीं होती।

वीरके संदेशको उपेक्षा

(ले०—बा० प्रभुलाल जैन 'प्रेमी')

आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व, जबकि इस धर्म-प्रधान देशमें अधार्मिकता, अत्याचार और अनाचारों ने अपना नग्न ताण्डव प्रारम्भ कर दिया था, दुखित, मर्माहत और भूले भटके प्राणियोंको उचित पथ प्रदर्शक कोई कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था, मानव समाजके हृदयसे मनुष्यत्व कोसों दूर भाग चुका था, कर्त्तव्याकर्त्तव्यपर विचार करनेके लिये मस्तिष्क दिवालिया बन चुका था, पशुयज्ञ ही एक मात्र शांति और कल्याणके साधन बतलाकर पराकाष्ठापर पहुँचा दिये गये थे—नरमेध यज्ञ तक होने लगे थे। प्राणी दीन और आश्रय हीन, मणिविहीन सर्पकी तरह तड़फड़ा रहे थे, तब मूक पशुओं तथा निरपराध और निःसहाय प्राणियोंकी दुखित वेदनाओं और मर्माहीन आहोंसे करुणानिधानका भी करुण हृदय भर आया। उनकी पुकार सुनी और वे आये। उस भीषण स्थितिमें भगवान वीरने अपने दिव्य संदेश-द्वारा अधर्मके गढ़ तोड़े, अशांतिका साम्राज्य नष्ट किया, अन्ध-श्रद्धा और अन्ध भक्तिको पंगु किया, अज्ञान और अन्धकार समूहका विध्वंस कर ज्ञान प्रभाकरकी प्रभासे चहुँओर प्रकाश फैलाया, उनके इन्हीं आत्म कल्याणकारी उपदेशोंको विश्व इतिहास वीर-संदेश नामसे पुकारता है।

प्राणीमात्रकी रक्षा करो, अपराधीके अपराधको केवल क्षमा ही न करो, अपितु उसके प्रति प्रेम और दयालुताके भाव प्रदर्शित करो। संसारके सभी प्राणियोंको समानता की दृष्टिसे देखो। प्रचलित कुप्रथाओंके भाव न बन कर समय और स्थिति देखकर ही पथप्रदर्शन करो। वीर-संदेश के इन सैद्धान्तिक अंगोंके प्रचार और प्रसारकी विश्व कल्याणकी दृष्टिसे आज भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी इन सिद्धान्तोंके प्रवर्त्तकके आविर्भाव कालमें थी। वीर-संदेश वीरका वीरके लिये दिया गया संदेश है। और सच्चा वीर वही है जिसने अपने आपको जीत लिया हो। जो अपने ही हृदय स्थित वैरियोंसे पराजित होकर दूसरोंको जीतने की लालसा करता है वह कायर है। "जीओ और जीने दो" इतना ही नहीं, विवेक पूर्ण जीवन बितानेके लिये उत्साहित भी करो यही वीर-धर्म है। आज हम वृक्षके पत्ते तोड़ने और हरी शाक भाजी काटनेमें भले ही जीव-रक्षा का ध्यान रखलेते हों, पर निःसंदेह प्राणियोंके साथ जो आज व्यवहार होरहा है वह मानवतासे परे है। प्राणीमात्र की रक्षाके स्थानमें हम उसको अरक्षित दशामें छोड़ कर ही शांत नहीं होजाते पर उसका विनाश कैसे हो इसके लिये तरह २ के साधन जुटाने और जुटवानेका प्रयत्न करते हैं। जिस संदेशमें आत्माभिमानकी गंध तक नहीं थी छूतके भूत भागते थे, 'जन्मना जायते शूद्रः' मतानुसार ऊंच नीच का भेद संस्काराधीन था, वहाँ स्वार्थी समाजके मुखिया कहे जाने वाले लोगोंने अपने जीवनका यह लक्ष्य बना कर कि—

'चाहे भारत गारत होय हमें क्या करना
संसार अनोखा स्वाद, हमें है चखना'

धर्मके नाम पर ऐसी विकृति नीति फैलादी है जिसे देखकर कौन ऐसा पाषाण हृदय मानव होगा जिसकी आँखों से अश्रुधारा का स्रोत न उमड़ पड़ता हो? यदि संस्कारी और अधिकारी पर नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति आत्मकल्याण हेतु पतित पावनालयमें प्रार्थना करने जाना चाहता है तो उसे उसके प्रवेशसे पतितपावनालयके अशुद्ध हो जानेका भय दिखाकर बुरी तरह धुतकार दिया जाता है। किसी से छोटा अथवा बड़ा कैसा ही अपराध हुआ हो चाहे फिर वह धार्मिक हो सामाजिक हो अथवा राजनैतिक हो, उसे उपासनालय (पतितपावनालय) में जाकर पतितपावनकी पूजन भक्तिसे वंचित रखना यही समाजने आज दण्डविधान निर्माण कर रखा है। ऐसे ही कारणोंसे एक राष्ट्रमें कई विभिन्न मत और मतानुयायियोंका जमघट इकट्ठा होगया है, और राष्ट्र, समाज तथा जातिके अनेक छोटे २ विभाजन होने से अलग २ उपासनालय और अलग २ उपासनाके ढंग बना लिये हैं। मानो परमात्मापर जाति-विशेषका जायदादी

तथा पुश्तैनी हक हो और उसका मनचाहा बटवारा कर लिया हो। यदि कोई व्यक्ति किसी अस्पृश्य द्वारा छू लिया जाता है तो वह किसी भी जलाशयके साधारण जलमें स्नान कर शुद्ध होजाता है, पर यदि वही अस्पृश्य व्यक्ति भगवान के मन्दिरमें प्रवेश कर जाता है, तो मन्दिर और पतितपावन करुणासागर भगवान सभी अपवित्र होजाते हैं। एक समय वह था जबकि मनुष्योंकी कौन कहे पशु-पक्षी तिर्यंच भी वीर संदेशको अभेदरूप समानाधिकारसे सुनते थे, और अपना आत्म कल्याण करते थे, और आज थोड़ेसे नामधारी बनियों ने जिनको कायर कह कर हिकारतकी दृष्टिसे देखा जाता है, अपने धार्मिक साहित्य तकको अलमारियोंमें बन्द कर ताला डाल रक्खा है. धर्मानुयायियोंकी जब इतनी संकुचित, दूषित मनोवृत्तियां हों,फिर धार्मिक सामाजिक सभी प्रकारसे ह्रास होनेमें आश्चर्य ही क्या है? 'आत्मन: प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्'

इस द्धिान्तके अनुसार समाजसे जैसा व्यवहार आप अपने प्रति करानेके अभिलाषी हैं वैसाही दूसरोंके प्रति कीजिये! वीर-संदेशका विश्वप्रेम यही है। इस सिद्धान्तका आचरण करने पर हमारी अन्तरआत्मा अपने आपही दिव्य ज्योतिसे आलोकित हो उठेगी और एक २ व्यक्ति जब अपनी इस प्रकारसे आध्यात्मिक उन्नति करलेगा तो समूचे राष्ट्र और समाजका सामूहिक रूपमें फिर उद्धार होनेमें देर नहीं लगेगी।

हम देखते हैं कि कुछ लोग हाथमें सुमरनी, माथे पर चन्दन और वक्षस्थल पर यज्ञोपवीत धारण कर तीन २ बार उपासनालयोंमें जाते हैं। धार्मिक ग्रन्थोंके पाठोंको पढ़ २ कर फाड़ डालते हैं. पूजा पाठ और स्वाध्याय करते समय ज्ञात होता है मानो वीरके संदेश प्रसारक गणधर यही हों। नाना प्रकारके व्रत, उपवास, एकाशन, बेला, तेला आदि अपने त्याग और तपश्चरणके परिचय देनेका भी प्रयत्न करते हैं। पर—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

इन सिद्धान्तोंका जीवनमें अंशत: भी पालन नहीं करते विपरीत इसके स्वार्थसाधनाहेतु धर्म, कर्म तथा दैनिक व्यवहार तीनोंका तिगुड्ड इकट्ठा कर भोली भाली जनताको ऐसी धार्मिक भ्रान्तिमें डाल देते हैं, कि पुन: उन ग्रन्थियों को सुलझाकर सफलता पूर्ण पथप्रदर्शन करनेमें अच्छे २ अनुभवियोंको भी दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है। यदि भविष्यमें भी वीर-संदेशकी ओर समाजकी ऐसी ही उपेक्षा वृत्ति रही और समाजके मुखिया ऐसे ही स्वार्थान्ध लोगोंको बनाये रक्खा तो वीरका संदेश इतिहासकी ही सामग्री रह जायेगी।

नवीन मन्दिरनिर्माण, वेदीप्रतिष्ठा, जलविहार रथोत्सव आदि जिनमें समाज अन्धे होकर लाखों रुपये पानी की तरह बहा देता है, ऐसा करनेसे समाज धर्मात्मा बन जायगा, अथवा धार्मिक वास्तविक उत्थान होगा, ऐसा मेरा विश्वास नहीं है। भगवान वीरने जिस देशको सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिये महान त्याग और द्वादशवर्षीय कठिन तपश्चरण किया था, उसे जीवित रखनेके लिये हमें भी त्याग करना पड़ेगा। आज हमारा इतना ही त्याग और तपश्चरण पर्याप्त होगा कि हम वीरसंदेशके प्रमुख २ सिद्धान्तों का प्रचार करने में जुट जावें, और उसमें आने वाली विघ्न बाधाओंसे हम तनिक भी पीछे न हटें। हमारा कर्त्तव्य है कि हम प्राचीन वस्तु प्राचीन इतिहास, और धार्मिकसाहित्य के अन्वेषण संकलन और संरक्षणमें जुट जायें, क्योंकि ये ही हमारी वास्तविक निधि हैं, यदि हम त्यागपूर्वक इन कार्योंकी पूर्तिमें लग सकते हैं, तो यह माना जासकता है कि हम वीरके संदेशको समझ सके हैं, और उसकी पूर्तिमें भी लगे हैं। "Young men are the mirror to heep in to the soul of a nation" किसी भी राष्ट्र तथा समाजकी अन्तर आत्माका प्रतिबिम्ब देखनेके लिये नवयुवक ही दर्पण हैं। वीरका संदेश जो हमारे राष्ट्र और समाजकी ही नहीं विश्वकी अतुल निधि है, अक्षयधन-राशि है। आर्यसभ्यता और भारतीय संस्कृतिका निर्मल दर्पण है, और जो जैनसंस्कृतिका आधारभूत प्राण है. आज अप्रकाशमें है। राष्ट्र और समाजकी भावी आशायें इस नवयुवकों पर निर्भर हैं आज हमें प्रचलित कुप्रथाओंका उन्मूलन कर उपर्युक्त निर्दिष्ट कार्यक्रमके अतिरिक्त ग्रामशिक्षा और ग्रामसुधारकी दिशामें भी प्रगतिशील होना चाहिये। यदि हमने इन सुधार योजनाओंमें भाग लेकर उनके पूर्ण उत्तरदायित्वको सम्हाल लिया तो हम "वीरका संदेश" पुन: विश्वके समक्ष उसी रूपमें रखनेके अधिकारी बन सकेंगे।

वीर-संदेश

(ले०—पं० ब्रजलाल जैन, ' विशारद ')

संसारमें महापुरुषोंका आविर्भाव होता है जीवमात्रको उपकृत करके उनके नाना कष्टोंके विनाश एवं उत्थानके हेतु। उनके संकल्प दृढ़ तथा उच्च और आशय गंभीर होते हैं। वे प्रत्येक दशा एवं प्रत्येक स्थितिमें अपना मार्ग स्वयं परिष्कृत कर लेते हैं। घरमें, वनमें, सम्पदमें, विपदमें उन्हें अपने अन्तःकरण हीका अवलम्ब होता है। वे ज्ञान के प्रकाशके लिए सतत एवं दृढ़ उद्योग करके अपना तथा संसारका कल्याण करनेमें संलग्न रहते हैं। सांसारिक भोग-विलासकी प्रेरणा उन्हें अपने कर्त्तव्यपथसे विचलित नहीं कर पाती। वे अपनी कार्य-कुशलता, आशु-बुद्धि एवं चातुर्य आदि गुणोंके तथा प्रतिभाके बलसे संसाररूपी गगनपर जाज्वल्यमान् नक्षत्रकी भांति सदैव भास्वर रहते हैं। उनके हृदय सदैव अन्यायका विरोध और अत्याचारका अवरोध करनेके लिए तत्पर रहते हैं।

श्रमणोत्तम भगवान् महावीर जैन-धर्मके सबसे अंतिम २४ वें महापुरुष हुए हैं। आजसे २५४४ वर्ष पूर्व बिहार प्रान्तस्थ कुण्डलपुर नगरमें चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको उनका आविर्भाव इस शस्य-श्यामला भारत भूमिपर ज्ञातृवंशी क्षत्रिय राजा सिद्धार्थके औरसरूपमें उनकी महारानी त्रिशलादेवीके गर्भसे हुआ था। उनमें महापुरुषोंके सभी लक्षण विद्यमान थे— अपूर्व तेज, अलौकिक प्रतिभा एवं असाधारण व्यक्तित्व। उनके जन्मसे संसार धन्य होगया था सर्वत्र तत्काल ही एक आनन्दकी लहर दौड़ गयी थी।

उस समय संसार की दशा अत्यंत शोचनीय हो रही थी। अन्याय और अत्याचारकी विषम ज्वाला अपना प्रचण्ड रूप धारण किये हुए थी। सर्वत्र ईर्ष्या द्वेष कलह और अन्धविश्वासका साम्राज्य छाया हुआ था। धर्मके पवित्र नामसे मूक पशुओंकी गर्दनोंपर दुधारे चलाये जा रहे थे। यज्ञोंमें पशुबलि तथा नरबलि देकर बताया जाता था कि यज्ञमें मारे गये जीवको मिलता है स्वर्ग। इन राक्षसी दुष्कृत्योंसे त्राहि-त्राहिका नाद प्रतिध्वनित हो रहा था। शूद्रों के साथ पशुओं से भी गर्हित व्यवहार होता था। स्त्री और शूद्र धर्म सेवनसे वंचित रखे जाते थे। स्त्रियोंके अधिकारोंपर कुठाराघात करके उनको केवल भोगविलासकी सामग्री ही समझा जाता था। सामाजिक जीवन विशृङ्खल होकर समाज धर्मसे विमुख और अधर्मकी ओर उन्मुख हो रहा था। भूखे और प्यासे लोग जिस प्रकार अन्न और जलके लिए तड़पते फिरते हैं उसी प्रकार सत्य और शांतिके इच्छुक जन दर-दरकी ठोकरें खाते फिरते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अपने अपने पथसे भ्रष्ट होकर मदान्ध हो रहे थे।

ऐसी परिस्थितिमें भगवान् महावीरने अपना बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तकका जीवन व्यतीत किया था। इससे उनका हृदय विह्वल होगया और मनमें विचार प्रकट हुआ कि संसार अज्ञान और अन्धविश्वासके गहरे गह्वरमें गिर रहा है— ठोकरें खा रहा है पर उसे कोई सन्मार्ग पर लाने वाला नहीं है। उनका हृदय पूछता था— ये अत्याचार और अन्याय क्योंकर दूर हों? मनुष्य अपने कर्त्तव्यको समझकर सुख, शांति और स्वाधीनताको कैसे प्राप्त करे? प्राणों की भीषण होली, यह रक्तपात क्या वास्तवमें सत्यके निकट हैं? उत्तर मिलता था— नहीं। प्रश्न उठता था— तो फिर वास्तव सत्य है क्या? इसी जिज्ञासामें उनकी अवस्था ३० वर्षकी प्राप्त होगई। उन्होंने सोचा कि जब तक मैं स्वयं यथार्थतासे अभिज्ञ नहीं होता तबतक इस महान् कार्यमें सफलता प्राप्त करना अशक्य है। अतः उन्होंने गृह-जंजाल एवं राजपाटका वैभव आदि त्याग कर सर्व प्रथम आत्मशुद्धि तथा आन्तरिक शक्तियोंको विकसित करनेका निश्चय किया और मुसीबतोंको अपनाकर जंगलसे नाता जोड़नेके लिए उद्यत हुए।

माता-पिता पुत्रके विवाहकी व्यवस्थामें लीन थे तब भगवान महावीरने अपना ध्येय प्रकट किया। घरमें हा हा

कार मच गया, माता-पिता एवं बन्धु-बान्धवोंने बहुत समझाया पर सब व्यर्थ; पितासे आज्ञा प्राप्त की और वनकी ओर प्रस्थान किया। 'ज्ञातखण्ड' नामक वनमें पहुँच कर जिन-दीक्षा ग्रहण की और समस्त परिग्रह वस्त्राभूषण एवं शरीरके भी ममत्वको त्यागकर तथा दिगम्बर बनकर घोर तपश्चरण करने लगे।

सिद्धिकी प्राप्तिके हेतु उन्होंने अनेकों कठिनाईयां झेलीं आततायियोंके आक्रमणोंको सहन किया और जबतक उसे प्राप्त न कर लिया तबतक अनवरत वनमें मौन धारण करके आत्मचिन्तन करते रहे। इस प्रकार बारह वर्ष तक सतत असह्य तपस्या करनेके उपरांत उनकी दृष्टिमें साम्य, बुद्धिमें समन्वय, आचारमें अहिंसा तथा भावोंमें सहनशीलता प्रकट हुई। उनकी संपूर्ण शक्तियोंका प्रवाह फूट निकला। वे तप्त कांचनकी भांति शुद्ध होकर केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) और सर्वदर्शी होगये। हृदयमें सत्यका सूर्य प्रकाशमान होनेसे उनके अन्तस् का तम विलीन होगया। विश्व प्रेमकी पतित पावन जाह्नवीका स्रोत उनके रोम-रोमसे बहने लगा।

अनुभव और मनन करनेके उपरान्त जब उन्होंने अपनेको देशोद्धार एवं धर्म प्रचारके अनुरूप पाया तभी उन्होंने अपने जीवनके प्राप्त अनुभव-सत्य, अहिंसा प्रेम एवं दुःख सहनेके श्रेष्ठ मार्गको अपने महान् आदर्श द्वारा संसारके सम्मुख रखा। वे भारतवसुन्धरापर सर्वत्र विहार करने लगे। भगवान्ने जीवोंकी कठिनाइयोंको दूर करनेका मार्ग सुझाया, उनकी भूलें बतलायीं उन्हें बन्धन मुक्त होकर आत्मकल्याण करनेका सदुपदेश दिया। उन्होंने अन्याय, अत्याचार, अन्धविश्वास आदि क्रिया-काण्डों का निर्भीकता पूर्वक विरोध किया। बलिदान, सामाजिक विशृङ्खलता, मानवकी मानवके प्रति निर्दयता, पाखण्ड तथा दुराग्रहका आवरण विदीर्ण करके संसारमें ज्ञान-सूर्यको उन्होंने चमकाया और परस्पर समानताका संबन्ध स्थापित किया। इसके फल स्वरूप अनेकों अनर्थ समूल नष्ट होगये और प्रायः सारा जन-समूह वीर भगवानका अनुयायी एवं भक्त बन गया।

दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर जहां भी पहुँचते वहां उनके लिये महती सभाएँ जुड़ती और उन सभाओंमें वे संसारके प्राणीमात्रको अपने धारा प्रवाही अमूल्य उपदेशों द्वारा "वसुधैव कुटुम्बकम्" के महान् आदर्शको समझाते एवं अपने कर्त्तव्यको भूलकर कुमार्गपर जाने वालोंको सन्मार्ग पर लगाते। उनकी इन सभाओंका नाम था "समवसरण"। समवसरणका द्वार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा तिर्यंच तकके लिए उन्मुक्त था। वहां राजा रंक, गृही साधु, ज्ञानी-अज्ञानी ऊंच-नीच पतित और पवित्र सभी उपदेश सुननेके समान अधिकारी थे, सभी एक साथ हिल-मिलकर बैठते थे और भगवान्की सत्य अहिंसा-प्रधान अनेकान्त वाणीका रसास्वादन करते थे, उनके उपदेशोंसे अनेकको पूर्ण सत्यका अनुभव हुआ था और अनेकने सत्य समझ कर तथा उसके अनुरूप आचरण करके भगवान्की भांति पूर्णज्ञान प्राप्त किया था।

युगप्रवर्तक भगवान् वीरने अनेक देशदेशांतरोंमें भ्रमण करके ज्ञानामृतकी भारी वर्षा की थी और मनुष्योंके हृदयों पर छायी हुई पशुताका नाश करके मानवको मानव बनाया था। जनता उनके तप, त्याग, एवं ज्ञान से प्रभावित होकर उनको अपना सच्चा हितैषी समझने लगी थी। उस समय के लगभग सभी बड़े-बड़े राजा महाराजाओंने भगवान्की शरणमें आकर उनसे व्रत नियमादिक धारण किये थे, और इसी तरह अपने कल्याण मार्गको प्रशस्त बनाया।

भगवान्ने तीस वर्ष तक चारों ओर विहार करके पतितपावन सत्यधर्मका नाद सर्वत्र व्याप्त किया था। जो सत्य सदासे है और सदैव रहेगा उसी सनातन सत्यका अनुभव जगत्के प्राणियोंको कराकर उनमें सच्चे ज्ञानपर श्रद्धा उत्पन्न की थी। स्वावलम्बन, स्वात्मनिर्भरता, संयम, साम्य, अहिंसा तथा विश्वप्रेमका उन्होंने वह असाधारण निर्मल स्रोत बहाया था, जिससे संसारमें सुख-शान्तिका पवित्र वातावरण उत्पन्न होगया था।

श्रीवीर धर्मके प्रवर्तक थे अतः वे तीर्थंकर थे। सब गुणसंपन्न थे और उन्हें वीर, अतिवीर, महावीर, वर्द्धमान, सन्मति जैसे नामोंसे स्मरण किया जाता है।

भगवान् वर्द्धमान-द्वारा प्रचारित सत्यधर्म वैज्ञानिक धर्म-में स्याद्वाद अनेकान्त या अपेक्षावाद एवं जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि दार्शनिक विषय प्रमुख रहते थे। जिनमें सुख-शांति, सत्य एवं सौन्दर्यके

महान् तत्त्वोंका निचोड़ और आत्माके गूढ़ रहस्योंका सम्पूर्ण ज्ञान भरा पड़ा है।

सांसारिक झंझटोंको पार करते हुए वीर प्रभुने अपने जीवनको कर्मठ और कर्मवीर बनाया था। जीवन मार्गमें आयी हुई अनेक महान् आपत्तियोंका दृढ़ता पूर्वक सामना करके उन्होंने अहिंसा धर्मकी छाप अखिल मानव समाज पर अंकित कर दी थी। वे जबतक जीवित रहे तबतक संसारके लिए ही जिये और जब गये तो संसारका कल्याण करते हो गये। इस प्रकार अपने समस्त कर्मजंजालोंको नष्ट कर उन्होंने ७२ वर्षकी आयुमें अपने जन्म-प्रान्तके पावापुर नगरमें ही कार्त्तिकी अमावस्याके उषा:कालमें मोक्ष-लक्ष्मी का वरण किया था। इसी हेतु जनताने भगवानकी पवित्र स्मृतिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए तभीसे दीपावली पर्व मनाना प्रारम्भ किया है।

अद्भुत विचार-क्रान्तिके स्रष्टा जीवनके सच्चे साधक पतितोद्धारक स्वनामधन्य भगवान् वीरने संसारके कल्याणार्थ जो सन्देश दिया था वह संक्षेपमें इस प्रकार है:—

१. संसारका प्रत्येक प्राणी, जो अज्ञान, अशांति और भीषण दु:खकी ज्वालासे दग्ध होरहा हो, मेरे उपदेशसे लाभ प्राप्त कर सकता है। अज्ञान-चक्रमें फंसा हुआ प्रत्येक जीव-वह चाहे तिर्यंच हो या मनुष्य, आर्य हो या म्लेच्छ ब्राह्मण हो या शूद्र तथा पुरुष हो या स्त्री— मेरे पास आकर अथवा मेरे दिखाए हुए मार्गपर चलकर अपनी आत्मपिपासा शान्त कर सकता है।

२. अपनी दृष्टिमें सबको समान समझो-सम्यक्दृष्टि बनो तथा अपने हृदयमें नम्रता, विनय, और दयाको स्थान दो। उदार, साहसी, बुद्धिमान एवं सत्यपरायण बनकर अपने गुणोंका सुन्दर उपयोग करो।

३. सांसारिक जीवनका सच्चा लाभ-प्रेमपूर्वक परस्पर सद्भाव, मंगलकामना, सहानुभूति और सत्यका पालन करना है।

४. धर्म पतितोंके लिए ही होता है, इस हेतु पतितसे पतित व्यक्ति धर्मकी शरण लेकर आत्मविकास, स्वकल्याण कर सकता है। अत: किसीको भी धर्म सेवनसे मत रोको।

५. तुम दूसरोंके साथ वैसाही व्यवहार करो, जैसा तुम दूसरोंका व्यवहार अपने साथ पंसद करते हो।

६. धर्म किसी व्यक्ति या जाति-विशेषकी वस्तु नहीं, वह तो मानव मात्रके अधिकारकी चीज है। उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डालादि सभी क्रियाशील जीवन धारण करके उच्चासन प्राप्त कर सकते हैं।

७. घृणा पापसे करो न कि पापीसे। पापीसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करके उसे उसकी भूल समझाओ और अपने सत्प्रयत्न द्वारा उससे पाप छुड़ाकर उसे सन्मार्गपर लगाओ।

८. किसीके अस्तित्वको मत मिटाओ। संसारमें शांति पूर्वक जियो और दूसरोंको भी अपने समान जीने दो।

९. प्रत्येक जीवकी पीड़ाको स्वयंकी पीड़ा समझो, प्रत्येक जीवके दु:खको अपना दु:ख अनुभव करो तथा दूसरोंके सुखमें ही अपना सुख देखो तभी तुम संसारके समक्ष समृद्धि, सुख और कल्याणका आदर्श उपस्थित कर सकोगे।

१०, सभी प्राणी जीनेकी इच्छा रखते हैं। अत: प्रत्येककी प्रवृत्ति ऐसी होनी चाहिये जिससे दूसरे जीवोंको पीडा न पहुँचे और वे भी सुख-शांति से रहें। तुम्हें उनको मारने अथवा कष्ट पहुँचानेका अधिकार नहीं है।

११. ओछे, बनावटी, असत्य तथा दंभयुक्त वचनोंको त्याग कर मीठे और मृदुल सद्वचन बोलो।

१२. कषाय भावों-क्रोध, मान, माया, लोभादिका अभाव ही अहिंसा है और उनका भाव हिंसा है अर्थात् कषाय और प्रमाद भावोंके कारण मन, वचन और कायसे आत्माके विवेकादि गुणोंका जो घात होता है वह हिंसा है। इसलिए अन्य जीवोंकी भांति अपनी आत्माकी भी हिंसा मत करो।

१३. प्रत्येक आत्माके समीप सच्चे, ईमानदार और विश्वसनीय बननेका यत्न करो तथा जीवमात्रके प्रति कोमल हृदय रखो।

१४. सत्य-अहिंसाके पथपर चलकर-मानवमें मानवता को जगाकर-मानव जातिकी सभी समस्याएं हल हो सकती हैं।

१५. देशादिक पर आपत्ति आने अथवा धर्मसंकट उपस्थित होने पर सम्यक्दृष्टि गृहस्थको उसे दूर करनेके लिए

सदा तत्पर रहना चाहिए। उसकी संपूर्ण शक्ति निःस्वार्थ तथा निर्मलभावसे ऐसी प्रत्येक बाधाको दूर करने और आततायीका दमन करनेके लिए लगनी चाहिए।

१६. जो समर्थ होकर भी दूसरोंपर होनेवाले अत्याचारों को देखता रहता है—उन्हें रोकता नहीं वह कापुरुष है।

१७. आत्म-स्वातंत्र्य प्राप्त करनेका अधिकार प्रत्येक प्राणीको है। इस हेतु अपनी स्वतंत्रताको सुरक्षित रख प्रत्येक दशामें वीर व्रती बनकर रहो। परतंत्र रहना आत्महनन करना है।

१८ श्रेष्ठताका आधार जन्म नहीं बल्कि गुण होता है और गुणोंमें भी जीवनकी महत्ताका गुण। अतः हृदयमेंसे भेद भावनाको तथा अहंभावको शीघ्र नष्ट करके विश्व-बन्धुत्वकी स्थापना करो।

१६ जिनकी आत्मा दृढ़ एवं उद्देश्य ऊँचा है और जिनमें निपुणता उत्साह तथा पुरुषार्थकी मात्रा बढ़ी हुई है उन्हें सांसारिक अड़चनें कर्तव्य-पथसे विचलित नहीं कर सकती। अतएव आत्मबलका सम्पादन करो, हृदय तथा बुद्धिको परिष्कृत करो और अपना संकल्प दृढ़ एवं उच्च रखकर धीर, वीर तथा संयमी बनो।

२० दुःखमें शक्ति, क्षोभमें आत्मनिग्रह, विपत्तिमें धैर्य और सम्पद्में मिताचार रखो।

२१ अपने भावोंको शुद्ध करो। मनुष्य भावों द्वारा ही आचरण करता है और आचरण—दृष्टान्त मनुष्य जाति की पाठशाला है। जो कुछ वह उससे सीख सकता है और किसीसे नहीं।

२२ प्रायः प्रत्येक जीवात्मामें वह प्रबल शक्ति विद्यमान है जिसके द्वारा वह स्वावलम्बी बनकर और अपने समस्त कर्मजंजालोंको काटकर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा बन सकता है अथवा यों कहिये कि संसारका सर्वश्रेष्ठ पुरुष हो सकता है।

२३ आत्माका बल वास्तवमें बड़ा भारी बल है जिसका सहारा प्रत्येक मनुष्यको प्रत्येक दशामें मिलता रहता है। अतः अपने आपको पहचाननेके लिए अपनी आत्माका अध्ययन करो। उस एक आत्माको जाननेसे ही ही सब कुछ जाना जा सकता है।

२४ तुम्हारा अस्तित्व संसारके लिए हो, न कि संसार का अस्तित्व तुम्हारे लिए—अर्थात् तुम संसारको अपने लिए न बनाओ किन्तु तुम संसारके लिए बनो।

२५ अपने आपको वशमें रखनेसे ही पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त हो सकता है।

२६ जिसकी आत्माका विकास होगया है वह उच्च है और जिसकी आत्माका विकास न होकर पतन होरहा है वह नीच है।

(२७) कभी भी जातिमद न करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डालादि जातिकी केवल आचारभेदसे ही कल्पना की गयी है। इसलिए वर्णगत नीचता-उच्चता का भाव हृदयसे निकालकर गुणोंकी ओर ध्यान दो। शूद्र कुलोत्पन्न व्यक्ति यदि आहार, विचार, शरीर और वस्त्रादि से शुद्ध एवं व्रतादिसे युक्त है तो वह देव-पूज्य होता है।

२८ सत्यशील, न्यायी और पराक्रमी बनकर जीवन-संग्राममें वीरताके साथ लड़ो तथा अपने कर्तव्यको निभाते जाओ। विरोधोंकी चिन्ता मत करो।

२९ मनुष्य जाति एक है। कर्मसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हैं। इसमें जन्मगत भेद—गाय, भैंस, घोड़ादिकी भाँति नहीं है। इसलिए मानवकी मानवता उसके सद्गुण और सच्चरित्रका आदर करो।

३० अपना हृदय विकाररहित बनाकर ज्ञान प्राप्तिके लिए सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन करो और समस्त प्राणियोंके कल्याण करनेकी भावनाको हृदयमें जाग्रत करो।

३१ दूसरोंके दृष्टिकोणपर गंभीरतापूर्वक विचार करके उसमें सत्यका अनुसंधान करो और अपने दृष्टिकोणसे विवेकपूर्ण विश्लेषणकर उसमें त्रुटि निकालनेका प्रयत्न करो।

३२ हम सच्चे हैं, हमारा धर्म सच्चा है; पर दूसरोंको सर्वथा मिथ्या मत समझो बल्कि स्याद्वादकी दृष्टिसे काम लो और सद्गुणोंकी पूजा करो।

३३ दूसरोंके दोष देखनेके पहले अपने दोषोंपर दृष्टि डालो।

३४ अन्धे होकर लोकानुकरण मत करो; बल्कि यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करो, जिससे चित्तवृत्ति शुभ तथा शुद्ध भावनाओं और प्रौढ़ विचारोंसे पूर्ण हो जाय।

३५ यदि तुम वास्तविकतापर—सच्चे धर्मपर विश्वास लाना चाहते हो तो निर्भय बन जाओ। निर्भयता स्वतंत्रता

की जननी है, जिससे संसारके दुर्व्यसनोंकी कभी भी आवश्यकता नहीं रहती। निर्भय मनुष्य ही 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' अर्थात् जो कर्मवीर है वही धर्मवीर है का पाठ पढ़ सकता है।

३६ नारी नरकी खान है। अतः उसको पुरुषोंकी भाँति व्रत धारण करनेका, पूजा-प्रक्षालन और आगम अंगोंके अध्ययनका पूर्णाधिकार है। इसलिये महिलाओंका सम्मान करके उन्हें धार्मिक एवं सांसारिक अधिकारोंसे वंचित मत रखो।

संसारोद्धारक भगवान् महावीर स्वामीने भेदभावसे रहित होकर प्राणीमात्रके कल्याणार्थ जो शुभ सन्देश दिये थे उनसे जैन-साहित्य भरा पड़ा है। उक्त वाक्य तो उनके दिव्य सन्देशके आभासमात्र हैं। जैनसाहित्यका पठन-पाठन करनेसे ही उनमें सन्निविष्ट, अद्भुत तत्वचर्चा, अपूर्व शान्तिका मार्ग, सुन्दर मर्मस्पर्शी भाव और संसारको उन्नति के महान् शिखर तक पहुंचाने वाले अगणित आश्चर्यकारी वैज्ञानिक विवेचनोंका सम्यक् ज्ञान हो सकता है।

भगवान् द्वारा स्थापित जीवनका महान् आदर्श—जिसके कारण उनकी लोककल्याणमयी साधना भलीभाँति सफल हुई थी और मानवजातिके इतिहासमें सदाके लिए उनका नाम अजर-अमर है—आज हम भूल गये हैं। उन उच्च तत्वोंसे स्वार्थके कारण हमारी श्रद्धा विचलित होगयी है। जब तक हम वीरके दिव्य-सन्देशको—जिसमें मनुष्य-मात्रके लिये व्यक्ति स्वातन्त्र्यका मूलमंत्र गर्भित है—संसार के कोने-कोनेमें नहीं फूंक देते और स्वयं स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक दुनियाको आजके भीषण नर संहारसे बचा सकना असम्भव है। यह स्व० दीनबन्धु एण्ड्रूजके निम्न शब्दोंसे भी प्रकट है—

"जब तक यूरोप और अमेरिका के सर्वप्राणी समभाव के जैनसिद्धान्तको समझकर जीवनके अहिंसक आदर्शको समझकर स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक पश्चिममें उत्पन्न हुए जात्याभिमान और साम्राज्यवाद, जो युद्ध और संहारके दो मुख्य कारण हैं और जिनके कारण ही सारी मानवजाति अकथनीय वेदना पा रही है, नष्ट नहीं होंगे।

यदि हम भगवान् महावीरके सन्देश और उपदेशोंको समझें और उन्हें अपने जीवनमें उतारकर अहिंसा-समता और अनेकान्तकी प्रतिष्ठा करें तो सर्वत्र सुख एवं शान्ति स्थापित होनेमें विलम्ब नहीं है।

क्या तीर्थंकरप्रकृति चौथे भवमें तीर्थंकर बनाती है ?

(ले०—बा० रतनचन्द जैन, मुख्तार)

'जैनसन्देश' ता० १४ फरवरी १९४६, संख्या ३६, तथाहि पृ० श्रीमान् न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजीके लेख को लक्ष्य करके शंका प्रकाशित हुई थी। इसका समाधान 'जैनसन्देश' ता० २८ मार्च १९४६, संख्या ४४, पृष्ठ ५ पर प्रकाशित हुआ है। श्रीमान् न्यायाचार्य पं० माणिकचंद जीका यह मत है कि तीर्थंकर प्रकृति अधिकसे अधिक चौथे भवमें तीर्थंकर बना ही देती है और हेतु यह दिया है—(जैसे) किसी मनुष्यने मनुष्य आयु बाँधली हो पुनः तीर्थंकर का आस्रव किया तो वह भोगभूमिमें मनुष्य हो कर पुनः सौधर्मद्विकमें उपज कर पश्चात् मनुष्य होकर अवश्य तीर्थंकर बन जायगा।

इस पर शंका हुई और समाधान भी हुआ। समाधान-कारका यह मत है कि तीर्थंकर प्रकृति-प्रारम्भक-मनुष्यको तीसरे ही भवमें तीर्थंकर बनना पड़ता है उसके लिये ज्यादा से ज्यादा चौथा भव नहीं। और इसका हेतु यह दिया है कि तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका काल ज्यादा से ज्यादा "अन्तमुहूर्त्त अधिक आठ वर्ष घाट दो कोटि पूर्व वर्ष और तेतीस सागर है। यदि तीर्थंकर प्रकृतिका प्रारम्भक

मनुष्य पर्यायसे भोगभूमिका मनुष्य होता तो इस इतने बड़े कालमें तीन पल्यके समयको और ले लिया जाता परन्तु वह भोगभूमिका तीन पल्यका समय टीकाकारने लिया नहीं है इससे सिद्ध है कि तीर्थंकरप्रकृतिके प्रारम्भक मनुष्यको भोगभूमिमें जन्म नहीं लेना पड़ता है।

समाधानकारकका यह मत तो सत्य है कि तीर्थंकर प्रकृति प्रारम्भक मनुष्य अधिकसे अधिक तीसरे भवमें तीर्थंकर अवश्य होगा, परन्तु युक्ति समझमें नहीं आई। यदि किसी मनुष्यने मनुष्य आयुका बंध कर लिया हो पुनः सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकरप्रकृतिका प्रारम्भक हो १/३ कोटि पूर्व वर्ष शेष मनुष्य आयुको पूर्ण कर तीन पल्यकी आयु वाला उत्तम भोगभूमिमें मनुष्य हो सौधर्मद्विकमें दो सागरकी आयु भोग एक कोटपूर्व वर्षकी आयु वाला मनुष्य हुआ और अन्तमें श्रेणि चढ़ तीर्थंकर हुआ। इस प्रकार चौथा भव तो हो गया, परन्तु तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका काल "१/३ कोटि पूर्व वर्ष ३ पल्य २ सागर" हुआ जो ३३ सागरसे बहुत कम है। भोगभूमिका मनुष्य विजयादिक अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वहांपर असंयमी उत्पन्न नहीं होते। अतः टीकाकारको भोगभूमिके तीन पल्य लेनेकी आवश्यकता न थी।

अब प्रश्न यह होता है कि चौथे भवमें नहीं किन्तु तीसरे भवमें ही तीर्थंकर हो जाता है, इसमें हेतु क्या है? इसका समाधान गो. क. गा. ३६६, ३६७ की जी० प्र० टीका पत्र ५२४ में इस प्रकार है—"बुद्धतिर्यग्मनुष्यायुष्कयोतीर्थे सत्त्वाभवात्।" इसकी हिन्दी टीका (पत्र ५२६) में पं० टोडरमलजीने लिखा है—जातैं मनुष्यायु तिर्यंचायुका पहिलैं बन्ध भया होई ताकै तीर्थंकर बंध न होई।" जिस मनुष्यने तीर्थंकर प्रकृतिका आरम्भ कर दिया है वह भोग भूमिमें मनुष्य नहीं हो सकता। यदि उसने मनुष्य आयुका पहिले बन्ध कर लिया है तो वह तीर्थंकर प्रकृतिका प्रारम्भिक नहीं हो सकता और यदि उसने प्रारम्भक होनेसे पहिले आयुका बंध नहीं किया तो वह मनुष्य आयुका बंध नहीं कर सकता। 'सम्यक्त्वं च" त० सू० अ० ६ सू० २१ के अनुसार जिसके सम्यक्त्व है वह देव आयु ही का बन्ध करेगा अन्य आयुका नहीं। इस प्रकार तीर्थङ्कर प्रकृतिका प्रारम्भक मनुष्य तीसरे भवमें तीर्थंकर अवश्य हो जावेगा, चौथा भव घटित नहीं होता।

मैं पंडित या संस्कृतका ज्ञाता नहीं हूँ। यदि कोई भूल रह गई हो तो विशेष विद्वान् उसको क्षमा करें और उसका सुधार करदें।

धर्मरत्नाकर और जयसेन नामके आचार्य

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

जैनसाहित्यका आलोडन करनेसे एक नामके अनेक विद्वानोंका उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक क्षेत्रोंमें काम करनेवालोंको यथेष्ट साधन सामग्रीके अभावमें उनका पृथक्करण करने एवं समय निर्णय करनेमें कितनी असुविधा होती है, उसे भुक्तभोगी ही जानते हैं, और इसलिये अप्रकाशित साहित्यको शीघ्र प्रकाशमें लानेकी उपयोगितासे किसीको भी इनकार नहीं हो सकता। भारतीय पुरातत्त्वमें जैन इतिवृत्तों की महत्ता एवं प्रामाणिकता अपना खासा स्थान रखती है और उससे कितनी ही महत्वकी गुत्थियोंके सुलझानेमें मदद मिली है तथा मिल रही है। ऐसी स्थितिमें जैनपुरातत्त्वका संकलन एवं प्रकाशन कितना आवश्यक है उसे बतलाने की जरूरत नहीं, विज्ञजन उससे भली भांति परिचित हैं। आज इसी दृष्टिको लेकर पाठकोंके समक्ष एक अप्रकाशित ग्रंथ और उसके कर्ता आदिके सम्बंधमें प्रकाश डाला जाता है। आशा है विद्वज्जन उस पर विचार करेंगे।

प्रस्तुत ग्रंथका नाम 'धर्मरत्नाकर' और उसका

प्रतिपाद्य विषय गृहस्थ धर्म है—प्रत्येक गृहस्थके द्वारा आचरण करने योग्य अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप द्वादश व्रतोंके अनुष्ठानका इसमें विस्तृत विवेचन दिया हुआ है। ग्रंथमें बीस प्रकरण या अध्याय हैं जिनमें विवेचित वस्तुको देखने और मनन करनेसे उसे धर्मका सद्रत्नाकर अथवा धर्मरत्नाकर कहनेमें कोई अत्युक्ति मालूम नहीं होती और वह उसका सार्थक नाम जान पड़ता है। साथ ही ग्रंथ सुन्दर संस्कृत पद्योंसे अलंकृत है, जो पढ़नेमें भावपूर्ण और सरस प्रतीत होते हैं ग्रंथमें स्वरचित और प्रमाणरूपमें निविष्ट दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंके चुने हुए वाक्य यत्र तत्र पाये जाते हैं, जिनसे विषयका स्पष्टीकरण हो जाता है और उन्हें बारबार पढ़ने की ओर चित्त आकृष्ट होता है। आचार्य गुणभद्रके आत्मानुशासनका, अमृतचन्द्राचार्यके पुरुषार्थसिद्ध्युपायका और आचार्य सोमदेवके यशस्तिलकका, 'उक्तं च' वाक्यके साथ अथवा बिना किसी ऐसे वाक्यके ही ग्रन्थभरमें खूब उपयोग किया गया है और इससे ग्रंथके कर्तृत्वसम्बन्धमें भी काफी प्रकाश पड़ता है। इस ग्रंथके कर्ता आचार्य जयसेन हैं जो उस समय साधु सम्प्रदायमें प्रसिद्ध थे और सभी जनोंको आनन्ददायक थे। आचार्य जयसेनने अपनी गुरुपरम्परा[1] इस प्रकार दी है गुरु भावसेन, भावसेनके गुरु गोपसेन, गोपसेनके शांतिषेण और शांतिषेणके गुरु धर्मसेन गणीन्द्र। ये सब साधु झाड-बागड़ संघके, जोकि बागड़ संघका ही एक भेद जान पड़ता है, विद्वान थे क्योंकि बागड़के साथ जो 'झाड़' विशेषण लगा हुआ है वह बागड़संघके[2] ही भेदका सूचक अथवा निर्देशक है। परन्तु प्रयत्न करनेपर भी इस संघके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी।

धर्मरत्नाकरमें स्वामी समन्तभद्रके देवागम और रत्नकरण्डका भी अनुकरण है। साथ ही स्वामी समन्तभद्र और अकलंकदेवको तर्क और प्रमाणके द्वारा जैनशासनका समुद्धार करने वाला भी प्रकट किया है जैसा कि उसके निम्नपद्यमें प्रकट है :—

स्वामी समन्तभद्रः श्रीमानकलंकदेव इत्याद्यः।
तर्केण प्रमाणैरपि शासनमभ्युद्धरंति स्म ॥ ७६
आरा प्रति, पत्र ५०।

ग्रंथमें पात्रोंका स्वरूप और उनके भेदोंका निर्देश करते हुए पात्रदान करनेकी प्रेरणा की गई है। तथा ज्ञानकी महिमाका जयघोष करते हुए बतलाया है कि

---

1 मेदार्येण महर्षिभिर्विहरता तेपे तपो दुश्चरं,
श्रीखंडिल्लकपत्तनान्तिकरणाभ्यर्द्धिप्रभावात्तदा।
शाठ्येनाप्युपतस्पृता सुरतरुप्रख्यां जनानां 'श्रियं',
तेनाजीयत झाडवागडइति त्वेको हि संघोऽनघः ॥ २ ॥
धर्मज्योत्स्नां विकिरति सदा यत्र लक्ष्मीनिवासाः,
प्रापुश्चित्रं सकलकुमुदायत्युपेता विकाशम्।
श्रीमान्सो भून्मुनिजननुतो धर्मसेनो गणीन्द्र—
स्तस्मिन् रत्नत्रितयसदनीभूतयोगीन्द्रवंशे ॥ ३ ॥
भंक्त्वा वादीन्द्रमानं पुरि पुरि नितरां प्राप्नुवन्नुद्यमानं।
तन्वन् शास्त्रार्थदानं रुचिरुचिरुचिरं सर्वथा निर्निदानं ॥
विद्यादर्शोपमानं दिशि दिशि विकिरन् स्वं यशो योऽसमानं।
तेभ्यः (तस्माद्धि) शांतिषेणः समजनि सुगुरुः पापधूली-समीरः॥
यत्रास्पदं विदधती परमागमश्री-
रात्मन्यमन्यत्मतीत्वमिदं तु चित्रम्।
वृद्धा च संततमनेकजनोपभोग्या
श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत्स तस्मात् ॥ ५ ॥
उत्पत्तिस्तपसां पदं च यशसामन्यो रविस्तेजसा-
मादिः सद्वचसां विधिः सुनरमामासीन्निधिः श्रेयसां।
आवासो गुणिनां पिता च शमिनां माता च धर्मात्मनां,
न ज्ञातः कलिना जगत्सुबलिना श्रीभावसेनस्ततः ॥ ६ ॥
ततो जातः शिष्यः सकलजनतानन्दजननः (क)।
प्रसिद्धः साधूनां जगति जयसेनाख्य इह सः ॥
इदं चक्रे शास्त्रं जिनसमयसारार्थ-निचितं।
हितार्थं जन्तूनां स्वमतिविभवाद् गर्व-विकलः ॥ ७ ॥
—धर्मरत्नाकर प्रशस्ति

2 वागड देशको वाग्वर, वागट, वैय्यागढ़ भी कहते हैं। यह संघ इसी देशके नामसे विश्रुत हुआ है, इसी कारण इसे वागड़ संघ कहते हैं। यह संघ अनेक भेदोंमें विभाजित रहा है, जैसे लाडवागड संघ और झाडवागड संघ, उनमें लाडवागडसंघ माथुरसंघका ही एक भेद उल्लिखित मिलता है।

"अज्ञ प्राणी जितने कर्म करोड़ वर्षोंमें क्षय करता है ज्ञानी जीव उतने कर्म त्रिगुप्तिसे उश्वास मात्रमें नष्ट कर देता है"।

ग्रंथ(आरा प्रति पत्र १०४में 'ओं णमो अरहंताणं' आदि महामंत्रके बाद षट्खण्डागमके वेदनाखण्ड गत ४४ मंगल सूत्रोंमेंसे 'ओं णमो जिणाणं' आदि २५-३० मंगलसूत्र भी समुद्धृत हैं, जिन्हें ग्रंथकर्ताने विघ्न विनाशक एवं सुखप्रद समझकर रक्खा है। पश्चात् कतिपय पद्योंके साथ कुछ प्राकृत पद्य भी उद्धृत किये हैं जिनमें अरहंतादि पंचपरमेष्ठियों तथा यक्षादिकों का आह्वान किया गया है, और कुछ संस्कृतमें बीजाक्षर युक्त मंत्र भी दिये हैं। अनंतर १०७ वें पत्रमें देवशास्त्र गुरु की नैमित्तिकपूजाके आदिमें पढ़े जाने वाले चौंसठ ऋद्धियोंके नाम व स्वरूप निर्देशक—'नित्या-प्रकम्पाद्भुतकेवलौघाः स्फुरन्मनःपर्ययशुद्धबोधाः।' इत्यादि पद्य भी पाये जाते हैं जिनके कर्तृत्वका अभी कोई निर्णय नहीं है कि वे स्वतः ग्रंथकार जयसेनाचार्य द्वारा बनाये गये हैं अथवा इनसे पूर्ववर्ती किसी अन्य आचार्य द्वारा निर्मित हैं।

व्रतोंका महत्व ख्यापित करते हुए उनमें प्रसिद्धि पानेवाले कुछ भव्योंका नामादि समुल्लेखपूर्वक उल्लेख किया है और सम्यग्दर्शनका स्वरूप व महत्व प्रकट करते हुए क्षायिक सम्यक्त्वका निम्नरूपसे महत्व प्रकट किया है।:—

श्रेणिकक्षितिपतिर्यथा वहनक्षायिकं तदनु रेवती परं।
आदिराजतनुजा सुदर्शनाच्चिक्षिश्रियुः शिवपदं क्षणादपि।

आज्ञादि दश सम्यक्त्वोंका नामनिर्देश सूचक आत्मानुशासन का वह ११ वाँ पद्य भी ज्यों का त्यों दिया हुआ है और उन दश सम्यक्त्वोंकी स्वरूप निर्देशक संस्कृत गद्य भी यशस्तिलक चम्पूके ६ ठवें आश्वासके पृष्ठ ३२३ के समान ही दी हुई है यथाः—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥१०-३०

'अस्यार्थः—भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञासंज्ञा आज्ञा. रत्नत्रयविचारसर्गो मार्गः, पुराणपुरुषचरित श्रवणाभिनिवेशः उपदेशः यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम्। सकलसमयदलसूचनाव्याजं बीजम्. आप्तश्रुतव्रत-पदार्थ समासालापेक्षः संक्षेपः, द्वादशांगचतुर्दशपूर्वप्र-कीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवचन विषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतो ऽन्यतमदेशावगाहालीढमवगाढम् अवधिमनःपर्यय-केवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावगाढम् ॥"

धर्मरत्नाकरमें आचार्य अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्ध्युपायके ५६ पद्य पाये जाते हैं[1]। और भी कुछ पद्योंका होना संभव है।साथ ही इन पद्योंके अतिरिक्त कुछ पद्य ऐसे भी हैं जिनमें कुछ पाठभेद पाया जाता है। यथाः

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १७१

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मुक्तिकारणगुणानां।
सम्यग्दृष्टिर्विरतो विरताविरतस्तथा विरतः॥
—धर्मरत्नाकर १८-१४-पृष्ट १२१

इसी तरह सोमदेवाचार्य कृत यशस्तिलकके ६ ठे ७ वें और ८ वें आश्वासके सौसे भी अधिक पद्य पाये जाते हैं। यहां यह कह देना अनुचित न होगा कि यद्यपि यशस्तिलक चम्पूमें भी अन्य ग्रंथोंसे कितने ही पद्य उद्धृत हैं। परन्तु धर्मरत्नाकरको[2] देखनेसे यह स्पष्ट है कि उनके समक्ष सोमदेवका यशस्तिलक चम्पू जरूर रहा है और उसका उन्होंने अपनी रचनामें उपयोग भी किया है। कहीं कहीं तो उनके पद्योंके भावानुवाद को ही दे दिया गया है।

१ अज्ञानी यत्कर्म्म क्षपयति बहुकोटिभिः प्राणी।
तज्ज्ञानी गुप्तात्मा क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ ६-१२

धर्मरत्नाकरके इस पद्यको देख कर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसारका निम्न पद्य याद आजाता है जिसका भावानुवाद स्वरूप ऊपर संस्कृत श्लोक दिया गया है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥
—प्रवचनसार ३-३८

१ इन पद्योंके नम्बरोंका उल्लेख 'अमृतचन्द्रसूरिका समय' शीर्षक लेखसे जानना चाहिये, जो अनेकान्तकी इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित है।

धर्मरत्नाकरकी कितनी ही प्रतियोंमें उसका रचनाकाल विषयक पद्य नहीं है वह लेखकों की कृपासे छूट गया जान पड़ता है। परन्तु ऐलक पन्नालाल दिगम्बरजैन सरस्वतीभवन ब्यावरके शास्त्रभंडार की एक प्रतिमें जो सं० १६७६ की लिखी हुई है, रचना समयवाला पद्य निम्न रूपमें पाया जाता है:—

वाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे (१०५५)।
ग्रंथोऽयं सिद्धतां यातः सकलीकरहाटके[1] ॥१॥

इस पद्यपरसे प्रस्तुत ग्रंथका रचना काल वि० सं० १०५५ स्पष्ट है। और यह सकलीकरहाटक नामके किसी नगरमें बनकर समाप्त हुआ है।

जयसेन नामके दूसरे विद्वान्

जयसेन नामके कई विद्वान् आचार्य हो चुके हैं जिनका कुछ परिचय यहां प्रस्तुत किया जाता है। उससे अन्वेषक विद्वानों को एक नामके कुछ विद्वानों का एकत्र परिचय मिल सकेगा।

प्रथम जयसेन वे हैं जिनका उल्लेख ईसाकी प्रथम शताब्दीके मथुराके शिलालेखमें पाया जाता है और जो धर्मघोषके शिष्य थे[2]।

द्वितीय जयसेन वे हैं जिनका स्मरण आदिपुराणके कर्ता भगवज्जिनसेनाचार्य ने किया है और उससे यह मालूम होता है कि वे एक महातपस्वी श्रुत और प्रशमके, तथा विद्वत्समूहमें अग्रणीय थे, जैसा कि उनके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

जयभूमिस्तपालक्ष्म्या श्रुतप्रशमयोर्निधिः।
जयसेनगुरुः पातु बुधवृन्दाग्रणी स नः ॥५६॥

पुन्नाटसंघी आचार्य जिनसेनने भी अपने हरिवंशपुराणमें एक जयसेनका महत्वपूर्ण शब्दोंमें उल्लेख किया है। यथाः—

दधार कर्मप्रकृतिं च यो श्रुतिं जिताक्षवृत्तिर्जयसेनसद्गुरुः।
प्रसिद्धवैयाकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः ॥

इस पद्यमें जयसेनको सद्गुरु इन्द्रियव्यापार विजयी, कर्मप्रकृतिरूप आगमके धारक, प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और सम्पूर्ण सिद्धान्त समुद्रके पारगामी बतलाया है, जिससे वे महान योगी, तपस्वी और प्रभावशाली सैद्धान्तिक आचार्य मालूम होते हैं। साथ ही कर्मप्रकृतिरूप आगमके धारक होनेके कारण संभवतः वे किसी कर्मग्रंथके प्रणेता भी रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं; परन्तु उनके द्वारा किसी ग्रंथके रचे जाने का कोई प्रामाणिक स्पष्ट उल्लेख अभी तक देखनेमें नहीं आया।

आदिपुराणके कर्ता जिनसेनाचार्य, जो वीरसेनाचार्यके शिष्य थे, हरिवंशपुराणके कर्ता से पहले हो गए हैं; क्योंकि हरिवंशपुराणकारने जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयकाव्यका 'पार्श्वजिनेन्द्रगुणस्तुति' रूपसे उल्लेख किया है[3] जिससे आदिपुराण का पुंनाटसंघीय जिनसेनसे पूर्ववर्तित्व स्वतः सिद्ध है। अतः उक्त दोनों ग्रंथकारों द्वारा स्मृत जयसेन एक ही विद्वान मालूम होते हैं। जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें जो विस्तृत गुरुपरंपरा दी है उसमें उन्होंने अपनेको जयसेनके शिष्य अमितसेन और प्रशिष्य कीर्तिषेणका शिष्य बतलाया है। अब अमितसेन और कीर्तिषेण का समय यदि प्रत्येकका पच्चीस पच्चीस वर्षका अनुमानित किया जाय जो अधिक मालूम नहीं होता तो जयसेनका समय शक संवत् ६५५ (वि० सं० ७९०) या इसके आस-पास का होगा; क्योंकि जिनसेनने अपना हरिवंश पुराण शक सं० ६०५ (वि० सं० ७४०) में बनाया है। अतएव उक्त दोनों ग्रंथकारों द्वारा स्मृत जयसेन विक्रम की ८वीं शताब्दीके द्वितीय जयसेन मालूम होते हैं। और यह भी हो सकता है कि दोनों जयसेन भिन्न भिन्न भी रहे हों, अतः इनके एकत्व अथवा पृथकत्व विषयक विशेष प्रमाणोंके अनुसंधान की आवश्यक्ता है।

तृतीय जयसेनका उल्लेख प्रद्युम्नचरितके कर्ता आचार्य महासेनने किया है जो लाडवागड़संघके पूर्णचन्द्र थे शास्त्रसमुद्रके पारगामी थे, तपके निवास थे और स्त्री की कलारूपी बाणोंसे नहीं भिदे थे—पूर्ण ब्रह्मचर्यसे

---

१ यह पद्य भवनके मैनेजर पं० दीपचन्दजी पांड्याकी कृपासे प्राप्त हुआ है। अतः मैं इसके लिये उनका आभारी हूँ।

२ See, E. J; P. 199।

३ यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं संकीर्तयत्यसौ ॥ ४० ॥
—हरिवंश पुराण १-४०

प्रतिष्ठित थे, जैसा कि उनके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

श्रालाट्वर्गटनभस्तलपूर्णचन्द्रः
शास्त्रार्णवान्तगसुधीस्तपसां निवासः।
कान्ताकलावपि न यस्य शरैर्विभिन्नं
स्वान्तं बभूव स मुनिर्जयसेननामा॥
—प्रद्युम्नचरित- कारंजा प्रति

यह जयसेनाचार्य महासेनके प्रगुरु—गुणाकरसेन-सूरिके गुरु थे। गुणाकरसेनसूरिके शिष्य महासेनका समय पं० नाथूरामजी प्रेमीने सं० १०३१ से १०६६ के मध्यमें किसी समय बतलाया है। और यदि महासेनसे ५० वर्ष पूर्व भी जयसेनाचार्य का समय माना जाय तो भी वह १० वीं शताब्दी का उत्तरार्ध हो सकता है; क्योंकि महासेन राजा मुंजके द्वारा पूजित थे, और मुंजका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका मध्यकाल है। इनके समयके दो दानपत्र सं० १०३१ और १०३६ के मिले हैं। और प्रेमीजी की मान्यतानुसार सं० १०५० से १०५४ के मध्यमें किसी समय तैलपदेवने मुंजका बध किया था[1]। इससे स्पष्ट है कि आचार्य महासेन विक्रम की ११ वीं शताब्दीके मध्यमें हुए हैं। और इनके गुरु तथा प्रगुरु जयसेन दोनोंका समय यदि इनसे ५० वर्ष पूर्व भी माना जाय, जो अधिक नहीं, तो इन जयसेनका समय विक्रमकी दशवीं शताब्दीका अन्तिम भाग होगा। इस विवेचनसे इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि यह जयसेन पूर्वोक्त जयसेन नामके विद्वानोंसे भिन्न हैं; क्योंकि वे इनसे बहुत पहले हो गये हैं। और वे लाड बागड़ संघके आचार्य भी नहीं थे। अतः यह तृतीय जयसेन नामके जुदे ही विद्वान हैं।

चतुर्थ जयसेन वे हैं जो भावसेनके शिष्य और धर्मरत्नाकरके कर्ता थे और जिनका समय सं० १०५५ पहले बतलाया जा चुका है। इन जयसेनका समुल्लेख आचार्य नरेन्द्रसेनने अपने सिद्धान्तसारकी अन्तिम प्रशस्तिके पद्यमें निम्न रूपसे किया है:—

ख्यातस्ततः श्रीजयसेननामा जातस्तपःश्रीहतदुःकृतौघः।
यः सत्तर्कविद्यार्णवपारदृश्वा विश्वासगेहं करुणास्पदानां॥

१ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १८४॥

इस पद्यमें भावसेनके शिष्य जयसेनको तप रूपी लक्ष्मीके द्वारा पापसमूह का नाशक, सत्तर्कविद्यार्णवके पारदर्शी और दयालुओंके विश्वासपात्र बतलाया गया है।

पांचवें जयसेन वे हैं जो वीरसेनके प्रशिष्य और सोमसेनके शिष्य थे,[1]। इन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके प्राभृतत्रयपर अपनी 'तात्पर्यवृत्ति' नामकी तीन टीकाएं लिखी हैं। इनका समय डा० ए० एन उपाध्ये एम. ए.डी. लिट् कोल्हापुरने प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें ईसाकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और विक्रमकी १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया है; क्योंकि इन्होंने आचार्य वीरनन्दीके आचारसारसे दो पद्य उद्धृत किये हैं[2]। आचार्य वीरनन्दीने आचारसारकी स्वोपज्ञ कनड़ीटीका शक सं० १०७६ (वि० सं० १२११) में पूर्ण की थी[3]। इनके गुरु मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवका स्वर्गवास विक्रम की १२ सदीके उपान्त्य समयमें अर्थात् ११७२ में हुआ था। इससे जयसेनसूरिका समय विक्रमकी १३ वीं सदीका प्रारम्भ ठीक ही है।

छठे जयसेन वे हैं जो प्रतिष्ठासारके कर्ता हैं और जिनका अपरनाम वसुविन्दु कहा जाता है। यह अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यका अग्रशिष्य प्रकट करते हैं। इन्होंने प्रतिष्ठापाठ नामका ग्रंथ दक्षिण दिशामें स्थित 'कुकुण' नामके देशमें सह्याद्रिके समीप श्री-रत्नगिरके ऊपर भगवानचन्द्रप्रभके उन्नत चैत्यालयमें (जिसे लालाट्टराजाने बनाया था) बैठकर प्रतिष्ठा करनेके लिये गुरु की आज्ञासे प्रतिज्ञा पूर्ति निमित्त

१ See, Introbuction of the Provacansara Po 104
और प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्ति प्रशस्ति।

२ देखो, तात्पर्यवृत्ति पृ० ८ और आचारसार ४-९५-९६ श्लोक।

३ स्वस्तिश्रीमन्मेघचन्द्रत्रैविद्यदेवरश्रीपादप्रसादासादितात्म प्रभावसमस्तविद्याप्रभावसकलदिग्वर्तिकीर्तिश्रीमद्वीरनन्दि-सैद्धान्तिकचक्रवर्तिगलु शक वर्ष १०७६ श्रीमुखनाम-संवत्सरे ज्येष्ठ शुक्ल १ सोमवारदंदु तावुमाडियाचार-सारक्के कर्णाटवृत्तियमाडिदपर"।

दो दिनमें बनाया था[1]। इस प्रतिष्ठापाठको देखनेसे मथ कोई महत्वशाली मालूम नहीं होता, और न उसमें प्रतिला सम्बन्धी कोई खास वैशिष्ट्य ही नजर आता है। भाषा भी घटिया दर्जेकी है जिससे ग्रंथकी महत्ता एवं गौरवका चित्तपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह प्रवचनसारादिप्राभृतग्रंथोंके कर्ताके शिष्य नहीं हैं, किन्हीं दूसरे ही कुन्दकुन्द नामके विद्वानके शिष्य हो सकते हैं। इनके सम्बन्धमें भी अन्वेषण करना जरूरी है।

[1] देखो, प्रतिष्ठापाठ प्रशस्ति।

उपसंहार

इस ग्रन्थविवेचनपरसे, जिसमें धर्मरत्नाकरके परिचयके साथ छह जयसेन नामके विद्वानोंका संक्षिप्त परिचय कराया गया है और धर्मरत्नाकरके कर्ता जयसेनका स्पष्ट समय निश्चित किया गया है, आचार्य अमृतचन्द्रके समयपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समयकी उत्तरावधि वि० सं० १०५५ के बाद की नहीं हो सकती, इससे अमृतचन्द्रके समय-सम्बन्धमें एक स्वतंत्र लेख द्वारा विचार किया गया है।

ता० ३-५-४६, वीरसेवामन्दिर, सरसावा।

जैनधर्ममें वर्ण-व्यवस्था कर्मसे ही है, जन्मसे नहीं

[वीर-शासनमें साम्यवादका महत्वपूर्ण आधार]

(लेखक—वैद्य पं० इन्द्रजीत जैन आयुर्वेदाचार्य, शास्त्री, न्यायतीर्थ)

जिस तरह पूर्ण अहिंसावाद सर्वजीवोंमें साम्यवादका आधार है उसी तरह मनुष्यवर्गमें भी साम्यवादका आधार जन्मसे वर्ण व्यवस्थाको न मानना ही है। यही कारण है कि भगवान महावीरने प्रचलित वर्णव्यवस्थाको जन्मसे न मानकर कर्म (क्रिया) से ही माना है। और सभी प्राणियोंको जैन धर्म धारण करनेका अधिकारी बतलाया है। जिस वैदिक युगमें शूद्रोंको पशुसे भी बदतर माना जाता था तथा शूद्रों की छाया पड़नेपर भी वैदिक पंडित स्नान कर डालते थे। उस समय भ० महावीरने उन सभी वर्गके प्राणियोंको अपने धर्ममें दीक्षित किया और उनकी आत्माका कल्याण किया था। इसीलिये भ० महावीरके समवशरण (धर्मसभा) में सभी तरहके मनुष्य, पशु-पक्षी, देव-दानव जाकर जैनधर्म धारण करते और अपनी आत्माका कल्याण करते थे। भ० वीरने सर्व जीवोंमें और खासकर मनुष्य वर्गमें साम्यवाद पूर्ण रूपसे स्थापित किया और जन्मसे किसीको भी ऊँच नीच नहीं माना। केवल जो ऊँचे कर्म (अहिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोंके त्यागरूप) आचार-विचार पाले, उसे ऊँचा (उच्चवर्णी) घोषित किया और जो उक्त प्रकारके उच्च आचार-विचार न पाले उसे नीच घोषित किया। जन्मसे ऊँच-नीचका फतवा किसीको नहीं दिया। आज तमाम जैनशास्त्र इस बातको बतलाते हैं कि वर्ण-व्यवस्था कर्मसे है, जन्मसे नहीं।

आइये पाठक! जैनधर्मानुसार वर्ण-व्यवस्थाके आदि स्रोतपर नजर डालें। जैनधर्मानुसार इस पृथ्वीपर दो समय विभाग माने गये हैं, एक भोगभूमिका समय और दूसरा कर्मभूमिका समय। भोगभूमिके समय सभी मानव व तिर्यंच कल्पवृक्ष-जन्य सभी तरहके सुखोंका अनुभव करते हैं और

व्यापारादि बाह्य परिश्रमकी वहां कोई जरूरत नहीं होती है। भागभूमिके सभी मनुष्य समान होते और आर्य कहलाते हैं। कर्मभूमिके समयमें मनुष्योंको अपने कर्म—पुरुषार्थ (असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा, शिल्प) द्वारा अर्थात् शासन-रक्षण, लेखन, खेती, व्यापार, दूसरोंकी सेवा, और चित्रकारी आदि कार्योंसे आजीविकाकी समस्या हल करनी पड़ती है। ऐसे समयको ही कर्मभूमिका समय कहते हैं। इस युगके पूर्व भारतमें भोगभूमिका समय था। उस जमानेमें सभी मानव आर्य कहलाते थे और कल्पवृक्षजन्य सुखोंका अनुभव करते थे, जैनधर्मानुसार उस समय मानवोंमें कोई वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, सभी उच्च और आर्य कहलाते थे। जब भोगभूमिकी समाप्ति हो गई और कल्पवृक्ष भी नष्टप्रायः हो गये एवं कर्मभूमि प्रारम्भ होगई और इसमें उन आर्य मनुष्योंको भोजनादि सामग्री मिलना कठिन होगया तब वे आर्य मनुष्य उस जमानेके कुलकर नाभिराजाके पास पहुँचे और दुःखको निवेदन किया। नाभिराजाने समझाया कि 'अब भोगभूमि समाप्त हो चुकी है और कर्मभूमि प्रारंभ हो गई है, अतः अब तुम लोगोंको अपने परिश्रम द्वारा आहारादिकी समस्या हल करनी होगी।' उन्होंने उसके उपाय बताये और विशेष समझनेके लिये अपने पुत्र भगवान ऋषभदेवके पास भेज दिया। भ० ऋषभने उन सबको असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा, शिल्प इन छह कर्मोंकी व्यवस्था बतलाई और इन्हीं षट् कर्मोंद्वारा आजीविका हल करनेकी समस्या समझाई। उन्हीं भ० ऋषभदेवने उन मनुष्योंको—जिनने असिकर्म—शस्त्र चलाना और शासनकर्म (लोकरक्षण) द्वारा आजीविका मंजूर की क्षत्रियवर्ण संज्ञादी। जिनने खेती, व्यापार और लेखनकला द्वारा आजीविका मंजूर की वैश्यवर्ण संज्ञादी और जिनने सेवा करना और शिल्पकर्म द्वारा आजीविका स्वीकार की उनको शूद्रसंज्ञा दी। इस तरह भ० ऋषभदेवने संसारका कार्य सुचारुतया और शान्तिपूर्ण ढंगसे चलता रहे, इस बातको ध्यानमें रख कर ही वर्तमान वर्णव्यवस्था कायम की ऊँचनीचके ख्यालसे नहीं। चूँकि तीर्थंकर समदर्शी और दयाके समुद्र थे वे कैसे उन आर्योंमें किसीको ऊँच और किसीको नीच कह सकते थे। उस व्यवस्थासे सभी मनुष्य अपने अपने निश्चित कर्मों द्वारा आजीविका हल करने लगे। इस प्रकार क्षत्रिय वैश्य, शूद्र वर्णकी नींव भ० ऋषभदेवने आजीविका भेद और आचारभेदपर डाली। इसके बाद भ० ऋषभके पुत्र भरत चक्रवर्तीने तीनों वर्णोंके दयालु लोगोंको छाँटकर ब्राह्मणवर्ण स्थापित किया। आदि पुराण पर्व ३६ से प्रकट है कि भरत चक्रवर्तीने जब ब्राह्मण वर्ण स्थापित करनेका विचार किया तो एक उत्सवका आयोजन करके उसमें राजाओंको अपने मित्रों बन्धुओं और नौकरों सहित निमंत्रित किया। निमंत्रणमें जो लोग सम्मिलित हुए उनमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी तरहके मनुष्य थे। उनमें जो भरत महाराजके आंगनमें उगे हुये हरे धान्योंको कुचलते हुये पहुँचे उन्हें तो चक्रवर्तीने घरसे बाहर निकाल दिया और जो दयाप्रधानी धान्योंको न कुचकर बाहर ही खड़े रहे और जब वापिस जाने लगे तो उन्हें धर्मात्मा दयालु समझकर ब्राह्मणवर्ण संज्ञा दी और उनका उचित सम्मान किया। इस तरह भरत महाराजने तीनों वर्णोंके लोगोंमेंसे दयालुओंको छांट कर ब्राह्मण बनाया। इससे साफ जाहिर है कि वर्ण-व्यवस्थाकी नींव आचार-क्रिया और आजीविका-भेदपर बनी है—नित्य जन्मता नहीं है।

वर्णोंका परिवर्तन भी क्रिया-धंधा बदल देनेपर होजाता है। जैसा ऊपर सिद्ध किया है। शास्त्रोंमें भी वर्णलाभ करने वालेको पूर्वपत्नीके साथ पुनर्विवाह करनेका विधान मौजूद है—

पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य सम्मतः।

(आदिपु० पर्व ३६)

अर्थात्—नवीन वर्णलाभ करनेपर पूर्वकी पत्नी के साथ फिरसे विवाह संस्कार करना माना गया है। आदिपुराणमें अक्षत्रियोंको क्षत्रिय होने बाबत भी ऐसा उल्लेख है—

"अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः।"

अर्थात् चारित्र धारण करनेपर अक्षत्रिय भी दीक्षित होकर क्षत्रिय होजाते हैं। अतः क्रिया-आजीविकाके साधन बदलनेपर वर्णपरिवर्तन होजाता है। इसी तरह आचार छोड़नेपर अन्य कुलवर्ण होजाता है

"कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः।
तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां व्रजेत्॥"
(आदिपु० ४० वां प०, १८१ श्लोक)

अर्थात्—ब्राह्मणोंको कुलकी मर्यादा और कुलाचारकी रक्षा करना चाहिये। यदि कुलकी मर्यादा और कुलाचारकी रक्षा न की जाये तो नष्टक्रिया वाला ब्राह्मण अन्य कुल वर्णवाला होजाता है। अतः वर्ण की व्यवस्था जैनशासनमें आचार-क्रिया-विशेषपर निर्भर है—जन्मसे नहीं।

जैनशास्त्रोंसे यह भी प्रकट है कि प्रत्येक चक्रवर्ती नारायण आदि प्रतिष्ठित महान् पुरुषोंने और शान्तिनाथ कुंथुनाथ अरहनाथ इन तीन तीर्थंकर चक्रवर्तियोंने म्लेच्छ, शूद्र, विद्याधर और क्षत्रिय कन्याओं से विवाह कर संसारके सामने आदर्श रखा था। दुःख है कि आज हम लोग मिथ्या मदमें व्यग्र होकर किसीको ऊँच और किसी (शूद्रादि)को नीच मान रहे हैं। किन्तु जैनशासन सभीको एक मानता है और वर्णव्यवस्थाको क्रियाधीन और आजीविकाभेदसे मानता है। यहां हम इस सम्बन्धमें शास्त्रीय प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं जो जैन शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं:—

चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च, चाण्डालादिविशेषणम्।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम्॥ ॥ (पद्मपु०)

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चांडालादि भेद आचारभेदसे ही माने गये हैं।

आचारमात्रभेदेन, जातीनां भेदकल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी॥
गुणैः संपद्यते जातिः गुणध्वंसैर्विपद्यते।
(धर्मपरीक्षा)

अर्थात्-ब्राह्मणत्वादि जाति वास्तविक जाति नहीं है। सिर्फ आचारके भेदसे जाति की कल्पना है। गुणोंसे जाति प्राप्त होती है और गुणोंके नाशसे नाशको प्राप्त होजाती है।

चिन्हानि विड्जातस्य, सन्ति नांगेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोचरः॥ (प०पु०)

अर्थात्-व्यभिचारसे पैदा हुयेके अङ्गोंमें कोई चिन्ह नजर नहीं आता है, जिससे उसे नीच समझा जासके। अतः जिसका आचार नीच है वही नीच वर्ण समझा जाता है।

विप्र-क्षत्रिय-विड्-शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः॥
(अमितगति ध० र०)

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये सब वर्ण क्रियाभेदसे कहे गये हैं। जैनधर्मको सभी धारण कर सकते हैं और धर्म धारण करनेसे वे सब भाईके समान होजाते हैं।

"नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्"।
(गुणभद्राचार्य)

अर्थात्—मनुष्योंमें गौघोड़ेके समान जाति (वर्ण) कृत भेद नहीं हैं।

मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥
(आदि पु० ३८ पर्व ४५ श्लो०

ब्राह्मणाव्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्राः न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥
(आदिपु० ३८ पर्व, ४६ श्लो०)

अर्थात्—जातिनामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है किन्तु आजीविका भेदोंसे चार भागोंमें बट गई है। व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक द्रव्य कमानेसे वैश्य; और नीचवृत्तिका आश्रय लेनेसे शूद्र कहलाते हैं।

वर्णाकृत्यादिभेदानां, देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैः गर्भाधानप्रवर्तनात्॥
(उत्तरपुराण प० ७४)

अर्थात्—इस शरीरमें वर्ण और आकारसे भेद नहीं दिखाई देता है। तथा ब्राह्मणी आदिमें शूद्रादि के द्वारा गर्भाधान भी देखा जाता है। तब कोई व्यक्ति अपने वर्ण और जातिका घमंड कैसे कर सकता है? इसलिये जो सदाचारी है वही उच्च

वर्णी है और जो दुराचारी है वह नीच वर्णी है। वर्णोंको वास्तविक न होनेसे ही जैनशासनमें त्रिवर्णाचार शास्त्र नहीं पाया जाता है, जो त्रिवर्णाचार सोमसेन भट्टारककृत है वह नकली है और हिन्दू धर्मकी पूरी नकल है। अतः वह माननीय नहीं। जिस तरह नाना तरहके आर्षप्रणीत श्रावकाचारविषयक शास्त्र मिलते हैं उस तरह आर्ष त्रिवर्णाचार जैन धर्ममें एक भी नहीं है। उसका कारण वर्णको वास्तविक न मानना ही है। हाँ, आचार भेदसे वर्ण जरूर माना है किन्तु जन्मना नहीं। ११ वीं शताब्दीके महान् नैयायिक जैनाचार्य प्रभाचन्द्रजी जन्मना वर्ण और जातिकी धज्जियां उड़ा देते हैं और क्रियासे ही उसको सिद्ध करते हैं। प्रमेय कमल मार्तण्ड (पृ० १४१-१४२) में उन्होंने प्रबल युक्तियोंसे जन्मना वर्ण और जातिका खण्डन किया है। यथा--

"एतेन नित्यं निखिलब्राह्मणव्यक्तिव्यापकम् ब्राह्मण्यमपि प्रत्याख्यातम्। ननु च ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः। न चेदं विपर्ययज्ञानं बाधकाभावात्। नापि संशयज्ञानमुभयांशानवलम्बित्वात्। तथानुमानतोऽपि-ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धं पदत्वात्, पटादिपदवत्।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः तत्र किं निर्विकल्पकाद् सविकल्पकाद्वा प्रतिपत्तिः स्यात् न तावद् निर्विकल्पकात् तत्र जात्यादिपरामर्शाभावात्। भावे वा सविकल्पकानुषंगः स्यात्। नापि सविकल्पकात् कठकलापादिव्यक्तीनां मनुष्यत्वविशिष्टतयेव ब्राह्मण्यविशिष्टतयापि प्रतिपत्त्यसंभवात्। अथादृश्यात्ब्राह्मण्यजातिस्तेनायमदोषाः कथं तर्हि सा प्रत्यक्षेत्युक्त शोभेत। किं चौपाधिकोऽयं ब्राह्मणशब्दः तस्य च निमित्तं वाच्यम्। तच्च किं पित्रोरविप्लुतत्वं, ब्रह्मप्रभवत्वं वा? न तावदर्पवलुतत्वमनादौ काले तस्याध्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्। प्रायेण प्रमदानां कामातुरतयेह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलंभाच्च कुतो योनिनिबन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चयः? न च विप्लुतेतरपित्रपत्येषु वैलक्षण्यं लक्ष्यते। न खलु वडवायां रदेभाश्वप्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं लक्ष्यते क्रियाविलोपात्। कथं चैवं वादिनोव्यासविश्वामित्रप्रभृतीनां ब्राह्मण्यसिद्धिः तेषां जज्जन्यत्वासंभवात्। तत्र पित्रो रविप्लुतत्वं तन्निमित्तम्। नापि ब्रह्मप्रभवत्वं सर्वेषां तत्प्रभवत्वेन ब्राह्मणशब्दाभिधेयतानुसंगात्। तन्मुखाज्जातो ब्राह्मणो नान्य इत्यपिभेदं ब्रह्मप्रभवत्वे प्रजानां दुर्लभः। न खलु एक वृक्षप्रभवं फलं मूले मध्ये शाखायां च भिद्यते। ननु नागवल्लीपत्राणां मूलमध्यादिदेशोत्पत्तेः कंठभामर्पादिदृष्टः, एवमत्रापि प्रजाभेदः। इत्यप्यसत्, यतस्तत्पत्राणां जघन्योत्कृष्टप्रदेशोत्पादात् तत्पत्राणां तद्भेदो युक्तः। ब्राह्मणस्तु तद्देशाभावात् न तद्भेदो युक्तः तद्देशमविचाम्य जघन्योत्कृष्टतादिभेदप्रसंगः स्यात्। अतो न ब्रह्मप्रभवं ब्राह्मण्यम्। तज्जाता किंचित्तथाविधं सहायं वाच्यम्। तच्चाकारविशेषः अध्ययनादिकं वा? तत्वद्यकार विशेषः तस्याब्राह्मणोऽपि संभवात्। अत एवाध्ययनं क्रियाविशेषो वा तत्सहायतां न प्रतिपद्यते। दृश्यते हि शूद्रोपि स्वजाति विलोपादेशांतरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययनं तत्प्रणीतां च क्रियां कुर्वाणः। ततो ब्राह्मणजातेः प्रत्यक्षतोऽप्रतिभासनात् कथं व्रतबन्धवेदाध्ययनादिः विशिष्टव्यक्तावेवसिद्धत्येत्। यदप्युक्तं ब्राह्मणपदमित्याद्यनुमानं तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तैक निमित्ताभिधेय संबद्धत्वं तत्पदास्याध्यक्षबाधितं कठकलादिव्यक्तीनां ब्राह्मण्यविविक्तानां प्रत्यक्षतोऽनिश्चयादश्रावणत्वविविक्तशब्देवत्। हेतुश्चानैकान्तिकः सत्ताकाशकालपदे अद्वैतानि पदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेन संबद्धत्वाभावेपि पदत्वस्यभावात्। तत्रापि तत्संबद्धत्वकल्पनायां सामान्यबलेन अद्वैताश्वविषाणादेः वस्तुभूताननुसंगात्। कुतोऽप्रतिपक्षापक्षसिद्धिः स्यात्। ब्राह्मण्येन यष्ट्व्यमित्यागमोपि न प्रमाणम् प्रत्यक्षबाधितार्थाभिधायित्वात् तृथाग्रे हस्ति यूथशतमास्ते--इत्यागमवत्। ननु ब्राह्मण्यादि जातिविलोपे कथं वर्णाश्रमव्यवस्थातन्निबंधदोषा तपोदानादिव्यवहारो वाजैकानां घटेतेत्यसमीचीनम्। क्रियाविशेष यज्ञोपवीतादिचिन्होपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्योपपत्तेः। कथमन्यथा परशुरामेण निक्षत्रीकृत्य ब्राह्मणदत्तायां पृथिव्यां

क्षत्रियसंभवः ? यथा चानेन निःक्षत्रीकृताऽसौ तथा केनचिन्निर्ब्राह्मणीकृतापि संभाव्येत। ततः क्रियाविशेषनिबंधन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः। तन्न परपरिकल्पितायां जातौ प्रमाणमस्ति यतोऽस्याः सद्भावः स्यात्। सद्भावे वा वेश्यापटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च न स्यात्. जातियतः पवित्रताहेतुः। सा च तन्मते तदवस्थैव। अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात्। गवादीनां हि चांडालादिगृहे चिरोषितानामपि इष्टं शिष्टैरादानं न तु ब्राह्मण्यादीनाम्। अथ क्रियाभ्रंशात् तत्र ब्राह्मण्यादीनां निन्द्यता तर्हि क्रियानिबन्धनैव वर्णव्यवस्था न तु जन्मना सिद्ध्येत्।

किं चेदं ब्राह्मण्यं जीवस्य शरीरस्योभयस्य वा संस्कारस्य वेदाध्ययनस्य वा ? गत्यन्तरासंभवात्। न तावज्जीवस्य, क्षत्रियविड्शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्य य प्रसंगात्, तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात्। नापि शरीरस्यास्य पंचभूतात्मकस्यापि घटादिवत् ब्राह्मण्यासंभवात्। नाप्युभयस्योभयदोषानुषंगात्। नापि संस्कारस्यास्य शूद्रबालके कर्तुंशक्तितस्तत्रापि तत्प्रसंगात्। नापि वेदाध्ययनस्य शूद्रेपि तत्संभवात्। शूद्रोपि कश्चिद्देशान्तरे गत्वा वेदं पठति पाठयति च, न तावता अस्य ब्राह्मणत्वं भवद्भिरप्युपगम्यते। ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था।"

अर्थात्—जिस तरह नित्य सामान्यका स्वरूप नहीं ठहरता है उसी तरह सभी ब्राह्मणोंमें रहनेवाली नित्य ब्राह्मणत्व जाति भी नहीं ठहरती है। शंकाकार (मीमांसक) शंका करता है—यह ब्राह्मण है २ ? इस प्रकार प्रत्यक्षसे ही वह सिद्ध है। यह ज्ञान विपर्यय ज्ञान नहीं है क्योंकि बाधक प्रमाणका अभाव है। संशय ज्ञान भी नहीं है क्योंकि उभयाँशोंको परामर्श नहीं करता है। तथा अनुमानसे भी मालूम पड़ता है कि ब्राह्मणपद ब्राह्मण व्यक्तिसे जुदा ब्राह्मणत्व (जाति) के निमित्तसे है क्योंकि वह पद है पटादि पदके समान।

इसका श्रीतार्किकशिरोमणि प्रभाचन्द्राचार्य खंडन करते हैं—जो यह कहा गया है कि प्रत्यक्षसे ब्राह्मणत्व जाति मालूम पड़ती है सो हम पूछते हैं कि वह क्या सविकल्पक प्रत्यक्षसे मालूम पड़ती है अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ? निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे तो मालूम पड़ती नहीं है; क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें जात्यादि विकल्पका ज्ञान नहीं होता। अगर जात्यादि विकल्पका ज्ञान निर्विकल्पमें मानोगे तो वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न होकर सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलायेगा। सविकल्पक प्रत्यक्षसे भी ब्राह्मणत्व जाति नहीं मालूम पड़ती है। जिस प्रकार मनुष्योंमें मनुष्यत्व जाति सविकल्पक प्रत्यक्षसे नहीं मालूम होती उसी तरह उनमें (ब्राह्मणोंमें) ब्राह्मणत्व जाति भी नहीं मालूम पड़ती है। अगर कहो ब्राह्मणत्व जाति अदृश्य है तो वह प्रत्यक्ष कैसे सिद्ध हो सकती है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मण शब्द औपाधिक (उपाधियुक्त) शब्द है अतः उसका निमित्त बतलाना चाहिये। सो वह निमित्त माता-पिताकी अविप्लुता—शुद्धि है अथवा ब्रह्मासे पैदा होना है ? अगर माता-पिताकी शुद्धि ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणजाति) की पहचानका निमित्त है तो वह बन नहीं सकता है क्योंकि इस अनादिकालमें उस शुद्धिका बना रहना असम्भव है। कारण स्त्रियोंको प्रायः कामातुर होनेसे इस जन्ममें भी व्यभिचार करते देखा जाता है। इस लिये योनिशुद्धिकारणक ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणजाति) का निश्चय कैसे हो सकता है ? शुद्ध माता पिता और व्यभिचारी माता-पितासे पैदा हुई सन्तानोंमें विलक्षणता भी मालूम नहीं होती है क्योंकि क्रिया दोनों सन्तानोंमें एकसी (शुद्धाशुद्ध) पायी जाती है। अतः यह शुद्ध ब्राह्मण है और यह अशुद्ध ब्राह्मण है ऐसा निश्चय कदापि नहीं हो सकता। जिस तरह घोड़ी और गधेके संसर्गसे पैदा हुई संतान खच्चर रूपसे देखनेमें विलक्षण नजर आती है उस तरह ब्राह्मण और शूद्रके संसर्गसे पैदा हुई और ब्राह्मण-ब्राह्मणीके संसर्गसे पैदा हुई संतानोंमें विलक्षणता नहीं मालूम होती है क्योंकि दोनोंमें एक सरीखा ही आकार, आचारादि होता है। अतः माता-पिताकी शुद्धि ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणजाति) का निश्चायक निमित्त नहीं हो सकता है। दूसरे, माता पिताकी शुद्धि ब्राह्मणत्वके पहचाननेमें निमित्तकारण मानने या कहनेपर

व्यास, विश्वामित्र आदिके ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणपना) कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि वे शुद्ध माता पितासे पैदा नहीं माने गये हैं। फिर भी उन्हें ब्राह्मण माना है। अगर कहो कि अशुद्ध माता-पितासे पैदा होनेपर भी शुद्ध ब्राह्मणकी क्रिया करनेसे वे ब्राह्मण कहलाते हैं तो फिर क्रियाके आधीन ही वर्ण व्यवस्था हुई। अतः मातापिताकी शुद्धि ब्राह्मणत्वका निमित्त कारण नहीं है। ब्रह्मासे पैदा होना ब्राह्मणत्वका निमित्त कारण है यह भी नहीं बनता है क्योंकि वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र भी ब्रह्मासे पैदा होनेके कारण ब्राह्मण होजायेंगे। अगर कहो कि ब्रह्माके मुखसे जो पैदा हो उसे ब्राह्मण कहते हैं अन्यको नहीं, तो यह भेद भी ब्रह्मासे पैदा हुई प्रजामें नहीं बन सकता है। जैसे एक वृक्षसे पैदा हुये फल, मूल, मध्य, शाखाके भेदसे भेदको प्राप्त नहीं होते उसी तरह ब्रह्मासे पैदा हुये सभी प्राणियोंमें भी ब्राह्मणादि भेद नहीं होसकते।

—शंका पानकी वेलके पानोंमें मूलमध्यादि देशोत्पन्न-भेदसे कंठग्रामर्यादि भेद अवश्य देखा जाता है—अर्थात् पानकी वेलके मूलभागसे पैदा हुये पान खानेपर गलेका स्वर बिगाड़ देते हैं और पानकी लताके मध्य भागोत्पन्न पान खानेपर गलेका अच्छा स्वर कर देते हैं। इसी तरह ब्रह्ममुखोत्पन्न ब्राह्मण, ब्रह्माकी बाहुओंसे पैदा हुये क्षत्रिय, और ब्रह्माकी नाभिसे पैदा हुये वैश्य, और ब्रह्माके पैरोंसे पैदा हुये शूद्र कहलाते हैं।

समाधान—यह कहना भी व्यर्थ है क्योंकि पानकी वेलमें जघन्योत्कृष्टादिका भेद होनेसे उन उन प्रदेशोंसे पैदा हुये पानोंमें भेद बन सकता है किन्तु ब्रह्माके जघन्योत्कृष्टादि भेद न होनेसे ब्राह्मणादि भेद नहीं बन सकते हैं। अगर ब्रह्मामें जघन्योत्कृष्टादि भेद माना जाय तो जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट तीन तरहका ब्रह्मा हो जायेगा। और ऐसा माना नहीं है। ब्रह्माके पैरोंको जघन्य माननेपर उसके पैरोंको अंडकोषके समान वंदनीयता नहीं बन सकती है। अतः ब्रह्मासे पैदा होना भी ब्राह्मणत्वका नियामक नहीं बनता है। ब्राह्मण जातिमें सहायक कारण भी यदि कोई कहे तो वह क्या आकार विशेष है अथवा वेदाध्ययनादिक ? आकार-विशेषतो कारण नहीं हो सकता है क्योंकि वह शूद्रादिकमें भी पाया जाता है। अतः आकार-विशेषसे शूद्र भी ब्राह्मण हो जायेंगे, जो कि अभीष्ट नहीं। वेदाध्ययन और क्रिया-विशेष भी ब्राह्मणत्वकी पहचान-के सहायक कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि शूद्र भी अपनी जातिको छिपाकर दूसरे देशमें जाकर ब्राह्मण का रूप बनालेता है और ब्राह्मण सम्बन्धी क्रिया और वेदाध्ययन करने लगता है। अतः वह शूद्र भी ब्राह्मण हो जायेगा। इस लिये नित्य ब्राह्मण जातिको प्रत्यक्षसे न दिखनेसे व्रत वेदाध्ययनादि ब्राह्मणमें ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? अतः प्रत्यक्षसे ब्राह्मणत्व जाति सिद्ध नहीं हो सकती। और जो अनुमान (अर्थात् ब्राह्मणपद ब्राह्मणत्व जातिसे युक्त है पद होनेसे पटादि पदके समान) से ब्राह्मणत्व जातिको सिद्ध करने की कोशिश की है वह भी व्यर्थ है, क्योंकि ब्राह्मणत्व जाति ब्राह्मण व्यक्तिसे जुदी प्रत्यक्षसे नहीं दिखती है। अतः प्रत्यक्षबाधित पक्ष होनेसे हेतु कालात्ययापदिष्ट है। दूसरे, प्रस्तुत अनुमानगत हेतु अनैकान्तिक दोष सहित होनेसे अपना साध्य सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि, अद्वैत अश्वविषाणादिपदोंमें सामान्य जातिका अभाव होनेपर भी पदत्व हेतु रहता है। अगर इन अश्व-विषाण अद्वैतादिकमें भी अश्वविषाणत्वादि जाति मानी जाय तो वे अश्वविषाण (घोड़ेके सींग) अद्वैतादि सत्य वस्तुएँ सिद्ध होजायेंगी। किन्तु वे सत्य नहीं हैं। अतः अनुमानगत हेतु सदोष होनेसे उसके द्वारा ब्राह्मणत्वकी सिद्धि नहीं बन सकती है।

शंका—"ब्राह्मणेन यष्टव्यम्" अर्थात् ब्राह्मणको यज्ञ करना चाहिये, इस आगम-वाक्यसे ब्राह्मणजाति सिद्ध होजायेगी ?

समाधान— यह भी ठीक नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्ष बाधित अर्थका कथन करता है। जैसे 'तृणके अग्रभागपर सौ हाथियोंका समूह है' यह आगम प्रत्यक्षबाधित है।

शंका—नित्य ब्राह्मणादि जातिको न माननेपर वर्णाश्रमकी व्यवस्था और उसके आधीन तपोदानादि

व्यवहार जैनियोंके कैसे बनेंगे ?

समाधान--नहीं, क्योंकि क्रियाविशेषसे सहित और यज्ञोपवीतादि चिन्ह वाले व्यक्तियोंमें यह वर्णाश्रमकी व्यवस्था और तपोदानादि धर्म बन जायेंगे। अर्थात् शास्त्राध्ययन, व्रताचरण प्रधान ब्राह्मण, शासन कर्म और असहायोंकी रक्षा करनेवाले क्षत्रिय, व्यापार, खेती, मुनीमी आदि कर्म करने वाले वैश्य, और सेवा शिल्पका कार्य करने वाले शूद्र कहलायेंगे। अतः कोई भी नित्यजाति वर्ण नहीं है। क्रियाविशेषसे जाति वर्ण बनते हैं और क्रिया छोडनेपर जाति वर्ण नष्ट होजाते हैं और क्रिया बदल देनेपर जातिवर्ण बदल जाते हैं। अगर क्रियासे ही वर्णव्यवस्था न होती तो परशुरामद्वारा क्षत्रिय रहित पृथ्वी कर देनेपर वर्तमानमें क्षत्रिय कहाँसे पैदा होते ? जिस तरह परशुरामने क्षत्रियरहित पृथ्वी की उसी तरह किसीके द्वारा ब्राह्मणरहित पृथ्वीकी भी संभावना हो सकती है। फिर वर्तमानमें ब्राह्मण कहाँसे आगये ? अगर कहो कि ब्राह्मण क्षत्रिय रहित पृथ्वी होनेपर भी बाकी बचे शूद्र, वैश्य ही ब्राह्मणादिकी क्रिया करनेसे ब्राह्मण क्षत्रिय बन गये तो फिर क्रियाके आधीन ही वर्ण व्यवस्था हुई, जन्मसे नहीं। यही जैनधर्म मानता है। अगर जन्मसे नित्य ब्राह्मणजाति मानी जाय तो वेश्याके घरमे रहनेवाली ब्राह्मणीकी निन्दा क्यों की जाती है ? और उसमें ब्राह्मणत्वका अभाव क्यों माना जाता है ? क्योंकि उस ब्राह्मणीको वेश्या होजानेपर भी नित्य जन्मना ब्राह्मण जाति पवित्रताकी हेतु उसमें मौजूद रहेगी ही। अन्यथा गोजातिसे भी ब्राह्मणजाति निकृष्ट कही जायेगी। क्योंकि चांडालादिके घरमें वर्षोंसे रही हुई भी गायोंको बड़े लोग (उच्च वर्णवाले) खरीद लेते हैं और उसका दूध सेवन करते हैं किन्तु भ्रष्ट हुई ब्राह्मणीको नहीं अपनाते। अगर कहा जाय कि वेश्याके घरमें रहने वाली ब्राह्मणी की क्रिया नष्ट होजानेसे उसकी निन्दा हो जाती है तो क्रियाविशेषसे ही वर्णव्यवस्था सिद्ध हुई, जन्मसे नित्य नहीं।

दूसरी बात यह है कि 'ब्राह्मणत्व' जीवके होता है अथवा शरीरके अथवा दोनोंके या संस्कारके अथवा वेदाध्ययनके ? जीवके तो ब्राह्मणत्व बन नहीं सकता है, क्योंकि क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंके भी ब्राह्मणत्वका प्रसंग आयेगा। कारण, जीवत्व, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंमें भी होता है। पंचभूतादिस्वरूप शरीरके भी ब्राह्मणत्व संभव नहीं है। जिस तरह पंचभूतात्मक घटादिकमें ब्राह्मणत्व नहीं है उसी तरह पंचभूतात्मक शरीरमें भी ब्राह्मणत्व नहीं है। शरीर और जीव दोनोंके ब्राह्मणत्व माननेपर दोनोंमें कहे हुये दोषोंका प्रसंग आवेगा। संकारके भी ब्राह्मणत्व संभव नहीं, क्योंकि संस्कार शूद्रबालकमें भी हो सकनेसे उसके भी ब्राह्मणत्वका प्रसंग आयेगा। वेदाध्ययनसे भी ब्राह्मणत्व नहीं बनता है क्योंकि शूद्र भी वेदाध्ययन कर सकते हैं। अतः उसके भी ब्राह्मणत्वका प्रसंग आयेगा। और यह ज्ञात ही है कि शूद्र भी देशान्तरमें जाकर वेद पढ़ते हैं और दूसरोंको भी पढ़ाते हैं। पर इतनेसे उन्हें ब्राह्मण नहीं माना जाता है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि नित्य जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं है किन्तु सदृश क्रियाविशेष परिणामादि (आचार विचार आजीविकादि भेद) के आधीन ही वर्णव्यवस्था है। अर्थात् जो उच्च आचार विचार रखे वह उच्च वर्णका है और जो नीच आचार-विचार रखे वह नीच वर्णका है।

इसी बातका समर्थन पं० आशाधरजीने अनगार धर्मामृतमें किया है यथा—।

"अनादाविह संसारे, दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामिनीमूले का जाति-परिकल्पना॥"

अर्थात्—अनादिकालीन संसारमें कामदेव सदासे दुर्निवार चला आरहा है। और कुलका मूल कामिनी है तो उसके आधारपर जाति और वर्णकी कल्पना कैसे ठहर सकती है। तात्पर्य यह कि कामदेवकी चपेटमें न जाने कौन स्त्री कब आजाये। अतः स्त्रियोंकी शुद्धिके ऊपर जातिकी कल्पना नहीं ठहरती। पूज्य तार्किक शिरोमणि प्रभाचन्द्राचार्यने कितनी सुन्दरतासे नाना विकल्पोंको उठाकर जन्मना व नित्य वर्ण व्यवस्थाका खंडन किया है। इसे पाठक स्वयं ही

ऊपर देख चुके हैं। इन तमाम प्रमाणोंसे सिद्ध है कि वर्णव्यवस्था आचार-क्रिया और आजीविकाके भेदको लेकर ही कायम हुई है—जन्मसे नित्य नहीं हैं।

उपसंहार

अगर निश्चित कर्म (क्रिया) और आजीविकाके साधनको छोड़ देते हैं या बदल देते हैं तो जाति-वर्ण नष्ट भी होजाता है और बदल भी जाता है। अतः जन्मसे किसीको ऊँचा समझना और किसीको नीचा समझना उचित नहीं है। प्रचलित अच्छे वर्ण-जातिमें पैदा होकरभी अगर सदाचारी नहीं हैं तो वह नीच-वर्णी ही है, और प्रचलित नीच वर्णमें पैदा होकर सदाचारी है तो वह उच्चवर्ण वाला ही है। यही भ० महावीरकी देशना है। आज जो इसका प्रचार भी वर्तमान युगके महात्मा गांधी कर रहे हैं वह भी वीरशासनका सच्चा प्रचार है। इससे यह नतीजा निकलता है कि प्रत्येक मानव समीचीन आचार-विचार पालन कर जैनधर्म धारण करनेका अधिकारी हो सकता है और हम ऊँचे कुल वर्णमें पैदा हुये, इस बातका हमें घमंड छोड़ देना चाहिये और उच्च चारित्रका-पंचपापोंके त्यागरूप संयमका पालन कर सच्चे जैन ब्राह्मणादि बनना चाहिये। जब वर्ण और जाति क्रियाके आधीन ही है और उसका परिवर्तनादि भी हो सकता है तब प्रत्येक वर्ण (जाति)के साथ विजातीयविवाह तथा अपनी उपजातियोंमें अन्तर्जातीय विवाह किये जासकते हैं और शूद्रसे शूद्रादिकोंको जैन बनाया जासकता है और वह उच्च चारित्र पालन कर स्वर्गादिकका अधिकारी भी होसकता है। इस बातके प्रथमानुयोगके शास्त्रोंमें हजारों प्रमाण मिलते हैं। दस्सा लोगोंको जिन्हें आप अपनेसे छोटा मानते हैं—पुनः शुद्ध कर शुद्ध वर्णवाला बनाया जासकता है, क्योंकि आचारके आधीन ही वर्णव्यवस्था है। अतः उच्चचारित्र पालन कर और प्रायश्चित्त लेकर दस्सा लोग पुनः शुद्ध हो सकते हैं। इसी बातका समर्थन जिनसेनाचार्यने अपने आदिपुराणमें किया है यथा—

कुतश्चित्कारणाद्यस्य, कुलं संप्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत् स्वं कुलं यदा॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः॥
(आदि पर्व० पृ० ४०)

अर्थात्-किसी कारणवश किसी कुलमें कोई दोष लग गया हो तो वह राजादिकी सम्मतिसे जब अपने कुलको प्रायश्चित्तसे शुद्ध करलेता है तब उसे फिर यज्ञोपवीतादि लेनेका अधिकार होजाता है। यदि इसके पूर्वज दीक्षायोग्य कुलमें हुये हों तो उसके पुत्र पौत्रादिको यज्ञोपवीतादि लेनेका कहीं भी निषेध नहीं है। इस आगमपर नजर डालकर दस्सा-लोगोंको पुनः शुद्ध कर अपनेमें शीघ्र मिला लेना चाहिये। जिस तरह नीच चारित्रसे मानव पतित और शूद्र होसकता है उसी तरह पंचपापोंके त्यागरूप उच्च चारित्रसे शूद्र, पतित और मलेच्छ भी उच्चवर्णी (ब्राह्मणादि) जैनी हो सकते हैं। जो स्त्रियें कारणवश भ्रष्ट होगई हैं वे भी प्रायश्चित्त लेकर यथायोग्य पुनः शुद्ध होसकती हैं। ऐसी हजारों नजीरें जैनशास्त्रोंमें भरी पड़ी हैं। मधुराजा, अंजन, बसंतसेनावेश्या, चारुदत्त सेठ तथा रुद्रोंको पैदा करनेवाली अर्जिकायें भी तो प्रायश्चित्त लेकर पुनः शुद्ध बनकर स्वर्गकी अधिकारिणी हुई थीं। अतः बन्धुओं चेतो, नवीन लोगोंको जैन बनाओ और हर वर्णके मनुष्यस्त्रीको जैनधर्ममें दीक्षित करो और उनके साथ भाईपनेका व्यवहार करो जो धार्मिक सामाजिक अधिकार तुम्हें प्राप्त हैं वे अधिकार भी उन नवदीक्षित लोगोंको दो जिससे जैनधर्मकी असली प्रभावना हो और जैनसंख्याकी बृद्धि हो। रानी चेलनाने भी तो राजा श्रेणिक बौद्धको जैन बनाया था तथा अपके तीर्थंकर और आचार्योंनेतो सारे विश्वको ही जैन बनाया था। यही कारण है कि आज भी करणाटक प्रांतमें सभी वर्णके लोग जैनधर्म धारण किये हुये हैं। जब वर्ण और जाति ही क्रियाके ठहरते हैं तो उनके उपभेदस्वरूप जो उपजातियाँ वर्तमानमें प्रचलित हैं—जो देशभेद, आजीविकाभेद, और राजादिके नामपर बनी हैं वे सब तो अपने

आप ही कृत्रिम ठहरती हैं। अतः इन उपजातियोंका घमंड करना भी व्यर्थ है। भ० महावीरके साम्य-वादका आधार और अहिंसावाद क्रियासे वर्ण-व्यवस्थाको मानना ही है।

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ षट्खण्डागम (क्षुद्रकबन्ध धवला टीका और उसके अनुवाद सहित)—सम्पादक प्रो० हीरालालजी जैन एम. ए. डी. लिट्. मारिस कालेज, नागपुर, सहसम्पादक, पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, अमरावती। प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती पृष्ठ सं० ६७२, मूल्य सजिल्द १०), शास्त्रकार १२) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ षट्खण्डागमका द्वितीय खण्ड है, जिसे खुद्दाबंध या क्षुद्रकबंध कहते हैं। इसमें संक्षिप्त रूपसे कर्मबन्धका वर्णन स्वामित्व, काल, अन्तर, भंगविचय, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नानाजीवकाल, नानाजीवअन्तर, भागाभागानुगम, और अल्पबहुत्वानुगम इन ग्यारह अनुयोग द्वारा मार्गणास्थानोंमें किया गया है। साथ ही, महादंडक चूलिकामें अल्पबहुत्वानुयोग द्वारा सूचित अर्थकी विशेषताका भी निरूपण किया गया है। आचार्य भूतबलिने इस खंडका विषय १५८८ सूत्रोंमें वर्णित किया है। हिन्दी अनुवाद पूर्ववत् मूलानुगामी है; परन्तु कुछ स्थलोंपर स्खलन तथा अर्थका सामंजस्य ठीक नहीं बैठ सका है। उदाहरणके लिये पृष्ठ ६ की चतुर्थ पंक्तिमें 'गम्यते इति गतिः' का अर्थ ठीक नहीं किया गया है तथा पृष्ठ ५३६ की निम्न पंक्तिको देखिये—"ण च अकाइया सव्वजीवाणं पढमवग्गमूल-मेत्ता अत्थि तस्स पढमवग्गमूलस्स अणंतभागमेत्तादो।" अर्थ—"अकायिक जीव सर्वजीवोंके प्रथम वर्गमूल प्रमाण है, क्योंकि वह प्रथम वर्गमूल अकायिक जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण है।" मूलपंक्तिसे यह अर्थ फलित नहीं होता; क्योंकि समस्त जीवराशिका प्रथम वर्गमूल अकायिक जीवोंके अनन्तवें भाग प्रमाण नहीं हो सकता, कारण कि प्रथम वर्गमूलका एकवार वर्ग करने-पर उसमें समस्त जीवराशिका समावेश हो ही जाता है जिनमें अकायिक जीव भी सम्मिलित हैं—वे समस्त जीवराशिसे भिन्न नहीं हैं। ऐसी हालतमें उक्त अर्थ जीको लगता हुआ प्रतीत नहीं होता, किन्तु 'अकायिक जीव प्रथम वर्गमूलके अनन्तवें भागमात्र हैं' ऐसा होना चाहिये सूत्रोंका अर्थ करते हुए कितने ही सूत्रोंके अर्थको भावार्थ द्वारा स्पष्ट करना चाहिये था, जिससे पढ़ने वालोंके लिये और सरलता हो जाती, सम्पादकजीने प्राक्कथन और प्रस्तावनामें 'संयत' पदकी चर्चा करते हुए मूडबद्रीय ताडपत्रीय प्रतिके अनुसार६३वें सूत्रमें 'संजद'पद जोड़नेकी प्रेरणा की है।

परिशिष्टोंमें अवतरणगाथा सूची नामक परिशिष्ट-में निर्दिष्ट गाथाएँ पंचसंग्रह प्राकृत और मूलाचार (आचारांग) में भी पाई जाती हैं। 'समत्ते सत्तदिणा' और 'णाणावरणचदुक्कं' ये दो गाथाएँ प्राकृत पंच-संग्रहमें पाई जाती हैं और शेष 'णिक्खित्तु विदिय-मेत्तं' पढमक्खो अंतगओ, संखा तह पत्थारो, संठाविदूण रूवं, सग माणेहि, विहत्ते, पढमं पयडिपमाणं और सव्वेपि पुव्वभंगा, ये सब गाथाएँ १०३७, १०३८, १०४०, १०३६, १०३३ और १०३५ नंबरोंपर पाई जाती हैं।

ऐसे महान ग्रंथके सम्पादन प्रकाशनमें बड़ी सावधानी रखते हुए भी कुछ भूलोंका हो जाना बहुत बड़ी बात नहीं है। आशा है आगे और भी सावधानी रखनेका प्रयत्न किया जावेगा। ग्रंथका प्रस्तुत भाग प्रायः करके अपने पूर्व भागोंके अनुरूप ही है। छपाई सफाई भी सुन्दर और चित्ताकर्षक है। प्रत्येक जैन मन्दिर, लायब्रेरी और शास्त्रभंडार तथा संस्थाओं और विद्वानोंको मंगाकर अध्ययन करना चाहिये।

३. भावत्रयदर्शी—लेखक स्वर्गीय आचार्य श्री कुंथुसागर। अनुवादक—पं० लालराम शास्त्री। प्रकाशक, सेठ मगनलाल हीरालाल पाटनी पारमार्थिक ट्रस्ट फण्ड, मदनगंज (किशनगढ़) पृष्ठसंख्या, सब मिलाकर ३१६। मूल्य, परिणामविशुद्धि।

इस ग्रन्थमें आचार्य श्रीने संसारी जीवोंके 'भावत्रय' में निष्पन्न होनेवाले परिपाक (फल) का अच्छा चित्रण किया है, जिसे ध्यानमें रखते हुये प्रत्येक मानवको चाहिये कि वह अपने परिणाम अशुभ प्रवृत्तिसे हटाकर शुभमें नियोजित करे—लगावे और शुद्ध भाव प्राप्तिकी भावना करे। ऐसा करनेसे वह अशुभ परिणामसे निष्पन्न दुःखद परिपाक (फल) से बच सकता है और अपने जीवनको आदर्श तथा समुन्नत बना सकता है।

यह ग्रंथ उक्त ट्रस्ट फण्डकी ओरसे संचालित 'पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला' का द्वितीय पुष्प है। सेठ मगनलाल हीरालालजीने धार्मिक भावनासे प्रेरित होकर पाँच लाखकी सम्पत्तिका यह ट्रस्ट करा दिया है, जिससे कितनी ही संस्थाओंका संचालन होरहा है और सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में उस का व्यय किया जाता है। जिसके लिये वे महान धन्यवादके पात्र हैं। आशा है दूसरे महानुभाव भी अपनी चंचला लक्ष्मीको सफल करनेमें सेठ साहबका अनुसरण करेंगे और इसी तरह जैनशासन तथा जैनसाहित्य के प्रचार एवं प्रसारमें अपना तन मन और धन अर्पण करेंगे।

सम्यग्दर्शनकी नई खोज—लेखक, स्वामी कर्मानन्द, प्रकाशक, जैनप्रगति ग्रन्थमाला, सहारनपुर, पृष्ठ संख्या ८०, मूल्य आठ आना।

इस पुस्तकमें लेखक महाशयने अनेक जैनग्रंथोंका स्वाध्याय कर सम्यग्दर्शन और उसके उपशम-क्षयोपशमादि भेदोंके स्वरूपपर यथेष्ट प्रकाश डाला है और स्वाध्यायप्रेमी विद्वानोंके लिये विविध ग्रन्थोंके अनेक अवतरणोंको उद्धृत कर कितनी ही विचारकी सामग्री प्रस्तुत की है। सम्यग्दर्शनके व्यवहार-निश्चय भेदों और उनके स्वरूपपर भी विचार किया है। साथ ही, कवि राजमल्लजीकी पंचाध्यायीको लेकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाके सद्भाव-विषयक मान्यताकी समालोचना करते हुए लिखा है कि ज्ञानचेतना अष्टम गुणस्थानसे पूर्व नहीं हो सकती। यह विषय अभी बहुत कुछ विवादास्पद है। पुस्तक उपयोगी है। छपाई सफाई साधारण है।

४. मुक्तिका मार्ग—(सत्तास्वरूपशास्त्रप्रवचन) प्रवचनकर्ता, श्रीकानजी स्वामी, अनुवादक, पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। प्राप्तिस्थान, श्री जैन-स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (काठियावाड़) पृ० सं० १२, ०मू० दस आना।

यह पुस्तक स्वर्गीय पं० भागचन्दजीके 'सत्तास्वरूप' नामक ग्रंथपर गुजराती भाषामें दिये गए प्रवचनों—व्याख्यानोंका संग्रह है। जो पं० परमेष्ठीदासजी द्वारा अनुवादित होकर पुस्तकरूपमें प्रकाशित हुआ है। कानजी स्वामी अध्यात्मरसके मर्मज्ञ संत हैं। आपके व्याख्यान तात्विक और अध्यात्मकी मनोहर कथनीको लिये हुए होते हैं। आपके सत्प्रयत्नसे इस समय सोनगढ़ अध्यात्मका एक केन्द्र बन गया है। वहां आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारादि अध्यात्म ग्रंथोंका प्रवचन, मनन और अनुशीलन होता है। जिन महानुभावोंका उधर जाना हुआ है वे उनकी अध्यात्म-कथनीपर मोहित हुए हैं। पुस्तक स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये विशेष उपयोगी है, मुमुक्षु जनोंको मंगाकर पढ़ना चाहिये।

६. कर्मयोग—सम्पादक हरिशंकर शर्मा, वार्षिक मूल्य चार रुपया।

यह गीतामन्दिर आगराका पाक्षिक मुख पत्र है। पत्रमें अनेक विचारपूर्ण सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक लेख रहते हैं। कितने ही लेख तो बड़े ही ओजस्वी, प्रभाविक एवं शिक्षाप्रद होते हैं—मानव जीवनमें स्फूर्ति तथा उत्साह बढ़ाते हैं। पत्रका उद्देश्य प्रशंसनीय है और वह कर्मयोगका विकास करता हुआ संसारका एक श्रेष्ठ पत्र बननेके लिये प्रयत्नशील है। हम सहयोगीकी हृदयसे उन्नति चाहते हैं।

—परमानन्द जैन, शास्त्री

सम्पादकीय

१. राष्ट्रीय सरकारका अभिनन्दन—

बहुत कुछ आश्वासनों, बलिदानों, आशाओं और कष्टपरम्पराओंके बाद भारतमें जो राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई है उसका हृदयसे अभिनन्दन है। आशा है इस सरकार के द्वारा भारतकी चिर अभिलाषाएँ पूरी होंगी, उसे स्वतन्त्र वातावरणमें सांस लेनेको मिलेगा, उसके सभी व्यक्तियोंका जीवन ऊँचा उठेगा, सबका आचार-विचार शुद्ध होगा, सब को बोलने और अपना उत्कर्ष सिद्ध करनेकी स्वतंत्रता प्राप्त होगी, व्यर्थका भेदभाव मिटेगा, अन्याय-अत्याचार दूर होंगे, न्यायका नाटक नहीं होगा और न वह आजकलकी तरह मँहगा ही पड़ेगा, पारस्परिक प्रेम तथा विश्वबंधुत्वकी भावना जोर पकड़ेगी और रिश्वतसतानी (घूसखोरी) तथा ब्लैक मर्कैट आदि अन्यायमार्गोंसे द्रव्य प्राप्तिका जो बाजार चारों तरफ गर्म होरहा है वह अपना अन्तिम सांस लेता हुआ शीघ्र समाप्त हो जायगा। यह सब कुछ होनेपर सुख-शान्ति और आत्म-समृद्धिकी जो लहर व्याप्त होगी वह इस सरकार को भारतीय जनताकी ही नहीं किन्तु विश्वभरकी नज़रोंमें अभिवन्दनीय बना देगी और भारतको फिरसे गुरुपदपर स्थापित करनेमें समर्थ होगी। और इसलिये यही सब इस सरकारका सर्वोपरि कर्तव्य है।

२. राजगृहके प्रबन्धकोंसे—

बहुत दिनसे मेरी इच्छा थी कि मैं राजगृह (राजगिर) तीर्थपर जाकर ठहरूँ और वहाँकी स्थितिका अध्ययन करूँ। तदनुसार २८ मार्च सन् १९४६ को प्रातःकाल मैं न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाको साथ लेकर राजगृहके लिये रवाना हुआ और वहाँ अगले ही दिन कोई ३ बजे दिनके पहुँच गया। अपने इस पहुँचनेकी सूचना पहलेसे तीर्थके मैनेजर—मुनीम रामलालजीको दे दी गई थी और साथ ही कलकत्ता बाबू छोटेलालजी तथा उनके भाई बाबू नन्दलालजी को भी इस विषयमें लिख दिया था और उन दोनोंके पत्र भी मैनेजर साहबके पास स्थानादिके समुचित प्रबन्धके लिये पहुँच गये थे। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी पहुँचनेपर कोई यथोचित प्रबन्ध नहीं देखा गया और इसलिये कई घंटे आफ़िसके बरामदे आदिमें यों ही बिताने पड़े। रात्रिको सोनेके समय मुनीमजीके प्रयत्नसे ला० कालूरामजी मोदी गिरीडी वालोंकी कोठीमें ठहरनेकी कुछ अस्थायी व्यवस्था हुई और इसलिये कुछ दिन बाद ही वहाँसे खिसकना पड़ा। मालूम हुआ इस वर्ष यात्रियोंकी बराबर इतनी भीड़ रही है जितनी कि आचार्य शान्तिसागर का संघ वहाँ पहुँचनेपर हुई थी। इसीसे मार्च मासके अन्त पर भी स्थानकी क़िल्लत बनी रही।

जिस समय मैं राजगृह पहुँचा उस समय दि० जैन धर्मशाला और मन्दिरके बीच वाली गलीमें तथा रा० ब० सखीचन्दजी आदिके बंगलोंके पास इतनी दुर्गन्ध थी कि वहाँ खड़ा नहीं हुआ जाता था, टट्टियोंसे खुले स्थानपर पानी बहकर बंगलोंके सामने वाली जमीनपर इतना सड़ा हुआ चौड़ा इकट्ठा होगया था कि उसकी बदबूसे दम घुटा जाता था। उधर धर्मशाला आदिमें चारों ओर बीमार यात्रियोंके कूल्हने-कराहने आदिकी दुखदर्द भरी आवाज़ें सुनाई पड़ती थीं और उनके उपचारका कोई समुचित साधन नज़र नहीं आता था। एक दिन तो एक कुटुम्बके सभी प्राणी ज्वरसे पीड़ित थे, कुछ बेसुध पड़े थे, कुछ पानीके लिये पुकार कर रहे थे; परन्तु उन्हें कोई भी पानी देनेवाला नहीं था और न भीतरके गरम कमरेसे निकालकर बाहर बरामदेमें लिटाने वाला ही। उनके लिये इन दोनों कार्योंको रात्रिके समय पं० दरबारीलालजीने और मैंने मिलकर किया। मुनीमजीसे चर्चा करनेपर मालूम हुआ कि कोठीमें आदमियोंकी कमी है और वे स्वयं अनवकाशसे बहुत ही घिरे रहते हैं। इसलिये किस २ यात्रीको कैसे खबर रक्खें और क्या सेवा उन्हें पहुंचाएँ!

बड़े ही दुःखका विषय है कि यात्री जन तो सुख-शान्ति की तलाशमें अपने घरोंसे निकलकर तीर्थोंकी शरणमें आवें और वहां इस तरहकी असहायावस्थामें पड़कर अशान्ति तथा यातनाएँ भोगें एवं संक्लेशपरिणामोंके द्वारा पाप उपार्जन करें !! यह स्थिति निःसंदेह बड़ी ही भयावह एवं

खेदजनक है और एक समृद्ध धार्मिक समाजके लिये भारी लज्जाका विषय है ! इसकी ओर तीर्थक्षेत्रके प्रबन्धकोंका ध्यान शीघ्र ही आकृष्ट होना चाहिये और उसे दूर करनेके लिये निम्न उपाय काममें लाने चाहियें:—

१. इस तीर्थपर एक अच्छा औषधालय एवं चिकित्सालय खुलना चाहिये जो बारहों महीने स्थानीय तथा देहाती सर्वसाधारण जनताकी सेवा करता हुआ तीर्थयात्राकी मोसम (कातिकसे चैत्र तक) में यात्रियोंकी विशेष रूपसे सेवा करनेमें संलग्न रहे और उसमें एक अनुभवी वैद्य तथा डाक्टर चिकित्सकके रूपमें रहने चाहियें। यदि इनमेंसे और महीनोंमें कोई एक ही रहे तो भी यात्राके दिनोंमें तो दोनों की ही नियुक्ति वहाँपर होनी चाहिये। साथ ही चिकित्सालय में एक दो नर्स भी उन दिनों रहनी चाहिये।

२. यात्राकी मौसममें अनेक स्थानोंकी सेवा समितियों से कुछ ऐसे स्वयंसेवकोंके बैच प्रयत्न करके बुलाने चाहियें जो यात्रियोंकी सेवामें तत्पर हों और इस पुनीत कार्यके लिये अपने १०-२० दिनके समयका खुशीसे उत्सर्ग कर सकें। ऐसे सेवकोंके आने जाने और ठहरने आदिका सब प्रबन्ध तीर्थक्षेत्र कमेटीको करना चाहिये।

३. यदि एक विद्यालय अथवा गुरुकुल भी यहां खोल दिया जाय तो उससे यात्रियोंकी सेवामें विशेष सुविधा हो सकती है। साथ ही वीर भगवानके जिस सर्वोदय तीर्थकी पवित्र धारा यहाँसे प्रवाहित हुई है उसका कुछ रसास्वादन भी स्थानीय, आसपासकी तथा दूसरी सम्पर्कमें आनेवाली जनताको सहजमें ही मिल सकता है, जिसके मिलनेकी जरूरत है और वह उस संस्कृतिका एक प्रतीक हो सकता है जिसने वहांपर जन्म लिया अथवा प्रचार पाया।

४. मन्दिर, धर्मशाला और बंगलोंके आस पास निरंतर सफाईका पूरा प्रबन्ध होना चाहिये और इसके लिये पूर्ण वेतनभोगी दो भंगी जरूर रक्खे जाने चाहियें। मुनीमजीका यह कहना कि नगर भरमें कुल चार घर भंगियोंके हैं और उनके पास काम बहुत ज्यादा है अतः पूर्ण समयके लिये किसी एक की भी योजना नहीं की जा सकती कुछ भी अर्थ रखता हुआ मालूम नहीं होता; क्योंकि राजगृहमें यदि भंगियोंकी कमी है तो पूर्ण वेतन देकर दूसरे भंगियोंको बाहरसे बुलाया जा सकता है। कमसे कम तीर्थयात्राके दिनोंमें तो दो भंगियोंकी नियुक्ति अवश्य ही होनी चाहिये। साथ ही धर्मशालाके पीछे टट्टियोंका पानी फैलकर जो सड़ता और सर्वत्र बदबू फैलाता है उसे एक दम बन्द करदेना चाहिये। उसके लिये श्वेताम्बर धर्मशालाके उस सिस्टमको अपनाना अच्छा होगा जिससे मल-मूत्रादिक सब पृथ्वीके अधोभागमें चला जाता है और ऊपर तथा आस पास कोई दुर्गन्ध फैलने नहीं पाती। और टट्टियोंकी नालीके पास रेतीली जमीन तक गहरे गड्ढे खोदकर उन्हें ईंट पत्थरोंके टुकडोंसे भर देना चाहिये। इससे गन्दा पानी गड्ढेके रास्ते ज़मीनमें जज़्ब होजायगा और ऊपर दुर्गन्ध नहीं फैलाएगा।

५. हरसाल, यात्राका सीज़न प्रारंभ होनेसे पहले ही आसपासके सब कुओंकी सफाई पूरी तौरसे होनी चाहिये। धर्मशाला तथा बंगलोंके पासके कुओंका जल अच्छा नहीं पाया गया और इस लिये कुछ दूरसे पानी मंगाना होता था। अतः जिन कुओंका पानी वैसे ही खराब है उन्हें कुछ गहरा करादेना चाहिये अथवा उनमें नल डलवाकर गहराईमेंसे निर्दोष जलको ऊपर लानेका यत्न करना चाहिये।

६. देहली वालोंके मन्दिर और श्री सखीचन्दजीके बंगलेके बीचमें जो एक पुख्ता अहाता पड़ा हुआ है और जिसमें कुआ भी बना है उसमें शीघ्र ही धर्मशाला या औषधालय आदि की बिल्डिंग बना देना चाहिये। और जब तक ऐसी कोई बिल्डिंग न बने तब तक उस अहाते की दोनों तरफी दीवारोंको और ऊँचा उठाकर उसमें ताला डाले रखना चाहिये, जिससे कोई भी टट्टी आदिके द्वारा उस स्थानको गन्दा तथा वातावरणको दूषित न कर सके।

७. धर्मशालाके पीछे जो एक बड़ा प्लाट पड़ा हुआ है और जिसपर एक तरफ कुछ टट्टियां बनी हैं तथा टट्टियोंका गन्दा पानी फैलकर वातावरणको दुर्गन्धित एवं दूषित करता है उसकी शीघ्र ही एक अच्छी अहाताबन्दी होजानी चाहिये और उस अहातेमें अच्छा नकशा तय्यार कराकर ऐसी बिल्डिंगका डौल डालदेना चाहिये जो विद्यालय, गुरुकुल औषधालय और म्यूज़ियम (अजायबघर) जैसी किसी बड़ी संस्था अथवा संस्थाओंके लिये उपयुक्त हो।

आशा है प्रबन्धक जन इन सब बातोंकी ओर शीघ्र ही ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और तीर्थक्षेत्र कमेटी अपना विशेष कर्तव्य समझेगी। (शेष फिर)

देहलीके जैन मन्दिर और जैन संस्थाएँ

(बा० पन्नालाल जैन, अग्रवाल)

अरसेसे यह विचार चल रहा था कि देहलीके जैन मन्दिर और जैन संस्थाओंका एक संक्षिप्त परिचय सर्वसाधारणके लिये संकलित किया जाय। आज उसे ही यहाँ स्थान-क्रमसे पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसमें यदि कहीं कुछ कमीवेशी रही हो तो उक्त संस्थाओंसे परिचित सज्जन उससे सूचित करनेकी कृपा करें :—

धर्मपुरा—

(१) नया मन्दिर—यह ला० हरसुखरायजीका विशाल मन्दिर है। वि० सं० १८५७, ई० सन् १८०० में इसका बनना प्रारम्भ हुआ था और वैसाख सुदी ३ सं० १८६४, ई० सन् १८०७ में प्रतिष्ठा हुई थी। दर्शनीय बेदी, पच्चीकारीका अद्भुत काम, दीवारोंपर सुन्दरी चित्रकारी, प्राचीन हस्तलिखित लगभग १८०० शास्त्र और छपे हुए प्राय: सभी शास्त्रोंका संग्रह ये सब इस मन्दिरकी विशेषताएँ हैं। स्फटिक, नीलम, मरकत और पाषाणकी सं० ११११२ की बनी हुई कितनी ही प्रतिमाएँ यहाँ हैं। दोनों समय इसमें पुरुषोंकी शास्त्रसभा होती है। स्त्रीसमाजकी भी एक शास्त्र-सभा सुबहके वक्त हुआ करती है।

(२) स्वाध्यायशाला, (३) आराईशफण्ड (मिथ्यात्व-तिमिरनाशिनी दि० जैन सभाश्रित), (४) जैन पाठशाला (चौथी कक्षा तक) स्थापित सम्वत् १९४३, सन् १८८६, (५) जैनवर्द्धनफण्ड (दि० जैनप्रेमसभाश्रित), (६) जैन मित्रमण्डल कार्यालय—स्थापित सन् १९१५ (७) श्रीवर्धमान पब्लिक लायब्रेरी-स्थापित सन् १९२७, (८) धर्मशाला—बीबी द्रोपदी देवीकी (भूमि नये मन्दिरजीकी) स्थापित संवत् १९६४, सन् १९३७, (९) धर्मशाला—कमरा, धर्मपत्नी ला० चन्दूलाल मुलतानवालोंका, स्थापित संवत् १९७९, सन् १९२२, (१०) जैनकन्याशिक्षालय—स्थापित सन् १९०८ (पांचवीं कक्षा तक)। ये दश संस्थाएँ मुहल्ला धर्मपुरामें हैं।

गली पहाड़के बाहर—

(१) चैत्यालय—ला० भोंदूमलजी द्वारा निर्मापित, (२) चैत्यालय—ला० मीरीमलजीका। ये दो जैनमन्दिर मुहल्ला गली पहाड़के बाहरमें हैं।

मस्जिद खजूर—

(१) पंचायती मन्दिर—यह मन्दिर लगभग २०३ वर्ष पुराना सन् १७४३ का बना हुआ है जिसका पीछे कुछ वर्ष हुए नूतन संस्कार हुआ था और उससे इसने विशाल रूप धारण किया है। इसे शुरूमें महोम्मदशाहके कमसरियेट डिपार्टमेन्टके आफीसर आज्ञामलने बनवाया था और बादको उसे पंचायती किया था। इसमें ३ विशाल प्रतिमाएँ हैं जिनमें पार्श्वनाथजीकी मूर्ति श्यामवर्ण ५ फुट ६ इंच ऊँची और ३ फुट ५ इंच चौड़ी है। अन्य दो प्रतिमाएँ श्वेत रंगकी है, जिनमें प्रत्येक ३ फुट ५ इंच ऊँची और २ फुट ८½ इंच चौड़ी है। इनके अलावा कई रत्नप्रतिमाएँ, हस्तलिखित लगभग ३००० शास्त्र और छपे हुए कितने ही शास्त्रोंका संग्रह आदि भी इस मन्दिरकी विशेषताएँ हैं।

(२) धर्मशाला—पंचायती मन्दिरकी।

मस्जिद खजूरके बाहर—

(१) पद्मावती पुरवाल दि० जैन मन्दिर—स्थापित सन् १९३१।

(२) मेहरमन्दिर—ला० मेहरचंदजीका बनाया हुआ, जिसमें १६७००० रुपये खर्च हुए। प्रतिष्ठा २३ जनवरी सन् १८७९ को हुई। नन्दीश्वरद्वीपके ५२ चैत्यालयोंकी अपूर्व रचना, छपे हुए व हस्तलिखित शास्त्रोंका संग्रह, प्रात:काल शास्त्रसभा, ये इस मस्जिद खजूरके मेहर मन्दिरकी खास चीजें हैं।

वैद्यवाड़ा—

(१) दिगम्बर जैन बाड़ा मन्दिर—मय चैत्यालय शान्तिनाथ स्वामी, लगभग २०५ वर्ष पुराना (सन् १७४१में निर्मित, विशाल प्रतिमा, स्फटिककी प्रतिमायें, हस्तलिखित शास्त्रभंडार, स्त्रीसमाजकी शास्त्रसभा ये सब इसकी

विशेषताएँ हैं। (२) शान्तिसागर दि० जैन कन्यापाठशाला (पाँचवी कक्षा तक), (३) सुन्दरलाल दि० जैन औषधालय (४) सुन्दरलाल दि० जैन धर्मशाला और (५) चैत्यालय (गलीमें), ये इस वैद्यवाड़ाके धर्मायतन हैं।

सदरबाजार—

(१) हीरालाल जैन हायर सेकेंडरी स्कूल—स्थापित सन् १९२०।

(२) शिवदयाल फ्रीनाईट स्कूल (श्रीपार्श्वनाथ युवक मंडल द्वारा संचालित)।

(३) 'जैन संसार (उर्दू मासिक) पत्र कार्यालय।

(४) धर्मशाला—ला० मूलचन्द मुसद्दीलालकी। ये सदर बाज़ार की संस्थायें हैं।

छिप्टीगंज उर्फ महावीरनगर—

(१) लाल चैत्यालय, (२) श्रीलालचन्द जैन धर्मार्थ औषधालय—स्थापित सन् १९४०। ये दोनों धर्मायतन ला० लालचन्द बीड़ीवालोंके बनाये हुये हैं। इसके साथ ही (३) श्री १००८ जम्बूकुमार संघ नामक संस्था भी यहाँ है।

पहाड़ी धीरज—

(१) जैन शिक्षा प्रचारक सोसाईटी (रजिस्टर्ड)।

(२) श्री दि० जैन पंचायती धर्मशाला।

(३) जैन संगठन सभा कार्यालय—सन् १९२४।

(४) सार्वजनिक जैन पुस्तकालय—स्थापित सन् १९२४ (जैन संगठन (सभाश्रित)।

(५) श्रीपार्श्वनाथ युवकमंडल कार्यालय,

(६) जैनमैरिज व्यूरो (जैनसंगठनसभाश्रित)

(७) जैन मन्दिर (गली मन्दिरवालीमें) जो गदरसे पहिले का बना हुआ है। यहां छपे हुए शास्त्रोंका अच्छा संग्रह भी है।

(८) चैत्यालय—ला० मनोहरलाल जौहरीका यहां मंत्रशास्त्रों व छपे शास्त्रोंका अच्छा संग्रह है।

(९) जैन कन्यापाठशाला—स्थापित सन् १९१८, (इसमें आठवीं कक्षा तक पढ़ाई है)

(१०) हीरालाल जैन प्राइमरी स्कूल।

(११) जैनमन्दिर—(गली नत्थनसिंह जाट) ला० मक्खनलालका बनवाया हुआ।

(१२) श्राविकाशाला—(गली नत्थनसिंह जाट)

(१३) जैन सेवासंघ—(गली नत्थनसिंह जाट)। ये १३ धार्मिक संस्थाएँ मुहल्ला पहाड़ी धीरजमें हैं।

करौलबाग—

(१) जैन मन्दिर (छप्परवाले कुएके पास)। इसकी प्रतिष्ठा सन् १९३५ में हुई थी।

(१) मुन्शीलाल जैन आयुर्वेदिक औषधालय।

न्यूदेहली—राजाका बाजार—

(१) अग्रवाल जैन मन्दिर—ला० हरसुखरायजीका बनवाया हुआ मुगलोंके समयका। इसमें मूलनायक प्रतिमा संवत् १८६१ सन् १८०४ की है।

(२) बुद्धिप्रकाश जैन रीडिंगरूम,

(३) खण्डेलवाल जैन मन्दिर—मुगलोंके समयका, प्राचीन संवत् १२४८ की प्रतिमा।

(४) जैन सभा (रजिस्टर्ड) स्थापित सन् १९३९ में।

(५) दि० जैन बिरादरी (सभा)।

(६) जैनयंगमैन एसोसियेशन—स्थापित सन् १९३५।

(७) जैन निशि— मुगलोंके समयकी।

पहाड़गंज (मन्टोलामें)—

(१) जैनमन्दिर।

गली इन्दरवाली कूंचापातीराम—

(१) जैनमन्दिर संवत् १९४९ का बना हुआ।

(२) जैन प्रेमसभा।

(३) नेमिनाथ कीर्तनमंडल।

देहली दरवाज़ा—

(१) जैनमन्दिर—यह मुगलोंके समयका बना हुआ है।

दरियागंज—

(१) श्री भारतवर्षीय अनाथरक्षक जैन सोसाइटी (रजिस्टर्ड) स्थापित सन् १९०३, (२) जैन अनाथालय—स्थापित सन् १९०३, (३) जैन चैत्यालय, (४) जैन आयुर्वेदिक फार्मेसी, (५) टेलरिंग डिपार्टमैंट (६) जैनप्रचारक (मासिकपत्र कार्यालय)। (७) जैन एंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल। (८) रायबहादुर पारसदास रिफ्रेंस लायब्रेरी—(इसमें अंग्रेजीकी बहुमूल्य पुस्तकोंका संग्रह है)। (९) ला० हुकमचन्दका चैत्यालय (नं० ७ में), (१०) रंगीलालजैन होमियोपेथिक फ्री डिस्पैन्सरी, ये दरियागंजकी संस्थाएँ हैं।

फैज़बाज़ार—ऋषिभवन—

(१) अखिल भारतवर्षीय दि० जैन परिषद कार्यालय—स्थापित सन् १९२३ (२) 'वीर' साप्ताहिकपत्र कार्यालय, (३) परिषद् पब्लिशिंग हाउस (४) परिषद परीक्षाबोर्ड (५) जैन एज्यूकेशनबोर्ड, ये फैजबाजारमें स्थित संस्थाएँ हैं।

लालकिलेके पास—

(१) लाल मन्दिर या उर्दूका मन्दिर—यह सबसे प्राचीन मन्दिर है, जो सन १६५६ में सम्राट शाहजहाँके समयमें बना था। यहां संवत् १५४८ की मूर्तियां हैं। स्त्री व पुरुष समाजकी शास्त्रसभा हुआ करती है। कहा जाता है कि यह मन्दिर 'उर्दू मन्दिर' के नामसे इस लिए प्रसिद्ध हुआ कि उसका निर्माण उन जैनियोंके लिए किया गया था जो सम्राट शाहजहाँकी सेनामें थे, एकबार सम्राट औरङ्गजेबने हुक्म निकाला था कि इस मन्दिरमें बाजे न बजाये जायें; परन्तु उनके हुक्मकी पाबन्दी न होसकी—बाजे बराबर बजते रहे और आश्चर्य यह कि बजानेवाला कोई दिखाई न देता था। सम्राट स्वयं देखने गए और संतोषित होकर उन्होंने अपना हुक्म वापिस ले लिया। कहा जाता है कि जिस स्थानपर यह मन्दिर है वहांपर शाही छावनी थी और एक जैनी सैनिककी छोलदारी लगी हुई थी, जिसने अपने दर्शन करनेके वास्ते एक जिन प्रतिमा उसमें विराजमान कर रक्खी थी, उपरान्त उसी स्थानपर यह विशाल मन्दिर बनाया गया है।

(२) जैनस्पोर्टस क्लब

कूंचाबुलाकीबेगम (परेड ग्राउंडके पास)—

(१) जैनधर्मशाला ला० लच्छूमल कागज़ी—स्थापित सन् १९२९।

चांदनीचौक (दरीबेके पास)—

गिरधारीलाल प्यारेलाल जैन एज्यूकेशन फंड (आफिस) हाउस नम्बर ३३।

गली खजांची (दरीबा)—

(१) चैत्यालय—ला० हजारीलालका, ला० साहबसिंह का बनाया हुआ है, जो लगभग १५५ वर्ष पुराना सन् १७९१ में बना था। (२) चैत्यालय ला० गुलाबराय मेहरचन्द (मुगलोंके समयका)।

कटडामशरू (दरीबा)—

(१) धर्मशाला ला० श्रीराम जैन बकीलकी—स्थापित सन् १९०९।

कूंचासेठ (दरीबा)—

(१) बड़ा मन्दिर—जो संवत् १८८५ (सन् १८१८)में बनना आरंभ हुआ और मगसिर वदी १३ संवत् १८९१ (सन् १८३४) में जिसकी प्रतिष्ठा हुई। स्फटिककी मूर्तियें संवत् १२५१ की मूर्ति, लगभग १४०० हस्तलिखित शास्त्र और छापेके ग्रंथोंका इसमें अच्छा संग्रह है। पुरुष-समाजकी शास्त्रसभा होती है। (२) वर्तनफंड (जैन सेवा-समितिके तत्त्वावधानमें)। (३) छोटा मन्दिर—ला० इन्द्रराजजीका बनवाया हुआ लगभग १०६ वर्ष पुराना (सन् १८४०) इसमें संवत १५४६ की प्रतिमाएँ हैं। ला० इन्द्रराजजीने काबुलके एक दुर्रानीसे एक प्रतिमा अपना सब सामान बेच कर ५००) रुपयेमें खरीदी थी। उसे पहले अपने घरमें प्रतिष्ठित किया बादमें पंचोंके सपुर्द कर दिया। दुर्रानीसे जो प्रतिमा खरीदी थी वह संवत १५४६ की थी। (४) जैन धर्मशाला, (५) मुनि नमिसागर परमार्थ पवित्र औषधालय—स्थापित सन् १९३१ (६) जैनसंस्कृतव्यापारिक विद्यालय—आठवीं कक्षा तक, (रजिस्टर्ड) स्थापित सन् १९११ में।

गली अनार—धर्मपुरा—

(१) चैत्यालय बीबी तोखन।

सतघरा—धर्मपुरा—

(१) चैत्यालय मुंशी रिश्कलाल। (२) मन्दिर—ला० चन्दामल, स्त्रीसमाज शास्त्रसभा, (३) श्राविकाशाला।

सतघरा (बाहर) धर्मपुरा—

(१) हिसार—पानीपत अग्रवाल दि० जैन पंचायत कार्यालय—हाउस नम्बर ६४८।

छत्ता शाहजी (चावड़ीबाजार)—

अग्रवाल जैन औषधालय—ला० अमरसिंह धूमीमल कागजीका, स्थापित सन् १९३९।

नई सड़क—

(१) भारतवर्षीय दि० जैन महासभा कार्यालय (रजिस्टर्ड) स्थापित सन् १८९४ में। (२) जैनगजट (साप्ताहिक) पत्र-कार्यालय।

कटड़ा खुशालराय—

(१) अग्रवाल दि० जैन मन्दिरान मैनेजिंग कमेटी कार्यालय हाउस नम्बर ६६२।

गन्दानाला—

(१) जैन मन्दिर।

सब्जीमंडी—

(१) पार्श्वनाथ मन्दिर (बर्फखानेके पास)। (२) आदिनाथमन्दिर (गली मन्दिरवालीमें), स्त्रीसमाजकी शास्त्रसभा, (३) श्री शान्तिसागर दि० जैन कन्यापाठशाला (पांचवीं कक्षा तक)। (४) श्री शान्तिसागर दि० जैन औषधालय। (५) दि० जैन महावीर चैत्यालय (जमना मीलमें), (६) जैन विद्यार्थीमंडल (सभा) व पत्र कार्यालय (मासिक) रोशनारारोड

मोगल—जंगपुरा देहलीसे ४ मीलकी दूरीपर—

(१) यहाँ एक जैन चैत्यालय और (२) जैन कन्या पाठशाला है।

पटपड़गंज देहलीसे ५ मील दूर—

(१) यहाँ एक जैन मन्दिर है, जो ला० हरसुखरायजी का बनवाया हुआ है।

देहली शाहदरा देहलीसे ४ मील दूर—

(१) जैनमन्दिर ला० हरसुखरायजीका बनवाया हुआ मन्दिरवाली गलीमें शास्त्र भंडार सहित है। (२) जैन पाठशाला, (३) रघुवीरसिंह जैनधर्मार्थ औषधालय।

कुतुबमीनार (देहलीसे ११ मील दूर)—

(१) खंभोंपर जैन मूर्तियाँ खुदी हुई हैं (कीली लोहेके सामनेकी दालानमें नीचे तथा ऊपरकी मंजिलमें)

नोट—यहाँ तक जिनका परिचय दिया गया वे सब मन्दिर और संस्थाएँ दिगम्बर जैन हैं।

श्वेताम्बर और स्थानकवासी जैन संस्थाएँ।

चेलपुरी—

(१) श्वेताम्बर जैन मन्दिर, सन् १८१६ का।

किनारीबाजार—

(१) आत्मवल्लभ जैनधर्मशाला, स्थापित १८ अप्रैल सन् १९३६, (२) श्री आत्मवल्लभ प्रेमभवन उपनाम श्री जैन श्वेताम्बर धर्मशाला, स्थापित संवत् १९५२, सन् १८९४, पुस्तकोंके संग्रह सहित।

कटड़ा खुशालराय—

(१) जैन श्वेताम्बर पौशाल श्रीसंघ श्रीरंगसूरीश्वर खतरगच्छकी स्थापित संवत् १९८३, सन् १९२६। (२) जैन जागृति संघ कार्यालय (तीनों संप्रदायोंका)।

नवघरा—

(१) श्वेताम्बर जैन मन्दिर लगभग २३० वर्ष पुराना अर्थात् सन् १७१६ का।

वैद्यवाड़ा—

(१) श्री जैन श्वेताम्बर खतरगच्छीय जैनधर्मशाला, लाला नवलकिशोर खैरातीलाल रतयान जौहरीकी, स्थापित संवत् १९८२, सन् १९२५।

मालीवाड़ा—

(१) स्थानक (पत्तलवाली गलीमें)। (२) महावीर जैन औषधालय। (३) श्री गंगादेवी धर्मार्थ ट्रस्ट (गली दारोगा कन्हैयालाल, मकान नं० २०७६ में)।

चीराखाना—

(१) चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर। (२) श्री जैन तरुणसमाज कार्यालय, (३) श्री एस. एस. जैन कन्या पाठशाला (छटी कक्षा तक), (४) धर्मशाला मुन्नालाल सिंघी, मकान नं० ३८३।

नई सड़क—

(१) श्री महावीर जैन हाई स्कूल।

चांदनीचौक—

(१) श्री एस. एस. जैन महावीर भवन। (२) महावीर जैन पुस्तकालय, स्थापित सन् १९२३।

मंडीरूई—

(१) जैन श्रमणोपासक मिडिल स्कूल, स्थापित सन् १९२६।

डिप्टीगंज—

(१) श्री जैन श्वेताम्बर स्थानक, (२) श्री जैन पब्लिक लायब्रेरी।

सब्जी मंडी—

(१) श्री पार्श्वनाथ जैन लायब्रेरी मय धर्मशाला, (२) स्थानक सोहनगंज (चन्द्रावलरोड)।

(पृष्ठ १६२ का शेषांश)

शिष्य इन ब्रह्मने वहांकी मनोज्ञ महावीरस्वामीकी जीर्ण मूर्तिको देखकर द्रव्य मांग मांग कर उसका उद्धार कराया तथा चैत्यालयका उद्धार छत्रमालने कराया। इन सब बातोंका शिलालेखमें उल्लेख है। साथमें छत्रसालको बड़ा धर्मात्मा प्रकट किया गया है और उसका यशोगान किया गया है। अस्तु।

इससे यही विदित होता है कि वहाँ १५ वींसे १७ वीं शताब्दी तक रहे भट्टारकी प्रमुत्वमें कोई महावीरस्वामीका मन्दिर निर्माण कराया होगा। उसके करीब १०० वर्ष बाद जीर्ण होजानेपर वि० सं० १७५७ (अठारहवीं सदी) में उसका उद्धार कराया गया। चूँकि छत्रमालको वहाँके भट्टारककी कृपा और उनके मंत्रविद्याके प्रभावसे युद्धमें विजयलाभ हुआ था। इस लिये वह तबसे अतिशयक्षेत्र भी कहा जाने लगा।

प्रभाचन्द्र और श्रुतसागरके मध्यमें रचे गये निर्माणकाण्डमें जिन अतिशयक्षेत्रोंकी परिगणनाकी गई है उनमें भी कुण्डलपुरको अतिशयक्षेत्र या अन्य रूपमें परिगणित नहीं किया। इससे भी यह प्रकट है कि वह सिद्धक्षेत्र तो है ही नहीं—अतिशय-क्षेत्र भी १५वीं १६ वीं शताब्दीके बाद प्रसिद्ध हुआ है।

बीना (सागर) १६-५-४६ } —दरबारीलाल जैन, कोठिया

अनेकान्तको सहायता

गत तीसरी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकातको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

५१) रा० ब० ला० हुलाशराय जी जैन रईस, सहारनपुर (अपने दत्तक पुत्रकी शादीमें निकाले हुए दानमेंसे)

५०) बा० नेमचन्दजी गांधी, उस्मानाबाद।

२०) ला० फेरूमल चतरसैनजी, मासिक 'वीर स्वदेशी भंडार' 'सरधना' (१० ग्राहकोंको अर्धमूल्यमें अनेकान्त भिजवानेके लिये, जिन्हें भेजा गया)।

१०) ला० रूड़ामलजी शामियाने वाले, सहारनपुर (चि० बा० कस्तूरचन्दजीके विवाहके समय निकाले गए २५१) रु० के दानमेंसे)

५) बा० कपूरचन्द लालचन्दजी C. P. तिलोकचन्द कल्याणमल, इन्दौर।

५) इन्द्रमलजी एडवोकेट बुलन्दशहर (चि० पुत्र नरेन्द्रमोहनकी विवाहोपलक्षमें निकाले दानमेंसे)

५) ला० दामोदरदासजी अलीगढ़ और ला० वासीलालजी मुरादाबाद (पुत्र-पुत्रीके विवाहके उपलक्ष-में निकाले गए दानमेंसे)।

५) ला० हरचन्द्रराय नेमीचन्दजी पथवारी, आगरा (चि० पुत्र मोहनकुमार की शादीके उपलक्षमें

५) ला० सुमेरचन्दजी जैन सर्राफ किरतपुर जि० बिजनौर (चि० पुत्र प्रेमचन्दकी शादीके उपलक्षमें निकाले गए दानमसे)।

५) ला० मिश्रीलालजी सोगानी हाथरस (धर्मपत्नीके स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमेंसे)

१६१)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत तृतीय किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको सदस्य फीसके अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं—:

१००१) श्रीमान ला० कपूरचन्दजी जैन रईस कानपुर, मालिक फर्म ला० बिश्वेश्वरनाथ मूलचन्दजी जैनने ५०१) अपनी ओर तथा ५००) रुपया अपने चचा बनारसीदासजीके ओरसे दशलक्षण पर्वके उपलक्षमें, भेंट किये।

२०१) श्री दि० जैन समाज, नजीबाबाद, जि० बिजनौर (दशलक्षण पर्वके उपलक्षमें) मार्फत न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी जैन कोठिया।

१००) बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता (बतौर सहायता सफर खर्चके)।

२०॥≈)॥। उक्त ला० कपूरचंदजी कानपुरके दोनों चैत्यालयोंमें रक्खी हुए गोलकों से प्राप्त।

१०) श्री दिगम्बर जैन समाज नजीबाबाद सफर खर्चकी सहायतार्थ, मार्फत न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया।

१०) ला० रूडामलजी जैन शामियानेवाले, सहारनपुर (चि० पुत्र बा० कस्तूरचन्दजी जैनके विवाहके अवसरपर निकाले हुए २५१) रू० के दानमेंसे)

५) ला० आनन्दस्वरूपजी जैन, खतौली।

५) दि० जैन पंचायत किशनगढ, (जयपुर)

१३५२॥≈)॥।

अधिष्ठाता—
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

Regd. No. A-736.

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

सम्पादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार

नवंबर दिसंबर सन् १९४६

वर्ष ८ किरण ६-७

विषयसूची

१ समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक ... २२३
२ आ० भाषाओंकी व्यु० जैन० महत्व—[बा० ज्योतिप्रसाद एम. ए. ... २२५
३ ग्रंथ और ग्रंथकार (मूलाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा)—[सम्पादक ... २२७
४ वीतरागस्तोत्र—[सम्पादक ... २३३
५ सर राधाकृष्णनके विचार— ... २३४
६ साम्प्रदायिक दंगे और अहिंसा—[बा० राजकुमार जैन ... २३५
७ भ० महावीर और उनका सन्देश—[श्रीकस्तूरसाव जैन, बी० ए० ... २३७
८ वनस्पति घी—[महात्मा गांधी ... २४६
९ ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध क्यों ?—[पं० दरबारीलाल ... २४७
१० कायरता घोरपाप है—[श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ... २५७
११ बंगालके कुछ प्राचीन जैनस्थल—[बा० ज्योतिप्रसाद एम० ए० ... २६१
१२ चारित्र्यका आधार—[श्री काका कालेलकर ... २६३
१३ धर्म और नारी—[बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए० ... २६५
१४ अपभ्रंश भाषाका जैन कथा-साहित्य—[पं० परमानन्द शास्त्री ... २७३
१५ प्रा. जैनमं०के ध्वं०में निर्मित मस्जिदें—[बा० ज्योतिप्रसाद एम०ए० ... २७९
१६ रत्न० और आ० का एक कर्तृत्व प्रमाण सिद्ध है—[पं० दरबारीलाल ... २८०
१७ एक प्राचीन ताम्र-शासन—[सम्पादक ... २८६
१८ भट्टारकीय मनोवृत्तिका एक नमूना—[सम्पादक ... २८७
१९ विविध-विषय—[जे० पी०] ... २८९
२० साहित्यपरिचय और समालोचन—[ज्योतिप्रसाद जैन ... २९५

आवश्यक सूचना

गत किरणमें अनेकान्तके प्रकाशनमें होनेवाली विलम्ब-पर अपना भारी खेद व्यक्त करते और उसके कारण एवं तज्जन्य अपनी मजबूरीको बतलाते हुए यह आशाकी गई थी कि अगली किरणोंका मैटर शीघ्र ही प्रेसमें जाकर वे प्रेसके आश्वासनानुसार जल्दी छप सकेंगी और कुछ समयके भीतर ही विलम्बकी पूर्ति हो जायगी। परन्तु जिस व्हाइट प्रिंटिंग कागजपर अगली किरणोंके छापनेकी सूचनाकी गई थी उसका परमिट तो मिलगया था किन्तु कागज नहीं मिला था। कागजके लिये कितनी ही बार सहारनपुरके चक्कर लगाने पड़े और प्रत्येक होलसेलर (wholeseller) को उसके देनेके लिये प्रेरणा की गई परन्तु सबने टकासा जवाब देदिया और कह दिया कि हमारे पास आपके मतलब का कागज नहीं है। मालूम यह हुआ कि सहारनपुर जिलेका कोटा तो कम है और परमिट अधिकके कटे हुए हैं. ऐसी हालतमें माँगके अधिक बढ़जानेसे अक्सर व्यापारी लोग (होलसेलर्स) आते ही मालको प्रायः इधर उधर कर देते हैं—दुकानोंपर रहने नहीं देते—और फिर ड्योढे दुगुने दामोंपर ब्लैकमार्केट द्वारा अपने खास व्यक्तियोंकी मार्फत बेचते हैं। यह देखकर डिस्ट्रीब्यूटरों (distributors) के पाससे कागजके मिलनेकी व्यवस्थाके लिये परमिटमें सुधार करदेनेकी प्रार्थनाकीगई परन्तु पेपर कंट्रोलर साहबने उसे मंजूर नहीं किया—अर्थात् अपनी हुंडी तो खड़ी रक्खी परन्तु उसके भुगतानकी कोई सूरत नहीं निकाली !! लाचार देहलीमें एक पेपर एडवाइजरी बोर्डके मेम्बरके सामने अपना रोना रोया गया और इस सरकारी अव्यवस्थाकी ओर उनका ध्यान दिलाया गया उन्होंने कं. सा.को कुछ लिखा और तब कंट्रोलर साहबने परमिट वापिस मँगाकर उसे होलसेलरों और डिस्ट्रीब्यूटरों दोनोंके नामपर कर दिया साथ ही सहारनपुरका कुछ कोटा भी बढ़ गया। ऐसा होनेपर भी कितने ही अर्सेतक मिलोंसे डिस्ट्रीब्यूटरोंके पास २०×३० साइजका कागज नहीं आया, जो अपने पत्रमें लगता है, और कुछ आया भी तो वह अपनेको नहीं मिलसका आखिर ८ दिसम्बरसे कागज मिलना शुरू हुआ, जो मिलते ही प्रेसको पहुँचा दिया गया जिसके पास मैटर पहलेसे ही छपने को गया हुआ था। प्रेसको अपना कुछ टाइप बदलवाना था, इससे उसे छपाई प्रारम्भ करनेमें देर लगगई और इस तरह देरमें और देर होगई !

यह सब देखकर विलम्बकी शीघ्र पूर्तिकी कोई आशा नहीं रही, और इसलिये किरणोंके सिलसिलेको ही प्रधानतः अपनाया गया है। अर्थात् इस संयुक्त किरणको जून जुलाई की न रखकर नवम्बर-दिसम्बर की रक्खा गया है और किरणका नंबर पूर्व सिलसिलेके अनुसार ही ६-७ दिया गया है। किरणें पूरी १२ निकाली जाएँगी—भले ही कुछ किरणें संयुक्त निकालनी पड़ें, परन्तु पृष्ठ संख्या जितनी निर्धारित है वह पूरी की जावेगी और इससे पाठकोंको कोई अलाभ नहीं रहेगा। हम चाहते हैं यह वर्ष आषाढतक पूरा कर दिया जाय और वीरशासनजयन्तीके अवसरपर *श्रावणसे नया वर्ष शुरू किया जाय और उसके प्रारंभमें* ही एक खास विशेषाङ्क निकाला जाय।

सम्पादक

ॐ अर्हम्
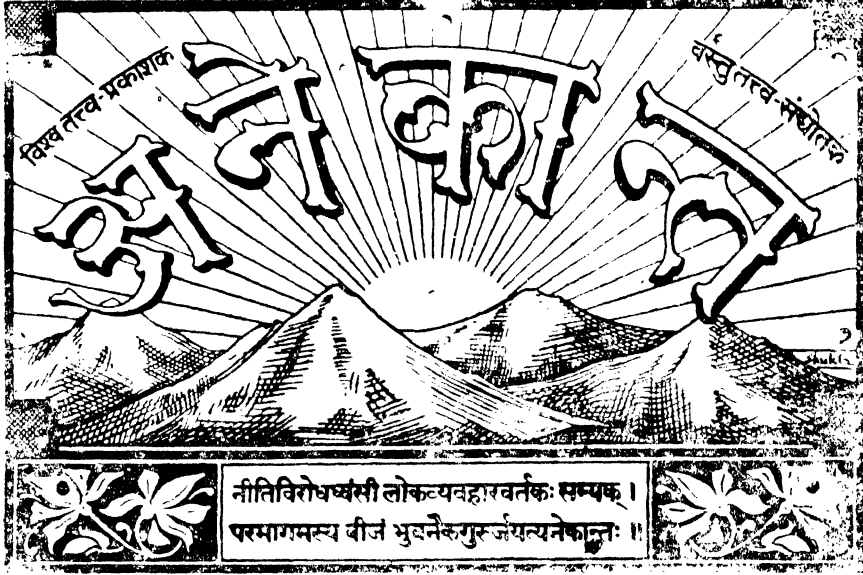
वर्ष ८ किरण ६-७	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जि० सहारनपुर मार्गशीर्ष-पौष शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४७३, विक्रम सं० २००३	नवम्बर-दिसम्बर १९४६

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्राऽन्यतरत्खपुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात्समवाय-वृत्तेः संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः ॥ ७ ॥

'(हे वीरभगवन् !) **आपका अर्थतत्त्व**—आपके द्वारा मान्य-प्रतिपादित अथवा आपके शासनमें वर्णित जीवादि-वस्तुतत्त्व—**अभेद-भेदात्मक है**—परस्परतन्त्रता (अपेक्षा, दृष्टिविशेष) को लिये हुए अभेद और भेद दोनों रूप है अर्थात् कथञ्चित् द्रव्य-पर्यायरूप, कथञ्चित् सामान्य-विशेषरूप, कथञ्चित् एकाऽनेकरूप और कथञ्चित् नित्याऽनित्य-रूप है; न सर्वथा अभेदरूप (द्रव्य, सामान्य, एक अथवा नित्यरूप) है, न सर्वथा भेदरूप (पर्याय, विशेष, अनेक अथवा अनित्यरूप) है और न सर्वथा उभयरूप (परस्पर निरपेक्ष द्रव्य-पर्यायमात्र, सामान्य-विशेषमात्र, एक-अनेकमात्र अथवा नित्य-अनित्यमात्र) है। **अभेदात्मकतत्त्व**-द्रव्यादिक और **भेदात्मकतत्त्व**-पर्यायादिक **दोनोंको स्वतन्त्र**-पारस्परिक तन्त्रता से रहित सर्वथा निरपेक्ष—**स्वीकार करनेपर प्रत्येक**—द्रव्य, पर्याय तथा उभय; सामान्य, विशेष तथा उभय; एक, अनेक तथा उभय और नित्य, अनित्य तथा उभय—**आकाशके पुष्प-समान (अवस्तु) हो जाता है**—प्रतीयमान (प्रतीतिका विषय) न हो सकनेसे किसीका भी तब अस्तित्व नहीं बनता।'

(इसपर यदि यह कहा जाय कि स्वतंत्र एक द्रव्य प्रत्यक्षादिरूपसे उपलभ्यमान न होनेके कारण क्षणिकपर्याय की तरह आकाश-कुसुमके समान अवस्तु है सो तो ठीक, परन्तु उभय तो द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायरूप सत् तत्त्व है और प्रागभाव-प्रध्वंसाऽभाव-अन्योन्याऽभाव-अत्यन्ताऽभावरूप असत् तत्त्व है, वह उनके स्वतंत्र रहते हुए

भी कैसे आकाशके पुष्प समान अवस्तु है ? वह तो द्रव्यादि-ज्ञानविशेषका विषय सर्वजनोंमें सुप्रसिद्ध है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कारणद्रव्य(अवयव)-कार्यद्रव्य (अवयवी)की, गुण-गुणीकी, कर्म-कर्मवानकी समवाय-समवायवानकी एक दूसरेसे स्वतंत्र पदार्थके रूपमें एक बार भी प्रतीति नहीं होती ; वस्तुतत्त्व इससे विलक्षण—जात्यन्तर अथवा विजातीय-है और वह सदा सबोंको अवयव-अवयवीरूप, गुण-गुणीरूप, कर्म-कर्मवान्रूप तथा सामान्य-विशेषरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे निर्बाध प्रतिभासित होता है ।)

'(यदि वैशेषिक-मतानुसार पदार्थोंको—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छहोंको—सर्वथा स्वतंत्र मानकर यह कहा जाय कि समवाय-वृत्तिसे शेष सब पदार्थ वृत्तिमान् हैं अर्थात् समवाय नामके स्वतंत्र पदार्थ-द्वारा वे सब परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त हैं, तो) **समवायवृत्तिके अवृत्तिमती होनेसे**—समवाय नामके स्वतंत्र पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ स्वयंका कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण* उसे स्वयं असम्बन्धवान् माननेसे—**संसर्गकी हानि होती है**—किसी भी पदार्थका सम्पर्क अथवा सम्बन्ध एक दूसरेके साथ नहीं बनता । समवाय-समवायिकी तरह अन्य सब पदार्थोंके समवायवृत्तिसे संसर्गकी कल्पना न करके, पदार्थोंके अन्योऽन्य-संसर्ग (एक दूसरेके साथ सम्बन्ध) को स्वाभाविक तु माननेपर स्याद्वाद शासनका ही आश्रय होजाता है; क्योंकि स्वभावसे ही द्रव्यका सभी गुण-कर्म-सामान्य-विशेषोंके साथ कथञ्चित तादात्म्यका अनुभव करनेवाले ज्ञानविशेषके वशसे यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, यह सामान्य है, यह विशेष है और यह उनका अविश्वग्भावरूप (अपृथग्भूत) समवाय-सम्बन्ध है, इस प्रकार भेद करके सद्वयनिबन्धन (समीचीन नयव्यवस्थाको लिये हुए) व्यवहार प्रवर्तता है और उससे अनेकान्तमत प्रसिद्ध होता है, जो वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है और इसलिये वैशेषिकोंके मतमें स्वभावसिद्ध संसर्गके भी न बन सकनेसे संसर्गकी हानि ही ठहरती है । **और संसर्गकी हानि होनेसे**—पदार्थोंका परस्परमें स्वतः (स्वभावसे) अथवा परतः (दूसरेके निमित्तसे) कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण—**संपूर्ण पदार्थोंकी हानि ठहरती है**—किसी भी पदार्थकी तब सत्ता अथवा व्यवस्था बन नहीं सकती ।— अतः जो लोग इस हानिको नहीं चाहते उन आस्तिकोंके द्वारा वही वस्तुतत्त्व समर्थनीय है जो अभेद-भेदात्मक है, परस्परतंत्र है, प्रतीतिका विषय है तथा अर्थक्रियामें समर्थ है और इसलिये जिसमें विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है । वह वस्तुतत्त्व हे वीरजिन ! आपके मतमें प्रतिष्ठित है, इसीसे आपका मत अद्वितीय है—नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिलकुल स्पष्ट करनेवाला और दूसरे सभी प्रवादों (सर्वथा एकान्तवादों) से अबाध्य होनेके कारण सुव्यवस्थित है—दूसरा (सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेनेवाला) कोई भी मत व्यवस्थित न होनेसे उसके जोड़का, सानी अथवा समान नहीं है, वह अपना उदाहरण आप है ।'

समवाय पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता; क्योंकि सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—एक संयोग-सम्बन्ध, दूसरा समवाय-सम्बन्ध और तीसरा विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्ध । पहला संयोग-सम्बन्ध इसलिये नहीं बनता, क्योंकि उसकी वृत्ति द्रव्यमें मानी गई है—द्रव्योंके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंमें वह घटित नहीं होती—और समवाय द्रव्य है नहीं, इसलिये संयोगसम्बन्धके साथ उसका योग नहीं भिड़ता । यदि अद्रव्यरूप समवायमें संयोगकी वृत्ति मानी जायगी तो वह गुण नहीं बन सकेगा और वैशेषिक मान्यताके विरुद्ध पड़ेगा; क्योंकि वैशेषिकमतमें संयोगको भी एक गुण माना है और उसको द्रव्याश्रित बतलाया है । दूसरा समवाय-सम्बन्ध इसलिये नहीं बन सकेगा, क्योंकि वह समवायान्तरकी अपेक्षा रक्खेगा और एकके अतिरिक्त दूसरा समवाय पदार्थ वैशेषिकोंने माना नहीं है । और तीसरा विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध इसलिये घटित नहीं होता, क्योंकि वह स्वतंत्र पदार्थोंका विषय ही नहीं है । यदि उसे स्वतंत्र पदार्थोंका विषय माना जायगा तो अतिप्रसंग आएगा और तब सह्याचल (पश्चिमीघाटका एक भाग) तथा विन्ध्याचल जैसे स्वतंत्र पर्वतोंमें भी विशेषण-विशेष्यभावका सम्बन्ध घटित करना होगा, जो नहीं हो सकता । विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्धकी यदि पदार्थान्तरके रूपमें संभावना की जाय तो वह सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा बिना नहीं बनता और दूसरे सम्बन्धकी अपेक्षा लेनेपर अनवस्था दोष आता है । इस तरह तीनोंमेंसे कोई भी सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता ।

भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारक-व्यापृत-कार्य-युक्तिः ।
न बन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥ ८ ॥

'सत्तात्मक पदार्थोंको—दिक्-काल-आकाश-आत्माको, पृथिव्यादि परमाणु-द्रव्योंको, परम-महत्वादि गुणों को तथा सामान्य-विशेष-समवायको—(सर्वथा) नित्य माननेपर उनमें विकारकी हानि होती है—कोई भी प्रकारकी विक्रिया नहीं बन सकती—विकारकी हानिसे कर्त्रादि कारकोंका (जो क्रियाविशिष्ट द्रव्य प्रसिद्ध हैं) व्यापार नहीं बन सकता, कारक-व्यापारके अभावमें (द्रव्य-गुण-कर्मरूप) कार्य नहीं बन सकता, और कार्यके अभावमें (कार्यलिङ्गात्मक अनुमानरूप तथा योग-सम्बन्ध-संसर्गरूप) युक्ति घटित नहीं हो सकती। युक्तिके अभावमें बन्ध तथा (बन्ध-फलानुभवनरूप) भोग दोनों नहीं बन सकते और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है;—क्योंकि विमोक्ष बन्धपूर्वक ही होता है, बन्धके अभावमें मोक्ष कैसा ? इस तरह पूर्व पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तरकी व्यवस्था न बन सकनेसे संपूर्ण भावात्मक पदार्थोंकी हानि ठहरती है—किसीकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। और जब भावात्मक पदार्थ ही व्यवस्थित नहीं होते तब प्रागभाव-प्रध्वंसाऽभावादि अभावात्मक पदार्थोंकी व्यवस्था तो कैसे बन सकती है ? क्योंकि वे भावात्मक पदार्थोंके विशेषण होते हैं, स्वतंत्ररूपसे उनकी कोई सत्ता ही नहीं है। अतः (हे वीरजिन !) आपके मतसे भिन्न दूसरोंका—सर्वथा एकान्तवादी वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य आदिका—मत (शासन) सब प्रकारसे दोषरूप है—देश-काल और पुरुषविशेषकी अपेक्षासे भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम-गम्य सभी स्थानोंमें बाधित है।'

अहेतुकत्व-प्रथितः स्वभावस्तस्मिन् क्रिया-कारक-विभ्रमः स्यात् ।
आबाल-सिद्धेर्विविधार्थ-सिद्धिर्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥ ९ ॥

'(यदि यह कहा जाय कि आत्मादि नित्य द्रव्योंमें स्वभावसे ही विकार सिद्ध है अतः कारकव्यापार, कार्य और कार्ययुक्ति सब ठीक घटित होते हैं और इस तरह सकल दोष असंभव ठहरते हैं—कोई भी दोषापत्ति नहीं बन सकती; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वह स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित (प्रसिद्ध) है अथवा आबाल-सिद्धिसे विविधार्थ-सिद्धिके रूपमें प्रथित है ? उत्तरमें) यदि यह कहा जाय कि नित्य पदार्थोंमें विकारी होनेका स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित है तो ऐसी दशामें क्रिया और कारकका विभ्रम ठहरता है—स्वभावसे ही पदार्थोंका ज्ञान तथा आविर्भाव होनेसे ज्ञप्ति तथा उत्पत्तिरूप जो प्रतीयमान क्रिया है उसके भ्रान्तिरूप होनेका प्रसंग आता है, अन्यथा स्वभावके निर्हेतुकत्वकी सिद्धि नहीं बनती। और क्रियाके विभ्रमसे प्रतिभासमान कारक-समूह भी विभ्रमरूप हो जाता है; क्योंकि क्रियाविशिष्ट द्रव्यका नाम कारक प्रसिद्ध है, क्रियासे कारककी उत्पत्ति नहीं। और स्वभाववादीके द्वारा क्रिया-कारकका विभ्रम मान्य नहीं किया जा सकता—विभ्रमकी मान्यतापर वादान्तरका प्रसंग आता है—सर्वथा स्वभाववाद स्थिर न रहकर एक नया विभ्रमवाद और खड़ा हो जाता है। परन्तु (हे वीरजिन !) क्या आपके—आपके स्याद्वाद-शासनसे—द्वेष रखनेवालेके यहाँ यह वादान्तर बनता है ?—नहीं बनता; क्योंकि 'सब कुछ विभ्रम है' ऐसा एकान्तरूप वादान्तर स्वीकार करनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस विभ्रममें अविभ्रम-अभ्रान्ति है या वह भी विभ्रम-भ्रान्तिरूप है ? यदि अविभ्रम है तो विभ्रम-एकान्त न रहा—अविभ्रम भी कोई पदार्थ ठहरा। और यदि विभ्रममें भी विभ्रम है तो सर्वत्र अभ्रान्तिकी सिद्धि हुई; क्योंकि विभ्रममें विभ्रम होनेसे वास्तविक स्वरूपकी प्रतिष्ठा होती है। और ऐसी हालतमें स्वभावके निर्हेतुकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती।'

'यदि यह कहा जाय कि (बिना किसी हेतुके नहीं किन्तु) आबालसिद्धिरूप हेतुसे विविधार्थके—सर्वथा नित्य पदार्थोंमें विक्रिया तथा कारक-व्यापारादिकी—सिद्धिके रूपमें स्वभाव प्रथित (प्रसिद्ध) है—अर्थात् क्रिया-

कारकादिरूप जो विविध अर्थ हैं उन्हें बालक तक भी स्वीकार करते हैं इसलिये वे सिद्ध हैं और उनका इस प्रकारसे सिद्ध होना ही स्वभाव है—तो यह वादान्तर हुआ; परन्तु यह वादान्तर भी (हे वीर भगवन् !) आपके द्वेषियों के यहाँ बनता कहाँ है ?—क्योंकि वह आबाल-सिद्धिसे होनेवाली निर्णीति नित्यादि सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेने पर नहीं बन सकती, जिससे सब पदार्थों सब कार्यों और सब कारणोंकी सिद्धि होती। कारण यह कि वह निर्णीति अनित्य होती है और विना विक्रियाके बनती नहीं, इसलिये सर्वथा नित्य-एकान्तके साथ घटित नहीं हो सकती । प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे किसी पदार्थकी सिद्धिके न हो सकनेपर दूसरोंके पूछने अथवा दूसरार्थ जिज्ञासा करनेपर स्वभाववादका अवलम्बन ले लेना युक्त नहीं है; क्योंकि इससे अतिप्रसंग आता है—प्रकृतसे अन्यत्र विपक्षमें भी यह घटित होता है—सर्वथा अनित्य अथवा क्षणिक-एकान्तको सिद्ध करनेके लिये भी स्वभाव-एकान्तका अवलम्बन लिया जा सकता है। और यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सामर्थ्यसे विविधार्थकी सिद्धिरूप स्वभाव है तो फिर स्वभाव-एकान्तवाद कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि स्वभावकी तो स्वभावसे ही व्यवस्थिति है उसको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके बलसे व्यवस्थापित करनेपर स्वभाव-एकान्त स्थिर नहीं रहता । इस तरह हे वीर जिन ! आपके अनेकान्तशासनसे विरोध रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियोंके यहाँ कोई भी वादान्तर (एकके साथ दूसरा वाद) बन नहीं सकता—वादान्तर तो सम्यक् एकान्तके रूपमें आपके मित्रों—सपक्षियों अथवा अनेकान्तवादियोंके यहाँ ही घटित होता है ।

येषामवक्तव्यमिहाऽऽत्म-तत्त्वं देहादनन्यत्व-पृथक्त्व-क्लृप्तेः ।
तेषां ज्ञ-तत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे का बन्ध-मोक्ष-स्थितिरप्रमेये ॥ १० ॥

नित्य आत्मा देहसे (सर्वथा) अभिन्न है या भिन्न इस कल्पनाके होनेसे (और अभिन्नत्व तथा भिन्नत्व दोनोंमेंसे किसी एक भी विकल्पके निर्दोष सिद्ध न हो सकनेसे*) जिन्होंने आत्मतत्त्वको 'अवक्तव्य'—वचनके अगोचर अथवा अनिर्वचनीय—माना है उनके मतमें आत्मतत्त्व अनवधार्य (अज्ञेय) तत्त्व हो जाता है—प्रमेय नहीं रहता। और आत्मतत्त्वके अनवधार्य होनेपर—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विषय न रहनेपर—बन्ध और मोक्षकी कौनसी स्थिति बन सकती है ? बन्ध्या-पुत्रकी तरह कोई भी स्थिति नहीं बन सकती—न बन्ध व्यवस्थित होता है और न मोक्ष । और इसलिये बन्ध-मोक्षकी सारी चर्चा व्यर्थ ठहरती है ।'

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो योऽयं प्रवादः क्षणिकाऽऽत्मवादः ।
'न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये' सन्तानभिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥ ११ ॥

'प्रथम क्षणमें नष्ट हुआ चित्त-आत्मा दूसरे क्षणमें विद्यमान नहीं रहता' यह जो (बौद्धोंका) क्षणिकात्मवाद है वह (केवल) प्रवाद है—प्रमाणशून्य वाद होनेसे प्रलापमात्र है; क्योंकि इसका ज्ञापक—अनुमान करानेवाला—कोई भी दृष्ट या अदृष्टहेतु नहीं बनता ।

---

* देहसे आत्माको सर्वथा अभिन्न माननेपर संसारके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि देह-रूपादिककी तरह देहात्मक आत्माका भवान्तर-गमन तब बन नहीं सकता और इसलिये उसी भवमें उसका विनाश ठहरता है, विनाशका नित्यत्वके साथ विरोध होनेसे आत्मा नित्य नहीं रहता और चार्वाकमतके आश्रयका प्रसंग आता है, जो आत्मतत्त्वको भिन्नतत्त्व न मानकर पृथिवी आदि भूतचतुष्कका ही विकार अथवा कार्य मानता है और जो प्रमाण-विरुद्ध है तथा आत्मतत्त्व-वादियोंको इष्ट नहीं है । और देहसे आत्माको सर्वथा भिन्न माननेपर देहके उपकार-अपकारसे आत्माके सुख-दुःख नहीं बनते, सुख-दुःखका अभाव होनेपर राग-द्वेष नहीं बन सकते और राग-द्वेषके अभावमें धर्म-अधर्म संभव नहीं हो सकते। अतः 'स्वदेहमें अनुरागका सद्भाव होनेसे उसके उपकार-अपकारके द्वारा आत्माके सुख-दुःख उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह स्वगृहादिके उपकार-अपकारसे उत्पन्न होते हैं' यह बात कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती । इस तरह दोनों ही विकल्प सदोष ठहरते हैं ।

(यदि यह कहा जाय कि 'जो सत् है वह सब स्वभावसे ही क्षणिक है', जैसे शब्द और विद्युत आदि; अपना आत्मा भी चूँकि सत् है अतः वह भी स्वभावसे क्षणिक है, और यह स्वभावहेतु ही उसका ज्ञापक है, तो इस प्रकारके अनुमानपर — ऐसा कहने अथवा अनुमान लगानेपर — यह प्रश्न पैदा होता है कि वह हेतु स्वयं प्रतिपत्ता (ज्ञाता) के द्वारा दृष्ट (देखा गया) है या अदृष्ट (नहीं देखा गया अर्थात् कल्पनारोपित) है ? दृष्टहेतु संभव नहीं हो सकता; क्योंकि सब कुछ क्षणिक होनेके कारण दर्शनके अनन्तर ही उसका विनाश हो जानेसे अनुमानकालमें भी उसका अभाव होता है। साथ ही, चित्तविशेषके लिङ्गदर्शी उस अनुमाताका भी संभव नहीं रहता। इसी तरह कल्पनारोपित (कल्पित) अदृष्ट हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि उस कल्पनाका भी तत्क्षण विनाश होजानेसे अनुमानकालमें सद्भाव नहीं रहता।)

(यदि यह कहा जाय कि व्याप्तिके ग्रहणकालमें लिङ्गदर्शनकी जो कल्पना उत्पन्न हुई थी उसके तत्क्षण विनाश हो जानेपर भी उसकी वासना (संस्कार) बनी रहती है अतः अनुमानकालमें लिङ्गदर्शनसे प्रबुद्ध हुई उस वासनाके सामर्थ्यसे अनुमान प्रवृत्त होता ही है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि) सन्तानभङ्ग(चित्त) में—हेतु(साधन) और हेतुमद् (साध्य) के अविनाभाव-सम्बन्धरूप व्याप्तिके ग्राहक चित्तसे अनुमाताका चित्त (सन्तानतः भिन्नकी तरह) भिन्नसन्तान होनेसे उसमें—वासनाका अस्तित्व नहीं बन सकता —यदि भिन्न सन्तानवालेके वासनाका अस्तित्व माना जाय तो भिन्नसन्तान देवदत्त-द्वारा साध्य-साधनकी व्याप्तिका ग्रहण होनेपर जिनदत्तके (व्याप्तिका ग्रहण न होने पर भी) साधनको देखने मात्रसे साध्यके अनुमानका प्रसंग आएगा; क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। और यह बात संभव नहीं हो सकती; क्योंकि व्याप्तिके ग्रहण विना अनुमान प्रवर्तित नहीं हो सकता)।'

आधुनिक भाषाओंकी व्युत्पत्तिके लिये जैनसाहित्यका महत्व

(ले० — बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.)

गुजराती पत्र 'श्री जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष १२ अंक १) में प्रो० मूलराजजीका एक संक्षिप्त लेख 'दो शब्दोंकी व्युत्पत्ति' शीर्षकसे प्रकाशित हुआ है। उससे प्रकट होता है कि जैन साहित्यका अध्ययन भारतवर्ष की आधुनिक लोकभाषाओंकी व्युत्पत्तिकी जानकारीके लिये भी उपयोगी एवं आवश्यक है।

पंजाब प्रान्तमें प्रचलित लोकभाषाका एक शब्द है 'कुड़ी', जिसका अर्थ है कन्या, लड़की अथवा पुत्री। यह शब्द अपने इस प्रकृतरूपमें अथवा किसी रूपान्तर को लिये हुए अन्य किसी प्रान्तीय भाषामें नहीं मिलता संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओंमें भी अभी तक ऐसा कोई शब्द जाननेमें नहीं आया जिससे 'कुड़ी', शब्दकी व्युत्पत्ति की जासके।

किन्तु इस शब्दका संस्कृत रूप एक प्राचीन जैन ग्रन्थ 'बृहत्कथाकोष' में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थके रचयिता दिगम्बराचार्य हरिषेण थे और उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना विक्रम संवत् ६८६ (सन् ६३२ ई०) में की थी। यह ग्रन्थ अब प्रसिद्ध प्राच्य भषाविज्ञ डा० ए. एन. उपाध्ये द्वारा संपादित होकर सिंघी जैन ग्रंथमाला के अन्तर्गत, भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। उक्त कथाकोषकी कथा नं० ३० (पृ० ५०) का शीर्षक 'मृतक संगे नष्ट माला कथानकम्' है। इस कथामें लड़कीके अर्थोंमें 'कुटिका' शब्दका प्रयोग हुआ है*। फुटनोट तथा भूमिका पृ० १०३ पर दिये हुए विशेषशब्दार्थकोषमें

* बृहत्कथाकोष, कथा नं० ३०, श्लोक ८-६।

विद्वान सम्पादकने भी 'कुटिकां' का अर्थ 'कन्याम्' अर्थात् पुत्री किया है।

प्रस्तुत कथाका प्रारंभ इस प्रकार होता है—उत्तरापथके बलदेवपुरमें बलवर्धन नामक प्रतापी राजा था जिसकी अति सुन्दर कुलवधनी नामकी रानी थी। उस नगरमें धनदत्त नामक एक 'टक्क श्रेष्ठी'+ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था। इनके धनदेवी नामकी पुत्री थी। इस नगरमें एक दूसरा 'टक्कश्रेष्ठी' पूर्णभद्र रहता था। इसकी स्त्रीका नाम पूर्णचन्द्रा था और पुत्रका पूर्णचन्द्र। एक दिन पूर्णभद्रने धनदत्तसे कहा कि 'आप अपनी पुत्री धनवतीका विवाह मेरे पुत्र पूर्णचन्द्रके साथ करदें।' धनदत्तने उत्तर दिया कि 'यदि आप मुझे बहुत-सा धन देवें तो मैं अपनी लड़की देदूँ।' इसपर पूर्णभद्र 'बोला धन आप चाहे जितना लेलें लड़की जल्दी देदें।'

कथामें धनदत्त और पूर्णभद्र दोनोंके ही लिये 'टक्कश्रेष्ठी' शब्द प्रयुक्त हुआ है और प्रो० मूलराज जीने इसका अर्थ किया है—टक्कदेशका 'अथवा टक्कदेशका रहने वाला। बृहत्कथाकोषकी कथा नं० ९३ में भी टक्कः, टक्कनी, टक्ककानाँ शब्द आये हैं (श्लोक ९१, ९२, ९७)। और वहाँ डा० उपाध्येने टक्क या टक्ककका अर्थ कंटक-कंजूस (a niggard) किया है और अनुमान किया है कि संभवतया 'ठक्क' शब्दकी भाँति यह कोई पेशेवर नाम (a professional name) है×। किन्तु जैसा कि प्रो० मूलराजजीका कथन है कि 'कोषोंमें टक्क नाम वाहीक जातिका है। राजतरङ्गिणी (५, १५०) में भी टक्कदेशका उल्लेख है और इससे पंजाबका तात्पर्य है। पंजाबके पर्वत प्रदेशकी लिपिको आज भी 'टाकरी' कहते हैं' अस्तु कमसेकम प्रस्तुत कथामें तो टक्क शब्दका अर्थ क्षेत्र सूचक अर्थात् पंजाब ही ठीक जँचता है। वाहिक (टक्क) जातिका निवास पश्चिमोत्तर प्रान्तमें ही था। श्रवण बेलगोलके प्रसिद्ध शिलालेख न० ५४ में संगृहीत स्वामीसमन्तभद्रकी उक्तिमें भी 'ठक्क' शब्द आया है, जो कि श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके मतानुसार पंजाब देशका ही द्योतक है। कनिघंम साहिबने अपने ग्रन्थ 'एन्शेन्ट जागरफी' में भी ठक्क देशका पंजाबसे ही समीकरण किया है। मि० लेविस राइस, एडवर्ड पी० राइस, तथा रा० ब० आर० नरासिंहाचार्यने भी ठक्क को पंजाब देश ही लिखा है।

अतः इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि बृहत्कथाकोषकी प्रस्तुत कथामें उल्लिखित टक्कश्रेष्ठीका अर्थ पंजाबी सेठ ही है, और उसके साथ लड़कीके अर्थमें शुद्ध पंजाबी शब्द कुड़ीके संस्कृत रूप 'कुटिका' शब्द का योग सर्वथा संगत और उचित है। दूसरे, पंजाब प्रान्तमें सदैवसे ही लड़कियोंकी कुछ कमी रहती आई है और इसलिये वहाँ कन्याविक्रय प्रायः होता रहता है। कथामें धनदत्तका अपनी लड़कीके बदलेमें धनकी मांग करना इसी बातको सूचित करता है।

कथाकोषके उपर्युक्त संस्करणकी भूमिका (पृ० १०१-११०) में डा० उपाध्येने ऐसे लगभग ३५० शब्दों का कोष दिया है जो प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं, प्राकृत या देसी भाषाओंमें प्रयुक्त होते हैं किन्तु संस्कृत साहित्यमें जिनका प्रयोग नहीं होता। इन शब्दोंका कथाकोषकारने संस्कृत रूप देकर या अपने मूल रूपमें ही प्रयोग किया है डा० उपाध्येके शब्दोंमें "ये शाब्दिक प्रयोग अपने रूप और अर्थों द्वारा सहज ही हमें भारतवर्षकी आधुनिक भाषाओंके तत्तत् शब्दों का स्मरण करा देते हैं-चाहे ये भाषायें आर्य हों या द्राविड़, और इन शब्दोंके लिये तत्सम तद्भव प्राकृत अथवा देसी शब्द उपलब्ध हों या न हों।"

इस प्रकार, विशाल जैन साहित्यके सम्यक् अध्ययन द्वारा विभिन्न आधुनिक भारतीय लोकभाषाओंके न जाने कितने शब्दोंकी व्युत्पत्तिपर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है।

१७-११-४६

+ वही, श्लोक ३, ५।

× Brhat-Kathakosa, Introd. p. 105

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

[सम्पादकीय]

['पुरातन-जैनवाक्य-सूची' की प्रस्तावनामें, जो अभी तक अप्रकाशित है और अब जल्दी ही प्रेसको जानेवाली है, 'ग्रन्थ और ग्रन्थकार' नामका भी एक प्रकरण है, जिसमें मैंने इस वाक्यसूचीके आधारभूत ६३ मूलग्रन्थोंका परिचय दिया है। इस प्रकरणमेंसे नमूनेके तौरपर कुछ ग्रन्थोंका परिचय अनेकान्त-पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है:—]

१ मूलाचार और वट्टकेर—

'मूलाचार' जैन साधुओंके आचार-विषयका एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। वर्तमानमें दिगम्बर सम्प्रदायका 'आचाराङ्ग' सूत्र समझा जाता है। धवला टीकामें आचाराङ्गके नामसे उसका नमूना प्रस्तुत करते हुए कुछ गाथाएँ उद्धृत हैं, वे भी इस ग्रंथमें पाई जाती हैं; जब कि श्वेताम्बरोंके आचाराङ्गमें वे उपलब्ध नहीं हैं, इससे भी इस ग्रंथको आचाराङ्गकी ख्याति प्राप्त है। इसपर 'आचारवृत्ति' नामकी एक टीका आचार्य वसुनन्दीकी उपलब्ध है, जिसमें इस ग्रंथको आचाराङ्गका द्वादश अधिकारोंमें उपसंहार (सारोद्धार) बतलाया है, और उसके तथा भाषा-टीकाके अनुसार इस ग्रंथकी पद्यसंख्या १२४३ है। वसुनन्दी आचार्यने अपनी टीकामें इस ग्रंथके कर्ताको वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य तथा वट्टेरकाचार्यके रूपमें उल्लेखित किया है—पहला रूप टीकाके प्रारम्भिक प्रस्तावना-वाक्यमें, दूसरा ९वें, १०वें तथा ११वें अधिकारोंके सन्धि-वाक्योंमें और तीसरा ७वें अधिकारके सन्धिवाक्यमें पाया जाता है*। परन्तु इस नामके किसी भी आचार्यका उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों, शिलालेखों तथा ग्रंथप्रशस्तियों आदिमें कहीं भी देखनेमें नहीं आता, और इस लिये ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्चस्कॉलरोंके सामने यह प्रश्न बराबर खड़ा हुआ है कि ये वट्टकेरादि नामके कौनसे आचार्य हैं और कब हुए हैं?

मूलाचारकी कितनी ही ऐसी पुरानी हस्तलिखित प्रतियां पाई जाती हैं जिनमें ग्रंथकर्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य दिया हुआ है। डाक्टर ए. एन. उपाध्येको दक्षिणभारतकी कुछ ऐसी प्रतियोंको स्वयं देखनेका अवसर मिला है और जिन्हें, प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें, उन्होंने quite genuine in their appearance 'अपनेरूपमें बिना किसी मिलावटके बिल्कुल असली प्रतीत होने वाली' लिखा है। इसके सिवाय, माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थमालामें मूलाचारकी जो सटीक प्रति प्रकाशित हुई है उसकी अन्तिम पुष्पिकामें भी मूलाचारको 'कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत' लिखा है। वह पुष्पिका इस प्रकार है:—

"इति मूलाचार-विवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्य-विवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।"

यह सब देखकर मेरे हृदयमें यह ख्याल उत्पन्न हुआ कि कुन्दकुन्द एक बहुत बड़े प्रवर्तक आचार्य हुए हैं—आचार्यभक्तिमें उन्होंने स्वयं आचार्यके लिये 'प्रवर्तक' होना एक बहुत बड़ी विशेषता बतलाया है÷ और 'प्रवर्तक' विशिष्ट साधुओंकी एक उपाधि है, जो श्वेताम्बर जैनसमाजमें आज भी व्यवहृत है, हो सकता है कि कुन्दकुन्दके इस प्रवर्तकत्व-गुणको लेकर ही उनके लिये यह 'वट्टकेर' जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। और इसलिये मैंने वट्टकेर, वट्टकेरि और वट्टेरक इन तीनों शब्दोंके अर्थपर गम्भीरताके साथ विचार करना उचित समझा। तदनुसार मुझे यह मालूम हुआ कि वट्टकका अर्थ वर्तक-प्रवर्तक है, इरा

---

* देखो, माणिकचन्द्र-ग्रंथमालामें प्रकाशित ग्रन्थके दोनों भाग नं० १९, २३।

÷ बाल-गुरु-वुड्ढ-सेहे गिलाण-थेरे य खमण-संजुत्ता। वट्टावणगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता ॥३॥

गिरा-वाणी-सरस्वतीको कहते हैं, जिसकी वाणी-सरस्वती प्रवर्तिका हो – जनताको सदाचार एवं सन्मार्गमें लगानेवाली हो—उसे 'वट्टकेर' समझना चाहिये। दूसरे, वट्टकों-प्रवर्तकोंमें जो इरि गिरि-प्रधान-प्रतिष्ठित हो अथवा ईरि समर्थ-शक्तिशाली हो उसे 'वट्टकेरि' जानना चाहिये। तीसरे, वट्ट नाम वर्तन-आचरणका है और ईरक प्रेरक तथा प्रवर्तकको कहते हैं सदाचारमें जो प्रवृत्ति करानेवाला हो, उसका नाम 'वट्टेरक' है। अथवा वट्ट नाम मार्गका है, सन्मार्गका जो प्रवर्तक, उपदेशक एवं नेता हो उसे भी 'वट्टेरक' कहते है। और इसलिये अर्थकी दृष्टिसे ये वट्टकेरादि पद कुन्दकुन्दके लिये बहुत ही उपयुक्त तथा संगत मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं जो प्रवर्तकत्व-गुणकी विशिष्टताके कारण ही कुन्दकुन्दके लिये वट्टेरकाचार्य (प्रवर्तकाचार्य) जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। मूलाचारकी कुछ प्राचीन प्रतियोंमें ग्रन्थकर्तृत्वरूप से कुन्दकुन्दका स्पष्ट नामोल्लेख उसे और भी अधिक पुष्ट करता है। ऐसी वस्तुस्थितिमें मुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने, जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग १२ किरण १) में प्रकाशित 'मूलाचारके कर्ता वट्टकेरि' शीर्षक अपने हालके लेखमें, जो यह कल्पना की है कि, बेट्टगेरि या बेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं, मूलाचारके कर्ता उन्हींमेंसे किसी बेट्टगेरि या बेट्टकेरी ग्रामके ही रहनेवाले होंगे और उस परसे कोण्डकुन्दादिकी तरह 'वट्टकेरि' कहलाने लगे होंगे, वह कुछ संगत मालूम नहीं होती—बेट्ट और वट्ट शब्दोंके रूपमें ही नहीं किन्तु भाषा तथा अर्थमें भी बहुत अन्तर है। बेट्ट शब्द, प्रेमीजीके लेखानुसार, छोटी पहाड़ीका वाचक कनड़ी भाषाका शब्द है और गेरि उस भाषामें गली-मोहल्लेको कहते हैं; जब कि वट्ट और वट्टक जैसे शब्द प्राकृत भाषाके उपर्युक्त अर्थके वाचक शब्द हैं और ग्रन्थकी भाषाके अनुकूल पड़ते हैं। ग्रंथभर तथा उसकी टीकामें बेट्टगेरि या बेट्टकेरि रूपका एक जगह भी प्रयोग नहीं पाया जाता और न इस ग्रंथके कर्तृत्वरूपमें अन्यत्र ही उसका प्रयोग देखनेमें आता है, जिससे उक्त कल्पनाको कुछ अवसर मिलता। प्रत्युत इसके, ग्रन्थदानकी जो प्रशस्ति मुद्रित प्रतिमें अङ्कित है उसमें 'श्री वट्टेरकाचार्यकृतसूत्रस्य सद्विधेः' इस वाक्यके द्वारा 'वट्टेरक' नामका उल्लेख है, जो कि ग्रन्थकार-नामके उक्त तीनों रूपोंमेंसे एकरूप है और सार्थक है। इसके सिवाय, भाषा-साहित्य और रचना-शैलीकी दृष्टिसे भी यह ग्रंथ कुन्दकुन्दके ग्रंथोंके साथ मेल खाता है, इतना ही नहीं बल्कि कुन्दकुन्दके अनेक ग्रंथोंके वाक्य (गाथा तथा गाथांश) इस ग्रंथमें उसी तरहसे संप्रयुक्त पाये जाते हैं जिस तरह कि कुंदकुंदके अन्य ग्रंथोंमें परस्पर एक-दूसरे ग्रन्थके वाक्योंका स्वतंत्र प्रयोग देखनेमें आता है*। अतः जब तक किसी स्पष्ट प्रमाण-द्वारा इस ग्रन्थके कर्तृत्वरूपमें वट्टकेराचार्य का कोई स्वतंत्र अथवा पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध न हो जाय तब तक इस ग्रंथको कुन्दकुन्दकृत मानने और वट्टकेराचार्यको कुन्दकुन्दके लिये प्रयुक्त हुआ प्रवर्तकाचार्य पद स्वीकार करने में कोई खास बाधा मालूम नहीं होती।

२ कार्तिकेयाऽनुप्रेक्षा और स्वामिकुमार—

यह अध्रुवादि बारह भावनाओंपर, जिन्हें भव्यजनोंके लिये आनन्दकी जननी लिखा है (गा० १), एक बड़ा ही सुन्दर, सरल तथा मार्मिक ग्रंथ है और ४८९ गाथा-संख्याको लिये हुए है। इसके उपदेश बड़े ही हृदय-ग्राही हैं, उक्तियाँ अन्तस्तलको स्पर्श करती हैं और इसीसे यह जैनसमाजमें सर्वत्र प्रचलित है तथा बड़े आदर एवं प्रेमकी दृष्टिसे देखा जाता है।

इसके कर्ता ग्रन्थकी निम्न गाथा नं० ४८८ के अनुसार 'स्वामिकुमार' हैं, जिन्होंने जिनवचनकी भावनाके लिये और चंचल मनको रोकनेके लिये परमश्रद्धाके साथ इन भावनाओं की रचना की है:—

जिण-वयण-भावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुपेक्खाओ चंचलमण-रुंभणट्ठं च ॥

'कुमार' शब्द पुत्र, बालक, राजकुमार, युवराज, अविवाहित, ब्रह्मचारी आदि अर्थोंके साथ 'कार्तिकेय' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, जिसका एक आशय कृतिकाका पुत्र है और दूसरा आशय हिन्दुओंका वह षडानन देवता है जो शिवजीके उस वीर्यसे उत्पन्न हुआ था जो पहले अग्नि-देवताको प्राप्त हुआ, अग्निसे गंगामें पहुंचा और फिर गंगामें स्नान करती हुई छह कृतिकाओंके शरीरमें प्रविष्ट हुआ, जिससे उन्होंने एक एक पुत्र प्रसव किया और वे छहों पुत्र बादको विचित्र रूपमें मिलकर एक पुत्र 'कार्तिकेय' हो गये,

* देखो, अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ पृ० २२१-२४

जिसके छह मुख और १२ भुजाएँ तथा १२ नेत्र बतलाए जाते हैं। और जो इसीसे शिवपुत्र, अग्निपुत्र, गंगापुत्र तथा कृतिका आदिका पुत्र कहा जाता है। कुमारके इस कार्तिकेय अर्थको लेकर ही यह ग्रंथ स्वामी कार्तिकेयकृत कहा जाता है तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा जैसे नामोंसे इसकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। परन्तु ग्रन्थभरमें कहीं भी ग्रन्थकारका नाम कार्तिकेय नहीं दिया और न ग्रन्थको कार्तिकेयानुप्रेक्षा अथवा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा जैसे नामसे उल्लेखित ही किया है; प्रत्युत इसके, ग्रन्थके प्रतिज्ञा और समाप्ति-वाक्योंमें ग्रन्थका नाम सामान्यतः 'अणुपेहाओ' (अनुप्रेक्षा) और विशेषतः 'बारसअणुवेक्खा' (द्वादशानुप्रेक्षा) दिया है*। कुन्दकुन्दके इस विषयके ग्रन्थका नाम भी 'बारस अणुवेक्खा' है। तब कार्तिकेयानुप्रेक्षा यह नाम किसने और कब दिया, यह एक अनुसन्धानका विषय है। ग्रन्थपर एक-मात्र संस्कृत टीका जो उपलब्ध है वह भट्टारक शुभचन्द्रकी है और विक्रम संवत् १६१३में बनकर समाप्त हुई है। इस टीकामें अनेक स्थानोंपर ग्रंथका नाम 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' दिया है और ग्रन्थकार का नाम 'कार्तिकेय' मुनि प्रकट किया है तथा कुमारका अर्थ भी 'कार्तिकेय' बतलाया है×। इससे संभव है कि शुभचन्द्र भट्टारकके द्वारा ही यह नामकरण किया गया हो—टीकासे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें ग्रंथकाररूपमें इस नामकी उपलब्धि भी नहीं होती।

'कोहेण जो ण तप्पदि' इत्यादि गाथा नं० ३९४ की टीकामें निर्मल क्षमाको उदाहृत करते हुए घोर उपसर्गोंको सहन करने वाले सन्तजनोंके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें एक उदाहरण कार्तिकेय मुनिका भी निम्नप्रकार है:—

"स्वामिकार्तिकेयमुनिः क्रौंचराज - कृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः (प्रः?)"

इसमें लिखा है कि 'स्वामिकार्तिकेय मुनि क्रौंचराजकृत उपसर्गको समभावसे सहकर समाधिपूर्वक मरणके द्वारा देवलोकको प्राप्त हुए।'

तत्त्वार्थराजवार्तिकादि ग्रन्थोंमें 'अनुत्तरोपपाददशांग' का वर्णन करते हुए, वर्द्धमानतीर्थंकरके तीर्थमें दारुण उपसर्गोंको सहकर विजयादिक अनुत्तर विमानों (देवलोक) में उत्पन्न होने वाले दस अनगार साधुओंके नाम दिये हैं, उनमें कार्तिक अथवा कार्तिकेयका भी एक नाम है; परन्तु किसके द्वारा वे उपसर्गको प्राप्त हुए ऐसा कुछ उल्लेख साथमें नहीं है।

हाँ, भगवतीआराधना जैसे प्राचीन ग्रन्थकी निम्न गाथा नं० १५४९ में क्रौंचके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए एक व्यक्तिका उल्लेख जरूर है, साथमें उपसर्गस्थान 'रोहेडक' और 'शक्ति' हथियारका भी उल्लेख है—परन्तु 'कार्तिकेय' नामका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उस व्यक्तिको मात्र 'अग्नि-दयितः' लिखा है, जिसका अर्थ होता है अग्निप्रिय, अग्निका प्रेमी अथवा अग्निका प्यारा, प्रेमपात्र :—

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कौंचेण अग्गिदयिदो वि।
तं वेदणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥

'मूलाराधनादर्पण' टीकामें पं० आशाधरजीने 'अग्गि-दयिदो' (अग्निदयितः) पदका अर्थ, 'अग्निराज नाम्नो राज्ञः पुत्रः कार्तिकेयसंज्ञः'—अग्नि नामके राजाका पुत्र कार्तिकेय संज्ञक—दिया है। कार्तिकेय मुनिकी एक कथा भी हरिषेण, श्रीचन्द्र और नेमिदत्तके कथाकोशोंमें पाई जाती है और उसमें कार्तिकेयको कृतिका मातासे उत्पन्न अग्निराजाका पुत्र बतलाया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि कार्तिकेयने बालकालमें—कुमारावस्थामें ही मुनि दीक्षा ली थी, जिसका अमुक कारण था, और कार्तिकेयकी बहन रोहेटक नगरके उस क्रौंच राजाको ब्याही थी जिसकी शक्तिसे आहत होकर अथवा जिसके किये हुए दारुण उपसर्गको जीतकर कार्तिकेय देवलोक सिधारे हैं। इस कथाके पात्र कार्तिकेय और भगवती आराधनाकी उक्त गाथाके

---

* वोच्छं अणुपेहाओ (गा० १); बारसअणुपेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण (गा० ४८८)।

× यथाः—(१) कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीकां वक्ष्ये शुभश्रिये- (आदिमंगल)

(२) कार्तिकेयानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता वरा (प्रशस्ति ८)।

(३) 'स्वामिकार्तिकेयो मुनीन्द्रो अनुप्रेक्षा व्याख्यातुकामः मलगालनमंगलावाप्ति-लक्षण[मंगल]माचष्टे(गा०१)

(४) केन रचितः स्वामिकुमारेण भव्यवर-पुण्डरीक-श्री-स्वामिकार्तिकेयमुनिना आजन्मशीलधारिणा: अनुप्रेक्षाः रचिताः। (गा० ४८७)।

(५) अहं श्रीकार्तिकेयसाधुः संस्तुवे (४८९)

(देहली नया मन्दिर प्रति वि०, संवत् १८०६

पात्र 'अग्निदयित' को एक बतलाकर यह कहा जाता है और आम तौरपर माना जाता है कि यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा उन्हीं स्वामी कार्तिकेयकी बनाई हुई है जो क्रौंच राजाके उपसर्गको समभावसे सहकर देवलोक पधारे थे, और इसलिये इस ग्रंथका रचनाकाल भगवतीआराधना तथा श्री कुन्दकुन्दके ग्रंथोंसे भी पहलेका है —भले ही इस ग्रन्थ तथा भ० आराधनाकी उक्त गाथामें कार्तिकेयका स्पष्ट नामोल्लेख न हो और न कथामें इनकी इस ग्रन्थरचनाका ही कोई उल्लेख हो।

परन्तु डाक्टर ए. एन. उपाध्ये एम. ए. कोल्हापुर इस मतसे सहमत नहीं है। यद्यपि वे अभीतक इस ग्रन्थके कर्ता और उसके निर्माणकालके सम्बन्धमें अपना कोई निश्चित एक मत स्थिर नहीं कर सके फिर भी उनका इतना कहना स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उतना (विक्रमसे दोसौ या तीनसौ वर्ष पहलेका ×) प्राचीन नहीं है जितना कि दन्तकथाओंके आधारपर मानाजाता है, जिन्होंने ग्रन्थकार कुमारके व्यक्तित्वको अन्धकारमें डाल दिया है। और इसके मुख्य दो कारण दिये है, जिनका सार इस प्रकार है:—

(१) कुमारके इस अनुप्रेक्षा ग्रंथमें बारह भावनाओंकी गणनाका जो क्रम स्वीकृत है वह वह नहीं है जो कि वट्टकेर, शिवार्य और कुन्दकुन्दके ग्रन्थों (मूलाचार, भ० आराधना तथा बारसअणुपेक्खा) में पाया जाता है, बल्कि उससे कुछ भिन्न वह क्रम है जो बादको उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होता है।

(२) कुमारकी यह अनुप्रेक्षा अपभ्रंश भाषामें नहीं लिखी गई; फिर भी इसकी २७६ वीं गाथामें 'णिसुणहि' और 'भावहि' (prefer b y हिं) ये अपभ्रंशके दोपद आघुसे हैं जो कि वर्तमान काल तृतीय पुरुषके बहुवचनके रूप हैं। यह गाथा जोइन्दु (योगीन्दु) के योगसारके ६५ वें दोहेके साथ मिलती जुलती है, एक ही आशयको लिये हुए है और उक्त दोहेपरसे परिवर्तित करके रक्खी गई है। परिवर्तनादिका यह कार्य किसी बादके प्रतिलेखक द्वारा संभव मालूम नहीं होता, बल्कि कुमारने ही जान या अनजानमें जोइन्दुके दोहेका अनुसरण किया है ऐसा जान पड़ता है। उक्त दोहा और गाथा इस प्रकार हैं:—

विरला जाणहिं तत्तु बहु विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥६५॥
—योगसार

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥२७६॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा

और इसलिये ऐसी स्थितिमें डा० साहबका यह मत है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा उक्त कुन्दकुन्दादिके बादकी ही नहीं बल्कि परमात्मप्रकाश तथा योगसारके कर्ता योगीन्दु आचार्यके भी बाद की बनी हुई है, जिनका समय उन्होंने पूज्यपादके समाधितंत्रसे बादका और चण्ड व्याकरणसे पूर्वका अर्थात ईसाकी ५ वीं और ७ वीं शताब्दीके मध्यका निर्धारित किया है; क्योंकि परमात्मप्रकाशमें समाधितंत्रका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है और चण्ड-व्याकरणमें परमात्मप्रकाशके प्रथम अधिकारका ८५ वां दोहा ('कालु लहेवि जोइया' इत्यादि) उदाहरणके रूपमें उद्धृत है*।

इसमें सन्देह नहीं कि मूलाचार भगवतीआराधना और बारसअणुवेक्खामें बारहभावनाओंका क्रम एक है, इतना ही नहीं बल्कि इन भावनाओंके नाम तथा क्रमकी प्रतिपादक गाथा भी एक ही है, और यह एक खास विशेषता है जो गाथा तथा उसमें वर्णित भावनाओंके क्रमकी अधिक प्राचीनताको सूचित करती है। वह गाथा इस प्रकार है :—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण-संसार-लोगमसुचित्तं।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोहिं च चिंति(ते)ज्जो ॥

उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें इन भावनाओंका क्रम एक स्थानपर ही नहीं बल्कि तीन स्थानोंपर विभिन्न है। उसमें अशरणके अनन्तर एकत्व-अन्यत्व भावनाओंको न देकर संसारभावनाको दिया है और संसारभावनाके अनन्तर एकत्व-अन्यत्व भावनाओंको

× पं० पन्नालाल बाकलीवालकी प्रस्तावना पृ० १; Catalogue of Sk. and Pk. Manuscripts in the C. P. and Berar P. XIV; तथा Winternitz, A history of Indian Literature, Vol. II, P. 577.

* परमात्मप्रकाशकी अंग्रेजीप्रस्तावना पृ० ६४-६७ तथा प्रस्तावनाका हिन्दीसार पृ० ११३-११५,

रक्खा है; लोकभावनाको संसारभावनाके बाद न रखकर निर्जराभावनाके बाद रक्खा है और धर्मभावनाको बोधि-दुर्लभसे पहले स्थान न देकर उसके अन्तमें स्थापित किया है जैसा कि निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"अनित्याऽशरण-संसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्याऽऽस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ९-७"

और इससे ऐसा जाना जाता है कि भावनाओंका यह क्रम, जिसका पूर्व साहित्यपरसे समर्थन नहीं होता, बादको उमास्वातिके द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें इसी क्रमको अपनाया गया है। अतः यह ग्रन्थ उमास्वातिके पूर्वका नहीं बनता। तब यह उन स्वामिकार्तिकेयकी कृति भी नहीं हो सकता जो हरिषेणादि कथाकोषोंकी उक्त कथाके मुख्य पात्र हैं, भगवती आराधनाकी गाथा नं० १५४९ में 'अग्निदयित' (अग्निपुत्र) के नामसे उल्लेखित हैं अथवा अनुत्तरोपपाददशाङ्गमें वर्णित दश अनगारोंमें जिनका नाम है। इससे अधिक ग्रन्थकार और ग्रन्थके समय-सम्बन्धमें इस क्रमविभिन्नतापरसे और कुछ फलित नहीं होता।

अब रही दूसरे कारणकी बात, जहाँ तक मैंने उसपर विचार किया है और ग्रन्थकी पूर्वापर स्थितिको देखा है उस परसे मुझे यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि ग्रंथमें उक्त गाथा नं० २७९ की स्थिति बहुत ही संदिग्ध है और वह मूलतः ग्रंथका अंग मालूम नहीं होती—बादको किसी तरहपर प्रक्षिप्त हुई जान पड़ती है। क्योंकि उक्त गाथा 'लोकभावना' अधिकारके अन्तर्गत है, जिसमें लोकसंस्थान, लोकवर्ती जीवादि छह द्रव्य, जीवके ज्ञानगुण और श्रुतज्ञानके विकल्परूप नैगमादि सात नय, इन सबका संक्षेपमें बड़ा ही सुन्दर व्यवस्थित वर्णन गाथा नं० ११५ से २७८ तक पाया जाता है। २७८ वीं गाथामें नयोंके कथनका उपसंहार इस प्रकार किया गया है:—

एवं विविहणएहिं जो वत्थू ववहरेदि लोयम्मि।
दंसण-णाण-चरित्तं सो साहदि सग्ग-मोक्खं च॥

इसके अनन्तर 'विरला णिसुणहिं तच्चं' इत्यादि गाथा नं० २७९ है, जो औपदेशिक ढंगको लिये हुए है और ग्रंथकी तथा इस अधिकारकी कथन-शैलीके साथ कुछ संगत मालूम नहीं होती—खासकर क्रम प्राप्त गाथा नं० २८० की उपस्थितिमें, जो उसकी स्थितिको और भी सन्दिग्ध कर देती है, और जो निम्न प्रकार है:—

तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चलभावेण गिह्णदे जो हि।
तं चिय भावेइ सया सो वि य तच्चं वियाणेई॥
॥२८०॥

इसमें बतलाया है कि, 'जो उपर्युक्त तत्त्वको—जीवादि-विषयक तत्त्वज्ञानको अथवा उसके मर्मको—स्थिरभावसे—दृढ़ताके साथ—ग्रहण करता है और सदा उसकी भावना रखता है वह तत्त्वको सविशेष रूपसे जाननेमें समर्थ होता है।

इसके अनंतर दो गाथाएँ और देकर 'एव लोयसहावं जो झायदि' इत्यादि रूपसे गाथा नं० २८३ दी हुई है, जो लोकभावनाके उपसंहारको लिये हुए उसकी समाप्ति-सूचक है और अपने स्थानपर ठीक रूपसे स्थित है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

को ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिं ण जिओ को ण कसाएहि संतत्तो ॥२८१॥
सो ण वसो इत्थिजणे स ण जिओ इंदिएहिं मोहेण।
जो ण य गिह्णदि गंथं अब्भंतर बाहिरं सव्वं ॥२८२॥

इनमेंसे पहली गाथामें चार प्रश्न किये गए हैं—१ कौन स्त्रीजनोंके वशमें नहीं होता? २ मदन-कामदेवसे किसका मान खंडित नहीं होता?, ३ कौन इन्द्रियोंके द्वारा जीता नहीं जाता?, ४ कौन कषायोंसे संतप्त नहीं होता? दूसरी गाथामें केवल दो प्रश्नोंका ही उत्तर दिया गया है जो कि एक खटकने वाली बात है, और वह उत्तर यह है कि—स्त्रीजनोंके वशमें वह नहीं होता और वह इन्द्रियों से जीता नहीं जाता जो मोहसे बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहको ग्रहण नहीं करता है।'

इन दोनों गाथाओंकी लोकभावनाके प्रकरणके साथ कोई संगति नहीं बैठती और न ग्रन्थमें अन्यत्र ही कथनकी ऐसी शैलीको अपनाया गया है। इससे ये दोनों ही गाथाएं स्पष्ट रूपसे प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं और अपनी इस प्रक्षिप्तताके कारण उक्त 'विरला णिसुणहिं तच्चं' नामकी गाथा नं० २७९ की प्रक्षिप्तताकी संभावनाको और दृढ करती हैं। मेरी रायमें इन दोनों गाथाओंकी तरह २७९ नम्बरकी गाथा भी प्रक्षिप्त है, जिसे किसीने अपनी ग्रन्थप्रतिमें अपने उपयोगके

लिये संभवत: गाथा नं० २८० के आसपास हाशियेपर, उसके टिप्पणके रूपमें, नोट कर रक्खा होगा, और जो प्रति-लेखककी असावधानीसे मूलमें प्रविष्ट हो गई है। प्रवेशका यह कार्य भ० शुभचन्द्रकी टीकासे पहले ही हुआ है, इसीसे इन तीनों गाथाओंपर भी शुभचन्द्रकी टीका उपलब्ध है और उसमें (तदनुसार पं० जयचन्द्रजीकी भाषा टीकामें भी) बड़ी खींचातानीके साथ इनका सम्बन्ध जोड़नेकी चेष्टा की गई है; परन्तु सम्बन्ध जुड़ता नहीं है। ऐसी स्थितिमें उक्त गाथाकी उपस्थितिपरसे यह कल्पित करलेना कि उसे स्वामि-कुमारने ही योगसारके उक्त दोहेको परिवर्तित करके बनाया है, समुचित प्रतीत नहीं होता—खासकर उस हालतमें जबकि ग्रंथ-भरमें अपभ्रंशभाषाका और कोई प्रयोग भी न पाया जाता हो। बहुत संभव है कि किसी दूसरे विद्वानने दोहेको गाथाका रूप देकर उसे अपनी ग्रन्थप्रतिमें नोट किया हो, और यह भी संभव है कि यह गाथा साधारणसे पाठ भेदके साथ अधिक प्राचीन हो और योगीन्दुने ही इसपरसे थोड़ेसे परि-वर्तनके साथ अपना उक्त दोहा बनाया हो; क्योंकि योगीन्दुके परमात्मप्रकाश आदि ग्रंथोंमें और भी कितने ही दोहे ऐसे पाये जाते हैं जो भावपाहुड तथा समाधितंत्रादिके पद्योंपर से परिवर्तित करके बनाये गये हैं और जिसे डाक्टर साहबने स्वयं स्वीकार किया है; जबकि कुमारके इस ग्रंथकी ऐसी कोई बात अभी तक सामने नहीं आई—कुछ गाथाएँ ऐसी जरूर देखनेमें आती हैं जो कुन्दकुन्द तथा शिवार्य जैसे आचार्योंके ग्रन्थोंमें भी समानरूपसे पाई जाती हैं और वे और भी प्राचीन स्रोतसे सम्बन्ध रखने वाली हो सकती हैं, जिसका एक नमूना भावनाओंके नामवाली गाथाका ऊपर दिया जा चुका है। अतः इस विवादापन्न गाथाके सम्बन्धमें उक्त कल्पना करके यह नतीजा निकालना कि, यह ग्रन्थ जोइन्दुके योगसारसे—ईसाकी प्राय: छठी शताब्दीसे—बादका बना हुआ है, ठीक मालूम नहीं होता। मेरी समझमें यह ग्रंथ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे अधिक बादका नहीं है—उसके निकटवर्ती किसी समयका होना चाहिये। और इसके कर्ता वे अग्निपुत्र कार्तिकेयमुनि नहीं है जो आम-तौरपर इसके कर्ता समझे जाते हैं और क्रौंचराजाके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए थे, बल्कि स्वामिकुमार नामके आचार्य ही है जिस नामका उल्लेख उन्होंने स्वयं अन्तमंगलकी गाथामें श्लेषरूपसे भी किया है:—

तिहुयण-पहाण-सामिं कुमार-काले वि तविय तवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरमतियं संथुवे णिच्चं ॥४८९॥

इसमें वसुपूज्यसुत वासुपूज्य, मल्लि और अन्तके तीन नेमि, पार्श्व तथा वर्द्धमान ऐसे पाँच कुमार-श्रमण तीर्थंकरोंको वन्दना की गई है, जिन्होंने कुमारावस्थामें ही जिन-दीक्षा लेकर तपश्चरण किया है और जो तीन लोकके प्रधान स्वामी हैं। और इससे ऐसा ध्वनित होता है कि ग्रन्थकार भी कुमारश्रमण थे, बालब्रह्मचारी थे और उन्होंने बाल्या-वस्थामें ही जिनदीक्षा लेकर तपश्चरण किया है—जैसा कि उनके विषयमें प्रसिद्ध है, और इसीसे उन्होंने, अपनेको विशेषरूपमें इष्ट, पाँच कुमार तीर्थंकरोंकी यहाँ स्तुति की है।

स्वामि-शब्दका व्यवहार दक्षिणदेशमें अधिक है और वह व्यक्ति-विशेषोंके साथ उनकी प्रतिष्ठाका द्योतक होता है। कुमार, कुमारसेन, कुमारनन्दी और कुमारस्वामी जैसे नामोंके आचार्य भी दक्षिणमें हुए हैं। दक्षिण देशमें बहुत प्राचीन कालसे क्षेत्रपालकी पूजाका भी प्रचार रहा है और इस ग्रन्थकी गाथा नं० २५ में 'क्षेत्रपाल' का स्पष्ट नामोल्लेख करके उसके विषयमें फैली हुई रक्षा-सम्बन्धी मिथ्या धारणाका निषेध भी किया है। इन सब बातोंपरसे ग्रन्थकार महोदय प्राय: दक्षिण देशके आचार्य मालूम होते हैं, जैसाकि डाक्टर उपाध्येने भी अनुमान किया है।

वीतराग-स्तोत्र

[यह स्तोत्र कोई २० वर्ष पहले, अगस्त सन् १९२९ में, काँधला जि० मुजफ्फरनगरके जैनमन्दिर-शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए, मुझे देखनेको मिला था; आज इसे अनेकान्तमें प्रकाशित किया जाता है। इसमें अलङ्कार-छटाको लिये हुए वीतरागदेवके स्वरूपका निर्देश करते हुए बार बार यह घोषित किया गया है कि 'जो पुण्य-हीन हैं वे ऐसे वीतरागदेवका दर्शन नहीं कर पाते।'—अर्थात् वीतरागका दर्शन-अनुभवन और सेवा-भजन बड़े भाग्यसे प्राप्त होता है। स्तोत्रकी पद-रचना प्रायः सरल तथा सुगम है और उसपरसे सहज हीमें—बिना किसी विशेष परिश्रमके—बहुतकुछ अर्थावबोध हो जाता है, इसीसे स्तोत्रका अर्थ साथमें देनेकी जरूरत नहीं समझी गई। यह स्तोत्र ८वें पद्यपरसे 'कल्याणकीर्ति' आचार्यका बनाया हुआ जान पड़ता है और ९वें पद्यमें श्लेषरूपसे 'पद्मसेन' और 'नरेन्द्रसेन' नामके आचार्योंका भी उल्लेख किया गया है, जो कल्याणकीर्तिके गुरुजन मालूम होते हैं। कल्याणकीर्ति, पद्मसेन और नरेन्द्रसेन नामके अनेक आचार्य हो गये हैं, अभी यह निश्चित नहीं हो सका कि उनमेंसे यहाँपर कौन विवक्षित हैं :-सं०]

(वसन्ततिलका)

शान्तं शिवं शिव-पदस्य परं निदानं, सर्वज्ञमीशममलं जित-मोह-मानम् ।
संसार-नीरनिधि-मन्थन-मन्दराऽगं[1], पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ १ ॥

अव्यक्त-मुक्ति-पद-पङ्कज-राजहंसं, विश्वाऽवतंसममरैर्विहित-प्रशंसम् ।
कन्दर्प्प-भूमिरुह-भञ्जन-मत्त-नागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ २ ॥

संसार-नीरनिधि-तारण-यानपात्रं, ज्ञानैक-पात्रमतिमात्र-मनोज्ञ-गात्रम् ।
दुर्वार-मार-घन-पातन-वात-रागं[2], पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ३ ॥

दान्तं नितान्तमतिकान्तमनन्तरूपं, योगीश्वरं किमपि संविदित-स्वरूपम् ।
संसार-मारव-पथाऽद्भुत-निर्भराऽगं[3], पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ४ ॥

दुष्कर्म-भीत-जनता-शरणं सुरेन्द्रैः, निश्शेष-दोष-रहितं महितं नरेन्द्रैः ।
तीर्थङ्करं भविक-दापित-मुक्ति-भागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ५ ॥

कल्याण-वल्लि-वन-पल्वनाऽम्बुवाहं, त्रैलोक्य-लोक-नयनैक-सुधा-प्रवाहं ।
सिद्ध्यङ्गना-वर-विलास-निबद्ध-रागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ६ ॥

लोकाऽवलोकन-कलाऽतिशय-प्रकाशं, व्यालोक-कीर्ति-वर,निर्जित-कम्बु[4] -हास्यम् ।
वाणी-तरङ्ग-नवरङ्ग-लसत्तडागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ७ ॥

कल्याणकीर्ति-रचिताऽऽलय-कल्पवृक्षं, ध्यानाऽनलं दलित-पापमुदात्त-पक्षम् ।
नित्यं क्षमा-भर-धुरन्धर-शेषनागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ८ ॥

श्रीजैनसूरि-विनत-क्रम-पद्मसेनं, हेला-विनिर्दलित-मोह-नरेन्द्रसेनम् ।
लीला-विलंघित-भवाऽम्बुधि-मध्यभागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ९ ॥

---

१ मन्दराऽचल. २ पवन-वेग. ३ पूर्ण छायातरु. ४ शङ्ख ।

सर राधाकृष्णनके विचार

पेरिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघके शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठनके प्रथम अधिवेशनमें भाषण देते हुए हालमें सर राधाकृष्णनने कहा:—

मानवताका पुनः-संस्थापन

"यूनेस्कोका उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि वह थोड़ीसी नयी व्यवस्थाएँ करके बैठ जाये। उसे तो जीवनकी एक नयी दिशा, एक नया दृष्टिकोण और एक नयी विचारधाराका अन्वेषण करना है, जो मानव जातिको स्फुरण प्रदान कर सके। अपने देशमें हम लोग इस बातमें विश्वास रखते हैं कि ऐसी विचारधारामें आध्यात्मिकताका पुट अवश्य हो। धुरी राष्ट्रोंका उदाहरण हमारे लिये चेतावनी है। जर्मनी और जापान बौद्धिक अवदानों, वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगिक कुशलता और सैन्यशक्तिमें बढ़े चढ़े थे, लेकिन फिर भी पिछले महायुद्धमें वे पराजित हुए। वे इसलिये असफल हुए कि उनमें विवेक और बुद्धि का अभाव था।

अगस्त १९४६के अन्तिम दिन जब न्यूरेम्बर्गके बन्दियोंसे पूछा गया कि उन्हें कोई युक्ति देनी है तो उनमेंसे एक फ्रैंकने कहा "प्रधान अभियुक्त एडोल्फ हिटलर जर्मन-जनताके सम्मुख अपना अन्तिम बयान देनेको यहां उपस्थित नहीं है। वैज्ञानिक त्रुटियोंके कारण हम युद्धमें पराजित नहीं हुए। परमात्माने हिटलर और हम सबके विरुद्ध, जो ईश्वरसे विमुख थे और जिन्होंने हिटलर की सेवाकी, अपना निर्णय दिया है।" जब कोई राष्ट्र खुल्लमखुल्ला परमात्मासे विमुख होकर केवल पार्थिव सफलता और समृद्धिकी ओर मन लगाता है तब उसका पतन हो जाता है। आज जितनी आवश्यकता मानवको उसकी पूर्वावस्थामें लानेकी है उतनी पाठशालाओं पुस्तकालयों या दूकानों और कारखानोंको लानेकी नहीं। यदि हमें एक नवीन सार्वभौम समुदायको स्फूर्ति प्रदान करनी है तो हमें मानवको स्फूर्ति दान करना चाहिये। आज ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या बहुत है जिनकी परमात्मामें आस्था नहीं है, जो दर्शनतत्त्वमें विश्वास नहीं रखते किन्तु यदि कोई हमसे यह कहे कि हम नास्तिक अथवा पराङ्मुख हैं तो हम बुरा मान जायेंगे। सत्य और प्रेम ही प्रत्येक धर्मका उपदेश है। सत्य हमसे श्रद्धावान व्यक्तिका आदर करनेका आग्रह करता है और प्रेम हमें मानव-जातिके सम्मानका पाठ पढ़ाता है। व्यक्ति और मानव-जाति संसारके दो स्तम्भ हैं और अन्य समूह केवल बीचके अध्याय।

संसारकी वर्तमान दुरवस्थाके मुख्य कारण जीवनके प्रति हमारा पार्थिव दृष्टिकोण, आत्म-विद्याके प्रति हमारी अवज्ञा और आध्यात्मिक आदर्शोंके प्रति हमारी उदासीनता ही है। संसारको उन्नत करनेके लिये हमें आदर्शवादी दृष्टिकोण, दार्शनिक विचारधारा तथा आध्यात्मिक तत्वोंको पुनः अपनाना पड़ेगा।

नये आदर्शोंकी आवश्यकता

परन्तु मेरी सबसे अधिक चिन्ता इस बातके लिये है कि कहीं हम बुद्धिवादी ही अपने कार्यके प्रति झूठे सिद्ध न हों। हममें विनम्रता ही नहीं, सचाई भी होनी चाहिये। अपरिपक्व मस्तिष्कोंमें मिथ्या धारणाएं भरने और ज्ञानके स्रोतोंको विषाक्त कर देनेके लिये हमीं उत्तरदायी हैं हम सरल युवकोंके मस्तिष्कोंको विकृत कर देते हैं और युद्धकी इच्छा न रखने वाले निर्दोष व्यक्तियोंको मृत्यु तथा विनाशका नंगा नाच नाचनेवाले दानवोंके रूपमें परिणत कर देते हैं। मानव-हृदयकी कोमल भावनाओंका उन्मूलन करके उसकी सहज ललकका अन्त कर देते हैं। महान बुद्धिवादी सुकरात, जिसे पश्चिमी संसारके बुद्धिवादियोंका प्रतिनिधि कहा जा सकता है, आत्म-निर्णयके सिद्धान्त पर चलता था। जब उसका अपने समयके समाजसे संघर्ष हुआ तो उसने राज्यके आदेशकी हमारे नेताके शब्दोंमें 'भद्र अवज्ञा' की। अपनी बौद्धिक सचाईपर आघात होनेपर राज्यके अतिक्रमणसे लोहा लेनेका साहस हममेंसे कितने बुद्धिवादियोंमें है? राज्यके आदेशोंका सत्यसे विरोध होनेपर हममेंसे कितने उन आदेशोंकी अवज्ञा करते हुए शहीद होनेको तैयार हैं?

हम आत्माके पुजारी हैं। हमारे होठोंसे असत्यका एक शब्द न निकलना चाहिये और न किसी मिथ्या विचारका प्रवेश ही हमारे मस्तिष्कमें होना चाहिये। मुझे इस बातकी कामना है कि हम सब राजनीतिसे ऊपर उठ कर केवल विश्व आदर्शोंको ही अपनावें। एक जर्मन विचारकने कहा है "नये शोरगुलके आविष्कारकोंके इर्दगिर्द नहीं, बल्कि नवीन आदर्शोंके आविष्कारकोंके इर्दगिर्द यह दुनिया घूमती है—चुप-चाप घूमती है।"

साम्प्रदायिक दंगे और अहिंसा

(लेखक बा० राजकुमार जैन)
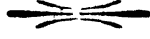
आज यह किसीसे भी छिपा नहीं कि जगह २ पर साम्प्रदायिक दंगे होरहे हैं। यह दंगे साम्प्रदायिक हैं या राजनैतिक ? इस प्रश्न का सम्बन्ध राजनीतिसे है और इस प्रश्नपर मुझे कुछ नहीं लिखना है। देखना तो इस बातका है कि इन दंगों से अहिंसाका क्या सम्बन्ध है।

अहिंसा अभयका ही एक अंग है तथा इन दोनोंमें एक विशेष सम्बन्ध है। जब तक हम अभय नहीं हैं तब तक हमारा अहिंसक होना एक सीमा तक निरर्थक है और हम भी उसी सीमाके अन्दर ही हैं। क्या हमारा आततायियोंको क्षमा कर देना और उनको इस प्रकार प्रेरणा देना ही अहिंसा है? क्षमा करनेसे पहले यह बात अवश्य ध्यानमें रक्खी जानी चाहिये कि क्षमा वही कर सकता है जिसमें शत्रु से बदला लेनेकी शक्ति हो। वे पुरुष जो उनसे डरकर अपने २ घरोंमें भयभीत हुए बैठे हैं यह नहीं कह सकते कि हम तो अहिंसक हैं। उनका इस प्रकार अहिंसाकी आड़में बैठा रहना सर्वदा दोषपूर्ण है। इस प्रकारसे वह अहिंसाको कायरतामें परिवर्तित कर रहे हैं और जो दोष अन्य समाजोंने जैन और बौद्ध धर्मकी अहिंसापर लगाया और भारतीय परतन्त्रता उसीका फल बतलाया है, उसके योग्य बन रहे हैं। याद रक्खें इस प्रकार वे केवल अहिंसा पर बल्कि अपने जैनधर्मपर भी कलंक लगा रहे हैं। 'क्षमा बड़नको चाहिये छोटनको अपराध' इस साधारण सी कहावतसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जो बड़ा है, जो शक्तिशाली है, जिसके भुजदण्डोंमें बल है, वही क्षमा कर सकता है। एक पतित, दलित तथा शक्तिविहीन पुरुष, जिसे कुछ भी चारा नहीं, क्या करेगा ? वह क्षमाके सिवा और कर भी क्या सकता है ? क्या एक ऐसे पुरुषकी क्षमा ही 'उत्तम क्षमा' है ? नहीं-नहीं। यह तो उसकी कायरता है। एक ऐसा पुरुष जो उन्नति तथा वीरताकी सीढ़ीपर सबसे ऊंचे हो वह क्षमा करे, वह अहिंसक हो तो बात दूसरी; परन्तु एक ऐसा पुरुष जिसने किसी भी दिन उस सीढ़ीपर चढ़ने तकका साहस न किया हो, किस प्रकार क्षमा कर सकता है ? वह तो बाध्य है क्षमा करनेके लिये। आज ठीक यही अवस्था जैनसमाजकी है। हमें वैसी अहिंसा नहीं चाहिये। हमें आजकल क्षमा करनेका अधिकार प्राप्त नहीं है, इसके लिये हमें अधिकार प्राप्त करना होगा। मैं कहता हूँ कि अगर हम दंगोंसे अभय हो जाएं, तो किसी भी शक्तिका साहस दंगा करनेका नहीं हो सकता है। आज जब हम अपना मान खो चुके हैं, बल, वीरता तथा शौर्य खो चुके हैं, अपनी उन्नतिके सिंहासनसे च्युत हो गये हैं, आज जब हम अभयके मार्गको भूल गये हैं और कायरताके पथपर अग्रसर हैं, तब ही नीच, पतित, अत्याचारी पुरुषोंको जिन का कि इतिहास उनके काले कारनामोंसे भरा पड़ा है, दंगा करनेका साहस हुआ है। जैनधर्म अभयका सन्देश देता है और अभय हम तब ही हो सकते हैं

जब हम शक्तिशाली हों, हमारे भुजदण्डोंमें बल हो, वीर हों और अतिवीर हों या हमारे अन्दर असाधारण तथा अद्वितीय आत्मशक्ति हो।

वीर भगवानका आदेश है "तुम खुद जीओ, जीने दो जमानेमें सभी को" (Live and Let Live) जब हम संसारमें जीवित हो, शक्तिशाली हो, उन्नतिके शिखरपर हों, तब तुम दूसरोंको मत दबाओ और उन्हें भी जीने दो। अच्छा व्यवहार करो और अत्याचार न करो। पर यह बात नहीं है आजके लिये। अगर हम शक्तिविहीन हैं तो भी किसी को न सतावें, परन्तु आज तो हमारा अस्तित्व ही मिटाये जानेकी चुनौती दी गई है। तुम्हारी सभ्यता, तुम्हारी संस्कृति, तुम्हारे धर्म कर्म सब कुछ नष्ट किये जा सकते हैं अगर तुम इसी प्रकार कायर बने रहे। अब जब हम स्वयं ही नष्ट हो जानेवाले हैं, तब दूसरोंके रहनेका प्रश्न ही नहीं उठता। क्या अहिंसा और क्या अहिंसा?

भगवान कुन्द कुन्दने कहा है कि हमें उसी बोली में ही बोलना चाहिये जिसमें कि दूसरा पुरुष समझ सके। उसे समझानेके लिये अगर हमें उसकी ही बोलीमें बोलना पड़े तो कोई डरकी बात नहीं; परन्तु हमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हम उस ही बोलीको अपना माध्यम न बनालें। जब वह पुरुष समझ जाए तो फिर अपनी ही बोली बोलनी चाहिये। मित्रों! हमारी बोली अहिंसाकी है, लेकिन आज अपने कर्मानुसार तथा काल-चक्रकी गतिसे हम इतने कायर हो चुके हैं कि हम अहिंसक हो ही नहीं सकते। आज हमें दंगा करने वालोंको समझाना है। अगर वे हमारी बोलीमें नहीं समझते तो हमें उनको उन्हींकी बोलीमें समझाना पड़ेगा। चाहे वह बोली हिंसाकी हो या अहिंसा की। फिर जब हम जागृत हो जाएँगे और इस भेदको समझने लगेंगे, तो कोई भी शक्ति इस प्रकारका अनुचित कार्य करने का साहस न करेगी। मेरी लेखनी फिर वही लिखने को विवश है कि जब तक हम वीर बलवान नहीं, अहिंसक कैसे? हमें तो विवश होकर अहिंसाकी शरण लेनी पड़ती है।

मित्रो! आज हमें दंगा करनेवाले दुष्टोंको भगवान कुन्दकुन्दके आदेशानुसार समझाना है। अपनी बोलीमें या उनकी ही बोलीमें। अगर वे अहिंसाकी बोली नहीं समझते तो अपने प्यारे जैन धर्म तथा उसकी अहिंसाकी रक्षाके लिये, प्रचारके लिये, उन्नतिके लिये हमें हिंसाकी बोली ही बोलनी पड़ेगी। जब वे समझ जाएँगे तो हम अपनी ही बोली बोलेंगे।

भगवान महावीर और उनका सन्देश

(लेखक—श्री कस्तूरसावजी जैन अग्रवाल, बी. ए., बी. टी.)

[किरण १ से आगे]

पाठक अबतक धर्म और अहिंसाको जिस रूपमें देख चुके हैं उसका आधार अनुभूति (Feeling) ही प्रधानरूपसे रही है। अब हम निम्न पंक्तियोंमें उसे बौद्धिकता (Rationality) की कसौटीपर परखनेका प्रयत्न करेंगे तथा पाश्चिमात्य विचारधारा किस तरह बहती है, उसको लक्ष्यमें रखकर इसके व्यावहारिक स्वरूपका परीक्षण करेंगे।

प्रायः लोग पुनर्जन्म तथा पारलौकिक सुखमें विश्वास नहीं करते बल्कि, उसे कपोलकल्पित तथा धोखेकी टट्टी समझते हैं। जड़वादी मनुष्यजीवनका लक्ष्य आधिभौतिक उन्नति, आर्थिक उत्कर्ष तथा काम-सेवन ही समझते हैं। उनके नजदीक शरीरसे पृथक् आत्मा कोई वस्तु नहीं है किन्तु इन्द्रियजनित सुखोंका भोग करना ही परम श्रेयस्कर है। उनका कहना है कि 'ईश्वर और धर्म केवल ढोंग हैं। पुरातन कालमें खुदग़रज़ तथा स्वार्थी किन्तु बुद्धिप्रधान पुरुषोंने केवल स्वार्थके लिये तथा अपने जीवनको सुखमय बनानेके लिये जगतके भोले प्राणियोंको ठगकर अपना उल्लू सीधा करना अपना पैदायशी हक समझ लिया था। "बेवकूफ़ोंका माल अक्लमन्दोंकी खुराक है" इस सिद्धान्तको दुनिया पहले ही से अपना चुकी है।' जो भी हो, उनके नजदीक धर्म एक ढकोसला है, एक जाल है, अकर्मण्यता तथा अन्धपरम्परा है। भविष्यकालीन काल्पनिक सुखोंकी लालसाके लिये वर्तमानकालको बलिवेदीपर चढ़ाना गर्हणीय है। वास्तवमें विचारशील लोगोंके चित्तमें मानवजातिकी पश्चिममें उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है—यह ऐतिहासिक सत्य है। उसी प्रकार पूर्वमें अधःपतन हो रहा है यह भी निर्विवाद है (इसका कारण धर्म समझा जाता है)। प्रकृतिपर मनुष्यका अधिकार होता जा रहा है। इसके गूढ़ रहस्य जितने आज मनुष्यको ज्ञात हैं और उनका जितना सदुपयोग अपने जीवनमें वह कर रहा है—प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। विविध वैज्ञानिक आविष्कारोंसे हम प्रतिक्षण अनेकविध लाभ भी उठा रहे हैं, वैज्ञानिकोंने प्रकृतिदेवीको एकनिष्ठा और लगनसे, सेवा तथा तपस्यासे प्रसन्न करके उसे अपनी आज्ञाकारिणी चेरी बना लिया है, और अभी मानव समाजकी आशापूर्ण क्रियाशीलता भी अनन्त है। मानवजातिकी वैज्ञानिक धनराशिकी सीमा कल्पनासे भी परिमित नहीं होती। इसीके बलपर सुखके परमोच्च शिखरपर मनुष्य आसीन हो सकता है। अतएव निराशावादियों तथा निष्क्रिय पुरुषोंका ही काल्पनिक सुख भविष्यकालीन मोक्ष है जो सर्वथा त्याज्य तथा हेय है ऐसा उनका कहना है।

असन्तोष अवनतिका कारण नहीं, किम्बहुना उन्नतिकी पहली सीढ़ी है। जबतक असंतोषसे मनुष्य जर्जर नहीं होता, हमारे मनमें अपनी दशाके सुधारनेका विचार भी नहीं पैदा होता। संतोषीका सुख प्रायः उन्नतिका घातक होता है तथा उत्कर्षकी गति मन्दाके लिये रुकी रहती है। मनुष्य निर्जीव तथा अकर्मण्य बन जाता है तथा गुलामी और दासत्वका वह शिकार हो जाता है। अतः असन्तोष या हलचल जीवन पैदा करती है। वह हर प्रकारके साधनोंका अवलंबन लेकर न सिर्फ अपने आपको किं बहुना समूचे राष्ट्रको कहींसे कहीं पहुंचा देती है। साधन चाहे कैसा ही हो वह अपने उत्तम ध्येयकी प्राप्ति कर लेता है। हिंसा अथवा बलप्रयोगसे शान्ति स्थापित की जा सकती है। अतएव प्रभुता ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिए। जब हमारी नीयत अच्छी है तो मार्ग कैसा ही कण्टकाकीर्ण क्यों न हो, हिम्मत न हारनी चाहिए। यदि बुरे साधनोंसे उद्दिष्ट की सिद्धि हो सकती है तो इसमें हर्ज ही क्या? यही कारण है कि "All is well tha ends well" की दुहाई दी जाती है। हमें आम खानेसे मतलब है पेड़ गिननेसे नहीं। अतएव पाश्चिमात्य विचारधाराके

अनुसार शान्तिका पाठ पढ़ाना तथा संतोपका बेसुरा राग आलापना एक अक्षम्य अपराध तथा महापाप है, कायरताकी निशानी है तथा बुज़ूपनकी अलामत है।

हमारे सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवनमें धर्म और ईश्वरवाद बड़ी बाधा डालता है। इसीकी आड़में अन्धविश्वासका अन्धेरा हमको आच्छादित किये हुए है। इसके नामपर करोड़ों मर मिटे हैं—खूनकी नदियां बह चुकी हैं। धर्मात्मा दुखी और अधर्मात्मा सुखी दिखलाई देते हैं या दूसरे शब्दोंमें दुःखोंका तथा हमारी मौजूदा अधोगतिका कारण धर्म ही है।

विचारशील लोगोंके चित्तमें प्रश्नोंकी उपरोक्त तरंगें अवश्य उठा करती हैं, मानव जातिका उत्कर्ष और सर्वोच्च ध्येय क्या होना चाहिये यह प्रश्न जटिल होनेपर भी बड़ा रोचक, गंभीर और महत्वशाली है, उद्देश्य और ध्येयके मूलभूत तत्वोंसे इसका सम्बन्ध है, समस्त सिद्धान्तों और दर्शनोंका यही सार है। सारा संसार युगके आदिसे शान्ति और सुखकी खोजमें रत रहा है। यही कारण है कि ज्ञान और अनुभवकी मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ज्ञानराशिकी ऐसी श्रीवृद्धिको देखते हुए उपरोक्त प्रश्नोंका हल आसानीसे यदि नहीं तो काफी गवेषण व अन्वेषणके उपरान्त निकाला जा सकता है। हां, वर्तमानके नये आविष्कार और खोज ज्ञानके सदुपयोगमें बाधा डालनेके लिए हमारी बुद्धिको भ्रममें डाल रहे हैं। यही कारण है कि धर्मके साथ २ सुख और शान्ति दुनियासे विदा होती जा रही है, अंधकारमय अधर्मरूपी अशान्तिका साम्राज्य होता जा रहा है। आस्तिकतापर नास्तिकताकी विजय गौरवकी चीज समझी जा रही है। सद्बुद्धि और सत्प्रवृत्ति सारे संसारसे ऐसी गायब हो रही है; जैसे मानसरोवरसे मुक्ताफल चुगने वाले हंस। स्वार्थकी मात्रा बढ़ती जा रही है, नीति और सत्यका गला स्वार्थ साधनके लिये घोटा जा रहा है। इनके पास उन्नति इसीका नाम है, किन्तु इसीमें ही अवनति बीजरूपसे छिपी न रह कर अपना विकराल रूप प्रकट कर रही है:—

"राह वो चलते हैं—लगती है जिसमें ठोकर;
काम हम करते हैं वह—जिसमें ज़रर देखते हैं।"

भूमण्डलके इन आधुनिक विद्वानोंने या पूंजीपतियोंने धन-द्वारा ही जगतकी सभी वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करना सीखा है, अपनी आत्माकी महानताको भी धनकी तराज़ूपर तोलना चाहा है। इन दूषित विचारोंकी हवा हमारे दिल और दिमागोंको विषैला और गन्दा बनाती जा रही है। स्व० गुरुदेव रवीन्द्रनाथजीने विश्व-कल्याणका एक सस्ता और अच्छा नुसखा दुनिया वालोंको दिया है। हिंसासे अन्धी दुनियाको प्रेम और अहिंसाका अमृतमय संगीत सुनाया है। इनके रोचक शब्दोंमें इस मर्जका इलाज चतुराई (Politics) और तोपें नहीं-किन्तु प्रेम, श्रद्धा और त्याग है। अग्नि अग्निका शमन नहीं कर सकती, उसी प्रकार पाप पापका शमन नहीं कर सकता। शान्तिकी शक्तिका विकास ही उन्नतिका सहायक होगा। स्वनामधन्य विश्वविख्यात स्व० गुरुदेवजीका मत है कि पश्चिमी सभ्यताने आज मनुष्यकी आत्माको वासनाओंकी शृंखलाओंसे बद्ध करके घोर अवनतिके कारागारमें बन्द कर दिया है। मानवताके सच्चे विकासके लिए उनके शब्दोंका सार यहाँ दिया जाता है:—

"मनुष्यजातिकी वर्तमान सन्तानमें आधी मनुष्यता और आधी पशुता एवं बर्बरता पाई जाती है। इसका मौजूदा भयानक रूप पूर्व ऐतिहासिक युगके (Pre-Historic Period) दानवोंकी अपेक्षा अधिक सन्ताप जनक और फलतः आपत्तिजनक है। उन दानवोंमें केवल पशु-बल था, किन्तु अब मनुष्यसन्तानमें पशुबल तथा विनाशकारी बुद्धिबलका सम्मिलन है। इसने ऐसी बीभत्सता-को जन्म दिया है, जिसकी वासनामें हृदयका अभाव और अस्त्र-शस्त्रको छल-कपट-पूर्ण बना दिया है, इसने अन्धी वासनाको शक्तिशाली और कार्यक्षम बना दिया है। 'एक समय था जब एशियाके विचारशील पुरुषोंने मनुष्यमें विद्यमान पशुता और क्रूरताको रोकनेके लिए एड़ीसे चोटीका जोर लगा दिया था। किन्तु खेद है कि आज इस रोशन ज़मानेमें बुद्धिकी इस पाशविक सत्ताने हमारी नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तिको छीन लिया है। पशुओंकी क्षमता जड़ नहीं थी, जीवनसे उसका संयोग अवश्य था। वह प्राणियोंकी ही सत्ता थी, किन्तु आजकलके वैज्ञानिक युगके आविष्कार उदाहरणार्थ सर्वनाशकारी बमके गोले, विषैली गैसें, प्राणघातक हवाई जहाज, प्रलयकालको लानेवाले रोबो बम ऍटम बम, आदि भयंकर अस्त्र सर्वथा जड़ हैं।

किन्तु विज्ञान जैसी पवित्र वस्तुका दुरुपयोग करने वाले रक्तपिपासु नररूपी दानवोंको क्या कहें ? वे दुष्ट दानव अवश्य अपनी काली करतूतोंकी सजा पावेंगे, क्योंकि उन्हींके निर्मित हथियार उन्हींके विरुद्ध उपयोगमें लाए जावेंगे।"

गुरुदेवकी भविष्यवाणी सच निकली। जर्मनीने भयंकर शस्त्र तथा अस्त्रोंसे सुसज्जित होकर सारे धरातलको आश्चर्य-चकित कर दिया था, और ऐसा प्रतीत होरहा था कि इन नूतनतासे परिपूर्ण आविष्कारोंके बलपर सारे संसारपर उसकी विजय-पताका फहराने लगेगी। किन्तु आज उसी शस्त्रास्त्र और उसी रणनीतिने जिसका वह निर्माता था उसको तहस नहस करके ही दम लिया, ऐसा स्पष्ट हो गया है। ख्यात नामा डाक्टर इकबालने भी इसी मतको प्रदर्शित किया है:—
"तुम्हारी तहजीब अपने खंजरसे, आपही खुदकशी करेगी,
जो शाखे नाजुकपे आशियाना बना वो नापायदार होगा।"

सच तो यह है कि पाश्चिमात्य सभ्यता तथा संस्कृति देखनेमें अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है। इसका रूप तथा शृंगार आँखोंमें चकाचौंध पैदा करता है। यह एक नशा है किन्तु इसका परिणाम अत्यन्त भयावह तथा आत्मनाशका कारण है। यह भ्रान्त धारणा समस्त संसारका सर्वनाश करेगी, अतएव किसी तरह भी इसे पूर्वीय लिबास नहीं पहिनाया जा सकेगा। खुद पश्चिममें आज अस्त्र तथा शस्त्रों की झनकार तथा अनूठे व रोचक वैज्ञानिक आविष्कारोंमें जीवनका सुमधुर सङ्गीत विलीन हो चुका है। मत्सर, प्रतियोगिता तथा प्राण-घातक आर्थिक मुकाबलेकी काली छायामें विकासका राजमार्ग भुला दिया है, और उन्हें अपनी खामखयालीने कायल कर दिया है तथा यह समझने लग गये हैं कि वे गुमराह हैं और शान्ति तथा कल्याणकी उनकी कल्पना एक ऐसा स्वप्न है जो कभी भी सत्यकी सृष्टिमें परिणत नहीं किया जा सकता।

स्व० गुरुदेव इस आपत्तिजनक परिस्थितिसे बचनेके लिए एकमात्र उपाय बतलाते रहे। उन्होंने कहीं लिखा है:—"अब समयने पलटा खाया है, अतएव पाशविक तथा जड़ शक्ति जब असफल रही है तो अन्य शक्तिकी खोज लगाना अवश्यम्भावि हो जाता है। दूसरोंको कष्ट पहुंचानेसे अब काम नहीं चलेगा बल्कि अब स्वयं कष्टको सहन करते हुए त्याग भावनाको अपनाना होगा। पिछले युगोंमें जिस तरह बुद्धिने निरे पाशविक बलपर फतह पाई थी, उसी तरह अब त्यागके बलबूतेपर लोभ और अहंकारका दमन करना होगा। आओ मानव ! आत्माको कारागारसे निकालनेमें मदद दो, मानवके प्रति श्रद्धा, त्याग और मानवताको प्रगट करो" आदि।

"यही है इबादत, यही दीनो ईमाँ।
कि काम आये दुनियाँ में इनसा के इनसाँ।"

ऐतिहासिक दृष्टिसे धर्मका जन्म

ऐतिहासिक दृष्टिसे यदि छानबीन की जाए तो इस बातका पता चलता है कि सदियों पहिले इस रत्नगर्भा भारत-भूमिमें नैतिकताकी आवाज़ गूंजती थी, मनुष्यके प्रति मानवताका व्यवहार करना ही धर्म समझा जाता था। नैतिक जिम्मेदारीके अनुसार ही सांसारिक कार्य चलते थे। मानव प्राणी जब दूसरोंको अपने प्रति सद्व्यवहारसे पेश आते देखता तो वह भी स्वाभाविक तौरपर अनायास ही दूसरेके प्रति प्रेम प्रकट करता, उसके न्याय्य अधिकारोंके संरक्षण व संवर्धनमें लग जाता अर्थात द्वेष और मत्सर प्रतियोगिता तथा मुकाबलेके बदले सरलता और प्रेम तथा पारस्परिक सहायताके मार्गपर चलने लगता। किन्तु संसारकी गति सदा एकसी नहीं रही। शनैः शनैः नैतिक ज़िम्मेदारीको लोग भूलने लगे। सांसारिक कार्योंमें बाधा उपस्थित होने लगी। चालाक और स्वार्थी लोग दूसरोंकी नैतिकतासे फायदा उठाने लगे और समाजके नेताओंको व्यवहारके लोप होने और अशान्तिका भयानक चित्र दिखाई देने लगा। अतएव समाजको अनीतिके गहरे कूपमें गिरनेसे बचानेके लिए, सामाजिक शासनको सुसंगठित करनेके लिए नैतिक नियमोंको ही धार्मिक रूपमें परिणत करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। इन्हीं नैतिक नियमोंको संकलित, परिवर्धित और संशोधित करके धर्मका मौलिक रूप दिया गया। पुण्य और पापकी परिभाषा इसीका परिणाम है। जब नैतिक बन्धनोंका भय जाता रहा तो प्राकृतिक तथा सामाजिक नियमोंका उल्लंघन धार्मिक दृष्टिसे अक्षम्य करार पाया ! नैतिक जिम्मेदारीकी जगह अब धार्मिक जिम्मेदारी समाजका आधार व विश्व-कल्याणका प्राण बन गई। मानवके कष्टोंका अन्त करनेके लिए नैतिक सिद्धान्त-धार्मिक

शिक्षाके मौलिक रूपमें बदल गए। मानवताके पुजारियोंने अखिल मानवताके लिए धर्मका दिव्यसंदेश सुनाया। भगवान महावीर भी धार्मिक आकाशके एक दैदीप्यमान नक्षत्र थे। सदियों पहलेसे ऐसे ही वीरपुरुषोंने धर्मकी शीतल धारा प्रवाहितकी। पतितोंका उद्धार करने, दलितोंको बचाने, असहायको सहायता देने, पश्चात्तापकी अग्निसे आकुलित हृदयको संतोषामृतकी वृष्टिसे बुझाने प्रमाद और निराशाको दूर करके उत्साह, उमंग और कर्मण्यताको सिखाने और उच्च नागरिक आदर्शको स्थापित करनेके ख्यालसे धर्मका जन्म हुआ। यही नहीं किन्तु धर्ममें राजनीतिका भी प्रवेश आसानीसे हो गया। धार्मिक नियंत्रणसे लौकिक व्यवहार बँध गये, विश्वमें शान्ति स्थापित हो गई, संसार स्वर्गतुल्य हो गया। किन्तु काल सदासे ही परिवर्तनशील है। रूढियोंने धर्मकी जगह ले ली। समयानुसार रूढियोंमें परिवर्तन न होनेके कारण पतनका होना अनिवार्य हो गया। मनुष्यने अपनी मनुष्यता खो दी और जीवन खतरेमें पड गया। धार्मिक जिम्मेदारीको भूल जानेके कारण वातावरण प्रक्षुब्ध हो उठा, अशान्तिकी लहरें एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक उठने लगीं। वर्तमान आधि-भौतिक जडवादने एक ओर शान्ति प्रस्थापित करनेके लिए भरसक प्रयत्न किया तो दूसरी ओर वासनाओंकी अग्निको और भी प्रज्वलित कर दिया। सम्प्रति भूमण्डलपर सम्पूर्ण देशोंमें परस्पर सान्निध्य और सम्पर्क संस्थापित हो जानेके कारण एकपर दूसरेकी संस्कृति, साहित्य, विचारधारा, वाणिज्य-व्यवसाय, कला आदिका प्रभाव पड़ा। विज्ञानकी जबरदस्त आँधीने जीवनकी कायापलट कर दी और सुचारु रूपसे सारे जगतको कार्यक्षम बनानेके लिये कानूनकी शरण ली। जो काम प्राचीन कालमें धार्मिक नियमों तथा संस्थाओंने किया वह अब वर्तमानकाल में राजशासन द्वारा किया जाने लगा। जहाँ नैतिक बल और धार्मिक जिम्मेदारी अपने अपने कालमें कामयाब रहे, वहाँ अब कानून द्वारा सामाजिक, वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय जीवनका नियन्त्रण किया जा रहा है। अधर्म, पाप या कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेके लिए कई तरहके नियम बना दिये गये और इन नियमोंकी अवहेलना या उत्तरदायित्वसे च्युत होना कानूनकी दृष्टिसे सजा देनेके योग्य समझा गया। हमारे जिन कामोंसे समाजके हितसाधनमें बाधा उत्पन्न होना संभवनीय है या जिसके करनेसे स्वयं करने वालेको लज्जा या घृणा हो सके, उसे न करना ही कानूनकी दृष्टिसे योग्य समझा गया। सारांश ऐतिहासिक दृष्टिसे मानव-समाजका जीवन एक सागरकी भाँति है, इसमें रह रह कर तरङ्गें उठती रही, जब नीतिकी नौकाएँ डूबने लगीं तब धर्मके जहाजका आविष्कार हुआ, जब यह जहाज मंझधारमें आगया और किनारेपर पहुंचनेकी उम्मीद कम हो गई तो कानूनके बड़े बड़े जहाज विविध शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित होकर जीवन सागरको चीरनेके लिए अवतीर्ण हुए।

इस ऐतिहासिक खोजको यदि जैन साहित्यकी कसौटीपर जाँचा जाय तो उपरोक्त बातोंका बहुत बड़ी हदतक समर्थन हो जाता है। जैन साहित्यसे इस बातका पता चलता है कि भारतवर्षमें पहिले तीन कालतक भोगभूमि रही है। यहाँ सादगी प्रेम, नीति, सुख, आनन्द आदिका साम्राज्य था। न यहां आर्थिक अड़चनें हो थीं और न किसी प्रकारकी झंझटें। किन्तु तीसरे कालके अन्तमें लोगोंको भय पैदा हुआ, अज्ञानने जोर पकड़ा, कर्तव्याकर्तव्यका भान न रहा, नैतिक बन्धन ढीले पड़ गये, कौटुम्बिक व्यवस्था-नागरिक आदर्शको शान्तिके हेतु स्थापन करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। जगतमें घोर अशान्तिके बादल मंडला रहे थे, आकुलताका आधिपत्य हो चला था। ऐसे समयमें भगवान आदिनाथने जन्म लेकर-आवश्यकता, समय व परिस्थितिको लक्ष्यमें रखते हुए—नैतिक नियमोंका निर्माण करके धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया और भोगभूमिको कर्म-भूमिमें परिणत कर दिया। धार्मिक सिद्धान्तोंकी उत्पत्ति गहरे विचारका नतीजा थी, इस लिये अब कथन और उपदेशसे इसका प्रचार होने लगा तथा इसकी सार्थकता सिद्धान्तोंको कार्यरूपमें परिणत करनेसे होने लगी। यह विचारधारा नैसर्गिक स्वाभाविक तथा समयानुकूल थी। लोगोंने इसे हाथोंहाथ अपनाया। संसारकी समझमें यह बात आगई कि धर्म और अधर्मके आचरणका परिणाम क्रमशः सुख और दुख होता है। इसीसे देश और समाजकी व्यवस्था रह सकती है, संसारके लौकिक व्यवहार चल सकते हैं। इसी तरह जब जब धार्मिक नियमोंकी अवहेलनाके कारण जगतमें अनीति और अशान्ति फैल जाती,

तब तब समय ऐसे ही नररत्नों या तीर्थंकरोंको पैदा करता और इनके कारण ही जगत्में ज्ञानसूर्यकी सुनहरी किरणें अज्ञानको मिटातीं तथा लोक-मर्यादा स्थापित हो जाती।

यह बात भी विचारणीय है कि धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार हमेशा क्षत्रिय राजाओं द्वारा ही हुआ है; क्योंकि धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार राजाश्रित रहा है। देश और समाज हितके लिए अप्राकृतिक तथा अनैसर्गिक और लौकिकाधार तथा रूढ़ियोंके विरुद्ध बातें दण्डनीय समझी गईं। इन चीजोंको कानूनका रूप प्राप्त हुआ। यों तो समयकी पुकारके अनुसार धार्मिक नियमोंका पालन अच्छी दृष्टिसे देखा जाता रहा और यदा कदाचित चन्द व्यक्ति या उनका समूह इन नियमोंकी अवहेलनाद्वारा समाज या राष्ट्र तथा देशकी व्यवस्थामें बाधा उपस्थित करता तो न सिर्फ राजदण्ड ही उसे भुगतना पड़ता बल्कि समाजकी दृष्टिसे भी वह गिर जाता। राजनीतिज्ञ पुरुषों या राजाका यह कर्तव्य था कि प्रजाको धार्मिक तथा लौकिक नियमोंको असली जामा पहिनानेमें विवश करे तथा आवश्यकतानुसार सैनिकबलको भी काममें लावे। यही कारण है कि भारतवर्षमें उस समय शान्ति व सुव्यवस्थाका मधुर सङ्गीत सुनाई देता रहा है।

गत महासमरके अन्तमें विश्वशान्तिको सदाके लिए स्थापित करनेके खयालसे अमेरिकाके स्वनाम धन्य प्रेसिडेन्ट विल्सनने अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्को जन्म दिया और एक लंबी चौड़ी नियमावली बना दी, किन्तु उसे कार्यरूपमें, सैनिक-बलका अभाव होनेके कारण, वह परिणत न कर सका और परिणाम यह निकला कि युद्धकी ज्वाला पुनः भी धधक उठी। किन्तु भारतवर्षके प्राचीन राजनीतिज्ञोंको यह बात भलीभाँति परिचित थी कि अपनी प्रजाके हित-साधनके लिए सैनिक-शक्तिद्वारा राष्ट्र, देश, समाजके नियमों व धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार आसानीसे कराया जा सकता है।

जैनसाहित्य और कानून

भारतवर्ष की अनेक धार्मिक तथा सामाजिक प्रवृत्तिपर ही मौजूदा कानूनका आधार है। धर्मके नियमोंको तथा प्रचलित रिवाजोंको लक्ष्यमें रखकर ही (Juris Prudence) कानूनके मूलभूत तत्त्व बनाये गए हैं ऐसा खुद कानूनदानोंका खयाल है। "अन्दर की आवाज जो कुछ कहती है उसपर अमल करना जुर्म नहीं"। "कानून गाफिलों की इमदाद नहीं करता"। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचेरत्"। "हर प्राणीको खुदकी हिफाजत करनेका हक़ है"। आदि कानूनी तत्त्वोंसे उपरोक्त बातोंका ही समर्थन होता है।

किन्तु दोनों समय के इन प्रयोगों में फर्क है। प्राचीन समयमें कानूनका पालन करना कराना उनका धार्मिक और नैतिक कर्तव्य समझा जाता था। विरोधका रूप व्यावहारिक था किन्तु आजकल बल-प्रयोग द्वारा कानूनके कायदे बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, अर्थात् अब पाशविक बल ही इसका आधार है और उन दिनों इसका आधार आत्म-कर्तव्य, नैतिक आवश्यकता, अनुशासन तथा संयम रहा है। तभी तो यत्र तत्र जैन शास्त्रों में —

"तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत्।
परदारां समां मातुः पश्यन् याति परं पदम्"।

ऐसे वाक्य मिलते हैं। दूसरोंकी वस्तुओंको घासके तिनके की तरह, परस्त्रीको माताके समान और दूसरे जीवोंको अपने समान जानो। क्या यह शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा नहीं है? क्या इसपर अमल करनेसे मनुष्य-प्राणी शान्तिको नहीं पा सकता?

धर्म और राजनीति

वैसे तो धर्म और राजनीति विपरीत विचारधाराएँ प्रतीत होती हैं किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। प्राचीन काल में राजनीतिका प्रयोग मानव जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पाया जाता है। धार्मिक प्रचारक तथा संस्थापक प्रखर राजनीतिज्ञ तथा मार्गदर्शक नेता थे। मानवजातीके स्वभावों, उनकी प्रवृत्तियों आदिका उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य किया था। जैन ग्रन्थोंमें सम्यग्दर्शन व उसके अंगोंका वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ स्वधर्मीके दोषोंको ढाँकना; जुलूस रथयात्रा, पूजापाठ, संघ निकालना, धार्मिक उत्सव कराना आदिके द्वारा धर्म प्रभावना करना; सहधर्मियोंसे प्रेम करना, आड़े समयमें उनकी सहायता करना, समाज संगठनका बीज बोना आदि चीजें सम्यग्दृष्टिका प्राण हैं। इन्हीं चीजोंको जैन धर्ममें सम्यग्दर्शनके अंगों अर्थात् स्थितिकरण, प्रभावना, वात्सल्य आदि नामोंसे याद किया है। इनके मूलभूत तत्त्वोंपर दृष्टि डालनेसे मालूम पड़ता है कि उन्होंने मानसविज्ञान (Psychology) के गूढ़ तत्त्वों तथा

राजनीति Politics), नागरिकशास्त्र (Civics आदिका गहरा अध्ययन करके मानव प्राणियोंके स्वभावों तथा प्राकृतिक नियमोंको समझकर उनको धर्ममें सन्निहित कर लिया था। यही नहीं बल्कि दुनियावी जरूरतों पर ध्यान देकर इन आदर्शों अपितु नैतिक गुणोंको—जिनका होना एक अच्छे नागरिकके लिए अत्यन्त आवश्यक है—व्यवहारिक रूप दिया और यह चीजें लौकिक या व्यवहार धर्ममें समाविष्ट हो गई। प्राचीन कालके आदर्श व्यक्ति अपने समयके अच्छे नागरिक कहलाये जा सकते हैं। वे-लौस होते थे, स्वार्थ उन्हें छूता नहीं था, दूसरोंसे लड़ना वे पाप समझते थे। दूसरोंकी सेवा करना, पड़ोसियोंकी सहायता व अभ्यागतों, प्रवासियों व अतिथियोंका उचित आदर करना, उन्हें भोजन देना आदि पुण्य समझा जाता था। ये चीजें उनके नित्य तथा नैमित्तिक कार्योंमें शुमार (परिगणित) की जाती थीं। ऐसे ही शुद्ध व्यक्ति राज्य-शासनके जिम्मेदार होते थे। सारांश यह कि राज्य अपने सामने उच्च आदर्श रखता था और इसीलिए वह राष्ट्र, समाज और देशकी हर प्रकारकी उन्नतिका जिम्मेदार समझा जाता था। Proj Herold Laski का बयान है कि "प्रत्येक राज्यशासन उनके नागरिकोंके चरित्रका आईना है। उसके अन्तर्गत व्यक्तियों तथा समाजके नैतिक चरित्रका प्रतिबिम्ब उसमें दिखाई देता है।" यदि इस तत्त्वको जैन साहित्यमें कथित पुराणों और कथाओं पर देखें तो उपरोक्त बातोंकी सत्यता अनायास ही सिद्ध हो जाती है। वास्तवमें आदर्श राजनीतिज्ञों द्वारा ही सुशासन संचालित होता है। यह उत्तम नरपुंगव—जिनके हृदयोंपर अपने अनुयायियोंकी चोट होती है—वातावरणको शुद्ध करनेके लिए, फलप्राप्तिकी आशा न रखते हुए, राज्यशासन या धर्मशासनको चलाते हैं। मानवप्राणी जिस समाज या राष्ट्रमें रहता है उसका जीवन उसी राष्ट्रकी उन्नति या अवनतिपर निर्भर है। इसलिए राजनीतिज्ञ एवम् धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रचारक जनसाधारणके कल्याणकी भावनाको लक्ष्यमें रखते हुए बड़ी योग्यतासे शासनका रथ हाँकनेमें व्यस्त रहते हैं। 'क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतुबलवान् धार्मिको भूमिपालः' आदि पाठ इसी बातको ध्वनित करते हैं। व्यावहारिक जीवनकी कामयाबी ही उनका परमोच्च ध्येय रहता है। शायद इसी कारण ही व्यवहारधर्मको आत्मधर्म या पारलौकिक धर्मकी सिद्धि कहा गया है। इसकी सिद्धिके बगैर हम कुछ नहीं कर सकते। इस आदर्शपर ही उनकी नई दुनियाकी बुनियाद खड़ी हो सकती है। परमार्थका बीज यहीं बोया जा सकता है तथा कोई भी नागरिक त्याग, सेवा, दया, कर्तव्य आदिके नैतिक तत्त्वों द्वारा ही अपने जीवनमें स्वर्गके सुखोंका अनुभव करके विश्वकी शान्तिमें सहायक सिद्ध हो सकता है।

किन्तु आजकल अनेक देशोंके राज्यशासनने जिस वातावरणको पैदा किया है, उससे नागरिकोंको न तो उन्नति करने का मौका ही मिलता है और न विश्वकल्याण तथा शान्ति का स्वप्न ही सत्यसृष्टिमें परिणत किया जा सकता है। इस मशीनोंके युगमें इस औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रतियोगिताके दौरमें खुदगरजीको विशेष महत्त्व दिया गया है। स्वार्थभावनाएँ प्रदीप्त होती जा रही हैं तथा दूसरों के व्यक्तित्वको मिटानेपर राष्ट्र तुले हुये नफरत की जहरीली भावना अधोगतिकी तरफ उन्हें ले जा रही है, शक्ति और स्वार्थका बोलबाला है और तुर्रा यह है कि प्रत्येक राष्ट्र शान्ति-स्थापनकी दुहाई दे रहा है। बेचारी जनता न तो अपने उद्धारका कोई ज्ञान रखती है और न इस मार्ग पर अग्रसर ही हो सकती है। इन राजनीतिज्ञों की कूटनीतिने ही सारे विश्वमें असन्तोष की भावना पैदा कर दी है। क्या ही अच्छा हो कि ये लोग तनिक विचारसे काम लें और सच्ची मानवता का सबूत दें :—

"कथनी मीठी खाँड सी करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करें तो विष से अमृत होय॥"

इसी तरह जो सुख-शान्तिकी स्थापनामें अनैतिक व अप्राकृतिक साधनों के अवलंबन द्वारा चिरस्थायी यश प्राप्त करना चाहते हैं, मानों वह आकाशसे फूल तोड़ कर लाने के सदृश ही हास्यास्पद विचार रखते हैं। विष से अमृतफल की आशा नहीं की जा सकती—बबूल को बोकर आम नहीं खाये जा सकते, बालूसे तेल नहीं निकाला जा सकता, जलको मथकर नवनीत नहीं निकाला जा सकता। इसी तरह हिंसात्मक उपायों द्वारा शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। जब हमारी नीयत ही बुरी हो तो अच्छे फलोंकी आशा रखना ही व्यर्थ है। आल्डस हक्सलेके प्रसिद्ध, मान्य ग्रन्थ

Ends and means "साध्य और साधन" में इन्हीं समस्याओं पर प्रकाश डाला है। साध्य और साधनकी व्याख्या करते हुये आपने आदर्श समाज, अनासक्त मानव, और अहिंसा आदि विषयोंको जोरदार शब्दों में प्रतिपादित किया है। वे फर्माते हैं कि किसी तरह भी बुरे उपायों या साधनोंद्वारा उत्तम साध्य या ध्येयकी प्राप्ति नहीं हो सकती। "यदि हमारा ध्येय तथा आदर्श शुद्ध है तो ऊँचे आदर्श तक हमारी रसाई (पहुंच) सिर्फ पवित्र तथा शुद्धसाधनों द्वारा ही हो सकती है"। किन्तु खेद तो इस बातका है कि इस समय सारे संसारपर स्वार्थ-साधनका भूत सवार है, वह इसके परिणाम-स्वरूप वासनाओंका गुलाम बन गया है! ऐसी परिस्थितिमें मानव या राष्ट्रको विश्वकल्याणके पवित्र आदर्श में सहायक खयाल करना गलत है। जैन धर्मकी भी यही मान्यता है। वह कहता है कि अहिंसा द्वारा ही जगतमें शान्ति प्रस्थापित की जा सकती है। आत्मोद्धारकी कुंजी भी यही है। इसी मार्गका अनुसरण करके स्वाभाविक तथा असीम सुखकी प्राप्ति हो सकती है। अहिंसा, सत्य, ईश्वर, धर्म, शान्ति, सुख, संतोष आदि एक ही अर्थके पर्यायवाची शब्द हैं। इन्हींकी उपासना, इन्हींका सहारा, व इन्हींका सम्पूर्ण ज्ञान ही हमारा उच्चादर्श है तथा नैतिक, व्यावहारिक, स्वाभाविक या धार्मिक कर्तव्य भी यही है। इसके सामने स्वार्थ-साधु, विषय-लोलुप, वासनाओंका पुजारी घुटने टेक देता है। इसके लिए सच्चे नागरिक, दार्शनिक या धार्मिक पुरुषको मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं, कष्ट सहन करने पड़ते हैं। यही नहीं, बल्कि आत्मोत्सर्ग द्वारा विरोधियोंके हृदय पर विजय प्राप्त करनी होती है।

जैनशास्त्रोंमें परिषह-सहन तथा उपसर्ग जीतनेका बड़ा मौलिक तथा रोचक वर्णन किया गया है। विरोधियोंको कष्ट न देकर स्वयं कष्ट सहना खेल नहीं है, इस तत्त्वमें मानस-शास्त्र (Psychology) के गूढ़ तत्त्वोंका अंतर्भाव है। दूसरोंके लिए कष्ट सहना जीवनका बड़ा ध्येय है। जब बीज स्वयंको नष्ट कर डालता है तब ही तो नयन-मनोहर वृक्ष उसमेंसे जन्म लेता है। हिंसा तथा असत्य या राग भावोंद्वारा वैर व मत्सर बढ़ता है। अशान्तिकी लहरें जीवन-सागरमें उठती हैं, द्वेषके बादल सिरपर मंडराने लगते हैं तथा सर्व-नाशका पहाड़ सिर पर टूट पड़ता है, किन्तु परिषह-सहन वाले हृदयको भी नतमस्तक बना देता है। सारा संसार ऐसे आदर्श व्यक्तिको सर आँखों पर बिठा लेता है। विरोधियोंके हृदयको शुद्ध व पवित्र कर देता है। वह पश्चात्तापकी अग्निमें बुरे भावोंको जला देता है और पवित्र अन्तःकरणसे धीर, वीर तथा अपने उपकारीका अनुयायी बन जाता है। अब वह अपने आपमें तबदीली महसूस करने लगता है और समझता है कि—

"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत-वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥"
– (अमितगति)

यही धर्मका व्यावहारिक तथा सार्वभौम रूप है।

कुछ आधुनिक पाश्चिमात्य विद्वानोंका मत है कि भारतवर्ष जैसे सुसम्पन्न कृषि-प्रधान देशमें प्राचीन कालमें रोटीका सवाल ऐसा उग्र नहीं था, इसीसे अध्यात्मवाद बेकार लोगोंके दिमागकी पैदावार है। "An idle brain is satan's workshop" इसी उक्तिके अनुसार ही फुरसतके समयमें Mysticism या Spirituality का जन्म हिन्द में हुआ। किन्तु एक दूसरी विचारधारा यह भी बताती है कि यह जरूरी नहीं कि फुरसतके समयको सबलोग बरबाद ही कर देते हैं, बल्कि ललित कलाओं, ज्ञानके विविध अंगों तथा संस्कृति व सभ्यता की उन्नतिको चरम सीमापर ऐसे ही समयमें पहुंचाया जाता है। भारतवर्षके प्रकाण्ड-पण्डितोंने जो सेवाएँ साहित्य, विज्ञान, संस्कृति और कलाके सिलसिलेमें की हैं वे भुलाई नहीं जासकतीं। विश्वके इतिहासमें यह अमर गाथाएँ अंकित रहेंगी। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Max Muller) जैसे शास्त्रियोंका मत है कि इस भारतवर्षने सदियों पहिले, जब यूरोप अज्ञानकी घोर निद्रामें पड़ा हुआ था, ऐसी सभ्यताको जन्म दिया जो रहती दुनिया तक यादगार रहेगी और इस देशको यदि विश्व-गुरुके पदसे विभाषित किया जाय तो योग्य है, आदि। आर. सी. दत्त (R. C. Dutt), अलबेरूनी Albe-run5) ब्राउन (Brown), काँउट जरना Count Jerna) आदि कतिपय विद्वानोंने अपने लेखों द्वारा उपरोक्त मतका ही समर्थन किया है। कहा जाता है कि आध्यात्मिक विचारवादका बीज सबसे पहिले भारतवर्ष ही में

बोया गया। यहाँकी भौगोलिक, प्राकृतिक तथा मानसिक परिस्थिति इसीके अनुकूल थी। इस विचारधाराके लिए यहाँका जलवायु बहुत अच्छा सिद्ध हुआ। इस वृक्षको फलते फूलते देखकर दूसरे देशोंमें भी यह बीज बोया गया, किन्तु दूसरी जगह विशुद्ध वातावरणके न मिलनेसे विशाल-काय वृक्ष नहीं होसका। मानसशास्त्रियों Psychologists तथा समाजविज्ञान (Social Science के पण्डितोंका कथन है कि बाह्य और अभ्यंतर परिस्थितियोंका प्रभाव विचार-निर्माणपर पड़ता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक विचारधारा यहीं पर बढ़ी, उसका विकास यहींके शान्त वातावरणमें हुआ। न तो यहाँ पहिले रोटीका सवाल ही था और न दूसरे अड़ंगे। फलतः इस धन-धान्यसे परिपूर्ण भूमिपर बड़े बड़े आचार्योंने साहित्य और ज्ञानकी ऐसी उपासना की कि अध्यात्मकी देवी प्रसन्न होगई। यहाँके नयनाभिराम स्वर्गोपम प्राकृतिक सौन्दर्य, शीतल तथा शान्त वातावरण, मनोहर दृश्यों और ज्ञान-पिपासा आदिने अध्यात्मवादकी गुत्थियोंको सुलझा दिया। अध्यात्मवाद भारतवर्षकी सारे विश्वको अनुपम देन है। इसकी कदर वही कर सकता है जिसने यह मज़ा चखा है। सारे विश्वकी बीमारीका यही इलाज है। ग़ालिब साहब भी यही फरमाते हैं:—

"इश्क़से तबियतने ज़ीस्तका मज़ा पाया।
दर्दकी दवा पाई दर्द बे-दवा पाया।"

जैनशास्त्रोंका निचोड़ भी यही अध्यात्मवाद है, किन्तु खयाल रहे कि यह निष्क्रिय नहीं है इसके लिए पुरुषार्थको अपनाना पड़ता है।

"अमलसे ज़िन्दगी बनती है, जन्नत भी, जहन्नुम भी"
पारलौकिक जगतका आधार या निश्चय धर्मका आधार व्यवहार धर्म है। व्यवहार धर्म पहिली सीढ़ी है। इसी रास्ते गुजरते हुए, ऊपरकी मंजिलपर पहुंचा जा सकता है। अध्यात्मवाद बेकारीका नतीजा नहीं, बल्कि पुरुषार्थका नतीजा है, मनुष्यमात्रकी चरमोन्नत उन्नति है।

वास्तवमें रूढियोंके प्राबल्यने धर्मके असली रूपको छिपा दिया है। अबतो केवल आत्मारहित अस्थिपंजर या कलेवरका भीषण दृश्य ही दिखाई देता है। इसी रूपको देख कर पाश्चिमात्य लोग धर्मको अव्यावहारिक समझने लगे हैं। धर्मने तो यही प्रतिपादित किया है कि दुष्टके साथ हमें नीच नहीं होना चाहिए किन्तु क्रोधको शान्तिसे, वैर भावको प्रेम तथा दयाभावसे और दुष्टको साधुतासे जीतना ही श्रेष्ठ है। धर्मकी रूढियों और बाह्य लक्षणोंको समयानुकूल बदलना पाप नहीं है। धर्मके नामपर आडम्बर, अज्ञान, अत्याचारका प्रदर्शन करना पाप है। धर्मके मूलभूत सिद्धान्त कभी नहीं बदलते। चोरी और झूठ सदा पाप ही समझे जावेंगे। दुनियाके कोने २ से इसके विरुद्ध ही आवाज उठेगी। लौकिक स्वार्थ-साधन या आत्माका विकारी रूप ही नरकका द्वार कहलाया जासकता है। मानवताका पुजारी जब पतित हो जाता है तो वह घृणित समझा जाता है। इसीको अधमाचरणका फल कहा जायेगा। अकर्मण्यता और वैराग्यमें बहुत बड़ा अन्तर है। उत्तरदायित्वसे घबराना धर्म नहीं, लंघन और फाकाकशीको तपस्या नहीं कहा गया है किन्तु लौकिक धर्मको साधन करता हुआ पुरुषार्थी जीव अपने विशेष और स्वाभाविक आदर्श मुक्तिकी तरफ बढ़ता है। वह जानता है कि "सर्वं परवशं दुखं सर्वं आत्मवशं सुखम्"। धर्मको भूल जानेसे मनुष्य अपनी मनुष्यता को खो देता है तथा बदनामी का जीवन गुज़ारकर कालके गालमें चला जाता है। इसीलिये तो किसीने कहा है कि जगतमें आकर हमें मानवताका सबूत देना चाहिए तथा पथ-भ्रष्ट न होना चाहिए। कर्तव्यका ही दूसरा नाम धर्म है -

"जो तू आयो जगतमें जगत सराहे तोय।
ऐसी करनी कर चलो जो पाछे हँसी न होय"॥

धर्म दो प्रकार का है। एकको मोक्ष धर्म या निश्चय धर्म कहते हैं तो दूसरेको व्यवहारधर्म या श्रावकधर्म कह सकते हैं। पहले धर्मका आदर्श विशिष्ट ध्येय या स्वाभाविक पदकी प्राप्ति है। दूसरेका आदर्श यह है कि हमें संसारमें क्या करना चाहिए व हम क्या कर सकते हैं। समाजमें हमारा स्थान क्या है? व हमें हमारे उत्तरदायित्व को किस तरह निभाना चाहिए। धर्मके दस चिन्ह बताये गये हैं — क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ये ही चीज़ें मानवताकी द्योतक हैं। इनसे जब यह मानव च्युत होजाता है या अपने स्वभावको भूल जाता है तो वह न सिर्फ़ अपनी अधोगतिके अभिमुख होता है बल्कि सामाजिक जीवनमें भी बाधा डालता है। ए० ई० मैण्डर A. E.

Mander साहब अपनी पुस्तक "Psychology for Every Man Woman" में क्रोधकी प्रवृत्तिका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि—"जब मनुष्य पर क्रोधका भूत सवार हो जाता है तो उसका चेहरा सुर्ख होजाता है, मुट्ठियाँ बंध जाती हैं; विचारशक्ति उसमें बाकी नहीं रहती। आँखोंसे चिनगारियां निकलती हैं और वह परिणामको सोचने के बदले मरने-मिटने पर तुल जाता है। यह उसकी अस्वाभाविक दशा है, उसका विकृत रूप है। उसकी स्नायविक ग्रन्थियोंमें ऐठन पैदा होजाती है। हृदयसे शकरकी मात्रा खूनकी नालीमें दौड़ जाती है और इस कारण हम किसी भयंकर बातके करनेपर उतर आते हैं। फलतः पाचन-क्रिया बन्द हो जाती है। ऐसे समयमें शरीर-विज्ञानके मतानुसार एड्रेनलीन (Adrenalin) की अधिक मात्रा इतनी प्रतिक्रिया प्रारंभ करके शरीरको अपनी असली हालतमें लानेके लिए सहायक होती है। अतएव इन विद्वानों के मतानुसार मनुष्यको ऐसे अस्वाभाविक तथा अप्राकृतिक दशामें या तो किसी उद्यानमें निकल जाना चाहिये या कोई शारीरिक काममें अपने आपको व्यस्त रखना चाहिए, इसी तरह उस समय भोजन करना शरीरको हानि पहुँचाना है।" आदि

अतः इस पाश्चिमात्य मानसशास्त्रीने भी स्पष्ट रूपसे बतला दिया है कि क्रोध मनुष्य मात्रका स्वभाव नहीं है और इससे भयंकर हानि होती है, अतएव यह त्याज्य है। इसीलिए तो क्षमाको आत्माका गुण कहा गया है। इसके बराबर कोई दूसरा तप नहीं है। और न दयाहीन धर्मको धर्मके नामसे जाना जा सकता है, किन्तु उसका व्यवहार-धर्म की दृष्टिसे यह अर्थ कदापि नहीं है कि यदि न्यायका खून हो रहा हो; समाजकी मर्यादाका अतिक्रम हो रहा हो, लौकिक विधियोंका जबरन उल्लंघन किया जा रहा हो या खुदका फूँक फूँक कर कदम रखनेके अनन्तर भी सर्वनाश हो रहा हो तो दब्बूपनका सबूत दो या आततायियोंके आगे सर झुका दो। बल्कि ऐसे समयमें आततायियोंको शिक्षा देना, दण्ड देना या दमन-नीतिसे काम लेना भी प्राय अहिंसा तथा न्यायमार्गमें दाखिल है। यहाँ नियतका सवाल है। डाक्टर रोगियोंका इलाज करनेके लिये शस्त्र-क्रिया करता है किन्तु उसे हम किसी तरह निष्ठुर या हिंसक नहीं कह सकते। क्षमाकी उपासना बाकी सौ चिन्होंकी उपासना है। इसीका नाम भेदविज्ञान है। इसी भेदविज्ञानमय परिणतिको शास्त्र की परिभाषामें अन्तरात्मा कहा जाता है। इस पदको पा लेनेके बाद कर्तव्याकर्तव्यका प्रतिभास होता है। सांसारिक सुखों और दुखोंको वह स्थितप्रज्ञ उदासीन भावसे भुगतता है, विश्वकल्याणमें सहायक होता है। पुरुषार्थी होनेके कारण समाज या राष्ट्रकी उन्नतिमें उसका हाथ होता है। नैसर्गिक नियमों, सामाजिक, नैतिक अथवा धार्मिक बन्धनों-का उल्लंघन करने वाला अपने कियेकी सज़ा पाता है। धार्मिक परिभाषामें इसे पाप या धर्माचरणके फलके नामसे याद करते हैं, और पाश्चिमात्य लोग प्रकृतिके खिलाफ़ बग़ावत करनेका अवश्यंभावि परिणाम कहते हैं। चाहे जो भी कह लें, दुष्कर्मोंका फल भुगतना प्राणिमात्रके लिए अनिवार्य है। व्यभिचारी या हिंसक राज्यद्वारा या समाजसे अपने कियेका दण्ड पाता है। यदि किसी देशमें यह चीज़ दण्डनीय समझी नहीं गई तो भी प्रकृति उसे बीमारीके रूपमें अवश्य दण्ड देती है। अतएव मनुष्यमात्र अपनी करतूतोंका जिम्मेदार है। उसकी उन्नति या अवनति उसीके हाथ है। जब प्राणी अवनतिके अभिमुख होता है तो उसे दर्शनशास्त्री 'बहिरात्मा' के नामसे पुकारते हैं, यह स्थिति सर्वनाशका कारण है। अन्तरात्माकी दशामें मनुष्य अपने जीवनको स्वर्गीय वातावरणमें बदल सकता है, किन्तु जिसके सामने विशेष आदर्श है वह इन तमाम बातोंसे परे अतुलनीय, असीम व अखण्ड सुखके लिए आत्मशुद्धिकी ओर अग्रसर होता है। वही पूर्ण शुद्ध व्यक्ति परमात्मा कहलवानेका हक रखता है। यही मानवताकी चरम सीमा है, यही उपादेय है। वही आत्मसाक्षात्कार है, सिद्धावस्था है तथा मुक्तिका कमनीयरूप है। यह अनुभवगम्य है, अन्तरात्मा पदमें इसकी परम आनन्ददायिनी झलक दिखाई दे सकती है। तर्कके घोड़े यहाँ पहुँचने नहीं पाते।—

"रहिमन बात अगमकी कहन सुननकी नाहिं।
जो जानत ते कहत नहीं कहत ते जानत नाहिं॥"

अतएव विश्व कल्याणके हेतु जगतके प्राणियोंके लिए

भगवान महावीरने जो सन्देश दिया है वह बुद्धिकी कसौटी पर अच्छी तरह उतरता है। परन्तु खेद तो इस बातका है कि आज कलकी हवा पूर्वाचार्योंके कथनको, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, कपोल-कल्पित बतलाती है। इनको कोई अच्छी चीज समूचे साहित्यमें नज़र नहीं आती। किन्तु यही चीज यदि हँक्सले रसेल, मैक्समूलर, लास्की आदि पाश्चिमात्य विद्वानोंकी लेखनी द्वारा प्रतिपादित हो जाये तो हम फौरन उसपर ईमान लाते हैं। इसका अर्थ है हमने अपनी बुद्धि या अक्लको इन जैसे अनेक विद्वानोंके हाथ बेच दिया है। हम बुद्धिके गुलाम हैं। दूसरोंके नीबूमें हमें आम का स्वाद आता है, किन्तु अपनी चीज खट्टी मालूम होती है। यह हमारी बुद्धिकी बलिहारी है, हमारा अधःपात है। हाँ, एक बात इससे यह निकलती है कि दुनिया आधुनिक ढंग और मौजूदा प्रणालीके आइनेमें अपना तथा धर्मका रूप देखना चाहती है। ज्ञानकी प्यास इसी शर्बतसे बुझाना चाहती है। इसलिये समाजके प्रकाण्ड पण्डितोंको चाहिए कि वह जैनसाहित्यको आधुनिक दृष्टिकोणसे सुसम्पादित करके उसका प्रचार करें। कई संस्थाएँ आजकल सुलेखकों तथा विद्वानोंको जन्म देनेका दावा करती हैं किन्तु आम-तौरपर लकीरके फकीर ही इनके द्वारा पैदा हो रहे हैं, अतएव समयका साथ देना जरूरी है। ग्रन्थमालाओंके संचालकोंको चाहिए कि वे आजकलकी जरूरतोंको समझें। केवल भाषांतरसे काम नहीं चलेगा। खोज तथा अन्वेषण करके गवेषणापूर्ण लेखमालाएँ प्रारम्भ कर देनी चाहिएँ। तभी साहित्यकी सच्ची उपासना होगी। क्या हम आशा कर सकते हैं कि समाजके विद्वान—साहित्यदेवताके चरणोंमें सुचारु-सुमनोंकी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करेंगे ?

वनस्पति घी

उस वनस्पतिसे किसीको झगड़ा नहीं हो सकता जिसका अर्थ फल-फूल और पत्तियां हैं, किंतु जब यह नाम अन्य वस्तुको दिया जाय तो उसे विष समझना चाहिये। वनस्पतिको कभी घीका नाम नहीं दिया जा सकता। यदि उससे वास्तवमें घी बन सकता है तो यह घोषित करनेके लिये मैं प्रथम आदमी हूंगा कि अब असली घीकी कोई आवश्यकता नहीं है। घी या मक्खन पशुओंके दूधसे बनता है वनस्पतिको घी और मक्खनके नामसे बेचना भारतीय जनताको धोखा देना है, यह पूर्ण रूपसे बेइमानी है।

व्यापारियोंका यह सुस्पष्ट कर्त्तव्य है कि वे इस प्रकारके किसी उत्पादनको घीका नाम देकर न बेचें। किसी भी सरकारको इस प्रकारके मालकी बिक्री जारी नहीं रहने देना चाहिये। आज करोड़ों भारतीयोंको न तो दूध मिल रहा है और न घी, मक्खन या मट्ठा ही। अतः अगर यहांकी मृत्यु संख्या इतनी बढ़ गई है एवं यहांके निवासी उत्साहहीन हैं तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। मनुष्य बिना दूध अथवा दूधके बने पदार्थसे जीवन नहीं धारण कर सकता। इस प्रकारसे धोका देनेवाला भारतका शत्रु है।

—महात्मा गांधी

९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध क्यों ?

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

'षट्खण्डागम' के उल्लिखित ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पद है या नहीं? इस विषयको लेकर काफी अरसेसे चर्चा चल रही है। कुछ विद्वान् उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं और उसके समर्थनमें कहते हैं कि प्रथम तो वहाँ द्रव्यका प्रकरण है, अत एव वहाँ द्रव्य-स्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका ही निरूपण है। दूसरे, षट्खण्डागममें और कहीं आगे-पीछे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका कथन उपलब्ध नहीं होता। तीसरे, वहाँ सूत्रमें 'पर्याप्त' शब्दका प्रयोग है जो द्रव्यस्त्रीका ही बोधक है। चौथे, वीरसेनस्वामीकी टीका उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन नहीं करती, अन्यथा टीकामें उक्त पदका उल्लेख अवश्य होता। पाँचवें, यदि प्रस्तुत सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका प्ररूपक—विधायक न माना जाय और चूंकि षट्खण्डागममें ऐसा और कोई स्वतंत्र सूत्र है नहीं जो द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधान करता हो, तो दिगम्बर परम्पराके इस प्राचीनतम सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागमसे द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थान सिद्ध नहीं हो सकेंगे और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे हैं उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा। अत: प्रस्तुत ९३ वें सूत्रको 'संजद' पदसे रहित मानना चाहिये और उसे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधायक समझना चाहिये।

उक्त दलीलोंपर विचार—

१—षट्खण्डागमके इस प्रकरणको जब हम गौरसे देखते हैं तो वह द्रव्यका प्रकरण प्रतीत नहीं होता। मूलग्रन्थ और उसकी टीकामें ऐसा कोई उल्लेख अथवा संकेत उपलब्ध नहीं है जो वहाँ द्रव्यका प्रकरण सूचित करता हो। विद्वद्वर्य पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने हालमें 'जैनबोधक' वर्ष ६२, अंक १७ और १९ में अपने दो लेखों द्वारा द्रव्यका प्रकरण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने मनुष्यगतिसम्बन्धी उन पाँचों ही—८९, ९०, ९१, ९२ ९३—सूत्रोंको द्रव्य-प्ररूपक बतलाया है। परन्तु हमें अब भी ऐसा जरा भी कोई स्रोत नहीं मिलता, जिससे उसे 'द्रव्यका ही प्रकरण' समझा जा सके। हम उन पाँचों सूत्रोंको उत्थानिका-वाक्य सहित नीचे देते हैं:—

"मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजद-सम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥८९॥

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९०॥

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह—

एवं मणुस्सपज्जत्ता ॥९१॥

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

तत्रैव शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

—धवला मु० पृ० ३२९-३३२।

ऊपर उद्धृत हुए मूलसूत्रों और उनके उत्थानिका-वाक्योंसे यह जाना जाता है कि पहला (८९) और दूसरा (९०) ये दो सूत्र तो सामान्यत: मनुष्यगति—पर्याप्तकादिक भेदसे रहित (अविशेषरूपसे) सामान्य मनुष्य—के प्रतिपादक हैं। और प्रधानताको लिये हुए वर्णन करते हैं। आचार्य वीरसेनस्वामी भी यही स्वीकार करते हैं और इसीलिये वे 'मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह' (८९) तथा 'तत्र (मनुष्यगतौ) शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह' (९०) इसप्रकार सामान्यतया ही इन सूत्रोंके मनुष्यगतिसम्बन्धी

उत्थानिकावाक्य रचते हैं। इसके अतिरिक्त, अगले सूत्रोंके उत्थानिकावाक्योंमें वे 'मनुष्यविशेष' पदका प्रयोग करते हैं जो खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और जिससे विदित हो जाता है कि पहले दो सूत्र तो सामान्य-मनुष्यके प्ररूपक हैं और उनसे अगले तीनों सूत्र मनुष्यविशेषके प्ररूपक हैं। अतएव ये दो (८९, ९०) सूत्र सामान्यतया मनुष्य-गतिके ही प्रतिपादक हैं, यह निर्विवाद है और यह कहनेकी जरूरत नहीं कि सामान्य कथन भी इष्ट विशेषमें निहित होता है—सामान्यके सभी विशेषोंमें या जिस किसी विशेषमें नहीं। तात्पर्य यह कि उक्त सूत्रोंका निरूपण संभवताकी प्रधानताको लेकर है।

तीसरा (९१), चौथा (९२), और पांचवाँ (९३) ये तीन सूत्र अवश्य मनुष्यविशेषके निरूपक हैं—मनुष्योंके चार भेदों (सामान्य मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य) मेंसे दो भेदों—मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनी—के निरूपक हैं। और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वीरसेन स्वामीके 'मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थ-माह', 'मानुषेषु निरूपणार्थमाह' और 'तत्रैव (मानुषीष्वेव) शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह' इन उत्थानिकावाक्योंसे भी प्रकट है। पर, द्रव्य और भावका भेद वहाँ भी नहीं है—द्रव्य और भावका भेद किये बिना ही मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यणीका निरूपण है। यदि उक्त सूत्रों या उत्थानिका वाक्योंमें 'द्रव्यपर्याप्तमनुष्य' और 'द्रव्यमनुष्यणी' जैसा पद प्रयोग होता अथवा टीकामें ही वैसा कुछ कथन होता, तो निश्चय ही 'द्रव्यप्रकरण' स्वीकार कर लिया जाता। परन्तु हम देखते हैं कि वहां वैसा कुछ नहीं है। अतः यह मानना होगा कि उक्त सूत्रोंमें द्रव्यप्रकरण इष्ट नहीं है और इस लिये ९३ वें सूत्रमें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानों-का वहाँ विधान नहीं है, बल्कि सामान्यतः निरूपण है और पारिशेष्यन्यायसे भावापेक्षया निरूपण वहाँ सूत्रकार और टीकाकार दोनोंको इष्ट है और इस लिये भाव लिङ्गको लेकर मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंका विवेचन समझना चाहिये। अतएव ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका प्रयोग न तो विरुद्ध है और न अनुचित है। सूत्रकार और टीकाकारकी प्ररूपणशैली उसके अस्तित्वको स्वीकार करती है।

यहां हम यह आवश्यक समझते हैं कि पं० मक्खन लालजी शास्त्रीने जो यहाँ द्रव्यप्रकरण होनेपर जोर दिया है और उसके न माननेमें जो कुछ आक्षेप एवं आपत्तियां प्रस्तुत की हैं उनपर भी विचार कर लिया जाय। अतः नीचे 'आक्षेप-परिहार' उपशीर्षकके साथ विचार किया जाता है।

आक्षेप-परिहार—

आक्षेप—यदि ९२ वां सूत्र भावस्त्रीका विधायक माना जाय—द्रव्यस्त्रीका नहीं, तो पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होना अवश्यक हैं क्योंकि भावस्त्री माननेपर द्रव्यमनुष्य मानना होगा। और द्रव्य मनुष्यके चौथा गुणस्थान भी अपर्याप्त अवस्थामें हो सकता है। परन्तु इस सूत्रमें चौथा गुणस्थान नहीं बताया है केवल दो ही (पहला और दूसरा) गुणस्थान बताये गये हैं। इससे बहुत स्पष्ट हो जाता है कि यह ९२ वां सूत्र द्रव्यस्त्रीका ही निरूपक है?

परिहार—पण्डितजीकी मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्यके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव मर कर भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्य होसकता है और इस लिये ९३ वें सूत्रकी तरह ९२ वें सूत्रको भावस्त्रीका निरूपण करनेवाला माननेपर सूत्रमें पहला, दूसरा और चौथा इन तीन गुणस्थानोंको बताना चाहिये था, केवल पहले व दूसरे इन दो ही गुणस्थानोंको नहीं? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव, जो द्रव्य और भाव दोनोंसे मनुष्य होगा उसमें पैदा होता है—भावसे स्त्री और द्रव्यसे मनुष्यमें नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा नहीं होता। जैसा पण्डितजीने समझा है, अधिकांश लोग भी यही समझते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्यस्त्रियों—देव, तिर्यंच और मनुष्यद्रव्यस्त्रियोंमें ही पैदा नहीं होता, भावस्त्रियोंमें तो पैदा हो सकता है। लेकिन यह बात नहीं है, वह न द्रव्यस्त्रियोंमें पैदा होता है और न भावस्त्रियोंमें। सम्यग्दृष्टिको समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा न होनेका ही प्रतिपादन शास्त्रोंमें है। स्वामी समन्त-भद्रने 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकनपुंसकस्त्रीत्वानि' रत्न

करण्डश्रावकाचारके इस श्लोकमें 'स्त्रीत्व' सामान्य (जाति) पदका प्रयोग किया है जिसके द्वारा उन्होंने यावत् स्त्रियों (स्त्रीत्वावच्छिन्न द्रव्य और भाव स्त्रियों) में पैदा न होनेका स्पष्ट उल्लेख किया है। पण्डितप्रवर दौलतरामजीने **प्रथम नरक बिन षट्भू ज्योतिष वान भवन सब नारी'** इस पद्यमें 'सब'[1] शब्द दिया है जो समस्त प्रकारकी स्त्रियोंका बोधक है। यह पद्य भी जिस पंचसंग्रहादिगत प्राचीन गाथाका भावानुवाद है उस गाथामें भी 'सव्व-इत्थीसु' पाठ दिया हुआ है। इसके अलावा, स्वामी वीरसेनने षट्खण्डागमके सूत्र ८८ की टीकामें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्तिको लेकर एक महत्वपूर्ण शंका और समाधान प्रस्तुत किया है जो खास ध्यान देने योग्य है और जो निम्न प्रकार है:—

"बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यते इति चेत्, न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात्। **यत्र क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यते इति गृह्यताम्** "

शंका—आयुका जिसने बन्ध कर लिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जिस प्रकार नारकियोंमें नपुंसकवेदमें उत्पन्न होता है उसी प्रकार यहाँ तिर्यंचोंमें स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि नारकियोंमें वही एक नपुंसकवेद होता है, अन्य नहीं, अतएव अगत्या उसीमें पैदा होना पड़ता है। यदि वहां नपुंसकवेदसे विशिष्ट—ऊँचा (बढ़कर) कोई दूसरा वेद होता तो उसीमें वह पैदा होता, लेकिन वहाँ नपुंसक वेदको छोड़कर अन्य कोई विशिष्ट वेद नहीं है। अतएव विवश उसीमें उत्पन्न होता है। परन्तु तिर्यंचोंमें तो स्त्रीवेदसे विशिष्ट—ऊँचा दूसरा वेद पुरुषवेद है, अतएव बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है। यह आम नियम है कि **सम्यग्दृष्टि जहां कहीं (जिस किसी गतिमें) पैदा होता है वहां विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदादिकोंमें ही पैदा होता है—उससे जघन्यमें नहीं।**

वीरसेनस्वामीके इस महत्वपूर्ण समाधानसे प्रकट है कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्य और भाव दोनोंसे विशिष्ट पुरुषवेदमें ही उत्पन्न होगा—भावसे स्त्रीवेद और द्रव्यसे पुरुषवेदमें नहीं, क्योंकि जो द्रव्य और भाव दोनोंसे पुरुषवेदी है उसकी अपेक्षा जो भावसे स्त्रीवेदी और द्रव्यसे पुरुषवेदी है वह हीन एवं जघन्य है—विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला नहीं है। द्रव्य और भाव दोनोंसे जो पुरुषवेदी है वही वहाँ विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला है। अतएव सम्यग्दृष्टि भावस्त्री विशिष्ट द्रव्य मनुष्य नहीं हो सकता है और इसलिये उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानकी कदापि संभावना नहीं है। यही कारण है कि कर्मसिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थोंमें अपर्याप्त अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिमें चतुर्थगुणस्थानमें स्त्रीवेदका उदय नहीं बतलाया गया है। सासादन गुणस्थानमें ही उसकी व्युच्छित्ति बतला दी गई हैं, (देखो, कर्मकाण्ड गा० ३१२-३१३-३१९)। तात्पर्य यह कि अपर्याप्त अवस्थामें द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीमात्रके भी चौथा गुणस्थान नहीं होता है। इसीसे सूत्रकारने द्रव्य और भाव दोनों तरहकी मनुष्यनियोंके अपर्याप्त अवस्थामें पहला, दूसरा ये दो ही गुणस्थान बतलाये हैं उनमें चौथा गुणस्थान बतलाना सिद्धान्तविरुद्ध होनेके कारण उन्हें इष्ट नहीं था। अतः ९२ वें सूत्रकी वर्तमान-स्थितिमें कोई भी आपत्ति नहीं है। पण्डितजीने अपनी उपर्युक्त मान्यताको जैनबोधकके ६१ वें अंकमें भी दुहराते हुए लिखा है:—"यदि यह ९२ वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो अपर्याप्त अवस्थामें भी तीन गुणस्थान होने चाहियें। क्योंकि भावस्त्री (द्रव्यमनुष्य) के असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है।" परन्तु उपरोक्त विवेचनसे प्रकट है कि पण्डितजीकी यह मान्यता आपत्ति एवं भ्रमपूर्ण है।

---

१ 'पंढ' शब्दका संशोधन ठीक नहीं है। प्रो० प्रतियोंमें 'सब' शब्द ही उपलब्ध होता है। यथा-

छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
बारस मिच्छोवादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो ॥
—पंचसं० १-१९३।

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ॥
—धवला मु० १ ली पु० पृ० २०९।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण सव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥
—गोम्मटसार जीवकाँड गा० १२७।

द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीके भी अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नहीं होता है, यह ऊपर बतला दिया गया है। और गोम्मटसार जीवकाण्डकी निम्न गाथासे भी स्पष्टतः प्रकट है:—

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण- सव्वइत्थीणं।
पुण्णदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे॥
गा० १२७॥

अर्थात् 'द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी व्यन्तर, भवनवासी देव तथा सम्पूर्ण स्त्रियाँ। इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता। भावार्थ—सम्यक्त्व सहित-जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों और समग्र स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता।' आपने 'भावस्त्रीके असंयतसम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है और हो सकता है।' इस अनिश्चित बातको सिद्ध करनेके लिये कोई भी आगम प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। यदि हो, तो बतलाना चाहिये, परन्तु अपर्याप्त अवस्थामें भावस्त्रीके चौथा गुणस्थान बतलानेवाला कोई भी आगम प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है।

आक्षेप—जब ९२ वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका निरूपक है तब उससे आगेका ९३ वां सूत्र भी द्रव्यस्त्रीका निरूपक है। पहला ९२ वाँ सूत्र अपर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, दूसरा ९३ वाँ पर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, इतना ही भेद है। बाकी दोनों सूत्र द्रव्यस्त्रीके विधायक हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि अपर्याप्त अवस्थाका विधायक ९२ वां सूत्र तो द्रव्यस्त्रीका विधायक हो और उससे लगा हुआ ९३ वाँ सूत्र पर्याप्त अवस्थाका भावस्त्रीका मान लिया जाय?

परिहार—ऊपर बताया जा चुका है कि ९२ वाँ सूत्र 'पारिशेष्य' न्यायसे स्त्रीवेदी भावस्त्रीकी अपेक्षासे है और ९३ वां सूत्र भावस्त्रीकी अपेक्षासे है ही। अतएव उक्त आक्षेप पैदा नहीं हो सकता है।

आक्षेप—जैसे ९३ वें सूत्रको भावस्त्रीका विधायक मानकर उसमें 'संजद' पद जोड़ते हो, उसी प्रकार ९२ वें सूत्रमें भी भावस्त्रीका प्रकरण मानकर उसमें भी असंयत (असंजद-ट्ठाणे) यह पद जोड़ना पड़ेगा। बिना उसके जोड़े भावस्त्रीका प्रकरण सिद्ध नहीं हो सकता?

परिहार—यह आक्षेप सर्वथा असंगत है। हम ऊपर कह आये हैं कि सम्यग्दृष्टि भावस्त्रियोंमें भी पैदा नहीं होता, तब वहां सूत्रमें 'असंजद-ट्ठाणे' पदके जोड़ने व होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। स्त्रीवेदकर्मको लेकर वर्णन होनेसे भावस्त्रीका प्रकरण तो सुतरां सिद्ध हो जाता है।

आक्षेप—यदि ८९, ९०, ९१ सूत्रोंको भाववेदी पुरुषके मानोगे तो वैसी अवस्थामें ८९ वें सूत्रमें 'असंजद सम्माइट्ठि-ट्ठाणे' यह पद है उसे हटा देना होगा; क्योंकि भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्री भी हो सकता है उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नहीं बन सकता है। इसी प्रकार ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्ठाणे' पद है उसे भी हटा देना होगा। कारण, भाववेदी पुरुष और द्रव्यस्त्रीके संयत गुणस्थान नहीं हो सकता है। इस लिये यह मानना होगा कि उक्त तीनों सूत्र द्रव्यमनुष्यके ही विधायक हैं, भाव-मनुष्यके नहीं?

परिहार—पण्डितजीने इस आक्षेपद्वारा जो आपत्तियाँ बतलाई हैं वे यदि गम्भीर विचारके साथ प्रस्तुत की गई होतीं तो पण्डितजी उक्त परिणामपर न पहुँचते। मान लीजिये कि ८९ वें सूत्रमें जो 'असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे' पद निहित है वह उसमें नहीं है तो जो भाव और द्रव्य दोनोंसे मनुष्य (पुरुष) है उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान कौनसे सूत्रसे प्रतिपादित होगा? इसीप्रकार मान लीजिये कि ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्ठाणे' पद है वह उसमें नहीं है तो जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे ही पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्थामें १४ गुणस्थानोंका उपपादन कौनसे सूत्रसे करेंगे? अतएव यह मानना होगा कि ८९ वां सूत्र उत्कृष्टतासे जो भाव और द्रव्य दोनोंसे ही मनुष्य (पुरुष) है, उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानका प्रतिपादक है और ९० वाँ सूत्र, जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे पुरुष है अथवा केवल द्रव्यवेदसे पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्था में १४ गुणस्थानोंका प्रतिपादक है। ये दोनों सूत्र विषयकी उत्कृष्ट मर्यादा अथवा प्रधानताके प्रतिपादक हैं, यह नहीं भूलना चाहिये और इस लिये प्रस्तुत सूत्रोंको भावप्रकरणके माननेमें जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं वे ठीक नहीं हैं। सर्वत्र 'इष्टसम्प्रत्यय' न्यायसे

विवेचन एवं प्रतिपादन किया जाता है। साथमें जो विषय-की प्रधानताको लेकर वर्णन हो उसे सब जगह सम्बन्धित नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह कि ८९ वाँ सूत्र भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु भाव और द्रव्य मनुष्यकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार ९० वाँ सूत्र भाववेदी पुरुष और द्रव्यवेदी पुरुष तथा गौणरूपसे केवल द्रव्यवेदी पुरुषकी अपेक्षासे है और चूंकि यह सूत्र पर्याप्त अवस्थाका है इस लिये जिस प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्य और भाव पुरुषों तथा स्त्रियोंके चौथा गुणस्थान संभव है उसी प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्यवेदसे तथा भाववेदसे पुरुष और केवल द्रव्यवेदी पुरुषके १४ गुणस्थान इस सूत्रमें वर्णित किये गये हैं।

इस तरह पण्डितजीने द्रव्यप्रकरण सिद्ध करनेके लिये जो भावप्रकरण-मान्यतामें आपत्तियां उपस्थित की हैं उनका ऊपर सयुक्तिक परिहार हो जाता है। अत: पहली दलील द्रव्य-प्रकरणको नहीं साधती। और इस लिये ९३ वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थानोंका विधायक न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधायक है। अतएव ९३ सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध नहीं है।

ऊपर यह स्पष्ट हो चुका है कि षट्खण्डागमका प्रस्तुत प्रकरण द्रव्य-प्रकरण नहीं है, भाव-प्रकरण है। अब दूसरी आदि शेष दलीलोंपर विचार किया जाता है।

२—यद्यपि षट्खण्डागममें अन्यत्र कहीं द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थानोंका कथन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस कारण प्रस्तुत ९३ वां सूत्र ही द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधायक एवं प्रतिपादक है। क्योंकि उसके लिये स्वतंत्र ही हेतु और प्रमाणोंकी जरूरत है, जो अब तक प्राप्त नहीं हैं और जो प्राप्त हैं वे निराबाध और सोपपन्न नहीं हैं और विचारकोटिमें हैं—उन्हींपर यहाँ विचार चल रहा है। अत: प्रस्तुत दूसरी दलील ९३ वें सूत्रमें 'संजद'पदकी अस्थितिकी स्वतंत्र साधक प्रमाण नहीं है।

हाँ, विद्वानोंके लिये यह विचारणीय अवश्य है कि षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थानोंका प्रतिपादन क्यों उपलब्ध नहीं होता? मेरे विचारसे इसके दो समाधान हो सकते हैं और जो बहुत कुछ संगत और ठीक प्रतीत होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

(क) जिस कालमें षट्खण्डागमकी रचना हुई है उस कालकी—अर्थात् करीब दो हजार वर्ष पूर्वकी अन्त:-साम्प्रदायिक स्थितिको देखना चाहिये। जहां तक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण किया जाता है उससे प्रतीत होता है कि उस समय अन्त:साम्प्रदायिक स्थितिका यद्यपि जन्म हो चुका था परन्तु उसमें पक्ष और तीव्रता नहीं आई थी। कहा जाता है कि भगवान महावीरके निर्वाणके कुछ ही काल बाद अनुयायिसाधुओंमें थोड़ा थोड़ा मत-भेद शुरू हो गया था और संघभेद होना प्रारम्भ हो गया था, लेकिन वीरनिर्वाणकी सातवीं सदी तक अर्थात् ईसाकी पहली शताब्दीके प्रारम्भ तक मत-भेद और संघ-भेदमें कट्टरता नहीं आई थी। अत: कुछ विचारभेदको छोड़कर प्राय: जैनपरम्पराकी एक ही धारा (अचेल) उस वक्त तक बहती चली आरही थी और इसलिये उस समय षट्खण्डागमके रचयिताको षट्खण्डागममें यह निबद्ध करना या जुदे परके बतलाना आवश्यक न था कि द्रव्य-स्त्रियोंके पाँच गुणस्थान होते हैं उनके छठे आदि नहीं होते। क्योंकि प्रकट था कि मुक्ति अचेल अवस्थासे होती है और द्रव्य मनुष्यनियां अचेल नहीं होतीं—वे सचेल ही रहती हैं। अतएव सुतरां उनके सचेल रहनेके कारण पांच ही गुणस्थान सुसिद्ध हैं। यही कारण है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीने भी यही नतीजा और हेतु-प्रतिपादन उक्त ९३ वें सूत्रकी टीकामें प्रस्तुत किये हैं और राजवार्तिककार अकलङ्कदेवने भी बतलाये हैं।

ज्ञात होता है कि वीर निर्वाणकी सातवीं शताब्दीके पश्चात् कुछ साधुओं द्वारा कालके दुष्प्रभाव आदिसे वस्त्रग्रहणपर जोर दिया जाने लगा था, लेकिन उन्हें इसका समर्थन आगमवाक्योंसे करना आवश्यक था, क्योंकि उसके बिना बहुजनसम्मत प्रचार असम्भव था। इसके लिये उन्हें एक आगमवाक्यका संकेत मिल गया वह था साधुओंकी २२ परिषहोंमें आया हुआ 'अचेल' शब्द। इस शब्दके आधारसे अनुदरा कन्याकी तरह 'ईषद् चेल: अचेल:' अल्पचेल अर्थ करके वस्त्रग्रहणका समर्थन किया और उसे आगमसे भी विहित बतलाया। इस समयसे ही वस्तुत: स्पष्ट रूपमें भगवान महावीरकी अचेल परम्पराकी

सर्वथा चेलरहित—दिगम्बर और अल्पचेल—श्वेताम्बर ये दो धारायें बन गई प्रतीत होती हैं। यह इस बातसे भी सिद्ध है कि इसी समयके लगभग हुए आचार्य उमास्वातिने भगवान महावीरकी परम्पराको सर्वथा चेलरहित ही बतलानेके लिये यह जोरदार और स्पष्ट प्रयत्न किया कि 'अचेल' शब्द का अर्थ अल्पचैल नहीं किया जाना चाहिये—उसका तो नग्नता—सर्वथा चेलरहितता ही सीधा-सादा अर्थ करना चाहिए और यह ही भगवान महावीरकी परम्परा है। इस बातका उन्होंने केवल मौखिक ही कथन नहीं किया, किन्तु अपनी महत्वपूर्ण उभय-परम्परा सम्मत सुप्रसिद्ध रचना **'तत्त्वार्थसूत्र'** में बाईस परीषहोंके अन्तर्गत अचेल परिषहको, जो अब तक दोनों परम्पराओंके शास्त्रोंमें इसी नामसे ख्यात चली आई, 'नाग्न्य परीषह' के नामसे ही उल्लेखित करके लिखित भी कथन किया और अचेल शब्दको भ्रष्ट और भ्रान्तिकारक जानकर छोड़ दिया। क्योंकि उस शब्दकी खींचतान दोनों तरफ होने लगी और उसपरसे अपना इष्ट अर्थ फलित किया जाने लगा। हमारा विचार है कि इस विवाद और भ्रान्तिको मिटानेके लिये ही उन्होंने स्पष्टार्थक और अभ्रान्त अचेलस्थानीय 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया। अन्यथा, कोई कारण नहीं कि 'अचेल' शब्दके स्थानमें 'नाग्न्य' शब्दका परिवर्तन किया जाता जो कि अबतक नहीं था। अतएव आ० उमास्वातिका यह विशुद्ध प्रयत्न ऐतिहासिकोंके लिये इतिहासकी दृष्टिसे बड़े महत्वका है। इससे प्रकट है कि आरम्भिक मूल परम्परा अचेल—दिगम्बर रही और स्त्रीके अचेल न होनेके कारण उसके पांच ही गुणस्थान सम्भव हैं, इससे आगेके छठे आदि नहीं।

जान पड़ता है कि साधुओंमें जब वस्त्र-ग्रहण चल पड़ा तो स्त्रीमुक्तिका भी समर्थन किया जाने लगा; क्योंकि उनकी सचेलता उनकी मुक्तिमें बाधक थी। वस्त्र-ग्रहणके बाद पुरुष अथवा स्त्री किसीके लिये भी सचेलता बाधक नहीं रही। यही कारण है कि आद्य जैन साहित्यमें स्त्री-मुक्तिका समर्थन अथवा निषेध प्राप्त नहीं होता। अत: सिद्ध है कि सूत्रकारको द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका बतलाना उस समय आवश्यक ही न था और इसलिये षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान अनुपलब्ध है।

(ख) यह पहले कहा जा चुका है कि षट्खण्डागमका समस्त वर्णन भावकी अपेक्षासे है। अतएव उसमें द्रव्य-वेदविषयक वर्णन अनुपलब्ध है। अभी हालमें इस लेखको लिखते समय विद्वद्वर्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका जैन-बोधकमें प्रकाशित लेख पढ़नेको मिला। उसमें उन्होंने खुद्दाबन्धके उल्लेखके आधारपर यह बतलाया है कि षट्खण्डागम भरमें समस्त कथन भाववेदकी प्रधानतासे किया गया है। अतएव वहां यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिये कि षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके लिये गुणस्थान विधायक सूत्र क्यों नहीं आया? उन्होंने बतलाया है कि 'षट्खण्डागमकी रचनाके समय द्रव्यवेद और भाववेद ये वेदके दो भेद ही नहीं थे उस समय तो सिर्फ भाववेद वर्णनमें लिया जाता था। षट्खण्डागमको तो जाने दीजिये जीवकाण्डमें भी द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नहीं होता और इसलिये यह मानना चाहिये कि मूल ग्रन्थोंमें भाववेदकी अपेक्षासे ही विवेचन किया जाता रहा, इस लिये मूल ग्रन्थों अथवा सूत्रग्रन्थोंमें द्रव्यवेदकी अपेक्षा विवेचन नहीं मिलता है। हाँ, चारित्रग्रन्थोंमें मिलता है सो वह ठीक ही है। जिन प्रश्नोंका सम्बन्ध मुख्यतया चरणानुयोगसे है उनका समाधान वहीं मिलेगा, करणानुयोगमें नहीं।' पण्डितजीका यह सप्रमाण प्रतिपादन युक्तियुक्त है। दूसरी बात यह है कि केवली षट्खण्डागमपरसे ही स्त्रीमुक्ति निषेधकी दिगम्बर मान्यताको कण्ठत: प्रतिपादित होना आवश्यक हो तो सर्वथावस्त्रत्याग और कवलाहारनिषेधकी दिगम्बर मान्यताओंको भी उससे कण्ठत: प्रतिपादित होना चाहिये। इसके अलावा, सूत्रोंमें २२ परिषहोंका वर्णन भी दिखाना चाहिये। क्या कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी तरह षट्खण्डागमसूत्रकारने भी उक्त परीषहोंके प्रतिपादक सूत्र क्यों नहीं रचे? इससे जान पड़ता है कि विषय-निरूपणका संकोच-विस्तार सूत्रकारकी दृष्टि या विवेचनशैलीपर निर्भर है। अत: षट्खण्डागममें भाववेद विवक्षित होनेसे द्रव्य-स्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नहीं होता।

३—तीसरी दलीलका उत्तर यह है कि 'पर्याप्त' शब्दके प्रयोगसे वहाँ उसका द्रव्य अर्थ बतलाना सर्वथा भूल है। पर्याप्तकर्म जीवविपाकी प्रकृति है और उसके

उदय होनेपर जीव पर्याप्तक कहा जाता है। अतः उसका भाव भी अर्थ है। दूसरे, वीरसेन स्वामीके विभिन्न विवेचनों और अकलङ्कदेवके राजवार्त्तिकगत प्रतिपादनसे पर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थानोंका निरूपण होनेसे वहाँ 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ द्रव्य नहीं लिया जासकता है और इसलिये 'पज्जत्तमणुस्सिणी' से द्रव्यस्त्रीका बोध करना महान् सैद्धान्तिक भूल है। मैं इस सम्बन्धमें अपने "संजद पदके सम्बन्धमें अकलंकदेवका महत्वपूर्ण अभिमत" शीर्षक लेखमें पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ।

४—हमें बड़ा आश्चर्य होता है कि 'संजद' पदके विरोधमें यह कैसे कहा जाता है कि 'वीरसेन स्वामीकी टीका उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन नहीं करती, अन्यथा टीकामें उक्त पदका उल्लेख अवश्य होता।' क्योंकि टीका दिनकर-प्रकाशकी तरह 'संजद' पदका समर्थन करती है। यदि सूत्रमें 'संजद' पद न हो तो टीका-गत समस्त शंका-समाधान निराधार प्रतीत होगा। मैं यहाँ टीकागत उन पद-वाक्यादिकोंको उपस्थित करता हूँ जिनसे 'संजद' पदका अभाव प्रतीत नहीं होता, बल्कि उसका समर्थन स्पष्टतः जाना जाता है। यथा—

'हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते, इति चेत्; नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत्, इति चेत्, न; सवाससत्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्धः, इति चेत्, न, तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेत्, न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेत्, न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साऽऽराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्ति, इति चेत्, न, तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।'

यहाँ सबसे पहले यह शंका उपस्थित की गई है कि यद्यपि स्त्रियों (द्रव्य और भाव दोनों) में सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं। लेकिन हुण्डावसर्पिणी (आपवादिककाल)में स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते? (इस शंकासे यह प्रतीत होता है कि वीरसेन स्वामीके सामने कुछ लोगोंकी हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होनेकी मान्यता रही और इसलिये इस शंका द्वारा उनका मत उपस्थित करके उसका उन्होंने निराकरण किया है। इसी प्रकारसे उन्होंने आगे द्रव्यस्त्री मुक्तिकी मान्यताको भी उपस्थित किया है जो सूत्रकारके सामने नहीं थी और उनके सामने प्रचलित थी और जिसका उन्होंने निराकरण किया है। हुण्डावसर्पिणीकालका स्वरूप ही यह है कि जिसमें अनहोनी बातें हो जायें, जैसे तीर्थंकरके पुत्रीका होना, चक्रवर्तीका अपमान होना आदि। और इसलिये उक्त शंकाका उपस्थित होना असम्भव नहीं है।) वीरसेन स्वामी इस शंकाका उत्तर देते हैं कि हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते। इसपर प्रश्न हुआ कि इसमें प्रमाण क्या है? अर्थात् यह कैसे जाना कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते? इसका उत्तर यह दिया गया है कि इसी आगम-सूत्रवाक्यसे उक्त बात जानी जाती है। अर्थात् प्रस्तुत ९३ वें सूत्रमें पर्याप्त मनुष्यनीके ही चौथा गुणस्थान प्रतिपादित किया है, अपर्याप्त मनुष्यनीके नहीं, इससे साफ जाहिर है कि सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी कालमें द्रव्य और भाव दोनों ही तरहकी स्त्रियोंमें पैदा नहीं होते। अतएव सुतरां सिद्ध है कि हुण्डावसर्पिणीमें भी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि पैदा नहीं होते।

यहाँ हम यह उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने टीकोक्त 'स्त्रीषु' पदका द्रव्यस्त्री अर्थ करके एक और मोटी भूल की है। 'स्त्रीषु' पदका बिल्कुल सीधा सादा अर्थ है और वह है—'स्त्रियोंमें'। वहाँ द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकारकी स्त्रियोंका ग्रहण है। यदि केवल द्रव्यस्त्रियोंका ग्रहण इष्ट होता तो वीरसेन स्वामी अगले 'द्रव्यस्त्रीणां' पदकी तरह यहाँ भी 'द्रव्यस्त्रीषु' पदका प्रयोग करते और जिससे सिद्धान्तविरोध अनिवार्य था, क्योंकि उससे द्रव्यस्त्रियोंमें ही सम्यग्दृष्टियोंके उत्पन्न न होनेकी बात सिद्ध होती, भावस्त्रियोंमें नहीं। किन्तु वे ऐसा सिद्धान्तविरुद्ध असंगत कथन कदापि नहीं कर सकते थे और इसी लिये उन्होंने 'द्रव्यस्त्रीषु' पदका

प्रयोग न करके 'स्त्रीष' पदका प्रयोग किया है जो सर्वथा सिद्धान्ताविरुद्ध और संगत है। यह स्मरण रहे कि सिद्धान्तमें भावस्त्रीमुक्ति तो इष्ट है, द्रव्यस्त्रीमुक्ति इष्ट नहीं है किंतु सम्यग्दृष्टि-उत्पत्ति-निषेध द्रव्य और भावस्त्री दोनोंमें ही इष्ट है। अतः पंडितजीका यह लिखना कि ९३वें सूत्रमें पर्याप्त-अवस्थामें ही जब द्रव्यस्त्रीके चौथा गुणस्थान सूत्रकारने बताया है तब टीकाकारने यह शंका उठाई है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमें सम्यग्दृष्टि क्या उत्पन्न नहीं होते हैं? उत्तरमें कहा गया है कि द्रव्यस्त्रीपर्यायमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं। क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? इसके लिये आर्ष प्रमाण बतलाया है। अर्थात् आगममें ऐसा ही बताया है कि द्रव्य-स्त्रीपर्यायमें सम्यग्दृष्टि नहीं जाता है"। "यदि ९३ वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो फिर सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता, यह शंका उठाई ही नहीं जा सकती क्योंकि भावस्त्री के तो सम्यग्दर्शन होता ही है। परन्तु द्रव्यस्त्रीके लिये शंका उठाई है। अतः द्रव्यस्त्रीका ही विधायक ९३ वां सूत्र है'। यह बात स्पष्ट हो जाती है।" बहुत ही स्खलित और भूलोंसे भरा हुआ है। 'संजद' पदके विरोधी विद्वान् क्या उक्त विवेचनसे सहमत हैं? यदि नहीं, तो उन्होंने अन्य लेखोंकी तरह उक्त विवेचनका प्रतिवाद क्यों नहीं किया? मुझे आश्चर्य है कि श्री पं. वर्धमानजीजैसे विचारक तटस्थ विद्वान् पक्षमें कैसे बह गये और उसका पोषण करने लगे? पं० मक्खनलालजीकी भूलोंका आधार भावस्त्रीमें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्तिको मानना है जो सर्वथा सिद्धान्तके विरुद्ध है। सम्यग्दृष्टि न द्रव्यस्त्रीमें पैदा होता है और न भावस्त्रीमें यह हम पहले विस्तारसे सप्रमाण बतला आये हैं। आशा है पंडितजी अपनी भूलका संशोधन कर लेंगे। और तब वे प्रस्तुत ९३ वें सूत्रको भावस्त्री विधायक ही समझेंगे।

दूसरी शंका यह उपस्थित की गई है कि यदि इसी आर्ष (प्रस्तुत आगमसूत्र) से यह जाना जाता है कि हुण्डा-वसर्पिणीमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते जो इसी आर्ष (प्रस्तुत आगम सूत्र) से द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्ति सिद्ध हो जाय, यह तो जाना जाता है? (शंकाकारके सामने ९३ वाँ सूत्र 'संजद' पदसे युक्त है और उसमें द्रव्य अथवा भावका स्पष्ट उल्लेख न होनेसे उसे प्रस्तुत शंका उत्पन्न हुई है। वह समझ रहा है कि ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदके होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष सिद्ध होता है। यदि सूत्रमें 'संजद' पद न हो, पाँच ही गुणस्थान प्रतिपादित हों तो यह द्रव्यस्त्रीमुक्ति-विषयक इस प्रकारकी शंका, जो इसी सूत्रपरसे हुई है, कदापि नहीं हो सकती)। इस शंकाका वीरसेन स्वामी उत्तर देते हैं कि यदि ऐसी शंका करो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होनेसे पंचम अप्रत्याख्यान (संयमासंयम) गुणस्थानमें स्थित हैं और इसलिये उनके संयम नहीं बन सकता है। इस उत्तरसे भी स्पष्ट जाना जाता है कि सूत्रमें यदि पाँच ही गुणस्थानोंका विधान होता तो वीरसेनस्वामी द्रव्यस्त्रीमुक्तिका प्रस्तुत 'सवस्त्र' हेतुद्वारा निराकरण न करते, उसी सूत्रको ही उपस्थित करते तथा उत्तर देते कि 'द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इसी आगमसूत्रसे उसका निषेध है। अर्थात् प्रस्तुत ९३ वें सूत्रमें आदिके पाँच ही गुणस्थान द्रव्यस्त्रियोंके बत-लाये हैं छठे आदि नहीं।' वीरसेनस्वामीकी यह विशेषता है कि जब तक किसी बातका साधक आगम प्रमाण रहता है तो पहले वे उसे ही उपस्थित करते हैं, हेतुको नहीं, अथवा उसे पीछे आगमके समर्थनमें करते हैं।

शंकाकार फिर कहता है कि द्रव्यस्त्रियोंके भले ही द्रव्यसंयम न बने भावसंयम तो उनके सवस्त्र रहनेपर भी बन सकता है उसका कोई विरोध नहीं है? इसका वे पुनः उत्तर देते हैं कि नहीं, द्रव्यस्त्रियोंके भावासंयम है—भावसंयम नहीं; क्योंकि भावासंयमका अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण भावासंयमके बिना नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह कि द्रव्यस्त्रियोंके वस्त्रादि ग्रहण होनेसे ही यह प्रतीत होता है कि उनके भावसंयम भी नहीं है—भावासंयम ही है, क्योंकि वह उसका कारण है। वह फिर शंका करता है—'फिर उनमें चउदह गुणस्थान कैसे प्रतिपादित किये हैं? अर्थात् प्रस्तुत सूत्रमें 'संजद' शब्दका प्रयोग क्यों किया है? इसका वीरसेनस्वामी समाधान करते हैं कि नहीं, भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिमें उक्त चउदह गुणस्थानोंका सत्त्व प्रति-पादित किया है। अर्थात् ९३ वें सूत्रमें जो 'संजद' शब्द है वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है, द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं। (इस शंका-समाधानसे तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पद है और

छठेसे चउदह तकके गुणस्थानोंका बोधक है। और इसी लिये वीरसेनस्वामीने उसकी उपपत्ति एवं संगति भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे बैठाई है, जैसी कि राजवार्तिककार अकलंकदेवने अपने राजवार्त्तिकमें बैठाई है। यदि उक्त सूत्रमें 'संजद' पद न हो तो ऐसी न तो शंका उठती और न उक्त प्रकारसे उसका समाधान होता। दोनोंका रूप भिन्न ही होता। अर्थात् प्रस्तुत सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके ही ५ गुणस्थानों का विधायक हो और उनकी मुक्तिका निषेधक हो तो "अस्मादेव आर्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्" ऐसी शंका कदापि न उठती, बल्कि 'द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः कथं न भवति" इस प्रकारसे शंका उठती और उस दशामें 'अस्मादेव आर्षाद्' और 'निर्वृत्तिः सिद्धयेत्' ये शब्द भूल करके भी प्रयुक्त न किये जाते। अतः इन शब्दोंके प्रयोगसे भी स्पष्ट है कि ९३ वें सूत्रमें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधान है और वह 'संजद' पदके प्रयोगद्वारा अभिहित है। और यह तो माना ही नहीं जा सकता है कि उपर्युक्त टीकामें चउदह गुणस्थानोंका जो उल्लेख है वह किसी दूसरे प्रकरणके सूत्र से सम्बद्ध है क्योंकि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्' शब्दों द्वारा उसका सम्बन्ध प्रकृत सूत्रसे ही है, यह सुदृढ) है।

शंकाकार फिर शंका उठाता है कि भाववेद तो बादरकषाय (नौवें गुणस्थान) से आगे नहीं है और इस लिये भावस्त्रीमनुष्यगतिमें चउदह गुणस्थानोंका संभव नहीं है? इसका वे उत्तर देते हैं कि 'नहीं. यहाँ योगमार्गणासम्बन्धी गतिप्रकरणमें वेदकी प्रधानता नहीं है किन्तु गतिकी प्रधानता है और वह शीघ्र नष्ट नहीं होती—मनुष्यगतिकर्मका उदय तथा सत्त्व चउदहवें गुणस्थान तक रहता है और इसलिये उसकी अपेक्षा भावस्त्रीके चउदह गुणस्थान उपपन्न हैं। इसपर पुनः शंका उठी कि 'वेदविशिष्ट मनुष्यगतिमें वे चउदह गुणस्थान संभव नहीं है?' इसका समाधान किया कि 'नहीं, वेदरूप विशेषण यद्यपि (नौवें गुणस्थानमें) नष्ट हो जाता है फिर भी उपचारसे उक्त व्यपदेशको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें, जो चउदहवें गुणस्थान तक रहती है, चउदह गुणस्थानोंका सत्त्व विरुद्ध नहीं है।' इस सब शंका-समाधानसे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि टीकाद्वारा ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका निःसन्देह समर्थन है और वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है, द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं।

पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने टीकागत उल्लिखित स्थलका कुछ आशय और दिया है लेकिन वे यहाँ भी स्खलित हुए हैं। आप लिखते हैं:—'अब आगेकी टीकाका आशय समझ लीजिये, आगे यह शंका उठाई है कि इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या? उत्तरमें टीकाकार आचार्य वीरसेन कहते हैं कि नहीं, इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है।' यहाँ पण्डितजीने जो 'इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या?' और 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है।' लिखा है वह 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत् इति चेत् न; सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।' इन वाक्योंका आशय कैसे निकला? इनका सीधा आशय तो यह है कि इसी आगमसूत्रसे द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष सिद्ध हो जाय? इसका उत्तर दिया गया कि 'नहीं, क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होनेके कारण पंचम अप्रत्याख्यान गुणस्थानमें स्थित हैं और इसलिये उनके संयम नहीं बन सकता है। परन्तु पण्डितजीने 'क्या' तथा 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकता है।' शब्दोंको जोड़कर शंका और उसका उत्तर दोनों ही सर्वथा बदल दिये हैं। टीकाके उन दोनों वाक्योंमें न तो ऐसी शंका है कि 'इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या?' और न उसका ऐसा उत्तर है कि 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है।' यदि इसी आगमसूत्रमें द्रव्यस्त्रीके मोक्षका निषेध प्रतिपादित होता तो वीरसेनस्वामी 'सवासस्त्वात्' हेतु नहीं देते, उसी आगमसूत्रको ही प्रस्तुत करते, जैसा कि सम्यग्दृष्टिके स्त्रियोंमें उत्पत्तिनिषेध में उन्होंने आगम कोही प्रस्तुत किया है, हेतुको नहीं। अतएव पंडितजीका यह लिखना भी सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि 'यदि ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पद होता तो आचार्य वीरसेन इस प्रकार टीका नहीं करते कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होती

है।' क्योंकि वीरसेन स्वामीने यह कहीं भी नहीं लिखा कि 'इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होती है।' पण्डित जीसे अनुरोध करूँगा कि वे ऐसे ग़लत आशय कदापि निकालनेकी कृपा न करें।

पण्डितजीका यह लिखना भी संगत नहीं है कि वीरसेनस्वामीने 'संयम'पदका अपनी टीकामें थोड़ा भी जिकर नहीं किया। यदि सूत्रमें 'संयम' पद होता तो यहाँ संयम' पद दिया गया है वह किस अपेक्षासे है? इससे द्रव्यस्त्रीके संयम सिद्ध हो सकेगा क्या? आदि शंका भी वे अवश्य उठाते और समाधान करते।'

हम पण्डितजीसे पूछते हैं कि 'संयम' पदका क्या अर्थ है? यदि छठेसे चउदह तकके गुणस्थानोंका ग्रहण उसका अर्थ है तो उनका टीकामें स्पष्ट तो उल्लेख है। यदि द्रव्य-स्त्रियोंके द्रव्यसंयम और भावसंयम दोनों ही नहीं बनते हैं तब उनमें चउदह गुणस्थान कैसे बतलाये? नहीं भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिकी अपेक्षासे इनका सत्त्व बतलाया गया है—'कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेत्, न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्'—यह क्या है? आपकी उपर्युक्त शंका और समाधान ही तो है। शंकाकार समझ रहा है कि प्रस्तुत सूत्रमें जो 'संजद' पद है वह द्रव्यस्त्रियोंके लिये आया है और उसके द्वारा छठेसे चउदह तकके गुणस्थान उनके बतलाये गये हैं। वीरसेन स्वामी उसकी इस शंकाका उत्तर देते हैं कि चउदह गुणस्थान भावस्त्रीकी अपेक्षासे बताये गये हैं, द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नहीं। इससे साफ है कि सूत्रमें 'संजद' पद दिया हुआ है और वह भावस्त्रीकी अपेक्षासे है।

पण्डितजीने आगे चलकर एक बात और विचित्र लिखी है कि प्रस्तुत सूत्रकी टीकामें जो चउदह गुणस्थानों और भाववेद आदिका उल्लेख किया गया है उसका सम्बन्ध इस सूत्रसे नहीं है—अन्य सूत्रोंसे है—इसी सिद्धान्तशास्त्रमें जगह जगह ९ और १४ गुणस्थान बतलाये गये हैं। किन्तु पण्डितजी यदि गम्भीरतासे 'अस्मादेव आर्षाद्' इत्यादि वाक्योंपर गौर करते तो वे उक्त बात न लिखते। यह एक साधारण विवेकी भी जान सकता है कि यदि दूसरी जगहोंमें उल्लिखित गुणस्थानोंकी संगति यहाँ बैठाई गई होती तो 'अस्मादेव आर्षाद्' वाक्य कदापि न लिखा जाता, क्योंकि आपके मतसे प्रस्तुत सूत्रमें उक्त चउदह गुणस्थानों या संजद' पदका उल्लेख नहीं है। जब सूत्रमें 'संजद' पद है और उसके द्वारा चउदह गुणस्थानोंका संकेत (निर्देश) है तभी यहाँ द्रव्यस्त्री मुक्तिविषयक शंका पैदा हुई है और उसका यहीं समाधान किया गया है। यद्यपि आलापाधिकार आदिमें पर्याप्त मनुष्यनियोंके चउदह गुणस्थान बतलाये हैं तथापि वहां गतिका प्रकरण नहीं है, यहां गतिका प्रकरण है और इसलिये उक्त शंका-समाधानका यहीं होना सर्वथा संगत है। अतः ९ और चउदह १४ गुणस्थानोंके उल्लेखका सम्बन्ध प्रकृत सूत्रसे ही है, अन्य सूत्रोंसे नहीं। अतएव स्पष्ट है कि टीकासे भी ९३ सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन होता है और उसकी उसमें चर्चा भी खुले तौरसे की गई है।

५—अब केवल पाँचवीं दलील रह जाती है सो उसके सम्बन्धमें बहुत कुछ पहली और दूसरी दलीलकी चर्चामें कथन कर आये हैं। हमारा यह भय कि 'इस सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका विधायक न माना जायगा तो इस सिद्धान्तग्रंथसे उनके पांच गुणस्थानोंके कथनकी दिगम्बर मान्यता सिद्ध न हो सकेगी और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे हैं उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा।' सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, हेतुओं, संगतियों, पुरातत्त्वके अवशेषों, ऐतिहासिक तथ्यों आदसे सिद्ध है कि द्रव्यस्त्रीका मोक्ष नहीं होता और इसलिये श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग नहीं आ सकता। आज तो दिगम्बरमान्यताके पोषक और समर्थक इतने विपुल रूपमें प्राचीनतम प्रमाण मिल रहे हैं जो शायद पिछली शताब्दियोंमें भी न मिले होंगे। पुरातत्वका अबतक जितना अन्वेषण हो सका है और भूगर्भसे उसकी खुदाई हुई है उस सबमें प्राचीनसे प्राचीन दिगम्बर नग्नपुरुष मूर्तियां ही उपलब्ध हुई हैं और जो दो हजार वर्षसे भी पूर्वकी हैं। परन्तु सचेल मूर्ति या स्त्रीमूर्ति, जो जैन निग्रन्थ हों, कहींसे भी प्राप्त नहीं हुई। हाँ, दशवीं शताब्दीके बादकी जरूर कुछ सचेलपुरुष मूर्तियाँ मिलती बतलाई जाती हैं सो उस समय दोनों ही परम्पराओंमें काफी मतभेद हो चुका था तथा खण्डन-मण्डन भी आपसमें चलने लगा था। सच पूछा

(शेष पृष्ठ २६१ पर)

कायरता घोर पाप है !

बङ्गाल और विहारके वे नारकीय दिन !

(ले०—श्री अयोध्याप्रसाद 'गोयलीय')

उन्हीं दिनोंकी बात है जब पूर्वी बंगालके हिन्दू भेड़ोंकी तरह मिमयाते और गायोंकी तरह डकराते हुए काटे जा रहे थे। और वंगमहिलाएँ आततायियोंके साथ चुपचाप उसी तरह जा रही थीं, जिस तरह बेगारमें पकड़ी हुई गाय घास चरने सिपाहीके साथ जाती हैं।

मेरा डेढ़ वर्षका बच्चा एकाएक जोरसे चीख उठा, और बदहवास होता हुआ मेरे पास आया तो उसकी अंगुलीमें चींटा चिपटा हुआ था। मेरे छुड़ानेपर चिउँटा मर कर ही उँगलीसे अलग हुआ और मरते-मरते भी खूनकी धार बहा गया।

बच्चा तो काफी देर सुबककर खेलने लगा, पर मैं अपने में खो गया। सोचा बंगालके हिन्दुओंसे तो यह चिउँटा ही लाख दर्जे श्रेष्ठ है, जिसने बच्चों के हृदयपर यह अङ्कित कर दिया कि "बच्चू ! हमको छेड़ना कुछ अर्थ रखता है।" और अब भूलकर भी वह उन्हें नहीं छेड़ता।

एक चिउँटेने मरकर अपनी जातिकी सुरक्षाका वचन उस शरारती लड़केसे ले लिया। यदि वीरत्वकी क़दर मेरे पास होती तो ऐसे जाँनिसार चिउंटेका स्मारक मुझे बनवाना चाहिए था। परन्तु जो कौम, लोक-हित-युद्धमें जूझ मरनेवाले और परोपकारार्थ सर्वस्व न्योछावर करनेवाले अपने सपूतों की तालिका तक न रख सकी भला उस कौममें जन्म लेकर मैं ऐसा साहस कर सकता था ? कैसी मूर्खतापूर्ण बात थी, जो सुनता वही हँसता।

चींटेकी बात आई गई। जब मैंने सुना कि महात्माजी हिन्दुओंकी रक्षाको पूर्वी बंगाल दौड़े गये हैं, और उड़ीसाके प्रधानमन्त्री उड़ियोंकी खोपड़ियाँ गिनने कलकत्ते पहुँचे हैं। तभी ख़याल आया कि बंगालमें सिक्ख भी तो रहते हैं, उनकी रक्षार्थ सिक्ख लीडर नहीं पहुंचे। क्या सिक्ख लीडरों को हवाई जहाज नहीं मिला था। उन्होंने बंगाल जाना ही सिक्ख जातिका अपमान समझा।

सब जानते हैं सिक्खके बालको हाथ लगाना, सिंहकी मूंछको छूना है। बड़े बड़े तीसमारखाँ, बादशाहों, सेनापतियों और पेशेवर शिकारियोंके शिकार-कौशल पढ़े। मगर कहीं यह पढ़नेमें न आया कि सिंहकी मूँछका बाल तो क्या पूँछका बाल ही छूनेका किसीने साहस किया हो। जहाँ सिंहकी मूँछ या पूँछके बाल उखेड़नेकी घटना पढ़नेमें नहीं आई, वहाँ यह भी कभी पढ़ने या सुननेमें नहीं आया कि किसी विधर्मी ने गुरुद्वारेपर आक्रमण किया हो, सिक्ख महिलाको छेड़ा हो या सिक्खको तंग किया हो!

इसका कारण यही है कि प्रत्येक आततायी इसके परिणामसे परिचित है। इसलिये बंगालके प्रधानमन्त्रीको मुसलमानोंके लिये चेतावनी देनी पड़ी कि 'मुसलमान सिक्खों को न छेड़ें, वे हमारे हितैषी हैं।' क्यों नहीं, १८५७ के विद्रोहमें अंग्रेजोंका पक्ष लेकर जो मुसलमानी सल्तनतका चिराग बुझायें, मुस्लिम मिनिस्ट्रीके होते हुए शहीदगञ्ज मस्जिदपर अधिकार जमालें, जिन्ना जैसे कल्लेदराज को दन्दान शिकन जवाब दें। वे तो भाई और हितैषी ? और वे हिन्दू जो मुसलमानी सल्तनतको समाप्त कर देने वाले अंग्रेजोंसे १५० वर्षसे लोहा लेते रहे, अपना सर्वस्व देशहित न्योछावर कर दें, जनसंख्याके अनुपातसे अधिक बगैर कुछ हाथ पाँव हिलाये अधिकार दें, दिनरात ठोढ़ियों में हाथ डालते रहें, चुपचाप लुटते और पिटते रहें, वे शत्रु ! वेशक, कायरताका यही पुरस्कार हिन्दुओंको मिलना चाहिये था।

सिन्धकी मिनिस्टरी सत्यार्थप्रकाशपर तो प्रतिबन्ध लगायेगी, पर सिक्खोंके उस ग्रन्थसाहब जिसमें जहाँगीर भी परिवर्तन न करा सका और जिसका हर एक अनुयायी दैनिक

प्रार्थनामें 'उठ गई सभा म्लेच्छकी' आदि कहकर मुसलमानों के प्रति घृणा प्रगट करता है—प्रतिबन्ध तो क्या विरोधमें एक शब्द भी न कह सकी। इसका कारण निम्न उदाहरण से समझ में आयेगा।

एक बार एक देशभक्तने व्याख्यान देते हुए कहा था—
'चीनियों और जापानियोंकी शक्लोशबाहतमें यूं तो काफी फ़र्क होता है, पर हिन्दुस्तानियोंके लिये यह मुश्किल है। उनकी पहचानका सरल उपाय यह है कि किसी चीनी के पाँवमें पीछेसे ठोकर मार दी जाये तो वह पलटकर ठोकर मारनेका कारण पूछेगा और जापानी ठोकरका जवाब ठोकरसे दे चुकनेपर वजह दर्याफ्त करेगा। असावधानीके लिये क्षमा मांगनेपर तो क्षमा करेगा, जानबूझकर शरारत की गई तो फिर दुबारा प्रहार करेगा। तभी मेरे मुँहसे निकला कि कोई यूरोपियन हिन्दुस्तानमें हिन्दू-मुसलमानको भी इसी तरह बाआसानी पहचान सकता है। हिन्दू ठोकर लगने पर पूछेगा 'आपके चोट तो नहीं लगी, क्षमा करना।' मुसलमान ठोकर लगानेवालेको कमजोर देखेगा तो हमला करेगा, बलवान देखेगा तो ऊपरसे हँसता हुआ और मनमें गालियां देता हुआ बढ़ जायगा। सिक्ख इसी तरहके बलवान लोगोंमें हैं।

जिन बंगालियोंने कलकत्तेसे उठाकर अंग्रेजोंकी राजधानी दिल्ली फेंक दी। बंग भंगका नशा उतार कर जिन्होंने जूतेसे नाक काट दी, चटगांवके शस्त्रागारको लूटकर अंग्रेजोंके धाक की बुनियाद ढा दी, समूचे भारतमें बमों और पिस्तौलोंका आतंक फैलाकर शक्तिशाली गवर्नमेण्टकी छाती दहला दी और जिसके एक सपूत 'सुभाष' ने नाकों चने चबा दिये, आज उन्हीं बंगवीरोंकी माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ क्यों आततायियोंके घरोंमें चुपचाप आंसू बहा रही हैं? बलवान मार तो सकता है, पर जबरन बाँधकर नहीं रख सकता।

मनुष्य तो मनुष्य, भेड़-बकरी भी जबरन बाँधकर नहीं रखी जा सकती, उनके मनमें ही जब दासता समा जाती है, तभी वह बँधी रहती हैं, अन्यथा वह ऐसा शोर मचाती हैं कि बाँधनेवाला तो क्या, उसके पड़ौसियोंकी भी नींद हराम हो जाती है। मनुष्य तो आखिर मनुष्य है। बचपनसे सुनते आये हैं कि चौपाया तो बाँधकर रखा भी जा सकता है, दोपाया नहीं। मगर अब तो इसके विपरीत हो रहा है। दोपाये भेड़-बकरियोंसे बदतर होगये हैं। वर्ना क्या कारण है कि जो स्त्री एक बार अपहृत करली गई, वह कभी वापिस न आई और वह आततायियोंमें घुलमिल एकाकार हो गई। और उन्हींकी सन्तान अपनी माताओंके अपमानका बदला आततायियोंसे लेनेके बजाय निरन्तर हिन्दुओंकी जान-मालके घातक बने रहते हैं। बकौल महात्मा गाँधी 'भारतीय मुसलमान ९९ फीसदी ऐसी ही देवियोंकी सन्तान हैं।'

सन् २४ में जब साम्प्रदायिक उत्पात हो रहे थे एक हिन्दू नेताके यह कहनेपर कि मुसलमानी सल्तनतके जमानेमें हिन्दुओंको बलात् मुसलमान बनाया गया।' हसन निज़ामी ने कहा था कि ऐसा कहना हिन्दुओंका अपमान करना है। जो हिन्दू मुसलमानका छुआ पानी पीनेसे मरना बेहतर समझते हैं वह जबरन मुसलमान क्योंकर बनाये जा सकते हैं। और यह जबर्दस्ती बनियों, ब्राह्मणोंपर तो मानी भी जा सकती है, पर वे राजपूत जो बात-बातमें तलवार निकाल लेते थे, जबरन कैसे मुसलमान बनाये जा सकते थे। और नौ मुसलमानोंमें अधिकांश संख्या राजपूतों की ही है ये कयासके बाहर है कि वे कभी जबरन भी अपना धर्म खो सकते थे।

बात चाहे हसन निज़ामी साहबने एक दम झूठ कही, पर हमारे पास इसका जवाब नहीं है। नेता कहते हैं—बंग-नारियोंको सीताका आदर्श उपस्थित करनेको। मैं पूछता हूं सीताका वह कौन-सा आदर्श था, जो हिन्दु-ललनाएँ अमल में नहीं ला रही हैं। हिन्दु-नारियां तो आज उसी आदर्शपर चल कर अपनी सन्तानका भक्षण कर रही हैं।

सीताको हरण करनेके लिये रावण साधुका वेश बनाकर आया तो वही सीता जो पर-पुरुषसे एकान्तमें बात करना पाप समझती थी और अनेक दास दासियोंके समीप रहनेपर भी अशोक वाटिकामें तिनकेकी ओट देकर रावणको प्रत्युत्तर देती है उसी सीताने निर्जन वनमें एक पर-पुरुषसे बात करने का आदर्श उपस्थित किया! लक्ष्मणको शंकित दृष्टिसे देखने वाली सीता उसकी बनाई रेखाके बाहर आई। और रावण के हरण करनेपर मौन सत्याग्रहका आदर्श उपस्थित किया। यही आदर्श तो आज हिन्दू नारियां उपस्थित कर रही हैं फिर भी उन्हें उपदेश दिया जाता है!

सीता शरीरसे अवश्य निर्बल थी, परन्तु उसके पास

दांत और नख दोनों थे, चाहती तो रावणकी आंख बचाकर, नोचकर काटकर, छीना-झपटी करके देर अवश्य लगा सकती थी। तनिक भी इस तरहका साहस दिखाया होता तो शायद इतनेमें राम ही आ जाते। वनोंसे भील वगैरह ही रक्षार्थ आ जाते और कोई भी न आता तो एक आदर्श तो बन जाता ताकि गुडियोंकी तरह हिन्दू नारियोंको उठाकर कोई नहीं ले जा सकता। परन्तु सीता तो उस कायरताबहुरूपिणीके चक्कमें आगई जो हमेशा अहिंसाकासा रूप बनाकर लोगोंको बुद्धिभ्रष्ट करके आपदाओंमें डालती रहती है। यदि उसके घेरेमें सीता न आई होती तो सीता लंकामें जाकर भी अवसर पाकर रावणका बध कर सकती थी, महलोंमें आग लगाकर अपहरणका स्वाद चखा सकती थी। पर, नहीं वह गायकी तरह बधिकके कब्जेमें रहकर केवल आंसू बहाती रही।

मगर सीताका यह आदर्श जटायुको पसन्द न आया शायद इसीलिए समझदार लोगोंने इसे पक्षी तक कह दिया है। जो भी हो, यह अन्याय उसके पुरुषत्वके लिये चुनौती था। यूं सीतारामसे कोई राग और रावणसे उसे द्वेष न था। उसके सामने तो प्रश्न था कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है? चुपचाप आततायीके अन्यायको सहन करना उसने अधर्म, और आततायीको दण्ड देना, अत्याचारके विरोधमें उठना, नारीकी रक्षा करना धर्म समझ कर वह रावणसे भिड़ गया! भिड़नेसे पूर्व जटायु भी यह जानता था कि हाथी और मच्छरकी लड़ाई है? सीताको छुड़ाना तो दूर किनार अपना भी सफाया हो जायगा। फिर भी वह जाँबाज रावणपर टूट पड़ा। मरा तो, पर रावणको क्षत विक्षत करके। पुरुषोंको यह पाठ पढ़ा गया कि खबरदार! आततायी कितना ही बलवान हो उसके अत्याचारका विरोध अवश्य करना। आज शायद जटायुके उस पाठका ही परिणाम है कि लोग शांति शान्ति क्षमा-क्षमाके शोरमें भी अत्याचारका विरोध करके अपना रक्त बहाकर जटायुका तर्पण करते रहते हैं।

यदि सीताने भी हरण होते हुए समय बल-प्रयोग किया होता या लंकामें जाकर रावणको सोते हुए बध कर दिया होता या महलोंमें आग लगा दी होती तो निश्चय ही आज हिन्दु-नारियोंके सामने एक निश्चित रूप रेखा हुई होती और तब आततायी उनके पास आनेमें उसी तरह भय खाते जैसे छछुन्दरके पास आनेमें सांप भय खाता है।

एक बार बनारस गया तो विश्वनाथजीका मन्दिर दिखाते हुए पण्डा वहां ले गया जहां औरंगजेब द्वारा हिन्दू मन्दिर तोड़ कर बनवाई हुई मस्जिद आज भी हिन्दु जातिके सीनोंपर मेखकी तरह जमी हुई मौजूद है। पण्डेने एक कुआ दिखाकर कहा, 'धर्मावतार! यह वही कुआ है जिसमें बाबा विश्वनाथ मुसलमानोंके छूनेके भयसे कूद गये थे और आज तक वहीं मौजूद हैं। मैंने कुढ़कर कहा 'और तुम लोग उनके साथ क्यों नहीं गये, क्या तुम्हें मुसलमानोंके छूजानेका भय नहीं था।' भला जिस जातिको यह पाठ पढ़ाया जाता हो कि उनके ईश्वर भी आततायियोंसे भागते रहते हैं वह उनका डटकर कैसा मुकाबिला करेंगे, सोचनेकी जरूरत नहीं। एक हिन्दु हैं जो हजारों मन्दिरोंकी बनी मस्जिदोंको बड़े चावसे अपने महमानोंको दिखाते हैं और एक सिक्ख हैं जो मुस्लिम मिनिस्ट्रीके होते हुए भी मस्जिदको गुरुद्वारा बना बैठे।

जब हम चलें तो साया भी अपना न साथ दे।
जब वह चलें तो जमीन चले आस्मां चले ॥—जलील

सीताका दूसरा आदर्श ये था कि वे साध्वी रहीं। आज भी हिन्दू नारियाँ उसी आदर्शपर चल रही हैं। परन्तु सीता और आजकी नारियोंके युगमें बहुत बड़ा अन्तर ये है कि रावण बलात्कारी नहीं था। आजके आततायी बलात्कारी हैं। रावण बलात्कारी होता तब इस आदर्शकी रूपरेखा क्या हुई होती, कुछ कहा नहीं जा सकता।

बंगालके उपद्रवोंपर जिन्होंने कहा था कि हिन्दु-मुस्लिम झगड़े ठीक नहीं। ताली दोनों हाथसे बजती हैं, अतः दोनों सम्प्रदायोंके लोगोंको शांत रहना चाहिये। इस शरारत भरे वक्तव्यसे बदनमें आग-सी लग गई। घरको डाकू लूटते रहें और रोते बिलखते घरवालोंको यह कहकर सान्त्वना दी जाय कि 'भाई आपसमें मत लड़ो, मेल मिलापसे रहो।' पूछता हूँ डाकुओंका क्या बिगड़ा जो हाथ लगा ले भागे, मकान मालिक लुट गया और झगड़ालू भी करार दिया गया सो मुफ्तमें।

यह तो वही बात हुई जैसे कई मूर्ख पत्रकार बैलगाड़ीको ट्रेनसे किरचा-किरचा होती देख 'रेल-बैलगाड़ी भिड़न्त

लिख देते हैं।'

क्या खुब ?

जब कोई जुल्म नया करते हैं फर्माते हैं।
अगले वक्तोंके हमें तर्जे सितम याद नहीं॥

—चकबस्त

बंगालकी प्रतिक्रिया स्वरूप जटायुका आदर्श समझने वाले बिहारमें उपद्रव हुए तो जिन्हा फौरन पैंतरा बदलकर बोले, 'नहीं, बाज़ दफा एक हाथ दूसरे हाथपर अपने आप पड़कर ताली बजा देता है।' पूर्वी बङ्गालमें हिन्दुओंका नाश कर दिया गया, तब भी जिन्हाकी नजरोंमें उस तबाहीमें स्वयं बङ्गाली हिन्दुओं ही का दोष था। और बिहारमें पटने, बिहार शरीफ वगैरहमें महीनों पहलेसे मुसलमानोंकी तैयारी हो रही थी, तो भी वहाँ केवल हिन्दुओंका अपराध था। मुसलमान तो चाहे बङ्गालके हों या बिहारके बिचारे सीधे साधे हैं। क्या खूब 'दूसरेके घरमें लगे तो आग, अपने यहाँ हो तो बैसन्धर'

और जबानकी सफाई देखिये मुस्लिमलीगी 'पत्र डान' लिखता है—बिहारमें मुसलमान घायल बहुत कम हुए हैं, मरने वालोंकी तादाद कयाससे बाहर है। क्योंकि बिहारके मुसलमान जालिम हिन्दुओंका मुकाबला करते हुए इस्लामपर शहीद हुए हैं। इन मरने वाले मुसलमानोंने हमें बतला दिया है कि इस्लामपर इस तरह जान कुर्बान किया करते हैं। एक एक मुसलमान हजारों हिन्दुओंका मुकाबला करके शहीद हुआ है।

अब देखिये मरनेवालोंका भाग्य। बिहारमें जो हिन्दुओंको मारते-पछाड़ते मरे वह तो सब शहीद हो गये। मगर बङ्गालके हिन्दु बगैर किसी मुसलमानको मारे उनके हाथसे मर गये वह जिबह हुए। मरे दोनों ही, मगर मृत्यु-मृत्युमें अन्तर है। वे युद्धमें मरकर वीर-गतिको प्राप्त हुए, ये कसाइयोंके हाथसे जिबह होकर कीड़े-मकोड़ोंमें शामिल कर दिये गये। बिहारके शहीदोंके लिये कहा जा रहा है:—

'जुड़ेंगे हर बरस मेले शहीदोंके मज़ारोंपर'

और पूर्वी बङ्गालके लिए:—

'जल मरे परवाने शमापर कोई पुरसा न था।'

मैं भी इस वक्तव्यका कायल हूँ, जो लड़ते हुए मरता है सचमुच वह शहीद होकर वीर-गतिको प्राप्त होता है। एक ऐतिहासिक घटना है:—

औरंगजेबके हुक्मपर जब उसके भाई दाराको बधिक लोग कत्ल करने पहुंचे तो दारा उस समय चाकूसे सेव छील रहा था। बधिकोंको देखकर वह चाकू लेकर खड़ा हो गया और बोला—'आओ जालिमों! तैमूरका वंशज कुत्तोंकी तरह न मरकर अपने पूर्वजोंकी तरह लड़ते हुए मरेगा।' दारा घायल करता हुआ मर गया। हमारे शास्त्रों और इतिहासमें इस तरहके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। मगर उनको इस तरहसे ढक या विकृत कर दिया गया है कि कुछ भी तो स्पष्ट नहीं मालूम होता। और जो हमारे उपदेशक या दार्शनिक हैं वे न जाने कहाँ से ऐसे कायरताके उदाहरण निकाल लाते हैं कि मानो इन्होंने अवतारही हमारा नाश करनेको लिया है।

महात्मा गाँधीने पूर्वी बङ्गालके अपहरणकी घटनाओं-पर वक्तव्य दिया कि जबर्दस्ती परिवर्तनसे तो जहर खाकर मर जाना अच्छा है? क्यों जहर खा लेना अच्छा है? यही तो आततायी चाहते हैं। काफिरोंसे पाक 'पाकिस्तान' और उनकी धन दौलत। जहर खानेके बजाय उनके घरमें घुसकर वह कृत्य क्यों नहीं करना चाहिए, जो रावणके घर सीताको करना था।

बिल्लीके भयसे कबूतर आंखें बन्द करले या आत्म-हत्या बिल्लीका दोनों तरह लाभ है! वह बाजकी तरह झपट कर उसकी आँखें जबतक नहीं फोड़ देता खतरेमें ही रहेगा।

(पृ० २५६ का शेषांश)

जाय तो उस समय दोनों ही परम्पराएँ अपनी अपनी प्रगति करनेमें अग्रसर थीं। अतः उस समय यदि सचेल पुरुष मूर्तियां भी निर्मित कराई गई हों तो आश्चर्य ही नहीं है। दुर्भाग्यसे आज भी हम अलग हैं और अपनेमें अधिकतम दूरी ला रहे हैं और लाते जा रहे हैं। समय आये और हम तथ्यको स्वीकार करें, यही अपनी भावना है। और यदि सम्भव हो तो हम पुनः आपसमें एक हो जावें तथा भगवान महावीरके अहिंसा और स्याद्वादमय शासनको विश्वव्यापी बना यें।

उपसंहार

उपरोक्त विवेचनके प्रकाशमें निम्न परिणाम सामने आते हैं :—

(१) षट्खण्डागममें समय कथन भावकी अपेक्षासे किया गया है और इसलिये उसमें द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंकी चर्चा नहीं आई।

(२) ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका होना न आगमसे विरुद्ध है और न युक्तिसे। बल्कि न होनेमें इस योगमार्गणा सम्बन्धी मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंके कथनके अभावका प्रसंग, वीरसेन स्वामीके टीकागत 'संजद' पदके समर्थनकी असंगति और राजवार्तिककार अकलंकदेवके पर्याप्त-मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंको बतलानेकी असंगति आदि कितने ही अनिवार्य दोष सम्प्राप्त होते हैं।

(३) 'पर्याप्त' शब्दका द्रव्य अर्थ विवक्षित नहीं है उसका भाव अर्थ विवक्षित है। पर्याप्तकर्म जीवविपाकी प्रकृति है और उसके उदय होनेपर ही जीव पर्याप्तक कहा जाता है।

(४) पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने जो भावस्त्रीमें सम्यग्दृष्टिके उत्पन्न होनेकी मान्यता प्रकट की है वह स्खलित और सिद्धान्तविरुद्ध है। स्त्रीवेदकी उदय व्युच्छित्ति दूसरे ही गुणस्थानमें हो जाती है और इसलिये अपर्याप्त अवस्थामें भावस्त्री चौथा गुणस्थान कदापि संभव नहीं है।

(५) वीरसेन स्वामीके 'अस्मादेवार्षाद्' इत्यादि कथनसे सूत्रमें 'संजद' पदका टीकाद्वारा स्पष्टतया समर्थन होता है।

(६) द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका कथन मुख्यतया चरणानुयोगसे सम्बन्ध रखता है और षट्खण्डागम करणानुयोग है, इसलिये उसमें उनके गुणस्थानोंका प्रतिपादन नहीं किया गया है। द्रव्यस्त्रीके मोक्षका निषेध विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, हेतुओं, पुरातत्त्वके अवशेषों, ऐतिहासिक तथ्यों आदिसे सिद्ध है और इसलिये षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान न मिलनेसे श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग नहीं आसकता।

आशा है ९३ सूत्रमें वें 'संजद' पदका विरोध न किया जायगा और उसमें उसकी स्थिति अवश्य स्वीकार की जाएगी।

वीरसेवामन्दिर, ता० ६-९-१९४६।

बंगालके कुछ प्राचीन जैनस्थल

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.)

एनल्स आफ़ दी भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की जिल्द नं० २६ का भाग ३-४ (संयुक्त) अभी हालमें ही प्रकाशित हुआ है। इसके पृष्ठ १७७ पर डा० विमल चरण ला का एक लेख "बंगालके प्राचीन ऐतिहासिक स्थल" नामका प्रकट हुआ है। इस लेखमें विद्वान लेखकने बंगदेशके सभी प्राचीन स्थानोंका विवेचन नहीं किया है, वरन् कुछएक विशेष महत्वपूर्ण स्थानोंके इतिहासपर ही संक्षिप्त प्रकाश डाला है।

लेखपरसे, प्राचीन कालमें निम्न लिखित स्थानोंके साथ जैनधर्मका सम्बन्ध व्यक्त होता है:—

पहाड़पुर—

इस नगरके ध्वंसावशेष बंगालके ज़िले राजशाहीमें,

बी. ए. रेलवेके जमालगंज स्टेशनसे तीन मील पश्चिमकी ओर अवस्थित हैं। इसका प्राचीन नाम सोमपुर था। बंगालके पाल नरेशोंके समय, ८ वीं शताब्दी ईस्वीमें, यहां बौद्ध-विहार तथा तारादेवीके मन्दिर निर्माण हुए बताये जाते हैं। यहाँके खण्डहरोंकी दीवारोंपर पंचतन्त्र व हितोपदेशकी कथाएँ, रामायण और महाभारतके दृश्य तथा कृष्ण राधा आदिकी मूर्तियाँ भी अंकित हुई पाई जाती हैं।

५ वीं "शताब्दी ईस्वीमें इस स्थान पहाड़पुर अपर नाम सोमपुरमें एक विशाल जैन मन्दिर अवस्थित था।

महास्थानगढ़—

इसके ध्वंसावशेष आधुनिक क़स्बे बोगरासे ७ मील उत्तरकी ओर पाये जाते हैं। कनिंघम साहबने इस स्थानको प्राचीन नगर पुण्ड्रवर्धनके रूपमें चीन्हा था, जिसका कि नाम एक मौर्यकालीन जैन शिलालेखमें भी मिलता है। ४ थीसे ६ ठी शताब्दी ईस्वी तक यह स्थान गुप्त-साम्राज्यके एक प्रधान सूबेकी राजधानी था। ७ वीं शताब्दीमें चीनी यात्री ह्वेनसांग यहाँ आया था, और १२ वीं शताब्दीके पश्चात यह नगर गौणताको प्राप्त होगया।

इस स्थानसे जो पुरातत्त्व-संबंधी महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें एक प्राचीन खण्डित जैन मूर्ति भी है। (यह स्थान अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामीकी जन्मभूमि थी)।

मैनामती तथा लालभाईकी पहाड़ियां—

ये पूर्वी बंगालके तिप्पेरा ज़िलेमें, कमिल्ला नगरसे ६ मील पश्चिमकी ओर स्थित हैं। इस स्थानका प्राचीन नाम (७ वीं ८ वीं शताब्दी ईस्वीमें) पट्टिकेरा था और यह प्रसिद्ध 'समतट' प्रान्तकी राजधानी थी। उस कालमें बर्मा और अराकानसे भी इस स्थानका गहरा सम्बन्ध था। यहाँके राजा चन्द्रवंशी थे। आख्यायिकाओंके प्रसिद्ध सिद्ध-राजा गोपीचन्द्रकी माता तथा गुरु गोरखनाथकी चेली रानी मैनावतीके नामपर ही इस स्थानका नामकरण हुआ प्रतीत होता है।

डा० लॉ महाशयके शब्दोंमें—"मैनावती स्थानसे प्राप्त जैन तीर्थङ्करकी पाषाणमयी दिगम्बर प्रतिमा ऐसा सूचित करती है कि इस प्रान्त में जैनधर्मका विशेष प्रभाव रहा है।" यहांके मन्दिरोंके खंडरोंकी दीवारोंपर यक्षों, किंपुरुषों गंधर्वों, विद्याधरों, किन्नरों आदिकी मूर्तियाँ भी खुदी हुई मिलती हैं।

सुन्दरवन—

सुन्दरबनका वन्य प्रदेश, प्राचीनकालमें समतट अथवा बागडी (व्याघ्रतटी) राज्यमें सम्मिलित था। सन् ई० की सातवीं शताब्दीमें, चीनी यात्री ह्वेनसांगने इस 'समतट' प्रान्त में अनेक जैनमन्दिर देखे थे। किन्तु अभी तक उन प्राचीन मन्दिरोंका वहाँ कोई चिन्ह नहीं मिला है।

कुछ चित्रित ईंटें, खण्डित पाषाण मूर्तियोंके टुकड़े, स्कन्दगुप्त व कुशान राजा हुविष्कके सिक्के आदि फुटकर वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं।

ताम्रलिप्ति—

इसका प्रचलित नाम तामलुक है और यह स्थान मिदनापुर ज़िलेमें अवस्थित है। महाकाव्यों, पुराणों तथा बौद्ध ग्रन्थोंमें इस नगरके उल्लेख आये हैं। ४ थी शताब्दी ईस्वीपूर्वसे १२ वीं शताब्दी ईस्वी तक यह स्थान एक प्रसिद्ध बन्दरगाह तथा व्यापारका भारी केन्द्र रहा था। चीनी यात्रियों—फ़ाह्यान, इत्सिंग तथा ह्वेनसांगने यहाँकी यात्रायें की थीं।

यद्यपि विद्वान लेखकसे यह बात छूट गई है, परन्तु प्राचीन जैन साहित्यमें भी इसी ताम्रलिप्ति (तामलित्ति, तामलिप्तिका, तामलित्तिपुर) नगरके उल्लेख अनेक स्थलों-में आये हैं; जैसेकि आचार्य हरिषेणके बृहत् कथाकोषकी कई कथाओंमें, जैनश्वेताम्बर आगमोंमें, प्राचीन कालके २५½ देशोंकी सूचीके अन्तर्गत वंगदेशकी राजधानीके रूपमें, इत्यादि। इन उल्लेखोंसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि प्राचीन कालमें जैनधर्मके साथ भी इस स्थानका विशेष संबंध रहा है।

चन्द्रनाथ—

चिटगाँव ज़िलेमें सीताकुंडके निकट 'चन्द्रनाथ' और 'सम्भवनाथ' के प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर हैं। इस समय ये दोनों मन्दिर शिवके माने जाते हैं और इस प्रदेशमें शैवमत-का ज़ोर है। किन्तु उपर्युक्त दोनों नाम क्रमसे ८ वें तथा ३ रे जैन तीर्थंकरोंके हैं, जिनकी कि अनेक प्राचीन मूर्तियाँ भी मिलती हैं। क्या आश्चर्य है यदि मूलमें इन जैन-तीर्थंकरोंसे ही उक्त स्थानका संबंध रहा हो।

चारित्र्यका आधार

[संयम और निष्ठा]

(ले०—श्री काका कालेलकर)

अपने जीवनको शुद्ध और समृद्ध बनानेकी साधना जिन्होंने की है, वे अनुभवसे कहते आये हैं कि "आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धि:"। इस सूत्रके दो अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि सत्त्वके दो माने हैं--शरीरका संगठन और चारित्र्य। अगर आहार शुद्ध है, याने स्वच्छ है, ताजा है, परिपक्व है, सुपाच्य है, प्रमाणयुक्त है और उसके घटक परस्परानुकूल हैं तो उसके सेवनसे शरीरके रक्त, मज्जा, शुक्र आदि सब घटक शुद्ध होते हैं। वात, पित्त, कफ आदिकी मध्यावस्था रहती है और सप्तधातु परिपुष्ट होकर शरीर निरोगी, सुदृढ, कार्यक्षम तथा सब तरहके आघात सहन करनेके योग्य बनता है और इस आरोग्यका मनपर भी अच्छा असर होता है।

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि:" का दूसरा और व्यापक अर्थ यह है कि आहार अगर प्रामाणिक है, हिंसाशून्य है, द्रोहशून्य है और यज्ञ, दान, तपकी फर्ज़ अदा करनेके बाद प्राप्त किया है तो उससे चारित्र्यशुद्धिको पूरी-पूरी मदद मिलती है। चारित्र्यशुद्धिका आधार ही इस प्रकारकी आहारशुद्धिपर है।

अगर यह बात सही है, आहारका चारित्र्यपर इतना असर है, तो विहारका यानी लैंगिक शुद्धिका चारित्र्यपर कितना असर हो सकता है, उसका अनुमान कठिन नहीं होना चाहिये।

जिसे हम काम-विकार कहते हैं अथवा लैंगिक आकर्षण कहते हैं, वह केवल शारीरिक भावना नहीं है। मनुष्यके व्यक्तित्वके सारे - के - सारे पहलू उसमें उत्तेजित हो जाते हैं, और अपना-अपना काम करते हैं। इसीलिये जिसमें शरीर, मन, हृदयकी भावनाएँ और आत्मिक निष्ठा—सबका सहयोग अपरिहार्य है, ऐसी प्रवृत्तिका विचार एकांगी दृष्टिसे नहीं होना चाहिये। जीवनके सार्वभौम और सर्वोत्तम मूलसे ही उसका विचार करना चाहिये। जिस आचरणमें शारीरिक प्रेरणाके वश होकर बाकी सब तत्त्वोंका अपमान किया जाता है, वह आचरण समाजद्रोह तो करता ही है; लेकिन उससे भी अधिक अपने व्यक्तित्वका महान द्रोह करता है।

लोग जिसे वैवाहिक प्रेम कहते हैं, उसके तीन पहलू हैं। एक भोगसे संबंध रखता है, दूसरा प्रजातन्तुसे और तीसरा भावनाकी उत्कटतासे। पहला प्रधानतया शारीरिक है, दूसरा मुख्यतः सामाजिक और तीसरा व्यापक अर्थमें अध्यात्मिक। यह तीसरा तत्त्व सबसे महत्त्वका सार्वभौम है और उसीका असर जब पहले दोनोंके ऊपर पूरा-पूरा पड़ता है, तभी वे दोनों उत्कट, तृप्तिदायक और पवित्र बनते हैं।

इन तीन तत्त्वोंमेंसे पहला तत्त्व बिल्कुल पार्थिव होनेसे उसकी स्वाभाविक मर्यादाएँ भी होती हैं। भोगसे शरीर क्षीण होता है। अतिसेवनसे भोग-शक्ति भी क्षीण होती है, और भोग भी नीरस हो जाते हैं। भोगमें संयमका प्रमाण जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक उसकी उत्कटता होगी। भोगमें संयमका तत्त्व आनेसे ही उसमें अध्यात्मिकता आ सकती है। संयमपूर्ण भोगमें ही निष्ठा और परस्पर आदर टिक सकते हैं और संयम और निष्ठाके बिना वैवाहिकजीवनका सामाजिक पहलू कृतार्थ हो ही नहीं सकता।

केवल लाभ-हानिकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी वैवाहिक जीवनका परमोत्कर्ष संयम और अन्योन्य निष्ठामें ही है। भोग-तत्त्व पार्थिव है और इसीलिये परिमित है। भावना-तत्त्व हार्दिक और आत्मिक होनेसे उसके विकासकी कोई मर्यादा ही नहीं है।

आजकलके लोग जब कभी लैंगिक नीतिके स्वच्छन्द-का पुरस्कार करते हैं, तब वे केवल भोग-प्रधान पार्थिव अंशको ही ध्यानमें लेते हैं। जीवनकी इतनी क्षुद्र कल्पना

वे ले बैठे हैं कि थोड़े ही दिनोंमें उन्हें अनुभव हो जाता है कि ऐसी स्वतन्त्रतामें किसी किस्मकी सिद्धि नहीं है और न सच्ची तृप्ति। ऐसे लोगोंने अगर उच्च आदर्श ही छोड़ दिया तो फिर उनमें तारक असन्तोष भी नहीं बच पाता। विवाह-सम्बन्धमें केवल भोग-संबंधका विचार करने वाले लोगोंने भी अपना अनुभव जाहिर किया है —

एतत्कामफलं लोके यद्द्वयोः एकचित्तता।
अन्यचित्तकृते कामे शवयोरिव संगमः॥

यह एकचित्तता यानी हृदयकी एकता अथवा स्नेह-ग्रन्थी अन्योन्यनिष्ठा और अपत्यनिष्ठाके बिना टिक ही नहीं सकती। बढ़नेकी बात दूर ही रही।

संयम और निष्ठा ही सामाजिक जीवनकी सच्ची बुनियाद है। संयमसे जो शक्ति पैदा होती है, वही चारित्र्य-का आधार है। जो आदमी कहता है—Jcan resist onything but temptatiun—वह चारित्र्यकी छोटी-मोटी एक भी परीक्षामें उत्तीर्ण न हो सकेगा। इसीलिए संयम ही चारित्र्यका मुख्य आधार है।

चारित्र्यका दूसरा आधार है निष्ठा। व्यक्तिके जीवनकी कृतार्थता तभी हो सकती है जब वह स्वतन्त्रतापूर्वक समष्टिके साथ ओत-प्रोत हो जाता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको सम्हालते हुये अगर समाज-परायणता सिद्ध करनी हो तो वह अन्योन्यनिष्ठाके बिना हो नहीं सकती और अखिल समाजके प्रति एकसी अनन्यनिष्ठा तभी सिद्ध होती है, जब आदमी ब्रह्मचर्यका पालन करता है, अथवा कम-से-कम वैवाहिक जीवन परस्पर दृढनिष्ठासे प्रारम्भ करता है। अन्योन्यनिष्ठा जब आदर्श कोटिको पहुंचती है तब वहींसे सच्ची समाज-सेवा शुरू होती है।

इस सब विवेचनका सार यह निकला कि "व्यक्तिगत विकासके लिये, कौटुम्बिक समाधानके लिये, सामाजिक कल्याणके लिये और आध्यात्मिक प्रगतिके लिये संयम और निष्ठा अत्यन्त आवश्यक हैं", और इसीलिये सामाजिक जीवनमें लैंगिक सदाचारका इतना महत्त्व है।

अब इस सदाचारका आत्यन्तिक स्वरूप क्या है, कौनसा स्वरूप तात्त्विक है और कौनसा साँकेतिक, यह विचार समय-समयपर करना पड़ता है। उसमें चन्द बातोंमें परिवर्तन भी आवश्यक हो, लेकिन इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि लैंगिक सदाचारके बिना समाज-सेवा निष्ठाके साथ हो नहीं सकती।

जिनका विकास एकांगी हुआ है अथवा जिनके जीवनमें विकृति आ गई है, उनसे भी कुछ-न-कुछ, सेवा ली जा सकती है; लेकिन वे समाजके विश्वासपात्र सदस्य नहीं बन सकते। समाज निर्भयतासे उनकी सेवा नहीं ले सकता और ऐसे आदमीका विकास अशक्यप्राय होता है। उसकी प्रतिष्ठा नाममात्रकी रहती है।

विषय गम्भीर है। उसके पहलू भी असंख्य है और इनका शुद्ध विचार करनेकी पात्रता आजके अपूर्ण समाजमें पूरी-पूरी है भी नहीं, तो भी इस विषयको हम छोड़ भी नहीं सकते। लीपा-पोतीसे काम नहीं चलता। केवल रूढिको सम्हालकर हम समाजको सुरक्षित नहीं रख सकते और अनेक रूढियोंका तुलनात्मक अध्ययन किये बिना और उनका सार्वभौम समन्वय किये बिना हम सामाजिक प्रगति भी नहीं कर सकते। इसीलिये समय-समयपर मनुष्य-जाति-को इस सवालकी चर्चा करनी ही पड़ती है।

(मधुकर)

धर्म और नारी

(लेखक—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी)

और पुरुष दोनों मिलकर ही मानवसमाजकी सृष्टि करते हैं, दोनों ही उसके प्राकृतिक, अनिवार्य्य, अभिन्न अङ्ग हैं। एकसे दूसरे की पूर्णता और अस्तित्व है। दोनों ही समानरूपसे मनस्वी होनेके कारण प्राणि-वर्गमें सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं।

किन्तु जब मनुष्यजातिके सामाजिकजीवन, और विशेषतया स्त्रीपुरुष-संबंधपर दृष्टिपात किया जाता है तो यह बात सहज ही स्पष्ट होजाती है कि जीवनके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विविध क्षेत्रोंमें प्राय: सर्वत्र और सर्व समयोंमें अधिकांशत: पुरुषवर्गका ही प्राधान्य एवं नेतृत्व रहा है। इस बातका सर्वमान्य कारण भी सामूहिक रूपमें पुरुषजातिके शारीरिक एवं मानसिक शक्ति-संगठनका स्त्री-जातिकी अपेक्षा श्रेष्ठतर होना है। इस स्वाभाविक विषमताके फलस्वरूप जहाँ एक ओर पुरुषके आत्मविश्वासमें महती वृद्धि हुई, उसकी उद्यमशीलता और कार्यक्षमताको प्रोत्साहन मिला तथा उसका उत्तरदायित्व बढ़ा, वहाँ दूसरी ओर उसने अपनी सामूहिक, और जब अवसर मिला तब व्यक्तिगत शक्तिविशेषका भरसक अनुचित लाभ उठाया तथा स्त्रीजातिपर मनमाने अन्याय एवं अत्याचार किये। उसके मस्तिष्कमें यह ठूंसनेका अथक प्रयत्न किया कि वह पुरुषकी अपेक्षा हीन है, उसका स्थान गौण है, वह पुरुषके आधीन है—आश्रित है, उसकी विषयतृप्ति की—ऐहिक सुख भोगकी—एक सामग्री है, उसकी भोगैषणा की पूर्तिका साधनमात्र है अथवा उसका अपना निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व है ही नहीं, जो कुछ यदि है तो वह पुरुषके ही व्यक्तित्व और अस्तित्वमें लीन होजाना चाहिये।

पुरुषकी नारी-विषयक इस जघन्य स्वार्थपरतामें उसका सबसे बड़ा सहायक रहा है धर्म! मनुष्यके जीवनमें धार्मिक विश्वासका प्रमुख स्थान रहता आया है। और जब जब, जातिविशेषके दुर्भाग्यसे, संयोगवश अथवा किन्हीं राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक कारणोंसे उक्त जातिमें बुद्धिमानों का अभाव, ज्ञान और विवेककी शिथिलता, तज्जन्य अज्ञान, अविवेक, रूढ़िवादिता एवं वहमोंका प्रस्तार-प्रभाव बढ़ जाता है तो उस जातिके नैतिक पतनके साथ साथ धर्मके गौण बाह्य क्रियाकाण्डों और ढोंगोंका प्राबल्य भी हो जाता है। विवेकहीन, विषयलोलुपी स्वार्थी धर्मगुरु और धर्मात्मा कहलाने वाले समाज-मान्य मुखिया समाजका नियन्त्रण और शासन करने लगते हैं, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वे अपनी टाँग अड़ाते हैं और मदाखलत बेजा करते हैं। उनके आदेश ही धर्माज्ञा होते हैं, वे जो व्यवस्था दे देते हैं उसका कोई अपील नहीं। धर्मके वास्तविक कल्याणकारी तत्वों एवं मूलसिद्धान्तोंकी वे तनिक भी पर्वाह नहीं करते, जानबूझकर अक्सर उनकी अवहेलना ही करते हैं और दुर्बल समाज मानसिक पराधीनताकी बेड़ियोंमें भी जकड़ जाता है। स्त्रीजाति पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक भावप्रवण होने और स्वयं में हीनताका दृढ़ विश्वास (Inferiority complex) होनेके कारण, अपने ही लिये अधिक अपमानजनक, कष्टकर एवं अकल्याणकारी ऐसी उन धर्मगुरुओंकी आज्ञाओंको श्रद्धापूर्वक, बिना चूँ चरा किये शिरोधार्य करनेमें सबसे अधिक उत्साह दिखाती है। और इसीलिये एक पाश्चात्य विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि—"clergy have been the worst enemies of women, whmen are their best friends." अर्थात् धर्मगुरु स्त्रियोंके सबसे बड़े शत्रु रहे हैं और स्त्रियाँ उनकी सबसे बड़ी मित्र रही हैं'। फलस्वरूप किसी भी सभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य, पाश्चात्य, पौर्वात्य, प्राचीन, अर्वाचीन मनुष्यसमाजका इतिहास उठाकर देखिये, किसी न किसी समाजकी थोड़े या अधिक काल तक, उसके पुरुषवर्ग तथा वैसे धर्मगुरुओंने, चाहे किसी भी धर्मविशेषसे उनका संबंध क्यों न रहा हो, स्त्रीजातिके प्रति अपनी तीव्र असहिष्णुताका परिचय दिया ही है। उन सबने ही अपने अपने धर्मगुरुओंकी आड़ लेकर

उसके प्रति अपना विद्वेष और उसपर पुरुषजातिका सर्वाधिकार चरितार्थ किया है। उदाहरणार्थ:—

ईसाइयोंकी बाइबिलमें नारीको सारी बुराइयोंकी जड़ (root of all evil) कहा है, ईसाई धर्मयाजकोंने उसे शैतानका दरवाजा (Thou art the devil's gate !) कहकर पुकारा है। छठी शताब्दी ईस्वीमें ईसाई धर्मसंघने यह निश्चित किया था कि स्त्रियोंमें आत्मा नहीं होती।

इस्लाम धर्मकी कुरानमें स्त्रियोंका ठीक ठीक क्या स्थान है, यह बात समझाकर बतलाना कठिन है। हार्नबेक और रिकाट (Hornbeck. Ricaut) आदि ग्रंथकारोंका तो यह कहना है कि मुसल्मानोंके मतसे भी नारीके आत्मा नहीं होती और नारियोंको वे लोग पशुओंकी तरह समझते हैं। उत्तर कालीन वैदिक धर्ममें स्त्रियोंको शास्त्र सुनने तकका अधिकार नहीं है (स्त्री न श्रुतिगोचरा), मनु आदि स्मृतिकारोंने स्पष्ट कथन किया है कि स्त्रियाँ जनने और मानव-सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही बनाई गई हैं*। अन्य हिन्दु पौराणिक ग्रन्थोंमें भी नारीको पतिकी दासी, अनुगामिनी, पूर्णतः आज्ञाकारिणी रहने और मन-वचन-कायसे उसकी भक्ति करने+ तथा उसकी मृत्युपर जीवित ही चितापर जलकर सहमरण करनेका विधान किया गया है। मध्यकालीन प्रसिद्ध हिन्दु धर्माध्यक्ष शंकराचार्यने नरकका द्वार (द्वारं किमेकं नरकस्य नारी) घोषित किया है। और नीतिकारोंने तो 'स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः' कह कर उसके चारित्रको यहाँ तक संदिग्ध, रहस्यमय अथवा अगम्य बतलाया है कि उसे मनुष्योंकी तो बात ही क्या, देवता भी जान नहीं पाते !

बौद्धभिक्षु सुमन वात्स्यायनके अनुसार बुद्धकालीन समाज स्त्रियोंको इतनी हेय और नीच दृष्टिसे देखता था कि सर्व प्रथम जब बुद्धकी मौसी और मातृवत् पालन पोषण करने वाली प्रजापति गौतमीके नेतृत्वमें स्त्रियोंने संघमें शामिल होनेकी बुद्धसे प्रार्थना की तो उन्हें हिचकिचाहट हुई। इसे स्त्रियोंके प्रति बुद्धकी दुर्भावना ही समझा जाता है। बुद्धने उन्हें पहले गृहस्थ ही में रहकर ब्रह्मचर्य और निर्मल-जीवन द्वारा अन्तिम फल पानेके लिये उत्साहित किया; बादको जब परिस्थितियोंसे विवश होकर भिक्षुणी संघ बनानेका आदेश भी दिया तो उसके नियमोंमें भिक्षु संघसे भेद भी किये, जिन्हें देशकाल और परिस्थितियोंके कारण आवश्यक बताया जाता है। बुद्धने भी स्त्रियोंकी निन्दा की ही है और पुरुषोंको उनसे सचेत रहनेका आदेश दिया है। वस्तुतः, श्रीमती सत्यव्रती मल्लिकके शब्दोंमें× "जातक ग्रन्थों एवं अन्य बौद्ध साहित्यमें अनेक स्थलोंपर नारीके प्रति सर्वथा अवांछनीय मनोवृत्तिका उल्लेख है।" बौद्धप्रधान चीनदेशकी स्त्रियोंकी दुर्दशाकी कोई सीमा नहीं है और उन्हीं जैसी अवस्था जापानकी स्त्री जातिकी थी, किन्तु जापान अपनी स्त्रियोंका स्थान उसी दिनसे उन्नत कर सका जिस दिनसे अपनी सामाजिक रीति-नीतिके अच्छे बुरेका विचार वह धर्म और धर्म-व्यवसाइयोंके चंगुलसे बाहिर निकाल सका।

जैन धार्मिक साहित्यकी भी, चाहे वह श्वेताम्बर हो अथवा दिगम्बर, प्रायः ऐसी ही दशा है। श्वेताम्बर आगम-साहित्यके प्राचीन प्रतिष्ठित 'उत्तराध्ययन' सूत्रमें एक स्थानपर लिखा है कि स्त्रियाँ राक्षसनियाँ हैं, जिनकी छातीपर दो मांसपिण्ड उगे रहते हैं, जो हमेशा अपने विचारोंको बदलती रहती हैं, और जो मनुष्यको ललचाकर उसे गुलाम बनाती हैं। इस सम्प्रदायके अन्य ग्रन्थोंमें भी ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं। पांचवें अङ्गसूत्र भगवतीके (शतक ३-७) देवानन्द-प्रसंगमें चीनांशुक, चिलात और पारसीक देशकी दासियोंका, ज्ञाताधर्मकथाङ्गके मेघकुमार-प्रसंगमें १७ विभिन्न देशोंकी दासियोंका तथा उववाइ सूत्रमें भी अनेक देशोंकी दासियोंका उल्लेख है। इसी भाँति दिगम्बर साहित्य भी स्त्री निन्दा-परक कथनोंसे अछूता नहीं रहा है।

---

* प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः (मनु ९-९६)
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ (मनु० ९-२७)

+१ वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसे हु पतिकर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना।
एकै धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति-पद प्रेमा ।
(रामचरितमानस)

२ विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥(मनु०५-१५४)

× प्रेमीअभिनन्दनग्रंथ पृ० ६७२-(भारतीय नारीकी बौद्धिक देन

वास्तवमें संसारके प्रत्येक देश, जाति धर्म संस्कृति और सभ्यताके अतीत इतिहास एवं वर्तमान वस्तुस्थित परसे ऐसे अनगिनत उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे कि उनमें स्त्रीजातिपर पुरुष जातिके अत्याचार और अन्याय-का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। क्या प्राचीन भारत, चीन, मिश्र, बेबिलोनिया, सुमेरिया, यूनान और रोम, क्या अर्वाचीन युरोप, अमेरिका और एशिया अथवा अफ्रीका, अमेरिका, पूर्वी पश्चिमी द्वीपसमूहों तथा अन्य स्थानोंकी अर्धसभ्य, असभ्य जातियाँ सभीने धर्मतः, कानूनन अथवा रिवाजन, न्यूनाधिकरूपमें नारीको पुरुषकी सम्पत्ति, उसके स्वत्वाधिकारकी वस्तु और एक उपभोग्य सामग्री समझा है। और कोई भी धर्म इस बातका दावा नहीं कर सकता कि उसके किसी भी धर्मगुरुने कभी भी स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा हीन नहीं समझा, उसकी उपेक्षा और निन्दा नहीं की।

किन्तु इतनेपर भी यह प्रायः देखनेमें आता है कि प्रत्येक धर्मके अनुयायी दूसरे धर्मोकी निन्दा इस बातको लेकर करते हैं कि उनमें स्त्री जातिके प्रति अन्याय किया गया है। अपने धर्मकी विशेषताओं, अच्छाइयों और खूबियोंको संसारके सामने रखनेमें कोई दोष नहीं है, किन्तु यदि दूसरोंकी कोरी निन्दा और छीछालेदर करके मुकाबलेमें स्वधर्मकी श्रेष्ठता स्थापित करनेका प्रयत्न किया जाता है तो वह अवश्य ही अनुचित एवं निन्दास्पद कहा जायगा, और विशेषकर जबकि वैसी बुराइयोंसे अपना वह धर्म अथवा उसका साहित्य और संस्कृति भी अछूती न बची हों! परन्तु हो यही रहा है। इस विज्ञापन-प्रधान युगकी विज्ञापनवाज़ी का प्रवेश धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्रमें भी खूब कराया जारहा है। 'धर्मदूत' वर्ष ११ अंक २-३ पृष्ठ २३ पर एक बौद्धविद्वान्का लेख 'बुद्ध और नारीसमाज' शीर्षकसे प्रकाशित हुआ है, जिसमें बौद्धेतर हिन्दु, जैन आदि धर्मोंमें नारीकी हीनावस्थाका दिग्दर्शन कराते हुए बौद्धधर्ममें उसका स्थान अपेक्षाकृत श्रेष्ठ एवं न्यायपूर्ण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार 'प्राचीनभारत' चैत्र १९९७ पृ० १५६ पर डा० एस० मुकर्जीका लेख 'जैनधर्ममें नारी का स्थान' शीर्षकसे प्रकट हुआ था। विद्वान् लेखकने स्वयं अजैन होते हुए भी यह लेख, संभवतया किसी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिसे अभिभूत महाशयकी प्रेरणापर, श्वेताम्बर दृष्टिकोणसे लिखा है। इस लेखमें यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है कि जैनधर्मके श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अपेक्षा दिगम्बर सम्प्रदाय बहुत अनुदार, संकीर्ण और अविवेकी है; क्योंकि उसमें स्त्रीमुक्तिका निषेध किया है, जबकि श्वेताम्बर संप्रदाय में उसका विधान है। लेखकने दिगम्बर सम्प्रदायके संबंधमें कितनी ही भ्रमपूर्ण, निस्सार एवं अयथार्थ बातें लिखकर अपने मतकी पुष्टि करनी चाही है। और प्रसंगवश, हिन्दू-धर्ममें नारीकी सम्मानपूर्ण श्रेष्ठताका भी प्रतिपादन कर दिया है!!

वास्तवमें स्त्रीमुक्तिका प्रश्न जैनधर्मकी एक गौण सैद्धान्तिक मान्यतामात्र है इस मान्यताका प्रारम्भ और इतिहास बहुत कुछ अंधकारमें है, और वर्तमान वस्तुस्थिति पर इसका कुछ भी असर नहीं पड़ता। किन्तु फिर भी इसी प्रश्नको लेकर दोनों सम्प्रदायोंके बीच काफ़ी खींचतान और और एक प्रकारका कल्पित भेद खड़ा किया जाता है। दोनों ही सम्प्रदायोंके कितने ही विद्वान इस प्रश्नके पक्ष-विपक्षका प्रतिपादन करनेमें अपनी शक्ति और समयका व्यर्थ दुरुपयोग करते देखे जाते हैं। यूरोपीय तथा भारतीय अजैन विद्वानोंको जैनधर्मका जो परिचय दिया गया—और प्रारंभ में तथा अधिकांश में वह परिचय श्वेताम्बर बंधुओं द्वारा दिया गया—उसमें भी उन्होंने प्रायः इसी बातपर जोर दिया कि श्वेताम्बर स्त्रीमुक्ति मानते हैं दिगम्बर नहीं मानते, दोनों सम्प्रदायोंमें यही मुख्य भेद है। अतः अजैन विद्वानोंकी जैनधर्म-सम्बन्धी रचनाओंमें इसी मान्यताका विशेष रूपसे उल्लेख मिलता है। जैनसिद्धान्त और साहित्यका गम्भीर अध्ययन करनेके उपयुक्त साधनों और अवकाशके अभावमें वे इन संक्षिप्त संकेतोंपर ही संतोष कर बैठे हैं।

वस्तुतः दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही इस विषयमें बिल्कुल एकमत हैं कि भगवान महावीरके निर्वाणके ३-४ वर्ष बाद ही, जैनकालगणनानुसार, चौथे कालकी समाप्ति होगई थी। इसके बाद पंचमकाल शुरू हुआ जिसकी अवधि २१००० वर्ष है, उसके बाद २१००० वर्षका छठा काल आयेगा, फिर उतने ही वर्षोका उत्सर्पिणीका छठा काल आयेगा, उसके पश्चात् उतने ही वर्षोका पंचमकाल

आयेगा और तत्पश्चात् चौथा काल चलेगा। अर्थात् गत चतुर्थकालकी समाप्ति और भावी चतुर्थकालके प्रारम्भके बीचमें ८४००० वर्षका अन्तर है और मोक्ष चौथे कालमें ही होती है। इसका यह अर्थ है कि पिछले कोई ढाई हजार वर्षोंमें (ठीक ठीक २४१० वर्ष में) किसी भी स्त्री या पुरुष ने परममुक्ति प्राप्त नहीं की और न आगे करीब ८१५०० वर्ष तक वैसा करना संभव है। आज कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जो गत २५०० वर्षकी अपनी प्रमाणिक शृङ्खला बद्ध वंशपरम्परा बता सके अथवा इस बातकी गारंटी कर सके कि आगामी ८१५०० वर्षतक उसकी वंशजपरम्परा अविच्छिन्न चलेगी। दोनों ही बातें मानवके सीमित ज्ञानकी परिधि के बाहर हैं, १प्रागैतिहासिकता, २अनागत सुदूर भविष्यकी। अतएव कोई भी व्यक्ति वर्तमानमें यह कह ही नहीं सकता है कि उसके अमुक निजी पूर्वजने मुक्ति प्राप्त की या वह स्वयं कर सकता है, अथवा उसका कोई भी निजी वंशज कर सकेगा। तब विवाद किस बातका? और स्त्रीमुक्ति के प्रश्नको लेकर व्यर्थकी माथापच्ची किस लिये?

जहाँ तक प्रश्न आत्मकल्याणका है, आत्मोन्नति और आत्मीय गुणोंके विकासका है अथवा सच्चारित्र, सदाचार, शील-संयम आदिके पालन, धर्मका साधन और धार्मिक उसूलोंपर आचरण करके अपने और दूसरोंके लिये इहलौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करने-कराने तथा अपना परमार्थ सुधारने और अपने लिये मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करनेका है वह जैनधर्मके अनुसार, आज भी प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, जैन हो या अजैन, समान रूपसे अपनी अपनी शक्ति और रुचिके अनुसार पूरी तरह कर सकता है। कोई भी धार्मिक मान्यता उसमें बाधक नहीं. और न धर्मानुकूल कोई रिवाज या सामाजिक नियम ही उसमें किसी प्रकारकी रुकावट डालता है। जैनधर्मका इतिहास, जैन समाजकी जीवनचर्या और जैनसाहित्य इसके साक्षी हैं। दिगम्बर जैनआगम ग्रन्थोंका संकलन और लिपिबद्ध होना तथा उनके स्वतंत्र धार्मिक साहित्यकी रचनाका प्रारंभ भगवान महावीरके निर्वाणके लगभग ५०० वर्षके भीतर ही (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्वमें) होगया था और श्वे० जैनआगम साहित्यका भी संकलन व लिपिबद्ध होना तथा स्वतन्त्र ग्रन्थरचनाका प्रारम्भ उनके लगभग एक हजार वर्ष बाद (५ वीं शताब्दी ईस्वीके अन्तमें) हो गया था। उसके पश्चात विभिन्न भाषाओंमें विविध-विषयक उच्चकोटिके विपुल जैनसाहित्यकी रचना हुई, जिसके प्रणयन और प्रचारमें जैनस्त्रियों और पुरुषों सभीने योग दिया है*।

स्त्रीमुक्तिको मानने या न माननेसे भी उभय सम्प्रदायोंमें नारीकी स्थितिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। आम्नाय-भेद रहते हुए भी श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंका सामाजिक जीवन, आचारविचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज प्राय: एकसे हैं दोनोंके अनुयायियोंमें परस्पर आदान-प्रदान, रोटी बेटी व्यवहार भी होता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें नारीकी स्थिति और अवस्था दिगम्बर सम्प्रदायकी अपेक्षा किसी अंशमें भी श्रेष्ठतर नहीं रही है और न है। बल्कि दिगम्बर सम्प्रदायकी स्त्रियाँ ही प्राय: करके अधिक सुशिक्षित, सुसंस्कृत और धर्मपालनमें स्वतन्त्र रहती आई हैं, और आज भी हैं। जबकि श्वेताम्बर गृहस्थ पुरुषोंको भी आगम ग्रन्थोंके अध्ययन करनेकी मनाई है दिगम्बर समाजकी स्त्रियाँ सभी सभी शास्त्रोंका अभ्यास करती हैं, शास्त्रोपदेश भी देती हैं। श्रवण बेलगोलके शिलालेखोंसे पता चलता है कि वे मुनिसंघों की अध्यापिका तक रही हैं+। श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध दार्शनिक रत्नप्रभाचार्यने अपनी समकालीन दिगम्बर साध्वियोंके सम्बन्धमें स्वयं कहा

* कर्णाटककी कान्ति नामक दि० जैन-महिला-कवि छन्द, अलङ्कार, काव्य, कोष व्याकर आदि नाना ग्रन्थोंमें कुशल थी। बाहुबलि कविने इसकी बहुत बहुत प्रशंशा करके इसे 'अभिनव वाग्देवी' की पदवी दी थी। द्वारसमुद्रके बल्लालराजा विष्णुवर्धनकी सभामें महाकवि पंप और कान्तिका विवाद हुआ था। कन्नड़-कवि-चक्रवर्ती रन्नकी पुत्री अतिमब्बे भी परम विदुषी थी. उसीके लिये रन्नने अजित पुराणकी रचनाकी थी। सेनापति मल्लपकी पुत्री अत्तिमब्बेने उस युगमें जबकि छापेका आविष्कार नहीं हुआ था, पोन्नकृत शान्तिपुराणकी १००० हस्त लिखित प्रतिलिपियें कराकर वितरणकी थीं। इस प्रकारके और भी अनेक उदाहरण जैनइतिहाससे दिये जा सकते हैं।

+ प्रेमी अभिनन्दन ग्रं० पृ० ६८६; तथा जैन शिलालेख-संग्रह २३, २७, २८, २९, ३५.

है कि कई परिव्राजिकाएँ सिर मुंडन कर, मोरपंख और कमंडल लिये तपस्या किया करती थीं।' उनके पर्यटन और स्वतंत्र विहारमें कोई रुकावट न थी, जबकि श्वेताम्बर आर्यिकाएँ प्राय: उपाश्रयोंमें ही रहती हैं।

वास्तवमें आज जितना धर्मसाधन, आत्मकल्याण और अपने व्यक्तित्वका विकास एक पुरुष कर सकता है उतना ही एक स्त्री भी कर सकती है, इस विषयमें दोनों ही सम्प्रदायोंमें कोई मतभेद नहीं है। और साथ ही एक पुरुष भी यदि वह कुशील है, चारित्र्यहीन है। अपङ्ग अपाहज या शक्ति-सामर्थ्यहीन है तो वह भी कभी सर्वोच्च पदकी प्राप्ति उसी जीवनमें नहीं कर सकता, इस कार्यकी सफलताके लिये तो सर्वाङ्ग सर्वश्रेष्ठ शारीरिक मानसिक संगठन तथा सर्वोत्तम चारित्र, पूर्ण वीतरागताका होना अत्यन्त आवश्यक है।

जहाँ तक धर्मसाधन और स्त्री-पुरुष सम्बन्धका प्रश्न है, उस विषयमें किसी अन्य धर्मने स्त्री पुरुषके बीच कोई भेद भले ही किया हो, किन्तु जैनतीर्थङ्करों और धर्माचार्योंका दृष्टिकोण सदैवसे बहुत ही उदार एवं साम्यवादी रहा है। उन्होंने मोक्ष प्राप्तिका आधार किसी व्यक्ति या शक्ति विशेष की अनुकम्पा, अनुग्रह अथवा प्रसन्नताको नहीं रक्खा, वरन् प्रत्येक व्यक्तिके अपने स्वयंके किये कर्मों, पुरुषार्थों और आचरणोंके ऊपर उसे अवलम्बित किया है। इस सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वोपार्जित कर्मके अनुरूप ही अपनी भावी अवस्था और स्थितिका स्वयं ही निर्माण करता है। उसका भविष्य और उस भविष्यका बनाना बिगाड़ना उसके अपने आधीन है, दूसरे किसीका उसमें कोई दखल नहीं। इतना ही नहीं, वह सद्धर्माचरण, तप-संयम, तथा क्रोधादि कषायोंकी मन्दतारूप अपने वर्तमानमें किये सदुद्योगों द्वारा पूर्वोपार्जित दुष्कर्मोंके अशुभ फलमें भी परिवर्तन कर सकता है, कभी कभीके पिछले बंधे कर्मोंका भी नाश कर सकता है, और अपने लिये मुक्तिका मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अहिंसाके स्व-पर-हितकारी आचरणसे और स्याद्वादात्मक अनेकान्त दृष्टिसे उत्पन्न सहिष्णुता और सहनशीलतासे वह न सिर्फ अपने व्यक्तिगत जीवनको ही वरन् समस्त सामाजिक एवं राष्ट्रीय अन्तरराष्ट्रीय जीवनको भी सुख और शान्ति पूर्ण अवश्य ही बना सकता है। और ये बातें स्त्री तथा पुरुष दोनोंके लिये समान रूपसे लागू होती हैं। जैनाचार्योंने 'वस्तुके स्वभाव' को धर्म कहा है अर्थात् जो जिस चीजका स्वभाव होता है—उसका निजी गुण होता है—वही उसका धर्म है। आत्माकी जो असलियत है, उसके जो परानपेक्ष वास्तविक निजी गुण हैं वही सब उसका धर्म है, उसकी मौजूदगीमें ही उसे सच्चा सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जिन क्रियाओंके द्वारा या जिस मार्गपर चलकर आत्मा अपने उस असली स्वभावको प्राप्त होता है व्यवहारमें, उस मार्ग या क्रियाओंको ही धर्म कहते हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्यके अनुसार इस धर्मका कार्य प्राणियोंको दुःखसे निकालकर सुखमें धारण करना है*। स्त्री और पुरुष दोनोंकी ही आत्माएँ समान हैं, उनके आत्मीक गुण और स्वभाव बिल्कुल यकसाँ हैं, उनमें तानकसा भी अन्तर नहीं होता। दुःख और सुखका अनुभव तथा दुःखसे बचने और सुख प्राप्त करनेकी इच्छा भी दोनोंमें बराबर है अपने धर्म अर्थात् स्वभावको हासिल करनेका दोनोंको समान अधिकार है, और उस धर्मके साधनमें दोनों ही समान रूपसे स्वतन्त्र हैं। ऐसी जैनमान्यता है और इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय पूर्णतया एकमत हैं।

धर्मके आदिप्रवर्तक प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवने भोगप्रधान अज्ञानी मानव समाजमें सभ्यताका सर्व प्रथम संचार किया था, उन्होंने उसे कर्म करनेके लिये प्रोत्साहित किया, विविध शिल्पों और कलाओंकी शिक्षा दी, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था स्थापितकी। उन आदिपुरुषने अपने अनेक पुत्रोंके साथ साथ अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरीको भी विशेषरूपसे शिक्षा-दीक्षा दी थी। कुमारी ब्राह्मीके लिये ही सर्वप्रथम लिपिकलाका आविष्कार किया था, और इसीलिये भारतवर्षकी प्राचीनतम लिपि 'ब्राह्मी' कहलाई—ऐसी जैन अनुश्रुति है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें उल्लेखित चक्रवर्ति नरेशोंकी पत्नियाँ इतनी शक्तिमती होती थीं कि वे अपनी कोमल अंगुलियोंसे वज्रसदृश रत्नों (हीरे जवाहरात आदि) को चूर्ण करदेती थीं और अपने पतियोंकी विजययात्राके उपलक्षमें उस चूर्णसे चौक पूरती थीं। ब्राह्मी, अंजना, सीता, मैना, राजुल,

* संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।—र.क.श्रा. १-२

सुलोचना, चन्दना, चेलना आदि अनेक सती साध्वी, आदर्श गृहस्थ तथा दीक्षा के पश्चात् परम तपस्विनियोंकी यशोगाथासे जैनपुराण व चारित्र ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इन देवियोंने अपना स्वयंका तो कल्याण किया ही, अपने सम्पर्कमें आनेवाले अनेक पुरुषोंका भी उद्धार किया है। जब उन्हें वैराग्य हुआ और उन्होंने आत्मसाधन करनेकी ठानी तब ही पति, पुत्र, परिजन, घर सम्पत्ति, भोग ऐश्वर्य सब ठुकराकर, तपस्विनी बन वनका मार्ग लिया; पतिका कोई अधिकार या राज्य अथवा समाजका कोई कानून उन्हें ऐसा करनेसे न रोक सका।

ऐतिहासिक कालमें ही, जैसा कि एक विद्वानका कथन है*, हमारे देशमें जब उन्नति हो रही थी तब स्त्रियोंका खूब आदर था और वे शिक्षिता थीं। भगवान महावीरके पिता अपनी पत्नीका कैसा आदर करते थे यह निम्न श्लोकसे स्पष्ट है:—

आगच्छन्तीं नृपो वीक्ष्य प्रियां संभाष्य स्नेहतः।
मधुरैर्वचनैस्तस्यै ददौ स्वार्धासनं मुदा ॥

अर्थात्—राजा (सिद्धार्थ) ने अपनी प्रियाको दर्बारमें आते देखकर उनसे मधुर वाक्योंमें प्रेमपूर्वक आलाप किया और प्रसन्न होते हुए उन्हें अपना आधा सिंहासन बैठनेको दिया, जिसपर वे जाकर बैठीं।

स्वयं भगवान महावीरने अपने ६ महीनेके उपवासके पश्चात् जो पारणा किया (आहार ग्रहण किया) वह बेड़ियोंमें जकड़ी अति दीन हीन चन्दनाके अधकचरे साबुत उड़दों जैसे तुच्छ खाद्यका था। अनेक राजा एवं धनिक श्रेष्ठी उन्हें उस समय श्रेष्ठ सुस्वादु भोजन करानेके लिये लालायित थे! भ० महावीरने स्त्रियोंको जिनदीक्षा देनेमें म० बुद्ध जैसी हिचकिचाहट नहींकी सती चन्दनबालाके नेतृत्वम, मुनिसंघके साथ ही साथ, आर्यिकासंघका भी निर्माण किया। वास्तवमें जैनआर्यिकासंघका यह निर्माण बौद्ध भिक्षुणी संघसे पहिले हो चुका था। भ० महावीरके अनुयायियोंमें मुनियोंकी अपेक्षा आर्यिकाओंकी और श्रावकोंकी अपेक्षा श्राविकाओंकी संख्या कई गुनी अधिक थी+।

उनको समवसरण सभामें स्त्री पुरुषोंको साथ साथ बैठकर धर्मोपदेश सुनने और अपना २ आत्मकल्याण करनेका समान अवसर प्राप्त था।

व्यवहारिक दृष्टिसे, जैनस्त्रियोंने धार्मिक तथा लौकिक दोनों ही क्षेत्रोंमें, अपनी हीनताका अनुभव कमसेकम जैनधर्मके कारण कभी नहीं किया। मध्यकालीन भारतमें, विशेषकर दक्षिण प्रान्तमें जहाँकि उस युगमें जैनधर्मका अत्यधिक प्रभाव एवं प्रचार था जैनस्त्रियोंने स्वयं राज्य किया, राज्यकार्यमें अपने पति पुत्रादिकोंको सक्रिय सहयोग दिया, सैन्यसञ्चालन किया, ग्रन्थ निर्माण किये कराये, साहित्य प्रचार किया, धर्मप्रचार किया, मन्दिर आदि निर्माण कराये, धर्मोत्सव और प्रतिष्ठायें कराई, श्राविका और आर्यिका संघोंका नेतृत्व किया, अध्यापन किया, उपदेश दिये, तपस्याएँ की, समाधिमरण किये इत्यादि×।

जैनधर्मके अनुसार, पत्नी अपने पतिके धर्मकार्यों और पुण्य प्रवृत्तियोंमें तो सहायक हो सकती है किन्तु वह उसके अधर्माचरण और पाप प्रवृत्तियोंमें सहयोग देने या उनमें उसका अनुगमन करनेके लिये कतई बाध्य नहीं है। बिल्वमंगल जैसे उदाहरण जैन संस्कृतिमें नहीं मिलेंगे और

* जैन हितैषी वर्ष ११ अंक ३ पृ० १८६

\+ अनेकान्त वर्ष ३ कि० १ पृ० ४५ सौ० इन्दुकुमारीका लेख 'वीरशासनमें स्त्रियोंका स्थान'।

× (i) Dr. Saletore—Mediaeval Jainism, ch. V—'Women as defenders of the Faith'.

(ii) Dr. B. C. Law—'Distinguished men and women in Jainism'—Indian Culture Vol. II & III.

(iii) श्री त्रिवेणी प्रसाद—'जैन महिलाओंकी धर्मसेवा'- जै० सि० भा० ८-२ पृ० ६१

(iv) पंडित चन्दाबाई जैन—'धर्मसेविका प्राचीन जैन-देवियाँ'—प्रे० अ० ग्रंथ पृ० ६८४

(v) मथुराके प्राचीन जैनपुरातत्वमें अनेक जैनमहिलाओं-की जिनमें गणिकायें तक भी सम्मिलित हैं, धर्म-सेवाके उल्लेख मिलते हैं।

(vi) सागर और मलयाचलके बीच, दक्षिणस्थ वेणूर देशमें अजिलवंशकी जैनरानी पदुमला देवीने सन् १६८३ से १७२१ तक राज्य किया—अनेकान्त २-७ पृ० ३८४

पतिके लिये सहमरण करनेको तो जैनधर्ममें महापातक माना है। यहाँ स्त्री पतिकी सम्पत्ति नहीं है और न उसके भोगकी सामग्री मात्र ही. उसका स्वयंका दायित्व भी है और उसका उत्तराधिकार भी स्वतन्त्र है। वह अपने घरकी स्वामिनी है, और अपना नैतिक उत्कर्ष एवं आत्म-कल्याण करनेमें किसीकी अपेक्षा नहीं रखती। जैनधर्ममें कन्या हिन्दु धर्मकी भाँति दान देनेकी वस्तु भी नहीं है। जैनविवाहपद्धतिके अनुसार कन्यादान नहीं किया जाता, उसमें कन्या द्वारा पतिका वरण ही होता है, और उसके साथ सप्तपदीके रूपमें कुछ शर्तें भी होती हैं जिनके पालन करनेकी वरको प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। इसप्रकार जैन-संस्कृतिमें नारीका स्थान सुनिश्चित् एवं सम्मानपूर्ण है*।

आत्मसाधनके हित संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होनेका उपदेश सभी धर्मोंके आचार्योंने दिया है, और स्त्री जातिके भी पुरुषके इन्द्रिय भोगोंका एक प्रधान साधन होने तथा नारीके प्रति उसकी विषयासक्तिके उसकी आत्म-कल्याणमें रुचि होनेके मार्गमें एक भारी रुकावट होनेके कारण आत्मार्थी पुरुषके लिये उसे घृणित. निन्दनीय एवं त्याज्य प्रदर्शित किया है। ठीक इसी वृत्तिसे प्रेरित होकर, निवृत्ति प्रधान जैनधर्मके ब्रह्मचर्यव्रतधारी, निस्पृह. अपरि-ग्रही, ज्ञानध्यानतप लीन निर्ग्रंथ साधुओंने आत्मकल्याण साधनमें स्त्रीप्रसंग द्वारा होने वाले दोषों और बाधाओंपर प्रकाश डाला है, और प्रसंगवश स्त्रीजातिकी बहुत कुछ निन्दा भी की है। किन्तु इसपर भी, इन जैनाचार्योंकी एक भारी विशेषता यह रही है कि कथन करनेकी भाषा संबंधी सुविधाके लिये ही ऐसे कथन प्राय: पुरुषपक्षसे किये गये हैं और इसीलिये उनमें विरक्ती स्त्रीजातिके संसर्गकी निन्दा की गई है, किन्तु उक्त कथन समान रूपसे स्त्रीपक्षमें पुरुष जातिके लिये भी उपयुक्त समझने चाहियें। उदाहरणार्थ, दिगम्बर जैनआचारके प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ 'भगवती आराधना' (आश्वास ६, गाथा ९९१-१००२) में सन् ईस्वी पूर्वके प्रथम शताब्दीमें होने वाले आचार्य शिवार्यने स्पष्ट कथन किया है कि —

ऊपर कहे हुए दोष स्त्रियोंमें हैं, उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो वे उसे भयानक दीखेंगी और उसका चित्त उनसे लौटेगा ही। किन्तु नीच स्त्रियोंमें जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषोंमें भी रहते हैं, इतना ही नहीं, स्त्रियोंकी अपेक्षा उनकी अज्ञादिकोंसे उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहनेसे उनमें स्त्रियोंसे भी अधिक दोष रहते हैं। शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषोंको स्त्री जैसे निदनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है वैसे ही शीलका रक्षण करने वाली स्त्रियोंको भी पुरुष निदनीय अर्थात् त्याज्य हैं। संसार शरीर भोगोंसे विरक्त मुनियोंके द्वारा स्त्रियाँ निन्दनीय मानी गई हैं, तथापि जगतमें कितनी ही स्त्रियाँ गुणातिशयसे शोभायुक्त होनेके कारण मुनियोंके द्वारा भी स्तुति योग्य हुई हैं. उनका यश जगतमें फैला है, ऐसी स्त्रियाँ मनुष्य लोकमें देवताके समान पूज्य हुई हैं, देव उनको नमस्कार करते हैं। तीर्थंकर चक्रवर्ती नारायण बलभद्र और गणधरा-दिकोंको जन्म देने वाली स्त्रियाँ देव और मनुष्योंमें जो प्रधान व्यक्ति हैं उनके द्वारा बन्दनीय होगई हैं। कितनी ही स्त्रियाँ एक पतिव्रत धारण करती हैं, कितनी ही आजन्म अविवाहित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्यव्रत धारण करती हैं, कोई कोई स्त्रियाँ वैधव्यका तीव्र दु:ख भी आजन्म धारण करती हैं। शीलव्रत धारण करनसे कितनी स्त्रियोंमें शाप देने और अनुग्रह करनेकी भी शक्ति प्राप्त होगई थी, ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है देवताओंके द्वारा ऐसी स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे महात्म्य भी दिखाया गया है। ऐसी महाशीलवती स्त्रियोंको जलप्रवाह भी बहानेमें असमर्थ है. अग्नि भी उनको जला नहीं सकती, शीतल हो जाती है, ऐसी स्त्रियोंको सर्प व्याघ्रादि प्राणी भी नहीं खा सकते और न अन्य स्थानमें उठाकर फेंक सकते हैं। सम्पूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी श्रेष्ठ तद्भवमोक्षगामी पुरुषोंको कितनी ही शीलवती स्त्रियोंने जन्म दिया है। मोहके उदयसे जीव कुशील बनते हैं, मलिन स्वभावके धारक बनते हैं, और यह मोहका उदय सब स्त्रीपुरुषोंमें समान रीतिसे है। जो पीछे स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियों-के साथ सम्बंध नहीं रखता अर्थात् वह सब वर्णन कुशील

* Also see Prof. Satkori Mukerji's article—'The status of women in Jain religion" और 'जैनधर्मेर नारीर स्थान, रूपनन्दा पौष १३४४

स्त्रियोंके विषयमें ही समझना चाहिये, क्योंकि शीलवती स्त्रियाँ गुणोंका पुञ्ज स्वरूप ही हैं, उनको दोष कैसे छू सकते हैं।"

अपराजित सूरि (८ वीं शताब्दी), आचार्य जयनन्दि (१० वीं शताब्दी) पं० आशाधरजी (१३ वीं शताब्दी) इत्यादि विद्वानोंने शिवार्यके उपर्युक्त कथनका समर्थन किया है। जैन योगके प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानार्णवमें आचार्य शुभचन्द्रने कहा है - 'अहा ! इस संसारमें अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जो शमभाव (मन्दकषायरूप परिणाम) और शीलसंयमसे भूषित हैं तथा अपने वंशमें तिलक भूत हैं, उसे शोभायमान करती हैं तथा शास्त्राध्ययन और सत्यभाषणसे अलंकृत हैं।' तथा 'अनेक स्त्रियाँ ऐसी हैं जो अपने सतीत्व, महत्व, चारित्र, विनय और विवेकसे इस पृथ्वीतलको भूषित करती हैं।' महापुराण'में जिनसेन स्वामीने गुणवती नारीको स्त्री सृष्टिमें प्रमुखपद प्राप्त करने वाली बताया है (नारी गुणवती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम्)। गुणभद्राचार्य कृत 'आत्मानुशासन' की टीकामें अनुदार एवं स्थितिपालक कहे जाने वाले दलके एक आधुनिक विद्वानका कथन है कि+—'... पुरुषोंको मुख्य मानकर उनको संबोधन कर यह उपदेश दिया गया है किन्तु स्त्रीके लिये जब यह उपदेश समझना हो तब ऐसा अर्थ करना चाहिये कि स्त्रियाँ कुत्सित व्यभिचारी पुरुषोंके संबंधसे व्यसनोंमें आसक्त होकर आत्महितसे वंचित रहती हुई अनेक पाप संचित करके क्या नरकोंमें नहीं पड़ती ? अवश्य पड़ती है, और उनको नरकोंमें डालनेमें निमित्त वे पुरुष होते हैं। इसलिये वे पुरुष उन्हें नरकके घोर दुःखोंमें प्रवेश करानेके लिये उघड़े हुए विशाल द्वारके समान हैं। ...... गृहधर्ममें स्त्रियोंके द्वारा पुरुषोंको जो अनेक उपकार मिलते हैं उनके बदलेमें वे पापी पुरुष हैं कि जो उनको नरकोंमें डालकर उनका अपकार करने वाले हैं।'

इस प्रकार स्त्री जातिके संबंधमें जैनधर्म और जैनाचार्यों की नीति एवं विचार स्पष्ट हैं और वे किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं।

+ जै० ग्र० र० कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित—आत्मानुशासनकी पं० वंशीधर कृत हिन्दी टीका पृ० ६५

इतनेपर भी इस विषयमें सन्देह नहीं है कि पुरुषजाति ने धर्म जैसी पवित्र और सर्वकल्याणकारी वस्तुके नामपर भी स्त्री जातिके साथ अन्याय किये ही हैं। वस्तुतः, जैसा कि बंगीय साहित्य महारथी स्व० शरत् बाबूने कहा है*— 'समाजमें नारीका स्थान नीचे गिरनेसे नर और नारी दोनों का ही अनिष्ट होता है और इस अनिष्टका अनुसरण करनेसे समाजमें नारीका जो स्थान निर्दिष्ट हो सकता है, उसे समझना भी कोई कठिन काम नहीं है। समाजका अर्थ है नर और नारी। उसका अर्थ न तो केवल नर ही है और न केवल नारी ही है।" तथा "सुसभ्य मनुष्यकी स्वस्थ संयत तथा शुभबुद्धि नारीको जो अधिकार अर्पित करनेके लिये कहती है वही मनुष्यकी सामाजिक नीति है, और इसीसे समाजका कल्याण होता है। समाजका कल्याण इस बातसे नहीं होता कि किसी जातिकी धर्मपुस्तकमें क्या लिखा है और क्या नहीं लिखा है।" सामाजिक मानवके संबंधमें एक अंग्रेज विद्वानकी उक्ति है—

"Perhaps in no way is the moral progress of mankind more clearly shown than by contrasting the position of women among savages with their position among the most advanced of the civilized." अर्थात् असभ्य वहशी लोगोंमें स्त्रियोंकी जो अवस्था है तथा सभ्यसमाजके सर्वाधिक उन्नत लोगोंमें स्त्रीजातिकी जो स्थिति है, उसकी तुलना करनेसे मानवजातिकी नैतिक उन्नतिका जितना स्पष्ट और अच्छा पता चलता है उतना शायद किसी अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता। अस्तु, मानवकी सभ्यता, सुसंस्कृति शिष्टता और विवेककी कसौटी स्त्रीजातिके प्रति उसका व्यवहार और परिणामस्वरूप स्त्रीजातिकी सुदशा है। वर्तमानमें, मनुष्यके लिये अपनी २ समाज, जाति और वर्गकी अवस्थाको इस मापदण्डसे ही जाँचना और आदर्श प्राप्तिकेलिये प्रयत्नशील होना ही सर्वप्रकार श्रेयस्कर होगा।

वीरसेवामन्दिर ता० ६-१-४७

* शरत्बाबूका निबंध 'नारीर मूल्य' (नारीका मूल्य) —पृ० ६७, ७४, ६४

अपभ्रंश भाषाका जैनकथा साहित्य

(ले०—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

कथा साहित्यकी महत्ता

भारतीय वाङ्मयमें कथा पुराण और चरित ग्रन्थोंका उल्लेखनीय बाहुल्य है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंके साहित्यक विद्वानोंने विविध भाषाओंमें पुराणों चरितों और काव्य चम्पू आदि ग्रंथोंका निर्माण किया है। जहाँ जैनेतर विद्वानोंने अपभ्रंशको गौणकर संस्कृत आदि दूसरी भाषाओंमें कथा साहित्यकी सृष्टि की है। वहाँ जैनविद्वानोंने प्राकृत और संस्कृतके साथ अपभ्रंश, भाषामें भी कथा, चरित, और पुराण ग्रंथ निबद्ध किये हैं। इतना ही नहीं किन्तु भारतकी विविध प्रान्तीय भाषाओं मराठी, गुजराती और हिन्दी आदिमें भी कथा साहित्य रचा गया है। अस्तु, आज मैं इस लेख द्वारा पाठकोंको अपभ्रंशभाषाके कुछ अप्रकाशित कथा साहित्य और उनके कर्ताओंके सम्बन्धमें प्रकाश डालना चाहता हूं, जिससे पाठक उनके विषयमें विशेष जानकारी प्राप्त करसकें।

कथाएँ कई प्रकारकी होती हैं; परन्तु उनके दो भेद मुख्य है—लौकिक और आध्यात्मिक। इन दोनोंमें सभी कथाओंका समावेश हो जाता है, अथवा धार्मिक और लौकिकके भेदसे वे दो प्रकारकी हैं उनमें धार्मिक कथाओंमें तो आध्यात्मिकताकी पुट रहती है और लौकिक कथाओंमें पशु-पक्षियों राजनीति, लोकनीति आदि बाह्य लौकिक मनोरंजक आख्यानोंका सम्मिश्रण रहता है। इनमें आध्यात्मिकतासे ओत-प्रोत धार्मिक कथाओंका आंतरिक जीवन घटनाओंके साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है और उनमें व्रतोंका सदनुष्ठान करने वाले भव्यश्रावकोंकी धार्मिक मर्यादाके साथ नैतिक जीवनचर्याका भी अच्छा चित्रण पाया जाता है। साथही भारी संकट समुपस्थित होनेपर धीरतासे विजय प्राप्त करने, अपने पुरुषार्थको सुदृढ रूपमें कायम रखने तथा धार्मिकश्रद्धामें अडोल रहनेका स्पष्ट निर्देश पाया जाता है, जिससे उन्हें सुनकर तथा जीवनमें उतार कर उनकी महत्ताका यथार्थ अनुभव किया जा सकता है। कितनी ही कथाओंमें जीवनोपयोगी आवश्यक तत्त्वका संकलन यथेष्ठ रूपमें पाया जाता है जो प्रत्येक व्यक्तिके जीवनको सफल बनानेके लिये आवश्यक होता है। असलमें सत्पुरुषोंका उच्चतर जीवन दूसरोंके लिये आदर्श रूप होता है, उसपर चलनेसे ही जीवनमें विकास और नैतिक चरित्रमें वृद्धि होती है, एवं स्वयंका आदर्श जीवन बनता है। इससे पाठक सहजहीमें कथाओंकी उपयोगिता और महत्ताका अनुभव कर सकते हैं।

अपभ्रंश भाषाके इन कथाग्रन्थोंमें अनेक विद्वान कवियोंने व्रतोंका अनुष्ठान अथवा आचरण करनेवाले भव्य-श्रावकोंके जीवन-परिचयके साथ व्रतका स्वरूप, विधान और फलप्राप्तिका रोचक वर्णन किया है। साथ ही, व्रतका पूरा अनुष्ठान करनेके पश्चात उसका उद्यापन करनेकी विधि, तथा उद्यापनकी सामर्थ्य न होनेपर दुगना व्रत करनेकी आवश्यकता और उसके महत्वपर भी प्रकाश डाला है। व्रतोंका उद्यापन करते समय उस भव्य-श्रावककी धर्मनिष्ठा, कर्तव्यपालना, धार्मिकश्रद्धा, साधर्मिवात्सल्य, निर्दोषव्रता-चरणकी समता और उदारताका अच्छा चित्रण किया गया है और उससे जैनियोंकी तत्तत् समयोंमें होनेवाली प्रवृत्तियों लोकसेवाओं, आहार औषधि, ज्ञान और अभयरूप चारदानों की प्रवृत्ति, तपस्वी-संयमीका वैय्यावृत्य तथा दीनदुखियोंकी समय समयपर की जानेवाली सहायताका उल्लेख पाया जाता है। इस तरह यह कथासाहित्य और पौराणिक चरित्रग्रंथ ऐतिहासिक व्यक्तियोंके पुरातन आख्यानों, व्रता-चरणों अथवा नीच-ऊँच व्यवहारोंकी एक कसौटी है। यद्यपि उनमें वस्तुस्थितिको अलंकारिक रूपसे बहुत कुछ बढ़ाचढ़ा कर भी लिखा गया है; परन्तु तो भी उनमें केवल कविकी कल्पनामात्र ही नहीं है, किन्तु उनमें कितनी ही ऐतिहासिक आख्यायिकाएँ (घटनाएँ) भी मौजूद हैं जो समय समयपर वास्तविक रूपसे घटित हुई हैं। अतः उनके ऐतिहासिक तथ्योंको यों ही नहीं भुलाया जा सकता। जो ऐतिहासिक विद्वान इन कथाग्रन्थों और पुराणोंको कोरी गप्प या असत्य कल्पकाओंक गढ़ कहते हैं वे वास्तविक वस्तुस्थितिका मूल्य आँकनेमें असमर्थ रहते हैं। अतः उनकी यह कल्पना समुचित नहीं कही जा सकती।

कथाग्रंथोंके निर्माणका उद्देश्य

जैनाचार्यों अथवा जैनविद्वानों द्वारा कथाग्रन्थोंके बनाये जानेका समुद्देश्य केवल यह प्रतीत होता है कि जनता असंयमसे बचे और व्रतादिके अनुष्ठान द्वारा शरीर और आत्मा की शुद्धिकी ओर अग्रसर हो। साथ ही, दुर्व्यसनों और अन्याय अत्याचारोंके बुरे परिणामोंको दिखानेका अभिप्राय केवल उनसे अपनी रक्षा करना है और इस तरह जीवनकी कमियों एवं त्रुटियोंको दूर करते हुए जीवनको शुद्ध एवं सात्विक बनाना है। और व्रताचरण-जन्य पुण्य-फलको दिखानेका प्रयोजन यह है कि जनता अधिसे अधिक अपना जीवन संयत और पवित्र बनावे, प्रमादजनक, अनिष्ट, अनुपसेव्य, अल्पघात और बहुघातरूप अभक्ष्य वस्तुओंके व्यवहारसे अपनेको निरंतर दूर रक्खे। ऐसा करनेसे ही मानव अपने जीवनको सफल बना सकता है। इससे प्रकट है कि जैनविद्वानोंका यह दृष्टिकोण कितना उच्च और लोकोपयोगी है।

कथाग्रन्थ और ग्रन्थकार

अब तक इस अपभ्रंश भाषामें दो कथाकोश, दो बड़ी कथाएँ और उनतीस छोटी छोटी कथाएँ मेरे देखनेमें आई हैं। पुराण और चरितग्रंथोंकी संख्या तो बहुत अधिक है जिसपर फिर कभी प्रकाश डालनेका विचार है। इस समय तो प्रस्तुत कथाग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका ही संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है:—

कथाकोश—अपभ्रंश भाषाका यह सबसे बड़ा कथा कोष है इसमें विविध व्रतोंके आचरण द्वारा फल प्राप्त करने वालोंकी कथाओंका रोचक ढंगसे संकलन किया गया है। इसमें प्रायः वे ही कथाएँ दी हुई हैं जिनका उदाहरणस्वरूप उल्लेख आचार्य शिवार्यकी भगवती आराधनाकी गाथाओंमें पाया जाता है। इससे इन कथाओंकी ऐतिहासिक तथ्यतामें कोई सन्देह नहीं रहता। प्रस्तुत कथाकोशके रचयिता मुनि श्रीचन्द्र हैं जो सहस्रकीर्तिके प्रशिष्य और वीरचन्द्रके प्रथम शिष्य थे। यह ग्रन्थ तिरेपन संधियोंमें पूर्ण हुआ है। ग्रंथकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि इसे कविने अणहिल्लपुरके प्राग्वट वंशी सज्जनके पुत्र और मूलराजनरेशके गोष्ठिक कृष्णके लिये बनाया था। इनकी दूसरी कृति रत्नकरण्डश्रावकाचार पद्धडिया छंद २१ संधियों और चारहजार चारसौ तेईस श्लोकोंमें समाप्त हुआ है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत ११२३ है जब कि श्रीबालपुरमें कर्णनरेन्द्रका राज्य था। इस ग्रन्थ में भी सम्यग्दर्शनके निशंकितादि अंगों में प्रसिद्ध होनेवालोंकी कथाएँ बीच बीचमें दी हुई हैं*।

धम्मपरिक्खा—इस ग्रंथके कर्ता मेवाड़वासी धक्कडवंशी कविवर हरिषेण हैं जो गोवर्द्धन और गुणवतीके पुत्र थे। यह चित्तौड़को छोड़कर अचलपुरमें आए थे और वहाँ ही इन्होंने वि० सं० १०४४ में धर्मपरीक्षाको पद्धडिया छंदमें रचा था। इसमें मनोवेगके द्वारा अनेक रोचक कथानकों तथा सैद्धान्तिक उपदेशों आदिसे पवनवेगकी श्रद्धाको परिवर्तित कर जैनधर्ममें सुदृढ करनेका प्रयत्न किया गया है। ग्रंथमें अपनेसे पूर्ववर्ती बनी हुई जयरामकी प्राकृत गाथाबद्ध धर्मपरीक्षाका भी उल्लेख हुआ है जो अभी तक अप्राप्य है। साथही, अपनेसे पूर्ववर्ती तीन महा कवियोंका—चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदन्तका—भी प्रशंसात्मक समुल्लेख किया है।

भविसयत्तकहा—समुपलब्ध कथाग्रंथोंमें कविवर धनपालकी भविष्यदत्तपंचमी कथा ही सबसे प्राचीन मालूम होती है। यह ग्रंथ २२ संधियोंमें पूर्ण हुआ है ग्रंथका कथाभाग बड़ा ही सुन्दर है। इस पंचमी व्रतके फलकी निदर्शक कथाएँ कई विद्वान कवियोंने रची है जिनका परिचय फिर किसी स्वतंत्र लेख द्वारा करानेका विचार है। यह धनपाल धर्कट नामके वैश्य वंशमें उत्पन्न हुए थे। उनके पिताका नाम माएसर और माताका धनश्री देवी था। कविको सरस्वतीका वरदान प्राप्त था। यद्यपि कविने ग्रंथमें कहीं भी इसका रचनाकाल नहीं दिया, फिर भी यह ग्रंथ विक्रमकी दशमी शताब्दीका बतलाया जाता है।

पुरंदरविहाण कहा—इस कथाके कर्ता भट्टारक अमरकीर्त है जिन्होंने गुजरात देशके 'महीयडु' प्रदेश वर्ती गोदह्य (गोध्रा) नामके नगरमें ऋषभजिन चैत्यालयमें विक्रम संवत १२४७ की भादों शुक्ला चतुर्दशी गुरुवारके दिन 'षटकर्मोपदेश' की रचना की है। उस समय चालुक्य वंशी वंदिगदेवके पुत्र कर्णका राज्य था। ग्रंथमें कविने अपने-

* विशेष परिचयके लिये देखो, 'श्रीचन्द्र नामके तीन विद्वान' शीर्षक मेरा लेख, अनेकान्त वर्ष ७ किरण ६-१०।

को 'मुनि' 'गणि' और 'सूरि' आदि विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। इससे मालूम होता है कि वे गृहस्थ अवस्था छोड़ कर बादको मुनि बनगए थे। यह माथुरसंघी चन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। इन्होंने अपनी जो गुरुपरम्परा दी है उससे मालूम होता है कि यह अमरकीर्ति आचार्य अमितगतिकी परम्परामें हुए हैं। अमितगति काष्टासंघके विद्वान थे, जो माथुर संघकी एक शाखा है। भ० अमरकीर्तिने षट्कर्मोपदेशमें निम्न ग्रंथोंके रचे जानेकी सूचना की है—नेमिनाथचरिउ, महावीरचरिउ, टिप्पणधर्मचरित, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूडामणि और झाण-पईव।

खेद है कि ये ग्रंथ अभीतक किसी भी शास्त्रभंडारमें उपलब्ध नहीं हुए हैं। प्रस्तुत ग्रंथकर्ताने अपना 'षट्कर्मोपदेश' और 'पुरंदरविधानकथा' ये दोनों ग्रंथ अम्बाप्रसादके निमित्तसे बनाये हैं यह अम्बाप्रसाद अमरकीर्तिके लघु बाँधव थे।

चंदणछट्ठीकहा—इस कथाके कर्ता कविलक्ष्मण अथवा लाखू है। इनकी गुरुपरम्पराका कोई विवरण प्राप्त नहीं हुआ। अतएव यह कहना अत्यंत कठिन है कि पंडित लाखू अथवा लक्ष्मण किस वंशके थे और उनके गुरुका क्या नाम था? लक्ष्मण नामके दो अपभ्रंश भाषाके कवियोंका संक्षिप्त परिचय मेरी नोटबुकमें दर्ज है। उनमें प्रथम लक्ष्मण कवि वे हैं जो जायस अथवा जैसवाल वंशमें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम श्रीसाहुल था। यह त्रिभुवनगिरिके निवासी थे, उसके विनष्ट होने पर वे यत्र-तत्र परिभ्रमण करते हुए बिलरामपुरमें आए थे, यह बिलरामपुर एटा जिलेमें आज भी बसा हुआ है। वहांके सेठ 'बिल्हणके पौत्र और जिनधरके' पुत्र श्रीधर थे, जो पुरवाडवंशरूपी कमलोंको विकसित करने वाले दिवाकर थे। इन्हीं साहू श्रीधरकी प्रेरणा एवं आग्रहसे लक्ष्मणने 'जिणदत्तचरित' की रचना विक्रम संवत १२७५ की पौष कृष्णा षष्ठी रविवारके दिन की थी+। इनका विशेष परिचय स्वतंत्र लेखमें दिया जायगा।

+ बारहसय सत्तरयं पंचोत्तरयं विक्कमकाल वियत्तउ।
पढमपक्खि रविवारइ छट्ठि सहारइ पूसमासे सम्मत्तउ॥
—जिनदत्तचरितप्रशस्ति

दूसरे कवि लक्ष्मण या लखमदेव वे हैं जो रत्नदेव नामक वणिकके पुत्र थे और जो मालवदेशके 'गोणंद' नगरके निवासी थे। उस समय यह नगर धन, जन, कन और कंचनसे समृद्ध तथा उत्तुंग जिनालयोंसे विभूषित था। यह पुरवाडवंशके तिलक थे और रातदिन जिनवाणीके अध्ययनमें लगे रहते थे। उनकी एकमात्र रचना 'नेमिनाथचरिउ' उपलब्ध है जिसमें तेरासी कडवकों और चार संधियोंमें जैनियोंके बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथका चरित चित्रित किया गया है। ग्रंथमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है किन्तु सिर्फ इतना ही उल्लेख मिलता है कि ग्रंथ आषाढकी त्रयोदशीको प्रारम्भ किया गया और चैत्रकी त्रयोदशीको पूर्ण हुआ था। अतः निश्चित समयका समुल्लेख करना कठिन है इन दोनों लक्ष्मण नामके विद्वानोंमेंसे कौनसे लक्ष्मण कवि चन्दनषष्ठी कथाके कर्ता हैं अथवा इन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरे ही लक्ष्मण या लाखू कवि उक्त कथाके कर्ता हैं, इसके अनुसंधान होनेकी जरूरत है।

णिज्झरपंचमी विहाण कहाणक—इस कथाके कर्ता भट्टारक विनयचन्द्र हैं जो माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्रके शिष्य थे। विनयचंद्रके गुरु मुनि बालचन्द्रने भी जो उदयचन्दके शिष्य थे, दो कथाएं रची हैं जिनका परिचय आगे दिया जायगा। प्रस्तुत विनयचन्द विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके आचार्यकल्प विद्वान् पं० आशाधरजीके समकालीन विनयश्चन्द्रसे, जिनकी प्रेरणा एवं आग्रहसे उक्त पंडितजीने आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के इष्टोपदेश ग्रंथकी संस्कृत टीका बनाई थी* भिन्न हैं; क्योंकि पंडित आशाधरजीने उन्हें सागरचन्द्र मुनिका शिष्य बतलाया है जैसाकि उनकी टीका प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दुमुनीन्द्रा—
दजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाशास्त्रसंदर्भगर्भाः
शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः॥२॥

इस पद्यकी रोशनीमें दोनों विनयचन्द्रोंकी भिन्नतामें

* विनये दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता॥१॥
—इष्टोपदेश टीकाप्रशस्ति।

सन्देहको कोई गुंजायश नहीं रहती; क्योंकि उन दोनोंकी गुरुपरम्परा भिन्न भिन्न है। और समय भी भिन्न है। सागरचन्द्रके शिष्य विनयचन्द्रका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दी सुनिश्चित है तथा उक्त निर्भरपंचमी कथाके कर्ता विनयचन्द्र इनसे बादके विद्वान मालूम होते हैं, इनकी दो कृतियाँ और भी समुपलब्ध हैं। एक 'चूनड़ी' और दूसरी 'कल्याणकरासु' है। इन दोनोंमेंसे प्रथम रचनामें तेतीस पद्य हैं× और द्वितीय रचना 'कल्याणकरासु' में जैनियोंके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी पंचकल्याणक तिथियोंका वर्णन दिया हुआ है। ये दोनों रचनाएं जिस गुटकेमें लिखी हुई हैं वह विक्रम संवत् १५७६ में सुनपत नगरमें सिकन्दरशाहके पुत्र इब्राहीमके राज्यमें लिखा गया है। इससे विनयचन्द्र अनुमानतः सौ या डेढ़सौ वर्ष पूर्व ही हुए होंगे अतः इनका समय विक्रमकी १४ वीं या पंद्रवीं शताब्दी होगा।

× अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ पृष्ठ २५८ से ६१ तक जो विनयचन्द्र मुनिकी चूनडीनामकी रचना प्रकाशित हुई है। उसके मुद्रित पाठका नया मन्दिर धर्मपुरा देहलीकी हस्तलिखित प्रतिपरसे ता० ८-५-४५ को मैंने संशोधन किया था उसके फलस्वरूप मालूम हुआ कि मुद्रित पाठमें प्रथम-द्वितीय पद्य तथा अन्तिम पद्यकी कुछ पंक्तियाँ लेखकोंकी कृपासे छूट गई हैं जिससे चूनडीके ३१ पद्य शेष रहगए हैं। असलमें उक्त चूनडी ३३ पद्योंमें समाप्त हुई है, उसका वह आदि और अन्तिम भाग इस प्रकार है:—

आदिभाग—

विणएं वंदिवि पंचगुरु

मोह-महातम-तोडण-दिणयर, वंदिवि वीरणाह गुण गणहर।
तिहुवण सामिय गुण णिलउ, मोक्खह,मग्गु पयासण जगगुर।
णाह लिहावहि चूनडिया,मुद्धउ पभणइ पिउ जो डिविकर। १
पणविवि कोमल-कुवलय-णयणी लोयालोय पयासण-वयणी।
पसरि वि सारद जोण्ह जिमा, जा अंधारउ सयलु वि णासइ।
सा महु णिवसउ माणुसहिं, हंसवहू जिम देवी सरासइ ॥ २

अन्तिम—

इह चूनडीय मुनिंद पयासी, संपुण्ण जिण आगमभासी।
पढहिं गुणहिं जेसद्दहहिं, तेन सिव.सुह लहहिं पयत्तें।
विणएं वंदिवि पंचगुरु ॥३३॥

णिद्दुहसत्तमी कहा और नरयउतारीविहि— इन दोनों कथाओंके कर्ता मुनिबालचंद्र हैं जो मुनिउदयचन्द्रके शिष्यथे, इन्हीं बालचन्द्र मुनिके शिष्य विनयचन्द्रमुनिका ऊपर परिचय दिया गया है। प्रस्तुत बालचन्द्रमुनि आचार्य कुंदकुंदके प्राभृतत्रयके टीकार मुनि बालचन्द्रसे भिन्न हैं; क्योंकि वे नयकीर्तिके शिष्य थे, जो सिद्धान्त चक्रवर्तीकी उपाधिसे अलंकृत थे। उक्त कथाओंके कर्ता मुनि बालचन्द्र कब हुए, यह यथेष्ट साधन सामग्रीके अभावमें निश्चितरूपसे कहना कठिन है।

जिनरत्तिकहा और रविवउकहा—उक्त दोनों कथाओंके कर्ता यशकीर्ति भट्टा. गुणकीर्तिके लघुभ्राता व शिष्य थे। गुणकीर्ति महातपस्वी थे, उनका तपश्चरणसे शरीर अत्यंत क्षीण होगया था। इनके शिष्य यशःकीर्ति अपने समय के एक अच्छे विद्वान् कवि थे। इन्होंने संवत् १४८६ में विबुधश्रीधरके संस्कृत भविष्यदत्तचरित्र और अपभ्रंश भाषाके 'सुकमालचरिउ' की प्रतियाँ अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ लिखवाई थीं*। महाकवि रइधूने अपने 'सम्मइ जिनचरिउ' की प्रशस्तिमें यशःकीर्तिका निम्न शब्दों में उल्लेख किया है:—

"भव्व-कमल-सर-बोह-पयंगो,
वंदि वि सिरिजसकित्ति असंगो।"

कवि रइधूने यशःकीर्ति तथा इनके शिष्योंकी प्रेरणासे कितने ही ग्रंथोंकी रचना की है। यशःकीर्तिने स्वयं अपना 'पाण्डवपुराण' वि० सं० १४९७ में अग्रवालवंशी साहु वील्हा के पुत्र हेमराजकी प्रेरणासे बनाया था, यह पहले हिसारके निवासी थे और बादको उदयवश देहलीमें रहने लगे थे, और जो देहलीके बादशाह मुबारकशाहके मंत्री थे, वहाँ इन्होंने एक चैत्यालय भी बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भी कराई थी। इनकी दूसरी कृति 'हरिवंशपुराण' है जिसकी रचना इन्होंने वि० सं० १५०० में हिसारके साहु दिवढ्ढाकी प्रेरणासे की थी। साहुदिवढ्ढा अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका गोत्र गोयल था। वे बड़े धर्मात्मा और श्रावकोचित द्वादश व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले थे। इनकी तीसरी कृति आदित्यवार कथा है, जिसे रविव्रत-

* देखो, उक्त दोनों ग्रंथोंकी लेखक पुष्पिका।

कथा भी कहते हैं। और चौथी रचना जिनरात्रि कथा है जिसमें शिवरात्रि कथाके ढंगपर जिनरात्रिके व्रतका फल बतलाया गया है। इनके सिवाय 'चन्दप्पह चरिउ' नामका अपभ्रंशभाषाका एक ग्रन्थ और है उसके कर्ता भी यशःकीर्ति हैं। वे प्रस्तुत यशःकीर्ति हैं या कि अन्य कोई यशःकीर्ति हैं इसका ठीक निश्चय नहीं; क्योंकि इस नामके अनेक विद्वान् होगए हैं+।

अणथमी कथा—इस कथाके कर्ता प्रसिद्ध कवि रइधू हैं जो भ० यशःकीर्तिके समकालीन विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और सोलहवीं सदीके प्रारम्भके विद्वान् हैं। पद्मावती पुरवालकुलमें समुत्पन्न हुए थे, उदयराजके प्रपौत्र और हरिसिंहके पुत्र थे, ग्वालियरके निवासी थे। इन्होंने वि० सं० १४९६ में सुकौशलचरितकी रचना की है, यह आशुकवि थे और जल्दी ही सरल भाषामें कविता करते थे। कवि रइधूने ग्वालियरके तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह के और उनके पुत्र कीर्तिसिंहके राजकालमें अनेक ग्रंथों की रचना की है और मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी कराई है। वे प्रतिष्ठाचार्य नामसे प्रसिद्ध भी थे। कविने प्रस्तुत 'अणथमी' कथामें रात्रिभोजनके दोषों और उससे होनेवाली व्याधियोंका उल्लेख करते हुए लिखा है कि दो घड़ी दिनके रहनेपर श्रावक लोग भोजन करें; क्योंकि सूर्यके तेज मंद होनेपर हृदयकमल संकुचित हो जाता है, अतः रात्रिभोजनका धार्मिक तथा शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे त्यागका विधान किया है, जैसा कि उसके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है—

> जि रोय दलद्दिय दीण अणाह,
> जि कुट्ठ गलिय कर करण सवाह।
> दुहग्गु जि परियणु वग्गु अणेहु,
> सु-रयणिहिं भोयणु फलु जि मुणेहु॥ ८॥
> घड़ी दुइ वासरु थक्कइ जाम,
> सुभोयणु सावय भुंजहिं ताम।
> दियायरु तेउ उजि मंदउ होइ,
> सकुकुच्चइ चित्तहु कमलु जि सोइ॥ ९॥

+ विशेष परिचयके लिये देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ११ किर २ में मेरा भ० यशःकीर्ति नामका लेख।

पुण्यास्रव कहा—इस कथा ग्रंथमें कविवर रइधू ने पुण्यका आश्रव करनेवाली व्रतोंकी कथाएँ दी हैं। ग्रंथमें कुल तेरह संधियाँ हैं। इस ग्रंथकी रचना कविवर रइधूने महाभव्य साहू नेमिदासकी प्रेरणासे की है, और इसलिये यह ग्रंथ भी उन्हींके नामांकित किया गया है। ग्रंथप्रशस्तिमें साहू नेमिदासके परिवारका विस्तृत परिचय निहित है।

कविवर रइधूने अपभ्रंशभाषामें २३-२४ ग्रंथोंकी रचना की है+।

अणथमी कथा (द्वितीय)—इस कथाके कर्ता कवि हरिचन्द हैं जो अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे। इसके सिवाय इनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। प्रस्तुत कथा पं० रइधूकी उल्लिखित कथासे बड़ी है, यह १६ कड़वकोंमें समाप्त हुई है। और उसमें रात्रिभोजनके दोषोंका उल्लेख करते हुए उसके त्यागकी प्रेरणा की गई है।

अणंतवयकहा आदि १५ कथाएँ—इन कथाओंके कर्ता भट्टारक गुणभद्र हैं। यद्यपि गुणभद्र नामके अनेक विद्वान आचार्य और भट्टारक प्रसिद्ध हैं। परन्तु ये भट्टारक गुणभद्र उन सबसे भिन्न हैं। यह माथुरसंघी भट्टारक मलयकीर्तिके शिष्य थे और अपने उक्त गुरुके बाद गोपाचलके पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे। इनकी रची हुई निम्न पन्द्रह कथाएँ पंचायती मन्दिर देहलीके गुटका नं० १३ १४ में दी हुई हैं, जो संवत १६०२ में श्रावण सुदी एकादशी सोमवारके दिन रोहतकनगरमें पातिसाह जलालुद्दीनके राज्यकालमें लिखा गया है*। उन कथाओंके नाम इस प्रकार हैं:—

१ अणंतवयकहा २ सवणबारसिविहाणकहा ३ पक्खवइकहा ४ णहपंचमी कहा ५ चंदायणवय-कहा ६ चंदणछट्ठी कहा ७ णरयउतारी दुद्धारसकहा ८ णिद्दहसत्तमी कहा ९ मउडसत्तमी कहा १० पुप्फंजलि-वयकहा ११ रयणत्तयविहाणकहा १२ दह-लक्खणवयकहा १३ लद्धिवयविहाण कहा १४

+ देखो, अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७।

* अथ संवत्सरेस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यराज्यात् संवत् १६०२ वर्षे श्रावणसुदि ११ सोमवासरे रोहितासशुभस्थाने पातिसाह जलालदी, (जलालुद्दीन) राज्यप्रवर्तमाने ॥छ॥

सोलहकारणवयविहि १५ सुयंधदसमी कहा।

इन कथाओंमेंसे नं० १, १० और १२ नंबरकी तीनों कथाएँ ग्वालियरके जैसवाल वंशी चौधरी लक्ष्मणसिंहके पुत्र पंडित भीमसेनके अनुरोधसे रची गई हैं। और नं० २ तथा नं० १३ की ये दोनों कथाएँ ग्वालियरवासी संघपति साहु उद्धरणके जिनमन्दिरमें निवास करते हुए साहु सारंगदेवके के पुत्र देवदासकी प्रेरणाको पाकर बनाई गई हैं। नं० ७ की कथा उक्त गोपाचलवासी साहु बीधाके पुत्र सहजपालके अनुरोधसे लिखी गई है। शेष नौ कथाओंके सम्बन्धमें निर्मापक भव्य श्रावकोंका कोई परिचय दिया हुआ नहीं है।

भट्टारक गुणभद्रका समय भी विक्रमकी १६ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है; क्योंकि संवत् १५०६ की धनपाल पंचमी कथाकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि उस समय ग्वालियर के पट्टपर भट्टारक हेमकीर्ति विराजमान थे*। और संवत् १५२१ में राजा कीर्तिसिंहके राज्यमें गुणभद्र मौजूद थे, जब ज्ञानार्णवकी प्रति लिखी गई थी×। इन्होंने अपनी कथाओं में रचना समय नहीं दिया है। इसीसे निश्चित समय मालूम करनेमें बड़ी कठिनाई हो जाती है।

सोखवई विहाण कहा—इस कथाके रचयिता विमलकीर्ति हैं, इनकी गुरुपरम्परा आदिका कोई परिचय प्राप्त नहीं हो सका।

सुयंधदसमी कहा—इस कथाके कर्ता कविवर देवदत्त हैं। इनकी गुरुपरम्परा और समयादि भी प्राप्त नहीं हो सका।

रविवउकहा और अणन्तवयकहा—इन दोनों कथाओंके रचयिता मुनि नेमिचन्द्र हैं जो माथुर संघमें प्रख्यात थे। नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान होगए हैं अतः सामग्रीके अभावसे प्रस्तुत नेमिचन्द्रकी गुरुपरम्परा और समयादिके सम्बन्धमें अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

इनके अतिरिक्त 'अणंतवयकहा' और 'मुत्तावली विहाणकहा' इन दोनों कथाओंके कर्ता अभी अज्ञात हैं, प्रस्तुत कथाओंमें कर्ताका कोई परिचय दिया हुआ नहीं है।

इस तरह इस लेखमें दो कथाकोषों, दो बड़ी कथाओं और छोटी छोटी तीस कथाओंका परिचय दिया गया है। आशा है अन्वेषक विद्वान इन कथाओंके अतिरिक्त जो और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर कथा साहित्य हो उसपर भी प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे, जिससे इस कथा साहित्यके सम्बन्धमें जनताकी विशेष जानकारी प्राप्त हो सके।

ता० २०।१०।४६] वीरसेवामन्दिर, सरसावा

* देखो, धनपाल पंचमी कथाकी लेखक प्रशस्ति, कारंजाप्रति। और कैटलोग सं० प्रा० सी० पी० एण्ड बरार।

× देखो, 'ज्ञानार्णव' आरा प्रतिकी लेखक प्रशस्ति।

'मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशाके लिये है। वह आत्माका गुण है; इसलिये वह व्यापक है; क्योंकि आत्मा तो सभीके होती है। अहिंसा सबके लिये है, सब जगहोंके लिये है, सब समयोंके लिये है। अगर वह दरअसल आत्माका गुण है. तो हमारे लिये वह सहज हो जाना चाहिये। आज कहा जाता है कि सत्य व्यापारमें नहीं चलता, राजकाजमें नहीं चलता। तो फिर वह कहाँ चलता है? अगर सत्य जीवनके सभी क्षेत्रोंमें और सभी व्यवहारोंमें नहीं चल सकता तो वह कौड़ी कीमतकी चीज़ नहीं है। जीवनमें उसका उपयोग ही क्या रहा? मैं तो जीवनके हरएक व्यवहारमें उसके उपयोगका नित्य नया दर्शन पाता हूं!'

—महात्मा गांधी

"दुनियामें जितने लोग दुखी हुए हैं, वे अपने सुखके पीछे पड़े, इसीलिये दुखी हुए। और जो दुनियामें सुखी पाये जाते हैं, वे सब औरोंको सुखी करनेकी कोशिशके कारण ही सुखी हैं।

काश, केवल हमारे धर्मोपदेशक ही नहीं, किन्तु दुनियाके राजनैतिक नेतागण भी इस सिद्धान्तको समझ लेते।"

—काका कालेलकर

प्राचीन जैनमन्दिरोंके ध्वंसावशेषोंसे निर्मित मस्जिदें

पुरानी दिल्लीकी मस्जिद—

सर्वप्रथम तो मुसलिम विजेताओंको जैन मन्दिरके स्तंभपूर्ण सभामंडपोंमें वह सर्व सामग्री प्राप्त होगई जो कि एक बनी बनाई मस्जिदके लिये आवश्यक होती। जो कुछ करना था वह केवल इतना ही कि भवनके बीचमें स्थित जैन मन्दिर (वेदीगृह) को हटा दिया जाय और पश्चिमी दिशामें महराबों से अलंकृत एक नई दीवार खड़ी करदी जाय, जो कि खुदाके बंदों (मुसलमानों) को उस दिशाका निर्देश करती रहे जिसमें कि मक्का अवस्थित है, और जिसकी ओर, जैसा कि सब प्रसिद्ध है, नमाजके वक्त मुंह करके खड़े होनेकी कुरानमें उनके लिये आज्ञा है। किन्तु यह निश्चयसे नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्षमें वे कभी मात्र इतनेसे ही सन्तुष्ट रहे हों। कमसे कम इन दो उदाहरणोंमें जिनका हम उल्लेख करने जा रहे हैं, उन्होंने, उपर्युक्त परिवर्तन के अतिरिक्त, जैन स्तंभोंके आगे महराबोंका एक परदा उठानेका और उसे अति यत्नपूर्वक निर्मित तथा सर्वप्रकार सम्पन्न प्रचुर खुदाई-कटाईकी कारीगरीसे जो कि उनकी भारतीय प्रजा निर्माण कर सकती थी, अलंकृत करनेका भी निश्चय किया।

यह निर्णय करना तनिक कठिन है कि किस हद तक ये स्तंभ उसी रूप और क्रममें अवस्थित हैं जिसमें कि भारतीयोंने उनकी मूलतः योजनाकी थी, अथवा किस हद तक विजेताओंने उन्हें स्थानभ्रष्ट करके पुनः संयोजित किया। यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका स्थान परिवर्तन नहीं किया गया तो भी यह तो प्रत्यक्ष है कि मुसलमानोंने उनके चौगिर्द दीवारें खड़ी करदीं, क्योंकि सभी 'सूत्रपथ' उनकी अपनी शैलीकी सजावटसे ढके हुये हैं और उनके समस्त खुले (उघड़े) हुए भागोंमें नुकीली महराबें बनी हुई हैं जिनका कि भारतीय कभी उपयोग नहीं करते। सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए सभावना यही प्रतीत होती है कि मुसलमानोंने समूची इमारतको पुनः संयोजित करके उसे उसका वर्तमान अवस्थित रूप दिया है। 'कनोगे' की प्रख्यात मस्जिद प्राचीन काहिरामें स्थित अमरूकी मस्जिदकी योजना के बिल्कुल समकक्ष ढंगपर पुनः संयोजित एक जैन मन्दिर ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। छत और गुम्बद सब जैन स्थापत्यकलाके हैं जिससे कि अन्दरूनी हिस्सेमें मूर (मुसलमानी-अरबी) शैलीका कोई भी चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता; किन्तु बाहरी भाग उतना ही विशुद्ध मुसल्मानी कलाका है। मांडू के निकट धार स्थानमें एक अन्य मस्जिद है जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और निश्चय ही एक जैन मन्दिरका पुनर्योजित रूप है। एक दूसरी मस्जिद जौनपुरके क़िलेमें तथा अहमदाबाद व अन्य स्थानो की अनेक दूसरी मस्जिदें—सब ही, जैनमन्दिरों को तोड़ फोड़कर और उनसे प्राप्त सामग्रीकी एक विभिन्न योजनानुसार पुनर्योजना करनेके ढंगको सूचित करती हैं। अस्तु, यदि कुतुबकी मस्जिदवाले स्तंभ पूर्ववत् अवस्थित रहते तो यह एक अपवाद

होता, किन्तु फिर भी मैं यह सन्देह किये बिना नहीं रह सकता कि कोनोंमें स्थित दुमंजिले भवन और अन्य इमारतोंमें से भी कुछएक अपने मूलरूप में ही अवस्थित हैं; किन्तु इसपर हम अजमेरी मस्जिदके प्रकरणमें जिस मस्जिदमें कि जैनस्तंभ प्रायः निश्चयतः अपनी प्राथमिक योजनानुसार स्थित हैं, पुनः विचार करेंगे। तथापि यह पूर्णतः निश्चित है कि कुतुबके कितने ही स्तंभ वैसे ही खंडों से निर्मित हैं, और वे मस्जिदके निर्माताओं द्वारा उन स्थानोंमें स्थापित किये गये हैं जहां वे आज भी खड़े हुए हैं।

वह भाग अर्थात् प्रधान स्तंभश्रेणीका अर्धभाग (जो कि महरावोंकी विशाल शृंखलाके सन्मुख पड़ता है) अपने रूपको स्वयं शब्दोंकी अपेक्षा कहीं अधिक भले प्रकार स्पष्ट करता है। वह इतना विशुद्ध जैन है कि उक्त शैलीका कथन करते हुए उसका कथन शायद वहीं करना चाहिये था; किन्तु वह भारतवर्षकी चूंकि सबसे प्राचीन मस्जिदका एक अंग है अतः इसी प्रसंगमें उसका उल्लेख करना सर्वोपयुक्त है। ये स्तंभ उसी श्रेणीके हैं जैसे कि आबू पर्वतपर (देलवाड़ाके जैनमन्दिरोंमें) प्रयुक्त हुए हैं—सिवाय इसके कि देहलीवाले स्तंभ उनकी अपेक्षा अधिक समृद्ध और अधिक श्रमपूर्वक निर्मित हैं। इनमेंसे अधिकाँश तो संभवतः ११ वीं या १२ वीं शताब्दीके हैं और भारतवर्षमें उपलब्ध उन थोड़ेसे नमूनोंमें से हैं जो कि अलङ्कारों (सजावट) से अत्यधिक लदे हुए हैं। इनमें, सिवाय परदेके पीछे वाले स्तंभोके तथा उनमेंसे कुछ एकके जिनका संबंध अधिक प्राचीनतर भवनोंसे था, सबमें ही शिरोभाग (चोटी) से लगाकर मूल तक एक इंच स्थान भी कहीं सजावटसे खाली नहीं है। तिसपर भी इनकी सजावट इतनी तीक्ष्ण है और इतनी चतुराई एवं कुशलतासे अङ्कित की गई है और उसका प्रभाव उनकी जीर्णशीर्ण अवस्थामें भी इतना चित्रोपम है कि ऐसी अत्यधिक सौन्दर्यपूर्ण वस्तुमें कोई भी दोष ढूंढ निकालना अत्यन्त कठिन है। कुछ स्तंभोंमेंसे उनके अङ्कोंमें अंकित ऐसी मूर्तियोंको काट-तोड़ कर निकाल दिया गया है जो कि मुसलमानोंकी मूर्तिपूजाविषयक कट्टरताको क्षुब्ध करती थीं। किन्तु छतमें तथा कम दीख पड़ने वाले भागों में जैन अर्हतोंकी पद्मासनस्थ मूर्तियाँ और उस धर्मके अन्य चिन्ह-धार्मिक प्रतीक—आदि अब भी लक्षित किये जा सकते हैं।

कुतुबमीनार—

यह स्पष्ट नहीं होता कि मीनारकी खड़ी बांसुरी नुमा कोनियें कहाँसे नक़ल की गई हैं—खुरासान तथा और सुदूर पश्चिममें पाई जानेवाली मीनारोंकी किसी प्रकल्पक विशेषतासे, या कि वे जैनमन्दिरोंकी

जनरल कनिंघमको उसकी दीवारपर एक अभिलेख अङ्कित मिला था जिसमें लिखा था कि इस मस्जिदके वास्ते सामग्री प्रदान करनेके लिये २७ भारतीय मन्दिर नष्ट किये गये थे (आर्कोलोजिकल रिपोर्ट्स, जिल्द १ पृ० १७६)। तथापि इसपरसे विशेष कुछ सिद्ध नहीं होता जब तक कि किसीको यह मालूम न हो कि इस कार्यके लिये जो मन्दिर ध्वंस किये गये वे कैसे थे। खजुराहो जैसे २७ मन्दिर, गन्थई मन्दिरको छोड़कर, इसके अन्दरूनी मंडपोंके आधेके लिये भी स्तंभ प्रदान नहीं कर सकते, और सादरी जैसा एक ही मन्दिर पूरी मस्जिदके लिये पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करदेता, यद्यपि यह मन्दिर बहुत अर्वाचीन है तथापि यह मानलेनेका भी कोई कारण नहीं है कि मुस्लिमकालसे पूर्व ऐसे मन्दिर अवस्थित ही नहीं हो सकते थे।

आकृतियोंपरसे लीगई हैं? गजनीकी मीनारों के तलभागोंकी आकृतियोंको देखते हुए प्रथम निष्कर्ष की संभावना सी प्रतीत होती है; किन्तु अनकों मन्दिरों, विशेषकर मैसूर तथा अन्य स्थानोंके जैन मन्दिरोंकी ताराकृति (सितारेनुमा शकल) से यही प्रतीत होता है कि वे मूलतः भारतीय ही हैं।

कुतुबकी मस्जिद—

कुतुबुद्दीनकी मस्जिद, जो कि सारे 'कुव्वतुल इस्लाम' (इस्लामकी शक्ति) कहलाती है, सामनेसे पीछेकी ओर, स्थूल रूपसे १५० फीट लम्बी है और आजू बाजू उसकी आधी (लगभग ७५ फीट) चौड़ी है। उसके मध्यका खुला आंगन १४२ फीट लम्बा और १०८ चौड़ा है। पूर्वी और उत्तरी दिशाके द्वार अभी भी समूचे हैं और उनपर मस्जिदकी स्थापना-संबंधी अभिलेख अंकित हैं। दक्षिणी दिशाका द्वार और उसके साथ ही पश्चिमी सिरेका बहुभाग तथा दक्षिणी दीवारकी सम्पूर्ण पश्चिमी स्तंभावली अदृश्य हो चुकी हैं। यद्यपि यह मस्जिद पूर्णतः भारतीय बल्कि वस्तुतः जैनमंदिरोंकी सामग्रीसे निर्मित है तथापि इसका प्रत्येक भाग दुबारा ही निर्मित हुआ है। ये मत भी, कि आंगनका प्राकारमूल तथा विस्तृत महराबदार परदेके पीछे वाले स्तंभ उसी प्रकार अवस्थित हैं जैसे कि वे भारतीयों द्वारा निर्मित किये गये थे, वैसे ही भ्रमपूर्ण हैं। इसमें शक नहीं कि प्रारंभमें दीवारोंका बाहिरी भाग उसी प्रकार प्लास्टरसे पूर्णतया ढका हुआ था जैसा कि अन्दरूनी भागके खंभे; किन्तु यह सब प्लास्टर अब उतर चुका है। पूर्वी द्वारके बीचसे जो दृश्य दीख पड़ता है वह बड़ा ही मनोहर है और मध्य गुम्बदके दोनों ओर स्थित क्रमबद्ध स्तंभावलीका जो दृश्य छोरपरसे दीख पड़ता है वह अत्यन्त कमनीय है। यह गूढ़-छन्नपथ (Corridor) प्रायः पूर्ण है, किन्तु उत्तर ओर वाले ऐसे पथका तीन चौथाई भाग तथा दक्षिणी पथ एवं अपेक्षाकृत अधिक सादे स्तंभोंका अत्यल्पांश ही अब अवशेष रह गया है। सर्वाधिक सुन्दर स्तंभ पूर्वी आच्छादित पथकी उत्तर दिशामें स्थित हैं; उनके ऊपर अंकित पुष्पपात्रों (फूलदान, गमले) जिनमेंसे फूलपत्तियाँ बाहरको लटक रही हैं, प्रथानुसारी पुष्पमालायुक्त व्याघ्रमुखों, गुच्छेदार रस्सियों, जंजीरोंसे लटकती घंटियों और अनेक कौसुमी (फूलदार) रचनाओंका उत्कीर्णीकरण ध्यान-पूर्वक परीक्षण करने योग्य हैं। दीवारके दूसरी पंक्तिमें, मध्यस्थलसे उत्तरकी ओर पांचवें स्तंभपर एक वत्सयुक्त गौ (गाय-बछड़ा) अङ्कित है, और उसी पंक्तिमें आंगनके सिरेपर पांचवाँ स्तंभ समस्त स्तंभोंमें शायद सर्वाधिक सुन्दर स्तंभ है। अनेकों अधखंडित जैनमूर्तियाँ और कितनी ही अखंडित भी, जो कि प्लास्टर द्वारा पूर्णतया छिपाई जा सकती थीं, इन स्तंभोंपर उत्कीर्ण हुई देख पड़ेंगी।

नोट—प्रस्तुत लेख, ला० पन्नालालजी जैन अग्रवाल देहली द्वारा प्रेषित 'All about Delhi' (सब कुछ देहली सम्बन्धी) नामक पुस्तकके पृ० ४१, ४४-४५, ४६-४७, ५१, १८७ परसे लिये गये अंग्रेजी उद्धरणोंका अनुवाद है।

—ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक-कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

[गत किरणसे आगे]

सरागी और वीतरागी देवोंकी समानता-असमानतापर विचार—

हमने आप्तमीमांसाके 'अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः' इस द्वितीय कारिका-वाक्य और उसके आचार्य विद्यानन्द तथा वसुनन्दिकृत टीकागत व्याख्यानसे यह प्रमाणित एवं प्रतिपादित किया था कि आप्तमीमांसाकारने क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको केवलीमें आभ्यन्तर विग्रहादि-महोदय (शारीरिक अतिशय) के रूपमें स्वीकार किया है—उसे छोड़ा नहीं है। किन्तु वह रागादिमान् स्वर्गवासी देवताओंमें भी पाया जानेसे लक्षण नहीं है—उपलक्षणमात्र है।

इसपर प्रो० सा० ने यह आपत्ति उपस्थित की है कि यदि क्षुधादि-प्रवृत्तियोंका अभाव सरागी देवोंमें भी हो, तो सरागी और वीतरागी देवोंमें कोई भेद नहीं रहेगा। साथमें क्षुधादि प्रवृत्तितोंके अभावको घातिकर्म-क्षय-जन्य या मोहनीय-कर्म-क्षय-जन्य नहीं माना जा सकेगा; क्योंकि सरागी देवोंके घातिकर्म और मोहनीयकर्म मौजूद हैं?

इसका उत्तर यह है कि सरागी और वीतरागी देवोंमें जो भेद है वह क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको लेकर नहीं है, किन्तु सरागता और वीतरागताको लेकर है जैसाकि उनके नामोंसे और स्वयं आप्तमीमांसाकारके 'रागादिमत्सु सः' इस प्रतिपादनसे ही प्रकट है। अर्थात् जो स्वर्गवासी देव हैं वे तो राग, द्वेष, मोह आदि दोषोंसे विशिष्ट हैं और जो वीतरागी देव हैं वे उन दोषोंसे सर्वथा रहित हैं—निर्दोष हैं। अत एव क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव दोनोंमें रहनेपर भी सरागता और वीतरागता-कृत भेद उनमें स्पष्ट है। कितनी ही बातोंमें समानता और कितनी हीमें असमानता दोनों हर एकमें रहती हैं। इतना ही है कि जो उनका असाधारण[1]—उसी मात्रमें रहनेवाला और तदतिरिक्तमें न रहने वाला—धर्म होता है वही उनका व्यावर्तक लक्षण (भेदक) माना जाता है। पर जो धर्म उभयत्र दोनोंमें पाया जाता है वह लक्षण नहीं होता—उपलक्षण हो सकता है। अतः मानवीय क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव किसी अपेक्षासे समानता रखने वाले सरागी और वीतरागी देवोंमें बतलानेसे वे अभिन्न नहीं हो जाते—सकषाय और अकषाय-का भेद उनमें स्पष्टतः मौजूद है।

अब प्रश्न सिर्फ यह रह जाता है कि फिर उसे (क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको) घातिकर्म-क्षय-न्य या मोहनीयकर्म-क्षय-जन्य कैसे माना जा सकता है क्योंकि इन कर्मोंसे विशिष्ट सरागी देवोंमें भी वह पाया जाता है?

वास्तवमें सम यहीं भूल करते हैं कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको सर्वथा घातिकर्मक्षय-जन्य अथवा मोहनीय कर्म-क्षय-जन्य ही समझ लेते हैं। पर बात यह नहीं है। क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव घातिया कर्मोंके अथवा मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षयसे भी होता है और उनके विशिष्ट क्षयोपशमसे भी होता है। कोई भी गुण अथवा दोषाभाव हो वह दो तरहसे होता है[2]—कर्मोंके क्षयसे अथवा कर्मोंके क्षयोपसम-

---

१ 'तदितरावृत्तित्वे सति तन्मात्रवृत्तित्वमसाधारणत्वम्'।-त०।

२ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म कहलाते हैं। इनमें मोहनीयका तो अभाव तीन तरहसे होता है—उपशमसे, क्षयोपशमसे और क्षयसे। शेष तीन कर्मोंका अभाव दो ही तरहसे होता है—क्षयोपशमसे और क्षयसे। उपशम, क्षयोपशम और क्षय तीनों हालतोंमें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव होता है। उपशमकी हालतमें दोषभाव और गुणका आविर्भाव अन्तर्मुहूर्त जितने कालके लिये ही होता है। अतः वह यहाँ गौण है। क्षयोपशम अवस्थामें दोषाभाव और गुणका

से। कर्मोंके सर्वथा क्षयसे जो दोषाभाव अथवा गुण होता है वह स्वभावे परिपूर्ण रूपमें और सदाके लिये होता है। उस नष्ट दोषके अथवा उत्पन्न गुणके अभावके पुनः होनेकी किसी भी काल, किसी भी क्षेत्र और किसी भी पर्यायमें सम्भावना नहीं रहती। एक बार उत्पन्न हुआ फिर वह सदैव अनन्त कालतक वैसा ही बना रहता है—उसकी प्रच्युति फिर नहीं होती। पर कर्मोंके क्षयोपशमसे जो दोषाभाव अथवा गुण होता है वह न्यूनाधिक और किसी निश्चित काल तकके लिये ही होता है और इसीलिये क्षयोपशमिक गुण अथवा दोषाभाव तरतमता-न्यूनाधिकताको लिये हुए पाये जाते हैं और असंख्यातरूपसे वे घटते बढ़ते रहते हैं--एक बार उत्पन्न हुआ क्षयोपशमिक गुण अथवा दोषाभाव कालान्तर, देशान्तर और पर्यायान्तरमें नष्ट होकर पुनः भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणस्वरूप एक वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमको ही लीजिये, वह सर्वतो न्यून सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके होता है और सर्वतो अधिक तेरहवें गुणस्थानके उन्मुख हुए बारहवें गुणस्थानवर्ती महायोगी निर्ग्रन्थके और सर्वार्थसिद्धिके देवके है। मध्यवर्ती असंख्यात भेद दूसरे अनन्त प्राणियोंके हैं। एक ही जीवके विभिन्न कालोंमें वह संख्यातीत प्रकारसे हो सकता है। इस वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमका ही प्रभाव है कि दो-दो छह-छह महीने और यहाँ तक कि बारह वर्ष तक भी मानवशरीरमें भूख-प्यासादिकी वेदना नहीं हो पाती। यह बात तो आज भी अनुभव सिद्ध है कि वीर्यन्तरायकर्मके क्षयोपशमकी न्यूनाधिकतासे कोई एक ही उपवास कर पाता है या मामूली ही परिश्रम कर पाता है और दूसरा दस-दस बीस-बीस उपवास कर लेता है या बड़ा-सा बड़ा परिश्रम करके भी थकानको प्राप्त नहीं होता। अकलंकदेवने राजवार्त्तिकमें एक कायबलऋद्धिधारी योगी मुनिका वर्णन किया है, जिसमें कहा गया है कि उन्हें वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे असाधारण काय-बल प्राप्त होता है जिससे वे एक एक महीने,

आविर्भाव कुछ अधिक ६६ सागर तक बना रहता है। और क्षय-अवस्थामें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव सादि होता हुआ अनन्त काल तक अर्थात् सदैव रहता है—फिर उसकी प्रच्युति नहीं होती। इन दोनोंपर ही प्रकृतमें विचार किया गया है।

चार-चार महीने और एक एक वर्ष तक प्रतिमायोग धारण करनेपर भी कभी थकते नहीं हैं और न उन्हें पसीना ही आता है। राजवार्तिकका वह उद्धरण इस प्रकार है:—

"वीर्यान्तराय-क्षयोपशमाविर्भूतासाधारणकायबलत्वान्मासिकचातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रम-क्लमविरहिताः कायबलिनः" पृ.१४४

देवोंके आयुकर्म और घातिकर्मका उदय मौजूद है और आयुकर्म तो प्रतिक्षण गलता भी रहता है फिर भी उनके जरा नहीं आती—उसका अभाव है और इसीलिये उन्हें 'निर्जर[1]' कहा गया है। यदि पूछा जाय कि उनके जराका अभाव किस कर्मके क्षयसे है या किस तरहसे है? तो इसका उत्तर यही दिया जायगा कि यद्यपि उनके वीर्यान्तरायकर्मका उदय है—क्षय नहीं है फिर भी उसका उनके भवनिमित्तक विशिष्ट क्षयोपशम है और उससे उन्हें ऐसा बल प्राप्त रहता है कि जिसकी वजहसे वे बुढ़ापाको प्राप्त नहीं होते। इसी क्षयोपशमके प्रभावसे पसीनाका भी उनके अभाव है। तात्पर्य यह कि इस कर्मके क्षयोपशमका बड़ा अचिन्त्य प्रभाव है। इसी प्रकार मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयोपशमको भी समझना चाहिये। निद्रादर्शनावरण कर्मका उदय उनके विद्यमान है—उसका उनके क्षय नहीं है फिर भी जो उनके निद्राका अभाव है और वे सदैव 'निर्निमेष' अथवा 'अस्वप्न[2]' बने रहते हैं वह उस कर्मके भवनिमित्तक विशिष्ट क्षयोपशमकी ही कृपा है। अन्तर्मुहूर्तमें समग्र द्वादशाङ्ग श्रुतका पारायण करने वाले श्रुतकेवलीको कौन नहीं जानता? अतः यही बात प्रकृतमें समझिये। केवली भगवानके चूँकि घातिकर्मोंका सर्वथा क्षय हो चुका है, इसलिये उनके क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव उन कर्मोंके सर्वथा क्षयजन्य है और सरागी देवोंके चूँकि घातिकर्मोंका एक खास तरहका क्षयोपशम है और इसलिये उनके उन प्रवृत्तियोंका खास तरहका अभाव है और वह क्षयोपशमजन्य है, जो क्षयोपशम उनकी आयु पर्यन्त ही रहता है तथा आयुके समाप्त होनेपर पर्यायान्तर— मानव या तिर्यंच-

१ "अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः।"—अमरकोष १-७

२ "आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः।" —अमरकोष १-८।

की पर्याय—ग्रहण करते ही उस पर्यायानुकूल भूख-प्यासादिकी प्रवृत्ति होने लगती है। अपनी पर्यायमें तो उन मानव साधारण प्रवृत्तियोंका अभाव ही है। तात्पर्य यह हुआ कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव घातिया कर्मोंके क्षयसे और उनके क्षयोपशमसे दोनोंसे होता है। उनका सर्वथा आत्यन्तिक अभाव तो केवलीके होता है जो घातिकर्मोंके क्षय-जन्य है और दैशिक, कालिक और पार्यायिक उनका अभाव सरागी देवोंके या विशिष्ट योगियोंके होता है जो घातिकर्मोंके क्षयोपशम-जन्य है। और इसलिये घातियाकर्मोंके क्षय तथा क्षयोपशम और क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावमें कारण-कार्य-भाव सोपपन्न है—इसमें कोई बाधादिदोष नहीं हैं।

हमारे इस विवेचनका समर्थन आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत महत्वपूर्ण शंका-समाधानसे भी हो जाता है, जो इस प्रकार है—

"अथ यादृशो घातिक्षयजः स (विग्रहादिमहोदयः) भगवति न तादृशो देवेषु येनानैकान्तिकः स्यात्। दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते। तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्।"—पृ० ४।

यहाँ विद्यानन्द पहले शंकाकार बन कर कहते हैं कि जैसा घातियाकर्मक्षयजन्य वह निःस्वेदत्वादि महोदय भगवान्में पाया जाता है वैसा देवोंमें नहीं है, उनके तो घातियाकर्म मौजूद हैं—मात्र उनका क्षयोपशम है और इसलिये उनका महोदय घातियाकर्मोंके क्षयजन्य नहीं है—क्षयोपशमजन्य ही है। अतः हेतु अनैकान्तिक नहीं है और इसलिये यह महोदय (घातिकर्मक्षय-जन्य) आप्तपनेका निर्णायक होसकता है। इसका वे फिर उत्तरकार बनकर उत्तर देते हैं कि फिर भी (उक्त प्रकारसे हेतुमें व्यभिचार वारित हो जानेपर भी) हेतु आगमाश्रय है, पहलेकी तरह। अर्थात् वह आगमपर निर्भर है—आगमकी अपेक्षा लेकर ही साध्य सिद्धि कर सकेगा; क्योंकि आगममें ही भगवानके निःस्वेदत्वादि महोदयको घातियाकर्मक्षय-जन्य बतलाया गया है और इसलिये यहाँ हेतुवादसे आप्तका निर्णय करनेमें वह अविवक्षित है।

विद्यानन्दके इस शंका-समाधानसे स्पष्ट है कि केवलीके क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभावरूप महोदय घातियाकर्मक्षय-जन्य है और सरागी देवोंके घातियाकर्मक्षय-जन्य न होकर उनके क्षयोपशम-जन्य है। यही कारण है कि उक्त महोदयको अतिशयमात्र ही बतलाया गया है—उसे लक्षणकोटिमें नहीं रखा और इसलिये वह उपलक्षण हो सकता है। यहाँ हम यह भी प्रकट कर देना चाहते हैं कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंमें यथासम्भव प्रवृत्तियोंका ही अभाव देवोंमें है, जैसे पसीनाका अभाव, जराका अभाव मानवीय क्षुधा-पिपासाका अभाव, आतंक (रोग) का अभाव, अकालमृत्युका अभाव आदि। और इनकी अपेक्षा सरागी तथा वीतरागी देवोंमे समानता है। और राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, भय आदिके अभावकी अपेक्षा उनमें असमानता है। आप्तमीमांसामें चूँकि हेतुवादसे आप्तका निर्णय अभीष्ट है, इसलिये वहाँ वह केवल असमानता (वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता) ही विवक्षित हुई है और इसीके द्वारा अरहन्तको कपिलादिसे व्यवच्छेद करके आप्त सिद्ध किया गया है। पर, रत्नकरण्डश्रावकाचार चूँकि श्रद्धाप्रधान श्रावकोंके धर्मका प्रतिपादक ग्रंथ है, अतः वहाँ हेतुवाद और अहेतुवाद (आज्ञावाद-आगमवाद) दोनों द्वारा स्वीकृति अतिशयदिक भी आप्तका स्वरूप वर्णित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि आप्तमीमांसामें क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव भी केवलीमें विवक्षित है। पर, लक्षणरूपसे नहीं, किन्तु उपलक्षण अथवा अतिशयरूपसे।

लक्षण और उपलक्षणका विवेक—

मैंने अपने इसी लेखमें आगे चलकर यह बतलाया था कि 'रत्नकरण्ड (श्लोक ५) में आप्तका स्वरूप तो सामान्यतः आप्तमीमाँसाकी ही तरह "आप्तेनोत्सन्नदोषेण" इत्यादि किया है। हाँ, आप्तके उक्त स्वरूपमें आये 'उत्सन्नदोष' के स्पष्टीकरणार्थ जो वहाँ क्षुत्पिपासा आदि पद्य दिया है उसमें लक्षण—रागद्वेषादिका अभाव और उपलक्षण—क्षुधादिका अभाव दोनोंको 'उत्सन्नदोष के स्वरूपकोटिमें प्रविष्ट किया गया है।' और फुटनोटमें न्यायकोष तथा संक्षिप्तहिन्दीशब्दसागरके आधारसे लक्षण और उपलक्षणमें भेद दिखाया था। इसपर प्रो० सा० ने उपलक्षणके दो-तीन और लक्षण अपने मूल लेखमें

ही—फुटनोटमें नहीं—उपस्थित किये हैं, मानों वे मेरी दृष्टिमें न हों और अन्तमें मुझसे पूछा है कि 'मेरे मतानुसार क्षुधादिवेदनाओंका अभाव आप्तका किस प्रकारका उपलक्षण है और रत्नकरण्डकार उसके द्वारा आप्तकी क्या विशेषता बतलाना चाहता है ? उसके द्वारा आप्तको सरागी देवोंके सदृश बतलाना उन्हें अभीष्ट है या उनसे पृथक्।' मेरे द्वारा लक्षण और उपलक्षणमें सप्रमाण दिखाये गये अन्तरमें आपने कोई दोष नहीं बतलाया और जब उसमें कोई दोष नहीं है तो उपलक्षणके लांगूल पुच्छकी तरह अन्यथासिद्ध और लक्षणोंको प्रस्तुत करना सर्वथा अनावश्यक है उनसे सिद्ध-असिद्ध कुछ भी नहीं होता। शब्दस्तोममहानिधिगत उपलक्षणके स्वरूपको प्रस्तुत करते हुए तो वे उपलक्षण और अजहत्स्वार्था लक्षणामें भेद ही नहीं समझ सके। अस्तु, हम पुनः दोहराते हैं कि हमने जो लक्षण और उपलक्षणके मध्यमें न्यायकोष और हिन्दीशब्दसागरके आधारसे अन्तर दिखाया है वह निर्दोष है और इसलिये वही हमारे लिये यहाँ विवक्षित है। वास्तवमें उपलक्षण कहीं तो शब्दपरक होता है, जैसे "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" में काक पद उपलक्षण है और कहीं अर्थपरक होता है, जैसे आत्माके ५३ भावोंमें जीवत्वभावके अलावा ५२ भाव उपलक्षण हैं। प्रकृतमें क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव आप्तमें अर्थपरक उपलक्षण है और उससे रत्नकरण्ड श्रावकाचारका कर्ता आप्तको मानवप्रकृतिसे भी अतीत बतलाना चाहता है। अर्थात् 'वे (केवली भगवान) लोकोत्तर परम-आत्मा हैं' यह उसके द्वारा प्रकट करना उन्हें अभीष्ट है। सरागी देव मानवप्रकृतिसे अतीत (अमानव) होते हुए भी वे आप्तसे पृथक् हैं, आप्त तो मानवप्रकृतिरहित और देवाधिदेव है एवं घातिकर्मक्षयजन्य अपरिमित विशेषताओंसे युक्त है, पर सरागीदेव केवल मानवप्रकृतिरहित ही हैं एवं कर्मोंके विशिष्ट क्षयोपशमजन्य सीमित और अल्पकालिक विशेषताओं—महोदयोंसे ही युक्त हैं- वे देवाधिदेव वीतरागदेव नहीं हैं, यह रत्नकरडश्रावकाचारके ६ ठवें पद्यमें उसके कर्ताने बतलाया है और यह स्वयं आप्तमीमांसाकारकी ही द्वितीय रचना स्वयम्भूस्तोत्रके मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्' आदि ७५ वें पद्यके सर्वथा अनुकूल है। अतः सरागी और वीतरागी देवोंके कुछ सादृश्यको लेकर उन्हें सर्वथा एक समझना या बतलाना भारी भूल है। इस सम्बन्धमें पीछे पर्याप्त विचार किया जा चुका है अतः और अधिक विस्तार अनावश्यक है।

(क्रमशः)

एक प्राचीन ताम्र-शासन

अर्सा हुआ भारत सरकारके अभिलेख-वेत्ता डा० हीरानन्दजी शास्त्री एम० ए० ने ऊटकमण्ड (मद्रास) से एक प्राचीन ताम्रशासनकी प्रतिलिपि (कापी), कुछ प्रश्नोंके साथ, मुनि पुण्यविजयजीके पास पाटन भेजी थी और उनके पाससे, तत्सम्बन्धी जानकारीके लिये, मुझे प्राप्त हुई थी; क्योंकि ताम्रशासनका सम्बन्ध आर्यनन्दि नामके दिगम्बराचार्यसे है, जिन्हें इस शासनपत्रमें 'जम्बूखण्ड' गणका आचार्य लिखा है और विश्रुत ज्ञान-दर्शन-तपसे सम्पन्न बतलाया है। ये आचार्य उस समय 'जलार' ग्राममें जो कि कूमाण्डी देशके अन्तर्गत पर्वत-निकटवर्ती ग्राम था, अपने गण अथवा संघ-सहित स्थित थे। इनके नामपर इस शासनपत्रमें ग्रामके उत्तरमें स्थित पूर्विण ग्रामका ५० निवर्तन क्षेत्र, भगवान् अर्हन्तकी प्रतिमा अथवा प्रतिमाओंकी नित्यपूजाके लिये और शिक्षक (शैक्ष्य-शिष्य ?), ग्लान (रोगी) तथा वृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्ति (सेवा) के लिये, दान किया गया है, जिसकी सीमाओंका दानपत्रमें स्पष्ट उल्लेख है। यह दान उन श्रीमान् इन्द्रणन्द अधिराजकी ओरसे, अपने वंशजोंकी और अपनी धर्मवृद्धिके लिये,

दिया गया है जो कि विजयानन्द मध्यमराजाके पुत्र थे, सेन्द्रक नामक निर्मल कुलरूप आकाशके उदित दीप्त-दिवाकर थे और राष्ट्रकूट वंशमें उत्पन्न हुए श्री देढ महाराजके द्वारा अभिमत (माने हुए राजा) थे। और यह दान उन आगुप्तायिक राजाओंके ८४५ वर्ष बीतनेपर दिया गया है जो कि इस अवसर्पिणी कालके २४ वें तीर्थकर सन्मति श्रीवर्द्धमानकी वृद्धिगत तीर्थसन्ततिमें हुए हैं—अर्थात् भगवान् वर्द्धमान (महावीर) के तीर्थानुयायी थे। उन्हीं वर्द्धमान तीर्थंकरके शासनकी आदिमें एक श्लोकद्वारा मंगलाचरण-रूपसे वृद्धि-कामना की गई है—लिखा है कि 'जिन्होंने रिपुओं—कर्मशत्रुओंका नाश किया है उन वर्द्धमान गण-समुद्रके वर्द्धमानरूप चन्द्रमाका देदीप्यमान शासन (तीर्थ) वृद्धिको प्राप्त होवे, जो कि मोह के शासनस्वरूप है—मोहपर कंट्रोल रखने अथवा विजय प्राप्त करनेकी एकनिष्ठाको लिये हुए है। और दानपत्रके अन्तमें यह घोषणा की गई है कि 'जो इस दानका अपहरण करता है वह पंच महा-पातकोंसे युक्त होता है—हिंसादि पांच घोरपापोंका भागी होता है।' दानपत्रमें कुल १६ पंक्तियाँ हैं और इसलिये उसे पंक्तिक्रमसे ही आज अनेकान्त-पाठकोंके सामने रक्खा जाता है :—

1 वर्द्धतां वर्द्धमानेन्दोर्वर्द्धमानगणोदधेः शासनं नाशित-
2 रिपोर्भासुरं मोहनाशनम् ॥ इहास्यामवसर्पिण्यान्तीर्थ-
3 कराणां चतुर्विंशतितमस्य सन्मतेः श्रीवर्द्धमानस्य वर्द्धमा-
4 नायां तीर्त्थसन्ततावागुप्तायिकानां राज्ञामष्टासु वर्षशते-
5 षु पंचचत्वारिंशदग्रेषु गतेषु राष्ट्रकूटान्वयजातश्रीदे-
6 ढश्च (स्य ?) महाराजस्याभिमतः श्रीसेन्द्रकामलकुलाम्बरोदितदी-
7 प्रदिवाकरो विजयानन्दमद्ध्यमराजात्मजः श्रीमानिन्द्रणन्दाधि-
8 राजः स्ववंश्यानामात्मनश्च धर्मवृद्धये करमाण्डीविषये
9 पर्व्वतप्रत्यासन्तजलारग्रामे जम्बूखण्डगणस्यायज्ञान-
10 दर्शनतपस्सम्पन्नाय आर्य्यणन्द्याचार्याय भगवदर्ह-
11 त्प्रतिमानवरतपूजार्थं शिक्षकग्लानवृद्धानां च तपस्विनां वै-
12 यावृत्यार्थं ग्रामस्योत्तरतः पूर्विणग्रामविरेयसीमकं द-
13 क्षिणेण मुञ्जलमार्ग्गपर्यन्तं अपरतः एन्दाविरुत्स-
14 हितवल्मीकं तस्मादुत्तरतः पुष्करणी ततश्च यावत्पूर्व्वविरेय-
15 कं राजमानेन पंचाशन्निवर्तनप्रमाणक्षेत्रन्द-
16 त्तवानेतद्यो हरति स पंचमहापातकसंयुक्तो भवति [।]

इस शासनपत्रमें उल्लेखित आगुप्तायिक राजाओं, उनके संवत्, राष्ट्रकूटवंशी देढ महाराज, सेन्द्रककुल, विजयानन्द राजा, उसके पुत्र इन्द्रनन्द आधिराजा, करमाण्डी देश, जलार ग्राम, पूर्विण

ग्राम, जम्बूखण्ड गण, और आर्यनन्दि आचार्यके विषयमें विशेष अनुसन्धानकी जरूरत है, उससे इतिहास-विषयपर कितना ही नवीन प्रकाश पड़ेगा। अतः विद्वानोंको इस विषयमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिये और उसके नतीजेसे अनेकान्तको सूचित करके अनुगृहीत करना चाहिये। —सम्पादक

भट्टारकीय मनोवृत्तिका एक नमूना
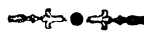
जिस समय भट्टारकोंका स्वेच्छाचार बहुत बढ़ गया था—उनके आचार विचार शास्त्रमर्यादाका उल्लंघन करके यथेच्छ रूप धारण कर रहे थे और उनकी निरंकुश, दूषित एवं अवांछनीय प्रवृत्तियोंसे जैन जनता कराह उठी थी और बहुत कुछ कष्ट तथा पीड़ाका अनुभव करती करती ऊब गई थी, उस समय कुछ विवेकी महान् पुरुषोंने भट्टारकोंके चंगुल से अपना पिण्ड छुड़ाने, भविष्यमें उनकी कुत्सित प्रवृत्तियोंका शिकार न बनने, उनके द्वारा किये जाने वाले नित्यके तिरस्कारों-अपमानों तथा अनुचित कर-विधानोंसे बचने और शास्त्रविहित प्राचीन मार्ग से धर्मका ठीक अनुष्ठान अथवा आचरण करनेके लिये दिगम्बर तेरहपन्थ सम्प्रदायको जन्म दिया था। और इस तरह साहसके साथ भट्टारकीय जूए को अपनी गर्दनोंपरसे उतार फेंका था तथा धर्मके मामलेमें भट्टारकोंपर निर्भर न रहकर—उन्हें ठीक अर्थमें गुरु न मानकर—विवेकपूर्वक स्वावलम्बनके प्रशस्त मार्गको अपनाया था। इसके लिये भट्टारकों की शास्त्रसभामें जाना, उनसे धर्मकी व्यवस्था लेना आदि कार्य बन्द किये गये थे। साथ ही संस्कृत-प्राकृतके मूल धर्मग्रंथोंको हिन्दी आदि भाषाओंमें अनुवादित करके—उनपर टीकाएं लिखकर—उन्हें सर्वत्र प्रचारित करनेका बीडा उठाया गया था, जिससे गृहस्थजन धर्म एवं तत्त्वज्ञानके विषयको स्वयं समझकर ठीक आचरण करें और उसके लिये गृहस्थोंसे गये बीते मठाधीश और महापरिग्रही भट्टारकोंके मुखापेक्षी न रहें, इसका नतीजा बड़ा सुन्दर निकला—गृहस्थोंमें विवेक जागृत हो उठा, धर्मका जोश फैल गया, गृहस्थ विद्वानों द्वारा शास्त्रसभाएं होने लगीं, भट्टारकोंकी शास्त्रसभाएं फीकी पड़ गईं, स्वतंत्र पाठशालाओं द्वारा बच्चोंकी धार्मिक शिक्षा का प्रारम्भ हुआ और जैनमन्दिरोंमें सर्वत्र शास्त्रों के संग्रह, स्वाध्याय तथा नित्यवाचनकी परिपाटी चली। और इन सबके फलस्वरूप श्रावक जन धर्म-कर्ममें पहलेसे अधिक सावधान होगये—वे नित्य स्वाध्याय, देवदर्शन, शास्त्रश्रवण, शील-संयमके पालन तथा जप-तपके अनुष्ठानमें पूरी दिलचस्पी लेने लगे और शास्त्रोंको लिखा लिखा कर मन्दिरों में विराजमान किया जाने लगा। इन सब बातोंमें स्त्रियोंने पुरुषोंका पूरा साथ दिया और अधिक तत्परतासे काम किया, जिससे तेरह पन्थको उत्तरोत्तर सफलताकी प्राप्ति हुई और वह मूलजैनआम्नाय का संरक्षक बना। यह सब देखकर धर्मासनसे च्युत हुए भट्टारक लोग बहुत कुढ़ते थे और उन तेरह

पन्थमें रात दिन रत रहनेवाले श्रावकोंपर दूषित मनोवृत्तिको लिये हुए वचन-बाणोंका प्रहार करते थे—उन्हें 'निष्ठुर' कहते थे, 'काठिया' (धर्मकी हानि करनेवाले) बतलाते थे और 'गुरु विवेकसे शून्य' बतलाते थे। साथ ही उनके जप-तप और शील-संयमादिरूप धर्माचरणको निष्फल ठहराते थे और यहाँ तक कहनेकी धृष्टता करते थे कि तेरहपंथी वनिकपुत्रकी उत्पत्तिपर देवतागण रौरव-नरकका अथवा घोर दुःखका अनुभव करते हैं, जब कि पुत्रकी उत्पत्तिपर सारा जगत हर्ष मनाता है। इसके सिवाय वे पतितात्मा उन धर्मप्राण एवं शील-संयमादिसे विभूषित स्त्रियोंको, जो धर्मके विषयमें अपने पुरुषोंका पूरा अनुसरण करती थीं और नित्य मन्दिरजीमें जाती थीं किन्तु भट्टारक गुरुके मुखसे शास्त्र नहीं सुनती थीं, 'वेश्या' बतलाते थे!—उनपर व्यंग्य कसते थे कि वे प्रतिदिन जिनालय (जैन मंदिर) को इस तरह चली जाती हैं जिस तरह कि राजाके घर वारांगना (रण्डी) जाती है!!

हालमें इस भट्टारकीय मनोवृत्तिके परिचायक तीन पद्य मुझे एक गुटकेपरसे उपलब्ध हुए हैं, जो गत भादों मासमें श्री वैद्य कन्हैयालालजी कानपुरके पाससे मुझे देखनेको मिला था और जिसे सिवनीका बतलाया गया है। यह गुटका २०० वर्षसे ऊपरका लिखा हुआ है। इसमें संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं के अनेक वैद्यक, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र और जंत्र-मंत्र-तंत्रादि विषयक ग्रंथ तथा पाठ हैं। अस्तु; उक्त तीनों पद्य नीचे दिये जाते हैं, जो संस्कृत-हिन्दी मिश्रित खिचड़ी भाषामें लिखे गये हैं और बहुत कुछ अशुद्ध पाये जाते हैं इनके ऊपर "हृदे(दय)बोध ग्रंथ कथनीयः" लिखा है। संभव है 'हृदयबोध' नामका कोई और ग्रंथ हो, जिसे वास्तवमें 'हृदयवेध' कहना चाहिये, और वह ऐसे ही दूषित मनोवृत्ति वाले पद्योंसे भरा हो और ये पद्य (जिनमें ब्रेकेटका पाठ अपना है) उसीके अंश हों :—

"सूतउत्पत्यं (सुतोत्पत्तौ) जगत्सर्व हर्षमानं प्रजायतेः(ते)
तेरापंथी वन्क(वनिक) पुत्रं(त्रे) रोरवं देवतागणाः।१।
त्रिदश१३पंथरतौ (ता) निशिवासराः।
गुर्विवेक न जानंति निष्ठुराः
जप-तपे कुरुते बहुनिफलां (ला)
कर्मापि ये व (?) जना सम काठया ॥ २ ॥
पुर्ष(रुष) रीत लर्षै निजकामिनी
प्रतिदिनं चलिजात जी (जि) नालये।
गुरुमुखं नहि धर्मकथा श्रुणं
नृपगृहे जिम जाति वरांगना ॥ ३ ॥"

इन विषबुझे वाग्बाणोंसे जिनका हृदय व्यथित एवं विचलित नहीं हुआ और जो बराबर अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहे वे स्त्रीपुरुष धन्य हैं। और यह सब उन्हींकी तपस्या, एकनिष्ठा एवं कर्तव्यपरायणताका फल है, जो पिछले जमानेमें भी धर्मका कुछ प्रकाश फैल सका और विश्वको जैनधर्म एवं तत्वज्ञानविषयक साहित्यका ठीक परिचय मिल सका। अन्यथा, उस भट्टारकीय अन्धकारके प्रसार में सब कुछ विलीन हो जाता।

सम्पादक

विविध-विषय

अन्तःकालीन सरकार—'सामान्यतः मुस्लिम-लीगके केन्द्रस्थ कांग्रेसी सरकारमें सम्मिलित होनेका देशमें सर्वत्र सहर्ष स्वागत किया जाता; किन्तु इस नवीन सम्मिलनके प्रति देश वस्तुतः अत्यन्त उदासीन एवं निरुत्साह ही रहा। मि० जिन्ना द्वारा प्रस्तुत समस्याके हल करनेके प्रयत्नको 'अत्यन्त रूखा' कहकर ठीक ही बयान किया गया है। उनके स्वयंके अनुयायियोंमें भी, छोटे बड़े सब ही इससे नाखुश रहे। उन्होंने अन्तःकालीन सरकारसे अलग रहनेकी अपनी मूर्खताको भी महसूस किया और उसका प्रतिकार करना चाहा। कांग्रेस और लीगके बीच समझौता करानेके लिये नवाब भोपाल द्वारा किया गया हस्तक्षेप भी विफल रहा; अन्तमें, परिणामस्वरूप, मि० जिन्नाको वाइसरायके हाथोंसे वही स्वीकार करना पड़ा जोकि नेहरू सरकार उन्हें पहले ही स्वयं दे रही थी। उन्होंने नेहरू सरकारकी अपेक्षा वायसरायके हाथों वे ही पांच स्थान लेने पसन्द किये। इस बातसे उनके मस्तिष्कका मित्रता अथवा सहायता पूर्ण होना सूचित नहीं होता। उक्त पांच स्थानोंमेंसे एक स्थान उन्होंने एक कांग्रेस-विरोधी हरिजनको इस आशामें दे दिया कि उससे भारतीय हरिजनोंमें फूट पड़ जायगी। इस बातसे भी उनके इरादोंमें मित्रभावका अभाव झलकता है। प्रत्युत इसके, यह भारतकी राष्ट्रीय एकताको भंग करनेका उनका एक साहसिक प्रयत्न था। नेहरू सरकारने पहिले ही अपने ऊपर संयुक्त उत्तरदायित्व लेकर शक्ति और सामञ्जस्यकी एक आश्चर्यजनक प्रथा डालदी थी। इस सरकारके लिये यह एक आसान बात थी, क्योंकि इसके सदस्य या तो कांग्रेसी थे या पक्के राष्ट्रवादी। क्या ये नये पाँच सदस्य, जो अब पाकिस्तान प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं इस संयुक्त उत्तरदायित्वको अपनायेंगे अथवा नहीं, यह एक अत्यन्त सन्देहास्पद प्रश्न है, यदि वे ऐसा नहीं करते तो नेहरू सरकार दो दलोंमें विभक्त हो जायगी और तब उसके वायसरायके आधीन रहने और उसके द्वारा नियन्त्रित होनेकी ही सम्भावना है; किन्तु इस परिस्थितिको कांग्रेस कभी भी स्वीकार नहीं करेगी। इस राजनैतिक समझौतेके—या इसे जो कुछ भी नाम दिया जाय उसके—फलस्वरूप साम्प्रदायिक खींचतानके भी कम होनेके कोई लक्षण नहीं दीख पड़ते। नोआखालीकी भयङ्कर दुरवस्था किसी भी भारतीय देशभक्तको यह महसूस करने नहीं दे सकती कि देशने अपनी कठिनाइयों और संकटोंसे मुक्ति पाली है। एक मात्र यही सन्तोषकी बात है कि (अन्तःकालीन सरकारके) कांग्रेसी दलमें देशके विद्यमान सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही सम्मिलित हैं; और संभव है वे ऐसी स्थितिमें भी सामञ्जस्यकी भावनायें सञ्चारित करनेमें सफल हो जाँय जहाँ उसकी कोई आशा नहीं है। किन्तु यह मात्र एक आशा ही है, यदि अभिलाषा नहीं।'

—के. एम. मुन्शी

कांग्रेस सभापतिका सन्देश—गत २२-२३-२४ नवम्बरको मेरठमें अ० भा० राष्ट्रीय महासभाका ५४ वाँ अधिवेशन सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। उक्त अवसरपर देशके मनोनीत राष्ट्रपति आचार्य कृपलानीने जनताको स्वावलम्बी बननेके लिये प्रेरित किया। आपने कहा—'आप लोगोंको अपनी रक्षाके लिये अन्तःकालीन सरकार, प्रान्तीय सरकार, फौज या पुलिसकी ओर न देखकर अपनी शक्ति, अपने संगठन तथा अपनीही बहादुरीपर निर्भर रहना चाहिये। आप लोगोंको जातिपांतके बंधन त्याग देने चाहिये, अच्छे पड़ौसियोंके साथ मित्रता कायम करनी चाहिये और साहस तथा संगठनके साथ गुण्डेपनका विरोध करना चाहिये।'

पं० नेहरूजीका जन्मदिवस—ता० १४ नवम्बरको देश विदेशमें, भारतीय राष्ट्रके शिरमौर पं० जवाहरलाल-

नेहरूका जन्मदिन सोत्साह मनाया गया। न्यूयार्क (अमेरिका) में स्थित भारतीय स्वातन्त्र्य सभाकी राष्ट्रीय समिति द्वारा इस उत्सवका आयोजन विशेष महत्त्वपूर्ण रहा। उसमें अमेरिका, रूस, चीन, इंगलिस्तान, फिलीपाइन द्वीपसमूह, अफ़गानिस्तान, लेबिनन आदि राष्ट्रोंके प्रतिनिधि सरकारी तौरपर सम्मिलित हुए थे। भारतीय प्रतिनिधिमंडलकी नेत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित भी उपस्थित थीं। चीनी राजदूत डा० विलिङ्गटन कू उत्सवके प्रमुख वक्ता थे, आपने कहा कि 'यह वर्षगांठ उन (पं० नेहरू)के लिये तथा उस देशके लिये जिसके कि वे आज वास्तविक कर्णधार हैं, नवजीवनकी सूचक है।' श्रीयुत कृष्णमेननने कहा 'उन्होंने अन्तराष्ट्रीय संसारमें भारतवर्षको एक स्वतन्त्र राष्ट्रकी भाँति कार्य करने योग्य बना दिया है। यहां न्यूयार्कमें हम अब 'अपने मालिकों-की प्रतिध्वनि मात्र' नहीं रहगये हैं जैसा कि हम वर्सेई तथा जनेवामें रहे थे।' विलियम फिलिप्सने कहा कि 'सर्वोच्च भारतीय नेताकी वन्दना करना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।' हेनरी वेलेसने नेहरूजीको संसारके सर्वोच्च नेताओंमेंसे एक माना। और सुमनेर वेल्सने उनकी हृदयसे प्रशंसाकी।

लंदनमें इंडिया लीगकी ओरसे प्रो० हल्दानेके सभापतित्वमें यह उत्सव मनाया गया जिसमें पार्लमेंटके सदस्य मि० जुलियस सिलवरमेनने कहाकि 'नेहरूकी राजनैतिक दृष्टि विश्वभरमें सर्वाधिक प्रशस्त है। उन्होंने जीवनभर भारतके लिये कष्ट सहन किये, किन्तु उनसे उनमें कटुता नहीं आई।' स्वराज्य हाउस द्वारा भी यह उत्सव मनाया गया था और उसमें वक्ताओंने कहा कि 'नेहरू जी हमारे युगके सर्वश्रेष्ठ समाजवादी विचारक हैं।'

विधान परिषद्के अध्यक्ष—विहार रत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजीने ३ दिसम्बरको अपने जीवनके ६३ वें वर्ष में प्रवेश किया है। इस उपलक्षमें देशने सर्वत्र आपका अभिनन्दन किया है आप भारतीय विधानपरिषदके प्रथम स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं जिसका कि कार्य प्रारंभ होगया है, यद्यपि लीगकी अनिश्चित नीति और सम्राटकी सरकारके अप्रत्याशित हस्तक्षेपोंके कारण उसके भविष्यके संबंधमें अभी निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि अध्यक्ष पद का भार संभालते समय डा० राजेन्द्रप्रसादजीने स्पष्ट घोषणा करदी है कि 'विधानपरिषदकी कार्यवाहीमें कोई बाह्य सत्ता हस्तक्षेप नहीं कर सकती। भारतका विधान बनानेके लिये विधान परिषद अपने ऊपर लगाई पाबन्दियोंको तोड़ देगी। अन्य देशोंने भी जब विधान परिषदें चुनकर उन्हें विधान बनानेका काम सौंपा तो उन्हें भी इस प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। हम भी अन्तमें उन्हीं देशोंकी भाँति कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त कर लेंगे।'

स्वर्गीय मालवीयजी—भारतभूषण महामना पं० मदनमोहन मालवीयका ८५ वर्षकी आयुमें गत १२ नवम्बर को काशीस्थ अपने निवास स्थानपर स्वर्गवास होगया. उनकी मृत्युका निकट कारण नोआखालीमें हिन्दुओंपर किये गये भीषण अत्याचारोंका धक्का था जिसे ये हिन्दुप्राण महामना, अत्यन्त वृद्ध तो थे ही, सहन न कर सके। स्व० मालवीयजी अपने समयके सबसे पुराने देशभक्त, जातिभक्त सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे। आपने लगभग ६० वर्ष पर्यन्त निरन्तर स्वदेश और स्वजातिकी अथक सेवाकी, चार बार अ० भा० कांग्रेसके सभापति हुए, काशी हिन्दुविश्वविद्यालय जैसी महान संस्थाकी स्थापना की और उसे अपने वर्तमान उन्नत रूपको पहुंचा दिया। धारासभाओंमें दी गई आपकी ओजपूर्ण लम्बी २ वक्तृताएँ स्मरणातीत रहेंगी। कट्टर सनातनी होते हुए भी आप उत्कट समाज सुधारक थे। महात्मागांधी आदि सभी राष्ट्रीय तथा जातीय नेताओं और भारतीय तथा विदेशी राजनीतिज्ञोंके आप जीवनभर श्रद्धा-भाजन बने रहे। आप सच्चे अर्थोंमें भारतभूषण और महामना थे। आपके निधनसे भारतवर्षमें सर्वत्र शोककी लहर व्याप्त होगई। हमारी हार्दिक भावना है कि स्वर्गीय आत्माको शान्ति एवं सद्गति प्राप्त हो।

श्रद्धेय मालवीयजीके निधनपर देशके विभिन्न नेताओंने अपने २ जो उद्गार व्यक्त किये हैं उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

पं० जवाहरलाल नेहरू—'अब हमें वह चमकता हुआ सितारा और नहीं देख पड़ेगा जिसने कि हमारे जीवनको प्रकाशित किया था और हमारे बचपनसे ही हमें सद्प्रेरणायें दी थीं। वे (मालवीयजी) अब स्वतन्त्र भारतके उस प्रतिष्ठित भव्य भवनमें रहेंगे जिसे नींवसे शिखर पर्यंत उन्होंने निर्मित किया है। मुझे उसदिनकी सजीव स्मृति है जब, कितने ही वर्ष हुए, मैं पुरानी साम्राज्य-व्यवस्था-

सिका-सभाकी दर्शक गैलरीमें बैठा हुआ मूक प्रशंसाके साथ पं० मालवीयकी प्रभावशाली वक्तृता सुन रहा था। वह अपने युगके राजनैतिक महापुरुष थे।'

डा० राजेन्द्रप्रसाद—'उनका नाम भावी सन्ततिको यह याद दिलाते रहनेके लिये सदैव अमर रहेगा कि एक व्यक्ति अपनी दृढ़ एवं सतत् लगन द्वारा कितना कुछ कर सकता है।'

डा० भगवानदास—'भारतका एक सूर्य अस्त होगया। वह युवावस्थासे ही हिन्दी और अंगरेजीमें समानरूपसे उच्च लेखक एवं वक्ता थे और अपने इन्हीं गुणोंके कारण अबसे ६० वर्ष पूर्व कांग्रेसके पिता द्वारा प्रशंसित किये गये थे।'

श्री कृष्णसिंह—'वे एक ऋषि थे और अपने अत्यन्त धार्मिक, निर्धन एवं त्यागपूर्ण जीवनके कारण वे अपने करोड़ों देशवासियोंके स्नेहभाजन बन गये।'

श्रीयुत श्रीप्रकाश—'पं० मदनमोहन मालवीयकी मृत्युके साथ साथ हमारे राष्ट्रीय रङ्गमञ्चसे १९ वीं शताब्दीका अन्तिम राष्ट्रनिर्माता अदृश्य होगया। वह एक अपूर्व व्यक्ति थे और उनके जीवनसे हमें, छोटे बड़े सभीको, अनेक शिक्षाएँ मिलती हैं। उनकी जिह्वासे कभी कोई कटुशब्द नहीं निकला और उन्होंने कभी किसीकी निन्दा नहीं की। एकरसता एवं सतत् लगन उनके महान गुण थे। अपने दीर्घ एवं घटना-पूर्ण जीवनमें उन्होंने न अपना परिधान ही कभी बदला और न अपने विचार ही।'

विधानपरिषदका उद्देश्य—भारतीय विधान परिषदके प्रारंभिक अधिवेशनमें जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ वह पं० नेहरूजी द्वारा उपस्थित किया गया था और उसमें उक्त परिषदका उद्देश्य भारतवर्षके लिये एक सर्वतन्त्र स्वतंत्र प्रजातन्त्रात्मक विधान निर्माण करना निश्चित हुआ है।

साम्प्रदायिक दंगे—राजनैतिक अधिकारोंकी प्राप्तिके मिस कतिपय स्वार्थी एवं अविवेकी दलोंके इशारेपर देशके विभिन्न भागोंमें अन्तःसाम्प्रदायिक विद्वेष तथा तज्जन्य दंगे फसाद, रक्तपात व रोमाञ्चकारी अमानुषी अपराधोंकी एक बाढ़सी आगई, फलस्वरूप शान्तिप्रिय जनसाधारणकी इज़्ज़त आबरू, जन धन सब अरक्षित और आक्रान्त हुए। और यह सब उस समय हुआ जब कि लगभग आधी शताब्दीके निरन्तर त्याग तपस्या कष्टसहन तथा विविध आन्दोलनोंके फलस्वरूप देश स्वतन्त्रताके द्वारपर आ खड़ा हुआ था, और दूसरी ओर सप्तवर्षीय महाभयङ्कर विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था।

इन दंगोंके शिकार, पीड़ित त्रस्त, धन जन गृह हीन मानवोंकी सहायतार्थ अनेक संस्थाएँ एवं सेवाभावी सज्जन प्रयत्नशील हुए। पूर्वी बंगालमें जहाँ यह विनाशकारी विभीषिका खूब खुलकर खेली थी महात्मा गांधी स्वयं पहुंचे और गांव गांवका पैदल दौरा करके शान्ति और सद्भावनाका संचार कर रहे हैं। कितने ही जैनी महानुभावोंने भी इस कार्यमें सक्रिय सहयोग दिया; विशेषकर कलकत्तेके बा० छोटेलालजी, जो वीरसेवामन्दिरकी प्रबन्धसमितिके सभापति भी हैं, स्वयं उक्त स्थानोंमें गये, महात्माजीसे भी मिले, और प्रशंसनीय सेवाकार्य किया। आपकी ओरसे, विभिन्न पत्रोंमें जैनसमाजसे सहायतार्थ अपीलें भी निकली हैं, उनके उत्तरमें समाजने अभीतक जो सहायता दी है यद्यपि वह पर्याप्त नहीं है, तथापि उसमें दा० वी० साहू शान्तिप्रसाद-जीका नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है जिन्होंने इस हेतु पचास हज़ार रुपये प्रदान किये हैं। स्वयं बा० छोटेलालजीने भी इस कार्यमें हज़ारों रुपये व्यय किये हैं। 'वीर' आदि पत्रोंने भी कुछ द्रव्य एकत्रित करके उनके पास भेजा है।

हम आशा करते हैं कि दानी और उदार जैनसमाज लोकहितके इस कार्यमें अपना समुचित योग देनेसे मुँह न मोड़ेगी। सहायता भेजनेका पता—बा० छोटेलाल जैन, १७४-चितरंजन एवेन्यु, कलकत्ता, है।

अणु बम—अगस्त सन् ४५ में जापानके हिरोशामा तथा नागासाकी स्थानों पर अणु बमके स्फोटसे जो विनाशकारी दुष्परिणाम हुए वह सर्वविदित हैं, तथापि आजके अन्तर्राष्ट्रीय जगतके प्रमुख राष्ट्रोंमें इस बम सम्बन्धीमोह एवं उसके बनाने और संग्रह करनेका प्रयत्न कम हुआ नहीं दीख पड़ता। परिणामस्वरूप उसका मुकाबला करनेकी समस्या मानव-हितैषी विचारकोंके लिये चिन्ताका विषय बनी हुई है। प्रख्यात दया प्रचारक एवं सामाजिक कार्यकर्त्री अंग्रेज महिला मिस मरयल लिस्टरने अक्तूबरमें ईसाइयोंके एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनमें भाषण देते हुए कहा था कि—'अणुशक्तिका

मुकाबला करनेके लिये हम सबको उस नैतिक एवं आत्मिक शक्तिको मुक्त तथा प्रकट करना होगा जो हमारे भीतर दबी पड़ी है। आत्माकी यह शक्ति पौद्गलिक अणुकी शक्तिसे कहीं अधिक और बलवती है। हमें अपनी आत्माओंको स्वश्रेयोन्मुख प्रयत्नशील रखना चाहिये। विश्व ब्रह्मांड और इहंडताकी अपेक्षा सत्यं-शिवं-सुन्दरम्से ही ओत प्रोत है।'

जैनाधिकार संरक्षण—बहुत समयसे समाज-हितैषी जैन-विचारकों और नेताओंको भी अन्य अल्पसंख्यक जातियोंकी भाँति यह चिन्ता बनी रही है कि कहीं विविध राजनैतिक हलचलों परिवर्तनोंके फलस्वरूप अथवा स्वतन्त्र भारतके नवनिर्मित विधानमें, जिसकी सफलताके हित उन्होंने सदैव यथाशक्ति पूर्ण सहयोग एवं बलिदान दिया है, उनकी संस्कृति और न्याय्य अधिकारोंकी उपेक्षा न की जाय, उनके साथ अन्याय न किया जाय। कईबार विभिन्न व्यक्तियों तथा कतिपय संस्थाओं द्वारा इस प्रकारकी आवाज़ें उठाई गईं किन्तु वे सब नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज़ होकर ही रहगईं। महायुद्ध समाप्त होगया, अधिकांश प्रान्तोंमें सार्वजनिक राष्ट्रीय सरकारें स्थापित होगईं, केबिनेट मिशन आया और चलागया, उसके अनुसार केन्द्रमें भी अन्तःकालीन राष्ट्रीय सरकारने कार्यभार संभाल लिया और स्वतंत्रभारतका विधान बनानेके लिये विधाननिर्मात्री लोक परिषदका भी निर्वाचन एवं कार्य प्रारंभ होगया—किन्तु जैन नेता कानोंमें तेल डाले पड़े सोते ही रहे, और स्वभावतः जैनियोंका कहीं ध्यान भी नहीं रक्खा गया। अन्तमें, लगभग एक मास हुआ, देहली में अ० भा० दि० जैन परिषद्के प्रधान मन्त्री बा० राजेन्द्रकुमारजीके संयोजकत्वमें विभिन्न जैन नेताओंकी एक मीटिंग हुई और उसमें इस विषयका एक प्रस्ताव पास किया गया कि 'केबिनेटमिशन' के १६ मईके बयान पैरा २० के अनुसार निर्मित होनेवाली 'नागरिक अधिकारों, अल्पसंख्यक जातियों तथा आदिवासी एवं बहिष्कृत क्षेत्रों संबंधी सलाहकार समिति' में तो कमसे कम जैनियोंका प्रतिनिधित्व स्वीकार कर लिया जाय। इस प्रस्तावकी नकलें राष्ट्रपति आचार्य कृपलानी, विधान परिषदके अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद, अन्तःकालीन सरकारके उपाध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू तथा गृहमंत्री सरदार बल्लभभाई पटेलके पास भेजी गईं। इस प्रस्तावमें यह भी स्पष्ट कह दिया गया था कि 'जैन समाजका भविष्य सामान्यतः अखिल भारतीय जनताके राजनैतिक उत्कर्षके साथ घनिष्ठतया संबंधित है।

इस मीटिंगमें यह भी निश्चय हुआ था कि इस योजनाको सफलीभूत बनानेके लिये उपर्युक्त चारों अधिकारी राष्ट्रीय नेताओंसे डेपुटेशनके रूपमें साक्षात मिला जाय। फलतः अभी तक वह जैन डेपुटेशन डा० राजेन्द्रप्रसादजीसे भेंट कर चुका है और उन्होंने उसके साथ प्रस्तुत विषयपर बड़े ही सौहार्द एवं सौजन्यपूर्वक चर्चा की बतलाई जाती है तथा अन्तमें यह आश्वासन भी दिलाया बताया जाता है कि वे प्रकरण प्रस्तुत होनेपर इस बातका अवश्य ध्यान रखेंगे।

किन्तु गत २४ जनवरीको विधानसभाके अधिवेशनमें पं० गोविन्दवल्लभ पन्त द्वारा प्रस्तुत उक्त सलाहकार समिति-निर्माण विषयक जो प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुआ है उसमें उस समितिके सदस्योंकी संख्या यद्यपि ७२ निश्चित की गई है तथापि फ़िलहाल विधानसभा द्वारा केवल ५० सदस्य चुने जाने निश्चित हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—बंगाल, पंजाब, उप सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान और सिन्धके ७ हिन्दू; संयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, मद्रास, बम्बई, आसाम और उड़ीसाके मुसलमान ७; परिगणित जातियोंके ७; सिक्ख ६; भारतीय ईसाई ४; पारसी ३; एँग्लोइंडियन ३; कबायली व बहिष्कृत प्रदेश १२—इस तालिकमें प्रत्यक्ष ही जैनोंका नाम नहीं है जो कि पारसियों और एँग्लो इण्डियनोंकी अपेक्षा संख्यामें कहीं अधिक हैं और हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, ईसाई आदिकी अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन, स्वतन्त्र एवं विशिष्ट धर्म और संस्कृतिसे संबंधित है। ता० २५ जनवरीके 'वीर' की सूचनानुसार विधानपरिषदके कांग्रेसी सदस्योंने उक्त सलाहकार समितिके लिये अपने प्रतिनिधि चुन लिये हैं जिनमें एक प्रो० के. टी. शाह भी हैं जो जैन हैं। किन्तु जहाँ तक हम समझते हैं प्रो० शाह जैनप्रतिनिधिके रूपमें नहीं चुने गये वरन् वे वहाँ एक कांग्रेसी प्रतिनिधिकी हैसियतसे हैं। अतः उनके निर्वाचन द्वारा जैनोंके इस दिशामें किये गये प्रयत्नोंकी सफलता मानकर सन्तोष कर लेना एक भूल है।

जैनियोंके अपने सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्वत्वाधिकारोंके संरक्षणके हित किये गये इन नगण्य प्रयत्नोंमेंसे भी कतिपय अतिशय उग्रगामी जैन सज्जनोंको ही बग़ावत और फूट

डालनेवाली घृणित जातिकी साम्प्रदायिकता तथा व्यक्तिगत स्वार्थसाधनकी भावनाकी गंध आती प्रतीत होती है। हमारी समझमें तो यह उनका एक भ्रम ही है, इससे ऐसी कोई बात फलित नहीं होती। प्रथम तो, इन प्रयत्नों और इनके बलको देखते हुए इनकी सफलता और महत्त्व भी बहुत कुछ सन्दिग्ध ही है, और यदि इनमें कुछ सफलता मिलती भी है और उसका जैनी कुछ यथोचित लाभ भी उठा पाते हैं तो उससे सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय महासभा के हितों और उद्देश्योंका विरोधी होनेकी तो कोई संभावना ही नहीं है। हाँ, उनके स्वाभिमान एवं आत्मविश्वासमें अवश्य ही वृद्धि होजायगी और वे भी अपने आपको नव-निर्मित सर्वतंत्र स्वतन्त्र प्रजातन्त्रात्मक भारतीय राष्ट्रके स्वतंत्र सम्मानित नागरिक एवं अङ्ग अनुभव करेंगे।

सच्चे साधु और सामान्य भिक्षुक—कुछ प्रान्तीय सरकारों द्वारा पास किये गये भिक्षावृत्तिनिरोधक कानूनोंके संबंधमें एक जैन डेपुटेशनसे भेंट करते हुए, विधानपरिषदके सदस्य श्रीयुत रघुनाथ वि० धुलेकर एम० एल० ए० ने आश्वासन दिया कि—'जैनसाधु अथवा सनातनी सन्यासी कोई भी सामान्य भिक्षुक नहीं है। मुझे यह विश्वास है कि प्रान्तीय सरकारें ऐसे साधुओं और सन्यासियोंको जो हिन्दू समाजका एक आवश्यक भाग है, बाधा पहुंचाने वाला कानून न तो बनावेंगी और न बना सकती हैं। इन साधुओं की परम्परा कई सहस्र वर्षसे चली आती है, जिनके अनुसार हिन्दू परिवारोंसे भिक्षा मांगना भिक्षावृत्ति नहीं, वरन् धार्मिक अधिकार एवं कर्तव्य है। मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि कांग्रेस सरकार हिन्दू संस्कृतिको सामान्यरूपसे तथा जैन संस्कृतिको विशेष रूपसे नष्ट करनेवाली नहीं है, वह इन कानूनोंको लागू करनेमें इस बातकी अवश्य व्यवस्था करेगी कि साधारण भिखमंगों तथा सच्चे साधुओं एवं सन्यासियोंमें विभेद किया जा सके। आप प्रान्तीय असेम्बली तथा विधान परिषद्में इस विषयमें मेरे समर्थनका विश्वास रक्खें।'

सरदार पटेलका उद्बोधन—गत २९ दिसम्बरको अहमदाबादमें एक जैन विद्यालयका उद्घाटन करते हुए सरदार बल्लभभाई पटेलने कहा था कि—"जैनोंकी परीक्षा का आधार मनुष्यका आचरण है। जैन या जितेन्द्रियको अपनी सफलताके संबंधमें विचार करते समय सोचना चाहिये कि उसने संयमधर्मका कितना पालन किया? यह आत्मानुभवकी चीज़ है; बाह्याडंबर तो बहुत दीखता है, तिलक छापे करना, मन्दिरोंमें जाना, जात्रायें करना आदि सब धर्मकी मर्यादा कहलाती हैं, ये सब धर्मको समझनेके लिये हैं, लेकिन आत्मानुभव या संयमको छोड़कर यदि केवल बाह्य आडंबरोंको ही जो धर्म मानता है वह केवल नामका ही जैन है, वह सच्चा जैन नहीं कहला सकता। 'अहिंसा परमोधर्मः' यह तो जैनोंका सर्वोपरि सिद्धान्त है; इसका जिसे अच्छी तरह ज्ञान हो वह भी दुकानपर कार्य करते समय आवाज़ सुने कि 'हुल्लड़ हुआ गुण्डे आरहे हैं' और सुनते ही माला फेंक फांक कर भागने लगे, उसे जैन नहीं कह सकते। उसने तो अपने पासके परिग्रहको सत्यरूप समझा और भयकी वजहसे भागा, इसको ही भीरुता कहते हैं। किसी भी धर्ममें कायरता नहीं हो सकती है, जैन धर्ममें तो हरगिज़ नहीं। जैनी कोई भी हिंसा भले ही न करे, परन्तु उसमें स्वयंको होमदेनेकी शक्ति तो होनी चाहिये। इसके बिना सिद्धान्तकी क्या कीमत? जैनमें तपश्चर्या और आत्मशुद्धिकी वह शक्ती होनी चाहिये कि जिसे देखकर गुण्डेके हाथमेंसे हथियार नीचे गिरजाय। आज तो महात्माजी अहिंसा धर्मका सेवन कर रहे हैं और हिंदके समस्त सत्य पदार्थका पाठ रख रहे हैं। अपनी दृष्टि दूषित हो जीभको झूठ बोलनेकी आदत हो, हृदय मलिन विकारोंसे परिपूर्ण हो, तो बाह्य आचरण भाररूप हो जायगा, बाह्य शुद्धिके साथ साथ अन्तरङ्ग शुद्धि भी करनी चाहिये।'

नेताजी दिवस—२३ जनवरीको भारतवर्षमें सर्वत्र तथा लन्दन आदि विदेशोंमें भी नेताजी श्री सुभाषचन्द्र-बोसका ५१ वाँ जन्मदिवस सोत्साह मनाया गया। स्वयं गांधीजीने भी नेताजीके प्रति अपनी श्रद्धांजली अर्पितकी। किन्तु अभीतक यह प्रश्न एक विकट पहेली ही बना हुआ है कि सुभाष बाबू जीवित हैं अथवा नहीं?

स्वतन्त्रता दिवस—२६ जनवरीको समस्त भारतमें स्वाधीनता दिवस मनाया गया जो सन् १९३० से निरन्तर प्रतिवर्ष भारतीयोंको अपनी स्वतन्त्रता प्राप्तिके ध्येयकी याद

दिखाने तथा तत्संबंधित प्रतिज्ञाको दुहरवानेके लिये आता रहा है। इस प्रतिज्ञापत्रका मूलमंत्र है स्व० लोकमान्य तिलक का प्रसिद्ध सूत्र 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।' और इसका सार है कि चूँकि अंग्रेजी राज्य-द्वारा भारतका आर्थिक. राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे विनाश हुआ है, अतः शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों द्वारा अंग्रेजोंसे संबंध विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य और देशकी स्वाधीनता प्राप्त करना तथा लक्ष्य प्राप्ति तक उसके हित अहिंसक रीतिसे लड़ाई जारी रखना, और उसके अन्तर्गत, खादी, साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, जातिएवं धर्मगत भेदभाव बिना देशवासियोंमें प्रत्येक अवसरपर सद्भावनाका प्रचार करना, उपेक्षितों, अज्ञानियों, दीन दरिद्रयों तथा पिछड़े हुए देशवासियोंका उद्धार करना तथा देशव्यापी ग्रामसुधार, घरेलु उद्योग धंधोंको प्रोत्साहन देना, देशके लिये त्याग एवं कष्ट सहने तथा बलिदान होने वाले देशभक्तोंके प्रति श्रद्धांजली भेंट करते हुए कांग्रेसके सिद्धांतों और नीतियोंका अनुशासनके साथ पालन करने और उसके आह्वानपर आज़ादीकी लड़ाई चलानेके लिये तैयार रहनेकी प्रतिज्ञा करना।

पं० अजितप्रसादजी एडवोकेटके विचार—

जैनगज़ट भाग ४३ नं० ११-१२ पृ० १४३ पर उसके विद्वान सम्पादक पं० अजितप्रसादजी एडवोकेट, लखनऊ प्रेमी अभिनन्दनग्रन्थकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"जैन समाजमें कोड़ियों पंडित हैं, किन्तु उनमेंसे केवल दो ही ऐसे हैं जिनका उल्लेख हम जैन साहित्यिक अनुसंधानके क्षेत्रमें निस्वार्थ कार्यकर्ताओंके रूपमे कर सकते हैं। आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार, जिनके सम्मानका दो वर्ष पूर्व कलकत्तेमें आयोजन किया गया था और जिन्होंने सरसावा, जि० सहारनपुर, में वीर सेवा मन्दिरकी स्थापना करनेमें अपना सर्वस्व बलिदान करदिया है, मात्र एकही ऐसे विद्वान हैं जिनने प्रेमीजीकी भाँति साहस, निर्भीकता एवं लगन पूर्वक जैन धार्मिक साहित्यरूपी महासागरकी गहराइयोंमें डुबकी लगाकर वहाँसे अमूल्य आबदार मोती निकाल संसार को प्रदान किये हैं और, जबकि दूसरोंने केवल किनारेकी सिवार मेंसे सीपियें ही एकत्रित की हैं और उन्हें भी विक्रय करके स्वार्थ साधन किया है, अपने नामोंके आगे लम्बी २ उच्च-बोला उपाधियें लगाली हैं, और विभिन्न संस्थाओंकी सम्पत्तिपर अपना आधिपत्य जमा लिया है।

क्या हम आशा करें कि जैनी लोग अपने दानके प्रवाहको सरसावेके 'वीरसेवामंदिर' तथा बम्बईमें प्रेमीजी द्वारा सम्पादित संचालित 'मानिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला' की ओर प्रवाहित करदेंगे।

आचार्य जुगलकिशोरजी तथा प्रेमीजी दोनोंको ही एक प्रेसकी आवश्यकता है जिसपर उनका पूरापूरा निर्बाध अधिकार हो और जो सर्वोत्तम एवं उन्नत छापेकी तथा लीनोटाइपकी मेशिनोंसे तथा सुयोग्य कुशल कर्मचारियों एवं अन्य साधन-सामग्रीसे युक्त हो। ऐसे प्रेसके लिये कई लाख रुपयेकी आवश्यकता है; और ईमानदार निस्पृह कार्यकर्त्ता तो बिना कठिनाईके मिल जायेंगे।'

भारतजैन महामंडल—इसका २७ वाँ वार्षिक अधिवेशन आगामी मार्च सन् ४७ में बम्बई प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाके अध्यक्ष श्री कुन्दनमल सोभागचन्द्र फिरोदिया एडवोकेट अहमदनगरके सभापतित्वमें, दक्षिण हैदराबादमें होना निश्चित हुआ है।

वीरसेवामंदिरमें हाकिमइलाका—ता० २३-१-४७ को ठाकुर मुन्शीसिंहजी मेजिस्ट्रेट, हाकिमइलाका, वीरसेवामन्दिरमें पधारे। आपने मन्दिरके कार्यालय, पुस्तकालय तथा भवनका निरीक्षण किया, 'अनेकान्त पत्र' को जनताके लिये हितप्रद और मन्दिरकी लाइब्रेरीको अनुपम बताया; अधिष्ठाताजी तथा अन्य कार्यकर्त्ताओंके कार्यकी सराहनाकी, जनताका और विशेषकर जैन जनताका ध्यान आश्रमकी सहायता करनेकी ओर आकर्षित किया।

स्वामी माधवानन्दजीका संदेश—'भारतीय संस्कृतिको गँवाकर स्वराज्य प्राप्त करना हेय है। भारतीय संस्कृतिका संरक्षण करते हुए स्वराज्य प्राप्त करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है। भारतीय धर्म ही सच्ची शान्तिका सच्चा उपाय है। भारतीय संस्कृति दैवी संपदाका प्रतीक है। यूरोप आदि देशोंकी संस्कृति आसुरी संपदाका प्रतीक है। जिस स्वराज्यभवनकी नींव अभारतीय संस्कृतिपर अवलम्बित हो, उसका ध्वस्त होजाना निश्चित है।' J. P.

साहित्य-परिचय और समालोचन

प्रेमी अभिनन्द ग्रन्थ—श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी की चिरकालीन एवं महत्वपूर्ण साहित्यिक सेवाओंके उपलक्षमें उनका अभिनन्दन करनेके लिये, ता० २० अक्तूबरको नागपुर विश्वविद्यालयमें होने वाले अ० भा० प्राच्यविद्यासम्मेलनके अवसर पर एक उपयुक्त समारोह किया गया था, और उसमें प्रसिद्ध नेता एवं साहित्यसेवी काका कालेलकरके हाथों प्रेमी जीको यह अमूल्य ग्रंथ समर्पित किया गया था। ग्रंथ समर्पण तथा अभिनन्दन समारोहका आयोजन प्रेमी अभिनन्दन समितिकी ओरसे हुआ था, जिसके प्रेरक श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी, अध्यक्ष डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल, तथा मन्त्री श्री यशपाल जैन बी० ए० एल-एल० बी० थे।

ग्रंथके सम्पादक मंडलमें जैन अजैन, स्त्री-पुरुष, चोटीके ४६ साहित्यसेवी विद्वान थे और उक्त मंडलके अध्यक्ष भी डा० अग्रवालजी ही थे। ग्रंथको १८ उपयुक्त विभागोंमें विभक्त करनेकी योजना थी और इन विभागोंकी अलग अलग कुशल सम्पादन समितियाँ संयोजित करदी गई थीं। किन्तु बादमें उक्त १८ विभागोंको सकुचित करके ६ ही विभाग रक्खे गये जो इस प्रकार हैं—

अभिनन्दन, भाषाविज्ञान और हिन्दीसाहित्य, भारतीय संस्कृति पुरातत्त्व और इतिहास, जैन-दर्शन, संस्कृत प्राकृत और जैनसाहित्य, मराठी और गुजराती साहित्य, बुन्देलखण्ड, समाजसेवा और नारीजगत तथा विविध। इन विभागोंके अन्तर्गत १२७ विभिन्न अधिकृत विद्वान लेखकों द्वारा प्रणीत १३३ महत्वपूर्ण लेख संगृहीत हैं। प्रायः सब ही लेख मौलिक, गवेषणापूर्ण एवं स्थायी मूल्य के हैं। इनमेंसे ४० लेख जैनदर्शन साहित्य इतिहास समाज आदिके सम्बन्धमें हैं। लेखोंके सम्पादनमें सम्पादकाध्यक्ष तथा अन्य संपादक महोदयोंने भी यथेष्ट परिश्रम किया है। लेखोंके अतिरिक्त ३४ विविध चित्रोंसे भी ग्रन्थ सुसज्जित किया गया है। इन चित्रोंमेंसे २८ फोटो चित्र हैं और शेष ६ कलाकार श्री सुधीर खास्तगीर द्वारा निर्मित काल्पनिक चित्र हैं जो यद्यपि कलापूर्ण हैं तथापि विशेष आकर्षक नहीं प्रतीत होते, फोटोचित्रोंमें भी, व्यक्तिगत चित्रोंको छोड़कर अन्य चित्रोंमें जैनकला एवं पुरातत्त्व संबंधी चित्रोंका प्रायः अभाव है जो खटकता है। लेखोंमें भी जैनसाहित्य इतिहास कला आदिपर अपेक्षाकृत बहुत कम लेख हैं और जो हैं उनमें भी इन विषयोंपर पर्याप्त एवं समुचित प्रकाश नहीं पड़ पाया। ग्रंथकी छपाई आदि तैयारी ला जरनल प्रेस, इलाहाबाद, में हुई है। अतएव उत्तम तथा निर्दोष है; हाँ प्रूफ आदिकी कुछ अशुद्धियें फिर भी रह गई हैं। कुछ लेखोंमें अनावश्यक काट छाँट भी की गई प्रतीत होती है जो उन लेखोंके लेखकोंकी स्वीकृतिके बिना कुछ उचित नहीं जान पड़ती। इसपर भी ग्रंथ सवप्रकार सुन्दर, महत्वपूर्ण, पठनीय एवं संग्रहणीय है, और इसका मूल्य भी मात्र दश रुपये है जो संस्करणकी सुन्दरता विपुलता तथा ठोस सामग्रीको देखते हुए अत्यल्प है।

अनित्य-भावना—वीरसेवामन्दिरकी प्रकीर्णक पुस्तकमालाके अन्तर्गत प्रकाशित यह पुस्तक श्री पद्मनन्द्याचार्य-विरचित संस्कृत 'अनित्यपञ्चाशत' का पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकृत ललित हिन्दी पद्यानुवाद, भावार्थ, उपयोगी प्रस्तावना एवं पद्यानुक्रमणिका सहित तथा मुख्तार साहब द्वारा ही सम्पादित, संशोधित परिवर्द्धित तृतीय संस्करण है। पुस्तक बहुत लोकोपयोगी, उपदेशप्रद एवं पठनीय है और जनसाधारणमें वितरण करने योग्य है। छपाई सफाई सन्तोषजनक है। मू० चार आने है।

जैनसन्देशका राष्ट्रीय अंक—जिसकी जनता चिर-कालसे प्रतीक्षा कर रही थी, आखिर जनवरीके अन्तिम सप्ताहमें प्रकट होगया। अंक पुस्तकाकार २०×३० अठपेजी साइजके १०० पृष्ठोंमें राष्ट्रीयता विषयक ३ महत्वपूर्ण लेख, ५ कविताएँ ४-५ राष्ट्रीय नेताओंके सन्देश तथा सैकड़ों जैन-राष्ट्रीयकार्यकर्त्ताओं और उनकी देशसेवाओंके संक्षिप्त परिचय सहित बहुतसी समयोपयोगी पठनीय एवं ज्ञातव्य सामग्रीसे युक्त है। कितने ही जैनराष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओंके ब्लाक चित्रोंसे भी अलंकृत है। सम्पादक महोदयका प्रयत्न सराहनीय है। किन्तु जैसाकि लगभग एक वर्ष पहिलेसे जैनसन्देश साप्ताहिकमें बार बार प्रकाशित सूचनाओं, और विज्ञापित योजनाओं के आधारपर इस अंकसे आशा की जाती थी वैसा यह नहीं बनपाया। पूर्वसूचित १७ विषयविभागोंमेंसे मुश्किलसे ४-५ विषयोंके संबंधकी सामग्री ही इसमें संकलित हो पाई है। अल्पसंख्यक समस्या और जैन, भारतके भावीविधानमें जैनसमाजका स्थान, अहिंसा और राजनीति, धर्म और राष्ट्रीयता, क्या एकतन्त्र जैनधर्म सम्मत है, जैनसंस्कृतिकी दृष्टिसे भारतकी अखंडता, जैनोंकी स्वतन्त्र शिक्षाप्रणाली हिन्दी और हिन्दुस्तानी क्षेत्रमें जैनोंकी सेवाएँ, इत्यादि ऐसे विषय थे जिनपर लिखे गये प्रमाणित लेखोंका संकलन इस अंकमें अवश्य ही होना चाहिये था। अंकके संबंधमें जिन आशाओंको लेकर माननीय बा० सम्पूर्णानन्दजीने अपनी यह सम्मति दी है कि वह अंक 'इस दृष्टिसे बहुत सामयिक है कि उसमें उन कई महत्वपूर्ण समस्याओंपर विचार होगा जो इस समय राष्ट्रके विचारशील व्यक्तियोंके सामने हैं,' उन आशाओंकी पूर्ति यह नहीं कर सका है। उसमें जैनराष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं द्वारा लिखे गये अपने संस्मरणों, अनुभवों तथा सामयिक राजनीतिक समस्याओंपर अपने विचार उक्त समस्याओं एवं वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थितियोंका जैनसमाजके साथ संबंध या उसपर पड़ने वाले प्रभावके दिग्दर्शनका भी अभाव है जो खटकता है। राष्ट्रीय यज्ञमें योग देने वाले और स्वदेश स्वातन्त्र्यकी वलिवेदीपर अपने आपको न्योछावर करदेने वाले सब ही जैन महानुभावोंका परिचय भी नहीं आ पाया, मुश्किलसे ऐसे आधे व्यक्तियोंका ही उल्लेख इसमें होगा। जिन व्यक्तियोंका परिचय दिया गया है उनकी एक संक्षिप्त परिचयात्मक नामानुक्रमणिका भी साथमें लगी होती तो अच्छा था। क्योंकि पं० पन्तके शब्दोंमें 'यह कहनेमें तनिक भी संदेह नहीं कि जैनसमाजने स्वतन्त्रता आन्दोलनमें बहुत बड़ा भाग लिया है और कितने ही कार्यकर्त्ताओंका राजनैतिक क्षेत्रमें प्रमुख स्थान है'।

फिर भी ऐसे अंकोंकी भारी आवश्यकता थी और थोड़े अंशमें ही सही इससे उसकी पूर्ति अवश्य होती है, अतः इस दृष्टिसे इसका प्रकाशन समयोपयुक्त एवं आवश्यक ही है। पाठकोंको इसमें पर्याप्त उपयोगी जानकारी मिलेगी।

धर्म क्या है—कुँवर श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी द्वारा लिखित तथा श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, मदनगञ्ज (किशनगढ़) द्वारा प्रकाशित यह ५७ पृष्ठका एक उपयोगी ट्रैक्ट है। साथमें श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री न्यायतीर्थकी संक्षिप्त भूमिका है तथा पूज्यवर्णीजी एवं न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजीके अभिमत भी हैं।

इस पुस्तिकामें लेखकने 'धर्म क्या है' इस विषयपर सरल लोकोपयोगी भाषामें जैनदृष्टिसे आंशिक प्रकाश डाला है। वस्तुतः इसमें स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत धर्मके सुप्रसिद्ध स्वरूपश्लोक—

'देशयामि समीचीनं, धर्मकर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान यः धरत्युत्तमे सुखे ॥
(र० क० श्रावकाचार)

की स्वतन्त्र विस्तृत व्याख्या की गई है। पुस्तक पठनीय है। छपाई सफाई साधारण है, प्रूफ आदिकी गलतियें हैं ही। मूल्य मात्र मनन है। वितरण करनेके लिये मंगाने वालोंको २५) सैकड़ों मूल्यपर प्रकाशकोंसे मिल सकती है।

ज्योतिप्रसाद जैन

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत किरण (४-५) में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको सदस्य फीसके अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं—

२५०) श्रीमती जयवन्ती देवी, नानौता जि० सहारनपुर (श्री दादीजीके स्वर्गवाससे पहले निकाले हुए १००१) के दानमेंसे ग्रन्थप्रकाशनार्थ)।

१५०) सकल दिगम्बर जैन पंचान कलकत्ता (दशलक्षण पर्व के उपलक्षमें) मार्फत सेठ बलदेवदासजी सरावगी, कलकत्ता।

८०) श्रीमती विशल्यादेवी धर्मपत्नी साहू प्रकाशचन्दजी जैन, नजीबाबाद (लायब्रेरीमें ग्रन्थ मंगानेके लिये) मार्फत बा० नरेन्द्रप्रसादजी सहारनपुर।

२१) जैनशास्त्रसभा नयामन्दिर देहली। मार्फत ला० जुगलकिशोरजी कागजी, देहली।

१५) ला० धवलकिरत मेहरचन्दजी जैन सहारनपुर (चि० नरेशचन्द्रके विवाहकी खुशी में।

१०) बा० पीताम्बरकिशोरजी जैन एजीक्यूटिव इंजीनियर, रुड़की जि० सहारनपुर।

१०) ला० पारसदासजी जैन स्यालकोट निवासी (पुत्री कान्तादेवीके विवाहकी खुशीमें) मार्फत पं० रूपचन्द जी जैन गार्गीय, पानीपत।

३॥) ला० विमलप्रसादजी जैन, सदर बाजार, देहली।

५३६॥) अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तको सहायता

गत चौथी-पाँचवीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

११) ला० देवीदास शंकरदासजी जैन, कलरमर्चेन्ट चूड़ी सराय मुलतान (सेठ सुखानन्दजीके स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमेंसे)।

५) मंत्री दि० जैन पंचायत कमेटी, गया।

५) ला० ब्रजलालजी जैन सौदागर संतर जि० मुरार (पिता जी के स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमेंसे)।

---

२१) व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरमें पं० वंशीधरजी न्यायालंकार

गत अक्तूबर मासमें विद्वद्वर्य श्रीमान् पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर, अपने साथ श्री पं० मनोहरलालजी वर्णी, श्री चम्पालालजी सेठी तथा बा० नेमीचन्दजी वकील सहारनपुरको लेकर वीरसेवामन्दिर सरसावामें पधारे। आपने मन्दिरके पुस्तकालय और कार्यालयका निरीक्षण किया श्रद्धेय मुख्तार साहिब तथा मन्दिरके अन्य विद्वानोंके साथ तात्त्विक एवं साहित्यिक विषयोंपर चर्चाकी और मन्दिरमें जो शोध खोज तथा ग्रन्थ-निर्माण सम्बन्धी कार्य चल रहे हैं उन्हें देखा। आप यहाँकी कार्यपद्धति और उसके महत्त्वसे बहुत प्रभावित हुए तथा समय निकालकर कुछ दिनोंके लिये वीरसेवामन्दिरमें आनेका वचन दिया। साथ ही संस्थाकी निरीक्षणबुकमें अपनी शुभ सम्मति निम्न प्रकारसे अंकित की—

"आज ता० १६ १०-४६ को वीरसेवामन्दिरमें आया, श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजीके दर्शनसे बहुत ही प्रसन्नता हुई। मुख्तार साहबने इस युगमें जिस पद्धतिसे जैनदर्शन जैनसाहित्य, जैनइतिहासके पर्यवेक्षण, अन्वेषण एवं मीमांसा करते हुए कितनी गम्भीरताके साथ विवेचन करते हुए विविध ग्रन्थोंका प्रकाश किया है, वह भूरिभूरि प्रशंसाके योग्य है। मुझे तो वर्तमान दि० जैन समाजमें एक मात्र अद्वितीय विद्वद्रत्न प्रतीत होते हैं। आपकी जैनवाङ्मयको सिलसिलेवार नवीन रूपसे लोगोंके सामने प्रकाशित करनेकी बहुत बड़ी लगन है। दि० जैन समाजके धनाढ्य पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वे पण्डितजीके मनोरथोंको पूर्ण करनेमें मुक्त-हस्त हो भरपूर सहायता दें। यदि वे ऐसा करेंगे तो जैनाचार्योंके बहुत बड़े उपकारोंसे उपकृत हुए कृतज्ञ कहे जा सकेंगे। विशेष क्या लिखूँ वीरसेवामन्दिरमें वास्तविक और ठोस कार्य किया जा रहा है। इसके लिये पं० दरबारी-लालजी एवं पं० परमानन्दजी शास्त्रीका सहयोग सराहनीय है।"

— J. P.

Regd. No. A-736

वीरसेवामन्दिरके प्रकाशन

१ समाधितन्त्र—संस्कृत और हिन्दी टीका-सहित। ०)

२ बनारसी-नाममाला—(पद्यात्मक, हिन्दी-शब्दकोश, शब्दानुक्रम-साहित)। ... ... ।)

३ अनित्य-भावना—हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित। ।)

४ उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा—ऐतिहासिक प्रस्तावनासहित।)

५ प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—अनुवाद तथा व्याख्या-सहित। ।)

६ सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर-वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणोंका महत्वका संग्रह, हिन्दी-अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

७ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—हिन्दी-अनुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावना सहित। ... ... १॥)

८ विवाह-समुद्देश्य—विवाहका मार्मिक और तात्त्विक विवेचन, उसके अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई कठिन और जटिल समस्याओंको सुलझाता हुआ। ॥)

९ न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)—संस्कृत टिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

१० पुरातन-जैनवाक्य-सूचि (जैनप्राकृत-पद्यानुक्रमणी)—अनेक उपयोगी परिशिष्टोंके साथ ६३ मूलग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके परिचयको लिये हुए विस्तृत प्रस्तावनासे अलंकृत, सजिल्द। १५)

११ स्वयंभूस्तोत्र—समन्तभद्र-भारतीका प्रथम ग्रन्थ, विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और महत्वकी प्रस्तावना-सहित। (प्रेसमें) १)

१२ जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह—संस्कृत और प्राकृतके कोई १५० अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंका मंगलाचरण-सहित अपूर्व संग्रह, अनेक उपयोगी परिशिष्टों तथा विस्तृत प्रस्तावनासे युक्त। (प्रेसमें)
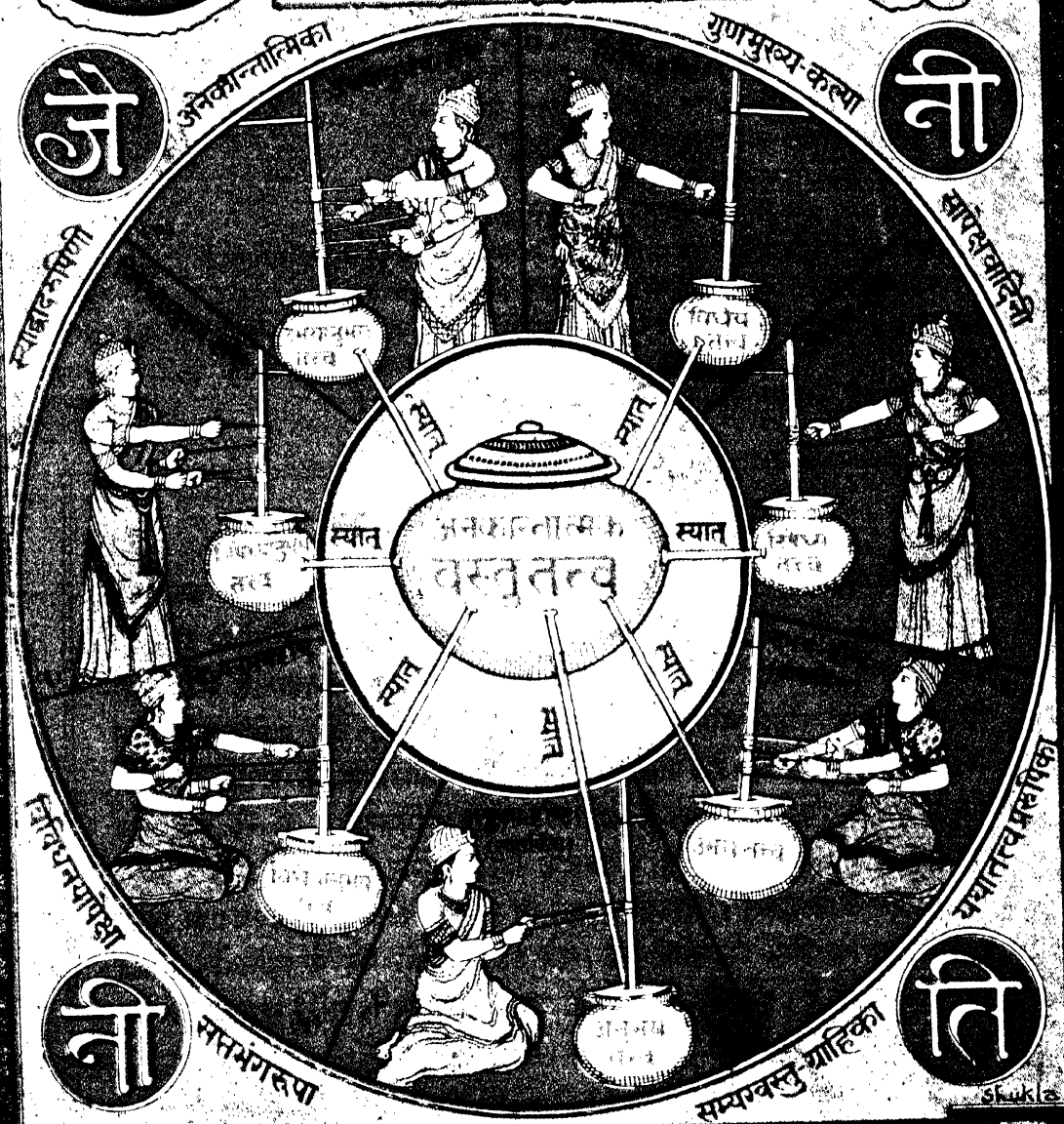
मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिरके लिये श्यामसुन्दरलाल द्वारा श्रीवास्तवप्रेस सहारनपुरमें मुद्रित।

विषय-सूची

१—समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक] ३६५
२—ऐतिहासिक घटनाओंका एक संग्रह—[सम्पादक] ३६९
३—आचार्य माणिक्यनन्दि० (परिशिष्ट)—[पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया] ३७४
४—जैनगुण-दर्पण (कविता)—[जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'] ३७५
५—महाकवि हरिचन्दका समय—[पं० कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री] ३७६
६—सम्पादकीय वक्तव्य—भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झण्डा और कर्तव्य ३८३
७—महाकवि सिंह और प्रद्युम्नचरित—[पं० परमानन्द जैन, शास्त्री] ३८९
८—तेरह काठिया—[बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०] ३९५
९—जोगिचर्या—[पं० परमानन्द जैन, शास्त्री] ३९८
१०—कविवर लक्ष्मण और जिनदत्तचरित—[पं० परमानन्द जैन, शास्त्री] ४००
११—कविवर बनारसीदास और उनके ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ—[मुनि कान्तिसागर] ४०२
१२—रक्षाबन्धनका प्रारम्भ—[पं० बालचन्द्र जैन, साहित्य-शास्त्री, बी० ए०] ४०८
१३—रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एककर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है—[न्या० पं० दरबारीलाल कोठिया] ४१५
१४—वीरसेवामन्दिरमें वीर-शासन-जयन्तीका उत्सव—[पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया] ४२८
१५—साहित्यपरिचय और समालोचन—[पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया] ४२९

अनेकान्तको २००) की सहायता

श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन, सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ता, वीरसेवामन्दिर और उसके 'अनेकान्त' पत्रसे बड़ा स्नेह रखते हैं—दोनोंको ही समय समयपर अच्छी सहायता भेजते तथा भिजवाते रहते हैं, जिससे अनेकान्तके पाठक और वीरसेवामन्दिरके 'सत्साधुस्मरण-मङ्गलपाठ' तथा 'न्यायदीपिका' जैसे प्रकाशनोंको पढ़ने वाले भले प्रकार परिचित हैं। हालमें आपने बिना किसी प्रेरणाके अपने दो पुत्रोंकी ओरसे 'अनेकान्त'को दोसौ रुपयेकी सहायता निम्नप्रकार भिजवाई है, जिसके लिये आप और आपके पुत्र दोनों ही हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं। आप अपने पुत्रों आदिके हाथसे दान कराकर उनमें शुरूसे ही दानकी भावना भर रहे हैं, यह बड़ी ही प्रसन्नताका विषय है और दूसरोंके लिये अनुकरणीय है। ऐसे ही सद्विचारों एवं सत्प्रवृत्तियोंसे समाज ऊंचा उठा करता है। हार्दिक भावना है कि आपके ऐसे शुभ विचारोंमें सदा प्रगति और दृढ़ताकी प्राप्ति होवे:—

१००) चि० बाबू शान्तिनाथकी ओरसे। १००) चि० बाबू निर्मलकुमारकी ओरसे।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

* ॐ अर्हम् *
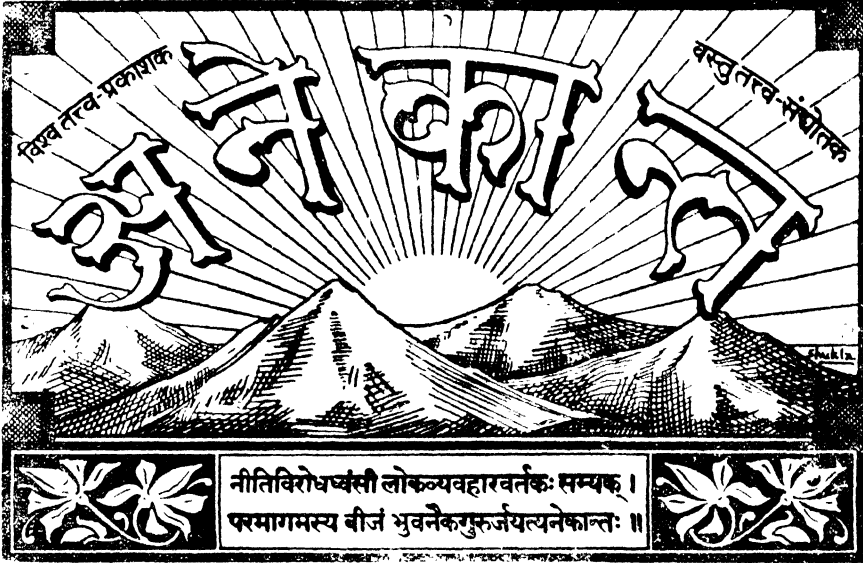
वर्ष ८ किरण १०-११	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर चैत्र-वैशाख शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४७३, विक्रम सं० २००४	मार्च, अप्रैल १९४७

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन

न शास्तृ-शिष्यादि-विधि-व्यवस्था विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत्।
अतत्त्व-तत्त्वादि-विकल्प-मोहे निमज्जतां वीत-विकल्प-धीः का ? ॥१७॥

'(चित्तोंके प्रतिक्षण भंगुर अथवा निरन्वय-विनष्ट होने पर) शास्ता और शिष्यादिके स्वभाव-स्वरूपकी (भी) कोई व्यवस्था नहीं बनती—क्योंकि तब तत्त्वदर्शन, परानुग्रहको लेकर तत्त्व-प्रतिपादनकी इच्छा और तत्त्वप्रतिपादन, इन सब कालोंमें रहनेवाले किसी एक शासक (उपदेष्टा) का अस्तित्व नहीं बन सकता। और न ऐसे किसी एक शिष्यका ही अस्तित्व घटित हो सकता है जो कि शासन-श्रवण (उपदेश सुनने) की इच्छा और शासनके श्रवण, ग्रहण, धारण तथा अभ्यसनादि कालोंमें व्यापक हो। 'यह शास्ता है और मैं शिष्य हूँ' ऐसी प्रतिपत्ति भी किसीके नहीं बन सकती। और इसलिये बुद्ध-सुगतको जो शास्ता माना गया है और उनके शिष्योंकी जो व्यवस्था की गई है वह स्थिर नहीं रह सकती। इसी तरह ('आदि' शब्दसे) स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र और पौत्र-पितामह आदिकी भी कोई विधि-व्यवस्था नहीं बैठ सकती, सारा लोक-व्यवहार लुप्त हो जाता अथवा मिथ्या ठहरता है।'

'(यदि बौद्धोंकी ओरसे यह कहा जाय कि बाह्य तथा आभ्यन्तररूपसे प्रतिक्षण स्वलक्षणों-(स्वपरमाणुओं) के विनश्वर होनेपर परमार्थसे तो मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादिकी विधि-

व्यवस्थाका व्यवहार संभव नहीं हो सकता, तब ?) यह सब विकल्प-बुद्धि है (जो अनादि-वासनासे समुद्भूत होकर मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादिरूप विधि-व्यवस्थाकी हेतु बनी हुई है) और विकल्प-बुद्धि सारी मिथ्या होती है, ऐसा कहने वालों (बौद्धों) के यहाँ, जो (स्वयं) अतत्त्व-तत्त्वादिके विकल्प-मोहमें डूबे हुए हैं, निर्विकल्प-बुद्धि बनती कौनसी है ?—कोई भी सार्थिका और सच्ची निर्विकल्प-बुद्धि नहीं बनती; क्योंकि मातृघाती आदि सब विकल्प अतत्त्वरूप हैं और उनसे जो कुछ अन्य हैं वे तत्त्वरूप हैं यह व्यवस्थिति भी विकल्पवासनाके बलपर ही उत्पन्न होती है। इसी तरह 'संवृति' (व्यवहार) से 'अतत्त्व' की और परमार्थसे 'तत्त्व' की व्यवस्था भी विकल्प-शिल्पीके द्वारा ही घटित की जा सकती है—वस्तुबलसे नहीं। इस प्रकार विकल्प-मोह बौद्धोंके लिये महासमुद्रकी तरह दुष्पार ठहरता है। इसपर यदि यह कहा जाय कि बुद्धोंकी धर्म-देशना ही दो सत्योंको लेकर हुई है—एक 'लोकसंवृति सत्य' और दूसरा 'परमार्थ सत्य'[1] तो यह विभाग भी विकल्पमात्र होनेसे तात्त्विक नहीं बनता। संपूर्ण विकल्पोंसे रहित स्वलक्षणमात्र-विषया बुद्धिको जो तात्त्विकी कहा जाता है वह भी संभव नहीं हो सकती; क्योंकि उसके इन्द्रियप्रत्यक्ष-लक्षणा, मानसप्रत्यक्ष-लक्षणा, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-लक्षणा और योगिप्रत्यक्ष-लक्षणा ऐसे चार भेद माने गये हैं, जिनकी परमार्थसे कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। प्रत्यक्ष-सामान्य और प्रत्यक्ष-विशेषका लक्षण भी विकल्पमात्र होनेसे अवास्तविक ठहरता है। और अवास्तविक लक्षण वस्तुभूत लक्ष्यको लक्षित करनेके लिये समर्थ नहीं है; क्योंकि इससे 'अतिप्रसङ्ग' दोष आता है; तब किसको किससे लक्षित किया जायगा ? किसीको भी किसीसे लक्षित नहीं किया जा सकता।

अनर्थिका साधन-साध्य-धीश्चेद्विज्ञानमात्रस्य न हेतु-सिद्धिः ।
अथाऽर्थवत्त्वं व्यभिचार-दोषो न योगि-गम्यं परवादि-सिद्धम् ॥१८॥

'(यदि यह कहा जाय कि ऐसी कोई बुद्धि नहीं है जो बाह्य स्वलक्षणके आलम्बनमें कल्पनासे रहित हो; क्योंकि स्वप्नबुद्धिकी तरह समस्त बुद्धिसमूहके आलम्बनमें भ्रान्तपना होनेसे कल्पना करनी पड़ती है, अतः अपने अंशमात्ररूप तक सीमित-विषय होनेसे विज्ञानमात्र तत्त्वकी ही प्रसिद्धि होती है उसीको मानना चाहिये। इसपर यह प्रश्न पैदा होता है कि विज्ञानमात्रकी सिद्धि ससाधना है या निःसाधना ? यदि ससाधना है तो साध्य-साधनकी बुद्धि सिद्ध हुई, विज्ञान-मात्रता न रही। और यदि साध्य-साधनकी बुद्धिका नाम ही विज्ञान-मात्रता है तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह बुद्धि अनर्थिका है या अर्थवती ?) यदि साध्य-साधनकी बुद्धि अनर्थिका है—उसका कोई अर्थ नहीं—तो विज्ञानमात्र तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये जो (प्रतिभाससमानत्व) हेतु दिया जाता है उसकी (स्वप्नोपलम्भ-साधनकी तरह) सिद्धि नहीं बनती और जब हेतु ही सिद्ध नहीं तब उससे (असिद्ध-साधनसे) विज्ञप्तिमात्ररूप साध्यकी सिद्धि भी नहीं बन सकती।

यदि साध्य-साधनकी बुद्धि अर्थवती है—अर्थालम्बनको लिये हुए है—तो इसीसे प्रस्तुत हेतुके 'व्यभिचार' दोष आता है—'सर्वज्ञान निरालम्बन है ज्ञान होनेसे' ऐसा दूसरोंके प्रति कहना तब युक्त नहीं ठहरता, वह महान् दोष है, जिसका निवारण नहीं किया जासकता; क्योंकि जैसे यह अनुमान-ज्ञान स्वसाध्यरूप आलम्बनके साथ सालम्बन है वैसे विवादापन्न (विज्ञानमात्र) ज्ञान भी सालम्बन क्यों नहीं ? ऐसा संशय उत्पन्न होता है। जब भी सर्ववस्तुसमूहको प्रतिभाससमानत्व-हेतुसे विज्ञानमात्र सिद्ध किया जाता है तब भी यह अनुमान परार्थप्रतिभासमान होते हुए भी वचनात्मक है—विज्ञानमात्रसे अन्य होनेके कारण विज्ञानमात्र नहीं है—अतः प्रकृत हेतुके व्यभिचार-दोष सुघटित एवं अनिवार्य ही है।

---

१ "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्म-देशना। लोकसंवृति-सत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥"

'यदि (निःसाधना सिद्धिका आश्रय लेकर) विज्ञानमात्र तत्त्वको योगिगम्य कहा जाय—यह बतलाया जाय कि साध्यके विज्ञानमात्रात्मकपना होनेपर साधनका साध्यतत्त्वके साथ अनुषङ्ग है—वह भी साध्यकी ही कोटिमें स्थित है—इसलिये समाधि-अवस्थामें योगीको प्रतिभासमान होने वाला जो संवेदनाद्वैत है वही तत्त्व है; क्योंकि स्वरूपकी स्वतः गति (ज्ञप्ति) होती है—उसे अपने आपसे ही जाना जाता है—तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह बात परवादियोंको सिद्ध अथवा उनके द्वारा मान्य नहीं है—जो किसी योगीके गम्य हो वह परवादियोंके द्वारा मान्य ही हो ऐसी कोई बात भी नहीं है, यह तो अपनी घरेलू मान्यता ठहरी। अतः निःसाधना सिद्धिका आश्रय लेनेपर परवादियोंको विज्ञानमात्र अथवा संवेदनाद्वैत तत्त्वका प्रत्यय (बोध) नहीं कराया जासकता।

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पैर्विश्वाऽभिलापाऽऽस्पदतामतीतम् ।
न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्ति-बाह्यम् ॥१९॥

'जो (विज्ञानाऽद्वैत) तत्त्व सकल विकल्पोंसे विशुद्ध (शून्य) है—कार्य-कारण, ग्राह्य-ग्राहक, वास्य-वासक, साध्य-साधन, बाध्य-बाधक, वाच्य-वाचक भाव आदि कोई भी प्रकारका विकल्प जिसमें नहीं है—वह स्वसंवेद्य नहीं होसकता; क्योंकि संवेदनावस्थामें योगीके अन्य सब विकल्पोंके दूर होनेपर भी ग्राह्य-ग्राहकके आकार विकल्पात्मक संवेदनका प्रतिभासन होता है, बिना इसके वह बनता ही नहीं, और जब विकल्पात्मक संवेदन हुआ तो सकल विकल्पोंसे शून्य विज्ञानाद्वैत तत्त्व न रहा।

(इसी तरह) जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व सम्पूर्ण अभिलापों (कथन-प्रकारों) की आस्पदता (आश्रयता) से रहित है—जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया और यदृच्छा (संकेत) की कल्पनाओंसे शून्य होनेके कारण उस प्रकारके किसी भी विकल्पात्मक शब्दका उसके लिये प्रयोग नहीं किया जासकता—वह निगद्य (कथनके योग्य) भी नहीं होसकता—दूसरोंको उसका प्रतिपादन नहीं किया जासकता।

(अतः हे वीरजिन!) आपकी उक्तिसे—अनेकान्तात्मक स्याद्वादसे—जो बाह्य है वह सर्वथा एकान्तरूप विज्ञानाद्वैत-तत्त्व (सर्वथा विकल्प और अभिलापसे शून्य होनेके कारण) सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त है—सुषुप्तिमें संवेदनकी जो अवस्था होती है वही उसकी अवस्था है। और इससे यह भी फलित होता है कि स्याद्वादका आश्रय लेकर ऋजुसूत्र नयावलम्बियोंके द्वारा जो यह माना जाता है कि विज्ञानका अर्थतत्त्व विज्ञानके अर्थपर्यायके आदेशसे ही सकल-विकल्पों तथा अभिलापोंसे रहित है और व्यवहारनया-वलम्बियोंके द्वारा जो उसे विकल्पों तथा अभिलापोंका आश्रय स्थान बतलाया जाता है वह सब आपकी उक्तिसे बाह्य नहीं है—आपके सब नियम-त्यागी स्याद्वादमतके अनुरूप है।'

मूकात्म-संवेद्यवदात्म-वेद्यं तन्म्लिष्ट-भाषा-प्रतिम-प्रलापम् ।
अनङ्ग-संज्ञं तदवेद्यमन्यैः स्यात् त्वद्द्विषां वाच्यमवाच्य-तत्त्वम् ॥२०॥

'गूंगेका स्वसंवेदन जिस प्रकार आत्मवेद्य है—अपने आपके द्वारा ही जाना जाता है—उसी प्रकार विज्ञानाद्वैततत्त्व भी आत्मवेद्य है—स्वयं के द्वारा ही जाना जाता है। आत्मवेद्य अथवा 'स्वसंवेद्य' जैसे शब्दोंके द्वारा भी उसका अभिलाप (कथन) नहीं बनता, उसका कथन गूंगेकी अस्पष्ट भाषाके समान प्रलाप-मात्र होनेसे निरर्थक है— वह अभिलापरूप नहीं है। साथ ही, वह अनङ्गसंज्ञ है—अभिलाप्य न होनेसे किसी भी अङ्गसंज्ञाके द्वारा उसका संकेतन ही किया जा सकता। और जब वह अनभिलाप्य तथा अनङ्गसंज्ञ है तब दूसरोंके द्वारा अवेद्य (अज्ञेय) है—दूसरोंके प्रति उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। ऐसा (हे वीरजिन!) आपसे आपके स्याद्वादमतसे—द्वेष रखने वाले जिन (संवेदना-

द्वैतवादि-बौद्धों) का कहना है उनका सर्वथा अवाच्य-तत्त्व इससे वाच्य होजाता है! जो इतना भी नहीं समझते और यही कहते हैं कि वच्य नहीं होता उनसे क्या बात की जाय ?—उनके साथ तो मौनावलम्बन ही श्रेष्ठ है।'

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तैः ॥
अहो इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत् त्वया विना श्रायसमार्य ! किं तत् ॥२१॥

'शास्ता—बुद्धदेवने ही (यथार्थदर्शनादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण) अनवद्य वचनोंकी शिक्षा दी, परन्तु उन वचनोंके द्वारा उनके वे शिष्य शिक्षित नहीं हुए!' यह कथन (बौद्धोंका) अहो दूसरा दुर्गतम अन्धकार है—अतीव दुष्पार महामोह है!!—क्योंकि गुणवान शास्ताके होनेपर प्रतिपत्तियोग्य प्रतिपाद्यों-शिष्योंके लिये सत्य-वचनोंके द्वारा ही तत्त्वानुशासनका होना प्रसिद्ध है। बौद्धोंके यहाँ बुद्धदेवके शास्ता प्रसिद्ध होनेपर भी, बुद्धदेवके वचनोंको सत्यरूपमें स्वीकार करनेपर भी और (बुद्ध-प्रवचन सुननेके लिये) प्रणिहितमन (दत्तावधान) शिष्योंके मौजूद होते हुए भी वे शिष्य उन वचनोंसे शिक्षित नहीं हुए, यह कथन बौद्धोंका कैसे अमोह कहा जासकता है ?—नहीं कहा जासकता, और इस लिये बौद्धोंका यह दर्शन (सिद्धान्त) परीक्षावानोंके लिये उपहासास्पद जान पड़ता है।

(यदि यह कहा जाय कि इस शासनमें संवृतिसे—व्यवहारसे—शास्ता, शिष्य, शासन तथा शासनके उपायभूत वचनोंका सद्भाव स्वीकार किया जानेसे और परमार्थसे संवेदनाद्वैतके निःश्रेयस-लक्षण की-निर्वाणरूपकी—प्रसिद्धि होनेसे यह दर्शन उपहासास्पद नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि हे आर्य-वीरजिन ! आपके बिना—आप जैसे स्याद्वादनायक शास्ताके अभावमें निःश्रेयस (कल्याण अथवा निर्वाण) बनता कौनसा है; जिससे संवेदनाद्वैतको निःश्रेयसरूप कहा जाय ?—सर्वथा एकान्त-वादका आश्रय लेनेवाले शास्ताके द्वारा कुछ भी सम्भव नहीं है, ऐसा प्रमाणसे परीक्षा किये जानेपर जाना जाता है। सर्वथा एकान्तवादमें संवृति और परमार्थ ऐसे दो रूपसे कथन ही नहीं बनता और दो रूपसे कथनमें सर्वथा एकान्तवाद अथवा स्याद्वादमत-विरोध स्थिर नहीं रहता।'

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्ग-गम्यं न तदर्थ-लिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः ? कष्टमशृण्वतां ते ॥२२॥

'जिस (संवेदनाद्वैत) तत्त्वमें प्रत्यक्षबुद्धि प्रवृत्त नहीं होती—प्रत्यक्षतः किसीके जिसका तद्रूप निश्चय बनता—उसे यदि (स्वर्ग-प्रापणशक्ति आदिकी तरह) लिङ्गगम्य माना जाय तो उसमें अर्थरूप लिङ्ग सम्भव नहीं होसकता;—क्योंकि वह स्वभावलिङ्ग उस तत्त्वकी तरह प्रत्यक्ष-बुद्धिसे अतिक्रान्त है, उसे लिङ्गान्तरसे गम्य माननेपर अनवस्था दोष आता है तथा कार्यलिङ्गका संभव माननेपर द्वैतताका प्रसङ्ग आता है—और (परार्थानुमानरूप) वचनका उसके संवेदनाद्वैतरूप विषयके साथ योग नहीं बैठता—परम्परासे भी सम्बन्ध नहीं बनता, उस संवेदनाद्वैततत्त्वकी क्या गति है ?—प्रत्यक्ष, लैङ्गिकी और शाब्दिकी कोई भी गति न होने से उसकी प्रतिपत्ति (बोधगम्यता) नहीं बनती, वह किसीके द्वारा जाना नहीं जासकता। अतः (हे वीरजिन !) आपको न सुननेवालोंका—आपके स्याद्वाद शासनपर ध्यान न देनेवाले बौद्धोंका—संवेदनाद्वैत दर्शन कष्टरूप है।'

ऐतिहासिक घटनाओंका एक संग्रह

[सम्पादकीय]

गत भादों मासमें, कानपुरके शास्त्र-भण्डारोंका अवलोकन करते हुए, मुझे बाबू पद्मराजजीके पाससे, जो कि एक बड़े ही सज्जन-स्वभावके उदार-हृदय व्यक्ति मालूम हुए और जिन्होंने अपने शास्त्र-भण्डारको दिखलानेमें कई दिन तक मेरे साथ कई-कई घंटे परिश्रम भी किया है, दो एक छोटे-छोटे ग्रन्थोंकी प्राप्ति हुई थी, जिसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ। उनमें से एक ग्रन्थ सात पत्रका है, जिसके प्रत्येक पृष्ठपर १४ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ४० के करीब अक्षर हैं किन्तु अन्तिम पृष्ठपर ३ ही पंक्तियाँ हैं, और इस तरह जिसका परिमाण २३१ श्लोक जितना जान पड़ता है। इस ग्रन्थका कोई खास नाम नहीं है। इसका प्रारम्भ "अथ वाका लिप्यते" इस वाक्यसे होता है और उसके अनन्तर ही संवतादिके उल्लेख-पूर्वक वाकआत (घटनाओं) का निर्देश किया गया है, और इसलिये इसे ऐतिहासिक घटनाओंका एक संग्रह कहना चाहिये, जो हिन्दी गुजराती आदि मिश्रित भाषा[१]में लिखा गया है। तोमर आदि अनेक राजवंशोंकी वंशावली भी इसमें दी हुई है। अन्तकी चौहान वंशावली 'सीरोही देवडा' के नामसे दी है। यह ग्रन्थ संवत १८४९ पौष बदी पञ्चमीका लिखा हुआ है और इसके लेखक हैं ऋषि रुघा; जैसाकि अन्तकी पंक्तिके निम्न अंशसे प्रकट है—

"इति सीरोही देवडा ॥ सं० १८४६ पोस व ५ लि० ऋ रुघा:"

बहुत सम्भव है कि ऋषि रुघा ही इसके संग्राहक हों और उन्होंने अनेक स्थलों परसे अपनी रुचि आदिके अनुसार यह संग्रह किया हो। और यह भी हो सकता है कि संग्रह किसी दूसरेका हो और उन्होंने अपने उपयोगादिके लिये उसकी यह प्रतिलिपि की हो। कुछ भी हो, इस संग्रहको लिखे हुए १५० वर्षसे ऊपर हो चुके हैं। इसमें अनेक नगरों तथा गढ़-कोटों आदिके बनने-बनाने, बसने-बसाने अथवा हस्तान्तरित होने आदिके समयोंका उल्लेख है। अनेक राजाओंके जन्म लेने, राजगद्दी प्राप्त करने, गद्दी छोड़ने, लड़ने-झगड़ने, भागने तथा मरने आदि सम्बन्धी समयोंके उल्लेखोंको भी यह लिये हुए है। और भी राजा-प्रजा आदिसे सम्बन्ध रखने वाली कितनी ही लौकिक घटनाओंके समयादिकका इसमें समावेश है। सारे संग्रहमें विक्रम संवतादिका एक ही क्रम नहीं रक्खा गया है—कहीं-कहीं वे कुछ भिन्न क्रमसे भी पाये जाते हैं, जिसका एक उदाहरण दिल्ली बसानेकी घटना है जिसे प्रथम स्थान दिया गया है, तदनन्तर उज्जैन आदिको। अस्तु, आज पाठकों-को इस संग्रहकी अधिकांश घटनाओंका (वंशा-वलियोंको छोड़कर) काल-क्रमसे, बिना किसी टीका-टिप्पणके, परिचय कराया जाता है। विशेष विचार एवं जाँच-पड़तालका कार्य फिर किसी समय हो सकेगा:—

संवत् और घटनाएँ

७३१—राजा भोजने 'उज्जैन' बसाई।

८०२—वैशाख सुदि ३ को चावडे वनवीरने 'पाटन' बसाई।

८०९—वैशाख सुदि १३ को राजा अनंगपाल तुवर (तोमर) ने 'दिल्ली' बसाई।

१ इस भाषाका कुछ ज्ञान आगे परिचयमें उद्धृत किये हुए वाक्योंसे हो सकेगा।

९०२—चित्रांगदने 'चित्तौड़' कराया, 'मोरी' बसाया और 'गढ़' कराया।

१०७०—नाहडरायने 'मँडावर' बसाया।

१०७७—भोजपरमारके बेटे वीरनारायणने 'गढ़ सिवाना' कराया, पहले वह 'कुम्भट' ग्राम कहलाता था।

१०८८—शत्रुंजय (तीर्थ) पर 'विमलवस्ती' बनाई गई।

१११५—राजा पृथ्वीराजके मंत्रीश्वरने 'नागौर' बसाया। किंवारदाय (?) में गडरियेने सिंहोंको इकट्ठे बैठे देखा था, यह देखकर बसाया।

११८१—फलवधि-पार्श्वनाथजीकी स्थापना की गई।

११८४—सिद्धराय जयसिंहदेव हुआ।

११९९—कुमारपाल राजा पाटण (में) हुआ, हेमाचार्य जिसके गुरु।

१२१२—श्रावण वदि १२ को राव जेसलने अपने नामपर 'जैसलमेर' बसाया। स्थानका पिछला नाम 'लोद्रवा' था।

१२१३—कच्छमें जहाँ भद्रेश्वर है वहाँ झगडूया (झगडा या यज्ञ) हुआ। 'रायां सधार कहवाणो' (?)

१२२०—बीसलरावने अजमेरमें राज्य किया।

१२२४—आबूजीके ऊपर तेजपाल वस्तुपालने 'अचलगढ़' कराया।

१२३६—आबूजीके ऊपर तेजपाल वस्तुपालने मन्दिर बनवाया। (बहुत) द्रव्य खर्च किया।

१३००—जालोरगढ़के राव कान्हडदेने 'सोनिगर गढ़' कराया। पहला राजस्थान भिनमालमें था।

१३३७—बादशाह अलाउद्दीन गौरी जालोरमें आया।

१३५१—अलाउद्दीनने गढ़ जालोर लिया। राव कान्हडदे सोनिगरके ऊपर विलुप्त हुआ। कुँवर वीरमदे अपघात कर मरा पेट कटारी मारी। पेटके ऊपर पांभणी और हथियार बाँधकर उसने मामला (युद्ध) किया। पीछे जब वीरमदे पकड़ा गया तब उसने कहा मुझे सुस्ता तो होने दो, सुस्ताते समय हथियार छोड़कर वीरमदे देवलोकको प्राप्त हुआ। "माथो पादशाह जुरगयो"। पीछे बादशाहकी बेटियोंने सत किया।

१३५१—विहारिआको जालोरके मध्ये थानेमें डाला।

१४०२—अहमद बादशाहने चंपानेरसे आकर 'अहमदाबाद' बसाया। मणिकेसरनाथ योगी ब्रह्मचारीने गुरुकी आज्ञासे पहली 'लाहौर' बसाई।

१४ २(१४०२ या१४१२?)—अहमद बादशाहने दक्षिणमें 'अहमदनगर' बसाया।

१४५२—वैशाख वदि ७ को देवड सहसने 'सिरोही' बसाई। उस समय ककचरा पेड़ लगाया। "तिको कांकाहमाहो मिटै नहीं"(?)

१४९२—राणपुरके राणा कुम्भाने ४ स्तम्भ बनवाए, जिनमें १ लाख २४ हजार फीरोजे लगे।

१४९४(६?)—राणपुरमें मंदिरकी स्थापना की गई, ९९ लाख रुपया लगा। (मंदिर की नींव वैशाख सुदि ३ को रक्खी गई थी।)

१४९[६]—कुम्भा राणाने 'कुम्लमेर' बसाया।

१५१०—रावोड बीका जोधावतने अपने नाम पर जङ्गलमें 'बीकानेर' बसाया।

१५४(१५०४?)—जोधेजाने चौहानको मारकर और मँडावरको भँगकर 'धाना' बसाया।

१५१२—जोधपुरमें भगडूया (यज्ञ) हुआ। उस समय सवा लाख याचकोंको एक वक्त जिमाया गया।

१५१५—जोधावत द्वितीयने 'मेडत' बसाया। पहले मानधाताने बसाया था। सूना खेड़ा बसाया गया।

१५३५—राव हमीरन राउतने 'फलवधीका कोट' कराया।

१५८४—राणा सांगाने बेढि की, चैत्र वदी १३ को मुगल भागा, बादको जेठ वदिमें राणा सांगा देवलोकको प्राप्त हुआ।

१५९१—राव मालदेने 'नागौर' लिया (विजय किया)।

१५९६—राव मालदेने 'मेहवा' बसाया, पहले अमरकोट रहता था।

१५९६—रावल जामने 'नवानगर' बसाया, पहले कच्छमें रहता था।

१५९८—राव मालदेने 'बीकानेर' लिया।

१६००—"बड़ी बेढ हुई, कृपा जैता, त्यांरी राणीनै राव मालदेनी सखा कोठड रह्या।"

१६०१—राणा उदयसिंहजीसे चित्तौड़ छूटा, तब मेवाडमें पीछले तालाबके ऊपर उदयपुर बसाया; (बादको) उदयसागर बँधाया। "सो भागलीधो"।

१६०२—राव मालदे वापिस जोधपुर आया. आकर दीवाली मनाई-रोशनी की।

१६०४—(राव मालदेने) कुँवर श्रीरामको देश बाँट दिया।

१६१०—फागुन सुदी १०को राणाके चाकरोंने गुजरातमें बादशाह मुहम्मदको मारा। उस समय राणा उदयसिंहने चित्तौड़ वापस लिया।

१६११—"वैशाप सुदि २ प्रहर १ चढतां जेता वननगो भारमलांत धनराज पंचोली आभो घणो साथी काम आयो" (युद्धमें एक साथ मारे गये)।

१६११—राव मालदेने 'मेडत' लिया और अपने नामपर शहरके बाहर 'गढ़' कराया।

१६१३—फागुन वदि ९को १ पहर दिनसे रीयामाली गाँवमें राणा उदयसिंहने हाजीखानसे कलह (युद्ध) किया और फिर भागा।

१६१९—परमारमालदेने 'मालपुरा' बसाया।

१६२१—राव कल्याणमलजी नाडूलके थाने रहा। फागुन वदि ७को शेख जालिमीको "चूककरीने" मारा।

१६२३—मङ्गसिर वदि ११को सोजित (सोजित की प्रजा) भागी। उदयपुर बसा।

१६२३—मङ्गसिरमें उदयसागर तालाब बँधा, जो भाग निकला।

१६२४—अकबर बादशाहने चित्तौड़ लिया।

१६२९—राव कल्याणमलको सीरीयारी गाँवमें टीका (तिलक) हुआ।

१६३४—चैत्र वदि ११को कुंभलनेर भागा। बादशाह अकबरकी फौज आई। फौज (दार) का नाम जादिसाहबखान खोजा। जब फौजें आने लगीं तब राणा उदयसिंहजी गढ़से उतरा, तभी मुगल १२ ऊपर चढ़े।

१६३५—महादुष्काल हुआ "परोजी १ पाली १ थान थयो"।

१६३७—श्रावण वदि ११को राव चन्द्रसेनका देश भागा।

१६३९—कार्तिकमें राजा श्री उदयसिंहजीका जोधपुर पर अधिकार हुआ।

१६४२—बादशाह अकबरने जमनाजीके ऊपर 'अकबराबाद' बसाया। पहला नाम 'पारकर' था।

१६४२—श्री हीरविजयसूरी अकबर बादशाह से मिला, धर्मचर्चा की और करामात दिखाई।

१६४८—शाहजहान बादशाहका जन्म हुआ।

१६४९ (?)—अकबर बादशाहने गुजरात ली (फतह की)।

१६५०—अकबर बादशाहने 'ब्राह्मणपुर' लिया।

१६५१—श्रावणमें, राजा उदयसिंह देवलोकको प्राप्त हुआ। लाहौरमें सूरसिंहजीको टीका (राजतिलक) हुआ।

१६५२—भट्टारक श्रीहीरविजयसूरि देवलोकको प्राप्त हुआ।

१६५६—पोष वदि दूजको सोजित (सोजित की प्रजा) भागी।

१६६२—कार्तिक सुदि २ को बादशाह अकबर फ़ौत (मृत्यको प्राप्त) हुआ।

१६६२—मङ्गसिर वदि ७ को जहाँगीरको टीका (राजतिलक) हुआ।

१६६५—राजा वीरबल मोडने राजगढ़ बसाया।

१६६५—कार्तिक सुदि ५ को श्रीपूज्य जसवन्तसिंह जी हुआ, उसने जहाँगीर बादशाहको पर्चा दिया, उससे धर्मचर्चा की, जजिया (टैक्स) का निवारण किया और अकबराबाद शहरमें अग्रवालोंके ९०००० घरोंको प्रतिबोधा (उपदेश दिया)।

१६६७—माघ सुदि ७ को राव चन्द्रसेन "देवीक" (देवलोकको प्राप्त) हुआ।

१६६९—राजा किसनसिंह उदयसिंहोतने अपने नामपर 'किसनगढ़' बसाया।

१६७०—पौष वदि १२ को राव अमरसिंहका जन्म हुआ।

१६७२—जेठ वदि ८को राव किसनसिंह अजमेरमें काम आया (मारा गया)।

१६७५—औरङ्गजेबका जन्म हुआ।

१६७६—राजा सूरसिंह देवलोकको प्राप्त हुआ।

१६७६—राजा गजसिंहजीको टीका (राजतिलक) हुआ।

१६७७—श्रीपूज्य जसवन्तसिंहजीका स्वर्गवास हुआ।

१६८३—राजा श्रीजसवन्तसिंहजीका जन्म हुआ।

१६८४—बादशाह जहाँगीर फौत (मृत्युको प्राप्त) हुआ। बादशाह शाहजहाँ गद्दीपर बैठा।

१६८८—शाहजहाँ बादशाहने दौलताबाद लिया।

१६९५—आषाढ वदि ७ के दिन राजा जसवन्तसिंहको आगरामें टीका (राजतिलक) हुआ। और घरका टीका आषाढ़ सुदि ३को हुआ।

१६९७—कार्तिक सुदि ११को रावकी सुलतान के साथ बेढ़ (लड़ाई) हुई; उसमें राव राईसिंह और जगमाल काम आए (मरणको प्राप्त हुए)।

१७११—चैत्रमें लड़ाई हुई, दाराशाह भागा और औरङ्गजेब जीता।

१७११—मेवाड व्याकुल हुआ, सादुल्लाखाँने चित्तौड़को हराया।

१७१३—जालौर राजा जसवन्तसिंहका हुआ।

१७१४—असौज वदि ९के दिन शाहजहान बादशाह मरणको प्राप्त हुआ।

१७१४—चैत्रमें राजा जसवन्तसिंहको शाहजादा औरङ्ग-मुरादिने २२००० घोड़ोंके साथ अपने सामने विदा किया और जब वह उज्जैन पहुँचा तब वहाँ दो शाहजादे अहमदाबादसे आये २८००० घोड़ोंके साथ।

१७१५ (१७१४?) जेठमें राजा (जसवन्तसिंहजी) अपने मारवाड़ी घर आया।

१७१४—धवलपुरमें दाराशाहने औरङ्ग-मुरादिसे लड़ाई की, दारा भागा, थटमें गया और औरङ्ग-मुरादि दिल्ली-आगरा गये।

१७१४—राणाजीने जमालपुरा मारा (विजय किया)।

१७१५—मुरादशाहको पकड़ा, पश्चात् बादशाहने राजा जसवन्तसिंहको बुलाया, परगने ५ हाथी घोड़े सिरपाव १ और तलब दी और कूंच करके खुद बादशाह लाहौर गया और राजाजी तीन महीने आगरा रहे। इधर शाह शुजाने सिर उठाया, बादशाह शुजाके मुकाबले को चला। "पछै राजा पातिशाह जीवांण कनही तितरै पेलू मालूरा डेरा लुंटीयाः।"

१७१५—माह वदि ७को राजाजी मेडत आया, दिन १०में जोधपुर आया। माघ सुदि ४को शाह दारा २५००० घोड़ोंके साथ अहमदाबाद आया, तत्पश्चात् दिल्लीको आने लगा, महाराजा के पास खबर आई, घोड़े १०००के साथ गाँव बाबीमें आया। माघ सुदि ३को दारा सिरोही आया। घोड़े ६००० साथ आए। रावजीके बेटे उदयसिंहको साथमें लिया। फागुन सुदिमें महाराजा और दारा सिरोहीमें इकट्ठे हुए, बाद को गाँव रावडायासे (दारा) वापिस आया।

१७१५ (१७१६?)—वैशाखमें, अजमेरकी लड़ाई हुई, जिसमें दाराशाह भागा, औरङ्गशाह बेटेको शाहशुजाके मुकाबले भेजकर आगरा गया। राजा जयसिंह, राजा जसवंतसिंह और नवाब बादरखान तीनों दाराशाहसे मिल गये। जाते हुए 'महाराजाने सिरोही परणी'—सिरोहीको अपने आधीन किया अथवा सिरोहीराजाकी कन्यासे विवाह किया?।

१७१६—राजा जसवन्तसिंहका बेटा मोहणत सुन्दरदास बादशाहजीके हजूरमें गया।

१७१४ (१७१६?)—महाराजा (जसवंतसिंह?) को नागौरकी पटी २३ प्राप्त हुई।

१७१६—महाराजा (जसवंतसिंह?) को 'अदाबादी' का सूबा प्राप्त हुआ।

१७१६—राव लक्खि महेदा सोउत गोढवाडसे ५०० साँड ले आया।

१७१७—राउ वेणीदास बलूउत चौहान देवलोकको प्राप्त हुआ।

१७१४ (७)—मोहणत सुन्दरदासने सींधलावटी मारी, घने सिंधल काम आए (मारे गये) २७ 'कोटडी' उठी।

१७१७—दीषणी (दक्षिणी) से लड़ाई हुई।

१७१७—सलेमाने शूकर मारा।

१७२४—शिव बादशाहके कदमों (चरणों) में गया।

१७३०—राव अखैराम देवलोकको प्राप्त हुआ।

१७३३—राव बैरीसाल गद्दीपर बैठा, जिसका जन्म सं० १७२१ में हुआ था।

१७३३—राजा रायसिंहोत देवकंतने दक्षिणमें मोहनत करमसीको मारा, मोहनत मोहनदास तेजमाल और प्रतापसिंहको नागोरमें मारा।

१७३३—सिरोही वाला राव उदयसिंह देवलोकको प्राप्त हुआ।

१७३५—महाराजा (जसवंतसिंह ?) के साथ दिल्लीने लड़ाई की। रघुनाथ भाटी रिणछोडदास योद्धा दुर्गदास, आसकरणोत, इन्होंने मुख्य हो करके लड़ाई की, जिसमें घने मुगल काम आए और राठौड जीता।

१७३५—"मेवाड माहे विषो (झगड़ा-फिसाद ?) वर्ष २ रह्यो।

१७३५—पौप वदिमें महाराज जसवंतसिंह देवलोकको प्राप्त हुआ।

१७३५—चैत्र वदि ४को महाराजाके कुँवर अजीतसिंह-छत्रसिंहका जन्म हुआ।

१७३५—जेठमें डीडूआना मारा, "नीवतरा ठीहा किया"।

१७३५—जोधपुर इन्द्रसिंहजीका हुआ—उनके अधिकार में पाया।

१७३६—अंधी वाउल आई, 'खेरवा' (?) इकट्ठा हुआ।

१७३६—जालौर राठोड सुजानसिंहका हुआ। और वर्ष १ अधिकारमें रहा।

१७३६(?)—जालौर फतहखान दीवानका हुआ।

१७३६—सुजानसिंहने लड़कर सोजित जीता।

१७३७ - राणा राजसिंह देवलोकको प्राप्त हुआ।

१७३७—राणा जयसिंह, जिसका जन्म संवत १७१० में हुआ था, गद्दीपर बैठा।

१७३७—इन्द्रसिंहजी जोधपुरसे बेदखल हुए और नवाब अनात (इनायत) खान उसपर काबिज हुए।

१७३७—'जालौर' रामसिंहका हुआ।

१७३८—'जालौर' बहलोलखानका हुआ।

१७३९—बहलोलखान जालौरकी गद्दीसे उतारा गया और पाटणका सूबेदार हुआ।

१७४३—सिरोहीमें उदयसिंह चंपाउत, मुंकदास (?) खींची इनको महाराजाके बेटेने सूबा (परगनेका हाकिम) किया।

१७४८—माघ वदि १ को राजा जयसिंह घानोर आया और वैशाखके बाद वापिस गया।

१७५२—सूर्यग्रहण बहुत जोरका हुआ, दिनमें तारे दिखाई देने लगे।

१७५२—माघके महीनेमें भूकम्प हुआ।

१७५२—"आषाढ वदी ९ उदैपुर राजा परथम परणी" (?)

१७५३—अकबर की बेटी आगरा गई।

१७५४—माघ वदि २ को अजितसिंह जोधपुर गया, सुरसागरके पास डेरा हुआ। माघ मासमें ही बादको भांडवालमें डेरा हुआ।

१७५४—दुर्गदास और आसकरणोत सुलतान बेगजी बादशाहके पास गये, बादशाह उनपर मेहरबान हुआ और उन्हें सात हजारी मन्सब दिया।

१७५४—फागुनमें भूमि धड़धड़ कांपी।

१७५४—'जालौर' महाराजजी (?) को हुई।

१७५५—आश्विनमें राणा जयसिंह देवलोकको प्राप्त हुआ।

१७५५—राणा अमरसिंह, जिसका जन्म संवत १७२९ में हुआ था, पाटपर बैठा (गद्दीनशीन हुआ)।

१७५५—उदयपुरमें दिनके वक्त श्याल (गीदड़) बोला।

१७५८—फागुनमें एक अजीब ('डंगडिआला') तारा उदित हुआ।

१७६२(?)—चैत्रमें शामके वक्त तारा सबल पड़ा।

१७६३—महाराजा अजितसिंह जालौरमें गद्दी पर बैठा।

१७६४—आज़मका पुत्र दीदारबख्श काम आया (मारा गया)। आलिमशाह गद्दी पर बैठा।
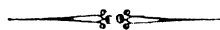
आचार्य माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश

[परिशिष्ट]

'अनेकान्त' की गत ८-९वीं संयुक्त किरणमें हमने उक्त शीर्षकके साथ एक खोजपूर्ण लेख लिखा था, जिसमें अनेक आधार-प्रमाणों और सङ्गतियोंसे यह सिद्ध किया था कि 'परीक्षामुखकार आचार्य माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र परस्पर साक्षात् गुरु-शिष्य थे। अतएव उनका समय विक्रम सवत् १०५०से वि० सं० १११० (ई० सन् ९९३से ई० १०५३) अनुमानित होता है।'

मेरे इस मतसे सहमति प्रकट करते हुए श्रीयुत् भाई प्रो० दलसुखजी मालवणिया जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसने मुझे हालमें पत्र लिखा है। साथमें मेरे उक्त मतका समर्थक एक प्रमाण भी भेजा है। उनका वह पत्र निम्न प्रकार है—

'अनेकान्तके अन्तिम अङ्कमें आपने आचार्य प्रभाचन्द्रको आचार्य माणिक्यनन्दिके शिष्यरूपसे बताया है वह ठीक ही है। उसके समर्थनमें मैं आपको एक और भी प्रमाण देता हूँ। मार्त्तण्डमें ३-११ सूत्रकी व्याख्या (नई आवृत्ति पृ० ३४८ पं० २२) में प्रभाचन्द्रने लिखा है "इत्यभिप्रायो गुरूणाम्।" इसमें अब शङ्का न रहना चाहिए।'

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ३-११ सूत्रकी व्याख्या गत पूरा उद्धरण इस प्रकार है—

"न च बालावस्थायां निश्चयानिश्चयाभ्यां प्रतिपन्नसाध्यसाधनस्वरूपस्य पुनर्वृद्धावस्थायां तद्विस्मृतौ तत्स्वरूपोपलम्भेऽप्यविनाभावप्रतिपत्तेरभावात्तयोस्तदहेतुत्वम्; स्मरणादेरपि तद्धेतुत्वात्। भूयो निश्चयानिश्चयौ हि स्मर्यमाणप्रत्यभिज्ञायमानौ तत्कारणमिति स्मरणादेरपि तन्निमित्तत्वप्रसिद्धिः। मूलकारणत्वेन तूपलम्भादेरत्रोपदेशः, स्मरणादेस्तु प्रकृतत्वादेव तत्कारणत्वप्रसिद्धेरनुपदेश इत्यभिप्रायो गुरूणाम्।"

यहाँ शङ्का की गई है कि स्मरण आदि भी व्याप्तिज्ञानमें कारण होते हैं उनका सूत्रमें उपदेश क्यों नहीं है? उसका समाधान यह किया गया है कि प्रधान कारण होनेसे उपलम्भादिकका तो सूत्रमें उपदेश है किन्तु स्मरणादिकका प्रकरण होनेसे ही उनकी कारणता सिद्ध होजाती है और इसलिये उनका सूत्रमें अनुपदेश है उपदेश नहीं है, ऐसा अभिप्राय गुरुका है।

यद्यपि जैनसाहित्यमें परम्परा गुरुके लिये भी 'गुरु' शब्दका प्रयोग किया गया है, परन्तु यहाँ ग्रन्थारम्भमें, ग्रन्थकी प्रशस्तिमें और मध्यमें जो बारबार तथा विशिष्ट शैलीसे प्रभाचन्द्रने माणिक्यनन्दिके लिये 'गुरु' शब्दका प्रयोग किया है वह साक्षात् गुरुके लिये ही स्पष्ट प्रतीत होता है।

मैं उक्त प्रमाणके लिये प्रो० सा० का आभारी हूँ। आशा है अन्य विद्वान् भी इसपर विचार करेंगे।

—दरबारीलाल जैन, कोठिया।
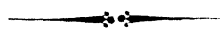
जैन-गुण-दर्पण

(संस्कृत मूलका हिन्दी रूपान्तर)

कर्म-इन्द्रियोंको जीतै जो, 'जिन' का परम उपासक जो ।
हेयाऽऽदेय-विवेक-युक्त जो, लोक-हितैषी जैनी सो ॥ १ ॥
अनेकान्त-अनुयायी हो स्याद्वाद-नीतिसे वर्तै जो ।
बाध-विरोध-निवारण-समरथ, समता-युत हो जैनी सो ॥ २ ॥
परम अहिंसक दया-दानमें तत्पर सत्य-परायण जो ।
धरै शील-सन्तोष अवंचक, नहीं कृतघ्नी जैनी सो ॥ ३ ॥
नहिं आसक्त परिग्रहमें जो, ईर्षा-द्रोह न रखता हो ।
न्याय-मार्गको कभी न तजता, सुख-दुखमें सम जैनी सो ॥ ४ ॥
लोभ-जयी निर्भय निशल्य जो, अहंकारसे रीता जो ।
सेवा-भावी गुण-ग्राही जो, विषय-विवर्जित जैनी सो ॥ ५ ॥
राग-द्वेषके वशीभूत नहिं, दूर मोहसे रहता जो ।
स्वात्म-ध्यानमें सावधान जो, रोष-रहित नित जैनी सो ॥ ६ ॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण-मय, शान्ति-विधायि मुमुक्षु जो ।
मन-वच-काय-प्रवृत्ति एक हो जिसकी निश्चय जैनी सो ॥ ७ ॥
आत्म-ज्ञानी सद्ध्यानी जो, सुप्रसन्न गुण-पूजक जो ।
नहिं हठग्राही शुची सदा संक्लेश-रहित-चित जैनी सो ॥ ८ ॥
परिषह-उपसर्गोंको जीतै, धीर-शिरोमणि बनकर जो ।
नहीं प्रमादी सत्संकल्पों में महान् दृढ जैनी सो ॥ ९ ॥
जो अपने प्रतिकूल दूसरोंके प्रति उसे न करता जो ।
सर्वलोकका अग्रिम सेवक, प्रिय कहलाता जैनी सो ॥ १० ॥
पर-उपकृतिमें लीन हुआ भी स्वात्मा नहीं भुलाता जो ।
युग-धर्मी 'युग-वीर' प्रवर है, सच्चा धार्मिक जैनी सो ॥ ११ ॥

वीरसेवामन्दिर
सरसावा (सहारनपुर)

जुगलकिशोर मुख्तार

विज्ञप्ति—प्रत्येक जैनीको प्रतिदिन इस आदर्शरूप दर्पणमें अपना मुख देखना चाहिए और यह मालूम करना चाहिए कि वह कहाँ तक—कितने अंशोंमें—जैन है। साथ ही, सच्चा तथा पूर्ण जैन बननेके लिये, अपनेमें जैन-गुणोंके विकासका बराबर दृढताके साथ प्रयत्न करना चाहिए। यही इस दर्पणके निर्माणका उद्देश्य है।

महाकवि हरिचन्दका समय

(ले०—पं० कैलाशचन्द्रजी जैन, शास्त्री)

महाकवि हरिचन्दके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं एक धर्मशर्माभ्युदय और दूसरा जीवन्धरचम्पू। कुछ विद्वानोंका मत है कि जीवन्धरचम्पू किसी अज्ञातनामा विद्वानकी कृति है। श्रीयुत प्रेमीजीने लिखा है—"यद्यपि[1] जीवन्धरचम्पूमें धर्मशर्माभ्युदयके भावों और शब्दों तकमें बहुत कुछ समानता है, इससे दोनोंको एक ही कर्ताकी कृति कहा जा सकता है, परन्तु साथ ही यह भी तो कह सकते हैं कि किसी अन्यने ही धर्मशर्माभ्युदयसे वे भावादि ले लिये हों।"

प्रेमीजीकी सम्भावना ठीक है, किन्तु ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारका नाम होते हुए भी और धर्मशर्माभ्युदयके भावों और शब्दों तकसे समानता होते हुए किस आधारपर जीवन्धरचम्पूको धर्मशर्माभ्युदयके रचयिता महाकवि हरिचन्दजीकी कृति न मानकर किसी अज्ञातनामा कविकी कृति माना जाता है, यह हम नहीं जान सके। अभी तक तो हमारा यही मत है कि दोनों महाकवि हरिचन्दकी रचनाएँ हैं और सम्भवतः दोनोंका रचयिता एक ही है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इस विषयमें अधिक विचारकी आवश्यकता है और इसलिये एक स्वतन्त्र लेखके द्वारा ही इसपर ऊहापोह करना उचित है। यहाँ तो हम धर्मशर्माभ्युदयके रचयिता महाकवि हरिचन्दके समयके सम्बन्धमें कुछ नई सामग्री उपस्थित करना चाहते हैं इसी उद्देश्यसे यह लेख लिखा जाता है।

धर्मशर्माभ्युदयके तीसरे संस्करणमें प्रथम पृष्ठकी टिप्पणीमें उसके सम्पादक महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसादने संस्कृतमें उसके रचयिताके सम्बन्धमें कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं। उनका भाव यह है:—

"इस कायस्थ-कुल-भूषण, दिगम्बर जैन मतानुयायी, आर्द्रदेवके पुत्र, महाकवि हरिचन्दका समय ठीक रीतिसे नहीं ज्ञात होता। हरिचन्द नामके दो कवि प्रसिद्ध हैं—एक, जिनका उल्लेख हर्षचरितके प्रारम्भमें महाकवि बाणभट्टने किया है। दूसरे, विश्वप्रकाशकोषके रचयिता महेश्वरके पूर्वज, चरकसंहिताके टीकाकार जो राजा साहसाङ्कके प्रसिद्ध वैद्य थे। ये हरिचन्द इन दोनोंमेंसे ही कोई एक हैं या तीसरे हैं, यह सन्देह है। किन्तु यह भी अपने प्रौढ़ कवित्वके कारण माघ आदि प्राचीन कवियोंकी कक्षामें ही बैठते हैं, इसलिये अर्वाचीन तो नहीं हैं। कर्पूरमञ्जरीमें प्रथम यवनिकाके अनन्तर एक जगह विदूषकके द्वारा महाकवि राजशेखर भी हरिचन्द कविका स्मरण करता है।"

इसके आधारपर प्रेमीजीने लिखा है कि 'यदि ये हरिचन्द धर्मशर्माभ्युदयके ही कर्ता हों तो इन्हें राजशेखरसे पहलेका (वि सं. ९६०से पहलेका) मानना चाहिये। तथा पाटण (गुजरात) के सङ्घवी पाड़ाके पुस्तक भण्डारमें धर्मशर्माभ्युदयकी जो हस्तलिखित प्रति है वह वि० १२८७की लिखी हुई है और इसलिये उससे यह निश्चय होजाता है कि महाकवि हरिचन्द उक्त संवत्से बादके तो किसी तरह हो ही नहीं सकते, पूर्वके ही हैं। कितने पूर्वके हैं, यह दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा रखता है।'

मैं यहाँ उन्हीं दूसरे प्रमाणोंको रखता हूँ।

मैं इधर कुछ समयसे श्रावकाचारोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेमें लगा था। उसीकी खोज-बीन करते हुए मैंने महाकवि वीरनन्दिके चन्द्रप्रभचरित और महाकवि हरिचन्दके धर्मशर्माभ्युदयको भी खोजा। चन्द्रप्रभचरितमें १८ सर्ग हैं और धर्मशर्माभ्युदयमें २१। दोनों ग्रन्थोंके अन्तिम सर्गोंके अपने अपने

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४७२।

चरित-नायक तीर्थङ्करोंके मुखसे धर्मोपदेश कराया गया है। जब मैं दोनों ग्रन्थोंके अन्तिम सर्गोंका मिलान करने बैठा तो मुझे यह देखकर साश्चर्य हर्ष हुआ कि दोनोंमें अत्यधिक साम्य है। प्रारम्भसे ही आप मिलान करते चले जाइये दोनोंमें एक ही अविच्छिन्न धारा बहती हुई मिलती है।

चन्द्रप्रभ०में पहला श्लोक (सर्ग १८) इस प्रकार है—

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाऽथ जगद्गुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्त्वं जिनेश्वरः ॥१॥

अर्थात 'गणधरके प्रश्न करनेपर जगद्गुरु जिनेश्वरने सर्व भाषात्मक ध्वनिके द्वारा इस प्रकार तत्त्वका वर्णन किया।'

यही बात थोड़ेसे शाब्दिक हेरफेर के साथ धर्मशर्माभ्युदयमें भी कही गई है। अन्तर केवल इतना है कि जो बात चन्द्रप्रभ०में एक श्लोकके द्वारा कही गई है उसे धर्मशर्माभ्युदयमें ७ श्लोकोंके द्वारा कहा है। पहले श्लोकमें गणी भगवानसे प्रश्न करते हैं। शेष ६ श्लोकोंमें ध्वनिकी तारीफ करते हुए भगवानके उत्तर देनेका कथन है। पहला श्लोक ही देखिये—

तत्त्वं जगत्त्रयस्यापि बोधाय त्रिजगद्गुरुम्।
तमापृच्छदथातुच्छज्ञानपण्यापणं गणी ॥१॥

दोनोंकी शैली और शब्दसाम्यको देखिये। आगे तो अक्षरशः साम्य है। तुलनाके लिये दोनोंके कुछ श्लोक देते हैं—

चन्द्रप्रभचरित—

जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरावथ निर्जरा।
मोक्षश्चेति जिनेन्द्राणां सप्ततत्त्वानि शासने ॥२॥
बन्ध एव प्रविष्टत्वादनुक्तिः पुण्यपापयोः।
तयोः पृथत्वपक्षे च पदार्था नव कीर्तिताः ॥३॥
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता स्वकर्मणाम्।
स्थितः शरीरमानेन स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥४॥
भव्याभव्यप्रभेदेन द्विप्रकारोऽप्यसौ पुनः।
नरकादिगतेर्भेदाच्चतुर्धा भेदमश्नुते ॥५॥
सप्तधा पृथिवीभेदान्नारकोऽपि प्रभिद्यते।
अधोलोकस्थिताः सप्त पृथिव्यः परिकीर्तिताः ॥६॥
* * *

प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषु कीर्तिताः।
उत्सेधः सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडंगुलाः ॥९॥
द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु पृथिवीषु यथाक्रमम्।
द्वितीयादिषु विज्ञेयो यावत्पञ्चधनुः शतीम् ॥१०॥
* * *
इति नारकभेदेन कृता जीवस्य वर्णना।
तिर्यग्गतिकृतो भेदः साम्प्रतं वर्णयिष्यते ॥१६॥

१ धर्मशर्माभ्युदय

जीवाऽजीवास्रवा बन्धसंवरावपि निर्जरा।
मोक्षश्चेतीह तत्त्वानि सप्त स्युर्जिनशासने ॥८॥
बन्धान्तर्भाविनोः पुण्यपापयोः पृथगुक्तितः।
पदार्था नव जायन्ते तान्येव भुवनत्रये ॥९॥
अमूर्तश्चेतनाचिह्नः कर्ता भोक्ता तनुप्रमः।
ऊर्ध्वगामी स्मृतो जीवः स्थित्युत्पत्ति व्ययात्मकः ॥१०॥
सिद्धसंसारिभेदेन द्विप्रकारः स कीर्तितः।
नरकादिगतेर्भेदात्संसारी स्याच्चतुर्विधः ॥११॥
नारकः सप्तधा सप्तपृथिवीभेदेन भिद्यते।
अधिकाऽधिकसंक्लेशप्रमाणायुर्विशेषतः ॥१२॥
* * *
षडङ्गुलास्त्रयो हस्ताः सप्त चापानि विग्रहे।
इयत्येव प्रमा ज्ञेया प्राणिनां प्रथमक्षितौ ॥१७॥
द्वितीयादिष्वतोऽन्यासु द्विगुणद्विगुणोदयः।
उत्सेधः स्याद्धरित्रीषु यावत्पञ्चधनुःशतीम् ॥१८॥
* * *
कृता श्वभ्रगतेर्भेदात्तत्स्वरूपनिरूपणा।
व्यावर्ण्यते कियानस्या भेदस्तिर्यग्गतेरपि ॥२२॥

और आगे देखिये—

चन्द्रप्रभ—

तिर्यगादिप्रभेदस्य क्रमोऽयं संप्रदर्शितः।
कीर्त्यन्ते साम्प्रतं केचिद्भेदा नरगतेरपि ॥२७॥
भोगकर्मभुवो भेदान्मानुषा द्विविधाः स्मृताः।
देवकुर्वादिभेदेन स्युस्त्रिंशद्भोगभूमयः ॥२८॥
मध्योत्तमजघन्येन क्रमात्त्रेधा व्यवस्थिताः।
षट् सहस्राणि चापानामुत्तमासु नृणां प्रमा ॥२९॥
मध्यमासु च चत्वारि द्वे जघन्यासु कीर्तिते।
त्रीणि पल्योपमान्यायुर्द्वे चैकं तास्वनुक्रमात् ॥३०॥

आर्य-म्लेच्छप्रभेदेन द्विविधाः कर्मभूमिजाः ।
भरतादिभिदा पञ्चदश स्युः कर्मभूमयः ॥३२॥
शतानि पञ्च चापानां कर्मभूमिनिवासिनाम् ।
पञ्चविंशतियुक्तानि मानमुत्कृष्टवृत्तितः ॥३३॥
पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।
वृद्धिह्रासौ विदेहे न भरतैरावतेष्विव ॥३४॥

* * *

सुषमोपपदा प्रोक्ता सुषमा सुषमा ततः ।
दुषमा सुषमाद्यान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥३७॥
पञ्चमी दुषमा ज्ञेया षष्ठी चात्यन्तदुःषमा ।
प्रत्येकमिति षड्भेदास्तयोरुक्ता द्वयोरपि ॥३८॥

* * *

आर्या षट्कर्मभेदेन षोढा भेदमुपागताः ।
ते गुणस्थानभेदेन स्युश्चतुर्दशधा पुनः ॥४३॥

* * *

इति मानुषभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।
साम्प्रतं देवभेदेन कुर्वे किञ्चित्प्रपञ्चनम् ॥४७॥

धर्मशर्माभ्युदय—

इति तिर्यग्गतेर्भेदो यथागममुदीरितः ।
मानवानां गतेः कोऽपि प्रकारः कथ्यतेऽधुना ॥४३॥
द्विप्रकारा नराः भोग-कर्मभूभेदतः स्मृताः ।
देवकुर्वादयस्त्रिंशत्प्रसिद्धा भोगभूमयः ॥४४॥
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्तास्त्रिविधाः क्रमात् ।
द्विचतुःषड्धनुर्दण्डसहस्रोत्तुङ्गमानवाः ॥४५॥
तास्वेकद्वित्रिपल्यायुर्जीविनो भुञ्जते नराः ।
दशानां कल्पवृक्षाणां पात्रदानार्जितं फलम् ॥४६॥

* * *

सुखमासुखमा प्रोक्ता सुखमा च ततो बुधैः ।
सुखमादुखमान्यापि दुखमासुखमा क्रमात् ॥५१॥
पञ्चमी दुखमा षष्ठी दुखमादुखमा मता ।
प्रत्येकमिति भिद्यन्ते ते षोढा कालभेदतः ॥५२॥

* * *

षोढा षट्कर्मभेदेन ते गुणस्थानभेदतः ।
स्युश्चतुर्दशधाप्यार्या म्लेच्छाः पञ्च प्रकीर्तिताः ॥५६॥

* * *

वर्णितेति गतिर्नृणां देवानामपि सम्प्रति ।
कियत्यपि स्मरानन्दोज्जीविनी वर्णयिष्यते ॥५९॥

यहाँ हमने बीचमें छोड़ छोड़कर जो श्लोक लिखे हैं सो विस्तारके भयसे दिये हैं, इसका यह मतलब नहीं है कि इन्हीं श्लोकोंमें साम्य है, अपितु पूरे अध्यायमें ऐसी ही समानता है। उदाहरणके लिये कुछ श्लोक और देते हैं।

चन्द्रप्रभ०से—

इति गत्यादिभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।
कुर्वे सम्प्रत्यजीवस्य किञ्चिद्रूपनिरूपणम् ॥६६॥
धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ।
अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागमविशारदैः ॥६७॥
एतान्येव सजीवानि षट् द्रव्याणि प्रचक्षते ।
कालहीनानि पञ्चास्तिकायास्तान्येव कीर्तिताः ॥६८॥

* * *

क्रियां दिनकरादिनामुदयास्तमयादिकाम् ।
प्रविहायापरः कालो नास्तीत्येके प्रचक्षते ॥७५॥

* * *

केवलिश्रुतधर्माणां देवस्य च गणस्य च ।
अवर्णवदनं दृष्टिमोहनीयस्य कीर्तितम् ॥८७॥
यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते ।
चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः सोऽनुवर्णितः ॥८८॥

* * *

एवमेष चतुर्भेदभिन्नो बन्धो निरूपितः ।
संवरस्याधुना रूपं किञ्चिदुद्योतयिष्यते ॥१०५॥
आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
कर्म संव्रियते येनेत्येवं व्युत्पत्तिसंश्रयात् ॥१०६॥
इति संवरतत्त्वस्य रूपं संक्षिप्य कीर्तितम् ।
इदानीं क्रियते किञ्चिन्निर्जराया निरूपणम् ॥१०८॥

धर्मशर्माभ्युदयसे—

इति व्यावर्णितो जीवश्चतुर्गत्यादिभेदतः ।
सम्प्रत्यजीवतत्त्वस्य किञ्चिद्रूपं निरूप्यते ॥८०॥
धर्माधर्मौ नभः कालः पुद्गलश्चेति पञ्चधा ।
अजीवः कथ्यते सम्यग्जिनैस्तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥८१॥

षड्द्रव्याणीति वर्ण्यन्ते समं जीवेन तान्यपि ।
विना कालेन तान्येव यान्ति पञ्चास्तिकायताम् ॥८२॥

*　　*　　*

कालो दिनकरादिनामुदयास्तक्रियात्मकः ।
औपचारिक एवासौ मुख्यकालस्य सूचकः ॥८९॥
केवलिश्रुतसंघार्हद्धर्माणामविवेकतः ।
अवर्णवाद एवाद्यो दृष्टिमोहस्य संभवः ॥९८॥
कषायोदयतस्तीव्रपरिणामो मनस्विनाम् ।
चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः कारणं परम् ॥९९॥

*　　*　　*

इत्येष बन्धतत्त्वस्य चतुर्धा वर्णितः क्रमः ।
पदैः संक्षिप्यते कैश्चित्संवरस्यापि डम्बरः ॥११६॥
आस्रवाणामशेषाणां निरोधः संवरः स्मृतः ।
कर्म संव्रियते येनेत्यन्वयस्यावलोकनात् ॥११७॥

*　　*　　*

संवरो विवृतः सैष सम्प्रति प्रतिपाद्यते ।
जर्जरीकृतकर्मायःपञ्जरा निर्जरा मया ॥१२१॥

निर्जरा पर्यन्त दोनों काव्योंमें एक धारा प्रवाहित होती है। इसके बाद थोड़ा अन्तर पड़ गया है। धर्मशर्माभ्युदयमें गृहस्थके बारह व्रतोंका वर्णन भी किया गया है जो चन्द्रप्रभमें नहीं है। उसके बाद फिर दोनोंमें एक धारा प्रवाहित होने लगी है। दोनोंमें एक ही रूपमें भगवानके उपदेशकी समाप्तिके बाद विहारका वर्णन है। यथा—

इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाद्य सकलां सभाम् ।
भव्यपुण्यसमाकृष्टो व्यहरद्भगवान्भुवि ॥१३२॥चन्द्र०

*　　*　　*

इति तत्त्वप्रकाशेन निःशेषामपि तां सभाम् ।
प्रभुः प्रह्लादयामास विवास्वनिव पद्मिनीम् ॥१६६॥
अथ पुण्यैः समाकृष्टो भव्यानां निष्पृहः प्रभुः ।
देशे देशे तमश्छेत्तुं व्यचरद्भानुमानिव ॥१६७॥ धर्म०

विहारके वर्णनके बाद दोनोंमें एक ही से शब्दोंमें अपने अपने तीर्थङ्करोंके गणधर वगैरहकी संख्या बतलाई है। दोनोंमें अन्तर केवल संख्याका है। उसके बाद दोनोंमें सम्मेदाचलपर पधारनेका और वहाँसे मुक्तिलाभ करनेका वर्णन है।

सारांश यह है कि दोनों सर्गोमें इतना अधिक साम्य है कि बिना एक दूसरेको देखे इतना साम्य आ नहीं सकता। इस तरह जब मुझे यह लगा कि दोनों कवियोंमेंसे किसी एकने दूसरेका काव्य देखा है तो फिर मैंने प्रारम्भसे दोनोंको मिलाकर देखा। उससे भी मुझे कुछ बातोंमें साम्य प्रतीत हुआ।

१—दोनोंमें क्रमशः पहले, आठवें, सोलहवें और चौबीसवें तीर्थङ्करको प्रारम्भमें नमस्कार किया गया है। धर्मशर्माभ्युदयमें बीचमें धर्मनाथको भी नमस्कार किया है जो ग्रन्थका नायक होनेके कारण उचित ही है।

२—दोनों[१] ही अपने अपने चरितोंको दुरूह बतलाकर अपनी शक्तिसे उसमें प्रवेश करनेका उल्लेख लगभग एक ही रूपमें करते हैं।

३—चन्द्रप्रभके दूसरे सर्गमें राजाके प्रश्नके उत्तरमें मुनिके मुखसे चार्वाक आदि दर्शनोंका निरसन कराया गया है जो दार्शनिकोंके ही योग्य है। धर्मशर्माभ्युदयके भी चतुर्थ सर्गमें जब राजा दीक्षा लेनेके लिये तैयार होता है तो सुमन्त्र नामका मन्त्री चार्वाक दर्शनका पक्ष लेकर आत्माका अभाव बतलाता है राजा उसका समाधान करता है। १०, १२ श्लोकोंमें ही यह चर्चा यहाँ समाप्त होजाती है।

पूरा मिलान करनेपर और भी साम्य मिल सकता है। परन्तु कवित्वकी दृष्टिसे एकका दूसरेपर कोई ऋण प्रतीत नहीं होता। दोनों ही अपने अपने रूपमें स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि किसने किसको देखा है ?

अब तकके अवगाहनसे तो मैं इसी निर्णयपर पहुँचा हूँ कि धर्मशर्माभ्युदयकारने चन्द्रप्रभकाव्य अवश्य देखा है। और उसमें निम्न उपपत्तियाँ हैं—

१ जैन साहित्यके ज्ञाताओंसे यह बात छिपी नहीं है कि चन्द्रप्रभकाव्यके रचयिताका नाम वीरनन्दि है। इन्होंने इस काव्यकी प्रशस्तिमें लिखा है कि मेरे गुरुका नाम अभयनन्दि था, जो देशीयगणके आचार्य

१ देखो, चन्द्रप्रभ० श्लो० ६, १० और धर्मशर्मा० श्लो० १२, १३।

थे। सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रने लिखा[1] है कि जिनके चरणोंके प्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि शिष्य संसार समुद्रसे पार होगये उन अभयनन्दि गुरुको मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीयुत प्रेमीजी[2] ने इन अभयनन्दिके शिष्य वीरनन्दिको ही चन्द्रप्रभकाव्यका कर्ता सिद्ध किया है। तथा इन वीरनन्दिको नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गुरुरूपसे भी स्मरण किया है। इससे सिद्ध है कि चन्द्रप्रभके रचयिता वीरनन्दि जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान थे। अत: वे अपने काव्यमें जैन सिद्धान्तका वर्णन करनेके लिये किसी दूसरे काव्यके वर्णनको देखें, इस बातकी स्वप्नमें भी आशा नहीं की जा सकती।

दूसरी ओर धर्मशर्माभ्युदयके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र ग्रन्थकी प्रशस्तिमें अपनेको कायस्थ बतलाते हैं और लिखते हैं कि हरिचन्द्र अपने भाई लक्ष्मणकी भक्ति और शक्तिसे वैसे ही शास्त्र-समुद्रके पार होगये जैसे राम लक्ष्मणके द्वारा सेतु पार होगये थे। अत: यह बहुत सम्भव है कि कायस्थ कुलजन्मा और अर्हन्त भगवानके चरण कमलोंके भ्रमर महाकवि हरिचन्दने इस भयसे कि जैन सिद्धान्तका वर्णन करनेमें कुछ त्रुटि न होजाये, अपने पूर्ववर्ती महाकवि और सिद्धान्तशास्त्रके पारगामी वीरनन्दिके चन्द्रप्रभकाव्यका अनुसरण जैनधर्मके सिद्धान्तोंके वर्णनमें किया है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि काव्यकी दृष्टिसे हमें चन्द्रप्रभका धर्मशर्माभ्युदयपर कोई ऋण प्रतीत नहीं होता, क्योंकि महाकवि हरिचन्द माघ आदिकी टक्करके कवि हैं। किन्तु एक तो उनका कायस्थकुलमें जन्म लेना और दूसरे अपनेको 'अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीक' बतलाना यह सूचित करता है कि वे जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ नहीं थे—ज्ञाता अवश्य होंगे, किन्तु श्रद्धावश आगमकी विराधनासे भयभीत थे। इसी लिये उन्होंने उक्त विषयमें चन्द्रप्रभका अनुसरण करना उचित समझा।

२ श्रीवादिराज सूरिने अपना पार्श्वनाथचरित श० सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त किया था। उन्होंने उसके प्रारम्भमें अपनेसे पूर्वके कवियोंका स्मरण करते हुए वीरनन्दिके चन्द्रप्रभकाव्यका भी स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि वि० सं० १०८२ तक वीरनन्दिके उक्त काव्यकी ख्याति होचुकी थी। तथा इससे इस बातकी भी पुष्टि होती है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा स्मृत अभयनन्दिके शिष्य वीरनन्दि ही चन्द्रप्रभकाव्यके रचयिता हैं क्योंकि चामुण्डरायने, जिसके लिये आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसारकी रचना की थी, वि० सं० १०३५में अपना चामुण्डरायपुराण समाप्त किया था। अत: वीरनन्दिने विक्रमकी ११वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें या दसवीं शताब्दीके अन्तमें अपने काव्यकी रचना की होगी। इस तरह चन्द्रप्रभकाव्यका समय सुनिश्चित होजाता है। किन्तु धर्मशर्माभ्युदयका रचनाकाल अभी तक भी सुनिश्चित नहीं होसका है।

पं० आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामें अनेक ग्रन्थकारों और ग्रन्थोंका उल्लेख किया है तथा बहुतसे ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं। उनमें जैन और जैनेतर अनेक कवियोंके काव्योंसे भी उद्धरण लिये गये हैं। चन्द्रप्रभकाव्यसे (अ० श्लो०) भी एक उद्धरण लिया है। किन्तु धर्मशर्माभ्युदयका एक भी उद्धरण खोजनेपर भी हमें नहीं मिल सका। इससे हमें लगता है कि धर्मशर्माभ्युदयको पं० आशाधरजीने नहीं देखा, अन्यथा उससे भी वे एक दो उद्धरण अवश्य देते। और इसपरसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्मशर्माभ्युदय चन्द्रप्रभके बादकी रचना है।

३ चन्द्रप्रभकाव्यके अन्तिम सर्गके साथ धर्मशर्माभ्युदयके अन्तिम सर्गका मिलान करते हुए हम लिख आये हैं कि 'निर्जरा' पर्यन्त दोनों काव्योंमें एक धारा प्रवाहित होती है। इसके बाद थोड़ा अन्तर पड़ गया है। धर्मशर्माभ्युदयमें गृहस्थके बारह

---

१ कर्मकाण्ड गा० ४३६।

२ देखो, जैनसा० और इतिहास पृ० २६८।

व्रतोंका वर्णन भी किया गया है। उस वर्णनमें निम्न श्लोक भी हैं—

मुहूर्तद्वितयादूर्ध्वं भूयस्तोयमगालितम्।
शीलयेन्नवनीतं च न देशविरतिः क्वचित्॥१३५॥
दिनद्वयोषितं तक्रं दधि वा पुष्पितौदनम्।
आमगोरससंपृक्तं द्विदलं चात्रान्न शुद्धधीः॥१३६॥
विद्धं विचलितस्वादं धान्यमन्यद्विरूढकम्।
तैलम्भोऽथवाज्यं वा चर्मपात्रापवित्रितम्॥१३७॥
आर्द्रकन्दं कलिङ्गं वा मूलकं कुसुमानि च।
अनन्तकायमज्ञातफलं संधानकान्यपि॥१३८॥

ये श्लोक देखते ही हमें पं० आशाधरके निम्न श्लोकोंका ध्यान हो आया—

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यंगिराशयः॥१२ अ. २।

* * *

रात्रिभक्तं तथा युंज्यान्न पानीयमगालितम्॥

* * *

सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितम्।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा॥११ अ. ३।
चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥१२॥
सर्वं फलमविज्ञातं ... ... ।

* * *

अनन्तकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः।
आमगोरससम्पृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्॥ अ. ५।

पं० आशाधरजीके ग्रन्थोंमें धर्मशर्माभ्युदयका एक भी उद्धरण न होने और धर्मशर्माभ्युदय और सागारधर्मामृतके उक्त पद्योंके मिलानसे हमें यह विश्वास हो चला कि धर्मशर्माभ्युदय अवश्य ही सागारधर्मामृतके बादकी रचना है और धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता कवि हरिचन्दने जो वर्णन चन्द्रप्रभके अन्तिम सर्गमें नहीं पाया उसे सागारधर्मामृतसे लिया है। किन्तु इसमें एक बाधा आती थी।

प्रेमीजीने अपनी 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकके 'महाकवि हरिचन्द्र' नामक निबन्धमें लिखा है कि पाटण (गुजरात) के संघवी पाड़ाके पुस्तकभण्डारमें धर्मशर्माभ्युदयकी जो हस्तलिखित प्रति है वह वि० १२८७ की लिखी हुई है। और इसलिये उससे यह निश्चय हो जाता है कि महाकवि हरिचन्द उक्त संवतसे बादके तो किसी भी तरह हो नहीं सकते।

पं० आशाधरने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६ में बनाकर सम्पूर्ण की है। और जिनयज्ञकल्प वि० सं० १२८५ में। उसकी प्रशस्तिमें जिन दस ग्रन्थोंके नाम दिये हैं, उनमें धर्मामृत भी है, जिसका ही एक भाग सागारधर्मामृत है। अतः यह तो सुनिश्चित है कि सागारधर्मामृतकी रचना वि० सं० १२८५ से पहले हो चुकी थी। किन्तु कितने पहले हो चुकी थी, यह निश्चित नहीं है।

पं० आशाधरकी प्रशस्तिके आधारपर श्रीयुत प्रेमीजीने लिखा[1] है—

'वि० सं० १२९४ में लगभग जब शहाबुद्दीन गौरीने पृथ्वीराजको कैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था और अजमेरपर भी अधिकार कर लिया था, तभी पं० आशाधर माडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे। उस समय वे किशोर होंगे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र वहीं आकर पढ़ा था, यदि उस समय उनकी उम्र १५-१६ वर्षकी रही हो तो उनका जन्म वि० संवत् १२३५ के आस पास हुआ होगा।'

इस हिसाबसे वि० स० १२८५ में पं० आशाधरकी उम्र ५० वर्षकी ठहरती है, उस समय तक वे १० ग्रन्थ निर्माण कर चुके थे, जिनमें भरतेश्वराभ्युदयकाव्य, प्रमेयरत्नाकार और धर्मामृत जैसे उच्चकोटिके ग्रन्थ थे। यदि इन ग्रन्थोंके निर्माणके लिये बीस वर्षका समय रख लिया जाये तो कहना होगा कि पं० आशाधरने वि० सवत् १२६५ से यानी ३० वर्षकी उम्रमें ग्रन्थरचना करना प्रारम्भ किया। अब यदि उन्होंने १२६७ में भी सागारधर्मामृत रचा हो तो धर्मशर्माभ्युदयकी उक्त प्रति उससे २० वर्ष बादकी ठहरती है। बीस वर्षमें कोई नया

१ जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १३३।

ग्रन्थ प्रसिद्ध हो जाये और उसे देखकर कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थमें उसके उद्धरण भी ले ले और उसके उस ग्रन्थकी प्रतियाँ भी हो जायें, ये सब उस समयकी कठिनाइयोंको देखते हुए सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः हमें अपने इस विचारमें—कि धर्मशर्माभ्युदयके रचयिताने सागारधर्मामृतमे उक्त बातें ली हैं, ब्रेक लगाना पड़ा, और तब हमने उन ग्रन्थोंकी ओर दृष्टि डाली जिनके आधारपर सागारधर्मामृतकी रचना हुई है। खोजते खोजते हमें श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें उक्त बातें मिलीं। नीचे हम योगशास्त्रके उन पद्योंको उद्धृत करते हैं—

अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम्॥६॥
आमगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम्।
दध्यहर्द्वितयातीत कुथितान्नं च वर्जयेत्॥७॥

इसके साथमें जरा धर्मशर्माभ्युदयके निम्न श्लोकोंकी तुलना कीजिये—

दिनद्वयोषितं तक्रं दधि वा पुष्पितौदनम्।
आमगोरस सम्पृक्तं द्विदलं चाद्यान्न शुद्धधीः॥१३६॥
अनन्तकायमज्ञानफलं संधानकान्यपि।

योगशास्त्रका श्लोक नं० ७ चरणोंके हेरफेरसे ज्योंका त्यों धर्मशर्माभ्युदयमें वर्तमान है।

इसके सिवा कुछ अन्य भी सादृश्य है। सागारधर्मामृत अ० ५ में भोगोपभोगपरिमाण व्रतका वर्णन करते हुए पं० आशाधरने लिखा है कि भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें खरकर्मका भी व्रत लेना चाहिये और उसके १५ अतिचार छोड़ने चाहिये ऐसा कोई कहते हैं, सो ठीक नहीं है। टीकामें यह मत उन्होंने श्वेताम्बराचार्यका बतलाया है। वे श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ही हैं। उन्होंने योगशास्त्रमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतके कथनमें भी खरकर्मके १५ अतिचार बतलाये हैं।

धर्मशर्माभ्युदयमें भी अनर्थदण्डव्रतका वर्णन करते हुए उन मलोंको अनर्थदण्ड बतलाकर उसके छोड़नेका विधान किया है। उसके भी कुछ पद्यांश योगशास्त्रसे बिल्कुल मिलते हैं। यथा—

'दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णां निन्द्यरसस्य च।' धर्म.
'दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे।' यो. शा.

* * *

'अङ्गारशकटारामभाटकस्फोटजीवनम्'। धर्म.
'अङ्गारवनशकटभाटकस्फोटजीविकाः।' यो. शा.

* * *

'तिलतोयेक्षुयंत्राणां रोपणं दववीपनम्।' धर्म.
'तिलेक्षुसर्षपैरण्डजलयन्त्रादिपीडनम्।' यो. शा.

* * *

'ताम्रचूडश्वमार्जारशारिकाशुकपोषणम्।' धर्म.
'सारिकाशुकमार्जारश्वकुर्कुटकलापिनाम्।' यो. शा.

इन चीजोंको अनर्थदण्डरूपसे किसी भी दिगम्बर श्रावकाचारमें नहीं गिनाया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्मशर्माभ्युदयके रचयिताके सामने चन्द्रप्रभकी तरह योगशास्त्र भी अवश्य मौजूद था। किन्तु उसका उपयोग उन्होंने अपने ढंगसे किया अर्थात् योगशास्त्रमें जिन वस्तुओंका त्याग भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें क्रूरकर्मके मलरूपसे कराया गया था उन चीजोंको धर्मशर्माभ्युदयके रचयिताने अनर्थदण्डरूपसे वर्जनीय बतलाया; क्योंकि दिगम्बर शास्त्रोंमें वैसा विधान नहीं है। इसी तरह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके भेद भी योगशास्त्रके अनुसार न गिनाकर तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार ही बताये हैं।

इस विस्तृत विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि धर्मशर्माभ्युदय न केवल चन्द्रप्रभकाव्यके बादकी, अपितु योगशास्त्रके भी बादकी कृति है।

योगशास्त्रके रचियता आचार्य हेमचन्द्रका स्वर्गवास वि० सं० १२२९ में हुआ था। प्रेमीजीने लिखा है[1] कि योगशास्त्र महाराजा कुमारपालके कहनेसे रचा गया था। और हेमचन्द्राचार्यका कुमारपालसे अधिक निकटका परिचय वि० स० १२०७

१ जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ४४८।

(शेषांश पृष्ठ ३८८ पर)

सम्पादकीय वक्तव्य
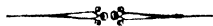
भाररतकी स्वतन्त्रता, उसका झगडा और कर्तव्य

कोई एक हजार वर्षकी गुलामीके बाद भारत १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्र हुआ—उसकी गर्दनपरसे अवांछनीय विदेशी शासनका जूआ उतरा, उसके पैरोंकी बेडियाँ-हाथोंकी हथकडियाँ कटीं और शरीर तथा मनपरके दूसरे बन्धन भी टूटे, जिन सबके कारण वह पराधीन था, स्वेच्छासे कहीं जा आ नहीं सकता था, बोल नहीं सकता था, यथेष्टरूपमें कुछ कर नहीं सकता था और न उसे कहीं सम्मान ही प्राप्त था। उसमें अनेक उपायोंसे फूटके बीज बोए जाते थे और उनके द्वारा अपना उल्लू सीधा किया जाता था। साथ ही उसपर करों आदिका मनमाना बोझा लादा जाता था, तरह तरहके अन्याय-अत्याचार किये जाते थे, अपमानों-तिरस्कारोंकी बौछारें पड़ती थीं और उन सबके विरोधमें जुबान खोलने तकका उसे कोई अधिकार नहीं था। उसके लिये सत्य बोलना ही अपराध था। और इसलिये वह मजबूर था झूठ, चोरी, बेईमानी, घूसखोरी और ब्लेकमार्केट जैसे कुकर्मोंके लिये। इसीसे उसका नैतिक और धार्मिक पतन बड़ी तेजीके साथ होरहा था, सारा वातावरण गंदा एवं दूषित होगया था और कहीं भी सुखपूर्वक सांस लेनेके लिये स्थान नहीं था।

धन्य है भारतकी उन विभूतियोंको जिन्होंने परतन्त्रताके इस दोषको समझा, स्वतन्त्रताका मूल्य आँका और उस मूल्यको चुकानेके लिये अहिंसाके साथ तप, त्याग तथा बलिदानका मार्ग अपनाया। परिणामस्वरूप जिन्हें घोर यातनाएँ सहनी पड़ीं, महीनों-वर्षों जेलोंकी कालकोठरियोंमें सड़ना पड़ा, सारे सुख-चैन और आरामको तिलाञ्जलि देनी पड़ी, सम्पत्तिका अपहरण देखना पड़ा और हृदयको व्यथित करने वाली देशीय तथा आत्मीय जनोंकी करुण-पुकारों एवं कष्ट-कहानियोंको सुनना पड़ा। साथ ही, देशसे निर्वासित होना पड़ा, गोलियाँ खानी पड़ीं और फाँसीके तख्तोंपर भी लटकना पड़ा। परन्तु इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरते हुए जो कभी अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं हुए, वेदनाओं तथा प्रलोभनोंके सामने जिन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया, अहिंसाकी नीतिको नहीं छोड़ा, सतानेवालोंके प्रति भी उनके हृदय-परिवर्तन तथा उनमें मानवताके सञ्चारके लिये सदा शुभ कामनाएँ ही कीं, और जो अपने प्रणके पक्के, वचनके सच्चे तथा संकल्पमें अडोल रहे और जिन्होंने सब कुछ गँवाकर भी अपनी तथा देशकी प्रतिष्ठाको कायम रक्खा। यहाँ उन विभूतियोंके नामोंको गिनानेकी जरूरत नहीं और न उन्हें गिनाया ही जा सकता है; क्योंकि जो सुप्रसिद्ध विभूतियाँ हैं उनके नामोंसे तो सभी परिचित हैं, दूसरी विभूतियोंमें कितनी ही ऐसी विभूतियाँ भी हैं जो गुप्तरूपसे काम करती रही हैं और जिनका तप-त्याग एवं बलिदान किसी भी प्रसिद्ध बड़ी विभूतिसे कम नहीं है। अकसर बड़ी विभूतियोंको तो जेलमें बन्द रहते हुए भी उतने कष्ट सहन नहीं करने पड़े हैं जितने कि किसी-किसी छोटी विभूतिको सहन करने पड़े हैं। अतः यहाँपर किसीका भी नाम न देकर उन सभी छोटी-बड़ी, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध विभूतियोंको सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित है जो भारतकी मुक्तिके लिये बराबर प्रयत्न करती रही हैं और जिनके सत्प्रयत्नोंके फलस्वरूप ही देशको आज वह स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है जिसके कारण भारतवासी अब आजादीके साथ

खुले वातावरणमें सांस ले सकेंगे, यथेच्छ रूपमें चल-फिर सकेंगे, खुली आवाजसे बोल सकेंगे, बिना संकोचके लिख-पढ़ सकेंगे, बिना किसी रोक-टोकके अपनी उन्नति एवं प्रगतिके साधनोंको जुटा सकेंगे और दूसरोंके सामने ऊँचा मुख करके खड़े हो सकेंगे। ऐसी स्वतन्त्रता किसे प्यारी नहीं होगी? कौन उसका अभिनन्दन नहीं करेगा? कौन उसे पाकर प्रसन्न नहीं होगा? और कौन उसके लिये आनन्दोत्सव नहीं मनाएगा?

यही वजह है कि उस दिन १५ अगस्तको स्वतन्त्रता-दिवस मनानेके लिये जगह-जगह—नगर-नगर और ग्रामग्राममें—जन-समूह उत्सवके लिये उमड़ पड़ा था, जनतामें एक अभूतपूर्व उत्साह दिखाई पड़ता था, लम्बे-लम्बे जलूस निकाले गये थे, तरह-तरहके बाजे बज रहे थे, नेताओं और शहीदोंकी जयघोषके नारे लग रहे थे, बालकोंको मिठाइयाँ बँट रही थीं, कहीं कहीं दीन-दुःखित जनोंको अन्न-वस्त्र भी बाँटे जारहे थे, घर-द्वार सरकारी इमारतें और मन्दिर बाजारादिक सब सजाये गये थे, उनपर रोशनी की गई थी—दीपावलि मनाई गई थी—और हजारों कैदी जेलोंसे मुक्त होकर इन उत्सवोंमें भाग ले रहे थे और अपने नेताओंकी इस भारी सफलतापर गर्व कर रहे थे और उन्हें हृदयसे धन्यवाद दे रहे थे।

इन उत्सवोंकी सबसे बड़ी विशेषता भारतके उस तिरङ्गे झण्डेकी थी, जिसका अशोकचक्रके साथ नव-निर्माण हुआ है। घरघर, गलीगली और दुकान-दुकानपर उसे फहराया गया था। कोई भी सरकारी इमारत, सार्वजनिक संस्था और मन्दिर-मस्जिदकी बिल्डिङ्ग ऐसी दिखाई नहीं पड़ती थी, जो इस राष्ट्रीय पताकाको अपने सिरपर अथवा अपनी गोदमें धारण किये हुए न हो। जलूसोंमें बहुतसे लोग अपने-अपने हाथोंमें इस झण्डेको थामे हुए थे, जिन्हें हाथोंमें लेनेके लिये झण्डे नहीं मिल सके वे इस झण्डेकी मूर्तियों अथवा चित्रोंको अपनी-अपनी टोपियों अथवा छातियोंपर धारण किये हुए थे। जिधर देखो उधर ये राष्ट्रीय झण्डे ही झण्डे फहराते हुए नज़र आते थे और उनकी सारे देशमें एक बाढ़ सी आगई थी। जहाँ कहीं भी किसी खास स्थानपर समूहके मध्यमें झण्डेको लहरानेकी रस्म अदा की गई वहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, पारसी और ईसाई आदि सभीने मिलकर बिना किसी भेद-भावके झण्डेका गुणगान किया, उसे सिर झुकाकर प्रणाम किया और सलामी दी। उस वक्तका यह सार्वजनिक और सार्वभौमिक मूर्तिपूजाका दृश्य बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। और हृदयमें रह-रहकर ये विचार तरङ्गित होरहे थे कि जो लोग मूर्तिपूजाके सर्वथा विरोधी हैं—उसमें कृत्रिमता और जड़ता जैसे दोष देकर उसका निषेध किया करते हैं—वे समय-पर इस बातको भूल जाते हैं कि 'हम भी किसी न किसी रूपमें मूर्तिपूजक हैं'; क्योंकि राष्ट्रका झण्डा भी, जिसकी वे उपासना करते हैं, एक प्रकारकी जड़मूर्ति है और राष्ट्रके प्रतिनिधि नेताओं-द्वारा निर्मित होनेसे कृत्रिम भी है। परन्तु देवमूर्ति जिस प्रकार कुछ भावोंकी प्रतीक होती है, जिनकी उसमें प्रतिष्ठा की जाती है, उसी प्रकार यह राष्ट्रपताका भी उन राष्ट्रीय भावनाओंकी प्रतीक है जिनकी कुछ रङ्गों तथा चिह्नों आदिके द्वारा इसमें प्रतिष्ठा की गई है, और इसीसे देवमूर्तिके अपमानकी तरह इस प्रतिष्ठित राष्ट्रमूर्तिके अपमानको भी इसका कोई उपासक सहन नहीं कर सकता। इसी बातको लेकर 'झण्डेको सदा ऊंचा रखने और प्राण देकर भी उसकी प्रतिष्ठाको बराबर क़ायम रखनेकी' सामूहिक तथा व्यक्तिगत प्रतिज्ञाएँ कराई गई थीं। अतः झण्डेकी पूजा-वन्दना करने वालोंको भूलकर भी मूर्तिपूजाका सर्वथा विरोध नहीं करना चाहिये—वैसा करके वे अपना विरोध आप घटित करेंगे। उन्हें दूसरोंकी भावनाओंको भी समझना चाहिये और अनुचित आक्षेपादिके द्वारा किसीके भी मर्मको नहीं दुखाना चाहिये; बल्कि राष्ट्रीय झण्डेकी इस सामूहिक वन्दनासे पदार्थ-पाठ लेकर सबके साथ प्रेमका व्यवहार करना चाहिये और कोई भी काम ऐसा नहीं करना चाहिये जिससे राष्ट्रकी एकता भङ्ग हो अथवा उसके हितको बाधा

पहुँचे। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिये कि संसारमें ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो किसी न किसी रूपमें मूर्तिकी पूजा-उपासना न करता हो—बिना मूर्ति-पूजाके अथवा आदरके साथ मूर्तिको अपनाये बिना किसीका भी काम नहीं चलता। शब्द और अक्षर भी एक प्रकारकी मूर्तियाँ—पौद्गलिक आकृतियाँ—हैं, जिनसे हमारे धर्मग्रन्थ निर्मित हैं और जिनके आगे हम सदा ही सिर झुकाया करते हैं। यह सिर झुकाना, वन्दना करना और आदर-सत्कार-रूप प्रवृत्त होना ही 'पूजा' है; पूजाके और कोई सींग नहीं होते।

झण्डेमें जिस अशोकचक्रकी स्थापना की गई है उसका रहस्य अभी बहुत कुछ गुप्त है। भारतके प्रधान मन्त्री माननीय पं० जवाहरलालजी नेहरूने उस दिन वर्तमान राष्ट्रीय झण्डेका रूप उपस्थित करते और उसे पास कराते हुए जो कुछ कहा है वह बहुत कुछ सामान्य, संक्षिप्त तथा रहस्यके गाम्भीर्यकी सूचना-मात्र है—उससे अशोकचक्रको अपनानेका पूरा रहस्य खुलता नहीं है। सम्भव है सरकारकी ओरसे किसी समय उसपर विशेष प्रकाश डाला जाय। जैनकुलोत्पन्न सम्राट् अशोक किन संस्कारोंमें पले थे, कौनसी परिस्थितयाँ उनके सामने थीं, उन्होंने किन-किन भावोंको लेकर इस चक्रकी रचना की थी, चक्रका कौन कौन अङ्ग किस-किस भावका प्रतिनिधित्व करता है—खासकर उसके आरोंकी २४ संख्या किस भावका द्योतन करती है, जैन तीर्थङ्करोंके 'धर्मचक्र' और बुद्ध भगवानके धर्मचक्रके साथ इसका क्या तथा कितना सम्बन्ध है और भारतके भरतादि चक्रवर्तियों तथा कृष्णादि नारायणोंके 'सुदर्शनचक्र' के साथ इस चक्रका कहाँ तक सादृश्य है अथवा उसके किस किस रूपको किस दृष्टिसे इसमें अपनाया गया है, ये सब बातें प्रकट होनेके योग्य हैं। कितनी ही बातें इनमें ऐसी भी हो सकती हैं जो अभी इतिहासके गर्भमें हैं और जिन्हें आगे चलकर किसी समय इतिहास प्रकट करेगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह चक्र बड़ा ही महत्वपूर्ण है, भारतकी प्राचीन संस्कृतिका द्योतक है और उसकी विजयका चिह्न है। इसीसे विजयके अवसरपर उसे राष्ट्रीय पताकामें धारण किया गया है। वह जहाँ धार्मिक चक्रवर्तियोंकी धर्म-विजयका और लौकिक चक्रवर्तियोंकी लोक-विजयका चिह्न रहा है वहाँ वर्तमान मशीन-युगके भी वह अनुरूप ही है और उसका प्रधान अङ्ग है। नई पुरानी अधिकांश मशीनें चक्रोंसे ही चलती हैं—चक्रके बिना उनकी गति नहीं। यदि चक्रका उपयोग बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो प्रायः सारा यातायात और उत्पादन एकदम रुक जाय। क्योंकि रथ, गाड़ी, ताङ्गा, मोटर, साईकिल, रेल, ऐंजिन, जहाज, हवाई जहाज, रहट, चाक, चर्खा, चर्खी, कर्घा और कल-मिल आदि सभी साधनोंमें प्रायः चक्रका उपयोग होता है, और इस लिये चक्रको श्रमजीवन तथा श्रमोन्नतिका प्रधान प्रतीक भी समझना चाहिये, जिसके बिना सारा संसार बेकार है। अतः जबतक अशोकचक्रको, जिसमें थोड़ासा परिवर्तन भी किया जान पड़ता है, प्रतिष्ठित करने वाले अधिकारियों-द्वारा इसके रहस्यका उद्घाटन नहीं किया जाता तबतक सर्वसाधारण जन इस चक्रमें सूर्यकी, सुदर्शनचक्रकी, जैन तथा बौद्धोंके धर्मचक्रोंमेंसे किसीकी, वर्तमान युगके मशीनी चक्रकी अथवा सभीके समावेशकी कल्पना कर सकते हैं और तदनुकूल उसका दर्शन भी कर सकते हैं। परन्तु मुझे तो अशोककी दृष्टिसे इस चक्रका मध्यवृत्त (बीचका गोला) समता (शान्ति) और ज्योति (ज्ञान) का प्रतीक जान पड़ता है, बाह्यवृत्त संसारकी—मध्यलोककी अथवा जम्बूद्वीपकी परिधिके रूपमें प्रतीत होता है, संसारमें समता और ज्योतिका प्रसार जिन २४ किरणों-द्वारा हुआ तथा होरहा है वे मुख्यतः ऋषभादि महावीर पर्यन्त २४ जैन तीर्थङ्कर मालूम होते हैं—दूसरों द्वारा बादको माने गये २४ अवतारों का भी उनमें समावेश है—और परिधिके पास तथा किरणोंके मध्यमें जो छोटे छोटे स्तूपाकार उभार हैं वे इस लोककी आबादी (नगरादि) के प्रतीक जान पड़ते हैं और उनके शिरोभाग जो मध्यवृत्तकी कुछ

गुलाईको लिये हुए हैं वे इस बातको सूचित करते हैं कि उनपर मध्यवृत्तका असर पड़ा है और वे उसकी समता तथा ज्योतिके प्रभावसे प्रभावित हैं। साथ ही, विजय-चिह्नके रूपमें सुदर्शनचक्रका भी उसमें समावेश हो सकता है और प्रकारान्तरसे सूर्यका भी, जो सबपर समानरूपसे अपना प्रकाश डालता है, स्फूर्ति-उत्साह-प्रदायक है और सबकी उन्नति-प्रगतिमें सहायक है।

झण्डेके तीन रङ्गोंमें एक सफेद रङ्ग भी है जो शुद्धिका प्रतीक है। वह यदि आत्मशुद्धिका प्रतीक होता तो उसे सर्वोपरि स्थान दिया जाता, मध्यमें स्थान दिया जानेसे वह हृदय-शुद्धिका द्योतक जान पड़ता है—हृदयका स्थान भी शरीरके मध्यमें है। इस सफेद रङ्गके मध्यमें ही अशोकचक्र अथवा विजयचक्रकी स्थापना की गई है, जिसका स्पष्ट आशय यह जान पड़ता है कि विजय अथवा अशोक का सम्बन्ध चित्तशुद्धिसे है—चित्तशुद्धिके विना न तो स्थायी विजय मिलती है और न अशोक-दशाकी ही प्राप्ति होती है। अस्तु।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भारत को यह जो कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है वह अभी तक बाह्य शत्रुओंसे ही प्राप्त हुई है—अन्तरङ्ग (भीतरी) शत्रुओंसे नहीं—और वह भी एक समझौते के रूप में। समझौतेके रूपमें इतनी बड़ी स्वतन्त्रताका मिलना इतिहासमें अभूतपूर्व समझा जाता है और उसका प्रधान श्रेय महात्मा गाँधीजीके द्वारा राजनीति में अहिंसाके प्रवेशको प्राप्त है। इस विषयमें महात्मा जीका कहना है कि जनताने अहिंसाको एक नीतिके रूपमें ऊपरी तौरपर अपनाया है, उसका इतना फल है। यदि अहिंसाको हृदयसे पूरी तौरपर अपनाया होता तो स्वराज्य कभीका मिल जाता और वह स्थिर रहने वाला स्वराज्य होता। यदि अहिंसाको छोड़ दिया और हिंसाको अपनाया गया तो जो स्वराज्य आज प्राप्त हुआ है वह कल हाथसे निकल जायगा। अतः इस समय सर्वोपरि प्रश्न प्राप्त हुई स्वतन्त्रता अथवा स्वराज्यकी सुरक्षा तथा स्थिरताका है।

जिस दिनसे यह स्वतन्त्रता मिली है उस दिनसे भीतरी शत्रुओंने और भी जोरके साथ सिर उठाया है—जिधर देखो उधर मार-काट, लूट-खसोट, मन्दिर-मूर्तियोंकी तोड़-फोड़ और आग लगानेकी घटनाएँ हो रही हैं। इन घटनाओंकी पहल पाकिस्तानने की, पाकिस्तान गैर-मुसलिमोंकी संपत्तिको छीनकर अथवा उसे नष्ट-भ्रष्ट करके ही सन्तुष्ट रहना नहीं चाहता बल्कि उनकी युवास्त्रियों तथा लड़कियोंसे बलात्कार करने और उन्हें घरमें डालने तकमें प्रवृत्त होरहा है, शेष सबको बच्चों समेत कतल कर देने अथवा जबरन उनका धर्म-परिवर्तन करनेके लिये उतारू है। और इस तरह गैर मुसलमानोंकी अथवा अपनी बोलीमें काफिरोंकी संख्याको एक दम कम कर देना चाहता है! चुनाँचे अगर कोई किसी तरह भाग-बचकर किसीकी शरण में अथवा शरणार्थी शिविरमें पहुँच जाता है तो वहाँ तक उसका पीछा किया जाता है और हिन्दुस्तानमें आने वाले शरणार्थियोंकी ट्रेनों, बसों तथा हवाई जहजों तक पर हमला किया जाता है और कितने ही ऐसे मुसीबतज़दा बेघरबार एवं निरपराधी शरणार्थियोंको भी मौतके घाट उतार दिया जाता है!! इस घोर अन्याय-अत्याचार और अमानुषिक व्यवहार की खबरोंसे सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है, बदलेकी भावनाएँ दिनपर दिन जोर पकड़ती जा रही है और लोग 'जैसेको तैसा' की नीतिपर अमल करनेके लिए मजबूर होरहे हैं, सारा वातावरण क्षुब्ध और सशंक बना हुआ है, कहीं भी अपनेको कोई सुरक्षित नहीं समझता। कहाँपर किस समय क्या हो जाय, यही आशङ्का लोगोंके हृदयोंमें घर किये हुए है। सारा व्यापार चौपट है और किसीको भी जरा चैन नहीं है। इस तरह यह स्वतन्त्रता एक प्रकारकी अभिशाप बन रही है और साधारण अदूरदर्शी एवं अविवेकी लोगोंको यह कहनेका अवसर मिल रहा है कि इस स्वतन्त्रतासे तो परतन्त्रता ही अच्छी थी। इधर पास खड़े कुछ बाहरी शत्रु भी आगमें ईंधन डालकर उसे भड़का रहे हैं और इस बातकी फिक्रमें हैं कि इन

भारतवासियोंको स्वराज्यके अयोग्य करार देकर फिरसे इनकी गर्दनपर सवारी की जाय—अपने निरङ्कुश शासनका जूआ उसपर रक्खा जाय।

ऐसी हालतमें नेताओंका कार्य बड़ा ही कठिन और जटिल होरहा है। उन्हें सुखकी नींद सोना तो दूर रहा, सुखपूर्वक सांस लेनेका भी अवसर नहीं मिल रहा है। उनकी जो शक्ति रचनात्मक, व्यवस्थात्मक और देशको ऊपर उठानेके कार्योंमें लगती और जिनसे उनकी असाधारण क़ाबलियत (योग्यता) जानी जाती वह आज इस व्यर्थकी गृह-कलहके पीछे उलझी हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पाकिस्तानने हिन्दुस्तान (भारत) के साथ विश्वासघात किया है और नेताओंको सख्त धोखा हुआ है; परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि भारतके पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल जैसे नेता बड़ी तत्परताके साथ काम कर रहे हैं और उन्होंने दिन रात एक करके थोड़े ही समयमें वह काम करके दिखलाया है जो अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ और कार्य-कुशल व्यक्तियोंके लिये ईर्षाकी वस्तु हो सकती है। इस समय उनकी सारी शक्ति हिन्दू, सिख आदि शरणार्थियोंको पाकिस्तानसे निकालने और पूर्वी पञ्जाबसे मुसलमान शरणार्थियोंको सुरक्षितरूपमें पाकिस्तान भिजवानेमें लगी हुई है। वे हिन्दुस्तानमें पाकिस्तानकी पक्षपातपूर्ण और धर्मान्ध साम्प्रदायिक विद्वेषकी नीतिको किसी तरह भी अपनाना नहीं चाहते। उनकी दृष्टिमें सारी प्रजा—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन ईसाई, पारसी आदि कोई भी क्यों न हो—समान है और वह सभीके हितके लिये काम करके दुनियामें एक आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। परन्तु इस गृह-कलहके, जिसके विष-बीज विदेशियोंने चिरकालसे बो रक्खे हैं, दूर हुए बिना कुछ भी नहीं हो सकता। इसके लिये अब अन्तरङ्ग शत्रुओंसे युद्ध करके उनका नाश करना होगा। जबतक अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश नहीं होगा तबतक भारतको सच्ची स्वाधीनताकी प्राप्ति नहीं कही जा सकती और न उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति ही हो सकती है। परन्तु इन शत्रुओंका नाश उनके मारनेसे नहीं होगा बल्कि उनकी शत्रुताको मारनेसे होगा, जिसके लिये देशमें परस्पर प्रेम, सद्भाव और विश्वासकी भावनाओंके प्रचारकी और उसके द्वारा विद्वेषके उस विषको निकाल देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है जो अधिकांश व्यक्तियोंकी रगोंमें समाया हुआ है। इसीके लिये नेताओंको जनताका सहयोग वाञ्छनीय है। वे चाहते हैं कि जनता प्रतिहिंसा अथवा बदलेकी भावनासे प्रेरित होकर कोई काम न करे और दण्डादिके कानूनको अपने हाथमें न लेवे। उसे आततायियोंसे अपनी जान और माताकी रक्षाका खुला अधिकार प्राप्त है और उस अधिकारको अमल में लाते हुए, जरूरत पड़नेपर, वह आततायियोंकी जान भी ले सकती है, परन्तु किसी आततायीके अन्याय-अत्याचारका बदला उसकी जातिके निरपराध व्यक्तियों—बालबच्चों तथा स्त्रियों आदिको मारकर चुकाना उन्हें किसी तरह भी सहन नहीं होसकता। बदलेकी ऐसी कार्रवाइयोंसे शत्रुताकी आग उत्तरोत्तर बढ़ती है, नेताओंका कार्य कठिनसे कठिनतम होजाता है और कभी शान्ति तथा सुव्यवस्था नहीं हो पाती। बदलेकी ऐसी कार्रवाई करनेवाले एक प्रकारसे अपने ही दूसरे भाइयोंकी हत्या और मुसीबतके कारण बनते हैं।

अतः भारतकी स्वतन्त्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके भविष्यको समुज्वल बनानेके लिये इस समय जनता तथा भारतहितैषियोंका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्योंमें पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करें जिससे नेताओंका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बड़ा प्रयत्न देशमें धर्मान्धता अथवा मजहबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश होकर देशमें शान्ति एवं सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतन्त्रता स्थिर रह सकेगी? देशमें ऐसी सद्भावनाओंको उत्पन्न करने और फैलाने का काम, मेरी रायमें, उन सच्चे साधुओंको अपने

हाथमें लेना चाहिये जो सभी सम्प्रदायोंमें थोड़े बहुत रूपमें पाये जाते हैं। उनके ऊपर देशका बहुत बड़ा ऋण है, जिसे उनको इस प्रकारकी सेवाओं-द्वारा अब चुकाना चाहिये। इस समय उनकी सेवाओंकी खास जरूरत है, जिससे धर्मान्ध-गुरुओं और बहके हुए स्वार्थपरायण मौलवी-मुल्लाओंके गलत प्रचारसे व्याप्त हुए विषको देशकी रगोंसे निकाला जासके। उन्हें वर्तमानमें आत्म-साधनाको भी गौण करके लोकसेवाके मैदानमें उतर आना चाहिये, महात्मा गांधीकी तरह सच्चे दिलसे निर्भय होकर अपेक्षित सेवाकार्योंमें प्रवृत्त होजाना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि देशका वातावरण शान्त हुए बिना वे आत्म-साधना तो क्या, कोई भी धर्मसाधनका कार्य नहीं कर सकेंगे। अपनी सेवाओं-द्वारा वे लोकके धर्मसाधनमें तथा आजकलकी हवामें सच्चे धर्मसे च्युत हुए प्राणियोंको सन्मामार्ग दिखानेमें बहुत कुछ सहायक हो सकेंगे। और इस लिये यह उनका इस समय सर्वोपरि कर्तव्य है। यदि ऐसे कर्तव्यपरायण सत्साधुओंकी टोलियाँकी टोलियाँ देशमें घूमने लगें तो देशका दूषित वातावरण शीघ्र ही शुद्ध तथा स्वच्छ हो सकता है। आशा है सत्साधुओंका ध्यान ज़रूर इस ओर जायगा और वे अपने वर्तमान कर्तव्यको समझकर नेताओंको अपना वास्तविक सहयोग प्रदान करनेमें कोई बात उठा नहीं रक्खेंगे।

वीरसेवा मन्दिर, सरसावा

(पृष्ठ ३८२ का शेषांश)

के बाद हुआ था। अतएव योगशास्त्र विक्रम संवत् १२०७ से लेकर १२२९ तकके बीचके किसी समयमें रचा गया है।

यदि योगशास्त्रको वि० सं० १२१७की रचना मान लिया जाये तो उसमें और धर्मशर्माभ्युदयकी उक्त प्रतिके समयमें ७० वर्षका अन्तर ठहरता है। इतने समयमें योगशास्त्रकी ख्यातिका होना, महाकवि हरिचन्द्रके सामने उसका पहुँचना और धर्मशर्माभ्युदयकी प्रतिका होना आदि कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। हमारे मतसे इसी समयमें महाकवि हरिचन्द हुए हैं। उनका जन्म वि० सं० १२०० के लगभग हुआ होगा। जब आशाधर मारवाड़से भागकर मालवामें आये उसी समयके लगभग उन्होंने अपना धर्मशर्माभ्युदय रचा होगा। यही वजह है जो आशाधरके ग्रन्थोंमें उसका एक भी उद्धरण नहीं मिलता, किन्तु आशाधरके धर्मामृतका पान करनेवाले कवि अर्हद्दासके पुरुदेवचम्पूपर धर्मशर्माभ्युदयकी गहरी छाप पद-पदपर मिलती है।

पाटणके भण्डारमें धर्मशर्माभ्युदयकी १२८७ की प्रतिका पाया जाना भी स्थितिपर बहुत प्रकाश डालता है। यदि उस प्रतिको देखा जाये तो सम्भव है उससे और भी प्रकाश पड़ सके। सम्भव है वही प्रति आद्य प्रति हो और महाकवि गुजरातके आस-पासके रहने वाले हों। पाटण उस समय गुजरातकी राजधानी थी और राजा कुमारपाल उसमें राज्य करता था। आचार्य हेमचन्द्र भी वहीं रहते थे। योगशास्त्र भी सम्भवतः वहीं रचा गया था—जिसे महाकवि हरिचन्दने देखा था।

संशोधनकी सूचना— गत किरणमें युगवीरजी (मुख्तारश्री जुगलकिशोरजी) की एक संस्कृत कविता 'जैनादर्श (जैनगुण-दर्पण)' नामसे मुद्रित हुई है, उसमें निम्न पद्य छूट गया है अतः पाठक उसे ८वें पद्यके बाद अपनी २ प्रतिमें बढ़ा लेवें और तदनुसार अगले पद्योंके क्रमाङ्क भी क्रमशः १०, ११ बना लेवें। साथ ही, तीसरे पद्यमें 'सुशीलो' के स्थानपर 'कृतज्ञो', शान्ति' के स्थानपर 'शील' और सातवें पद्यमें 'जैनोनीति' की जगह 'जैनः शान्ति' बना लेनेकी भी कृपा करें।

परीषहोपसर्गाणां विजेता धीर-सत्तमः। अप्रमादी सदा जैनः सत्संकल्पे दृढो महान् ॥९॥

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

महाकवि सिंह और प्रद्युम्नचरित

[ले०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

महाकवि सिंह विक्रमकी १२वीं १३वीं शताब्दीके विद्वान् थे। यह प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और देशी भाषाके पण्डित थे। इनकी एक मात्र कृति रूपमें प्रद्युम्नचरित (पज्जुण्णचरिउ) नामका एक खण्डकाव्य उपलब्ध है, जिसकी संधियोंके पूर्वमें पाये जानेवाले संस्कृत पद्योंसे, जिनमें कविने अपना परिचय भी अङ्कित किया है, उनके संस्कृत विद्वान होनेकी स्वतः सूचना मिल जाती है। उक्त ग्रन्थमें प्राकृत और देशी भाषाके शब्दोंका भी प्रयोग किया गया है और अपभ्रंश भाषाका तो वह ग्रन्थ है ही, जिसका परिचय आगे दिया जायगा। कविने स्वयं अपनेको चार भाषाओंके विद्वान् होनेकी सूचना तेरहवीं संधिके शुरूमें पाये जानेवाले निम्न संस्कृत पद्यमें की है :—

जातः श्रीजिनधर्मकर्मनिरतः शास्त्रार्थसर्वप्रियो,
भाषाभिः प्रवणश्चतुर्भिरभवच्छ्रीसिंहनामा कविः।
पुत्रो रल्हण-पण्डितस्य मतिमान् श्रीगूर्जरागोमिह,
दृष्टि-ज्ञान-चरित्रभूषिततनुर्वंशे विशाले ऽवनौ ॥

इस पद्यमें बतलाया है कि कवि सिंह जैनधर्म और कर्ममें अनुरक्त थे और शास्त्रार्थमें सर्वप्रिय थे। चार भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी) में निपुण थे। यह रल्हण पण्डितके, जो संस्कृत-प्राकृतरूप भाषाद्वयमें निष्णात थे, बुद्धिमान पुत्र थे। और लोकमें विशाल गुर्जर कुलमें उत्पन्न हुए थे। इनका शरीर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चरित्रसे विभूषित था।

यद्यपि ग्रन्थकर्ताने अपने सम्प्रदायका कोई उल्लेख नहीं किया। किन्तु ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण और उसकी गुरुपरम्परापर विचार करनेसे यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि कविका सम्प्रदाय दिगम्बर था। ग्रन्थकी उत्थानिका और कथनशैली भी उक्त सम्प्रदायके कथा-काव्यों जैसी ही है :—

विउलगिरिहि जिह हयभवकंदहो,
समवसरणु, सिरिवीरजिणिंदहो।
णरवरखयरामरसमवाए, गणहरु-
पुच्छिउ सेणियराए।
मयरद्धयहो विणिज्जियमारहो,
कहहि चरिउ पज्जुण्णकुमारहो।
तं णिसुणे वि भणइ गणेसरु,
णिसुणइ सेणिउ मगहणरेसरु ॥

कविने अन्य किसी सुकविकी सहायताके बिना ही इस काव्यकी रचना की है और अपनेको भव-भेदनमें समर्थ, शमी तथा कवित्वगर्व सहित भी प्रकट किया है। कविता करनेमें जिसकी कोई समानता न कर सके, ऐसा असाधारण काव्य-प्रतिभा-वाला विद्वान् व्यक्त किया है। साथ ही यह व्यक्त किया है कि वह वस्तुके सार-असार विचार करनेमें सुन्दर बुद्धिवाला, समीचीन विद्वानोंमें अग्रणी, सर्व विद्वानोंकी विद्वत्ताका सम्पादक, सत्कवि था; उसीने शांतरस और आनन्दप्रद इस काव्य-ग्रन्थका निर्माण किया है[1]। इस समुल्लेखपरसे कविकी प्रतिभाका सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता है।

---

१ साहाय्यं समवाप्य नात्र सुकवेः प्रद्युम्नकाव्यस्य यः।
कर्त्ताऽभूद् भवभेदनैकचतुरः श्रीसिंहनामा शमी ॥
साम्यं तस्य कवित्वगर्व्वसहितः को नाम जातोऽवनौ।
श्रीमज्जैनमतप्रणीतसुपथे सार्थः प्रवृत्तेः क्षमः ॥
—चौदहवीं संधिके अन्तमें।

ता मलधारिदेउ मुणिपुंगमु,
णं पच्चक्ख धम्मु उवसमु दमु ।
माहवचंद आसि सुपसिद्धउ,
जो खम-दम-जम-णियम-समिद्धउ ।

'मलधारी' यह एक उपाधि थी जो उस समयके किसी किसी साधु सम्प्रदायमें प्रचलित थी । इस उपाधिके धारक अनेक विद्वान आचार्य होगये हैं। वस्तुतः यह उपाधि उन मुनिपुङ्गवोंको प्राप्त होती थी जो दुर्धरपरीषहों, विविध उपसर्गों और शीत उष्ण तथा वर्षाकी बाधा सहते हुए भी कष्टका अनुभव नहीं करते थे, और पसीनेसे तर शरीर होनेपर धूलिकणोंके संसर्गसे 'मलिन' शरीरको साफ न करने तथा पानीसे न धोने या न नहाने जैसी घोर बाधाको भी हँसते हुए सह लेते थे। ऐसे ऋषि-पुङ्गव ही उक्त उपाधिसे अलंकृत किये जाते थे। कविवर देवसेनने भी अपने गुरु विमलसेनको मलधारी सूचित किया है[१]। इन्हीं गुरु अमृतचन्द्रके आदेशसे कवि सिंहने प्रद्युम्नचरितकी रचना की है।

ग्रन्थ और उसका रचना समय

प्रस्तुत ग्रंथमें श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकुमारका जीवन परिचय १५ संधियोंमें दिया हुआ है, जिसकी श्लोक संख्या साढ़े तीन हज़ारसे कम नहीं है। सारा ग्रंथ अपभ्रंश भाषामें रचा गया है। ग्रथका चरितभाग बड़ा ही सुन्दर और शिक्षाप्रद है। कविने उसे प्रत्येक संधिकी पुष्पिकामें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टयसे भूषित बतलाया है। अपभ्रंश भाषा स्वभावतः माधुर्य एवं पदलालित्यको लिये हुए है, कविने उसे विविध छन्दोंमें गूँथकर और भी सरस तथा मनोहर बना दिया है।

यद्यपि ग्रंथमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है, फिर भी अन्य प्रमाणोंके आधारपर ग्रन्थका रचना समय बतलानेका प्रयत्न किया जाता है। ग्रंथप्रशस्ति-में 'बम्हणवाड' नगरका वर्णन करते हुए लिखा है कि उस समय वहाँ रणधोरी या रणधीरका पुत्र बल्लाल था जो अर्णोराजका क्षय करनेके लिये कालस्वरूप था और जिसका मांडलिक भृत्य अथवा सामन्त गुहिलवंशीय क्षत्री भुल्लण उस समय बम्हणवाडका शासक था[१]। परन्तु इस उल्लेखपरसे उक्त राजाओंका राज्यकाल ज्ञात नहीं होता। अतः उसे अन्य साधनोंसे जाननेका प्रयत्न किया जाता है।

मन्त्री तेजपालके आबूके लूणवसति गत सं० १२८७ के लेखमें मालवाके राजा बल्लालको यशोधवलके द्वारा मारे जानेका उल्लेख है[२]। यह यशोधवल विक्रमसिंहका भतीजा था और उसके कैद हो जानेके बाद गद्दीपर बैठा था। यह कुमार-पालका मांडलिक सामन्त अथवा भृत्य था, मेरे इस कथनकी पुष्टि अचलेश्वर मन्दिरके शिलालेख गत निम्न पद्यसे भी होती है :—

"तस्मान्मही·······विदितान्यकलत्रपात्र,
स्पर्शो यशोधवल इत्यवलम्बते स्म ।
यो गुर्जरक्षितिपतिप्रतिपक्षमाजौ,
बल्लालमालभत मालवमेदिनीन्द्रम् ॥"

यशोधवलका वि० सं० १२०२ (1145 A.D.) का एक शिलालेख अजरी गांवसे मिला है जिसमें

---

१ देखो, सुलोचनाचरित और देवसेन नामका लेख, अनेकान्त वर्ष ७ किरण

१ सरि-सर-णंदण-वण-संछण्णउ,
मठ-विहार-जिण-भवणरवण्णउ ।
बम्हणवाडउ णामें पट्टणु,
अरिणरणाह-सेणदलवट्टणु ।
जो भुंजइ अरिणखयकालहो,
रणधोरियहो सुअहो बल्लालहो ।
जासु भिच्चु दुज्जण-मणसल्लणु,
खत्तिउ गुहिल उत्तु जहिं भुल्लणु ॥
—प्रद्युम्नचरित प्रशस्ति ।

२ यश्चौलुक्यकुमारपालनृपतिः प्रत्यर्थितामागतं ।
मत्वा सत्वरमेव मालवपति बल्लालमालब्धवान् ॥

'प्रमारवंशोद्भवमहामण्डलेश्वरश्रीयशोधवलराज्ये' वाक्य द्वारा यशोधवलको परमारवंशका मण्डलेश्वर सूचित किया है। यशोधवल रामदेवका पुत्र था, इसकी रानीका नाम सौभाग्यदेवी था। इसके दो पुत्र थे, जिनमें एक का नाम धारावर्ष और दूसरे का नाम प्रह्लाददेव था। इनमें यशोधवलके बाद राज्यका उत्तराधिकारी धारावर्ष था। यह बहुत ही वीर और प्रतापी था, इसकी प्रशंसा वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्तिके ३६वें पद्यमें पाई जाती है[1]। धारावर्षका सं० १२२० का एक लेख 'कायद्रा' गांवके बाहर, काशी, विश्वेश्वरके मन्दिरसे प्राप्त हुआ है[2]। यद्यपि इसकी मृत्युका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला, फिर भी उसकी मृत्यु उक्त सं० १२२० के समय तक या उसके अन्तर्गत जानना चाहिये।

जब कुमारपाल गुजरातकी गद्दी पर बैठा तब मालवाका राजा बल्लाल, चन्द्रावतीका परमार विक्रमसिंह और सपादलक्ष सांभरका चौहान अर्णोराज ये तीनों राजा परस्परमें मिल गए, और इन्होंने कुमारपालके विरुद्ध जबरदस्त प्रतिक्रिया की; परन्तु उनका यह सब प्रयत्न निष्फल हुआ। कुमारपालने विक्रमसिंहका राज्य उसके भतीजे यशोधवलको दे दिया, जिसने बल्लालको मारा था, और इस तरह मालवाको गुजरातमें मिलानेका प्रयत्न किया गया[3]।

बल्लालकी मृत्युका उल्लेख अनेक प्रशस्तियोंमें मिलता है। बड़नगरसे प्राप्त कुमारपाल प्रशस्तिके १५ श्लोकोंमें बल्लाल और कुमारपालकी विजयका उल्लेख किया गया है और लिखा है कि कुमारपालने बल्लालका मस्तक महलके द्वारपर लटका दिया था।

१ शत्रुश्रेणीगलविदलनोन्निद्रनिस्त्रिंशधारो,
धारावर्षः समजनि सुतस्तस्य विश्वप्रशस्यः।
क्रोधाक्रान्तप्रधनवसुधा निश्चले यत्र जाता,
श्च्योतन्नेत्रोत्पलजलकणः कोंकणाधीशपत्न्यः ॥३६॥

२ देखो, भारतके प्राचीन राजवंश भा० १ पृ० ७६-७७।

३ Epigraphica Indica V. L VIII P. 200.

चूंकि कुमारपालका राज्यकाल वि० सं० ११९९ से वि० सं० १२२९ तक पाया जाता है और इस बड़नगर प्रशस्तिका काल सन् ११५१ (वि० सं० १२०८) है। अतः बल्लालकी मृत्यु ११५१ A. D. (वि० सं० १२०८) से पूर्व हुई है[1]।

ऊपरके इस कथनसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि कुमारपाल, यशोधवल, बल्लाल और अर्णोराज ये सब राजा समकालीन हैं। अतः ग्रन्थ-प्रशस्तिगत कथनको दृष्टिमें रखते हुए यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत प्रद्युम्नचरितकी रचना वि० सं० १२०८ से पूर्व हो चुकी थी। अतः इस ग्रंथका रचनाकाल विक्रमकी १३वीं शताब्दीका प्रारम्भिक भाग जानना चाहिये।

प्रद्युम्नचरितकी अधिकांश प्रतियोंमें अन्तिम प्रशस्ति ही दी हुई नहीं है, और जिन प्रतियोंमें प्राप्त थी उनमें वह त्रुटित एवं खण्डितरूपमें ही प्राप्त हुई थी; किन्तु यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि भ० महेन्द्रकीर्ति आमेरके शास्त्र भण्डारकी कई प्रतियोंमें यह प्रशस्ति पूर्णरूपसे उपलब्ध है। उक्त भण्डारमें इस ग्रन्थकी छह प्रतियाँ पाई जाती हैं। जो विविध समयोंमें लिखी गई हैं उनमेंसे सं० १५७७ की प्रतिपरसे उक्त ग्रन्थकी अन्त प्रशस्ति पाठकोंकी जानकारीके लिये ज्योंकी त्यों रूपमें नीचे दी जाती है:—

कृतं कलाप वृत्तस्य शास्त्रं शास्त्रं सुधीमता।
सिंहेन सिंहभूतेन पापतामस भंजनं ॥१॥

काम्यस्य काम्यं कमनीयवृत्तं-
वृत्तं कृतं कीर्तिमतां कवीनां।
भव्येन सिंहेन कवित्व भाजां,
लाभाय तस्यर्थं सदैवकीर्तिः ॥२॥

सव्वण्हु सव्वदंसी भव-वण-दहणो
सव्वमारम्भ मारो,
सव्वाणं भव्वयाणं समयमणगहो
सव्वलोयाण सामी।

१ देखो, सन् ११५१ की लिखित बड़नगर प्रशस्ति।

सव्वेसिं वत्थरूवं पयडण कुसलो
सव्वणाणावलोई,
सव्वेसिं भूययाणं करुण विरयणो
सव्वपावं जओ सो ॥३॥
जं देवं देव देवं अइसय सहिदं
अंगदाराणिहंतं,
सुद्धं सिद्धि हरत्थं कलि-मल-रहितं
भव्व-भावाणुमुक्कं ।
णाणायारं अणंतं वसुगुणगणिणं
अंसहीणं सुणिच्चं,
अम्हाणं तं अणिंदं पविमलसहिदं
देउ संसारपारं ॥४॥
जादं मोहाणुबंधं सारुहणिलए
किं तवत्थ अणत्थं,
सं तं संदेहयारं विबुह विरमणं
खिज्जदेदीवमाणं ।
वाएसीए पवित्तं विजयभुवणे
कव्ववित्तं विचित्तं,
दिज्जं तं जं अणंतं विरयदि सुइरं
णाणलाहं विदिंतं ॥५॥

घत्ता—जं इह हीणाउ काइमि साहिउ
अमुणिय सत्थ-परंपरई ।
तं खमहु भडारी तिहुवणसारी
वाएसरि सत्थरई ॥१॥

दुवई—जा णिरु सत्तभंगि-जिणवयण-
विणिग्गय दुह-विणासणी,
होउ पसण्ण मज्झ महु ?
सुहयरि इयरण-कुमइ-णासणी ॥छ॥
पर-वाइय-वाया-हरुअ-छम्मु,
सुय केवलिजो पच्चक्खु धम्मु ।
सो जयउ महामुणि अमियचंदु,
जो भव्वणिवहकइरवहं चंदु ।
मलधारिदेव-पय-पोम-भसलु,
जंगम सरसइ सव्वत्थ कुसलु ।
तहपय-रउणिरुउण्णयअमइयमाणु,
गुज्जर-कुल-णह-उज्जोय भाणु ।
जो उहय पवरवाणी विलासु,
एयं विह विउसहो रल्हणासु ।
तहो पणइणि जिणमइ सुहय-सील,
सम्मत्त-वंत णं धम्मलील ।
कइसीहु ताहि गब्भंतरंभि,
संभविउ कमलु जह सुर-सरंमि ।
जणवच्छलु सज्जण-जणियहरिसु,
सुइवंतु तिविह वइ-राय सरिसु ।
उप्पण्णु सहोयरु तासुअ वर,
नामेण सुहंकरु गुणहं पवरु ।
साहारण लघुवउ तासु जाउ,
धम्माणुरत्तु अइदिव्वकाउ ।
तहु अणुवमह एउवि सु-सारु,
संविणोउ वि णं कुसुमसरधारु ?
जा वच्छहिं चत्तारि वि सुभाय,
परउवयारिय जण जणियराय ।
एक्कहिं दिणि गुरुणाभणइ वत्थ,
णिसुणहिं छप्पय कइराय दच्छ ।
भोबाल-सरासइ गुणसमीह,
किं अविणोयइं दिण गमहिं सीह ।
चउविह पुरिसत्थ-रसोह भरिउ,
णिव्वाहहि एउ पज्जुण्णचरिउ ।
कइ सिद्धहो विरयंतहो विणासु,
संपत्तउ कम्मवसेण तासु ।
महु वयणु करहिं किं तुव गुणेण,
संतेण हूय छाया समेण ।

घत्ता—किं तेण पहूवइं चउधणइं
जं विहलिय हं णउ वयर (ण?) इ ।
कव्वेण तेण किं कइयणहो
जं ण छइल्लह मणु हरइ ।

गुरुणापुणोपउत्तं पवियप्प धरमपुत्त मा चित्ते ।
गुणिणो गुणं लहेविणु जइ लोओ दूसणं थवइ ॥१॥
को वारइ सविसेसं खुद्दो खुद्दत्तणं पि विरयंतो ।
भुवणे छुडु मब्भत्थो अमुवतो णिय सहावं वा ॥२॥
संभव इव हुअ विग्घ मणुयाणं सेय मग्गोलगाणं ।
मा होहि कज्ज सिढिलो विरयहि कव्वं तुरंतो वि ॥३॥

सुह असुहं ण वियप्पहि चित्तं धीरे वि ते जए वण्णा ।
परकज्जं परकव्वं विहडंतं जेहिं उद्धरियं ॥४॥
अमियमयंदगुरूणं आएसं लहे वि भत्तिइय कव्वं ।
णियमइणा णिम्मवियं णंदउ ससीदिणमणी जाम ॥५॥
को लेक्खइ सत्थम्में दुज्जीहं दुज्जणं पि असुहयरं ।
मुवणं सुद्ध सहावं करमउलि रइवि पच्छामि ॥६॥
जं किंपि हीण अहियं विउसा सोहंतु तं पि इय कव्वे ।
धिट्ठत्तणेण रइयं खमंतु सव्व पि मह गुरुणो ॥७॥

इय पज्जुण्णचरिय सम्मत्त ।

तेरह काठिया

[लेखक—बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.]

अनेकान्तकी गत किरण ६-७ पृ० २८७ पर विद्वद्वर्य सम्पादक जीने, उन्हें प्राप्त एक प्राचीन गुटकेमें स्फुटरूपसे उल्लेखित तीन पद्योंके आधारसे, तत्कालीन भट्टारकोंकी तेरह पन्थ शुद्धाम्नायके प्रति विद्वेष पूर्ण एवं घृणित मनोवृत्तिका अच्छा दिग्दर्शन कराया है। उक्त पद्योंमेंसे पद्य नं० २ में 'काठया' शब्द आया है। वह पद्य इस प्रकार है—

"त्रिदश १३ पन्थरतौ निशिवासराः
गुरुविवेक न जानति निष्ठुराः
जपतपे कुरुते बहु निष्फलां
किमपि येव जना सम काठया"॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि—'ये (तेरह पन्थी लोग) रातदिन तेरह पन्थमें रत रहते हैं, ये निष्ठुर गुरु विवेक—गुरुका आदर मानादि करना नहीं जानते, इनके किये जप तप सब निष्फल हैं, और ये लोग मानो काठिया ही हैं।' श्रद्धेय मुख्तार साहिबने 'काठिया' का अर्थ धर्मकी हानि करने वाला किया है सो ठीक ही है। किन्तु इस शब्दका और इसके इस स्थानमें पद्यके रचयिता द्वारा प्रयुक्त होनेका वास्तविक रहस्य अभी हालमें ही बनारसी-विलासका अवलोकन करते हुए स्पष्ट हुआ। उक्त ग्रंथ[1] के पृ० १६१ पर 'अथ तेरह काठिया लिख्यते' शीर्षकसे १७ पद्योंकी एक कविता दी हुई है, जिसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है:—

जे बटपारै वाटमें, करहिं उपद्रव जोर ।
तिन्हें देश गुजरातमें, कहहिं काठिया चोर ॥१॥
त्यों यह तेरह काठिया, करहिं धर्मकी हानि ।
तातैं कुछ इनकी कथा, कहहुँ विशेष बखानि ॥२॥
जूआ[1] आलस[2] शोक[3] भय[4], कुकथा[5] कौतुक[6] कोह[7] ।
कृपणबुद्धि[8] अज्ञानता[9], भ्रम[10] निद्रा[11] मद[12] मोह[13] ॥३॥

इससे आगे ४ से १६ तक, १३ चौपाइयोंमें इन तेरहों काठियोंका स्वरूप वर्णन किया गया है और अन्तमें १७वें पद्य (दोहे)—

'ये ही तेरह करम ठग, लेहिं रतन त्रय छीन ।
यातैं संसारी दशा, कहिये तेरह तीन' ॥

में कविताका उपसंहार किया गया है। इसके उपरांत 'इति त्रयोदश काठिया' लिखकर कथनकी समाप्ति की है। इस कवितासे स्पष्ट विदित होता है कि 'काठिया' शब्द गुजराती भाषाका है जिसके अर्थ बटमार, लुटेरे अथवा चोरके हैं और जिसका उपयोग इस कविताके रचयिता विद्वद्वर्य पण्डित बनारसीदासजीने अलङ्कारिक रूपमें किया है अर्थात् जिस प्रकार काठिया लोग राहचलतोंके धन सर्वस्व का अपहरण कर लेते हैं उसी प्रकार ये जुआ,

१ बनारसी विलास–जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई ।

आलस्य, शोक, भय, कुकथा, कौतुक (मज़ाक), क्रोध, कंजूसी, अज्ञान, भ्रम, निद्रा (ग़फ़लत), मद (ग़रूर) और मोह रूप १३ ठग मनुष्यके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्मको लूट लेते हैं, इन दोषोंकी उपस्थितिमें उसका धर्मरूपी धन नहीं टिक पाता, वे उसकी हानि ही करते हैं। ज्ञात नहीं कि इन दोषोंके लिये काठिया शब्दका प्रयोग करनेमें कोई और प्राचीन आधार था या नहीं, और इस प्रकारके 'त्रयोदश काठिया' या 'तेरह काठिया' शीर्षकसे अन्य प्राचीन-तर पाठ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती आदि किसी भाषामें इसी विषयके प्रतिपादक उपलब्ध हैं या नहीं? यदि ऐसा नहीं है, और यह कविवर बनारसीदासजीकी ही मौलिक सूझ है तो उनकी प्रतिभाकी बलिहारी है और उनकी कल्पना अद्भुत होनेके साथ ही साथ प्रशंसनीय है।

कविवर पं० बनारसीदासजीका जन्म विक्रम सं० १६४३ (सन् १५८६ ई०) में जौनपुरमें हुआ था। इनके जीवनका अधिकांश आगरामें व्यतीत हुआ था, इन्होंने अपनी ५५ वर्ष तककी आयुका हिन्दी पद्यबद्ध आत्मचरित 'अर्द्धकथानक'[1] के नामसे लिखा है। अतः हिन्दीके इस अनुपम और उतने प्राचीन एकमात्र आत्मचरित्रमें कविवरका सन् १६४१ ई० (वि० सं० १६९८) तकका जीवन वृत्तान्त दिया हुआ है, उसके पश्चात् वह कितने दिन जीवित रहे और क्या क्या कार्य किये कुछ ज्ञात नहीं। उनकी मृत्यु संभवतया सन् १६४४ ई० में हो गई थी।

पण्डितजीके पूर्वज श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुयायी थे, ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु इनके होश संभालनेके बाद तक इनके कुटुम्बमें धर्म शैथिल्य, मिथ्यात्व और वहमोंका काफ़ी प्रभाव था। उस युगमें जैन समाजकी भी कुछ विचित्र स्थिति थी। श्वेताम्बर आम्नायमें यतियों और श्रीपूज्योंका तथा दिगम्बर सम्प्रदायमें भट्टारकोंका प्रभुत्व था। अपने स्वार्थके लिये ये भट्टारक और यति जन साधारणको अन्धकारमें रखते थे। प्राकृत संस्कृत आदिका ज्ञान न होने और शिक्षा की व्यापक कमीके कारण सद्धर्म के सच्चे प्ररूपक प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंके पठन-पाठन का अभाव-सा था, और ये भट्टारक यति आदि अपने उपदेशों, व्याख्यानों और धर्माज्ञाओंमें धर्मका जैसा कुछ स्वरूप वर्णन करते, जो कुछ विधि-विधान बनाते और जनताको जैसा कुछ आदेश देते वही उसके लिये 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' होता था।

पण्डितवर्य बनारसीदासजी एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि तो थे ही, वे एक सुशिक्षित बहुभाषाविद् गम्भीर विद्वान और उत्कट समाज-सुधारक भी थे। सौभाग्यसे इन्हें पं० रूपचन्दजी, अर्थमल्लजी, भगवतीदासजी, चतुर्भुजजी, कंवरपाल-जी, धर्मदासजी, आदि विद्वानों और शास्त्रज्ञोंका सम्पर्क भी मिला। समाजके अज्ञान, धर्मकी दुर्गति और भट्टारकों व यतियोंके अन्याय अत्याचारसे इनका चित्त बेचैन होगया। इन्होंने समयसार, प्रवचनसार, गोमट्टसारादि आर्ष-ग्रंथोंका अध्ययन मनन किया, धर्मके वास्तविक स्वरूपको हृदयङ्गम किया और उसीका ज़ोरोंके साथ प्रचार किया। लोकभाषा हिन्दीमें उन प्राचीन ग्रंथोंका अनुवाद करनेका आन्दोलन उठाया, स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दके प्रसिद्ध ग्रथ समयसारका सरस छन्दबद्ध हिन्दीमें ललित और भावपूर्ण अपूर्व अनुवाद 'नाटक समयसार' के रूपमें किया। नवरस, अर्द्धकथानक, बनारसी पद्धति, मोहविवेक जुद्ध और नाममालाके अतिरिक्त ४७-४८ फुटकर उपयोगी पद्यबद्ध रचनाएँ कीं जिनमेंसे कुछ प्राचीन संस्कृत प्राकृत पाठों परसे अनुदित हैं और कुछ उनकी स्वयं की मौलिक हैं, और जो सब उपर्युक्त बनारसी-विलासमें संग्रहीत हैं। इनकी सभी रचनाओंमें प्राचीन प्रमाणीक

[1] डा० माताप्रसादगुप्त द्वारा संपादित व प्रयाग वि० वि० की हिन्दी सा० समिति द्वारा प्रकाशित। तथा पण्डित नाथूराम प्रेमी द्वारा संपादित और जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित।

आर्ष-ग्रन्थोंका अनुकरण और शुद्ध सच्चे जैनधर्मका प्रतिपादन है। पं० बनारसीदासजीके प्रचार और आन्दोलनका यह प्रभाव हुआ कि जैन जनता शिथिलाचारी भट्टारकों और यतियोंके चंगुलमेंसे निकलकर शुद्ध जैन आम्नायकी ओर प्रवृत्त हुई, और इसी कारण इन पण्डितप्रवरको दिगम्बर सम्प्रदायके मध्यकालीन शुद्धआम्नायका प्रवर्तक कहा जाता है। इस शुद्ध आम्नायके अनुयायी ही दिगम्बर तेरह-पन्थी कहलाते हैं। पण्डितजीके समकालीन अथवा थोड़े ही पीछे होने वाले श्वेताम्बर यति मेघविजयने अपने प्राकृत ग्रन्थ 'युक्तिप्रबोध' तथा उसकी स्वोपज्ञ संस्कृत टीकामें उनके इस समयोपयोगी सुधारको 'बनारसिया पन्थ' और उसके समर्थकों एवं अनुयायियोंको 'बनरसिया पन्थी' कहकर मजाक उड़ाया है। और इस 'बनारसी मत' की उत्पत्ति वि० सं० १६८० में हुई बताई[१] है। पं० बखतरामजीने अपने 'बुद्धि विलास' ग्रन्थमें दिगम्बर तेरह पंथकी उत्पत्ति वि० सं० १६८३ में हुई बताई है[२]। पं० बनारसीदासजीके समकालीन आगरा निवासी सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य यशोविजयजीने उनके मतको 'साम्प्रतिक अध्यात्ममत' अर्थात् हालका ही पैदा हुआ अध्यात्ममत कहा है, और उसके खण्डनमें 'अध्यात्ममतपरीक्षा' व 'अध्यात्ममत खण्डन' लिखे[३]। स्वयं पण्डितजीने अपने आपको तथा अपने साथियोंको 'अध्यात्मी' कहा है[४]! अतः जैसी कि श्रद्धेय प्रेमीजीकी राय है,[५] भट्टारक विरोधी दिगम्बर तेरहपंथ अथवा शुद्ध आम्नायके मुख्य प्रवर्तक कविवर पं० बनारसीदासजी ही थे और उस समय इसे 'बानारसी मत' या अध्यात्ममत नाम दिया गया था। वास्तव में पण्डित बनारसीदास पक्के परीक्षाप्रधानी, स्वतन्त्र विचार एवं मौलिक सूझके व्यक्ति थे। स्वयं अनुभव करके अथवा अपनेपर ही प्रयोग करके, आशयको भलीभाँति बुद्धि और मनसे ग्राह्य होनेपर ही वे किसी बातको माननेके लिये प्रवृत्त होते थे। एकबार अध्यात्मिक ग्रन्थोंके तथ्यको न समझ सकने के कारण वे और उनके तीन अन्य मित्र बहक गये, उनकी इस बहकी हुई अवस्थाका जो लोगोंने मजाक उड़ाया वह स्वयं पं० जीके शब्दोंमें इस प्रकार है—

"कहहिं लोग श्रावक अरुजती,
बानारसी 'खोसरामती'"—अर्द्धकथानक पद्य ६०८

क्या आश्चर्य है कि उपरिवर्णित 'त्रयोदश काठिया' पण्डितजीकी अपनी निजी सूझ हो और उसमें उन्होंने शिथिलाचारी भट्टारकों और यतियोंके तथा उनके अनुयायियोंके प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले तेरह मोटे दोषोंका चित्रण किया हो जोकि स्पष्टतया वास्तविक धर्मकी हानि करने वाले हैं, रत्नत्रयरूप आत्मीक धनको लूटने वाले बटमार डाकू हैं तथा संसारी मनुष्यकी दशाको तेरह तीन करने वाले हैं, और जनताको इन तेरह दोषोंसे सदैव सावधान रहने, बचने एवं उनका निराकरण करते रहकर सच्चे अर्थोंमें धार्मिक और वास्तविक जैन बननेका अर्थात् दिगम्बर शुद्ध आम्नाय अथवा उपर्युक्त तेरह दोषोंको टालने वाले तेरहपन्थका अनुयायी बननेका प्रचार किया हो। इसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। अनेक दिगम्बर और श्वेताम्बर गृहस्थ उनके अनुयायी होगये, किन्तु शिथिलाचारियोंको यह कैसे सहन होसकता था। उनसे कुछ और तो बन नहीं पड़ा, उन्होंने इन शुद्ध आम्नायी तेरह पंथियोंके विरुद्ध विष वमन करना शुरु कर दिया, उनके मतके खण्डनमें ग्रन्थ लिखे, उन्हें 'काठिया' अपशब्द से सम्बोधित किया, और पण्डितजी द्वारा गिनाये गये त्याज्य तेरह दोषोंका उन्हींके अनुयायियोंमें आरोप किया। प्रस्तुत भट्टारकीय मनोवृत्ति वाले पद्य इस बातके ज्वलन्त उदाहरण हैं, और बहुत

(शेष पृष्ठ ४०१ पर)

१ प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास पृ. ३६७-६८।
२ वही—पृ. ३६६।
३ अर्द्धकथानक—जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई—भू. पृ. १७,१६।
४ अर्द्धकथानक—पद्य ६७१।
५ प्रेमी—जै. सा. इ. पृ. ३६७।

जोगिचर्या

[इस 'जोगिचर्या' नामकी कविताको मैंने सन् १९४४ में एक गुटके परसे नोट किया था। इसके कर्ता मुनि ज्ञानचन्द्र हैं। इसमें अध्यात्म दृष्टिसे योगी अथवा साधुकी चर्याका सुन्दर एवं चित्ताकर्षक कथन किया गया है। चूँकि यह संसारी आत्मा अनादिकालसे अलख निरञ्जन आत्माको भूल गया है, भ्रमवश चौरासी लाख योनियोंमें भटकता फिर रहा है और राग-द्वेष अहङ्कार आदि विभाव परिणतियोंमें रत होकर स्वस्वरूपकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता, इसीसे मुनि ज्ञानचन्द्र लिखते हैं कि—ग्रन्थ (परिग्रह) की इच्छा न करो, मोहकी वांछा भी मत करो, शुद्ध दिगम्बर बन जाओ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय निधिसे वंटा खेलो और अन्तरात्माकी ओर देखो। इस आत्माका परमतत्त्व ही आधार है और शिवनगरी ही घर है आदि। इस प्रकार बहुत ही सरल शब्दोंमें उस सच्चिदानन्दरूप विज्ञान घन आत्माका ध्यान और उसकी प्राप्ति करनेकी प्रेरणा की गई है। साथ ही यह बतलाया गया है कि चित्परिचयके बिना केवल बाह्य तपश्चरणादिसे मुक्ति नहीं मिलती, वह तो स्वस्वरूपका ध्यान, चिन्तन एवं अनुधावन करनेसे सहज ही प्राप्त हो जाती है। इसी भावको व्यक्त करते हुए एक जगह लिखा है कि 'हे आत्मन्! तू कायाका शोषण कर आत्मा पोषण कर, पूर्वांगोंका व्याख्यान कर, इंद्रियोंको दण्डित कर तथा इच्छानिरोधरूप तपसे शरीरको अलंकृत कर, जिन शासनको जान, तीर्थोंको जा, पूजा कर, जिस-तिसको सीस झुका, शरीरको क्षीण कर, बनमें निवास कर एवं निरन्तर ही भावना भा, परन्तु जब तक तू परमब्रह्म परमात्माका समभावोंसे अवलोकन नहीं करेगा। तब तक तुझे शिवपुर की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अस्तु, पुरातन हिन्दीकी यह कविता, आशा है, अनेकान्तके पाठकोंको रुचिकर होगी इसीसे आज इसे उनके सामने रक्खा जा रहा है। —परमानन्द जैन]

बूझहु हो तुम बूझहु भाई, बूझहु रयण-कहाणी।
अलखु निरंजणु जोईयउ हो, जागत रयणि विहाणी ॥ १ ॥
अप्पा झावहु आणु ण भावहु, चित्तपडल संसारू।
समरसि होइ आदगुण जोवहु, जिम पावहु भव-पारू ॥ २ ॥
मण सुन्नउ करि काय सुण्णु करि, वयणु न बोलहि भाई।
जोगु धरहि अप्पाणउ जोवहि, जिम कम्मक्खउ होई ॥ ३ ॥
सीस जटा अणुवेहा बारह, सीलदण्डु मुझ भावइ।
सुद्ध भाव जोगउटा पहरउ, दुरिउ न नियडउ आवइ ॥ ४ ॥
जीव-दया नित कंथा पहरउ, आगम-विषय वषा (खा) णउ।
वारह-विह-तउ-भस्म चडावहु, जोगु झाणु जिम जाणउ ॥ ५ ॥
दह-लक्खणमय वीणु बजावउ, तिसमहि जग गुरु गावउ।
पुण्ण-पाप-हेउ-नियडु न जाउ, इहु मनुवउ मनि लावउ ॥ ६ ॥
सञ्चरु मंजमु दो मुझ भावहि, समकित सींगी वावउ।
णाणु-झाणु-दुइ-मुद्दा पहरउ, अलखु निरंजनु जोवउ ॥ ७ ॥

खप्पर दुइ-कर मुझ बुहु भावहि, भोयणु लेउं उडंडी ।
तीन-पंच-दुय घर फिर आवहु, हउं न होउ पाखंडी ॥ ८ ॥
मूलु उत्तरगुण मुझ महि चेतन, सुमरइ देवलिवासू ।
रयणि ण सोवहु विसय न जोवउ, सुमरि न हाव-विलासू ॥ ९ ॥
तिणु कंचणु समभावें परखउ, सत्तु-मित्तु न वि कोई ।
घटि घटि वसइ लक्ख चउरासी, अलखु निरंजणु सोई ॥ १० ॥
गंथु न इच्छउ मोहु न वंछउ, हूवउ सुद्ध दिगंबरु ।
तिहु-रयणिहि नित वंटा खेलउ, हउं नित देखउ अंदरु ॥ ११ ॥
परमतत्त्व आधारी चेतन, शिवनगरी घर मेरा ।
जम कहु दंडउ मीचु विहडउ, वाहुडि करउ न फेरा ॥ १२ ॥
परमाराहण कंथा पहरउ, मुकति तणउ मनु वीधा ।
इव हउं शिवनयरी पयसेवउं, जोगु झाणु महु सीधा ॥ १३ ॥
जहिं जहिं जोवउ तहिं तहिं अप्पा, किम रूसउ किस भावउँ ।
सहज सुद्ध हमु लीणउ अत्थउ, पुणु संसार न आवउँ ॥ १४ ॥
दहहु न गुग्गलु हुतहु न तिल घिउ, फिरहु न पाव-संसारू ।
देहहं मज्झि मुणहु परमप्पा जो कम्मह खयकारू ॥ १५ ॥
कम्मेंधणइं करहि झाणानलु, देहमूसि मणु पवणें ।
सहज सुद्ध मन निम्मलु किज्जइ, होइ न आवागवणें ॥ १६ ॥
बाहिर माहें जगगुरु देखउ, सो रहियउ भरि पूरी ।
छह दंसण धंधइ पडि भूले, पुरिसु छाँह तहिं दूरी ॥ १७ ॥
पिंडि न जोवउ रूव न पेखउ, पाथा ले ण वखाणउ ।
सुद्ध भाव मरइ वरु जीतउ (?), इम जोवउ अप्पाणउ ॥ १८ ॥
पाती तोडि म पूजि रे मूढा देवलि देउ 'न' होई ।
देहा देवलि वसइ सिउं विरला बूझइ कोई ॥ १९ ॥
बम्हु न संकरु कन्हु न सोई तिसु न सकइ लखि कोई ।
गुरु पयासिउ मइ मग्गु पयासिउ सहजि सुपरगटु होई ॥ २० ॥
काया सोसउ अप्पा पोसउ पुव्वंगइं वक्खाणउ ।
इन्दिय दण्डउ अरु तउ मंडउ जिण-सासण सबु जाणउ ॥ २१ ॥
तित्थ य धावउ पूज करावउ जिण तिन सीस चढावउ ।
खीणु सरीरु करउ वण निवसउ अरु भावण नित भावउ ॥ २२ ॥
जाम न परम बंभु परमप्पा सम भावण अवलोयइ ।
"बोधसोमु" मुणिवरु इम जंपइ ताम न सिवपुरि पावइ ॥ २३ ॥
किसकउ रावलु किसकउ देवलि किसकउ इहु जगु धंधा ।
किसुकी संपइ किसुकी वाड़ी मूढ न जाणइ अंधा ॥ २४ ॥
आदिनाथसुत गोरष (ख) मुझ गुरु तिन यहु कहिउ विचारू ॥
चरचा गावइ सो सिउ पावइ लहू पावइ भव पारू ॥ २५ ॥

कविवर लक्ष्मण और जिनदत्तचरित

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

भारतीय साहित्यमें अपभ्रंश भाषा कितनी लोकप्रिय रही है यह उसके साहित्यके अध्ययनसे स्पष्ट जाना जाता है। इस भाषामें विक्रम सं० १७०० तक ग्रंथ रचना होती रही है। वर्तमानमें अपभ्रंश भाषाका साहित्य ईसाकी सातवीं सदीसे १७वी सदी तकका उपलब्ध है। यद्यपि इस भाषामें अधिकतर चरित, पुराण और कथा ग्रन्थोंकी ही रचना की गई है, किन्तु रासा, स्तुति-पूजा विषयक साहित्य तथा आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक और औपदेशिक साहित्यकी भी कमी नहीं है जो मुमुक्षु जीवोंके लिये विशेष उपयोगी है। इस भाषाकी सबसे बड़ी विशेषता उसका सहज माधुर्य है, जो जनताको अपनी ओर आकृष्ट करता है। चौपाई, पद्धड़िया, दोहा, घत्ता आदि छन्द भी इस भाषाकी खास देन हैं। जैन विद्वानोंने इस भाषाको खूब पल्लवित किया है और उसे जनताके हृदयका हार अथवा कण्ठका भूषण बनानेका प्रयत्न किया है। आज अनेकान्तके पाठकोंको विक्रमकी १३वीं शताब्दी के एक ऐसे ही अपभ्रंश भाषाके चरित ग्रंथ और उसके कर्ताका परिचय दे रहा हूँ जो अब तक अप्रकाशित है।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'जिनदत्तचरिउ' अर्थात जिनदत्तचरित है। इसमें अरुहदत्त (अर्हद्दत्त) श्रेष्ठी के सुपुत्र जिनदत्त नामके एक सेठकी जीवन किरणोंका परिचय कराया गया है। ग्रन्थमें छः सन्धियाँ हैं और वह चार हजार श्लोकों जितनी पद्य-संख्याको लिये हुए है। इस ग्रन्थके कर्ता कवि लक्ष्मण या लाखू हैं, जो जायस अथवा जैसवाल वंशमें उत्पन्न हुए थे। इस वंशके लिये ग्रंथमें 'जायस' और 'जायव' जैसे शब्दोंका प्रयोग किया गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि इस वंशका यादव अथवा यदुवंशसे भी कोई सम्बन्ध रहा है; क्योंकि यादववंश प्रसिद्ध क्षत्रियवंश है जिसमें श्रीकृष्ण आदि महापुरुषोंने जन्म लिया है। यह हो सकता है कि दोनों वंश एक हों और यह भी सम्भव है कि लेखकने ही 'स' को 'व' पढ़ा हो। कुछ भी हो, इस सम्बन्धमें खोज होनेकी जरूरत है।

कविने अपने पूर्वजोंका परिचय कराते हुए लिखा है कि जायस अथवा जायववंशके नरनाथ कोसवाल थे जिनके यशरूपी रससे दिक् चक्र मुद्रित अथवा बंद हो गया था। यह कविके बाबा थे। इनकी पत्नीका नाम जिनमती था, उनके सात पुत्र थे, अल्हण, गाहल, साहुल, सोहण, मइल्ल, रतन और मदन। ये सातों ही पुत्र कामदेवके समान सुन्दर रूप वाले और महामति थे। इनमेंसे कवि लक्ष्मणके पिता श्री साहुल श्रेष्ठी थे। ये सातों भाई और कवि लक्ष्मण अपने परिवार सहित पहले त्रिभुवन गिरि पर निवास करते थे। उस समय त्रिभुवनगिरि जन धनसे समृद्ध तथा वैभवसे युक्त था; परन्तु कुछ समय बाद त्रिभुवनगिरि विनष्ट होगया था—उसे म्लेच्छाधिपने बलपूर्वक घेरा डालकर नष्ट भ्रष्ट कर आत्मसात् कर लिया था। परन्तु प्रशस्तिपरसे यह मालूम नहीं होता कि यह स्थान कहाँ था और किस म्लेच्छाधिपने वहाँ कब्जा किया था, उस समय संवत क्या था और उससे पूर्व वहाँ किसका राज्य था आदि। और न अन्यत्रसे ही इसका कोई समर्थन होता है। अस्तु, कविवर लक्ष्मण त्रिभुवनगिरिसे भागकर

यत्र तत्र भ्रमण करते हुए विलरामपुरमें आये। यह नगर आज भी अपने इसी नामसे एटा जिलेमें बसा हुआ है। उक्त त्रिभुवनगिरिके विनष्ट होनेकी यह घटना वि० सं० १२७५से पूर्वकी है, क्योंकि इस ग्रन्थकी रचना विलरामपुरमें ही उक्त समय की गई है जब ग्रन्थकर्ता वहाँसे भागकर आये थे। इससे यह स्पष्ट है कि यह घटना सं० १२७०से १२७५के मध्यमें किसी समय घटित हुई है। उस समय विलरामपुरमें सेठ विल्हणके पौत्र और जिनधरके पुत्र श्रीधर निवास करते थे। इन्होंने कविवरको स्थानादिकी सुविधा प्रदान की, और ये कविवरके परममित्र बन गये। साहू विल्हणका वंश पुरवाड था और श्रीधर उस वंशरूपी कमलोंको विकसित करने वाले सूर्य थे। और इस तरह कविवर उनके प्रेम और सहयोगसे सुख पूर्वक रहने लगे।

एक दिन श्रीधरने अवसर पाकर कवि लक्ष्मणसे कहा कि हे कविवर तुम जिनदत्तचरितकी रचना करो, तब कविने श्रीधर श्रेष्ठीकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे जिनदत्तचरित बनाया, और उसे वि० सं० १२७५ के पूस वदी षष्ठी रविवारके दिन समाप्त किया, जैसा कि उसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

घत्ता—

बारहसय सत्तरयं पंचोत्तरयं विक्कमकालु विइत्तउ।
पढमपक्खि रविवारइछ्ठि सहारइ पूसमासे सम्मत्तउ॥

ग्रन्थमें स्मृत पूर्ववर्ती कविगण

कवि लक्ष्मणने अपने इस ग्रन्थकी आद्य प्रशस्तिके ५वें कडवकके बाद निम्न विद्वानोंका स्मरण किया है और साथ ही, अपनी लघुता व्यक्त करते हुए, अपनेको धातु, लिङ्ग, कारक, कर्म, समास, सन्धि, छन्द, व्याकरण आदिसे भी अनभिज्ञ बतलाया है तथा महाधवल और जयधवल नामके सिद्धान्त ग्रन्थोंको भी न देखने वाला लिखा है। उन विद्वानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अकलङ्क, चतुर्मुख, कालिदास, श्रीहर्ष, वृत्तविलास, द्रोण, बाण, ईशान, हरिस (हर्ष) पुष्पदन्त, स्वयंभू, बाल्मीकि और सन्मति। जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

णिक्कलंकु अकलंकु चउमुहो,
　　कालियासु सिरिहरिसुकयसुहो।
वयविलासु कइवासु असरिसु (?),
　　दोणु बाणु ईसाणु सहरिसो।
पुप्फयंतु, सुसयंभु भल्लओ,
　　बालमीउ सम्मइ रसिल्लओ॥

ग्रन्थकर्ताने ग्रन्थ पूर्ण करते हुए सबकी मङ्गलकामना की है और ग्रन्थको पढ़ने पढ़ाने, लिखनेलिखाने और देने दिलानेकी भी प्रेरणा की है।

(पृष्ठ ३६७ का शेष)

सम्भव है कि पूरी कवितामें इन तीनसे अधिक पद्य हों जिनमें तेरह पन्थियोंमें उक्त सभी तेरहों दोषोंके होनेका वर्णन ऐसी ही गन्दी और अशिष्ट भाषा में किया गया हो। उपरलिखित भट्टारकीय पद्य शुद्धाम्नायियोंके 'रातदिन तेरह पन्थमें रत' रहनेकी जो बात कही है उसका आशय भी संकेतरूपमें यही प्रतीत होता है कि वे काठिया नामक तेरह दोषोंमें ही रात दिन लीन रहते हैं।
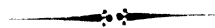
कविवर बनारसीदास और उनके ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ

[मुनि कान्तिसागर]

सत्रहवीं शताब्दी के ग्रन्थ-प्रणेताओं और दार्शनिक विद्वानोंमें आगराके कविवर बनारसीदासजीका स्थान अत्यन्त उच्च एवं कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। आपने हिन्दी-भाषामें दार्शनिक साहित्य, मौलिक रचनाएँ तथा अनुवाद-कार्यकर, तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियोंका यथार्थ चित्रण कर, हिन्दी-भाषाके साहित्यिक भण्डारको ही केवल पुष्ट नहीं किया, वरन् आध्यात्मिक चिन्तनकी अपूर्व सामग्री भी प्रदान की है, जैसाकि इनके गंभीर पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ-रत्नोंके परिशीलनसे ज्ञात होता है। मार्ग शुक्ला एकादशी, शनिवार, विक्रम संवत १६४३ को आपने ऐतिहासिक कुल—श्रीमाल कुलमें शरीर धारण किया। इस कुलने भारतीय वाङ्मयकी विभिन्न शाखाओंके ज्ञान-भण्डारको परिपुष्ट करनेवाले एवं उसके गौरवको उच्च स्थान प्रदान करनेवाले अनेक विद्वद्रत्न उत्पन्न किए हैं, जिनमें अनेक विषयोंके ज्ञाता कवि आसड और अलाउद्दीन खिजलीके मन्त्री ठक्कुर फेरू एवं साहित्य, सङ्गीत, कला आदि विभिन्न विषयोंके मर्मज्ञ विद्वान मन्त्रीश्वर मण्डन आदि प्रमुख हैं। भारतीय साहित्यके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि इस वंशके अधिकतर लोग रत्नों और माणिक्योंको पहचाननेमें निपुण माने जाते थे। इसी कलाके बलपर राजसभाओंमें इनका बड़ा आदरणीय स्थान था। वर्तमान समयमें भी इस कुलमें परम्परागत कार्यको निभाया जा रहा है।

बनारसीदासजी अपने कुल-परम्परागत कार्यमें तो कुशल थे ही; पर साथ ही अपनी आध्यात्मिक साधनाके बलपर आत्म-तत्त्वके निगूढ़तम रहस्यको पहचाननेके प्रयासमें भी सदैव दत्तचित्त रहते थे। वे केवल भौतिक जौहरी ही नहीं थे, वरन् आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे आत्मिक सुखके तत्त्वको भी पहचानते थे। यदि उनके बृहत्तर एवं लघुत्तम ग्रन्थोंका मार्मिक अध्ययन-मनन किया जाय, तो तत्कालीन मानव-समाजकी उच्चताका एक प्रखर आलोक हमें मिलेगा। तत्कालीन मानव-समाज केवल भौतिक साधनोंके पीछे ही जीवन नहीं गँवाता था, वरन् उसने शान्तिके वास्तविक प्रशस्त पथकी खोज भी की थी। कविवर बनारसीदासजीने भी अपनी एक ऐसी मण्डली बना रखी थी, जिसके सदस्योंके नाम 'अर्द्ध-कथानक', 'समयसार' आदि ग्रन्थोंमें बड़े आदरके साथ उल्लिखित हैं। बनारसीदासजीने अपनी जीवन-यात्रामें कई सुखद एवं दुखद अनुभूतियोंका प्रत्यक्षीकरण किया था। उनका जीवन एक आदर्श साधककी भांति शुद्ध था। भीषण आपत्तियोंके पड़नेपर भी उन्होंने पीछे क़दम नहीं लौटाया, बल्कि उनको धैर्यपूर्वक सहन किया और अभिलषित कार्यमें उन्हें साधक बनाया। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उन्हें अपने कर्त्तव्य-पथसे विचलित नहीं कर सकीं। संसारमें एक नियम देखा जाता है कि जब कभी नई विचारधाराका आगमन होता है—भले इसके बीज परम्परामें ही क्यों न अन्तर्निहित हों—तब धर्म एवं समाजमें खलबली मचना स्वाभाविक है। कविवरपर यह बात सोलहों आने चरितार्थ होती है, जैसा कि तत्कालीन समालोचकों द्वारा निर्मित ग्रन्थोंसे विदित है। जैन धर्मावलम्बी

होनेपर भी कवि बनारसीदासजीका क्षेत्र असीम था। उनके साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि मानव-मात्र अपनी प्यास उनके आध्यात्मिक संस्कृति-प्रवाहसे बुझा सकता है। साहित्य यदि आत्म-कर्त्तव्यच्युत मानवोंके धरातलको उच्च स्थान प्रदान करनेमें सहायक नहीं होता, तो वह अपनी 'साहित्य' संज्ञा ही खो बैठता है। कविवरने साहित्यके इस रूप पर विशेष तौरसे ध्यान दिया है। हिन्दी-साहित्यका यह दुर्भाग्य है कि कविवर बनारसीदासजीका उचित आदर नहीं हो सका। हमारे चरित-नायकने भारतीय दर्शनकी उन्नतम विचारधाराका प्रवाह तत्कालीन लोकभाषामें प्रवाहित कर संस्कृतान-भिज्ञ मानव-समाजको वास्तविक ज्ञान करानेका अनुकरणीय प्रयास किया। कविवरने आप्त पुरुषों द्वारा निर्मित संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि आर्य भाषाओंके आर्ष ग्रन्थोंको जनसाधारणके लाभार्थ लोकभाषामें प्रस्तुत किए एवं अपनी मौलिक विचार-धाराको लिपिबद्ध कर साढ़े चार दर्जनसे ऊपर ग्रन्थ निर्मित किए, जो हिन्दी-भाषाके भण्डारको गौरवान्वित कर रहे हैं।

बनारसीदासजीके ग्रन्थोंका प्रचार थोड़े समयमें ही भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें हो चुका था। यह उनकी लोकप्रियताका बहुत बड़ा प्रमाण है। उपर्युक्त प्रतियाँ पाठ-भेद और तात्कालिक भाषा-विज्ञानके मौलिक स्वरूपको समझनेमें बहुत सहायक होंगी। जिस कविके अस्तित्व-समयके बहुत वर्षों बादकी लिखित प्रतियोंमें यदि भाषा-विषयक विकृतियाँ दृष्टिगोचर हों, तो उनके मूल रूपको भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे समझना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी है। लोक-साहित्य जनताका साहित्य है। अतः जो कृतियाँ जिन प्रान्तोंमें प्रचलित होंगी, उनपर प्रान्तीय भाषाओंका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता, जैसा कि मीरा, तुलसी, कबीर, दादू, नरसी, विद्यापति आदिकी प्रचलित रचनाओंसे स्पष्ट है। प्रस्तुत प्रबन्धमें बनारसीदासजीके निर्मित समस्त ग्रन्थोंकी उन प्रतियोंका अति संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है, जिनका निरीक्षण लेखकने स्वयं किया है :—

१—नाटक समयसार (१०″ × ४″), पत्र संख्या ४२, पंक्ति १७, अक्षर ४७। "इति श्री (प) रमागम समैसारनाटक सिद्धान्त समाप्तं सम्पूर्णम् ॥श्रीरस्तु॥ कल्याणमस्तु ॥ संवत १७१७ वर्षे शाके १५८२ प्रवर्तमानै अश्विन मासै कृष्ण पक्षे सप्तम्याम् पुण्य तिथौ शनिवासरे श्रीमच्चन्द्रगच्छै भट्टारिक श्री १०८ शान्तिसूरि विजैराज्ये: ॥ श्रीयंमूयात् ॥ श्रीमच्चं० पण्डित प्रवर गणि गजेन्द्र श्री श्री श्री श्री श्री श्री १०८ वस्तपालजी तत्सिक्ष (शिष्य) ऋष सदारङ्ग लिखितं श्री उदयपुर मध्ये लिपित्वा ॥ गुरु श्री वस्तपालजी प्रसादा ॥ श्रीयंभूयात ॥" प्रस्तुत प्रति ग्रन्थ-निर्माणके २४ वर्ष बाद लिखी गई है। अतः पाठोंकी दृष्टिसे शुद्ध और महत्वपूर्ण है। इसमें छन्द संख्या ७१८ दी गई है। यद्यपि उपर्युक्त ग्रन्थ बनारसीदासजीकी रचना नहीं है, अपितु श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-निर्मित 'समयपाहुड़ तदुपरि अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति वृत्ति'[१] एवं राजमल्लकृत बालावबोध' इन तीनोंको हृदयङ्गम करनेके बाद इसे दोहा-सोरठा-अडिल्ल आदि हिन्दीके सुप्रसिद्ध छन्दोंमें लिखा है, तथापि कविवरने अपना जो पाण्डित्य इस रचनामें व्यक्त किया है, वह अपूर्व है। अतः सामान्यतया यह ज्ञात नहीं होता कि यह अनुवाद है। इसकी रचना शाहजहाँके समयमें आश्विन सुदि १३, सं० १६९३को आगरामें हुई। प्रस्तुत प्रति बद्रीदास म्यूजियम कलकत्तामें सुरक्षित है।

---

१ इस वृत्तिकी एक प्रति रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्तामें (ग्रं० सं० १५००) सुरक्षित है। इसमें लेखन-काल सूचक संवत्का लेख तो नहीं है, फिर भी लिपिसे अनुमान किया जासकता है कि इसका लेखन समय १७वीं शताब्दीके बादका नहीं होसकता। इसमें बहुतसे महत्वपूर्ण विषयोंपर जो नोट्स दिये हैं, वे बड़े मूल्यवान् होनेके साथ-साथ ज्ञानवर्द्धक भी हैं। विद्वानोंको चाहिए कि वे ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थोंका सम्पादन करके अवश्य ही उपयोग करें। —लेखक

२–समयसार (१०" × ४"), पत्र ६७, पंक्ति १३, अक्षर ४५। "संवत् १७४० वर्षे फाल्गुन मासे कृष्ण पक्षे द्वादशी तिथौ लिखितम् शास्त्रम् ॥" इस प्रतिमें प्रत्येक द्वारकी इस प्रकारकी गाथाओंकी सूची दी गई है। प्रथम द्वार-गाथा ८६; द्वितीय ३४; तृतीय ३४; चतुर्थ १६; पञ्चम १५; षष्ठ ११; सप्तम ६१; अष्टम ५८; नवम ५४; दशम १२७; एकादश ४१; द्वादश ५३; गुनस्थाने १५६। लिपि अतीव सुन्दर होनेसे सुपाठ्य है। यह प्रति हमारे पास है।

३–समयसार (१०" × ४"), पत्र ४५, पंक्ति १५, अक्षर ५३। "श्रीनाटक समैसार सम्पूर्णम् संवत १८६९ प्रथम वशाख द्वादश्यां गुरौ दिने पूर्णी कृतम् लिखित जिनदत्तर्षिणा नजीबाबाद नगरे।" यह प्रति बङ्गालकी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (ग्रन्थ-संख्या ६८४५) में सुरक्षित है। इसकी लिपि साधारण है।

४–समयसार (१०॥" × ७"), पत्र ५९, पंक्ति २५, "इतिश्री नाटक समयसारसिद्धान्त सम्पूर्णम्। साह मेघराजजी पठनार्थम ॥" यह प्रति भी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (ग्रन्थ संख्या ६७०१) में सुरक्षित है। इस प्रतिमें यद्यपि लेखन-संवत-सूचक उल्लेख नहीं है, पर अनुमानसे मालूम होता है कि यह अठारहवीं सदीके बादकी नहीं हो सकती।

५–समयसार टीका (९॥" × ४॥"), मूल—बनारसीदास, टीकाकार रूपचन्द्र, पृष्ठ १४३, पंक्ति १५, अक्षर ४६।

आदि— दोधक

श्री जिन वचन समुद्रकौं, कौं लगि होई बखान।
रूपचन्द तौहू लिखै, अपनी मति अनुमान॥

अन्त भाग— **सवैया**

पृथ्वीपति विक्रमके राजमरजाद लीन्हैं
सत्रहसैं बीते परिवांनुआ वरस मैं,
आसूमास आदि यौं सु सम्पूरन ग्रंथ किन्हौ
वारतिक करिकैं उदार वा रससि मैं,
जो पैं यहु भाषा ग्रंथ सबद सुबोध याकौ
तौहू बिनु सम्प्रदाय नावै तत्व स मैं,
यातैं ज्ञान लाभ जानि संतनिकौ वैन
मांनि वात रूप ग्रंथ लिख्यौ महाशांतरस मैं॥१॥
खरतरगच्छ नाथ विद्यमान भट्टारक
जिन - भक्तिसूरिजूके धर्मराजधुर मैं,
षेमसाष मांझि जिनहर्षजू वैरागी कवि
शिष्य सुखवर्द्धन शिरोमनि सुधर मैं,
ताकै शिष्य दयासिंध गणि गुणवन्त मेरे
धरम आचारिज विख्यात श्रुतधर मैं;
ताकौ परसाद पाइ रूपचन्द आनन्दसौं
पुस्तक बनायौ यहु सोनगिरिपुर मैं॥२॥
मोदी थापि महाराज जाकौं सनमांन दीन्हौं
फतैचन्द पृथ्वीराज पुत्र नथमालके,
फतैचन्दजूके पुत्र जसरूप जगन्नाथ
गोत गनधर मैं धरैया शुभचालके,
तामैं जगन्नाथजूके बूझिवेके हेतु हम
व्यौरिके सुगम कीन्हें वचन दयालके;
वांचत पढ़त अब आनन्द सदा एकरौ
संगि ताराचन्द अरु रूपचन्द बालके॥३॥

दोहा

देशी भाषा कौ कहौं, अरथ विपर्यय कीन।
ताकौ मिच्छा दुक्कडुं, सिद्ध साखि हम दीन॥४॥

॥ श्री ग्रन्थः सम्पूर्णः॥ श्रीः॥ श्रीः॥

नन्दवह्निनागेंदुवर्त्सरे विक्रमस्य च। पौषे सितेतर पञ्चमी तिथौ। धरणीसुत वासरे। श्रीशुद्धिदन्तीपत्तने। श्रीमति विजयसिंहाख्यसुराज्ये। बृहत्खरतरगणे। निखिल शास्त्रौघपारगामिनो महीयांसः श्री क्षेमकीर्तिशाखोद्भवाः। पाठकोत्तमपाठकः। श्रीमद्रूपचन्द्रजिद्गणा तच्छिष्य। पं० विद्याशील मुनि

तच्छिष्य गजसार मुनिस्समयसार नाटक ग्रन्थ लिखित श्रीमद् गवड़ीपुराधीश प्रसादात्भावकं भूयात्पाठकानां श्रोतृणां छात्राणां शश्वत्। श्रीरस्तु॥

यह प्रति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके रचयिता श्वेताम्बर जैन होनेके कारण मूल ग्रन्थमें जहाँ कहीं भी धार्मिक और साम्प्रदायिक मतभेदोंका उल्लेख है, उन उल्लेखोंको उभय सम्प्रदायोंके भिन्न-भिन्न मतभेदोंका वर्णन करते हुए समन्वयात्मक ढङ्गसे काम लिया गया है। इसीसे रूपचन्द्रकी गहनतम विचारशैलीका आभास मिलता है। इसकी प्रतियाँ कम मिलती हैं। दिगम्बर जैन ग्रन्थोंपर उपलब्ध होने वाली श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी टीकाओंमें इसका स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इसके लेखक गजसार मुनि रूपचन्द्रके प्रशिष्य हैं।

हालहीमें प्रकाशित 'अर्द्धकथानक'के परिशिष्टमें श्रीनाथूरामजी प्रेमीने 'समयसार' के टीकाकार रूपचन्द्रके विषयमें भीमसिंह माणिक द्वारा प्रकाशित अनुवादके आधारपर लिखा है—"समयसारकी यह रूपचन्द्रकृत टीका अभी तक हमने नहीं देखी, परन्तु हमारा अनुमान है कि यह बनारसीदासके साथी रूपचन्द्रकी होगी, गुरु रूपचन्द्र नहीं।" (पृष्ठ ७९) प्रेमीजीका यह कथन भ्रमपूर्ण है, क्योंकि ये रूपचन्द्र न बनारसीदासजीके साथी हैं, न गुरु ही। ये तो खरतरगच्छानुयायी श्रीजिनभक्तसूरिजीके विजयराजमें विचरण करते हुए जिन-हर्ष-शिष्य सुखवर्धन उनके शिष्य दयासिंह और उनके शिष्य पं० रूपचन्द्र थे, जिन्होंने विक्रम संवत १७९२ आश्विन कृष्ण प्रतिपदा रविवारको सोनागिरिमें मोदी जगन्नाथके ज्ञानवृद्ध्यर्थ इसका निर्माण किया। इसमें वहाँके राजा द्वारा मोदी-पदपर स्थापित फतहचन्द, पृथ्वीराज, नथमल जसरूप, जगन्नाथ आदिके जो नाम आए हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत महत्वपूर्ण हैं। बुन्देलखण्डमें उच्च गृहस्थको राजद्वारा पद दिया जाता था। मालूम होता है कि बनारसीदास द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक मतानुयायियोंकी संख्या सोनागिरि (ग्वालियर)में अवश्य ही अधिक रही होगी। साथ ही आत्मतत्वचिन्तक मनुष्योंकी एक मण्डली भी होगी, जिनकी आध्यात्मिक क्षुधा-पूर्तिके फल-स्वरूप ही रूपचन्द्र द्वारा प्रस्तुत वृत्ति निर्मित हुई हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। अठारहवीं शताब्दीमें साम्प्रदायिक संगठन कितना बढ़ा चढ़ा था, रूपचन्द्रकी यह टीका इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इस टीकाकी विद्वत्ता-पूर्ण शैलीके विषयमें इतना ही लिखना है कि इसके गूढ़ मननके बिना बनारसीदासजीकी उदात्त विचार-धाराको हृदयङ्गम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मूल प्रति लेखकके संग्रहमें है।

६—**बनारसी-विलास** (पत्र ६९, पंक्ति १४, अक्षर ४३)—

सवैया

प्रथम सहस्रनाम सिंदूरप्रकरधाम
बांनारसी सवैया बेदनिनायपंचासिका
त्रेसठिशिलाका मारगना कर्मकीप्रकृति
साधुबन्दन सुवासिका
पैडी कर्मकीछतीसी पीछै ध्यांनकी
बतीसी अध्यात्म छतीसी पचीसीज्ञानरासिका
शिवकीपचीसी भवसिन्धुकी चतुद्दशी
अध्यातमफाग तिथि षोडस निवासिका॥१॥
तेरह काठीया मेरे मनका सुप्पारागीत
पंचपद विधान सुमतिदेवी सत है
सारदा बड़ाई नवदुर्गा निरनै प्रनाम
नौरतन कवित्त सु पूजा दानदत है
दस बोल पहेली प्रसन्न उत्तरकी माला
ओस्थाम तांन दोहा दर्शण बरणत है
अजितके छन्द सान्तिनाथ छन्द सेना
नवनाटिक कबित्त च्यारि मिथ्या मत है॥२॥
फूटक सवैया बनाए बचनगोरखके बैद
आदि भेद परमारथ बचनिका

उपादाननिमित्तकी चीठी इनहींके दोहे
भैरूँ रामकली और बिलावल रचनिका
आसाउरी बरव धन्यासिरी सारंग गोरी
काफी और हिंडोलनां मलार यों मचनिका
गृपर उदोत करो भव्यनिके हिरदै मैं बरधों
बनारसीबिलास की रचनिका ॥३॥

दोहरा

ए बरने संषप सों, नाम भेद विरतन्त।
इन्ह मैं गर्भित भेद बहु, तिनकी कथा अनन्त॥
महिमा जिनके वचनकी, कहाँ कहां लौं कोय।
ज्यों-ज्यों मत विस्तारिये, त्यों-त्यों अधिकी होय॥

अन्त भाग—"इति श्री बनारसीदास कृत **बनारसी-विलास भाषा सम्पूर्ण**॥ संवत् १७३८ वर्षे **कार्तिक मासे** शुक्ल पक्षे तिथि **अष्टम्यां कर्मवाट्यां सोमवासरे लिखितोयं ग्रन्थ समाप्तेति समाप्तोयं ग्रन्थ श्रीरामपुरा मध्ये भट्टार्काधिराज** भट्टार्क श्री पूज्य १०८ **कीर्तिसागरसूरिन्द्रजी** सुप्रसादतो लिखितं रिषि दीपचन्द। शुभं भवतु श्रीरस्तु॥ कल्याणमस्तु॥"

दोहरा

जलाद्रक्षे तैलाद्रक्षेः, रक्षे सिथल बंधनात:
परहस्ते न दातव्यः, एवं वदति पुस्तिका ॥१॥
संवत सत्रहसै वरष:, अठतीसा परमांनः।
कार्तिक शुदि तिथि अष्टमी, निसिपतिवार बखांनि ॥२॥
ता दिन यह पूरन भयो, बानारसीबिलास
सुनत श्रवन सुख ऊपजै, उपजै मन उल्लास ॥३॥
आतम समझावन कथा, करी बनारसीदास
अध्यातम सैली प्रवीना, समझै नहीं विलास
रामपुराबरपुरन मैं लिखि, पूरन कीय चन्द:
नाटिक सुनत बनारसी, होत अनन्द अनन्द ॥४॥
अति आनन्द विनोद मैं; पूरन कीनो ग्रन्थ
सहश्रतीन संख्या सबैः, परमागम की पन्थ ॥५॥
सिथल बन्ध जल तेलतैं:, अरु मूरिष करसार:
पण्डित सौं पुस्तक कहैः, इनतैं राषु विचार ॥६॥
जैसे देख्यो मै ग्रन्थ मैंः, तैसो लिख्यो बनाय
जे समुझैंगे ग्रन्थ मैंः, तिन्हकुं अति सुखदाय ॥७॥
॥ श्रीरस्तु ॥ कल्यांणमस्तु॥ शुभं भवतु॥श्री॥

यद्यपि 'बनारसी-विलास' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, पर कविवरके स्वर्गवासके ठीक २५ दिनके पश्चात् उनकी वाणीके परम भक्त श्रीजगजीवनजीने वि० सं० १७०१ चैत्र सुदि ७ को सब रचनाओंको एकत्रितकर इस नामसे घोषित किया है। प्रस्तुत प्रतिमें आदि भागमें संगृहीत सभी ग्रन्थोंकी विस्तृत सूची सवैयोंमें दी गई है। ये सवैये भी अनुमानत: जगजीवनजीके ही बनाये हुए होंगे, क्योंकि बनारसी-दास जैसे मार्मिक कवि इतने भ्रष्ट पद्योंकी रचना तो कदापि न करते। जिस प्रतिका परिचय यहाँ दिया जा रहा है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण और पाठों की दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु है। इसकी नकल दिगम्बर सम्प्रदायके ही पण्डित द्वारा ग्रन्थ-संग्रहके ठीक ३७ वर्ष बाद हुई है। प्रति बड़ी सुन्दर और लिपि स्पष्ट तथा आकर्षक है। आदि और अन्त के पत्रोंपर सुन्दर तथा विभिन्न प्रकारके बेल-बूटे बने हुए हैं, जो इसके सौन्दर्यमें वृद्धि करते हैं। मालूम होता है कि यह प्रति किसीकी स्वाध्याय-पुस्तिका रही होगी, जैसाकि इसके चारों ओरके घिसे हुए पत्रोंसे विदित होता है। कहीं-कहींपर पाठ शुद्धि भी कर दी है। मूल प्रति हमारे संग्रहमें है।

७-बनारसी-विलास (पत्र १०१; गुटका साइज़)-
"**संवत्** १७४१ **वर्षे** शाके १६०६ **प्रवर्त्तमाने चैत्र मासे** सित पक्षे प्रतिपदा तिथौ प्रहर्षण वासरे श्रीमतो श्री स्तम्भतीर्थे सुतीर्थे (खम्बात बिन्दर) लिखितमिदं पुस्तकं॥ चिरंनन्दतु यावच्चन्द्रार्क्कं मिति भद्रं भवतु॥

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा, तादृशं लिखितं मया
यदि शुद्धम-शुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥१॥

भग्न पृष्टिकटिग्रींवा बद्धमुष्टिरधो मुखम्
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत् ॥२॥

इसमें भी बनारसीदासजीके समस्त ग्रंथोंका सङ्कलन है। इस प्रतिमें 'समयसार' नाटक भी लिखा गया है। इसकी लिपि बड़ी सुन्दर और मोड़पर गुजरातीका स्पष्ट प्रभाव है, जो स्वाभाविक ही है, क्योंकि गुजरात देशमें खम्भातमें यह लिखी गई है। इससे यह भी मालूम होता है कि गुजरातमें भी बनारसीदासजीके मतका प्रचार खूब जोरोंपर रहा होगा। मूल गुटका कलकत्ताके विख्यात नाहर-संग्रहालयमें सुरक्षित है। इसकी दो प्रतियाँ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी और ९६ केनिङ्ग स्ट्रीट, कलकत्ता-स्थित जैन-संग्रहालयमें भी विद्यमान है। पर हमने उनका निरीक्षण नहीं किया।

८—अर्द्धकथानक (१०" × ६॥" इञ्च)—"इति श्रीअर्द्धकथानक अधिकार सम्पूर्ण॥ श्रीबनारसीदास जी कृतिरियं। श्लोक सख्या एक १०००॥ श्रीस्तात्लेखक पाठकयोस्सदा॥ कल्याण भवतु॥" भारतीय साहित्य में, और खासकर हिन्दी-भाषाके मध्यकालीन साहित्य में 'अर्द्धकथानक' बहुत ही मूल्यवान कृति मानी जाती है। जैनोंकी यह हिन्दी-साहित्यको सबसे बड़ी देन कहा जाय, तो अनुचित न होगा। इसका प्रकाशन डा० माताप्रसादजी गुप्त और श्रीनाथूरामजी द्वारा हुआ है। इसकी एक प्रति रॉयल एशियाटिक सोसाइटीके संग्रहालयमें (ग्रन्थ संख्या ७१७६) सुरक्षित है। आश्चर्य तो इस बातका है कि उपर्युक्त दोनों संस्करणोंके सम्पादक महोदयोंने इसका उपयोग न जाने क्यों नहीं किया। यह प्रति गुटकाकार है। लेखन-काल-सूचक संवत इसमें भी नहीं है, तथापि लिपिके आधारपर निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि यह १९वीं शताब्दीकी होनी चाहिए। प्रति बड़ी सुन्दर है।

श्रीनाथूरामजी प्रेमी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ बड़ा सुन्दर और परिशिष्टादिसे इतिहासके अभ्यासियोंके लिये तो अपूर्व होगया है। पर इसमें कुछ भूलें ऐसी हैं, जो प्रेमीजी-जैसे विद्वानके लिये क्षम्य नहीं। उदाहरणार्थ, प्रेमीजीने लिखा है—"हीरानन्द मुकिम, ये ओसवाल जैन और जगत सेठके वंशज थे" (पृ० ८९)। हीरानन्दको जगतसेठका वंशज लिखना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं। न कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है, जो इन्हें जगतसेठका वंशज प्रमाणित कर सके। आज तक प्रकाशित सभी ऐतिहासिक एतद्विषयक साधनासे भलीभाँति सिद्ध किया जाचुका है कि हीरानन्दके पौत्र और माणिकचन्द्रके पुत्र फतहचन्दको दिल्लीके बादशाहने जगतसेठकी उत्तम पदवीसे विभूषित किया। इससे तो हीरानन्द जगत-सेठके वंशज न होकर पूर्वज हुए, जो यथार्थ है। हमें अभी हाल ही में एक ऐसा ऐतिहासिक पद्य मिला है, जिसमें जगतसेठकी माता और जगतसेठका इतिहास वर्णित है। इसे निहाल नामक एक जैन यतिने, जो इनके साथ बहुत वर्षों तक रहा था, पौष कृष्णा त्रयोदशी वि० सं० १७९८को मक्सुदाबादमें लिखा। इसमें जगतसेठ-विषयक उल्लेख इस प्रकार है:—

देश बंगालो उत्तम देश, आए माणिकचन्द नरेश
नाम नगर मकसूदाबाद, कर कोठी कीनो आबाद।९
राजा प्रजा अर उमराव, फौजदार सूबा निवाब
सहु का मानै हुकुम प्रमांण, दिल्लीपति दें अति सनमान।१०
पातस्याह श्री फरुक साह, सेठ पदस्थ दीयो उछाह
मांणिकचन्द सेठनै नांम, फिरी दुहाई ठांमोठांम।११
देश बंगाला केरा धणी, दिन-दिन संतति सम्पति घणी
जाके पुत्र सुरीन्द्र समांन, प्रगटे फतेचन्द सु ग्यांन।१२
दिल्ली जाय दिल्लीपति भेट, नांमे किताब दियो जगसेट
जगतशेठ जगत अवतार, ...।१३

इस उल्लेखसे स्पष्ट प्रकट है कि फतेचन्द ही, जो हीरानन्दके वंशज थे, प्रथम जगतशेठ थे। वि० सं० १८९२ की रघुनाथ द्वारा निर्मित लौंकागच्छीय पट्टावलीसे जाना जाता है कि दिल्लीके बादशाहने हीरानन्दको शेठकी उपाधि दी थी, जगतशेठकी

नहीं। यह आमतौरसे देखा जाता है कि राजा-महाराजा बड़े धनी गृहस्थोंको शेठकी पदवी दे दिया करते थे।

इस प्रकार बनारसीदासजी-निर्मित ग्रन्थ जैन ज्ञान-भण्डारोंमें बहुतायतसे प्राप्त होते हैं, क्योंकि किसी भी सम्प्रदायका तत्त्वेच्छुक इनसे बहुत लाभ उठा सकता है। यदि उन और प्रस्तुत निबन्धमें उल्लिखित आदर्श प्रतियोंके आधारपर सम्पूर्ण बनारसीग्रन्थावलीका वैज्ञानिक ढङ्गसे सम्पादन किया जाय, तो हिन्दी भाषाका मुख उज्ज्वल हुए बिना न रहेगा। यद्यपि श्री नाथूरामजी प्रेमीने बहुत वर्ष पूर्व 'बनारसी-विलास' का प्रकाशन किया था, पर अब तो उसका मिलना ही असम्भव हो गया है। हमें आशा है, जैन-समाज अपने इस अद्वितीय महाकवि और आध्यात्मिक संस्कृतिके रक्षकके द्वारा निर्मित समस्त ग्रन्थोंका विस्तृत भूमिका सहित उत्तम संस्करण प्रकाशित करेगा।

हिन्दीके बहुसंख्यक उत्कृष्ट कवियों द्वारा निर्मित विभिन्न कविताओंकी प्राचीन प्रतियाँ पुराने ज्ञान-भण्डारोंमें प्राप्त होती हैं; उन सभीका अध्ययनकर इस प्रकार प्रकाश डाला जाना अत्यावश्यक है। इनका महत्व भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे बहुत बड़ा है। अस्तु।

—विशाल भारतसे उद्धृत

रक्षा बंधनका प्रारम्भ

(लेखक—पं० बालचन्द्र जैन, साहित्यशास्त्री, बी० ए०, विशारद)

अलका-सी अवन्तीपुरी अरुणोदयके साथ ही तरुण हो गई। शयनकक्षसे निकलते ही राजा श्रीवर्माको उपवनके मालीने झुककर 'महाराजकी जय' कहकर अभिवादन किया। विविध पुष्पफलादि भेंटकर उसने निवेदन किया। महाराज! सातसौ दिगम्बर मुनियोंके साथ आचार्य अकम्पन नगरके उपवनमें पधारे हैं। राजाके हर्षका ठिकाना न रहा, 'साधु-सन्तोंके दर्शन सौभाग्यसे ही मिलते हैं' आज्ञा दी—मन्त्रिओंको भी इसकी सूचना दो और निवेदन करो कि मैं साधुओंके दर्शनकर सुख-लाभ करूंगा। माली 'जो आज्ञा' कहकर चल दिया।

× × ×

मन्त्रियोंने जब यह आज्ञा सुनी तो सन्न रह गए। 'नग्न मुनियोंके दर्शन! नहीं, यह तो महापाप है' घृणा और विवशताके विषम थपेड़ोंमें बेचारोंकी दुर्गति हो गई। उन्हें कोई अवलम्ब ही न सूझता था जिसके सहारे इस महापापकी नदीके विकट प्रवाहमें बहनेसे अपनेको बचा सकें। आखिर क्या करते, राजाज्ञा ही तो ठहरी। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' हाथ बाँधे दौड़ आए।

'आप उन नंगोंके दर्शन करने जायेंगे महाराज!' प्रधानसचिव बलिने नाक-भौं सिकोड़ी। 'हां मन्त्रि-महोदय! साधु कभी अदर्शनीय नहीं होते' राजाने सरल उत्तर दिया। 'पर वे तो नङ्ग-धड़ङ्ग रहते हैं महाराज! निरे निर्लज्ज हैं, वे साधु कैसे हो सकते हैं?' दूसरे मन्त्रीने आपत्ति की। मन्त्रीके ये वाक्य राजाको अनुचित जँचे पर इसे प्रकट न करते हुए उसने शान्त स्वरमें इसका उत्तर दिया 'नङ्गा वही रह सकता है जिसके मनोविकार प्रशान्त हो चुके हैं, जिसकी दृढ़ इच्छा-शक्तिके सन्मुख वे टिक नहीं

सके और भाग खड़े हैं। क्या आप बतला सकते हैं कि बालक नग्न रहने पर भी किसीके मनमें विकार क्यों नहीं उत्पन्न करता? इसलिए कि वह स्वयं निर्विकार है। एक पागलको नग्न देखकर आपके मनमें कामोत्तेजना क्यों नहीं होती? इसलिए कि उसकी कामाभिलाषा नष्ट हो चुकी है। नङ्गा रहना सरल काम नहीं है मन्त्री महोदय! यह बिरले योगियोंसे ही साध्य है। हमें ऐसे योगियोंके दर्शन अवश्य करना चाहिए।"

'पर यह तो आपके धर्मके विरुद्ध है महाराज!' अन्य किसी तर्कके अभावमें बलिने धर्मकी दुहाई दी। 'राजाका कोई धर्म नहीं होता मन्त्री महोदय! प्रजाका धर्म राजाका धर्म है। मेरा वही धर्म है जो मेरी प्रजाका है, मैं हर धर्म और हर जातिका संरक्षक हूँ' राजाने सगर्व उत्तर दिया। राजाके इस दृढ़ उत्तरने मन्त्रियोंको निरुत्तर कर दिया। वे चुप खड़े एक दूसरेकी ओर निहार ही रहे थे कि राजाने फिर कहा 'कुछ भी हो, आप लोगोंको मेरे साथ चलना होगा।' और वह स्वयं चल दिया। मन्त्री भी अपना-सा मुँह लिए राजाके पीछे पीछे चल दिए।

× × ×

उपवनका सुहावना और शान्त वातावरण किसी भी सहृदयके मनको मोह सकता है। पशुगण जहाँ निर्द्वन्द्व यथेच्छ विचरण कर रहे हों, पक्षी जहाँ मधुस्वरमें प्रेमालाप कर रहे हों, सरोवरोंमें मछलियाँ निर्भय किलोलें कर रही हों, स्नेह और वात्सल्यकी जहाँ धारा बह रही हो, द्वेष और ईर्षा जहाँ दृष्टि-गोचर तो क्या कर्णगोचर भी न होते हों, ऐसे स्थान में यदि आप पहुँच जाएँ तो आपका चित्त सचमुच स्वस्थ हो जावेगा, हृदय प्रफुल्लित हो उठेगा। सांसारिक जञ्जालोंकी जञ्जीरोंके बन्धन अपने आप खुल जाएँगे और आप अपनेको स्वतन्त्र अनुभव करेंगे। उपवनमें पहुँचते ही वहाँकी शान्त सुन्दरताने राजाके मनको तो मोह लिया ही था फिर शान्तिकी मूर्ति वनके देवता आचार्यको देखकर तो वह श्रद्धासे नम्र हो गया। सुखकी सच्ची अनुभूतिका उसने साक्षात्कार किया। आचार्यको मस्तक झुकाकर वहीं बैठ गया।

राजाके आनेके पूर्व ही आचार्यने अपने विशिष्ट ज्ञानसे जान लिया था कि इस नगरीमें अनेक अप्रत्याशित उत्पात खड़े होसकते हैं, इसलिये सङ्घके सदस्यों सहित वे आहार, निद्रा, भय आदि वृत्तियोंसे निरपेक्ष हो ध्यानस्थ होगये थे। उनके इस मौनसे भी दुष्टप्रकृति मन्त्रियोंने अनुचित लाभ उठाना चाहा। मुनियोंके विरुद्ध राजाको भड़कानेकी चेष्टा करते हुए बलि बोला 'महाराज ये पक्के ढोंगी हैं'। राजाने बलिके कथनपर कुछ ध्यान न दिया, चुप रहा। मन्त्री भला क्यों मानने चले, राजाको चुप देख वे और भी क्षुब्ध हो उठे, बलिने दुबारा आग उगली *'महाराज ये निरे अज्ञानी हैं और इसलिये* वाक्शून्य हैं। अपने अज्ञानको मौनके परिधानमें छिपानेका यत्न करनेपर भी ये बुद्धिमानोंकी आँखों-को धोखा नहीं दे सकते। आप जैसे नृपति इन्हें प्रणाम करें और इनके मुखसे 'आशीर्वाद'के दो शब्द भी न निकले। इन्हें लोकव्यवहारका तो जरासा भी ज्ञान नहीं है अतएव मौन हैं।' राजाने सब शान्त चित्तसे सुन लिया पर जवाब कुछ न दिया। मुनियों-के प्रति वह इतना अधिक आकृष्ट होचुका था कि उनके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं सुन सकता था किन्तु साथ ही मन्त्रियोंको दुःख नहीं पहुँचाना चाहता था। चुपचाप वहाँसे उठा और वापिस चल दिया।

× × ×

"तुम्हारा कार्य अनुचित हुआ बन्धु!" आचार्यने सौम्य स्वरमें कहा।

"कैसे देव?" युवकमुनिने जिज्ञासा प्रकट की।

"इसलिये कि दुर्जनोंके साथ विवाद किया" आचार्यने उत्तर दिया।

"पर मैंने अपने लिये ऐसा नहीं किया समाज और धर्मपर किए गए अनुचित आक्षेपोंका उचित उत्तर ही तो दिया है" युवक मुनिने सफाई दी। "मार्गमें दिवार उपस्थित होजानेपर उससे टकरानेमें

टकराने वालेका ही अलाभ है" आचार्यने तर्क उपस्थित किया।

"पर कुदालीकी सहायतासे उसपर विजय पाई जा सकती है देव !" युवक मुनिने तर्कका उत्तर तर्कसे ही दिया।

"ठीक कहते हो बन्धु ! तुम्हारा तर्क गलत नहीं है। समाज और धर्मकी रक्षाके लिये हर वैध उपायका आलम्बन लेना प्रत्येक सामाजिकका कर्तव्य है पर हमारा मुनिसमाज इससे भिन्न है। हमारे उद्देश्यकी पूर्ति सहनशीलतामें है। मान-अपमानका विचार हमारे लिये नहीं है। किसी धर्म विशेषके प्रति आग्रह न कर सर्वहितैषी सिद्धान्तोंको ही हमें अपना धर्म मानना चाहिये" आचार्यने उपदेशका सहारा लिया।

"मैं आपकी शिक्षाके आगे मस्तक झुकाता हूँ, मुझे दण्ड मिलना चाहिये" शिष्यने अपराधीकी भाँति निवेदन किया।

"दण्ड ! नहीं, तुम्हें दण्ड नहीं दिया जासकता। अपराधी ही दण्डका पात्र है पर ......" आचार्य बीचमें ही रुक गये।

"पर क्या देव ! स्पष्ट कहिये" युवक मुनिने प्रार्थना की।

"तुम्हारी इस अकिञ्चिन उत्तेजनासे सङ्घका भारी अकल्याण संभावित है" आचार्यने धीमे स्वरमें कहा।

"सो कैसे देव ?" शिष्यकी वाणीमें दीनता और कम्पन था।

"मन्त्रीजन अपने अपमानको सहज ही सहन नहीं करेंगे और वे इसका अवश्य प्रतिशोध लेंगे। मुझे जान पड़ता है आज ही रातको वे .... अपना बदला हमारे प्राणोंसे चुकावेंगे ?" आचार्यका स्वर क्रमशः धीमा हो चला था।

"इसके निराकरणका कोई उपाय नहीं है देव ? शिष्यकी आँखोंमें आँसू भर आये।"

"उपाय कष्टसाध्य है" आचार्यने दृढ़तासे उत्तर दिया।

"आज्ञा दीजिये, मैं प्राणोंके मूल्यसे भी उसका सौदा करनेको तैयार हूँ" शिष्यकी वाणीमें दृढ़ता थी।

"साधु वत्स ! तुम सच्चे साधु हो, साधु वह नहीं जो सांसारिक कष्टोंसे भयभीत हो जङ्गलकी एकान्त कन्दराओंमें तपके बहाने आ छिपता है, साधु वह है जो कष्ट सहनेका अभ्यास करता है। अवसर आजानेपर सीना अड़ा देता है। मुझे प्रसन्नता है तुमने साधुत्वका परिचय दिया, मुझे गर्व है तुम मेरे शिष्य हो।" आचार्य गद्गद हो उठे।

"देव ! शीघ्र कहिये, मैं सङ्घकी रक्षा किस प्रकार कर सकता हूँ" शिष्यकी आँखोंसे आँसू बह निकले।

"तो ठीक है। वादस्थानपर ही आजकी रात बिताओ। स्मरण रहे कि मन्त्रीजन बदला अवश्य लेंगे और यह भी स्मरण रहे कि तुम्हीं उनके प्रधान लक्ष्य हो" आचार्यने युवक मुनिको स्थितिकी विकटतासे पूर्ण परिचित कर दिया।

"मुझे स्वीकार है देव ! सङ्घके कल्याणमें मेरा कल्याण निहित है, सङ्घकी रक्षा धर्मकी रक्षा है। मैं अपनी सहनशक्तिका सच्चा परिचय दूँगा, साधु वृत्तिका सच्चारूप उपस्थित करूँगा। मुझे विश्वास है मैं आपत्तिके सम्मुख दृढ अवस्थित रहूँगा, क्योंकि आपका आशीर्वाद मेरे साथ रहेगा" युवक शिष्य अन्तिम नमस्कार कर चल दिया।

"यह दण्ड नहीं प्रायश्चित्त है बन्धु, इसे स्मरण रखना" चलते-चलते आचार्यने सूचना दी।

× × ×

सावनकी अँधेरी रात ! नीरव, निस्पंद ! तमकी सघनता ऐसी कि हाथको हाथ नहीं सूझता था। सर्वत्र सूनापन छाया हुआ था। एकाकिनी वायुके साँय-साँय शब्दके सिवाय कहीं भी कोई आहट तक न होती थी। चपला विद्युत् क्षणभरके लिये चमककर अँधकारकी सघनता और भयावहताको और भी बढ़ा देती थी। यदि वहाँ कोई व्यक्ति होता तो विद्युतके इस क्षणिक प्रकाशमें देखता कि चार व्यक्ति दबे पैर नगरीके बहिर्भागकी ओर बढ़े जारहे हैं, वे बार-बार पीछे फिरकर देखते हैं जिससे उनके शङ्कित चित्तका अनुमान लगाया जासकता है। भूवेश-षासे वे उच्च

कुलके मालूम होते हैं, कमरमें लटकती हुई उनकी तलवारें उनकी वीरताका परिचय देती हैं पर उनका इस प्रकार आधी रातमें सकम्प दबे पैरों चलना किसी अनिष्टकी आशङ्का उत्पन्न कर देता है। या तो इन्हें गुप्तचर होना चाहिये या डाकू अथवा इन्हींसे मिलते-जुलते कोई अन्य।

आगे चलकर तो ये चारों रुक गये और फुस-फुसाहट भी करने लगे। अरे यह क्या! इन्होंने तो अपनी तलवारें म्यानके बाहर निकाल लीं, तो क्या ये किसीका वध करना चाहते हैं? सम्भव है, चलिये आगे देखें, क्या होता है।

आप समझ गये होंगे कि ये चारों व्यक्ति और कोई नहीं वही चार मन्त्री हैं जिनकी प्रतिशोधभावना की आचार्य अकंपनने आशङ्का की थी। अपने अपमानका बदला अपमान करने वालेके प्राणोंसे चुकानेके लिये ही ये दुष्ट आधी रातमें इस प्रकार छिपते-छिपते यहाँ आपहुँचे हैं। राम राम! उन निरीह भोले तपस्वियोंपर ये अस्त्र कैसे चलेंगे। क्या उनकी रक्षा हो सकेगी। सुना तो है 'जाको राखे साइयाँ मार न सकता कोय'। और सामने यह कौन निश्चल ठूंठकी भाँति निश्चेष्ट खड़ा हुआ है, आकृति तो मनुष्य जैसी प्रतीत होती है। हाँ याद आया यह तो वही युवक मुनि हैं। ओहो कैसी शान्ति और सौम्यता झलक रही है इसके वदनपर। इसे जरा भी आशङ्का नहीं, किञ्चित् भय नहीं। कैसा निर्भय खड़ा है, इसे नहीं मालूम कि इसके बधिक इससे दूर नहीं और मालूम भी हो तो वह डरने क्यों चला। जब शरीरसे मोह नहीं तो डर काहे का।

एकाकी मार्गमें ही अपने शत्रुको पाकर मन्त्रियों-के हर्षका ठिकाना न रहा। उनका शत्रु उनके सामने निःसहाय खड़ा हुआ है, उसके प्राण उनके हाथोंमें हैं, मरी मक्खीकी भाँति उसे मसल दिया जासकता है। वे फूल उठे। 'हमारे अपमानका बदला इसीके प्राण हैं' एकने उत्तेजित हो कहा और सबके सब आगे बढ़ आये। पर चोरका दिल होता कितना है? अपने साथीपर भी उसे शङ्का होती है। 'कहीं यह न हो कि रहस्य खुल जाय और वधिकको अपने प्राणोंकी बलि देनी पड़े' एक साथ ही सबके मनमें यही शङ्का उपस्थित होगई। 'इसे मारे कौन' अन्तमें निश्चय हुआ कि चारों एक साथ ही प्रहार करें ताकि बदला चारोंका चुक सके और पापमें भी सब समभागी रहें।

बिजलीके प्रकाशमें चार तलवारें चमक उठीं। बस एक छपाकेका शब्द और मुनिका मुण्ड पृथ्वीपर होगा पर यह क्या? अरे उनके हाथ रुक क्यों गये! अरे वे तो हिलते डुलते भी नहीं, उनकी नसें तन गईं और किंकर्तव्य विमूढ़से वे एक दूसरेको क्यों देख रहे हैं। अरे वे तो कीलित जैसे कर दिये गये हैं। ठीक है 'जाको राखे साइयाँ मार न सकता कोय'। पर बेचारे समझ ही नहीं पाये कि उन्हें हो क्या गया है, उनका सामर्थ्य कहाँ लुप्त होगया? क्या वे स्वप्न देख रहे हैं? सामने खड़ा व्यक्ति पूर्ववत् शान्त ज्योंका त्यों निश्चेष्ट था।

× × ×

दिनभरकी गहरी वर्षाके अनन्तर सायङ्कालसे ही मेघ हट चुके थे। वर्षाकी कोई सम्भावना नहीं रही थी। राकाका पूर्णचन्द्र अपने साथियोंको साथ लिये गगनके विशाल क्रीडाङ्गणमें क्रीड़ा करने निकला था। पृथ्वी दूधसे धोई जान पड़ती थी, आकाश-मण्डल ज्योत्स्ना-ज्योतित था।

वनप्रान्तमें आचार्य सागरचन्द्र शयनका उपक्रम कर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि आकाशकी ओर दौड़ी। सर्वत्र शान्ति थी, शीतलता थी और थी कान्ति मानो आचार्यके हृदयका प्रतिबिम्ब ही बिम्ब बन गया था। ऐसे शान्त कान्तवातावरणमें श्रवण नक्षत्र की ओर दृष्टि जाते ही आचार्यके नेत्रनक्षत्र काँप उठे। 'श्रवण नक्षत्रका कम्पन किसी भारी अनिष्टकी सूचना है' यह विचार आते ही आचार्यके सामने एक करुण दृश्य सा उपस्थित होगया। चारों ओर अग्नि धधक रही है, सड़े मांस, हड्डी आदि अपावन और घृणित वस्तुओंका ईंधन बनाया जारहा है। वनके पशु-पक्षी त्रस्त हो यहाँ-वहाँ भाग रहे हैं और अग्निके

इस घेरेमें घिरे हैं ७०० दिगम्बर मुनि । अपना प्राणान्त सन्निकट जान जो साधनारत होकर आत्माको परमात्मामें परिणत करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसे नरमेध यज्ञके नामसे प्रख्यात किया जारहा है। "सातसौ मुनियोंका करुण वध !" आचार्यकी आत्मा कराह उठी। स्वयं उच्चरित दो शब्दोंमें उनकी इस पीड़ाको प्रगट किया वे चीख उठे 'हा ! कष्ट !'

आकस्मिक और करुणार्द्र स्वरसे कहे गये इन दो शब्दोंने ही अर्धसुप्त क्षुल्लक पुष्पदन्तको चौंका दिया। आश्चर्यकी सीमा न रही उनके। आचार्य प्राणान्त तक भी रात्रिभाषण नहीं करते । "अवश्य कोई असाधारण कारण है" सोचते हुए वे आचार्यके पास दौड़ आये। "देव यह कैसा कष्ट है जिसने आपको इतनी पीड़ा पहुँचाई ?"

क्षुल्लकके प्रश्नके उत्तरमें आचार्यने सारी कथा सुना दी। क्षुल्लककी आँखोंमें आँसू आगये, वे आतुर हो उठे कुछ कर सकनेको। "देव कोई उपाय है इसके निवारणका" उन्होंने प्रार्थना की। आचार्यके नेत्र दो क्षणके लिये मुंद गये, वे ध्यानस्थ बैठ गये। हर्षकी लाली उनके मुखपर प्रस्फुटित होगई, बोले "है।"

क्षुल्लककी आतुरता बढ़ रही थी बोले "आज्ञा दीजिये देव ! कैसे सातसौ मुनियोंके प्राण बचाये जा सकते हैं ?"

"विष्णुकुमार योगी समर्थ हैं" आचार्यने प्रशान्त स्वरमें उत्तर दिया।

"देव ! कैसे" क्षुल्लकने प्रश्न किया। "उन्हें विक्रिया शक्ति प्राप्त है" आचार्यने उत्तर दिया।

"पर वे तो दीक्षित हैं, इस रात्रिमें क्या कर सकते हैं" क्षुल्लकने निराशा दिखाई।

"वे सब कर सकते हैं, सातसौ मुनियोंकी रक्षा एक मुनिके चरित्रसे लाखगुनी आवश्यक है। उनकी करुण दशाका स्मरण आते हो जब मैं एक विशाल सङ्घका आचार्य करुणार्द्र हो नियमच्युत हो सकता हूँ तो उनकी रक्षामें समर्थ योगी विष्णुकुमार अपनी तपस्याकी बलि नहीं दे सकते। यदि वे सच्चे योगी हैं तो अवश्य ही इससे मुंह न मोड़ेंगे। यदि वे तपस्याके लोभसे ऐसा नहीं करते तो वे साधु नहीं पर साधुवेशको कलङ्कित करने वाले महास्वार्थी हैं। मुझे विश्वास है विष्णुकुमार ऐसे नहीं हैं" आचार्य चुप होगये।

विश्वस्त क्षुल्लक पुष्पदन्त चर आचार्यको मस्तक झुका गगनमार्गसे चल दिये।

आप न भूले होंगे कि मुनिवधका प्रयत्न करते हुए चारों मन्त्री वनदेवता द्वारा कील दिये गये थे। प्रातः होते ही नगरकी जनताने उन्हें उसी अवस्थामें देखा और धिक्कारा। राजा तो उन्हें प्राणदण्ड देने को तैयार होगया था पर आचार्यने उन्हें क्षमा करा दिया।

मुनियोंके चरणोंमें गिरकर राजाने नगरीकी ओरसे क्षमा माँगी। आचार्यने समझाया 'राजन् यह तो होनहार थी होगई। होनी होकर ही रहेगी अनहोनी होगी नहीं।' आचार्यके शीतल अमृततुल्य उपदेशसे राजाको शान्ति मिली, उसकी आत्मग्लानि दूर होगई।

नगरनिष्कासित मन्त्रीगण अवन्तीसे हस्तिनापुर पहुँचे। अपने चातुर्य और पाण्डित्यके बलपर उन्होंने वहाँके राजा पद्मके अव्यवस्थित राजकार्यको व्यवस्थित कर, शत्रुओंका दमनकर उसका विश्वास प्राप्त कर लिया। वे मन्त्री तो बना ही दिए गए साथ ही साथ राजाने उन्हें यथेच्छित वस्तु प्राप्त कर सकनेकी घोषणा भी की थी। मन्त्रियोंने यह वचन-दान उपयुक्त अवसर के लिए रख छोड़ा था। पूर्व मुनिसंघके हस्तिनापुरमें आ पहुँचनेपर मन्त्रियोंकी प्रतिशोध-ज्वाला पुनः प्रज्वलित हो उठी। बदला लेनेका उपयुक्त अवसर और साधना सुलभ देख उन्होंने राजासे सात दिनका राज माँगकर नरमेध यज्ञके नाम पर मुनियोंको जीवित जला डालनेकी योजना बनाई। राजा इस दुरभिसंधिसे सर्वथा अनजान था, प्रसन्नतापूर्वक उसने मन्त्रियोंकी इच्छानुसार उन्हें सात दिनके राज्याधिकार सौंप दिए। मन्त्रियोंने शासनके बलपर अपनी योजनाको कार्यान्वित कर दिया। सर्वत्र

त्राहि-त्राहि मच गई। मुनियोंके इस असह्य उपसर्ग को देख मनुष्य तो क्या पशु भी विकल हो रहे थे। श्रवण नक्षत्र उसी दृश्यको देख तड़प उठा था।

"योगिश्रेष्ठ ! मुनियोंका कष्ट निवारण कीजिये" शिलासमान निश्चल योगी विष्णुकुमारके सम्मुख क्षुल्लक पुष्पदन्तने दीन पुकार की। योगीकी आँखें आश्चर्यसे खुल गई। "रक्षा महायोगिन् !" क्षुल्लकने दुहराया। "कैसी रक्षा बन्धु ! किसकी रक्षा ?" योगीने सरलतासे प्रश्न किया। उत्तरमें क्षुल्लकने सारी कथा उन्हें सुना दी।

"पर मैं क्या कर सकता हूँ," अपनेको असमर्थ जान विष्णुकुमार दुःखी हुए।

"आप विक्रियाशक्ति सम्पन्न हैं, हे योगिवर !" क्षुल्लकने अचकचाते हुए निवेदन किया।

"विक्रियाशक्ति ?" विष्णुकुमार चौंक उठे। उन्हें पता भी न था कि यह महाऋद्धि उन्हें सिद्ध होगई है। और सच भी तो है दिगम्बर मुनि सांसारिक ऋद्धि और विभवके लिए अपने शरीरको नहीं तपाते। उन्हें तो आत्म-सिद्धि चाहिए। वही एक अभिलाषा है, वही एक लक्ष्य है। शक्तिकी परीक्षा कर विश्वस्त योगी प्रसन्न हो आधी रातको मुनियोंकी रक्षाके लिए चल पड़े।

अब हम राजधानी हस्तिनापुर चलते हैं। जहाँ नरमेध यज्ञ हो रहा है, बड़े-बड़े पण्डित और ब्राह्मण एकत्र हैं। वेद-पाठ हो रहा है, मन्त्रों और स्वाहाकी ध्वनिसे आकाश गूँज उठा है। यज्ञशालाके द्वारपर ही दानशाला है, राजा बलि स्वयं अपने हाथों याचकोंको यथेच्छित लुटा रहा है। इच्छाओं-का अन्त नहीं, कोई रुपए माँगता है तो कोई मणि-मुक्ता। किसीको हाथी-घोड़े प्रिय हैं तो अन्यको बड़ी-बड़ी जागीरें। बलि हर एककी इच्छापूर्ति करता है आजतक कोई याचक असन्तुष्ट नहीं हुआ। सबने अपनी इच्छानुसार पाया।

विष्णुकुमार अपनी ही पुरीमें, अपने भाईके राज्यकालमें मुनियोंके इस महान उपसर्गसे पीड़ित हो उठे ! उनकी आँखोंसे धारा बह चली ! आजतक के इतिहासमें इस पुण्यनगरीमें मुनियोंके विरुद्ध ऐसा उत्पात कभी नहीं हुआ। उन्होंने देखा जनता मुनियोंके उपसर्गसे त्रस्त है, वचनबद्ध राजा अपनेको असमर्थ मान महलोंमें छिपा है और दुष्ट बलि अनुकूल अवसर पा अपने विरोधका बदला ले रहा है।

क्षण-क्षण युग-सा बीत रहा है। योगी विष्णु-कुमार एक क्षण भी न ठहर सके। झट वे बौने ब्राह्मणका रूप धारणकर दानशालाके द्वारपर उपस्थित हुए। वेदमन्त्रों और स्वस्तिवचनोंका वे उच्चारण कर रहे थे, गम्भीर पाण्डित्यका प्रदर्शन उनके दीप्त चेहरेसे हो रहा था। बलि इस असाधारण व्यक्तिसे प्रभावित हुए बिना न रह सका। झट उठ खड़ा हुआ। "महाराज आज्ञा दीजिए" बलिने प्रणामपूर्वक प्रार्थना की। अपने कार्यको इतनी आसानीमें सम्पन्न होते हुए देख ब्राह्मण अति हर्षित हुआ, किन्तु अपनी उत्सुकताको यथासाध्य-कृत्रिम गंभीरता और उपेक्षामें छिपाते हुए बोला—"एक छोटी-सी कुटियाके लिए तीन पैर पृथ्वी"। बलि अचम्भेमें डूब गया। उसकी दान-शालामें आजतक किसीने इतनी अल्प याचना नहीं की। बलिने सोचा, याचक निर्लोभ तपस्वी है। वह मुग्ध हो गया, हाथ बाँधे बोला—"महाराज और कुछ माँगिए मैं सब दूंगा।" ब्राह्मणकी भौहें तन गई, क्रोधमुद्रा धारण करली, वह तीक्ष्ण-स्वरमें बोला—"बलि ! तुझे अपने राज्य और विभवका घमण्ड है तू मुझे साधारण लोभी समझता है। मुझे नहीं चाहिए तेरा दान" पैर फटफटाते ब्राह्मण वहाँसे चल दिया। राजा भयसे भीत हो गया, ऐसा असाधारण ब्राह्मण कहीं श्राप दे दे तो ? उसका मस्तिष्क त्रस्त हो उठा। नंगे पैरों ही ब्राह्मणके पीछे दौड़ा, चरणोंमें गिर क्षमा-याचना करने लगा, क्षमा कीजिए महाराज ! मैं सर्वथा तैयार हूँ।'

ब्राह्मणका बनावटी क्रोध धीरे-धीरे शान्त हुआ। "मैं स्वयं ही नापूँगा' ब्राह्मणने याचनामें परिवर्धन किया। बलि स्वयं परेशान था, ऐसे योग्य ब्राह्मणको वह कुछ विशिष्ट देना चाहता था, पर यह ब्राह्मण भी ऐसा विचित्र कि कुछ लेनेका नाम ही नहीं लेता, तीन पैर पृथ्वी और वह भी इन छोटे पैरों द्वारा नापी जाए। पर क्या करे वह विवश था, कहीं ब्राह्मण फिर विमुख न हो जाए। पर "आप हर प्रकार समर्थ हैं महाराज" कह गङ्गाजलसे उसने संकल्प कर ही तो दिया।

संकल्प हुआ नहीं कि वह बौना शरीर असंभावित रूपसे बढ़ने लगा और इतना बढ़ा कि उसका सिर बादलोंसे टकराने लगा। उपस्थित दर्शकसमूह भयाक्रान्त होगये, बलिकी आँखें फिर गईं, वह चकित हो चित्र-लिखितसा रह गया! मूर्छित होते-होते वह धीर किसी प्रकार सँभल गया। भीड़ यहाँसे वहाँ दौड़ने लगी, यज्ञकार्य रुक गया।

महाकाय अपने कार्यमें व्यस्त था, उसने अपना पहिला पैर उठाकर मेरुपर रखा और दूसरेसे मनुष्यलोककी सीमाको नाप लिया अब तीसरे पैरको जगह कहाँ! बलिके राज्यकी तो बात ही नहीं सारा मनुष्यलोक ही नप चुका था। "बलि, अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तीसरे पैरकी भूमिका प्रबन्ध करो" महाकाय ने महागर्जना की।

बलिको कुछ सूझता ही न था कि मैं क्या करूँ। उसे यह सब स्वप्न-जैसा प्रतिभासित होता था। महाकायकी महागर्जनासे उसकी चेतना सचेत हुई। उसका धैर्य और शौर्य एक साथ ही उद्दीप्त हो उठे, दृढ़तासे उसने जवाब दिया "मेरा शरीर शेष है" बलि वचनका पक्का था, 'प्राण जायँ पर वचन न जाहीं' उसका सिद्धान्त था। कहनेके साथ ही उसने अपने शरीरको पृथ्वीपर बिछा दिया। योगीका क्रोध अन्तिम सीमा तक पहुँच चुका था। बलिकी हठने उसे और भी उद्दीप्त कर दिया उसने रख ही तो दिया अपना पहाड़सा तीसरा पैर बलिकी असहाय पीठपर। कराह उठा बलि, चरमरा गईं उसकी पार्थिव हड्डियाँ। पृथ्वी काँप उठी, आकाश डोलने लगा, वायु स्थिर होगई। चारों ओरसे 'दया-दया, रक्षा-रक्षा' की पुकारें आने लगीं। हाथ बाँध लोग प्रार्थना करने लगे योगीसे। योगी आखिर योगी ही था, उसका क्रोध क्षणभरमें ही शान्त होगया। उसकी आँखें करुणासे आर्द्र होगईं, शीघ्र ही अपनी माया समेट कर अपने सच्चे रूपमें उपस्थित होकर बलिको क्षमा किया। उपस्थित जनताने धन्य-धन्य और जय-जयके नारे लगाये। उपकारग्रस्त बलि भी योगी के चरणोंमें गिर फूटफूट कर रोने लगा।

यज्ञका तो कुछ मत पूछिये। उसका तो नामोनिशान भी नहीं रह गया था। योगी विष्णुकुमारके नेतृत्वमें मुनियोंकी सुश्रुषा होने लगी। जनताकी आन्तरिक पुकारें और सेवासे उन्हें स्वास्थ्य लाभ हुआ।

× × ×

नगरीकी सारी जनता दूसरे दिन वनमें एकत्र हुई। योगी विष्णुकुमारका अभिनन्दन किया गया। योगीने भी अपनी इस परम तपस्याके अनन्तर पुनः आचार्य अकम्पनसे मुनिकी दीक्षा ली। इस शुभ अवसरपर अकम्पनका अमृततुल्य उपदेश हुआ। उन्होंने योगी विष्णुकुमारकी हृदयसे प्रशंसा की। हरएकको आदेश दिया कि वे धर्म और समाजकी विपत्ति निवारणार्थ अपने वैयक्तिक स्वार्थोंको तिलाञ्जलि दें। उनके अन्तिम शब्द थे 'सच्चा वात्सल्य स्वार्थकी अपेक्षा नहीं करता, माता अपने पुत्रकी रक्षार्थ अपनी शक्ति या प्राणोंका मोह नहीं करती।'

वात्सल्य-दीक्षाके साक्षी स्वरूप जनसमूहने अपनी कलाईमें एक बन्धन-सूत्र बाँधा जो आगे रक्षाबन्धन कहलाया।

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एककर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

[गत किरणसे आगे]

प्रो० सा० का विक्षोभ—

विज्ञ पाठकोंको मालूम है कि मैंने अपने पिछले लेखोंमें वादिराजके पार्श्वनाथचरितका रत्नकरण्डक सम्बन्धी उल्लेख विवेचन-सहित उपस्थित किया था और उसके द्वारा यह प्रमाणित किया था कि रत्न-करण्डक पार्श्वनाथचरितके रचनाकाल (वि० सं० १०८२) से बहुत पहलेकी रचना है और उसका कर्त्ता उसमें 'योगिन्द्र' उपाधि द्वारा स्वामी समन्तभद्र (आप्तमीमांसाकार) को बतलाया गया है। इस पर प्रो० सा० अपने उत्तर-लेखमें बहुत ही विक्षुब्ध हो उठे हैं और अपनी मर्यादासे बाहर हो गये हैं। लोकमें एक कहावत प्रसिद्ध है, कि 'खिसयानी बिल्ली खम्भा नोचे' ठीक इसी कहावतको उन्होंने चरितार्थ किया है। जब उनसे मेरे लेखके मुद्दोंका युक्तिसंगत समाधान नहीं बन पड़ा तो वे कोसनेपर उतारू हो गये और उन्होंने मुझे 'एक घोर पक्षपाती', 'न्यायके क्षेत्रमें बड़ा अयोग्य विचारक', 'न्यायशास्त्रका दुरुपयोग करने वाला', 'बौद्धिक ईमानदारीमें विश्वास का अपात्र', 'अनुमानके उत्कृष्ट नियमोंसे हीन-व्यवसाय करने वाला', 'विक्षिप्तताकी ओर बढ़ने वाला,' 'भ्रान्तिरूपी अन्धकार वाला' जैसे स्वरुचि-विरचित सुन्दर विशेषणोंसे सत्कृत किया है! मैं इन विशेषणोंका पात्र हूँ या नहीं, यह विद्वान् पाठक जानते हैं। मैंने जो कुछ लिखा है वह और प्रो. सा. ने उसका जो उत्तर दिया है वह, दोनों विज्ञ पाठकोंके सामने हैं और इसलिये वे निर्णय कर सकते हैं कि कौन कैसा है? परन्तु प्रो. सा. की उक्त प्रवृत्तिसे दो बातें स्पष्ट हैं, एक तो यह कि उनका इस प्रकारसे कोसनेका यह कुछ चिरन्तनाभ्याससा जान पड़ता है—गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिके समय पंडित परमानन्दजी शास्त्रीको भी उन्होंने ऐसे ही विशेषणोंसे सत्कृत किया था! दूसरी बात यह कि वे तत्त्वचर्चाके समयमें भी क्षोभयुक्त होजाते हैं, और इससे उनकी कमजोरी साफ जान पड़ती है। ऐसी हालतमें उनसे तात्त्विक विचारकी आशा करना अथवा तथ्य-ग्रहणकी उम्मीद रखना व्यर्थ है। फिर भी हम उनके लेखकी शेष बातोंपर विचार करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझकर निम्न पंक्तियाँ लिख रहे हैं—इसके बाद अपनी प्रस्तुत चर्चाको समाप्त कर देंगे। हाँ, सौम्य और निष्पक्ष चर्चाके लिये हम सदैव प्रस्तुत रहेंगे।

पार्श्वनाथचरितके उल्लेखपर विस्तृत विचार—

आचार्य वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में बनाकर समाप्त किया है। इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती गृध्रपिच्छादि अनेक प्रसिद्ध आचार्यों और उनकी कुछ खास कृतियोंका पद्य नं० १६ से ३० तक उल्लेख किया है। इन पद्योंमें 'देव' और 'योगीन्द्र' के उल्लेखोंको छोड़कर शेष उल्लेख तो प्रायः स्पष्ट हैं और इसलिये उनमें कोई विवाद नहीं है। परन्तु 'देव' और 'योगीन्द्र'के दो उल्लेख ऐसे हैं जो कुछ अस्पष्ट हैं और इसलिये विद्वानों-में उनके वाच्यार्थमें विवाद है। जैन-साहित्य और इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार उनका वाच्यार्थ स्वामी समन्तभद्र (देवागमकार) को मानते हैं और अपनी इस मान्यताके समर्थनमें वे प्रमाण देते हुए कहते हैं कि 'समन्तभद्रके साथ 'देव' उपपद भी जुड़ा हुआ पाया जाता है, जिसका एक

उदाहरण देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिके अन्त्यमङ्गलका निम्न पद्य है:—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने ।
समन्तभद्रदेवाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥

और इसलिये उक्त (पार्श्वनाथचरितगत) मध्यवर्ती (१८वें) श्लोकमें आये हुए 'देव' पदके वाच्य समन्तभद्र भी होसकते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है।'

ब्रह्म नेमिदत्तने अपने 'आराधनाकथाकोश' में समन्तभद्रकी कथाका वर्णन करते हुए, जब योगि-चमत्कारके अनन्तर समन्तभद्रके मुखसे उनके परिचयके दो पद्य कहलाये हैं तब उन्हें स्पष्ट शब्दोंमें 'योगीन्द्र' लिखा है[1], जैसा कि निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः ।"

ब्रह्म नेमिदत्तका यह कथाकोश आचार्य प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोशके आधारपर निर्मित हुआ है, और इसलिये स्वामी समन्तभद्रका इतिहास लिखते समय मैंने प्रेमीजीको उक्त गद्यकथाकोशपरसे ब्रह्म नेमिदत्त वर्णित कथाका मिलान करके विशेषताओंका नोट कर देनेकी प्रेरणा की थी। तदनुसार उन्होंने मिलान करके मुझे जो पत्र लिखा था उसका तुलनात्मक वाक्योंके साथ उल्लेख मैंने एक फुटनोटमें उक्त इतिहासके पृ० १०५, १०६पर कर दिया था। उसपर से मालूम होता है कि—"दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" और जो साधारणसा फर्क है वह उक्त फुटनोटमें पत्रकी पंक्तियोंके उद्धरण द्वारा व्यक्त है। अतः उस परसे यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्र-ने भी अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है। चूंकि प्रेमीजीके कथनानुसार ये गद्यकथाकोशके कर्ता प्रभाचन्द्र भी वे ही प्रभाचन्द्र हैं जो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और 'रत्न-करण्डश्रावकाचार' की टीकाके कर्ता हैं। अतः स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोगका अनुसंधान प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी रचनाके समय अथवा वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितकी रचनासे कुछ पहले तक पहुँच जाता है।'

मुख्तार सा. के इस सप्रमाण कथनसे अपनी सहमति प्रकट करते हुए हमने पिछले (द्वितीय) लेखमें लिखा था—

'मुख्तार साहबका यह प्रमाणसहित किया गया कथन जी को लगता है और अब यदि इन तीनों श्लोकोंके[2] यथास्थित आधारसे भी यह कहा जाय कि वादिराज देवागम और रत्नकरण्डकका एक ही कर्ता—स्वामी समन्तभद्र मानते थे तो कोई बाधा नहीं है—दो श्लोकोंके मध्यका व्यवधान भी अब नहीं रहता।'

इसपर प्रो. सा. लिखते हैं—'किन्तु मेरा पण्डितजीसे कहना है कि उक्त बात उनके जी को भले ही लगे, परन्तु बुद्धि और विवेकसे काम लेनेपर आपका निर्णय बहुत कच्चा सिद्ध होता है। पार्श्वनाथचरितके जिस मध्यवर्ती श्लोकमें देवकृत शब्दशास्त्रका उल्लेख आया है उसे समन्तभद्रपरक मान लेनेमें केवल वसुनन्दि वृत्तिका 'समन्तभद्रदेव' मात्र उल्लेख पर्याप्त प्रमाण नहीं है। एक तो यह उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत पीछेका है। दूसरे, उक्त वृत्तिके अन्त्य मङ्गलमें जो वह पद दो बार आगया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्र 'देव' उपनामसे भी साहित्यिकोंमें प्रसिद्ध थे। वहाँ तो उस पदको दो बार प्रयुक्त कर यमक और परमात्मदेवके साथ श्लेषका कुछ चमत्कार दिखलाने-का प्रयत्न किया गया है। तीसरे, समन्तभद्रको उक्त 'देव' का वाच्य बना लेनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस श्लोकमें वादिराजने उनके कौनसे शब्द-शास्त्रका संकेत किया है?'

१ इसके अलावा इस ग्रन्थमें और भी अनेक जगह 'योगीन्द्र' का प्रयोग है। देखो, वही ग्रन्थ।

१ 'अनेकान्त' वर्ष ७, किरण ५-६।

२ पार्श्वनाथचरित—१ सर्ग, १७, १८, १९ श्लोक।

आगे चलकर 'योगीन्द्र' के सम्बन्धमें आप कहते हैं—'मुख्तार सा. तथा न्यायाचार्यजीने जिस आधारपर 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिये प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोश स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना कि प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमें समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' शब्द आया है। केवल प्रेमीजीने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि 'दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्य-कथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।' उसीके आधारपर आज उक्त दोनों विद्वानोंको "यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्य कथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है"।

'देव' और 'योगीन्द्र' पदपर विचार—

प्रो. सा. की उक्त दोनों बातों पर हम नीचे विचार करते हैं—

(१) सबसे पहले हम उनकी 'देव' शब्द वाली पहली बातको लेते हैं—'देव' शब्दका 'समन्तभद्रदेव' अर्थ करनेमें आप केवल वसुनन्दि वृत्तिका 'समन्तभद्रदेव' मात्र उल्लेख पर्याप्त प्रमाण नहीं मानते। इसमें आपने जो तीन हेतु दिये हैं उनमें पहला हेतु तो बहुत ही कमजोर और बेदम है क्योंकि किसी उल्लेखके केवल पश्चाद्वर्ती होनेसे ही उसकी प्रामाणिकता नष्ट नहीं होती और पूर्ववर्ती होनेसे ही उसकी प्रामाणिकता नहीं आती। प्रामाणिकताके लिये तो विरोधादि दोषोंका अभाव होना ही आवश्यक है और वसुनन्दिके उक्त उल्लेखमें विरोधादि कोई दोष नहीं है। तब उनके उस उल्लेखमें अस्वरस एवं सन्देह व्यक्त करना अनुचित है। दूसरे, वसुनन्दिके उक्त उल्लेखको वादिराजके पार्श्वनाथचरितसे पीछेका बतलाना एक बड़ा भ्रम है। जैन साहित्य और इतिहासके दो महान् विद्वानों—प्रेमीजी[1] और मुख्तार सा.[2]—ने वसुनन्दिका समय विक्रमकी ११वीं शताब्दी अनुमानित किया है; क्योंकि सं० १०५० (सुभाषितरत्न सं०) के आचार्य अमितगतिने भगवती आराधनाके अन्तमें अपनी आराधनाको वसुनन्दि योगीसे महित (सत्कृत) बतलाया है और इन वसुनन्दि योगी तथा देवागम वृत्तिके कर्ता वसुनन्दिको प्रेमीजी और मुख्तार सा. ने अभिन्न सम्भावित किया है और इसलिये देवागमवृत्तिकार वसुनन्दि अमितगति (वि० सं० १०५०, ई० ९९३) के समकालीन सिद्ध होते हैं। ऐसी हालतमें वसुनन्दि (वि० सं० १०५०) के उक्त उल्लेखको, जो वादिराजके पार्श्वनाथचरित (वि० सं० १०८२) से पूर्वका है, वादिराज (वि० १०८२) के पीछे ढकेलना अतिसाहस है।

(ख) दूसरा हेतु भी सर्वथा अयुक्त एवं असिद्ध है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र साहित्यिकोंमें 'देव' उपनामसे भी प्रसिद्ध रहे हैं। इसके लिये मैं वसुनन्दिके उक्त उल्लेखके अलावा चार उल्लेखोंको और यहाँ उपस्थित करता हूँ:—

(१) पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृत-टीका (पृ० ८२)में समंतभद्रके लिये 'देव' पदका उल्लेख निम्न प्रकार किया है:—

"एतेन यदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रदेवैः-'दर्शनिकस्तत्त्वपथ-गृह्यः' इति दर्शनप्रतिमालक्षणं तदपि संगृहीतम् ....।"

(२) आचार्य जयसेनने 'समयसार' की अपनी तात्पर्यवृत्तिमें स्याद्वादका स्वरूप बतलानेके लिए 'समन्तभद्राचार्यदेवैः' पदके साथ समन्तभद्रके तीन पद्योंको उद्धृत करते हुए लिखा है—

"तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु समन्तभद्राचार्यदेवैरपि भणितमास्ते।" (पृष्ठ २११)

(३) आचार्य श्रीनरेन्द्रसेनने भी अपने सिद्धान्त-सारसंग्रहमें स्वामी समन्तभद्रका 'देव' उपनामके साथ निम्नप्रकार स्मरण किया है—

१ 'जैन साहित्य और इतिहास'—पृष्ठ ४६३।

२ पुरातन जैन-वाक्य-सूचीकी 'प्रस्तावना'।

"श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् ।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥"

(४) डा. ए. एन. उपाध्ये कोल्हापुरके अनुग्रहसे मुझे Bhandarkar Oriental Research Institute पूनासे 'आप्तमीमांसा' मूलकी कुछ प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं। इनमें (वि० सं० १७५२ ई० सन १६९५) की लिखी हुई एक अढ़ाई सौ वर्ष प्राचीन प्रति भी है। इस प्रतिके अन्तिम पुष्पिका वाक्यमें भी 'समन्तभद्र' के साथ 'देव' उपपद जुड़ा हुआ है। वह पुष्पिका वाक्य निम्न प्रकार है:—

"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुरस्याधिपसूनोश्च स्वामिसमन्तभद्रदेवस्य मुनेः कृतावाप्तमीमांसालंकृतौ दशमः परिच्छेदः ॥१०॥"*

इन उल्लेखोंसे प्रकट है कि स्वामी समन्तभद्र साहित्यकारोंमें 'देव' उपनामसे भी प्रसिद्ध थे और इसलिये साहित्यकार उन्हें 'समन्तभद्रदेव' 'समन्तभद्राचार्यदेव' और केवल 'देव' रूपमें उल्लेखित करते पाये जाते हैं। ऐसी हालतमें प्रो. सा. का यह कहना कि 'स्वामी समन्तभद्र साहित्यिकों में 'देव' उपनामसे प्रसिद्ध नहीं हैं' सर्वथा भ्रांत और निराधार है—उसका अनुसन्धान एवं खोजसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वसुनन्दिकी उक्त देवागमवृत्तिमें आया हुआ 'समन्तभद्रदेव' शब्द भी प्रो. सा. के मतानुसार जब यमक और परमात्मदेवके साथ श्लेषका सूचक है तो वह स्वामी समन्तभद्रका भी बोधक है—उसका निराकरण नहीं हो सकता है। हाँ, यदि देवागमवृत्तिसे भिन्न दूसरे ग्रन्थमें उक्त पद आता और वहाँ केवल 'देव' पद ही होता—'समन्तभद्रदेव' नहीं तो सम्भव था कि उससे समन्तभद्रस्वामीका बोध न किया जाता। चूँकि उक्त 'समन्तभद्रदेव' पद स्वामीसमन्तभद्रके 'देवागम' पर लिखी गई टीकामें उसके टीकाकारने दिया है इसलिये यह पूर्णतः निश्चय है कि उसके द्वारा उन्हें परमात्मदेवकी तरह स्वामी समन्तभद्रदेवके लिए भी नमन करना इष्ट है। वास्तवमें 'देव' शब्द पूज्य अर्थका वाची है और उसका स्वामी समन्तभद्र जैसे महान पूज्याचार्यके लिये साहित्यिकों द्वारा प्रयुक्त होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अकलङ्क, विद्यानन्द जैसे महान आचार्योंने भी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि अपनी टीकाओंमें 'येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना। तस्मै नमःसन्ततम्' आदि शब्दों द्वारा स्वामी समन्तभद्रको सश्रद्ध नमस्कार करके उनकी पूज्यता व्यक्त की है। अतः प्रो. सा. का दूसरा हेतु भी असिद्ध और युक्तिहीन है।

(ग) तीसरे हेतुके सम्बन्धमें हम भी यह प्रश्न उठा सकते हैं कि वादिराजने अपने उक्त पार्श्वनाथचरितमें ही उसके २९वें पद्यमें विशेषवादीके कौनसे विशेषाभ्युदय ग्रन्थका सङ्केत किया है? यदि आप कहें कि वह आज अनुपलब्ध है तो हम भी कह सकते हैं कि वादिराजने स्वामी समन्तभद्रके जिस शब्दशास्त्रका उल्लेख किया है वह आज अनुपलब्ध है। पूज्यपाद-देवनन्दिने तो अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें 'लङः शाकटायनस्य' इस सूत्रकी तरह 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस सूत्रद्वारा उनके शब्दशास्त्रका उल्लेख भी किया है। वादीभसिंहकी गद्यचिन्तामणिमें उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि' और समन्तभद्रके एक परिचय-पद्यमें 'सिद्धसारस्वत' भी कहा गया है, जिनके प्रकाशमें यदि हम वादिराजसूरिके 'अचिन्त्यमहिमा देवः शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति' पद्यको पढ़ें तो स्पष्ट ज्ञात होजाता है कि स्वामी समन्तभद्र अलौकिक शब्दशास्त्री भी थे और उनका कोई शब्दशास्त्र जरूर रहा है। वादिराजका यह एक चमत्कारपूर्ण कला भी हो सकती है कि उन्होंने 'स्वामिनश्चरित' और 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' पद्योंके मध्यमें उक्त पद्यको रखकर उसमें 'देव' पद द्वारा स्वामी समन्तभद्रकी सूचना की है, जिसके द्वारा प्रकारान्तरसे देवनन्दिका भी सूचन होजाता है। इसके सिवाय, उनके द्वारा कोई व्याकरणशास्त्र (प्राकृत अथवा संस्कृत) के बनाये जानेकी अनुश्रुति भी विद्वानोंमें प्रचलित है। यदि

* यह पुष्पिकावाक्य ज्यों का त्यों दिया गया है।

आप कहें कि फिर उन्हें साहित्यिकोंने तार्किक, वादी, कवि और वाग्मीरूपसे ही क्यों उल्लेखित किया—वैयाकरणरूपसे भी क्यों उल्लेखित नहीं किया ? प्रो. सा. मुझे माफ करें, यदि आपने खोज की होती तो आपको वह उल्लेख भी मिल जाता जहाँ साहित्यिकोंने स्वामी समन्तभद्रको 'वैयाकरण' भी बतलाया है। नीचे मैं आचार्य प्रभाचन्द्रके गद्यकथा-कोशका वह उद्धरण उपस्थित करता हूँ जहाँ उन्होंने स्वामी समन्तभद्रको 'व्याकरणशास्त्रव्याख्याता' रूप से भी स्पष्टतः उल्लेखित किया है।

"दक्षिणकाञ्च्यां तर्क-व्याकरणादि-समस्तशास्त्र-व्याख्याता दुर्द्धरानेकानुष्ठानानुष्ठाता श्रीसमन्तभद्र-स्वामिनाममहामुनिस्तीव्रतरदुःखप्रदप्रबलासद्वेद्यकर्मोदयात्समुत्पन्नभस्मकव्याधिना अहर्निशं सम्पीड्यमान-श्चिन्तयति ...."

यह ध्यान रहे कि इस उल्लेखमें तर्कशास्त्र-व्याख्याताके तर्कशास्त्र-निर्माता अर्थकी तरह व्याकरण-शास्त्रव्याख्याताका भी व्याकरणशास्त्र-निर्माता अर्थ है। प्रभाचन्द्रके अनुसर्ता ब्रह्म नेमिदत्तने भी उन्हें वैयाकरण प्रकट किया है। और इसलिये इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि साहित्यिकोंने स्वामी समन्तभद्रको वैयाकरणरूपसे भी उल्लेखित किया है।

अतः वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितमें 'देव' पदका वाच्य स्वामी समन्तभद्रको माननेमें तीसरा हेतु भी बाधक नहीं है और इसलिये मेरा और मुख्तार साहबका उक्त निर्णय न तो कच्चा है और न केवल वसुनन्दिवृत्तिका 'समन्तभद्रदेव' मात्र उल्लेख ही उसमें प्रमाण है; क्योंकि उपर्युक्त विवेचन तथा पं० आशाधरजी, आचार्य जयसेन, नरेन्द्रसेन आदिके सुस्पष्ट अन्य उल्लेख भी उसमें प्रमाण हैं।

यह दूसरी बात है कि जैन साहित्यमें 'देव' पद से देवनन्दि पूज्यपादका भी एक दो जगह उल्लेख किया गया है, परन्तु 'जैनेन्द्र' व्याकरणका स्पष्ट नामोल्लेख साथमें न होनेके कारण यह कहना कि वादिराजने भी 'देव' पदसे उन्हींका उल्लेख पार्श्वनाथचरितमें किया है, निर्बाध प्रतीत नहीं होता; क्योंकि वादिराजने प्रमाणनिर्णय और न्यायविनिश्चयविवरणमें 'देव' पद-का प्रयोग अकलङ्कदेवके लिये भी अनेक जगह किया है और इसलिये विनिगमनाविरहसे उक्त 'देव' पदका वाच्य देवनन्दि (पूज्यपाद) को नहीं बतलाया जा सकता है। हाँ, यह प्रश्न होसकता है कि फिर पार्श्वनाथ-चरितमें देवनन्दिका उल्लेख किस पद द्वारा ज्ञात किया जाय ? इसका उत्तर यह है कि किसी ग्रन्थकार-के लिये यह कैद नहीं है कि उसे अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्योंका उल्लेख करना ही चाहिये। अन्यथा, यह भी प्रश्न होसकता है कि जिस प्रकार जैन साहित्यके दो महारथियों—हरिवंशपुराणके कर्ता तथा आदिपुराणके कर्ताने देवनन्दिके उल्लेखके साथ प्रख्यात आचार्य सिद्धसेन और वीरसेनका उल्लेख किया है उसी तरह यदि वादिराजने देवनन्दिका उल्लेख किया है तो उन्होंने उनके साथ इन प्रख्यात दो आचार्यों—सिद्धसेन और वीरसेनका उल्लेख क्यों नहीं किया ? देवनन्दिकी तरह इनका भी उल्लेख होना आवश्यक था ? अतएव अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्यका उल्लेख करना न करना ग्रन्थकारकी रुचि पर निर्भर है। अतः वादिराजने 'देव' पदके द्वारा स्वामी समन्तभद्रका ही उल्लेख किया है; क्योंकि आगे पीछेके दोनों पद्य उन्हींसे सम्बन्धित हैं और यह अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध है तथा एकसे ज्यादा—दो और तीन आदि पद्योंमें किसी आचार्यविशेषका स्मरण करना अयुक्त एवं असङ्गत भी नहीं है। आचार्य जिनसेनने आदिपुराणमें, वीरसेनका कवि हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरवमें और अय्यपार्यने अपने जिनेन्द्र-कल्याणाभ्युदयमें स्वामी समन्तभद्रका एकसे अधिक पद्योंमें स्मरण तथा यशोगान किया है। अतः प्रो. सा. का 'देव' पद-सम्बन्धी उक्त कथन बहुत ही शिथिल और गम्भीर विचारसे शून्य प्रमाणित होता है।

(२) अब हम उनकी 'योगीन्द्र' पदवाली दूसरी बातको भी लेते हैं। उसमें निम्न दो बातें विचारणीय हैं—

(क) एक तो यह कि हमने और मुख्तार सा. ने जिस आधारसे 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत (गद्य-कथाकोश-गत) स्वीकार किया है वह आधार प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय है अथवा नहीं ?

(ख) दूसरी यह कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोश-में उक्त उल्लेख वस्तुतः मौजूद है या नहीं ?

(क) पहली बातके सम्बन्धमें मेरा निवेदन है कि प्रेमीजी जब ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाको प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोश परसे स्वयं—दूसरोंके द्वारा भी नहीं—मिलान करके पूर्ण असन्दिग्ध शब्दोंमें यह लिखें कि "दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" तो उनके कथनको प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय कैसे नहीं माना जा सकता है ? हम नहीं समझते कि प्रो. सा. बिना किसी विरोध-प्रदर्शनके प्रेमीजीके उक्त लेखको क्यों अप्रमाण, अविश्वसनीय अथवा सन्दिग्ध प्रकट कर रहे हैं ? केवल वह लेख बीस वर्ष पुराना हो जानेसे ही अप्रमाण एवं अविश्वसनीय और सन्देहका कारण नहीं बन सकता है। अन्यथा कोई भी पुराना लेख अथवा ग्रन्थ प्रमाण और विश्वसनीय नहीं हो सकेगा। मान लीजिये कि उक्त प्रभाचन्द्रका गद्यकथाकोश हमने अथवा मुख्तार सा. ने स्वयं नहीं देखा। पर उसे एक प्रामाणिक व्यक्तिने स्वयं अच्छी तरह देखा, जाँचा, पढ़ा और पारायण किया है और वह हमें लिखे कि नेमिदत्तका कथाकोश प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशका प्रायः पूर्ण अनुवाद है और हम इस आधारसे यह निष्कर्ष निकालें कि 'जब प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशपरसे पूर्णतः (शब्दशः और अर्थशः) अनुवादित नेमिदत्तके कथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' पद उपलब्ध होता है तो वह प्रभाचन्द्रके गद्य-कथाकोशमें भी उनके लिये आया है, यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है' तो इसमें क्या अनहोनी और कच्चापन है ? जब कि हम देख रहे हैं कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' पदका उल्लेख स्पष्टतः आया है जैसा कि आगे बतलाया जा रहा है। ऐसी हालतमें प्रो. सा. का यह लिखना कि 'उक्त दोनों विद्वानोंमें से किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोश स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना आदि' बिल्कुल वाहियात है और उससे उनके प्रयोजनका जरा भी साधन नहीं होता। प्रत्युत इससे उनकी अविचारताका प्रदर्शन होता है। अतः हमारा आधार कच्चा नहीं है—वह पूर्णतः सुदृढ है और इसलिये वह प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय है। यह आगेके प्रमाणसे भी सिद्ध और सुस्पष्ट है।

(ख) यद्यपि प्रेमीजीके उक्त लेखपर हमारा दृढ विश्वास था, परन्तु प्रो. सा. के आग्रह और वहम-को देखते हुए उनके सन्तोषार्थ हमने गत जनवरी सन् १९४६ में ही श्रद्धेय प्रेमीजीसे प्रभाचन्द्रके उक्त गद्यकथाकोशको भेजनेकी प्रार्थना की और उन्होंने उसी समय उसे हमारे पास भेज दिया। जैसाकि निश्चित किया गया था, इस ग्रंथमें प्रभाचंद्रने 'योगीन्द्र' शब्दका स्वामी समन्तभद्रके लिये स्पष्टतः प्रयोग किया है वह भी एक ही जगह नहीं, बल्कि दो जगह और १४ जगह तो उनके लिये 'योगी' शब्दका भी प्रयोग किया है। यथा—

'योगी' पदके उल्लेख—

(१) 'योगिलिंगं धृत्वा वाणारस्यां·····'—प. ९।

(२) 'योगिना चोक्तमस्त्येव·····'-पत्र १० पं. ४।

(३) 'ततस्तत्रत्यलोकै राज्ञः कथितं देव ! योगिनैकेन भवदीय·····'-पत्र १०।

(४) 'ततो योगी भणितो·····'-पत्र १०, पं. ८।

(५) 'योगी न किंचिद्देवमवतीर्य भोजयति·····'-प. १० उ. पं. ७।

(६) 'योगिनोक्तं मदीयनमस्कारमसौ सोढुं न शक्नोति·····'—प. १०, उ. पं. ९।

(७) 'ततो योगिनोक्तं प्रभाते सामर्थ्यं·····' पत्र ११ पू. पं. २।

(८) 'योगिनं देवग्रहमध्ये प्रक्षिप्य·····'—प. ११, पू. पं. ३।

(९) 'योगिनश्च.....'—पत्र ११, पृ. पं. ४।

(१०) 'योगी बहिराकारितः...'-प. ११, उ. पं. १।

(११) 'योगिनोऽद्यापूर्वा मूर्तिर्वर्त्तते ....'—प. ११, उ. पं. २।

(१२) 'भो योगिन.....'—प. ११, उ. पं. ८।

(१३) 'योगी द्वारं दत्त्वा स्वयमेव भुंजानो ...'-प. १०, उ. पं. ६।

(१४) 'भो योगिन मृषावादीत्वं' प. १० उ. पं. ७।

'योगीन्द्र' पदके उल्लेख—

(१) 'भो योगीन्द्र! किमिति रमवती तथैवोद्ध्रियते ...'—प. १०, उ. पं. ३।

(२) 'भो योगीन्द्र! कुरु देवस्य नमस्कारं ...'—प. ११ उ. पं. ४।

ऐसी दशामें प्रो. सा. के उक्त कथनका कुछ भी महत्व नहीं रहता। अतः यह भलीभाँति प्रमाणित है कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग हुआ है और इसलिये मुख्तार सा. के पूर्वोक्त प्रतिपादन और हमारे उसके समर्थनमें जरा भी सन्देहके लिये स्थान नहीं है।

वादिराज और प्रभाचन्द्र प्रायः समकालीन हैं—

प्रो. सा. ने आगे चलकर अपने इसी लेखमें वादिराजसे प्रभाचन्द्रको उत्तरकालीन बतलाया है और पार्श्वनाथचरित तथा रत्नकरण्डकटीकामें तीस पैंतीस वर्षका अन्तर प्रकट किया है। जहाँ तक इन रचनाओंके पौर्वापर्यका प्रश्न है उसे हम मान सकते हैं, पर यह तथ्य भी अस्वीकार नहीं किया जासकता है कि 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग करने वाले ये दोनों ही आचार्य प्रायः समकालीन हैं[1]—आचार्य वादिराज प्रो. सा. के मतानुसार ही धारानरेश भोजदेव (वि० सं० १०७५-१११०) को पराजित करने वाले चालुक्यवंशी जयसिंह (वि० सं० १०८०) के समयमें हुए हैं और उन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित वि० सं० १०८२में रचा है तथा शेष रचनाएँ आगे पीछे रची होंगी। और प्रभाचन्द्र उक्त धारानरेश भोजदेव एवं उनके उत्तराधिकारी परमारवंशी जयसिंह (वि० सं० १११२) दोनोंके राज्यकालमें हुए हैं तथा अपनी रचनाएँ इन्हींके राज्य-समयमें बनाई हैं। अतः ये दोनों आचार्य प्रायः समकालिक ही हैं—यदि दस बीस वर्षका अन्तर हो भी तो उससे दोनोंके 'योगीन्द्र' पदके उल्लेखोंपर कोई असर नहीं पड़ता। और इसलिये प्रभाचन्द्र जिन पूर्व आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर उक्त 'योगीन्द्र' पदका उल्लेख अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये करते हैं और रत्नकरण्डकको उनकी अपनी रत्नकरण्डक-टीकामें 'योगीन्द्र' उपनाम विशिष्ट स्वामी समन्तभद्रकी रचना बतलाते हैं तो उनके समकालीन वादिराज भी अपने पार्श्वनाथचरितमें उन्हीं पूर्व आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिये क्यों नहीं कर सकते हैं? और उसके द्वारा रत्नकरण्डकको उनकी कृति क्यों नहीं बतला सकते हैं? इससे साफ है कि प्रभाचन्द्रकी तरह वादिराजने भी 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिये ही किया है—अन्यके लिये नहीं।

यदि प्रो. सा. का यही आग्रह अथवा मत हो कि वादिराजको उक्त 'योगीन्द्र' पदसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न ही दूसरा व्यक्ति रत्नकरण्डकका कर्ता विवक्षित है, जिनकी 'योगीन्द्र' उपाधि थी और समन्तभद्र कहलाते थे तथा जो रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु थे तो मेरा उनसे अनुरोध है कि वे ऐसे व्यक्तिका जैन साहित्यमें अस्तित्व दिखलावें। मैं इस बारेमें पहले भी उनसे अनुरोध कर चुका हूँ और 'योगीन्द्र' उपनामके धारक कतिपय विद्वानोंको प्रदर्शित भी कर चुका हूँ, जिनमें एक भी रत्नकरण्डका कर्ता सिद्ध नहीं होता। परन्तु प्रो. सा. ने उसपर कोई ध्यान नहीं दिया। सबसे बड़ी मजेकी बात यह है कि वे विद्यानन्द और वादिराजके मध्यमें उक्त व्यक्तिका सीमा-निर्धारण तो

---

१ न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने भी न्यायकुमुद द्वितीय भागकी अपनी प्रस्तावना (पृ०५७) में इन दोनों आचार्योंको समकालीन और समव्यक्तित्वशाली बतलाया है।

(क) एक तो यह कि हमने और मुख्तार सा. ने जिस आधारसे 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत (गद्य-कथाकोश-गत) स्वीकार किया है वह आधार प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय है अथवा नहीं ?

(ख) दूसरी यह कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोश-में उक्त उल्लेख वस्तुतः मौजूद है या नहीं ?

(क) पहली बातके सम्बन्धमें मेरा निवेदन है कि प्रेमीजी जब ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाको प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोश परसे स्वयं—दूसरोंके द्वारा भी नहीं—मिलान करके पूर्ण असन्दिग्ध शब्दोंमें यह लिखें कि "दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" तो उनके कथनको प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय कैसे नहीं माना जा सकता है ? हम नहीं समझते कि प्रो. सा. बिना किसी विरोध-प्रदर्शनके प्रेमीजीके उक्त लेखको क्यों अप्रमाण, अविश्वसनीय अथवा सन्दिग्ध प्रकट कर रहे हैं ? केवल वह लेख बीस वर्ष पुराना हो जानेसे ही अप्रमाण एवं अविश्वसनीय और सन्देहका कारण नहीं बन सकता है। अन्यथा कोई भी पुराना लेख अथवा ग्रन्थ प्रमाण और विश्वसनीय नहीं हो सकेगा। मान लीजिये कि उक्त प्रभाचन्द्रका गद्यकथाकोश हमने अथवा मुख्तार सा. ने स्वयं नहीं देखा। पर उसे एक प्रामाणिक व्यक्तिने स्वयं अच्छी तरह देखा, जाँचा, पढ़ा और पारायण किया है और वह हमें लिखे कि नेमिदत्तका कथाकोश प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशका प्रायः पूर्ण अनुवाद है और हम इस आधारसे यह निष्कर्ष निकालें कि 'जब प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशपरसे पूर्णतः (शब्दशः और अर्थशः) अनुवादित नेमिदत्तके कथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' पद उपलब्ध होता है तो वह प्रभाचन्द्रके गद्य-कथाकोशमें भी उनके लिये आया है, यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है' तो इसमें क्या अनहोनी और कच्चापन है ? जब कि हम देख रहे हैं कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' पदका उल्लेख स्पष्टतः आया है जैसा कि आगे बतलाया जा रहा है। ऐसी हालतमें प्रो. सा. का यह लिखना कि 'उक्त दोनों विद्वानोंमें से किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोश स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना आदि' बिल्कुल वाहियात है और उससे उनके प्रयोजनका जरा भी साधन नहीं होता। प्रत्युत इससे उनकी अविचारताका प्रदर्शन होता है। अतः हमारा आधार कच्चा नहीं है—वह पूर्णतः सुदृढ है और इसलिये वह प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय है। यह आगेके प्रमाणसे भी सिद्ध और सुस्पष्ट है।

(ख) यद्यपि प्रेमीजीके उक्त लेखपर हमारा दृढ विश्वास था, परन्तु प्रो. सा. के आग्रह और वहम-को देखते हुए उनके सन्तोषार्थ हमने गत जनवरी सन १९४६ में ही श्रद्धेय प्रेमीजीसे प्रभाचन्द्रके उक्त गद्यकथाकोशको भेजनेकी प्रार्थना की और उन्होंने उसी समय उसे हमारे पास भेज दिया। जैसाकि निश्चित किया गया था, इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रने 'योगीन्द्र' शब्दका स्वामी समन्तभद्रके लिये स्पष्टतः प्रयोग किया है वह भी एक ही जगह नहीं, बल्कि दो जगह और १४ जगह तो उनके लिये 'योगी' शब्दका भी प्रयोग किया है। यथा—

'योगी' पदके उल्लेख—

(१) 'योगिलिंगं धृत्वा वाणारस्यां.....'—प. ९।

(२) 'योगिना चोक्तमस्त्येव.....' पत्र १० पं. ४।

(३) 'ततस्तत्रत्यलोकैः राज्ञः कथितं देव ! योगिनैकेन भवदीय.....'-पत्र १०।

(४) 'ततो योगी भणितो.....' पत्र १०, पं. ८।

(५) 'योगी न किंचिद्देवमवतीर्य भोजयति.....'-प. १० उ. पं. ७।

(६) 'योगिनोक्तं मदीयनमस्कारमसौ सोढुं न शक्नोति.....'—प. १०, उ. पं. ९।

(७) 'ततो योगिनोक्तं प्रभाते सामर्थ्यं.....' पत्र ११ पू. पं. २।

(८) 'योगिनं देवग्रहमध्ये प्रक्षिप्य.....'—प. ११, पू. पं. ३।

(९) 'योगिनश्च.....'—पत्र ११, पृ. पं. ४।

(१०) 'योगी बहिराकारितः...'-प. ११, उ. पं. १।

(११) 'योगिनोऽद्यापूर्वा मूर्तिर्वर्त्तते ....'—प. ११, उ. पं. २।

(१२) 'भो योगिन.....'—प. ११, उ. पं. ८ ।

(१३) 'योगी द्वारं दत्त्वा स्वयमेव भुंजानो ...'-प. १०, उ. पं. ६।

(१४) 'भो योगिन मृषावादीत्वं' प. १० उ. पं. ७।

'योगीन्द्र' पदके उल्लेख—

(१) 'भो योगीन्द्र ! किमिति रसवती तथैवोद्ध्रियते ...'—प. १०, उ. पं. ३।

(२) 'भो योगीन्द्र ! कुरु देवस्य नमस्कारं ...'—प. ११ उ. पं. ४।

ऐसी दशामें प्रो. सा. के उक्त कथनका कुछ भी महत्व नहीं रहता। अतः यह भलीभाँति प्रमाणित है कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग हुआ है और इसलिये मुख्तार सा. के पूर्वोक्त प्रतिपादन और हमारे उसके समर्थनमें जरा भी सन्देहके लिये स्थान नहीं है।

वादिराज और प्रभाचन्द्र प्रायः समकालीन हैं—

प्रो. सा. ने आगे चलकर अपने इसी लेखमें वादिराजसे प्रभाचन्द्रको उत्तरकालीन बतलाया है और पार्श्वनाथचरित तथा रत्नकरण्डकटीकामें तीस पैंतीस वर्षका अन्तर प्रकट किया है। जहाँ तक इन रचनाओंके पौर्वापर्यका प्रश्न है उसे हम मान सकते हैं, पर यह तथ्य भी अस्वीकार नहीं किया जासकता है कि 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग करने वाले ये दोनों ही आचार्य प्रायः समकालीन हैं[१]—आचार्य वादिराज प्रो. सा. के मतानुसार ही धारानरेश भोजदेव (वि० सं० १०७५-१११०) को पराजित करने वाले चालुक्यवंशी जयसिंह (वि० सं० १०८०) के समयमें हुए हैं और उन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित वि० सं० १०८२में रचा है तथा शेष रचनाएँ आगे पीछे रची होंगी। और प्रभाचन्द्र उक्त धारानरेश भोजदेव एवं उनके उत्तराधिकारी परमारवंशी जयसिंह (वि० सं० १११२) दोनोंके राज्यकालमें हुए हैं तथा अपनी रचनाएँ इन्हींके राज्य-समयमें बनाई हैं। अतः ये दोनों आचार्य प्रायः समकालिक ही हैं—यदि दस बीस वर्षका अन्तर हो भी तो उससे दोनोंके 'योगीन्द्र' पदके उल्लेखोंपर कोई असर नहीं पड़ता। और इसलिये प्रभाचन्द्र जिन पूर्व आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर उक्त 'योगीन्द्र' पदका उल्लेख अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिये करते हैं और रत्नकरण्डकको उसकी अपनी रत्नकरण्डक-टीकामें 'योगीन्द्र' उपनाम विशिष्ट स्वामी समन्तभद्रकी रचना बतलाते हैं तो उनके समकालीन वादिराज भी अपने पार्श्वनाथचरितमें उन्हीं पूर्व आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिये क्यों नहीं कर सकते हैं? और उसके द्वारा रत्नकरण्डकको उनकी कृति क्यों नहीं बतला सकते हैं? इससे साफ़ है कि प्रभाचन्द्रकी तरह वादिराजने भी 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिये ही किया है—अन्यके लिये नहीं।

यदि प्रो. सा. का यही आग्रह अथवा मत हो कि वादिराजको उक्त 'योगीन्द्र' पदसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न ही दूसरा व्यक्ति रत्नकरण्डकका कर्ता विवक्षित है, जिनकी 'योगीन्द्र' उपाधि थी और समन्तभद्र कहलाते थे तथा जो रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु थे तो मेरा उनसे अनुरोध है कि वे ऐसे व्यक्तिका जैन साहित्यमें अस्तित्व दिखलावें। मैं इस बारेमें पहले भी उनसे अनुरोध कर चुका हूँ और 'योगीन्द्र' उपनामके धारक कतिपय विद्वानोंको प्रदर्शित भी कर चुका हूँ, जिनमें एक भी रत्नकरण्डका कर्ता सिद्ध नहीं होता। परन्तु प्रो. सा. ने उसपर कोई ध्यान नहीं दिया। सबसे बड़ी मजेकी बात यह है कि वे विद्यानन्द और वादिराजके मध्यमें उक्त व्यक्तिका सीमा-निर्धारण तो

१ न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने भी न्यायकुमुद द्वितीय भागकी अपनी प्रस्तावना (पृ०५७) में इन दोनों आचार्योंको समकालीन और समव्यक्तित्वशाली बतलाया है।

कर देते हैं परन्तु उसके अस्तित्वका साधक एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं करते। ऐसी स्थितिमें स्वपक्षस्थापनाविहीन और परपक्षालोचनमात्र चर्चा (वितण्डा)से किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

रत्नकरण्ड-टीकाके कर्तृत्वपर सन्देह और भ्रान्त उल्लेख—

इसी सिलसिलेमें प्रो. सा. ने रत्नकरण्ड-टीकाके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र कर्तृकत्वमें सन्देह प्रकट करते हुए एक भ्रान्त उल्लेख भी किया है। आप लिखते हैं कि 'इसीसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके मतानुसार तो रत्नकरण्ड-टीकाके उन्हीं (प्रेमयकमलमार्त्तण्ड, गद्यकथाकोश आदिके रचयिता) प्रभाचन्द्र कृत होनेकी सम्भावना अभी भी खासतौरसे विचारणीय है (न्या. कु. भा. २ प्रस्ता. पृ. ६७)।' परन्तु जब हमने उनके निर्दिष्ट ग्रन्थको खोलकर उनके वक्तव्यके साथ उसका मिलान किया तो हमें आश्चर्य हुआ कि वे इतना भ्रमोत्पादक अधूरा उल्लेख क्यों करते हैं और किसीके अपूर्ण मतको प्रकट करके पाठकोंको धोखेमें क्यों डाल रहे हैं? पण्डितजीने वहाँ अपना क्या मत दिया है, उसे देखनेके लिये मैं पाठकोंसे प्रेरणा करता हूँ। उन्होंने उक्त प्रस्तावनाके पृ० ६६ के नीचे नं० २ की टिप्पणीमें 'रत्नकरण्ड' पर जो विस्तृत फुटनोट दिया है और जिसकी ओरसे प्रो. सा. ने बिल्कुल आँख मींच ली है, उसीमें पण्डितजीने अपना स्पष्ट मत प्रकट किया है। मुख्तार साहबकी आलोचना करते हुए वहाँ उन्होंने लिखा है कि 'मुख्तार सा. ने इन टीकाओं (समाधितन्त्र और रत्नकरण्डकी टीकाओं) के प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होनेमें जो प्रमाण दिये हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्ड-टीका तथा समाधितंत्र-टीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्ट शैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए।' आगे ग्रन्थोल्लेखोंको उपस्थित करके उन्होंने और लिखा है कि 'इन दोनों अवतरणोंकी प्रभाचन्द्र-कृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओंको बनाया है।' इसके आगे शब्दाम्भोजभास्करका अवतरण देकर पण्डितजीने पुनः लिखा है कि 'प्रभाचन्द्र-कृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है।' इन उद्धरणोंसे प्रकट है कि न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीका रत्नकरण्डटीकाको उन्हीं प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत माननेका स्पष्ट मत है।

गद्यकथाकोश और रत्नकरण्ड-टीकामें दी गई अञ्जनचोर आदिकी कथाएँ तो अक्षरशः एकसी हैं ही, पर दोनोंकी साहित्यिक रचना भी एकसी है[१]—वही सरलता और वही विशदता दोनोंमें है। अतएव जब गद्यकथाकोशको प्रो. सा. प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी कृति मानते हैं तो रत्नकरण्डटीकाको भी उन्हींकी कृति उन्हें मानना चाहिए। मैं इन ग्रन्थोंको प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत ही अन्य लेखमें सिद्ध करनेवाला हूँ।

प्रभाचन्द्रका उल्लेख सर्वथा असन्दिग्ध है—

प्रभाचन्द्रने रत्नकरण्डककी अपनी टीकाके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें जो पुष्पिकावाक्य दिये हैं उन सबमें उन्होंने रत्नकरण्डकको स्वामीसमन्तभद्र-कृत बतलाया है। इसके सिवाय, उन्होंने ग्रन्थारम्भमें भी प्रथम पद्यकी उत्थानिकामें 'श्रीसमन्तभद्रस्वामी···· रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो·················' इत्यादि शब्दों द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्त-

१ नमूनेके तौरपर इन ग्रन्थोंके निम्न मंगलाचरण पद्योंकी परस्पर तुलना कीजिये—

'प्रणम्य मोक्षप्रदमस्त-दोषं प्रकृष्ट-पुण्य-प्रभवं जिनेन्द्रम्।
वक्ष्येऽत्र भव्य-प्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धम् ॥१॥'
—गद्यकथाकोश लि. प. १।

'समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डके परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥१॥'
—रत्नकरण्ड-टीका पृ. १।

भद्रकी ही रचना बतलाई है। अतएव मैंने पिछले लेखमें लिखा था कि 'प्रो. सा. ने वादिराजके उल्लेख पर जहाँ जोर दिया है वहाँ प्रभाचन्द्रके सुस्पष्ट एवं अभ्रान्त ऐतिहासिक उल्लेखकी सर्वथा उपेक्षा की है।' इसपर अब आप लिखते हैं कि 'प्रभाचन्द्रका उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, उन्होंने यह तो कहीं प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्डके कर्ता आप्तमीमांसाके भी कर्ता हैं।

इस सम्बन्धमें ज्यादा कुछ न कहकर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि स्वामी समन्तभद्र और आप्तमीमांसाकार दोनों अभिन्न हैं। इस बातको स्वयं प्रो० सा० भी अपने विलुप्त अध्यायमें स्वीकार कर चुके हैं और जैन-साहित्यमें स्वामी समन्तभद्रसे आप्तमीमांसाकारका ही सर्वत्र ग्रहण किया गया है। ऐसा एक भी उदाहरण जैन-साहित्यमें नहीं मिलता अथवा प्रो० सा० ने उपस्थित किया है जहाँ 'स्वामी समन्तभद्र' से दूसरे (आप्तमीमांसाकारसे भिन्न) ग्रन्थकारका ग्रहण किया गया हो अथवा दूसरेका भी वह नाम हो। अतएव स्वामी समन्तभद्रके नामोल्लेखसे ग्रन्थकारोंका अभिप्राय आप्तमीमांसाकारका ही स्पष्टतः रहा है और इसलिये प्रभाचन्द्र जब रत्नकरण्डका कर्ता स्वामी समन्तभद्रको बतला रहे हैं तब स्पष्ट है कि वे उसे आप्तमीमांसाकारकी ही कृति स्वीकार करते हैं क्योंकि वे दोनों एक हैं—अलग-अलग नहीं।

आगे चलकर आप कहते हैं कि वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उसका रचनाकाल दिया हुआ है, इसलिये उसका रत्नकरण्डको योगीन्द्रकृत बतलाने वाला उल्लेख तो स्पष्ट और अभ्रान्त है। परन्तु रत्नकरण्ड-टीकामें उसका रचनाकाल दिया हुआ नहीं है, अतः उसका उल्लेख 'न तो सुस्पष्ट है, न अभ्रान्त है और न उसका कोई ऐतिहासिक महत्व है।' मुझे उनके इस अतथ्य पक्षपातपूर्ण कथनपर कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु खेद है कि उन्होंने अपने पक्षकी पुष्टिमें सचाई और न्यायको भी तिलाञ्जलि दे दी है। पार्श्वनाथ-चरितमें जहाँ रत्नकरण्डको अप्रसिद्ध और अज्ञात योगीन्द्रकृत कहा है वहाँ रत्नकरण्ड-टीकामें उसे अनेक जगह (प्रारम्भमें, मध्यमें और अन्तमें) स्पष्ट शब्दोंमें प्रसिद्ध और सुज्ञात स्वामी समन्तभद्रकी रचना कही है। ऐसी हालतमें पाठक जान सकते हैं कि वादिराजका उल्लेख स्पष्ट और अभ्रान्त है या प्रभाचन्द्रका? और मैं यह पहले कह आया हूँ कि ये दोनों विद्वान प्रायः समकालिक हैं और इसलिये पार्श्वनाथ-चरितमें उसका रचनाकाल होनेसे उसका उल्लेख स्पष्ट और अभ्रान्त तथा रत्नकरण्ड टीकामें रचनाकाल न होनेसे उसके उल्लेख अस्पष्ट और भ्रान्त नहीं कहे अथवा बतलाये जा सकते हैं। अन्यथा ९० प्रतिशत ग्रंथ बिना रचनाकालके हैं और तब उनके उल्लेख भी अस्पष्ट और भ्रान्त कहे जायेंगे। दूसरी बात यह है कि प्रभाचन्द्रके उल्लेखोंके पोषक और समर्थक तो उत्तरवर्ती बीसियों उल्लेख प्रमाण मौजूद हैं और जिनमें भी रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति बतलाई है। परन्तु वादिराजके उल्लेखका पोषक एवं समर्थक एक भी उल्लेख उत्तर-कालीन प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसमें रत्नकरण्डको योगीन्द्रकृत बतलाया गया हो। यदि हो तो प्रो० सा० उसे उपस्थित करें। इससे साफ है कि प्रभाचन्द्रका उल्लेख वस्तुतः अभ्रान्त, स्पष्ट और ऐतिहासिक महत्व युक्त है। अतः प्रो० सा० का यह लिखना कि 'प्रभाचन्द्रके जिस उल्लेखपर पण्डितजीने जोर दिया है व न तो सुस्पष्ट है, अभ्रान्त है और न उसका कोई ऐतिहासिक महत्व है।' सर्वथा असङ्गत है और वह केवल बदलेकी भावनाका प्रकाशन मात्र है।

रत्नकरण्डके उपान्त्य पद्यके श्लेषार्थपर विचार—

रत्नकरण्डके अन्तिम (१५० वें) पद्यके पूर्व एक निम्न पद्य आया है जिसमें ग्रन्थकारने उपसंहार-रूपसे ग्रन्थमें वर्णित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नोंके लिये आत्माके पिटारी बना लेनेकी प्रेरणा की है और उसका फल तीनों लोकोंमें सब अर्थोंकी सिद्धिरूप बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है :—

कर देते हैं परन्तु उसके अस्तित्वका साधक एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं करते। ऐसी स्थितिमें स्वपक्षस्थापनाविहीन और परपक्षालोचनमात्र चर्चा (वितण्डा)से किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

रत्नकरण्ड-टीकाके कर्तृत्वपर सन्देह और भ्रान्त उल्लेख—

इसी सिलसिलेमें प्रो. सा. ने रत्नकरण्ड-टीकाके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र कर्तृकत्वमें सन्देह प्रकट करते हुए एक भ्रान्त उल्लेख भी किया है। आप लिखते हैं कि 'इसीसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके मतानुसार तो रत्नकरण्ड-टीकाके उन्हीं (प्रेमयकमलमार्त्तण्ड, गद्यकथाकोश आदिके रचयिता) प्रभाचन्द्र कृत होनेकी सम्भावना अभी भी खासतौरसे विचारणीय है (न्या. कु. भा. २ प्रस्ता. पृ. ६७)।' परन्तु जब हमने उनके निर्दिष्ट ग्रन्थको खोलकर उनके वक्तव्यके साथ उसका मिलान किया तो हमें आश्चर्य हुआ कि वे इतना भ्रमोत्पादक अधूरा उल्लेख क्यों करते हैं और किसीके अपूर्ण मतको प्रकट करके पाठकोंको धोखेमें क्यों डाल रहे हैं? पण्डितजीने वहाँ अपना क्या मत दिया है, उसे देखनेके लिये मैं पाठकोंसे प्रेरणा करता हूँ। उन्होंने उक्त प्रस्तावनाके पृ० ६६ के नीचे नं० २ की टिप्पणीमें 'रत्नकरण्ड' पर जो विस्तृत फुटनोट दिया है और जिसकी ओरसे प्रो. सा. ने बिल्कुल आँख मींच ली है, उसीमें पण्डितजीने अपना स्पष्ट मत प्रकट किया है। मुख्तार साहबकी आलोचना करते हुए वहाँ उन्होंने लिखा है कि 'मुख्तार सा. ने इन टीकाओं (समाधितन्त्र और रत्नकरण्डकी टीकाओं) के प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होनेमें जो प्रमाण दिये हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्ड-टीका तथा समाधितंत्र-टीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्ट शैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए।' आगे ग्रन्थोल्लेखोंको उपस्थित करके उन्होंने और लिखा है कि 'इन दोनों अवतरणोंकी प्रभाचन्द्र-कृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओंको बनाया है।' इसके आगे शब्दाम्भोजभास्करका अवतरण देकर पण्डितजीने पुनः लिखा है कि 'प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है।' इन उद्धरणोंसे प्रकट है कि न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीका रत्नकरण्डटीकाको उन्हीं प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत माननेका स्पष्ट मत है।

गद्यकथाकोश और रत्नकरण्ड-टीकामें दी गई अञ्जनचोर आदिकी कथाएँ तो अक्षरशः एकसी हैं ही, पर दोनोंकी साहित्यिक रचना भी एकसी है[1]—वही सरलता और वही विशदता दोनोंमें है। अतएव जब गद्यकथाकोशको प्रो. सा. प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी कृति मानते हैं तो रत्नकरण्डटीकाको भी उन्हींकी कृति उन्हें मानना चाहिए। मैं इन ग्रन्थोंको प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत ही अन्य लेखमें सिद्ध करनेवाला हूँ।

प्रभाचन्द्रका उल्लेख सर्वथा असन्दिग्ध है—

प्रभाचन्द्रने रत्नकरण्डककी अपनी टीकाके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें जो पुष्पिकावाक्य दिये हैं उन सबमें उन्होंने रत्नकरण्डकको स्वामीसमन्तभद्रकृत बतलाया है। इसके सिवाय, उन्होंने ग्रन्थारम्भमें भी प्रथम पद्यकी उत्थानिकामें 'श्रीसमन्तभद्रस्वामी····रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो·················' इत्यादि शब्दों द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्त-

---

१ नमूनेके तौरपर इन ग्रन्थोंके निम्न मंगलाचरण पद्योंकी परस्पर तुलना कीजिये—

'प्रणम्य मोक्षप्रदमस्त-दोषं प्रकृष्ट-पुण्य-प्रभवं जिनेन्द्रम्।
वक्ष्येऽत्र भव्य-प्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धम् ॥१॥'
—गद्यकथाकोश लि. प. १।

'समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डके परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥१॥'
—रत्नकरण्ड-टीका पृ. १।

भद्रकी ही रचना बतलाई है। अतएव मैंने पिछले लेखमें लिखा था कि 'प्रो. सा. ने वादिराजके उल्लेख पर जहाँ जोर दिया है वहाँ प्रभाचन्द्रके सुस्पष्ट एवं अभ्रान्त ऐतिहासिक उल्लेखकी सर्वथा उपेक्षा की है।' इसपर अब आप लिखते हैं कि 'प्रभाचन्द्रका उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, उन्होंने यह तो कहीं प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्डके कर्ता आप्तमीमांसाके भी कर्ता हैं।

इस सम्बन्धमें ज्यादा कुछ न कहकर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि स्वामी समन्तभद्र और आप्त-मीमांसाकार दोनों अभिन्न हैं। इस बातको स्वयं प्रो० सा० भी अपने विलुप्त अध्यायमें स्वीकार कर चुके हैं और जैन-साहित्यमें स्वामी समन्तभद्रसे आप्तमीमांसाकारका ही सर्वत्र ग्रहण किया गया है। ऐसा एक भी उदाहरण जैन-साहित्यमें नहीं मिलता अथवा प्रो० सा० ने उपस्थित किया है जहाँ 'स्वामी समन्तभद्र' से दूसरे (आप्तमीमांसाकारसे भिन्न) ग्रन्थकारका ग्रहण किया गया हो अथवा दूसरेका भी वह नाम हो। अतएव स्वामी समन्तभद्रके नामोल्लेखसे ग्रन्थकारोंका अभिप्राय आप्तमीमांसा-कारका ही स्पष्टतः रहा है और इसलिये प्रभाचन्द्र जब रत्नकरण्डका कर्ता स्वामी समन्तभद्रको बतला रहे हैं तब स्पष्ट है कि वे उसे आप्तमीमांसाकारकी ही कृति स्वीकार करते हैं क्योंकि वे दोनों एक हैं—अलग-अलग नहीं।

आगे चलकर आप कहते हैं कि वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उसका रचनाकाल दिया हुआ है, इसलिये उसका रत्नकरण्डको योगीन्द्रकृत बतलाने वाला उल्लेख तो स्पष्ट और अभ्रान्त है। परन्तु रत्नकरण्ड-टीकामें उसका रचनाकाल दिया हुआ नहीं है, अतः उसका उल्लेख 'न तो सुस्पष्ट है, न अभ्रान्त है और न उसका कोई ऐतिहासिक महत्व है।' मुझे उनके इस अतथ्य पक्षपातपूर्ण कथनपर कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु खेद है कि उन्होंने अपने पक्षकी पुष्टिमें सचाई और न्यायको भी तिलाञ्जलि दे दी है। पार्श्वनाथ-चरितमें जहाँ रत्नकरण्डको अप्रसिद्ध और अज्ञात योगीन्द्रकृत कहा है वहाँ रत्नकरण्ड-टीकामें उसे अनेक जगह (प्रारम्भमें, मध्यमें और अन्तमें) स्पष्ट शब्दोंमें प्रसिद्ध और सुज्ञात स्वामी समन्तभद्रकी रचना कही है। ऐसी हालतमें पाठक जान सकते हैं कि वादिराजका उल्लेख स्पष्ट और अभ्रान्त है या प्रभाचन्द्रका? और मैं यह पहले कह आया हूँ कि ये दोनों विद्वान प्रायः समकालिक हैं और इसलिये पार्श्वनाथ-चरितमें उसका रचनाकाल होनेसे उसका उल्लेख स्पष्ट और अभ्रान्त तथा रत्नकरण्ड टीकामें रचनाकाल न होनेसे उसके उल्लेख अस्पष्ट और भ्रान्त नहीं कहे अथवा बतलाये जा सकते हैं। अन्यथा ९० प्रतिशत ग्रंथ बिना रचनाकालके हैं और तब उनके उल्लेख भी अस्पष्ट और भ्रान्त कहे जायेंगे। दूसरी बात यह है कि प्रभाचन्द्रके उल्लेखोंके पोषक और समर्थक तो उत्तरवर्ती बीसियों उल्लेख प्रमाण मौजूद हैं और जिनमें भी रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति बतलाई है। परन्तु वादिराजके उल्लेखका पोषक एवं समर्थक एक भी उल्लेख उत्तर-कालीन प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसमें रत्नकरण्डको योगीन्द्रकृत बतलाया गया हो। यदि हो तो प्रो० सा० उसे उपस्थित करें। इससे साफ है कि प्रभाचन्द्रका उल्लेख वस्तुतः अभ्रान्त, स्पष्ट और ऐतिहासिक महत्व युक्त है। अतः प्रो० सा० का यह लिखना कि 'प्रभाचन्द्रके जिस उल्लेखपर पण्डितजीने जोर दिया है व न तो सुस्पष्ट है, अभ्रान्त है और न उसका कोई ऐतिहासिक महत्व है।' सर्वथा असङ्गत है और वह केवल बदलेकी भावनाका प्रकाशन मात्र है।

रत्नकरण्डके उपान्त्य पद्यके श्लेषार्थपर विचार—

रत्नकरण्डके अन्तिम (१५० वें) पद्यके पूर्व एक निम्न पद्य आया है जिसमें ग्रन्थकारने उपसंहार-रूपसे ग्रन्थमें वर्णित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नोंके लिये आत्माके पिटारी बना लेनेकी प्रेरणा की है और उसका फल तीनों लोकोंमें सब अर्थोंकी सिद्धिरूप बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है:—

येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्या—
दृष्टि - क्रिया - रत्नकरण्डभावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव,
सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥

इस पद्यको लेकर प्रो. सा. ने अपने पिछले लेखमें यह कल्पना की थी कि यहाँ श्लेषरूपसे अकलंक, विद्यानन्द और पूज्यपादकी स्वर्थिसिद्धिका उल्लेख है। आपने लिखा था कि 'यहाँ निःसन्देहतः रत्नकरण्डकारने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तीनों टीकाओंका उल्लेख किया है। आदि।'

इस पर हमने यह आपत्ति की थी कि उक्त श्लेपार्थ किसी भी शास्त्रसे प्रमाणित नहीं है। दूसरे, उक्त श्लोकमें आये हुए 'त्रिषु' पदका श्लेषार्थ यदि 'तीन टीकाएँ' हो तो उनमें एक तो स्वयं सर्वार्थसिद्धि ही है, जिसका ग्रहण तीन स्थलोंके अन्तर्गत किसी भी प्रकार नहीं आ सकता है; क्योंकि उसका श्लोकमें अलग ही उल्लेख है। तब तत्त्वार्थसूत्रकी दो ही टीकाएँ रहती हैं। एक तत्त्वार्थवार्त्तिक और दूसरी विद्यानन्दकी श्लोकवार्तिक। ...लेकिन फिर श्लोकमें 'त्रिषु' और 'विष्टपेषु' पद नहीं होने चाहिए— 'द्वयोः' और 'विष्टपयोः' पद ही होने चाहिएँ थे जो न छंददृष्टिसे संगत हैं और न ग्रन्थकारके आशयके अनुकूल हैं।'

अब आप मेरी उक्त दोनों आपत्तियोंके परिहार-का प्रयत्न करते हुए लिखते हैं कि 'मेरी उक्त कल्पनामें कौनसे शास्त्राधार व शास्त्रप्रमाणकी आवश्यकता पण्डितजीको प्रतीत होती है? वीत-कलङ्क और अकलङ्क सर्वथा पर्यायवाची शब्द बहुधा और विशेषतः श्लेषकाव्यमें प्रयुक्त किये जाते हैं।.... विद्यानन्दको 'विद्या' शब्दसे व्यक्त किये जानेमें तो कोई आपत्ति ही नहीं है। 'सर्वार्थसिद्धि' में तन्नामक ग्रन्थके उल्लेखको पहचाननेमें कौनसी विचित्रता है और उसके लिये किस शास्त्रका आधार अपेक्षित है।'

मैं प्रो. सा. से पूछता हूँ कि क्या यह मेरी पहली आपत्तिका परिहार है? यदि हाँ, तो मैं कहूँगा कि यह मेरी आपत्तिका परिहार नहीं है। मेरी आपत्तिका परिहार तो तब होता जब अपने कल्पित उक्त श्लेषार्थको अन्य किसी शास्त्रमें भी दिखाते और उससे उसे प्रमाणित करते। सो ऐसा कुछ न करके केवल पर्याय शब्दों द्वारा उसका परिहार करना कदापि संगत नहीं है। यों तो 'विद्या' और 'वीतकलङ्क' शब्द स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रमें और 'सर्वार्थसिद्धि' पद तत्त्वार्थसूत्रमें भी उपलब्ध होते हैं तो क्या वहाँ 'विद्या'से विद्यानन्द और 'वीतकलङ्क' से अकलङ्क तथा 'सर्वार्थसिद्धि' से तन्नामक ग्रन्थका ग्रहण हो जायेगा? यदि नहीं तो इन शब्दोंसे रत्नकरण्डमें भी उक्त विद्यानन्दादिका ग्रहण कैसे किया जा सकता है। अतः प्रो. सा. को यह दिखाना चाहिए था कि अमुक पूर्वाचार्यने भी इस पद्यमें 'विद्या' से विद्यानन्द 'वीतकलङ्क' से अकलङ्क-देव और 'सर्वार्थसिद्धि' से तन्नामक पूज्यवादका ग्रन्थ अर्थ किया है। परन्तु उसे न दिखाकर अपनी कल्पनाओंसे ही उसका समर्थन करना कदापि विद्वद्ग्राह्य नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि उक्त पद्यका आपका कल्पित अर्थ होता तो टीकाकार प्रभाचन्द्र उसे भी प्रदर्शित करते अथवा अन्य दूसरे आचार्य भी वैसा लिखते। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। अतः आपकी उक्त कल्पना अप्रमाण है।

दूसरी आपत्तिका परिहार करते हुए प्रो. सा. लिखते हैं कि 'मेरा ख्याल था कि वहाँ तो किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलोंकी सङ्गति सुस्पष्ट है जो टीकाकार ने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान, और चारित्र।'

यह ध्यान रहे कि प्रो. सा. पहले 'त्रिषु विष्टपेषु' का अर्थ तीन टीकाएँ करते थे। जब तीन टीकाओं रूप अर्थ मेरे द्वारा उक्त प्रकारसे दूषित कर दिया गया तो अब उसका अर्थ दर्शन, ज्ञान, और चारित्र

किया गया है। अब पाठक, उनके इस अर्थकी भी परीक्षा करें। वे इसे टीकाकार प्रभाचन्द्रका बतलाते हैं। अतः उनकी टीका देखनी चाहिए कि उसमें उन्होंने 'त्रिपु विष्टपेपु' का अर्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र किया है या नहीं? टीकागत 'त्रिपु विष्टपेपु' के अर्थ वाला अंश इस प्रकार है—

'क्व? त्रिपु विष्टपेपु त्रिभुवनेपु।'

इसके अतिरिक्त टीकाकारने कुछ नहीं लिखा। मुझे आश्चर्य है कि प्रो. सा. अपनी भूल व गलती-को स्वीकार करनेके बजाय पाठकोंको और मुझे धोखा देनेका जगह जगह असफल प्रयत्न करते हैं और अपने आग्रहका समर्थन करते जा रहे हैं, परन्तु उनकी यह प्रवृत्ति प्रशस्य नहीं है।

दूसरे, यदि 'त्रिपु विष्टपेपु' का श्लेपार्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र हो तो 'विद्या-दृष्टि-क्रियारत्न-करण्डभावं' का उनके साथ कैसे सम्बन्ध बैठेगा? क्योंकि यहाँ भी तो वे ही तीन दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रतिपादित हैं। और ऐसी हालतमें न तो विभिन्न विभक्ति (सप्तमी और प्रथमा) बन सकेगी और न आधाराधेयभाव बन सकेगा। इसके सिवाय, वहाँ पुनरुक्ति भी होती है। 'वीतकलंक' से अकलंक और 'विद्या' से विद्यानन्द श्लेषार्थ करनेपर दृष्टि और क्रियाका भी श्लेपार्थ बताना होगा, जो किसी तरह भी नहीं बतलाया जा सकता है। इस तरह प्रो० सा० का उक्त श्लेपार्थ सर्वथा बाधित, पूर्वापर विरुद्ध और अशास्त्रीय होनेसे विद्वद्ग्राह्य नहीं है।

शेष बातोंपर विचार—

पिछले लेखमें मैंने प्रो० सा० की उन तीन बातों पर युक्तिपूर्वक विचार करके उनमें दूषण दिये थे, जिन्हें उन्होंने अपने लेखके अन्तमें चलती-सी लेखनी में प्रस्तुत की थीं। अब वे अपने दूषणोंको स्वीकार न करके उन्हें (तीन बातोंको) विस्तारसे प्रकट करनेकी मेरी इच्छा बतलाते हुए लिखते हैं कि 'न्यायाचार्य-जीकी इच्छा यह जान पड़ती है कि इस विषयपर मैं अपने विचार और भी कुछ विस्तारसे प्रकट करूँ तभी वे उनपर अपना लक्ष्य देना उचित समझेंगे।' आगे आपने आप्तमीमांसासम्मत आप्तका लक्षण बतलानेके लिये अपनी दृष्टिसे आप्तमीमांसाकी प्रथम छह कारिकाओंका तात्पर्य देकर उनपरसे आप्तके सम्बन्धमें आप्तमीमांसाकारकी निम्न मान्यतायें फलित की हैं—

(१) देवागमन आदि विभूतियाँ, विग्रहादि-महोदय तथा तीर्थस्थापन ये आप्तके लक्षण नहीं, क्योंकि ये बातें मायावियों आदिमें भी पाई जाती हैं। चूंकि मेरे मतानुसार क्षुत्पिपासादिका अभाव विग्रहादिमहोदयमें ही सम्मिलित है अतएव आप्त-मीमांसाकार उसे भी आप्तका लक्षण स्वीकार नहीं करते।

(२) आप्तका लक्षण निर्दोपता है, जिससे उनके वचन युक्ति-शास्त्राविरोधी होते हैं। ऐसी निर्दोपता सर्वज्ञके ही हो सकती है जो सूक्ष्मादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है और वह सर्वज्ञ दोप और आवरण इन दोनोंके आत्यन्तिक क्षयसे होता है।

(३) आचार्यने 'दोपावरणयोः हानिः' यहाँ द्विवचनका प्रयोग किया है—बहुवचनका नहीं। अतः उनकी दृष्टिमें एक ही दोष और एक ही आवरण प्रधान है। वह दोप कौनसा और आवरण कौनसा है? जो हमारी समझदारीमें बाधक होता है वह दोप है अज्ञान और इसको उत्पन्न करने वाला आवरण है ज्ञानावरण कर्म। इन्हीं दो का अभाव होनेसे सर्वज्ञताकी सिद्धि होती है और आप्तता उत्पन्न होती है।

(४) ज्ञानावरणके साथ दर्शनावरण व अन्तराय कर्म क्षय हो ही जाते हैं और मोहनीयका उससे पूर्व ही क्षय होजाता है। अतएव आप्तमीमांसाकारने उनका पृथक् निर्देश नहीं किया।

(५) अघातिया कर्मोंका सद्भाव रहनेसे उनसे होने वाली वृत्तियों—वचन, शरीर, क्षुधा, तृषा, शीत-उष्ण, दुःख-सुख, जीवन-मरण आदि—का आप्तमें आप्तमीमांसाकारने सद्भाव माना है। यह उन्होंने

कारिका ९३में वीतराग केवलीमें सुख-दुखकी बाधाके निर्देशसे स्वीकार कर ली है।

अपनी ओरसे फलित की गई आप्तमीमांसाकारकी इन मान्यताओंको देकर प्रो० सा० आगे लिखते हैं कि 'आप्तमीमांसाकारका यह मत है और वह सर्वथा जैनसिद्धान्तसम्मत है। अकलङ्क, विद्यानन्द आदि टीकाकार जहाँ तक इन मर्यादाओंके भीतर अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं वहाँ तक तो वह सर्वथा निरापद है। किन्तु यदि वे कहीं आप्तमीमांसाकारके निर्देशसे बाहर व कर्म-सिद्धान्तकी सुस्पष्ट व्यवस्थाओंके विपरीत प्रतिपादन करते पाये जाते हैं तो हमें मानना ही पड़ेगा कि वे एक दूसरी ही विचारधारासे प्रभावित हैं जिसका पूर्णतः समीकरण उक्त व्यवस्थाओंसे नहीं होता।'

प्रो० सा०के द्वारा फलित की गई उक्त मान्यतायें आप्तमीमांसाकारका मत है या नहीं, इसपर विचार करनेके पहले हम उनकी अन्तिम पंक्तियोंके सम्बन्धमें कुछ कह देना उचित समझते हैं। आपने अपने पिछले एक लेखमें आप्तमीमांसाकारका तात्त्विक अभिप्राय समझनेके लिये दो उपायोंकी सूचना करते हुए लिखा था कि 'आप्तमीमांसाकारके पदोंका तात्त्विक अर्थ समझनेके हमें दो उपाय उपलब्ध हैं—एक तो स्वयं उसी ग्रन्थका सन्दर्भ और दूसरे उनका टीकाकारों द्वारा स्पष्टीकरण।' परन्तु उक्त पंक्तियोंसे जान पड़ता है कि अब उनका टीकाकारोंके स्पष्टीकरणपर भी विश्वास नहीं रहा; क्योंकि वे उनके पक्षका समर्थन नहीं करते और इसलिये अब वे यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि वे जो अर्थ कर रहे हैं वही आप्तमीमांसाकारका मत है और उसीको जैनसिद्धांत बतलाते हैं। परन्तु यह सब स्वग्रहमान्य है और वे किन्हीं मर्यादाओंसे बँधे हुए नहीं हैं। अतएव आज वे अकलंक, विद्यानन्द जैसे प्रामाणिक महान् टीकाकारोंके स्पष्टीकरणको सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगे हैं और कल स्वयं आप्तमीमांसाकारके कथनको भी विपरीत बतला सकते हैं। अस्तु।

अब हम उनकी मान्यताओंपर क्रमशः विचार करते हैं:—

(१) यह ठीक है कि देवागमन आदि विभूतियाँ और विग्रहादिमहोदय आदि आप्तके लक्षण नहीं हैं, परन्तु उसका मतलब यह नहीं कि वे आप्तमें नहीं हैं, आप्तमें वे बातें जरूर हैं—आप्तमीमांसाकारने उन्हें स्वयम्भूस्तोत्रगत 'प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो' इत्यादि पद्य नं० ७३ द्वारा भी स्पष्टतः स्वीकार किया है। लेकिन वे साधारण होनेसे लक्षण नहीं हैं क्योंकि लक्षण असाधारण होता है। हमें खुशी है कि मेरे मतानुसार प्रो० सा० ने क्षुत्पिपासादिके अभाव को विग्रहादिमहोदय (अतिशयों) के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है। और यह विग्रहादिमहोदय लक्षण न होनेपर भी उपलक्षण रूपसे आप्तमें विद्यमान है। अतः इस मान्यतासे प्रो० सा० को जो आप्तमें क्षुधा-तृषाकी वेदनाका सद्भाव सिद्ध करना इष्ट था वह अब सिद्ध नहीं हो सकता।

(२) आप्तका लक्षण निर्दोषता है, इसमें कोई विवाद नहीं, उसके वचन युक्ति-शास्त्राविरोधी होते हैं और वह सर्वज्ञ होता है तथा उसकी सर्वज्ञता दोषों और आवरणोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिसे होती है, ये सब बातें भी ठीक हैं। आप्तमीमांसाकारके इस अभिप्रायको हम भी पिछले लेखोंमें प्रकट कर चुके हैं।

(३, ४) जहाँ तक आपकी समझ है उस समझसे आपने 'दोषावरणयोः हानिः' का अर्थ दिया है और इसलिये द्विवचनके प्रयोगसे यह कल्पना भी कर ली है कि वहाँ आप्तमीमांसाकारकी दृष्टिमें एक ही दोष—अज्ञान और एक ही आवरण-ज्ञानावरण प्रधान है—अन्य तो उन्हींके साथ अविनाभूत हैं। अतः उन्हीं दोका अभाव आप आप्तमें बतलाते हैं। परन्तु इस कथनका आपके पूर्व कथनके साथ ही विरोध आता है। आप पहले 'दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादय उक्ताः' आदि उद्धरण-प्रमाणके साथ लिख आये हैं कि 'यहाँ सर्वत्र उन्हीं ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों व तज्जन्य दोषोंका ग्रहण किया गया है।' यहाँ

आपने न एक दोषका ग्रहण और न एक आवरणका ग्रहण बतलाया है किन्तु अज्ञान, राग, द्वेष आदि बहुत दोषों और ज्ञानावरण आदि बहुत कर्मोंका निर्देश किया है। वास्तवमें जिस प्रकार 'मनुष्य' पदसे मनुष्य जाति—यावत मनुष्यों और 'पशु' पद-से पशुजाति—समस्त पशुओंका ग्रहण विवक्षित होता है उसी प्रकार 'दोष' पद और 'आवरण पद दोष-जाति—यावत दोषों और आवरण-जाति—समस्त आवरणों (घातिया कर्मों) के बोधक हैं। यह टीकाकारों, अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों और स्वयं आप्त-मीमांसाकारके अन्य ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित है। जैसा कि मैं पहले अनेक जगह स्वयंभूस्तोत्रके उल्लेखों द्वारा अठारह दोषोंका आप्तमीमांसाकार-सम्मत अभाव आप्तमें बतला आया हूँ और जिनमें १२ दोषोंका अभाव तो केवलीमें प्रो. सा. ने भी स्वीकार किया है। इसके सिवाय, 'हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो' (स्वयं०-८४) यहाँ आप्तमीमांसाकारने चार आवरणों (घातिया कर्मों) का और 'अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो' (स्वयं०६६) में अनन्त दोषोंका स्पष्ट उल्लेख किया है। तब एक ही दोष और एक ही आवरण कहाँ रहा ? यदि हम आपके फलितको आप्तमीमांसाकारका मत मान लें तो उसका उन्हींके आप्तमीमांसा (का० ९६, ९८) गत प्रतिपादनसे विरोध आवेगा। अतः आपको टीकाकारोंका अवलम्बन और आप्तमीमांसाकारके दूसरे ग्रन्थोंका सहारा लेकर ही उनके अभिप्रायको समझने-समझानेका प्रयत्न करना चाहिए।

(५) आप्तमें अघातिया कर्मोंका सद्भाव रहनेसे वचन, शरीर आदि वृत्तियोंका होना सङ्गत है, पर क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण और सुख-दुख व जीवन-मरणका सद्भाव आप्तमीमांसाकारने कहीं भी नहीं माना—उनका उसे मत बतलाना भ्रममात्र है। कारिका ९३वें में 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' का केवली अर्थ करना एक बड़ी भूल है, उसका साधु परमेष्ठी और उपाध्याय परमेष्ठी अर्थ है और उनके सुख-दुख होना ठीक है। इस सम्बन्धमें मैं विस्तारके साथ पहले खुलासा कर आया हूँ। आप्तमें शरीर, वचन आदिकी वृत्तियोंके होनेमें आप्तमीमांसाकारके लिये कोई बाधा नहीं है। इसके लिये उनकी दूसरी रचना स्वयम्भूस्तोत्र-गत निम्न दो कारिकाएँ पढ़ लीजिये, उनसे आपका समाधान होजायगा।

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो
देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरा-
न्नापि शासनफलैषणातुरः ॥७३॥
काय - वाक्य - मनसां प्रवृत्तयो
नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो
धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥७४॥

यदि इतने पर भी आपका समाधान न हो तो हम उसके लिये लाचार हैं।

उपसंहार—

उपर्युक्त विवेचन से निम्न बातें सामने आती हैं—

(१) रत्नकरण्डश्रावकाचारके (छठे पद्य) में आप्तमें जिन क्षुधादि अठारह दोषोंका अभाव बतलाया गया है उनका अभाव स्वयम्भूस्तोत्रमें भी वर्णित है। अतः रत्नकरण्डमें दोषका स्वरूप आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायसे भिन्न नहीं है और इसलिये वह उन्हींकी कृति है।

(२) साहित्यकारोंने समन्तभद्रके लिये देव और 'योगीन्द्र' पदके प्रयोग किये हैं और इसलिए देव और योगीन्द्र पदके वाच्य पार्श्वनाथचरितमें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हुए हैं। वादिराजके पूर्व अन्य 'योगीन्द्र' समन्तभद्रका साहित्यमें अस्तित्व नहीं है।

(३) आ० प्रभाचन्द्र वादिराजके प्रायः सम-कालीन हैं। अतः जहाँ प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया गया है और अपने आराधनाकथाकोषमें उन्होंने उनके लिये 'योगीन्द्र' रूपसे उल्लेखित किया है वहाँ उनके ही प्रायः समकालीन वादिराजने रत्नकरण्डको 'योगीन्द्र'कृत

बतलाया है। इसलिये वादिराजको भी प्रभाचन्द्रकी तरह 'योगीन्द्र' पदसे स्वामी समन्तभद्र ही विवक्षित हैं; क्योंकि रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न योगीन्द्र-कृत बतलाने वाला वादिराजका पोषक एक भी प्रमाण नहीं है और प्रभाचन्द्रके स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाने वाले उल्लेखोंके पोषक एवं समर्थक बीसियों प्रमाण हैं।

(४) रत्नकरण्डके उपान्त्य पद्यमें अकलङ्क, विद्यानन्द और सर्वार्थसिद्धिकी कल्पना अशास्त्रीय और असङ्गत है और इसलिये उक्त कल्पना रत्नकरण्डको विद्यानन्दके बादकी रचना सिद्ध नहीं कर सकती है। विद्यानन्दसे पूर्व ७-८वीं शताब्दीके न्यायावतारमें रत्नकरण्डका 'आप्तोपज्ञ' पद्य पाया जाता है। अतः वह विद्यानन्दके बादकी रचना कदापि नहीं है।

अतः रत्नकरण्ड अपने मौलिक प्रौढ साहित्य, विभिन्न उल्लेख-प्रमाणों और प्रामाणिक साहित्यिक अनुश्रुतियों व स्रोतों आदिसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति प्रमाणित होती है।

वीरसेवामन्दिरमें वीरशासन जयन्तीका उत्सव

प्रथम श्रावण कृष्णा प्रतिपदा वीरनिर्वाण संवत् २४७३, ता० ४ जुलाई सन् १९४७ को वीरसेवामन्दिरके भव्य-भवनमें गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी वीरशासन जयन्तीका उत्सव अत्यन्त आनन्द और समारोहके साथ सम्पन्न हुआ। उत्सवके अध्यक्ष थे हमारे निकटवर्ती परमादरणीय धर्म-प्रेमी बा० नेमिचन्द्रजी जैन वकील सहारनपुर। आपका सौजन्य और तत्वज्ञान प्रत्येक जैनके लिये स्पर्धाकी वस्तु है और वही हमारे लिये उनके आकर्षणकी चीज थी। उत्सवमें स्थानीय धर्म-बन्धुओं तथा जैनेतर भाइयोंके अलावा देहली, कानपुर, सहारनपुर, मल्हीपुर, तिस्सा, नानौता, अब्दुल्लापुर आदि विभिन्न स्थानोंसे भी अनेक सज्जन सम्मिलित हुए थे। देहलीसे बा० पन्नालालजी अग्रवाल, बा० माईदयालजी बी० ए० ऑनर्स, पण्डित चन्द्रमौलिजी शास्त्री व उनकी अनाथालय मंडली; कानपुरसे वैद्यरत्न राष्ट्रसेवक हकीम कन्हैयालालजी; सहारनपुरसे सभापतिजीके अलावा ला० जिनेश्वरदासजी उपाधिष्ठाता जैनगुरुकुल, पं० सुन्दरलालजी न्यायतीर्थ, पं० सुखनन्दनजी शास्त्री; मल्हीपुर से पुराने समाजसेवक वयोवृद्ध मा० चेतनदासजी बी० ए०; तिस्सासे पं० शोभारामजी; नानौतासे श्रीमती पं० जयवन्तीदेवी और अब्दुल्लापुरसे ला० इन्द्रसेनजी पधारे थे।

प्रातः प्रभातफेरी और झण्डारोहण हुए। मध्याह्नमें गाजे बाजेके साथ जुलूस निकाला गया, जिसमें भजनोपदेश हुए। ढाई बजेसे जलसेकी कार्रवाई शुरूकी गई। सर्वप्रथम पं० परमानन्दजीने मंगलाचरण किया। उसके बाद मुख्तार सा० के प्रस्ताव और बा० नानकचन्दजी आदिके समर्थनके साथ बा० नेमिचन्दजी वकील सभाध्यक्ष चुने गये। तदनन्तर जैनकन्या-पाठशालाकी छात्राओं और मास्टर गोपीचन्दजी जैन अनाथाश्रम देहलीके स्वागतगान हुए। उसके बाद आये हुए पत्रों और शुभकामनाओंको सुनाया गया। तत्पश्चात् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिरने अपने विवेचनके साथ 'महावीर-सन्देश' पढ़ा। इसके बाद पं० चन्द्रमौलिजी, बा० माईदयालजी, मा० चेतनदासजी, वैद्य रत्न हकीम कन्हैयालालजी, अध्यापिका क्षमाबाईजी और मेरे भाषण तथा बीच-बीचमें देहली अनाथाश्रमके छात्रों और कन्या पाठशालाकी छात्राओंके गायन हुए। मुख्यतः सबके भाषणों और गायनोंमें भगवान् महावीरके इस वाणीके प्रथम अवतरण अथवा शासनतीर्थके प्रवर्तन दिवसकी महत्ता प्रकट की गई थी और बतलाया गया था कि उनके उपदेश और सिद्धान्त कितने लोक कल्याणकारी हैं। अन्तमें सभाध्यक्षजीका अनुभव और ज्ञानपूर्ण भाषण होनेके बाद सभा रात्रिके लिये स्थगित कर दी गई। रात्रिमें वैद्यरत्न हकीम कन्हैयालालजीके सभानेतृत्वमें पण्डित शोभारामजीका सुन्दर औपदेशिक भाषण और अनाथाश्रम-

(शेषांश टाइटिल पृष्ठ ३ पर)

साहित्यपरिचय और समालोचन
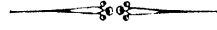
१–मूलमें भूल–'भगवान श्रीकुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला'का १९वाँ पुष्प। प्रवक्ता, पूज्य श्रीकानजी स्वामी। अनुवादक, पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ। प्राप्तिस्थान, आत्मधर्म कार्यालय मोटा आँकडिया (काठियावाड)। मूल्य ।॥)।

यह भैया भगवतीदासजी और विद्वद्वर्य पण्डित श्रीबनारसीदासजी द्वारा हिन्दीमें रचे गये उपादान और निमित्त विषयक दोहोंपर पूज्य कानजी महाराज के तर्कगर्भ और महत्वपूर्ण गुजराती प्रवचनोंका अनुवादरूपमें संग्रह है। भैया भगवतीदासजीने ४७ दोहोंमें उपादान और निमित्तका एक सुन्दर और तत्त्वज्ञानपूर्ण संवाद लिखा है। इसी तरह विद्वद्वर्य पं० बनारसीदासजीने भी उपादान और निमित्तको लेकर ७ दोहे रचे हैं। इन दोहोंमें उपादान और निमित्तका भेद, उपादानकी मुख्यता दिखलाई गई है। पूज्य कानजी महाराजका प्रत्येक दोहेपर मार्मिक प्रवचन है। निमित्ताधीन हो रहे जगतको पराश्रित और भ्रान्त बतलाकर उनकी मूलमें भूल बतलाई गई है और उपादानपर दृष्टि रखना, आत्माके पुरुषार्थपर निर्भर होना तत्त्वज्ञान बतलाया है। इस तरह यह ग्रन्थ केवल अध्यात्म-प्रेमियोंके लिये ही उपयोगी नहीं है वरन् प्रत्येक तत्त्व-जिज्ञासु, मुमुक्षुके लिये भी अत्युपयोगी है। पुस्तकको उक्त स्थानसे मँगाकर प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमीके लिये पढ़ना ही नहीं चाहिए अपितु उसका खूब मनन और बारबार चिन्तन करना चाहिए।

२–सरल सामायिक पाठ-संग्रह–(विधि सहित) जैन ट्रैक्ट सोसायटी हिसारका दूसरा पुष्प, प्रकाशक उक्त सोसायटी, मूल्य ।ᐨ) आना। सामायिकका प्रतिज्ञापत्र भरकर मँगाने वालोंको बिना मूल्य।

प्रस्तुत पुस्तक एक गुटके के आकारमें ला० शम्भूदयालजी हिसारने अपनी स्व० माता श्रीगोमतीदेवीकी स्मृतिमें अपने द्रव्यसे जैन ट्रैक्ट सोसायटी हिसार द्वारा प्रकाशित कराई है। पुस्तक इतनी अशुद्ध, भद्दी और अव्यवस्थित छपी है कि पाठकका चित्त कुछ पढ़नेके बाद उचटे बिना नहीं रह सकता। ऐसा साहित्य अजैनोंके हाथमें जानेपर वे जैन-साहित्य और जैनधर्मके प्रति क्या भाव बनायेंगे। मेरा खयाल है कि पुस्तकके प्रकाशनमें ठीक विचारसे काम नहीं लिया गया। यदि प्रकाशित करनेके पहले सोसायटीने किसी योग्य विद्वान् द्वारा उसका सम्पादनादि कार्य करा लिया होता और छपाईकी योग्य व्यवस्था की गई होती तो अच्छा होता। फिर भी ला० शम्भूदयालजीकी शुभ भावना और उत्साह प्रशंसनीय है।

३–माणिक्यचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालाका कार्य-विवरण–प्रकाशक, प० नाथूरामजी प्रेमी, मन्त्री ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई ४। मूल्य आदि कुछ नहीं।

यह ग्रन्थमालाका सन् १९१४से १९४६ तकका संक्षिप्त कार्य-विवरण है। मुख पृष्ठपर दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीका भव्य चित्र है, जिनकी स्मृतिमें उक्त ग्रन्थमाला कायम की गई थी। प्रारम्भमें बतलाया गया है कि सन १९१४की १७ जुलाईको उक्त सेठजीका एकाएक स्वर्गवास होगया। उनके शोकमें एक सभा की गई, जिसमें उनकी यादमें जैन-समाजकी ओरसे कोई ज्ञान प्रसारक काम किये जानेका निश्चय किया गया। तदनुसार उसी समय एक स्मारक-फण्ड खोला गया। इस फण्डमें लगभग चार हजार रुपया इकट्ठा हुआ और उसे सेठ हीराचन्द गुमानजी जैन बोडिङ्ग हाउस बम्बईके ट्रस्टियोंको उक्त विवरणोक्त चार शर्तोंपर सौंप दिया गया। उनमें एक शर्त यह थी कि इन रुपयोंसे 'माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' का

प्रकाशन किया जाय। आगे पुराने और नये मेम्बरों की नामावली है। इसके बाद चार परिशिष्ट हैं। पहले परिशिष्टमें ग्रन्थमालाका आय-व्यय दिया गया है। दूसरेमें एकसौ रुपयेसे ज्यादा देनेवालोंकी नामावली दी गई है। तीसरेमें छपे ग्रन्थोंकी संख्या और उनकी लागत मूल्य बतलाई गई है। चौथेमें वर्तमानमें मौजूद ग्रन्थोंकी प्रति, संख्या और उनका कुल मूल्य क्रमशः दिया गया है। ग्रन्थमालामें अबतक ४२ ग्रन्थ छपे हैं। कुछ ग्रन्थ कई खण्डोंमें छपे हैं, जिनकी कुल लागत ३६२६९॥-)। पड़ी है और वर्तमानमें २८००२॥-)॥ के ग्रन्थ मौजूद हैं। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थमालाने बड़ी सहूलियतसे सुन्दर और अधिक प्रकाशन प्रकाशित किये है। इसका श्रेय प्रेमीजीको है जिन्होंने ग्रन्थमालाका न स्वतन्त्र ऑफिस रखा और न कोई स्थायी कर्मचारी। ग्रन्थ छपानेकी व्यवस्था और पत्र व्यवहारादि भी अपने हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय द्वारा ही ठीक कर लेते हैं। ग्रन्थमालाकी जो सज्जन सौ रुपयासे एकमुश्त सहायता करते हैं उन्हें ग्रन्थमालाके पहले वर्तमान और आगेके सब प्रकाशन भेंट दिये जाते हैं। ऐसी उपयोगी ग्रन्थमालाका प्रत्येक समर्थ सज्जनको सौ रुपये देकर अवश्य सहायक बनना चाहिए।

४—वीर-वाणी (पाक्षिक पत्र)—सम्पादक श्रीचैनसुखदास न्यायतीर्थ व श्रीभँवरलाल न्यायतीर्थ, प्रकाशक पं० भँवरलाल जैन, श्रीवीर-प्रेस मनिहारोंका रास्ता जयपुर, वार्षिक मूल्य ३)।

इस पत्रका गत महावीर-जयन्तीसे ही प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है। इसके ३, ७ और ८-९ अङ्क हमारे सामने हैं। इनमें मुख्यतः जयपुरके साहित्यकारों और दीवानोंका प्रमाणपुरस्सर विस्तृत परिचय है जो प्रायः अबतक अप्रकाशित था। पत्रका ध्येय भी यही प्रतीत होता है कि इसमें जयपुरके उन समस्त साहित्यकारों और दीवानोंका क्रमशः प्रामाणिक परिचय दिया जाय जिन्होंने साहित्य, जाति और अपने राज्यकी अनुपम एवं आदर्श सेवा की है। सामाजिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियोंकी चर्चा तथा देश-विदेशकी खबरें भी इन अङ्कोंमें हैं। पत्रकी भाषा सरल और प्राञ्जल है। सफाई छपाई उत्तम है। सब मिलाकर पत्र लोकरुचिके अनुकूल है। हम पत्रकी हृदयसे प्रगतिकामना करते हैं। पाठकोंको ग्राहक अवश्य बनना चाहिए।

५—श्वेताम्बर जैन—(पाक्षिक पत्र)—सम्पादक और प्रकाशक श्रीजवाहरलाल लोढा, मोती कटरा, आगरा। वार्षिक मूल्य ४)।

यह श्वेताम्बर जैन-समाजका मुख पत्र है। हालमें इसका पुनः प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है। इसका तीसरा अङ्क हमारे सामने है। लेख पढ़ने योग्य हैं। देश-विदेशादिके समाचारोंका सङ्कलन है। 'श्री केशरियाजी तीर्थ और जैनमङ्घ' जैसे लेखों द्वारा पत्र साम्प्रदायिकताको न उकसाकर उसके दूर करनेमें अग्रसर हो, यही शुभ कामना है।

६—आरोग्य (मासिक पत्र)—सम्पादक विट्ठलदास मोदी गोरखपुर। मूल्य ४)। प्राप्तिस्थान, 'आरोग्य' कार्यालय, गोरखपुर।

प्रस्तुत पत्रका प्रकाशन जुलाईसे शुरू हुआ है। इसमें शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी लेखोंका बहुत उत्तम संग्रह है। पत्रका ध्येय प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा जनसाधारणके स्वास्थ्यको बनाना और उसकी वृद्धि करना है। इसके सभी लेख उत्तम और प्रत्येकके लिये पठनीय हैं। आशा है ऐसे पत्रोंसे भारतीयोंको बड़ा लाभ पहुँचेगा। हम पत्रकी सफलताकी कामना करते हैं और पाठकोंसे अनुरोध करते हैं कि वे उक्त पत्रसे अधिकसे अधिक लाभ उठायें।

७—जैन-जगत (मासिक पत्र)—सम्पादक, प्रकाशक, श्रीहीरामाव चवडे, वर्धा। कार्यवाह-सम्पादक, श्रीजमनालाल जैन साहित्यरत्न। सम्पादक मण्डल, भानुकुमार जैन, ताराचन्द कोठारी बम्बई, बाबूलाल डेरिया बाबई, सौ० विद्यावती देवडिया, नागपुर। वार्षिक मूल्य २)। संस्थाओं, छात्राओं तथा महिलाओंसे १)।

यह पत्र श्रीभारत जैन महामण्डलके गत अधिवेशनसे उसके प्रमुख पत्रके रूपमें प्रकट हुआ है। श्रीभारत जैन महामण्डलके ध्येयके अनुसार इस पत्रका भी ध्येय अखण्ड जैन जागृति तथा सामाजिक एवं साहित्यिक समन्वय करना है जैसाकि उसके मुखपृष्ठसे विदित है। हमारे सामने पत्रका ४-५ संयुक्ताङ्क है। इसमें मुख्यत: डायरेक्टरी और उसका महत्व बतलाकर वर्धा जिलेकी जैन डायरेक्टरी दीगई है, जिसमें वर्धा जिले भरकी तीनों तहसीलोंका गणनादिके साथ परिचय कराया गया है। कामना है पत्र अपने उद्देश्यमें सफल हो।

८—नया जीवन—प्रधान सम्पादक, श्रीकन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'। प्रकाशक, विकास लिमिटेड सहारनपुर। मूल्य, इस संख्याका बारह आना और बारह संख्याओं (१००० पृष्ठ)का एक साथ १०) रु०।

प्रभाकरजीकी चुभती लेखनीसे पाठक परिचित हैं, उन्हींके प्रधान सम्पादकत्वमें यह मासिक पत्र हालमें प्रकट हुआ है, जिसका हमारे सामने दूसरा अङ्क है। इसमें साहित्यिक, समाज सुधारक और देशकी वर्तमान दशाके प्रदर्शक है, पठनीय लेखोंका अच्छा सुन्दर संग्रह है। सफाई-छपाई भी अच्छी है।

९—तरुण जैन—सम्पादक, भँवरलाल सिंघी व चन्दनमल भूतोंडिया। मूल्य, ५)। प्राप्तिस्थान, 'तरुण जैन' ३, कामर्शियल बिल्डिङ्गस, कलकत्ता।

तरुण जैन सङ्घ कलकत्ताका यह मासिक प्रमुख पत्र है। इसमें जहाँ सुधार और आलोचनाकी तीक्ष्णता है वहाँ व्यर्थकी छींटाकशी और पक्षकी भी कमी नहीं है। हम चाहते हैं कि पत्र निष्पक्ष और अनाक्षेपकी भाषामें जैन सामाजिक सुधारों और आलोचनाओंको प्रस्तुत करे। इससे उसका क्षेत्र व्याप्य न रहकर व्यापक बन सकता है। हम उसकी इस दिशामें सफलता चाहते हैं।

१०—अशोक-आश्रमका चतुर्थ वार्षिक विवरण—प्रकाशक, श्रीधर्मदेव शास्त्री। व्यवस्थापक, अशोक-आश्रम, कालसी, देहरादून।

पण्डित श्रीधर्मदेव शास्त्रीने कालसी, देहरादून और जौनसार आदिकी पहाड़ी जनताकी सेवा करने के लिये चार वर्ष पूर्व अशोक-आश्रमकी स्थापना की थी। उसीकी यह चतुर्थवर्षीय रिपोर्ट है। इस रिपोर्टसे मालूम होता है कि शास्त्रीजीने उक्त आश्रमके अन्तर्गत गान्धी गुरुकुल और माता कस्तूरबा गान्धी महिला औषधालय ये दो संस्थाएँ खोल रखी हैं और उनके द्वारा पहाड़ी जनताको शिक्षित, सुसंस्कृत और उन्नत बना रहे हैं। हम उनके इस पवित्र सेवाकार्यकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए उसकी प्रगतिकामना करते हैं।

११—लोक-जीवन (मासिक)—सम्पादक, श्री यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०। संरक्षक, श्रीजैनेन्द्रकुमार। वार्षिक मूल्य ६)। प्राप्तिस्थान, 'लोकजीवन' कार्यालय ७/८ दरियागञ्ज, दिल्ली।

जैसाकि पत्रके नामसे प्रकट है, यह लोकके नैतिक जीवनके अभ्युदयका प्रदर्शक मासिक पत्र है। हमारे समक्ष वर्ष दोका दूसरा अङ्क है। इसमें विख्यात उत्तम लेखोंका चयन है। एक परिचय लेख तो बिल्कुल अनावश्यक है उसका सर्वसाधारण के लिये कोई उपयोग नहीं है। प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थके यशस्वी सम्पादक बा० यशपालजीके सम्पादकत्वमें अब प्रकट हुआ है इसलिये आशा है कि यह अपने उद्देश्यमें अवश्य सफल होगा। हमारी शुभ कामना है।

१२—आत्म-धर्म (मासिक पत्र)—सम्पादक श्री रामजी माणेकचन्द दोशी, वकील, प्रकाशक श्रीजमनादास माणेकचन्द रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय मोटा आँकडिया, काठियावाड, वार्षिक मूल्य ३)

यह अध्यात्मका उच्चकोटिका मासिक पत्र है। इसमें पूज्य कानजी स्वामीके अध्यात्मिक प्रवचनोंका संग्रह रहता है। जो लोग विद्वत्परिषद्के गत अधिवेशनमें सुवर्णपुरी गये थे उन्हें मालूम है कि वहाँका सारा वातावरण कितना आध्यात्मिक और शान्त है। उसी वातावरणकी उद्दीप्त रश्मियाँ इस पत्र

द्वारा विश्वमें प्रसारित की जारही हैं। जब विश्व भौतिकताकी ओर जारहा है तो ये रश्मियां उन्हें अवश्य प्रकाशदान करेंगी। हम पत्रकी सफलता चाहते हैं और चाहते हैं पूज्य कानजी स्वामीके उपदेशोंका सार्वत्रिक प्रसार और प्रकाश।

१३–मुक्तिका मार्ग–प्रवक्ता, श्रीकानजी स्वामी। अनुवादक, पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। मूल्य, दस आने। प्राप्तिस्थान, श्रीजैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सुवर्णपुरी-सोनगढ़ (काठियावाड)।

यह 'भगवान श्रीकुन्दकुन्दकहान जैन-शास्त्रमाला' का तेरहवाँ पुष्प है। इसमें संस्कृत महावीराष्टक आदि रचनाओंके रचयिता स्व० पं० भागचन्दजी द्वारा हिन्दीमें रचे गये 'सत्तास्वरूप' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थपर अध्यात्मयोगी पूज्य श्रीकानजी स्वामीके गुजरातीमें किये गये मार्मिक आध्यात्मिक प्रवचनोंको संगृहीत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक उसीका पं० परमेष्ठीदासजी कृत हिन्दी अनुवाद है। मूल ग्रन्थमें आप्तका स्वरूप और उसकी सत्ता सिद्ध की है। पं० भागचन्दजीने अपनी जिस तर्कणापूर्ण पैनी बुद्धिसे सच्चे आप्त—अरहन्तदेवका प्रसाधन किया है उसी तर्कपूर्ण तीक्ष्ण बुद्धिसे श्रीकानजी महाराजने उसका अपने सूक्ष्म प्रवचनों द्वारा सबल भाष्य करके सम्पोषण किया है तथा बतलाया है कि तत्त्व-निर्णय-तत्त्वज्ञान ही मुक्तिकामार्ग है जो हरेक मुमुक्षुको सब जगह और सब कालमें प्राप्त होसकता। इस तत्त्वज्ञानके बिना ही जीव गृहीत मिथ्यात्वी बने रहते हैं। अतः उसे प्राप्तकर जीवोंको गृहीत मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए। तत्त्वज्ञ मुमुक्षुओंके लिये यह पुस्तक बड़ी उपयोगी और कल्याणकारक है। इसके साथमें मूल ग्रन्थ भी रहता तो उत्तम होता। सफाई-छपाई आदि सब सुन्दर हैं।

१४–रक्षाबन्धन (पौराणिक खण्डका काव्य)— लेखक, स्व० श्रीभगवत जैन। प्रकाशक श्रीभगवत-भवन ऐत्मादपुर (आगरा)। मूल्य, चार आने।

प्रस्तुत पुस्तक 'भगवत' पुस्तकमालाका नवाँ पुष्प है। पाठक स्व० श्रीभगवतजीकी ओजपूर्ण लेखनी और उनकी गद्य-पद्य रचनाओंसे सुपरिचित हैं। उसी ओजपूर्ण लेखनीमें यह पद्यात्मक रचना लिखी गई है। भगवतजीकी प्रत्येक रचनामें नीति और सुधारकी पुट निहित रहती है। इस रचनामें भी वे दोनोंका जगह जगह प्रदर्शन होरहा है। इस छोटीसी पुस्तकमें इस पौराणिक कथाको चित्रित किया है जिसमें बताया गया है कि विष्णुकुमार मुनिने किस प्रकार बलिद्वारा उपसर्ग किये गये सातसौ मुनियोंकी रक्षा करके रक्षाबन्धनका त्योहार प्रचलित किया और लोकमें वात्सल्यका अमिट उदाहरण प्रस्तुत किया। पुस्तक रोचक और पठनीय है।

१५–मधु-रस (छह खण्ड काव्य)–लेखक, श्रीभगवत जैन। प्रकाशक उपर्युक्त भवन। मू० ।≈)

इसमें स्वाधीनताकी ज्योति, स्वयम्वरा, सिद्धार्थ-नन्द, जनकनन्दिनी, साधु-सेवा और पुजारी इन छह खण्ड काव्योंका सङ्कलन है। इनमें कई अनेकान्तमें प्रकट भी होचुके हैं। यह सभी मधुर और श्रेष्ठ तो हैं ही पर उनमें ओज, शिक्षा और काव्यगरिमा भी खूब है। श्रीभगवतजी यदि कुछ थोड़े दिन और जीवित रहते तो उनके द्वारा मालूम नहीं कितनी भारी साहित्य और समाजकी सेवा होती। आज तो उनकी ये कृतियाँ ही हमारे लिये स्मारक हैं। भावना है कि उनकी इन कृतियोंका समस्त संसारमें मान और आदर हो।

१६–धर्म क्या है?–लेखक, कुवर श्रीनेमिचन्द जैन पाटनी। प्रकाशक, श्रीमगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, मदनगञ्ज। मूल्य, मनन।

इसमें पाटनीजीने वास्तविक धर्म राग और द्वेषकी निवृत्तिको बतलाया है। इसीके प्रसङ्गमें जीवादि तत्त्वोंका स्वरूपनिर्देश भी किया है। जो केवल शुभ प्रवृत्तिको धर्म मानते अथवा समझते हैं उसका निषेध करके निवृत्तिपरक ही धर्मकी व्याख्या की है। पुस्तक उपयोगी है। पाटनीजीका प्रयत्न सराहनीय है।

—दरबारीलाल जैन कोठिया, न्यायाचार्य

(पृष्ठ ४२८ का शेषांश)

के छात्रों तथा मा० गोपीचन्दजीके मधुर गायन एवं मा० जैनकुमारके बेला, जलतरंग आदि होकर ग्यारह बजे सभा सानन्द समाप्त हो गई।

दूसरे दिन ता० ५ जुलाईको दिनमें जैन कन्या पाठशालाके नूतनभवनमें श्री जयवन्तीदेवीकी अध्यक्षतामें महिलाओंकी भी सभा हुई, जिसमें सभानेत्रीजीके अतिरिक्त श्री क्षमाबाई प्र० अ०, श्री गिरजाबाई, सौ० चमेलीदेवी, श्री भगवतीदेवी और बालिकाओंके स्त्री-शिक्षा आदि विषयोंपर व्याख्यान हुए। रात्रिमें वैद्यरत्न कन्हैयालालजीके सभापतित्वमें वहीं सार्वजनिक सभा की गई, जिसमें पण्डित चन्द्रमौलिजी, बा० ज्योतिप्रसाद, सभापतिजी और मेरे भाषण हुए तथा अनाथाश्रमके छात्रों एवं मास्टर गोपीचन्दके गायन और मा० जैनकुमारके बेला, जलतरंग आदि हुए। धन्यवाद आदि वितरण करनेके उपरान्त सरसावा समाजकी ओरसे जैन अनाथालयके लिये करीब १०१) रुपये भेंट किये गये।

इस तरह वीरशासनजयन्तीका यह दोनों दिनका उत्सव बड़े आनन्द और सज्जन-समागमके साथ निर्विघ्नतया पूर्ण हुआ। —दरबारीलाल जैन, कोठिया।

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत किरण (८-९) में प्रकाशित सहायताके बाद 'वीरसेवामन्दिर' सरसावाको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

५०) बाबू लालचन्दजी जैन एडवोकेट रोहतक (वीरशासन-दिवसकी स्मृतिके उपलक्षमें)।

१०) लाला सूरतरामजी जैन पानीपत जिला करनाल (चि० पुत्र कुलभूषणके विवाहोपलक्षमें) मार्फत पण्डित रूपचन्दजी जैन गार्गीय, पानीपत।

६०)

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

ज़रूरी सूचना

इस किरणमें प्रकाशित 'जैन-गुण-दर्पण'की कुछ कापियां अच्छे बढ़िया कागजपर अलग भी छपाई गई हैं। जिन सज्जनोंको कांचमें जड़ाकर मन्दिर आदिमें लगाना हो वे आवश्यकतानुसार कापियां वीरसेवामन्दिरसे मंगा सकते हैं।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

प्रकाशन किया जाय। आगे पुराने और नये मेम्बरों की नामावली है। इसके बाद चार परिशिष्ट हैं। पहले परिशिष्टमें ग्रन्थमालाका आय-व्यय दिया गया है। दूसरेमें एकसौ रुपयेसे ज्यादा देनेवालोंकी नामावली दी गई है। तीसरेमें छपे ग्रन्थोंकी संख्या और उनकी लागत मूल्य बतलाई गई है। चौथेमें वर्तमानमें मौजूद ग्रन्थोंकी प्रति, संख्या और उनका कुल मूल्य क्रमशः दिया गया है। ग्रन्थमालामें अबतक ४२ ग्रन्थ छपे हैं। कुछ ग्रन्थ कई खण्डोंमें छपे हैं, जिनकी कुल लागत ३६२६९॥-)। पड़ी है और वर्तमानमें २८००२॥-)॥ के ग्रन्थ मौजूद हैं। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थमालाने बड़ी महूलियतसे सुन्दर और अधिक प्रकाशन प्रकाशित किये है। इसका श्रेय प्रेमीजीको है जिन्होंने ग्रन्थमालाका न स्वतन्त्र ऑफिस रखा और न कोई स्थायी कर्मचारी। ग्रन्थ छपानेकी व्यवस्था और पत्र व्यवहारादि भी अपने हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय द्वारा ही ठीक कर लेते हैं। ग्रन्थमालाकी जो सज्जन सौ रुपयासे एकमुश्त सहायता करते हैं उन्हें ग्रन्थमालाके पहले वर्तमान और आगेके सब प्रकाशन भेंट दिये जाते हैं। ऐसी उपयोगी ग्रन्थमालाका प्रत्येक समर्थ सज्जनको सौ रुपये देकर अवश्य सहायक बनना चाहिए।

४-वीर-वाणी (पाक्षिक पत्र)—सम्पादक श्रीचैन-सुखदास न्यायतीर्थ व श्रीभँवरलाल न्यायतीर्थ, प्रकाशक पं० भँवरलाल जैन, श्रीवीर-प्रेस मनिहारोंका रास्ता जयपुर, वार्षिक मूल्य ३)।

इस पत्रका गत महावीर-जयन्तीसे ही प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है। इसके ३, ७ और ८-९ अङ्क हमारे सामने हैं। इनमें मुख्यतः जयपुरके साहित्यकारों और दीवानोंका प्रमाणपुरस्सर विस्तृत परिचय है जो प्रायः अबतक अप्रकाशित था। पत्रका ध्येय भी यही प्रतीत होता है कि इसमें जयपुरके उन समस्त साहित्यकारों और दीवानोंका क्रमशः प्रामाणिक परिचय दिया जाय जिन्होंने साहित्य, जाति और अपने राज्यकी अनुपम एवं आदर्श सेवा की है। सामाजिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियोंकी चर्चा तथा देश-विदेशकी खबरें भी इन अङ्कोंमें हैं। पत्रकी भाषा सरल और प्राञ्जल है। सफाई छपाई उत्तम है। सब मिलाकर पत्र लोकरुचिके अनुकूल है। हम पत्र-की हृदयसे प्रगतिकामना करते हैं। पाठकोंको ग्राहक अवश्य बनना चाहिए।

५-श्वेताम्बर जैन—(पाक्षिक पत्र)—सम्पादक और प्रकाशक श्रीजवाहरलाल लोढा, मोती कटरा, आगरा। वार्षिक मूल्य ४)।

यह श्वेताम्बर जैन-समाजका मुख पत्र है। हालमें इसका पुनः प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है। इसका तीसरा अङ्क हमारे सामने है। लेख पढ़ने योग्य हैं। देश-विदेशादिके समाचारोंका सङ्कलन है। 'श्री केशरियाजी तीर्थ और जैनमङ्घ' जैसे लेखों द्वारा पत्र साम्प्रदायिकताको न उकसाकर उसके दूर करनेमें अग्रसर हो, यही शुभ कामना है।

६-आरोग्य (मासिक पत्र)—सम्पादक विट्ठल-दास मोदी गोरखपुर। मूल्य ४)। प्राप्तिस्थान, 'आरोग्य' कार्यालय, गोरखपुर।

प्रस्तुत पत्रका प्रकाशन जुलाईसे शुरू हुआ है। इसमें शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी लेखोंका बहुत उत्तम संग्रह है। पत्रका ध्येय प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा जनसाधारणके स्वास्थ्यको बनाना और उसकी वृद्धि करना है। इसके सभी लेख उत्तम और प्रत्येकके लिये पठनीय हैं। आशा है ऐसे पत्रोंसे भारतीयोंको बड़ा लाभ पहुँचेगा। हम पत्रकी सफलताकी कामना करते हैं और पाठकोंसे अनुरोध करते हैं कि वे उक्त पत्रसे अधिकसे अधिक लाभ उठायें।

७-जैन-जगत (मासिक पत्र)—सम्पादक, प्रकाशक, श्रीहीरामाव चवडे, वर्धा। कार्यवाह-सम्पादक, श्रीजमनालाल जैन साहित्यरत्न। सम्पादक मण्डल, भानुकुमार जैन, ताराचन्द कोठारी बम्बई, बाबूलाल डेरिया बाबई, सौ० विद्यावती देवडिया, नागपुर। वार्षिक मूल्य २)। संस्थाओं, छात्राओं तथा महिलाओंसे १)।

यह पत्र श्रीभारत जैन महामण्डलके गत अधिवेशनसे उसके प्रमुख पत्रके रूपमें प्रकट हुआ है। श्रीभारत जैन महामण्डलके ध्येयके अनुसार इस पत्रका भी ध्येय अखण्ड जैन जागृति तथा सामाजिक एवं साहित्यिक समन्वय करना है जैसाकि उसके मुखपृष्ठसे विदित है। हमारे सामने पत्रका ४-५ संयुक्ताङ्क है। इसमें मुख्यतः डायरेक्टरी और उसका महत्व बतलाकर वर्धा जिलेकी जैन डायरेक्टरी दीगई है, जिसमें वर्धा जिले भरकी तीनों तहसीलोंका गणनादिके साथ परिचय कराया गया है। कामना है पत्र अपने उद्देश्यमें सफल हो।

८–नया जीवन–प्रधान सम्पादक, श्रीकन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'। प्रकाशक, विकास लिमिटेड सहारनपुर। मूल्य, इस संख्याका बारह आना और बारह संख्याओं (१००० पृष्ठ)का एक साथ १०) रु०।

प्रभाकरजीकी चुभती लेखनीसे पाठक परिचित हैं, उन्हींके प्रधान सम्पादकत्वमें यह मासिक पत्र हालमें प्रकट हुआ है, जिसका हमारे सामने दूसरा अङ्क है। इसमें साहित्यिक, समाज सुधारक और देशकी वर्तमान दशाके प्रदर्शक हैं, पठनीय लेखोंका अच्छा सुन्दर संग्रह है। सफाई-छपाई भी अच्छी है।

९–तरुण जैन–सम्पादक, भँवरलाल सिंघी व चन्दनमल भूतोंडिया। मूल्य, ४)। प्राप्तिस्थान, 'तरुण जैन' ३, कामर्शियल बिल्डिङ्गस, कलकत्ता।

तरुण जैन सङ्घ कलकत्ताका यह मासिक प्रमुख पत्र है। इसमें जहाँ सुधार और आलोचनाकी तीक्ष्णता है वहाँ व्यर्थकी छींटाकशी और पक्षकी भी कमी नहीं है। हम चाहते हैं कि पत्र निष्पक्ष और अनाक्षेपकी भाषामें जैन सामाजिक सुधारों और आलोचनाओंको प्रस्तुत करे। इससे उसका क्षेत्र व्याप्य न रहकर व्यापक बन सकता है। हम उसकी इस दिशामें सफलता चाहते हैं।

१०–अशोक-आश्रमका चतुर्थ वार्षिक विवरण—प्रकाशक, श्रीधर्मदेव शास्त्री। व्यवस्थापक, अशोक-आश्रम, कालसी, देहरादून।

पण्डित श्रीधर्मदेव शास्त्रीने कालसी, देहरादून और जौनसार आदिकी पहाड़ी जनताकी सेवा करने के लिये चार वर्ष पूर्व अशोक-आश्रमकी स्थापना की थी। उसीकी यह चतुर्थवर्षीय रिपोर्ट है। इस रिपोर्टसे मालूम होता है कि शास्त्रीजीने उक्त आश्रमके अन्तर्गत गान्धी गुरुकुल और माता कस्तूरबा गान्धी महिला औषधालय ये दो संस्थाएँ खोल रखी हैं और उनके द्वारा पहाड़ी जनताको शिक्षित, सुसंस्कृत और उन्नत बना रहे हैं। हम उनके इस पवित्र सेवाकार्यकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए उसकी प्रगतिकामना करते हैं।

११–लोक-जीवन (मासिक)—सम्पादक, श्री यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०। संरक्षक, श्रीजैनेन्द्रकुमार। वार्षिक मूल्य ६)। प्राप्तिस्थान, 'लोकजीवन' कार्यालय ७/८ दरियागञ्ज, दिल्ली।

जैसाकि पत्रके नामसे प्रकट है, यह लोकके नैतिक जीवनके अभ्युदयका प्रदर्शक मासिक पत्र है। हमारे समक्ष वर्ष दोका दूसरा अङ्क है। इसमें विख्यात उत्तम लेखोंका चयन है। एक परिचय लेख तो बिल्कुल अनावश्यक है उसका सर्वसाधारण के लिये कोई उपयोग नहीं है। प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थके यशस्वी सम्पादक बा० यशपालजीके सम्पादकत्वमें अब प्रकट हुआ है इसलिये आशा है कि यह अपने उद्देश्यमें अवश्य सफल होगा। हमारी शुभ कामना है।

१२–आत्म-धर्म (मासिक पत्र)—सम्पादक श्री रामजी माणेकचन्द दोशी, वकील, प्रकाशक श्रीजमनादास माणेकचन्द रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय मोटा आँकडिया, काठियावाड, वार्षिक मूल्य ३)

यह अध्यात्मका उच्चकोटिका मासिक पत्र है। इसमें पूज्य कानजी स्वामीके अध्यात्मिक प्रवचनोंका संग्रह रहता है। जो लोग विद्वत्परिषद्के गत अधिवेशनमें सुवर्णपुरी गये थे उन्हें मालूम है कि वहाँका सारा वातावरण कितना आध्यात्मिक और शान्त है। उसी वातावरणकी उद्दीप्त रश्मियाँ इस पत्र

द्वारा विश्वमें प्रसारित की जारही हैं। जब विश्व भौतिकताकी ओर जारहा है तो ये रश्मियाँ उन्हें अवश्य प्रकाशदान करेंगी। हम पत्रकी सफलता चाहते हैं और चाहते हैं पूज्य कानजी स्वामीके उपदेशोंका सार्वत्रिक प्रसार और प्रकाश।

१३–मुक्तिका मार्ग–प्रवक्ता, श्रीकानजी स्वामी। अनुवादक, पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। मूल्य, दस आने। प्राप्तिस्थान, श्रीजैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सुवर्णपुरी–सोनगढ़ (काठियावाड़)।

यह 'भगवान श्रीकुन्दकुन्दकहान जैन-शास्त्रमाला' का तेरहवाँ पुष्प है। इसमें संस्कृत महावीराष्टक आदि रचनाओंके रचयिता स्व० पं० भागचन्दजी द्वारा हिन्दीमें रचे गये 'सत्तास्वरूप' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थपर अध्यात्मयोगी पूज्य श्रीकानजी स्वामीके गुजरातीमें किये गये मार्मिक आध्यात्मिक प्रवचनोंको संगृहीत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक उसीका पं० परमेष्ठीदासजी कृत हिन्दी अनुवाद है। मूल ग्रन्थमें आप्तका स्वरूप और उसकी सत्ता सिद्ध की है। पं० भागचन्दजीने अपनी जिस तर्कणापूर्ण पैनी बुद्धिसे सच्चे आप्त—अरहन्तदेवका प्रसाधन किया है उसी तर्कपूर्ण तीक्ष्ण बुद्धिसे श्रीकानजी महाराजने उसका अपने सूक्ष्म प्रवचनों द्वारा सबल भाष्य करके सम्पोषण किया है तथा बतलाया है कि तत्त्व-निर्णय–तत्त्वज्ञान ही मुक्तिकामार्ग है जो हरेक मुमुक्षुको सब जगह और सब कालमें प्राप्त होसकता। इस तत्त्वज्ञानके बिना ही जीव गृहीत मिथ्यात्वी बने रहते हैं। अतः उसे प्राप्तकर जीवोंको गृहीत मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए। तत्त्वज्ञ नेच्छुकोंके लिये यह पुस्तक बड़ी उपयोगी और कल्याण कारक है। इसके साथमें मूल ग्रन्थ भी रहता तो उत्तम होता। सफाई-छपाई आदि सब सुन्दर हैं।

१४–रक्षाबन्धन (पौराणिक खण्डका काव्य)—लेखक, स्व० श्रीभगवत् जैन। प्रकाशक श्रीभगवत-भवन ऐत्मादपुर (आगरा)। मूल्य, चार आने।

प्रस्तुत पुस्तक 'भगवत' पुस्तकमालाका नवाँ पुष्प है। पाठक स्व० श्रीभगवतजीकी ओजपूर्ण लेखनी और उनकी गद्य-पद्य रचनाओंसे सुपरिचित हैं। उसी ओजपूर्ण लेखनीसे यह पद्यात्मक रचना लिखी गई है। भगवतजीकी प्रत्येक रचनामें नीति और सुधारकी पुट निहित रहती है। इस रचनामें भी वे दोनोंका जगह जगह प्रदर्शन होरहा है। इस छोटीसी पुस्तकमें इस पौराणिक कथाको चित्रित किया है जिसमें बताया गया है कि विष्णुकुमार मुनिने किस प्रकार बलिद्वारा उपसर्ग किये गये सातसौ मुनियोंकी रक्षा करके रक्षाबन्धनका त्योहार प्रचलित किया और लोकमें वात्सल्यका अमिट उदाहरण प्रस्तुत किया। पुस्तक रोचक और पठनीय है।

१५–मधु-रस (छह खण्ड काव्य)—लेखक, श्रीभगवत जैन। प्रकाशक उपर्युक्त भवन। मू० ।≈)

इसमें स्वाधीनताकी ज्योति, स्वयम्वरा, सिद्धार्थ-नन्द, जनकनन्दिनी, साधु-सेवी और पुजारी इन छह खण्ड काव्योंका सङ्कलन है। इनमें कई अनेकान्तमें प्रकट भी होचुके हैं। यह सभी मधुर और श्रेष्ठ तो हैं ही पर उनमें ओज, शिक्षा और काव्यगरिमा भी खूब है। श्रीभगवतजी यदि कुछ थोड़े दिन और जीवित रहते तो उनके द्वारा मालूम नहीं कितनी भारी साहित्य और समाजकी सेवा होती। आज तो उनकी ये कृतियाँ ही हमारे लिये स्मारक हैं। भावना है कि उनकी इन कृतियोंका समस्त संसारमें मान और आदर हो।

१६–धर्म क्या है?–लेखक, कुंवर श्रीनेमिचद जैन पाटनी। प्रकाशक, श्रीमगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, मदनगञ्ज। मूल्य, मनन।

इसमें पाटनीजीने वास्तविक धर्म राग और द्वेषकी निवृत्तिको बतलाया है। इसीके प्रसङ्गमें जीवादि तत्त्वों का स्वरूपनिर्देश भी किया है। जो केवल शुभ प्रवृत्तिको धर्म मानते अथवा समझते हैं उसका निषेध करके निवृत्तिपरक ही धर्मकी व्याख्या की है। पुस्तक उपयोगी है। पाटनीजीका प्रयत्न सराहनीय है।

—दरबारीलाल जैन कोठिया, न्यायाचार्य

(पृष्ठ ४२८ का शेषांश)

के छात्रों तथा मा० गोपीचन्दजीके मधुर गायन एवं मा० जैनकुमारके बेला, जलतरंग आदि होकर ग्यारह बजे सभा सानन्द समाप्त हो गई।

दूसरे दिन ता० ५ जुलाईको दिनमें जैन कन्या पाठशालाके नूतनभवनमें श्री जयवन्तीदेवीकी अध्यक्षतामें महिलाओंकी भी सभा हुई, जिसमें सभानेत्रीजीके अतिरिक्त श्री क्षमाबाई प्र० अ०, श्री गिरजाबाई, सौ० चमेलीदेवी, श्री भगवतीदेवी और बालिकाओंके स्त्री-शिक्षा आदि विषयोंपर व्याख्यान हुए। रात्रिमें वैद्यरत्न कन्हैयालालजीके सभापतित्वमें वहीं सार्वजनिक सभा की गई, जिसमें पण्डित चन्द्रमौलिजी, बा० ज्योतिप्रसाद, सभापतिजी और मेरे भाषण हुए तथा अनाथाश्रमके छात्रों एवं मास्टर गोपीचन्दके गायन और मा० जैनकुमारके बेला, जलतरंग आदि हुए। धन्यवाद आदि वितरण करनेके उपरान्त सरसावा समाजकी ओरसे जैन अनाथालयके लिये करीब १०१) रुपये भेंट किये गये।

इस तरह वीरशासनजयन्तीका यह दोनों दिनका उत्सव बड़े आनन्द और सज्जन-समागमके साथ निर्विघ्नतया पूर्ण हुआ। —दरबारीलाल जैन, कोठिया।

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत किरण (८-९) में प्रकाशित सहायताके बाद 'वीरसेवामन्दिर' सरसावाको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

५०) बाबू लालचन्दजी जैन एडवोकेट रोहतक (वीरशासन-दिवसकी स्मृतिके उपलक्षमें)।

१०) लाला सूरतरामजी जैन पानीपत जिला करनाल (चि० पुत्र कुलभूषणके विवाहोपलक्षमें) मार्फत पण्डित रूपचन्दजी जैन गार्गीय, पानीपत।

६०)

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

ज़रूरी सूचना

इस किरणमें प्रकाशित 'जैन-गुण-दर्पण'की कुछ कापियां अच्छे बढ़िया कागजपर अलग भी छपाई गई हैं। जिन सज्जनोंको कांचमें जड़ाकर मन्दिर आदिमें लगाना हो वे आवश्यकतानुसार कापियां वीरसेवामन्दिरसे मंगा सकते हैं।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Regd. No. A-736.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ अनित्यभावना — मुख्तार श्री जुगलकिशोरके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ़ लेने से बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठ से उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मू० ।)

२ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र — नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या सहित। मू० ।)

३ सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ — मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्धन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड — यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्ल-की अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया और पंडित परमानन्द शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रंथ है। मू० १॥)

५ उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा — मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मू० ।)

६ न्याय-दीपिका (महत्वकी नयी प्रकाशन) — न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्याय-दीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिए हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिंदी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे सङ्कलित है, साथमें सम्पादक द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक संस्कृतटिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

७ विवाह-समुद्देश — लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिंदी साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है, अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? उसकी असली गरज और सैद्धान्तिक स्थिति क्या है? धर्मसे, समाजसे, और गृहस्था-श्रमसे उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिए? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम हो सकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। मू० ॥)

प्रकाशनविभाग —
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये, आशाराम खत्री द्वारा श्यामल प्रेस, सहारनपुर में मुद्रित
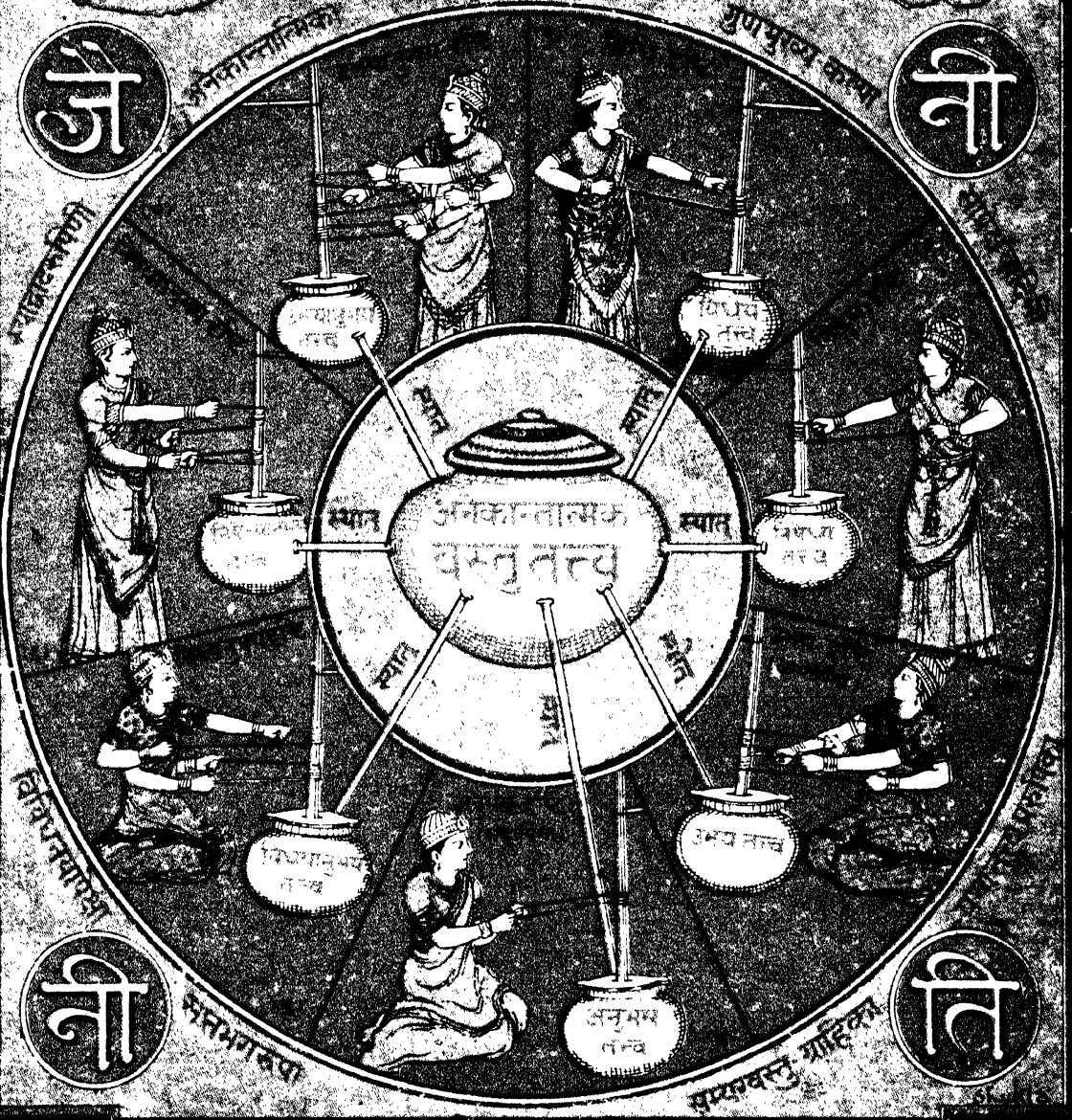
वर्ष ८
किरण १२

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

१९४७

सम्पादक - जुगलकिशोर मुख्तार

विषय—सूची

१—समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक] ४३३
२—रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र—[सम्पादक] ४३७
३—परख (कहानी)—[स्व० श्री 'भगवत्' जैन] ४३९
४—संस्कृत 'कर्मप्रकृति'—[सम्पादक] ४४१
५—मेरी रणथंभौर-यात्रा—[श्रीभँवरलाल नाहटा] ४४४
६—रद्दीमें प्राप्त हस्तलिखित जैन-अजैन ग्रन्थ—[सम्पादक] ४४९
७—दिगम्बर जैन आगम—[आ० बलदेव उपाध्याय एम० ए०] ४५३
८—त्रिभुवनगिरि व उसके विनाशके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश—[श्रीअगरचन्द नाहटा] ४५६
९—तेरह काठिया-सम्बन्धी श्वे० साहित्य—[श्रीअगरचन्द नाहटा] ४५७
१०—साहित्य-परिचय और समालोचन ४५८
११—श्रीधर और विबुध श्रीधर नामके विद्वान्—(पं० परमानन्द जैन, शास्त्री) ४६२
१२—रत्नकरण्डक-टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय—(न्या० पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया) ४६६
१३—सम्पादकीय वक्तव्य (अनेकान्तकी वर्ष समाप्ति, आदि) ४७०
१४—अनेकान्तके आठवें वर्षकी विषय-सूची ४७३

विलम्बादिकी सूचना

इस वर्षमें एक बार पहले—किरण नम्बर ६-७ के अवसरपर—विलम्बकी शीघ्रपूर्ति होती हुई न देखकर महीनोंके पूर्वक्रमको छोड़कर नया क्रम अपनाया गया था इस बार भी उसी दृष्टिसे वैसा किया गया है अर्थात् पिछली संयुक्त किरण नम्बर १०-११, जिसपर मार्च-अप्रैल के महीने पड़े थे, जब २२ सितम्बरको प्रकाशित हुई और वह पाठकोंमें कुछ सन्देह उत्पन्न करने लगी तब इस किरणपर मईका महीना न डाल कर अक्तूबरका महीना डाला गया था और यह आशा की गई थी कि अक्तूबरमें यह किरण प्रकाशित होजायगी, क्योंकि मैटर २२ सितम्बरसे ही प्रेसको दे दिया था परन्तु खेद है कि एक फार्म (८ पेज) का कम्पोज होनेके बाद ही सहारनपुरमें साम्प्रदायिक दङ्गा फिसाद शुरू होगया, कर्फ्यू लग गया, यातायात रुक गया और सारा वातावरण एकदम क्षुब्ध तथा सशङ्क होगया। इससे अक्तूबरमें किरण प्रकाशित नहीं हो सकी और इसलिये यह किरण दिसम्बरके अन्तमें प्रकाशित होरही है, जिसका हमें खेद है। महीनोंका क्रम छोड़नेके दोनों अवसरोंपर किरणोंके क्रमको बराबर ज्योंका त्यों कायम रक्खा गया है। अतः पाठक एवं ग्राहक किरणोंके क्रमसे ही इस वर्षकी गणना करें—महीनोंके क्रम भङ्ग अथवा उनके छूट जानेसे बीचमें किसी किरणका छूट जाना न समझें। और उन महीनोंकी किरणें भेजनेको लिखनेका कोई कष्ट न उठावें, किरणें पूरी १२ होगई हैं, जिनमें कुछ अलग अलग और कुछ संयुक्त (दोदो मिली हुई) हैं। अगले वर्षकी योजनाके सम्बन्धमें सम्पादकीय वक्तव्यको इसी किरणमें पढ़ना चाहिये।

—व्यवस्थापक

* ॐ अर्हम् *
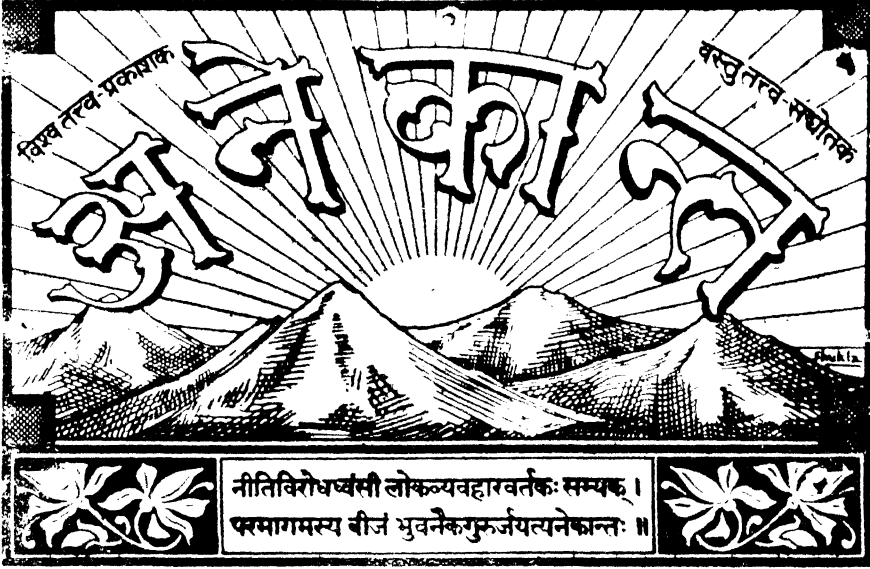
वर्ष ८	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा जिला सहारनपुर	अक्तूबर
किरण १२	आश्विन शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४७३, विक्रम सं० २००४	१९४७

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

रागाद्यविद्याऽनल-दीपनं च विमोक्ष-विद्याऽमृत-शासनं च ।
न भिद्यते संवृति-वादि-वाक्यं भवत्प्रतीपं परमार्थ-शून्यम् ॥२३॥

'(यदि संवृतिसे संवेदनाऽद्वैत-तत्त्वकी प्रतिपत्ति मानकर बौद्ध-दर्शनकी कष्टरूपताका निषेध किया जाय तो वह भी ठीक नहीं बैठता; क्योंकि) संवृत्ति-वादियोंका रागादि-अविद्याऽनल-दीपन-वाक्य और विमोक्ष-विद्याऽमृत-शासन-वाक्य परमार्थ-शून्य-विषयमें परस्पर भेदको लिये हुए नहीं बनता—अर्थात् जिस प्रकार संवृति-वादियोंके यहाँ "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि रागादि-अविद्याऽनलके दीपक वाक्य-समूहको परमार्थ-शून्य बतलाया जाता है उसी प्रकार उनका "सम्यग्ज्ञान-वैतृष्ण्य-भावनातो निःश्रेयसम्" इत्यादि विमोक्षविद्याऽमृतका शासनात्मक वाक्य-समूह भी परमार्थ-शून्य ठहरता है, दोनोंमें परमार्थ-शून्यता-विषयक कोई भेद नहीं है; क्योंकि (हे वीर जिन !) उनमेंसे प्रत्येक वाक्य भवत्प्रतीप है—आपके अनेकान्त-शासनके प्रतिकूल सर्वथा एकान्त-विषयरूपसे ही अंगीकृत है—और (इस लिये) परमार्थ-शून्य है। (फलतः) आपके अनेकान्त-शासनका कोई भी वाक्य सर्वथा परमार्थ-शून्य नहीं है—मोक्ष-विद्यामृतके शासनको लिये हुए वाक्य जिस प्रकार मोक्षकारणरूप परमार्थसे शून्य नहीं है उसी प्रकार रागाद्यविद्यानलका दीपक वाक्य भी बन्धकारणरूप परमार्थसे—वास्तविकतासे—शून्य नहीं है।

विद्या-प्रसूत्यै किल शील्यमाना भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञ-मोहो यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥२४॥

'(हे वीर जिन !) आपकी उक्तिसे—स्याद्वादात्मककथन-शैलीसे अनभिज्ञका—बौद्धोंके एक सम्प्रदायका—यह कैसा मोह है—विपरीताभिनिवेश है—जो यह प्रतिपादन करता है कि 'गुरुके द्वारा उपदिष्ट अविद्या भाव्यमान हुई निश्चयसे विद्याको जन्म देनेमें समर्थ होती है' ! (क्योंकि) इससे जो अविद्या अविद्यान्तरके जन्मका कारण सुप्रसिद्ध है वही उसके अजन्मका भी कारण होजाती है !!—और यह स्पष्ट विपरीताभिनिवेश है जो दर्शनमोहके उदयाऽभावमें नहीं बन सकता । जो मदिरापान मदजन्मके लिये प्रसिद्ध है वही मदकी अनुत्पत्तिका हेतु होनेके योग्य नहीं होता ।'

(यदि कोई कहे कि 'जिस प्रकार विषभक्षण विषविकारका कारण प्रसिद्ध होते हुए भी किंचित विषविकारके अजन्मका—उसे उत्पन्न न होने देनेका—हेतु देखा जाता है, उसी प्रकार कोई अविद्या भी भाव्यमान (विशिष्ट भावनाको प्राप्त) हुई स्वयं अविद्या-जन्मके अभावकी हेतु होगी, इसमें विरोधकी कोई बात नहीं' तो उसका यह कथन अपर्यालोचित है; क्योंकि भ्रम-दाह-मूर्छादि विकारको जन्म देने वाला जङ्गमविष अन्य है और उसे जन्म न देने वाला—प्रत्युत उस विकारको दूर कर देने वाला—स्थावरविष अन्य ही है, जो कि उस विषका प्रतिपक्षभूत है, और इस लिये अमृत-कोटिमें स्थित है, इसीसे विषका 'अमृत' नाम भी प्रसिद्ध है । विष सर्वथा विष नहीं होता, उसे सर्वथा विष माननेपर वह विषान्तरका प्रतिपक्ष-भूत नहीं बन सकता । अतः विषका यह उदाहरण विषम है । उसे यह कहकर साम्य उदाहरण नहीं बतलाया जासकता कि अविद्या भी जो संसारकी हेतु है वह अनादि-वासनासे उत्पन्न हुई अन्य ही है और अविद्याके अनुकूल है, किन्तु मोक्षकी हेतुभूत अविद्या दूसरी है, जो अनादि-अविद्याके जन्मकी निवृत्ति करने वाली तथा विद्याके अनुकूल है, और इसलिये संसारकी हेतु अविद्याके प्रतिपक्षभूत है । क्योंकि जो सर्वथा अविद्या-के प्रतिपक्षभूत है उससे अविद्याका जन्म नहीं हो सकता, उसके लिये तो विद्यात्वका प्रसङ्ग उपस्थित होता है । यदि अनादि-अविद्याके प्रतिपक्षत्वके कारण उस अविद्याको कथञ्चित विद्या कहा जायगा तो उससे संवृतिवादियोंके मतका विरोध होकर स्याद्वादि-मतके आश्रयका प्रसङ्ग आएगा । क्योंकि स्याद्वादियोंके यहाँ केवलज्ञानरूप परमाविद्याकी अपेक्षा मतिज्ञानादिरूप क्षायोपशमिकी अपकृष्ट विद्या भी अविद्या मानी गई है—न कि अनादि-मिथ्याज्ञान-दर्शनरूप अविद्याकी अपेक्षा; क्योंकि उसके प्रतिपक्षभूत होनेसे मति-ज्ञानादिके विद्यापना सिद्ध है । अतः सर्वथा अविद्यात्मक भावना गुरुके द्वारा उपदिष्ट होती हुई भी विद्याको जन्म देनेमें समर्थ नहीं है । ऐसी अविद्याके उपदेशक गुरुको भी अगुरुत्वका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि विद्या-का उपदेशी ही गुरु प्रसिद्ध है । और इसलिये पुरुषाद्वैतकी तरह संवेदनाद्वैत तत्त्व भी अनुपाय ही है—किसी भी उपाय अथवा प्रमाणसे वह जाना नहीं जा सकता ।)

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः सा संवृतिः सर्व-विशेष-शून्या ।
तस्या विशेषौ किल बन्ध-मोक्षौ हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥२५॥

'परमार्थवृत्तिसे तत्त्व अभावमात्र है—न तो बाह्याभ्यन्तररूप निरन्वय क्षणिक परमाणुमात्र तत्त्व है, सौत्रान्तिक मतका निराकरण हो जानेसे; और न अन्तःसंवित्परमाणुमात्र या संवेदनाद्वैतमात्र तत्त्व है, योगाचारमतका निरसन हो जानेसे; किन्तु माध्यमिक मतकी मान्यतानुरूप शून्यतत्त्व ही तत्त्व है—और वह परमार्थवृत्ति संवृतिरूप है—तात्त्विकी नहीं; क्योंकि शून्यसंवित्ति तात्त्विकी होनेपर सर्वथा शून्य तत्त्व नहीं रहता, उसका प्रतिषेध हो जाता है—और संवृति सर्वविशेषोंसे शून्य है—पदार्थसद्भाव-

वादियोंके द्वारा जो तात्त्विक विशेष माने गये हैं उन सबसे रहित है—तथा उस अविद्यात्मिका एवं सकल-तात्त्विक-विशेष-शून्या संवृतिके भी जो बन्ध और मोक्ष विशेष हैं वे हेत्वात्मक हैं—सांवृतरूप हेतु स्वभावके द्वारा विधीयमान हैं अर्थात आत्मीयाभिनिवेशके द्वारा बन्धका और नैरात्म्य-भावनाके अभ्यास-द्वारा मोक्षका विधान है, दोनोंमेंसे कोई भी तात्त्विक नहीं है। और इस लिये दोनों विशेष विरुद्ध नहीं पड़ते।' इस प्रकार (हे वीर जिन !) यह उनका वाक्य है—उन सर्वथा शून्यवादि-बौद्धोंका कथन है—जिनके आप (अनेकान्तवादी) नाथ नहीं हैं। (फलत:) जिनके आप नाथ हैं उन अनेकान्तवादियोंका वाक्य ऐसा नहीं है किन्तु इस प्रकार है कि—स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सत्‌रूप पदार्थ ही पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा-से अभाव (शून्य) रूप है। अभावमात्रके स्वरूपसे ही असत होनेपर उसमें परमार्थिकत्व नहीं बनता, तब परमार्थवृत्तिसे अभावमात्र कहना ही असङ्गत है।'

व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद्विश्वाऽभिलापाऽर्थ-विकल्प-शून्यम् ।
ख-पुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं प्रबुद्ध-तत्त्वाद्भवतः परेषाम् ॥२६॥

'हे प्रबुद्ध-तत्त्व वीर जिन ! आप अनेकान्तवादीसे भिन्न दूसरोंका—अन्य एकान्तवादियोंका—जो सर्वथा सामान्यभावसे रहित, सर्वथा विशेषभावसे रहित तथा (परस्पर सापेक्षरूप) सामान्य-विशेषभाव दोनोंसे रहित जो तत्त्व है वह (प्रकटरूपसे शून्य तत्त्व न होते हुए भी) संपूर्ण अभिलापों तथा अर्थ-विकल्पोंसे शून्य होनेके कारण आकाश-कुसुमके समान अवस्तु ही है।' भावार्थ—सामान्य और विशेषका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—सामान्यके बिना विशेषका और विशेषके बिना सामान्यका अस्तित्व बन नहीं सकता। और इस लिये जो भेदवादी बौद्ध सामान्यको न मानकर सर्वत: व्यावृत्तरूप विशेष पदार्थोंको ही मानते हैं उनके वे विशेष पदार्थ भी नहीं बन सकते—सामान्यसे विशेषके सर्वथा भिन्न न होनेके कारण सामान्यके अभावमें विशेष पदार्थोंके भी अभावका प्रसङ्ग आता है और तत्त्व सर्वथा निरुपाख्य ठहरता है। और जो अभेदवादी सांख्य सामान्यको ही एक प्रधान मानते हैं और कहते हैं कि महत्-अहङ्कारादि विशेष चूंकि सामान्यके बिना नहीं होते इस लिये वे अपना कोई अलग (पृथक्) व्यक्तित्व (अस्तित्व) नहीं रखते—अव्यक्त सामान्यके ही व्यक्तरूप हैं—उनके सकल विशेषोंका अभाव होनेपर विशेषोंके साथ अविनाभावी सामान्यके भी अभावका प्रसङ्ग आता है और व्यक्ताव्यक्तात्मक भोग्यके अभाव होनेपर भोक्ता आत्माका भी असम्भव ठहरता है। और इस तरह उन सांख्योंके, न चाहते हुए भी, सर्वशून्यत्वकी सिद्धि घटित होती है। व्यक्त और अव्यक्तमें कथञ्चित्भेद माननेपर स्याद्वाद-न्यायके अनुसरणका प्रसङ्ग आता है और तब वह वाक्य (वचन) उनका नहीं रहता जिनके आप वीरजिनेन्द्र नायक नहीं हैं। इसी तरह परस्पर निरपेक्षरूपसे सामान्य-विशेष भावको मानने वाले जो योग हैं—नैयायिक तथा वैशेषिक हैं—वे कथञ्चित् रूपसे (परस्पर सापेक्ष) सामान्य-विशेषको न माननेके कारण व्यतीत-सामान्य-विशेष-भाववादी प्रसिद्ध ही हैं और वीरशासनसे बाह्य हैं, उनका भी तत्त्व वास्तवमें विश्वाभिलाप और अर्थ-विकल्पसे शून्य होनेके कारण गगन-कुसुमकी तरह उसी प्रकार अवस्तु ठहरता है जिस प्रकार कि व्यतीत-सामान्य-भाववादियोंका, व्यतीत-विशेष-भाववादियोंका अथवा सर्वथा शून्यवादियोंका तत्त्व अवस्तु ठहरता है।'

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपायाद्गतिर्भवेत्तौ वचनीय-गम्यौ ।
सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि-दृष्टं वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥२७॥

'यदि कोई कहे कि शून्यस्वभावके अभावरूप सत्स्वभाव तत्त्वके माननेपर भी इन (बन्ध और मोक्ष) दोनोंकी उपायसे गति होती है—उपाय-द्वारा बन्ध और मोक्ष दोनों जाने जाते हैं—, दोनों वचनीय हैं

और गम्य हैं—जब परार्थरूप वचन बन्ध-मोक्षकी गति (जानकारी) का उपाय होता है तब ये दोनों 'वचनीय' होते हैं और जब स्वार्थरूप प्रत्यक्ष या अनुमान बन्ध-मोक्षकी गतिका उपाय होता है तब ये दोनों 'गम्य' होते हैं। साथ ही, दोनों सम्बन्धी हैं—परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं, बन्धके बिना मोक्षकी और मोक्षके बिना बन्धकी संभावना नहीं; क्योंकि मोक्ष बन्ध-पूर्वक होता है। और मोक्षके अभाव-में बन्धको माननेपर जो पहलेसे अबद्ध है उसके पीछेसे बन्ध मानना पड़ेगा अथवा शाश्वतिक बन्धका प्रसङ्ग आएगा। अनादि बन्ध-सन्तानकी अपेक्षासे बन्धके बन्ध-पूर्वक होते हुए भी बन्धविशेषकी अपेक्षासे बन्धके अबन्ध-पूर्वकत्वकी सिद्धि होती है, प्राक् अबद्धके ही एकदेश मोक्षरूपता होनेसे बन्ध मोक्षके साथ अविनाभावी है और इस तरह दोनों अविनाभाव-सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं—तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस प्रकार सत्स्वभावरूप तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता, विरोध नजर आता है—सर्वथा क्षणिक (अनित्य) और सर्वथा अक्षणिक (नित्य) आदिरूप मान्यताएँ विरोधको लिये हुए हैं। स्याद्वाद-शासनसे भिन्न परमतमें सत्तत्त्व बनता ही नहीं—सर्वथा क्षणिक और सर्वथा अक्षणिककी मान्यतामें दूसरी जातिके (परस्पर निरपेक्ष) अनेकान्तका दर्शन होता है, जो सदोष है अथवा वस्तुतः अनेकान्त नहीं है। सत्तत्त्व सर्वथा एकान्तात्मक है ही नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि नहीं होती।

(इस पर यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भले ही सत्तत्त्वकी उपलब्धि (दर्शन-प्राप्ति) न होती हो, परन्तु परपक्षके दूषणसे तो उसकी सिद्धि होती ही है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) जो यथार्थ वाक्य होता है वह दूषणरूप नहीं होता—जिसको क्षणिक-एकान्तवादी परपक्षमें स्वयं दूषण बतलाता है उसमें यथार्थ-वाच्यता होनेसे अथवा परपक्षकी तरह स्वपक्षमें भी उसका सद्भाव होनेसे उसे दूषणरूप नहीं कह सकते, वह दूषणाभास है। और जो दूषण परपक्षकी तरह स्वपक्षका भी निराकरण करता हो वह यथार्थ वाच्य नहीं हो सकता। वास्तवमें दोनों सर्वथा एकान्तोंसे, विरोधके कारण, अनेकान्त-की निवृत्ति होती है, अनेकान्तकी निवृत्तिसे क्रम और अक्रम निवृत्त होजाते हैं, क्रम-अक्रमकी निवृत्तिसे अर्थ-क्रियाकी निवृत्ति हो जाती है—क्रम-अक्रमके बिना कहीं भी अर्थ-क्रियाकी उपलब्धि नहीं होती—और अर्थ-क्रियाकी निवृत्ति होनेपर वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती; क्योंकि वस्तुतत्त्व अर्थ-क्रियाके साथ व्याप्त है। और इस लिये सर्वथा एकान्तोंमें सत्तत्त्वकी प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती।'

उपेय-तत्त्वाऽनभिलाप्यता-वदुपाय-तत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात्।
अशेष-तत्त्वाऽनभिलाप्यतायां द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

'(हे वीर जिन!) आपकी युक्तिकी—स्याद्वादनीतिकी—अभिलाप्यताके जो द्वेषी हैं—संपूर्ण वस्तुतत्त्व स्वरूपादि-चतुष्टयकी (स्वद्रव्यक्षेत्र-कालभावकी) अपेक्षा कथञ्चित सत्‌रूप ही है, पररूपादि-चतुष्टयकी (परद्रव्यक्षेत्र-कालभावकी) अपेक्षा कथञ्चित असत्‌रूप ही है इत्यादि कथनीके साथ द्वेषभाव रखते हैं—उन द्वेषियोंकी इस मान्यतापर कि 'संपूर्ण तत्त्व अनभिलाप्य (अवाच्य) है' उपेयतत्त्वकी अवाच्यताके समान उपायतत्त्व भी सर्वथा अवाच्य (अवक्तव्य) होजाता है—जिस प्रकार निःश्रेयस (निर्वाण-मोक्ष) तत्त्वका कथन सर्वथा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उसकी प्राप्तिके उपायभूत निर्वाणमार्गका कथन भी सर्वथा नहीं किया जा सकता; क्योंकि दोनोंमें परस्पर तत्त्व-विषयक कोई विशेषता नहीं है।

रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

[कोई १५ वर्ष हुए, कैराना जि० मुजफ्फरनगरके बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए, मुझे एक पट्पत्रात्मक ग्रन्थसंग्रहपरसे इस स्तोत्रकी प्राप्ति हुई थी और २० जनवरी सन् १९३३को मैंने इसकी प्रतिलिपि की थी। यह स्तोत्र श्रीपद्मनन्दी मुनिका रचा हुआ है और रावण-पत्तनके अधिपति अर्थात् वहाँ स्थित देवालयके मूलनायक श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्रसे सम्बन्धित है; जैसाकि अन्तिम पद्यसे प्रकट है। मालूम नहीं यह 'रावणपत्तन' कहाँ स्थित है और उसमें पार्श्वनाथका यह देवालय (जैनमन्दिर) अब भी मौजूद है या कि नहीं, इसकी खोज होनी चाहिये। यह भी मालूम नहीं कि ये पद्मनन्दी कौनसे पद्मनन्दी मुनि हैं; क्योंकि 'पद्मनन्दी' नामके अनेक मुनि, आचार्य और भट्टारक होगये हैं। हाँ, पद्मनन्दी मुनिका बनाया हुआ एक 'जीरापल्ली-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' भी उपलब्ध है, जिसकी गत फर्वरी (१९४७) मासमें मुझे कानपुर पञ्चायती बड़े मन्दिरके एक गुटकेपरसे प्राप्ति हुई है और उसके अन्तिम (१०वें) पद्यमें पद्मनन्दीने अपने गुरुका नाम 'प्रभेन्दु (प्रभाचन्द्र)' प्रकट किया है। बहुत संभव है कि ये दोनों स्तोत्र एक ही पद्मनन्दीकी रचना हों; क्योंकि दोनोंमें शब्दों और भावोंका कितना ही साम्य पाया जाता है। यदि ऐसा है तो यह स्तोत्र विक्रमकी १५वीं शताब्दीका—आजसे कोई ५५० वर्ष पहलेका बना हुआ होना चाहिए; क्योंकि प्रभाचन्द्रके पट्ट-शिष्य पद्मनन्दी प्रतिमा लेखादिपरसे इसी समयके जान पड़ते हैं। इन्होंने आदिनाथकी समवसरण सहित धातुप्रतिमाकी प्रतिष्ठा संवत् १४५०में कराई थी, जो इस समय मैनपुरीके मन्दिर कटरामें मौजूद है (जैन सि० भा० भाग २, कि० १)। यह स्तोत्र बड़ा सुन्दर तथा भावपूर्ण है और अच्छे प्रौढ़ साहित्यको लिये हुए है। दूसरे किसी भी शास्त्रभण्डारमें मुझे अभी तक यह स्तोत्र देखनेको नहीं मिला। एक नई ही चीज जान पड़ती है। इसीसे आज इसे प्रकाशित किया जाता है। —सम्पादक]

(वसन्ततिलका)

यच्छुद्ध-बोध-जलधिं समुपास्य भास्वद्रत्न-त्रयं शिव-सुखाय समाससाद ।
लोके विलोकित-समस्त-पदार्थ-सार्थं श्रीपार्श्वनाथमनघं तमहं नमामि ॥१॥
उत्पत्तिभूर्न जलधिः शशि-कौस्तुभाद्या नो बान्धवा मुर-रिपोर्वसतिर्न वक्षः ।
यस्याः करे न कमलं कमला मुदं सा पार्श्वप्रभोर्विशद-बोध-मयी विदध्यात् ॥२॥
येनात्मनात्मनि निवेश्य मुनिःप्रकम्पमालोकितं दृगवबोध-मयं स्वरूपम् ।
व्यामोह-विभ्रम-भिदेलिम-शक्ति-धामा पार्श्वप्रभुः [प्र]भवताद्भव-ताप-शान्त्यै ॥३॥
अस्त्रं विनाऽपि मदनाऽरिमपाचकार यः शील-शैल-शिखरासन-संस्थितान्तः ।
अव्यात्स दिव्य-जनता-जनितोरु-धर्मः सच्छर्म-हर्म्यमपहस्तित-कर्म-घर्मः ॥४॥
यस्याऽत्र विंशतिशतो रसनाः प्रसिद्धास्तस्याऽपि शक्तिरसतो भुजगेश्वरस्य ।
यत्संस्तवे विबुध-संस्तुत-पाद-पद्मं तं संस्तुवन्कथमहं न हि हास्य-धामा ॥५॥
वैयात्यमेत्य जिननाथ तथाऽपि किंचिच्छक्ति-च्युतोऽपि नव भक्ति-भरैः करिष्ये ।
किं वा न शैल-शिखरोच्च-गृहाऽग्र-भागं निःश्रेणिकाभिरधिरोहति वामनोऽपि ॥६॥
यस्ते गुणौघ-गणनां गुण-रत्न-राशेः सम्यक्चिकीर्षति हृषीक-विका(घा)तकस्य ।
पाथोनिधेः स पयसां कलशैः प्रमाणमभ्यस्यतु प्रतिदिनं प्रयतान्तरङ्गः ॥७॥
शान्तं पुराण-पुरुषं परमार्थ-सारमानन्द-मेदुरमनन्त-सुखं विरागम् ।
चिद्रूपमुज्झित-समस्त-जगत्प्रपञ्चं त्वां नौमि नित्यमजरं प्रसरत्प्रतापम् ॥८॥

संसार-पारग महेश्वर विश्वरूप विश्वप्रकाश पुरुषोत्तम सिद्ध बुद्ध ।
ब्रह्मन्ननन्त महिमन् भगवन् जिनार्क मां रक्ष रक्ष शरणागतमागम(माऽ)च ॥९॥
निःकाम निःक्रिय निरामय निःकलङ्क निर्द्वन्द्व निर्मल निरंजन निर्विकार ।
निर्मोह निःकल निरावरण-स्वभाव निर्वाण-कारण दयां कुरु देव-देव ॥१०॥
वन्दारु-सुन्दर-सुरेन्द्र-शिरः-किरीट-माणिक्य-रश्मि-चय-विच्छुरितांह्रि-युग्मे ।
चित्तं प्रसीदति न यस्य भवत्यधीशे नूत्वेऽपि किं स जड-धीर्द्विपदः पशुर्न ॥११॥
सत्वोपकारिणि जगत्त्रितयैक-नाथे सज्ज्ञान-शालिनि निवेदित-तत्त्व-सार्थे ।
ये देवदेव विमुखास्त्वयि धर्मतीर्थे स्वर्ग-श्रियं जल(ड)धियो विमुखा न किं ते ॥१२॥
लोको यथाऽवहित-मानस-वृत्तिरेष चित्ते विचिन्तयति राज्य-कलत्र-पुत्रम् ।
त्वत्पाद-पद्म-युगलं विमलं तथा चेत्किं स्यान्न मुक्ति-रमणी-रमणोऽतिवेगात् ॥१३॥
रूपं जगन्नयन-नन्दनमंतरङ्गं नीरागमाऽऽस्यमभितः प्रमदोत्तरङ्गम् ।
लोकोपकारि वचनं चरणं च शुद्धं किं तेन नद्यदिह विस्मय-कृन्न देव ॥१४॥
याऽगोचरा शशधरस्य च सप्रसर्पन्निर्लेप-दृष्टिरसमा प्रशमैक-धाम ।
ध्वान्ताऽऽवलिर्जन-मनः शयने शयाना सा शुद्ध-बोध-महसा भवता निरस्ता ॥१५॥
मित्रोदये समुपयासि न कालिमानं सच्चक्रमत्र नयसे न वियोगि-भावं ।
दोषाकरत्वमुररीकुरुषे न यच्च तत्कोऽप्यमि त्रिभुवने त्वमपूर्व-चन्द्रः ॥१६॥
निःश्री-कृतं कुवलयं नयसे न देव शोभा-च्युतं च न कला-निधिमातनोषि ।
तापं करोति जगतो न कदाचिदत्र तत्कोऽप्यसि क्षिति-तले त्वमशीतरश्मिः ॥१७॥
स्थैर्येण देवगिरिणा सदृशस्त्वमीश सूर्येण भूरिमहसा शशिना च कान्त्या ।
देवोपमानमिति यत्तदयुक्तमुक्तं तुल्यः किमम्बु-निधिना जल-बिन्दुरेकः ॥१८॥
संसार-सागरमपारमशेष-जन्तून्याऽऽशा-नदी नयति निर्भर-राग-नक्रा ।
तस्या यियासुरचिराज्जिननाथ पारमालम्बतां तव नवोक्ति-तरीं मनुष्यः ॥१९॥
वन्द्यास्त एव गुणिनो भुवने त एव नामाऽपि ये त्रिभुवनेश्वर ते स्मरन्ति ।
ध्यायन्ति ये पुनरशेष-हृषीक-सौख्यं मुक्त्वा भवन्तमजरं किमु वच्मि तेषाम् ॥२०॥
नृत्यद्भिराशुग-वशात्सरलैश्च शाखा-हस्तैर्मृदङ्ग-निनदैः श्रुति-सौख्य-कृद्भिः ।
भव्यानयं चलदलोभवतः पु(सु)रस्थः पूजांकृते जिन समाह्वयतीव लोकान् ॥२१॥
वल्गज्जलाऽनल-कराल-मृगारि-चौर-मातङ्ग-मारि-भुजगाऽऽमय-बन्धनोत्थम् ।
सर्वं भयं यदि विनाशमुपैति देव युष्मत्पद-स्मरणतोऽत्र किमद्भुतं तत् ॥२२॥
स्वस्त्यस्तु देव भवते भव-नाशनाय स्वस्त्यस्तु देव भवते वर-शासनाय ।
स्वस्त्यस्तु देव भवते विजित-स्मराय स्वस्त्यस्तु देव भवते परमेश्वराय ॥२३॥
तुभ्यं नमः शम-सुखाऽमृत-सागराय तुभ्यं नमो भुवन-नीरज-भास्कराय ।
तुभ्यं नमो निहित-मोह-महा-ग्रहाय तुभ्यं नमो विमल-केवल-विग्रहाय ॥२४॥

(शार्दूलविक्रीडित)

वन्दारु-त्रिदशेन्द्र-सुन्दर-शिरः-कोटीर-हीर-प्रभा—
भास्वत्पाद-पयोजमुज्ज्वल-लसत्कैवल्य-लक्ष्मी-गृहम् ।
श्रीमद्रावण-पत्तनाधिपममुं श्रीपार्श्वनाथं जिनम्
भक्त्या संस्तु[त]वाननिन्द्य-चरितः श्रीपद्मनन्दी मुनिः ॥२५॥

इति श्रीमद्रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्रं भूयः श्रेयसे भूयात् ॥

संस्कृत 'कर्मप्रकृति'

[सम्पादकीय]

अनेकान्तके पाठक और प्रायः दूसरे विद्वान भी अभी तक अधिकांशमें उस प्राकृत कर्मप्रकृति ग्रन्थसे ही परिचित रहे हैं जो नेमिचन्द्रकी कृतिरूपसे प्रसिद्ध है, १६० गाथात्मक संग्रहग्रन्थ है और जिसकी चर्चा अनेकान्तके तीसरे वर्षकी किरणों (८ से १२) में, गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति-विषयको लेकर, महीनों तक होती रही है तथा जिसका विशेष ऊहापोहके साथ आलोचनात्मक परिचय मेरे 'गोम्मटसार और नेमिचन्द्र' नामक निबन्धमें—'प्रकृतिसमुत्कीर्तन और कर्मप्रकृति' उपशीर्षकके नीचे दिया गया है, जो अनेकान्त (वर्ष ८) की गत किरण ८-९ में प्रकाशित हुआ है। आजमैं अपने पाठकोंको एक दूसरे कर्मप्रकृति ग्रन्थका परिचय कराता हूँ, जो संस्कृत भाषामें निबद्ध है और जिसकी उपलब्धि मुझे गत फर्वरी मास (सन् १९४७) में, रा० ब० ला० रूपचन्दजीकी कृपासे कानपुरके बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए, हुई है। इसके कर्ता अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं, जैसा कि ग्रन्थकी इस अन्तिम पंक्तिमें प्रकट है:—

''कृतिरियमभयचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्तिनः ।''

सिद्धान्तचक्रवर्तीके सिवाय इन अभयचन्द्रका दूसरा कोई परिचय ग्रन्थपरसे उपलब्ध नहीं होता। संभवतः ये 'अभयचन्द्र' वे ही जान पड़ते हैं जो गोम्मटसारके जीवकाण्डकी 'मन्दप्रबोधिका' टीकाके कर्ता हैं। यदि यह ठीक है तो इस ग्रन्थका रचनाकाल ईसाकी १३वीं शताब्दी* होना चाहिये।

* देखो, अनेकांत वर्ष ८ कि० ८-९ पृ० ३२२ पर 'मन्दप्रबोधिका' के समय सम्बंधी विचार, 'गोम्मटसार और नेमिचंद्र' शीर्षक लेखके अन्तर्गत।

इस ग्रन्थकी आदिमें और अन्तमें मङ्गलात्मक दो पद्य हैं और वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

प्रक्षीणाऽऽवरण-द्वैत-मोह-प्रत्यूह-कर्मणे ।
अनन्तानन्त-धी-दृष्टि-सुख-वीर्यात्मने नमः ॥१॥
जयन्ति विधुताऽशेष-पापाञ्जनसमुच्चयाः ।
अनन्तानन्त-धी-दृष्टि-सुख-वीर्या जिनेश्वराः ॥१॥

इन दोनों पद्योंको छोड़कर शेष सारा ग्रन्थ गद्यात्मक है और श्लोक-परिमाणसे ग्रन्थकी संख्या ३०० श्लोकोंसे कम नहीं है; क्योंकि सप्तपत्रात्मकप्रति जो अपने सामने है उसमें पहला पृष्ठ तो खाली है, शेष १३ पृष्ठोंमेंसे ५ पर प्रति पृष्ठ १५, ७ पर प्रति पृष्ठ १६, ५वें पत्रके दूसरे पृष्ठपर १३ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षरोंका औसत (पड़ता) प्रायः ४८ अक्षरोंका अर्थात् डेढ श्लोक जितना है। ग्रन्थकी यह प्रति अच्छी सुन्दर प्रायः शुद्ध तथा पुरानी लिखी हुई है—एकार ओकारकी मात्राएँ इसमें नये और पुराने दोनों ढङ्गसे दी हैं—और कागज भी पुराना देशी लगा है। यद्यपि इसपर लिपि-संवत् दिया हुआ नहीं है फिर भी अपनी वर्तमान जीर्ण-शीर्ण स्थिति और लिखावटपरसे यह दोसौ वर्षसे कमकी लिखी हुई मालूम नहीं होती। इसे 'क्षेमराज' नामके किसी ब्रह्मचारीने लिखा है; जैसाकि ग्रन्थप्रतिके अन्तिम वाक्य ''ब्रह्मश्रीक्षेमराजेन लिखिता'' से प्रकट है, जोकि उक्त ग्रन्थकर्तृत्व-सूचक वाक्यके अनन्तर स्थित है।

मङ्गलाचरणके बाद ग्रन्थका प्रारम्भ निम्न वाक्यसे होता है—

''आत्मनः प्रदेशेषु बद्धं कर्म द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म चेति त्रिविधम्।''

इसमें बतलाया है कि 'आत्मप्रदेशोंमें बँधा हुआ जो कर्म है वह द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ऐसे तीन प्रकारका है।' इसके पश्चात् द्रव्यकर्मका वर्णन करते हुए उसे प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश-भेदसे चार प्रकारका बतलाया है और फिर प्रकृतिका स्वरूप ज्ञानप्रच्छादनादिस्वभाव बतलाकर उसके तीन भेद किये हैं—मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति और उत्तरोत्तरप्रकृति। यथा:—

"तत्र प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-भेदेन द्रव्यकर्म चतुर्विधम्। तत्र ज्ञानप्रच्छादनादिस्वभाव(वा) प्रकृतिः। सा मूलप्रकृतिरुत्तरप्रकृतिरुत्तरोत्तरप्रकृतिरिति त्रिधा।"

इसके अनन्तर मूलप्रकृतिको ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप आठ प्रकारकी बतलाकर प्रत्येकका अलग-अलग स्वरूप निर्दिष्ट किया है और तदनन्तर 'उत्तरप्रकृतयोऽष्टचत्वारिंशदुत्तरशतम्' इस वाक्यके द्वारा उत्तरप्रकृतियोंकी संख्या १४८ का निर्देश करके "तद्यथा" वाक्यके साथ प्रत्येक मूलप्रकृतिकी उत्तरप्रकृतियोंका उनकी संख्या-सूचनाके साथ नाम-निर्देश किया है और साथ ही एक-एक वाक्य-द्वारा उनका स्वरूप भी दे दिया है। यहाँ नमूनेके तौरपर ज्ञानावरणीयकर्मकी पाँच उत्तरप्रकृतियोंके स्वरूप-निर्देशक वाक्योंको नीचे दिया जाता है:—

"तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च ज्ञानं मतिज्ञानम्, तदावृणोतीति मतिज्ञानावरणीयम्।

मतिज्ञान-गृहीताऽर्थादन्यस्याऽर्थस्य ज्ञानं श्रुतज्ञानम्, तदावृणोतीति श्रुतज्ञानावरणीयम्।

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-युक्त-सामान्य-पुद्गलद्रव्यं तत्सम्बन्धि-संसारिजीवद्रव्याणि च द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावानधिकृत्य यत्प्रत्यक्षं जानातीत्यवधिज्ञानम्, तदावृणोतीत्यवधिज्ञानावरणीयम्।

परेषां मनसि वर्तमानमर्थं यज्जानाति तन्मनःपर्ययज्ञानम्, तदावृणोतीति मनःपर्ययज्ञानावरणीयम्।

इन्द्रियाणि प्रकाशं मनश्चाऽनपेक्ष्य त्रिकाल-गोचर-लोकाऽलोक-सकलपदार्थानां युगपदवभासकं केवलज्ञानम्, तदावृणोतीति केवलज्ञानावरणीयम्।"

उत्तरप्रकृतियोंके यथाक्रम १४८ नामों और उनके स्वरूपका निर्देश करनेके बाद, 'एवं उत्तरप्रकृतिबन्धः कथितः' इस वाक्यके साथ उत्तरप्रकृतिबन्धके कथनको समाप्त करके, उत्तरोत्तरप्रकृतिबन्धके सम्बन्धमें लिखा है:—

"उत्तरोत्तर-प्रकृति-बन्धो वाग्गोचरो न भवति।"

अर्थात्—उत्तरोत्तरप्रकृतियोंका बन्ध वचन-गोचर नहीं है।

परन्तु उत्तरोत्तरप्रकृतियोंका कथन सर्वथा वचनके अगोचर तो नहीं होसकता; क्योंकि आगममें मति-ज्ञानके ३३६ भेदोंका वर्णन है, उनकी दृष्टिसे ज्ञाना-वरणकी ३३६ उत्तरोत्तरप्रकृतियाँ तो कही ही जासकती हैं। इसी तरह श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः-पर्ययज्ञानके भी कितने ही भेदोंका अलग अलग वर्णन है, उनकी दृष्टिसे भी ज्ञानावरणकी कितनी ही उत्तरोत्तरप्रकृतियोंका निर्देश किया जासकता है। तब उत्तरोत्तरप्रकृतियोंको वचनके अगोचर कहनेका आशय यहाँ इतना ही लेना चाहिये कि संपूर्ण उत्तरोत्तरप्रकृतियोंकी संख्याका निर्देश तथा उनके नामादिकका पूर्ण कथन नहीं किया जासकता—उनके सर्वथा अनिर्वचनीय होनेका आशय नहीं लेना चाहिये।

द्रव्यकर्मके प्रकृति-भेदका वर्णन करनेके अनन्तर उसके शेष स्थिति अनुभाग और प्रदेशबन्ध नामक भेदोंके स्वरूपादिका क्रमशः वर्णन किया गया है, जिसका एक नमूना स्थितिबन्धके स्वरूप-निर्देश-विषयका इस प्रकार है:—

"ज्ञानावरणीयादि-प्रकृतीनां ज्ञानप्रच्छादनादि-स्वस्वभावाऽपरित्यागेनाऽवस्थानं स्थितिः तत्कालश्चोपचारात्।"

रद्दीमें प्राप्त हस्तलिखित जैन-अजैन ग्रन्थ

[अर्सा हुआ यहाँ सरसावामें श्रीपूज्यों (श्वेताम्बर-यतियों) की, जोकि प्राय: सस्त्रीक रहते थे और वैद्यक-ज्योतिष तथा मन्त्र-तन्त्रादि अनुष्ठानों द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे, एक गद्दी थी। इस गद्दीके अन्तिम अधिकारी शङ्करलाल रिखके मरनेपर उसके चेले आदि उत्तराधिकारियोंमें परस्पर झगड़ा हुआ, मुक़दमेबाज़ी चली और जंगम सम्पत्तिमेंसे जो माल जिसके हाथ लगा उसने उसको इधर-उधर खुर्द-बुर्द किया। चुनाँचे एक उत्तराधिकारीके द्वारा कुछ हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थ बोरोंमें जैसे तैसे भरकर एक अजैन बोहरे बन्शीलालके यहाँ रक्खे गये। वर्षों तक ये ग्रन्थ बोरोंमें ही बन्द पड़े रहे और अनेक प्रकारके सर्दी-गर्मी तथा चूहों आदिके आघात सहते रहे। कई बार मैंने इन ग्रन्थोंको देखना और यह मालूम करना चाहा कि यदि इनमें कुछ ग्रन्थ अपने उपयोगके हों तो उन्हें खरीद लिया जाय; परन्तु वे देखने तकको नहीं मिल सके। कुछ अन्य भयके साथ यह भय भी दिखाने वालोंको रहा है कि इन ग्रन्थोंमें पूज्योंकी मंत्र-तंत्रादि-विषयक न मालूम कौनसी निधि छुपी पड़ी है, वह कहीं दूसरोंके हाथ न लग जाय। आखिर ये ग्रन्थोंके बोरे किसी तरह उक्त बोहरे कुटुम्बके ही हो रहे, जो संस्कृत प्राकृत तो क्या, हिन्दीका भी भले प्रकार जानकार नहीं था। उसके व्यक्तियोंकी ओरसे वैद्यकादि-विषयकके मुद्रित ग्रन्थ तो कुछ बेच गये और कुछ वैसे भी किसी किसीको दिये गये सुने गये; परन्तु हस्तलिखित ग्रन्थोंको प्राय: गुप्त ही रक्खा गया और उनके साथ उस कृपण-जैसा व्यवहार किया गया जो सम्पत्तिका न तो स्वयं उपभोग करता है और न दूसरोंको करने ही देता है। उनकी कोई सुव्यवस्था भी उनसे नहीं बन सकी और वे जैसे तैसे गड्डोंमें बँधे हुए पड़े रहे तथा जीर्ण-शीर्ण होते रहे।

दैवयोगसे उक्त बोहरे कुटुम्बको दरिद्रताने आघेरा और फिर कुछ अर्सेके बाद कुटुम्बके प्राय: सभी युवक जन—हट्टे-कट्टे नौ-जवान भाई—थोड़े ही समयमें आगे-पीछे चल बसे—कालकवलित होगये!! ऐसी स्थितिमें ग्रन्थोंके अवशिष्ट बोरे अन्तको रद्दीमें बिके, जिन्हें एक जैन परिवारने ख़रीदा। यह परिवार भी संस्कृत-प्राकृत भाषामें अनभिज्ञ और हिन्दीके भी यथेष्ट ज्ञानसे अपरिचित था, इसीसे इस परिवारके नवयुवक हकीम नानकचन्दने रद्दीमेंसे निकले हुए कुछ ग्रन्थोंको कई वर्ष हुए वीरसेवामन्दिरके एक विद्वान् पं० ताराचन्दजी जैन न्यायतीर्थको यह जाननेके लिये दिखलाया था कि उनका नामादिक क्या है। उस समय उनको यह प्रेरणा की गई थी कि जो वैद्यकादिके ग्रन्थ आपके मतलबके हों उन्हें तो आप रखलें, शेष ग्रन्थोंको श्रीजिनमन्दिरजीमें विराजमान कर देवें अथवा वीरसेवामन्दिरको अर्पित कर देवें; परन्तु उसपर उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया! दुर्दैवसे उक्त हकीम साहबका कुछ अर्सेके बाद अचानक देहावसान होगया!! बादको उनके नाना-चाचा गुलशनरायजीने, जो अत्तार-पंसारीकी दुकान करते हैं, कुछ ग्रन्थोंको तो फाड़फाड़कर अपनी दुकानपर पुड़िया बाँधनेके काममें ले लिया और कुछको रद्दीकी महँगाईके जमानेमें हलवाइयों तथा पनवाड़ियों आदिको बेच दिया, जिसका अपनेको उस वक्त कोई पता नहीं चला। और इस तरह अनभिज्ञों अपात्रोंके हाथमें पड़कर कितने ही ग्रन्थोंकी कैसी दुर्दशा हुई! इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

जब हकीम नानकचंदके देहावसानको कुछ महीने बीत गये तब इधरसे गत वर्ष ला० गुलशनरायजीको उन ग्रंथोंको दिखलाने आदिकी प्रेरणा की गई जो हकीमजीको रद्दीमें प्राप्त हुए थे। इसपर उन्होंने ग्रंथोंकी अवशिष्ट सारी रद्दीको रद्दीके ही रूपमें वीरसेवामंदिरको दे देनेकी स्वीकारता दी और बदलेमें दूसरी रद्दी ही ले लेनेकी उदारता दिखलाई। इस कृपाके लिये आप धन्यवादके पात्र हैं।

एक दिन वीरसेवामंदिरके सभी विद्वानोंने मिलकर इस रद्दीकी जाँच-पड़ताल की, जो ग्रंथ पूर्ण पाये गये उन्हें अलग तथा अपूर्णको अलग रक्खा गया और दोनोंको अलग-अलग बस्तोंमें बाँधा गया। साथ ही खण्डित पत्रोंका

एक गट्ठा अलग किया गया और उसे फिर किसी समय विशेष जांचके लिये रख छोड़ा, जिससे अपूर्ण ग्रंथोंके पूरा होने आदिमें कुछ सहायता मिल सके। इन ग्रंथोंका परिचय मैं उसी समय अनेकान्तमें निकालना चाहता था परन्तु परिचयकी तय्यारीका किसीको भी अवसर नहीं मिल सका। हालमें पं० दरबारीलालजी कोठियाने कई दिन परिश्रम करके ग्रंथोंपरसे उनका एक संक्षिप्त परिचय तय्यार किया है, जिसे नीचे प्रकाशित किया जाता है। इस परिचयपरसे प्रकट है कि छोटे बड़े सभी ग्रंथोंकी प्रायः १०० प्रतियां पूर्ण और १७ ग्रंथप्रतियाँ अपूर्ण हैं। पूर्ण ग्रंथोंमें संस्कृतके ५४, प्राकृतके ६, हिन्दीके ३५, और गुजरातीके दो ग्रंथ हैं। संस्कृत-प्राकृत ग्रंथोंमेंसे किसी-किसीके साथ हिन्दी अर्थादिक भी लगा हुआ है। हिन्दी ग्रंथोंमें पञ्जाबी, राजस्थानी जैसी बोलीके ग्रंथ भी शामिल हैं। अपूर्ण ग्रंथोंमें ५-६ प्राकृतके, ६ संस्कृतके और ३ हिन्दीके हैं। जैन ग्रंथोंमें अधिकांश ग्रंथ श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदायके हैं, दिगम्बर ग्रंथ १२-१३ ही जान पड़ते हैं। वैद्यक-ज्योतिष जैसे विषयोंके अधिकांश ग्रंथ अजैन मालूम होते हैं। जिन ग्रंथोंका कर्ता तथा रचना संवत ग्रंथप्रतियोंपरसे उपलब्ध होसका है उसे ग्रंथपरिचयमें दे दिया गया है, शेषको ग्रंथ प्रतिपरसे अनुपलब्ध समझना चाहिये। अधिकांश प्रतियाँ अच्छी सुन्दर-साफ लिखी हुई हैं और कितनी ही प्रतियाँ जीर्ण-शीर्ण भी होरही हैं। इन ग्रंथोंमें जो ग्रंथ अभी तक प्रकाशित न हुआ हो सूचना मिलनेपर उसके प्रकाशनकी योजना की जा सकती है। और जो पुरानी शुद्ध प्रतियां हैं वे सम्पादनादिके अवसरोंपर मिलानके काममें आसकती हैं। —सम्पादक]

संक्षिप्त ग्रन्थ परिचय

पूर्ण ग्रन्थ

१ साधुगुणमाला (हिन्दी छन्दोबद्ध)-हरजसरायकृत, रचना सं० १८६४। विषय, स्थानकवासी सम्प्रदायानुसार साधुके २७ मूलगुणोंका वर्णन।

२ केवली-प्रश्न (हिन्दी गद्यात्मक)—प्रतिलिपि सं० १८७१ है, विषय, प्रश्नशास्त्र।

३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति(प्राकृत)-प्रतिलिपि सं० १७४०

४ षडावश्यकसूत्र-बालावबोध (प्राकृत-हिन्दी) वाचकाचार्य रत्नमूर्तिगणि शिष्य श्रीमेरुसुन्दरोपाध्याय कृत। रचना सं० १५४३, विषय, धार्मिक।

५ पार्श्वनाथचरित (संस्कृत पद्यमय) —भावदेव (श्वे.)कृत। मात्र आदिका और अन्तका प्रशस्त्यात्मक पत्र नहीं है। पत्र संख्या १९५।

६ ऋषिमण्डलस्तोत्र (सं० पद्यमय)—विषय, मन्त्रशास्त्र। पत्र ३।

७ हरिवंशपुराण (हिन्दी)— शालवाहनकृत। जिनसेनाचार्यकृत संस्कृत हरिवंशपुराणका हिन्दी पद्यानुवाद, रचना सं० १६९५। पत्र १००।

८ उपासगदशा (श्वे० सप्तमाङ्ग)—प्राकृत, पत्र ६०। विषय, श्रावक धर्म।

९ जम्बूचरित्र (प्राकृत)—पत्र २८। श्वेताम्बरीय

१० विपाकसूत्र (प्राकृत)—श्वेताम्बरीय, प्रतिलिपि सं० १७५७, पत्र ६, विषय धार्मिक।

११ भक्तामरस्तोत्र-टीका (सुखबोधिका)—अमरप्रभसूरि कृत, संस्कृत, पत्र १९।

१२ प्रश्नोत्तरोपासकाचार—आचार्य सकलकीर्त्ति कृत, संस्कृत (पद्यमय), प्रतिलिपि सं० १७४१, विषय श्रावकधर्म।

१३ दशवैकालिकसूत्र (अर्थसहित)— भाषा प्राकृत, विषय धार्मिक, प्रतिलिपिकाल सं० १८१९, पत्र ३८।

१४ केवलीगर्ग (सं० पद्यात्मक)—श्रीरुद्रकृत, विषय प्रश्न, पत्र १०, अजैन।

१५ प्रियमेलकतीर्थ (सिंहलसुतचौपई)—समयसुन्दरकृत हिन्दी, (पञ्जाबी) रचनाकाल सं० १६७२, विषय दानादि, पत्र ९, लिपिकाल संवत् १६९०।

१६ योगशास्त्र—हेमचन्द्राचार्यकृत, संस्कृत (पद्यात्मक) प्रतिलिपि सं १६४३, पत्र ५।

१७ सामुद्रिक शास्त्र—संस्कृत पद्यमय सटिप्पणी प्रतिलिपि सं० १८६४, पत्र १७।

१८ धर्मपरीक्षा—आ० अमितगतिकृत, संस्कृत पद्यमय, रचनाकाल सं० १०७०, पत्र ४८।

१९ उपासकाध्ययन सूत्र (सप्तभांग)—प्राकृत विषय श्रावकधर्म, पत्र ३३, स्थानकवासीसम्प्रदायका।

२० शालिभद्रधन्नानो चउप्पइ—कर्ता सिंहसूरि-शिष्य मतिसार, गुजराती, रचना सं० १६७८, प्रतिलिपि सं० १७९९, पत्र २०।

२१ श्रीसीलविषइपुरन्दर-कथा— भावदेवसूरि-शिष्य मालदेवकृत, हिन्दी छन्दोबद्ध, पत्र ८।

२२ श्रीहंसराजबच्छराज-कथा (पंचनमस्कार-मंत्र माहात्म्य कथा)—श्रीसर्वसुन्दरमुनिकृत, संस्कृत (पद्यमय), रचना सं० १५१० प्रतिलिपि सं० १७२९, पत्र २०।

२३ बाराखडि—भाषा हिन्दी, पत्र २।

२४ नेमजीका व्याहला—हिन्दी पद्यबन्ध, विषय धर्म। पत्र २।

२५ श्रीजिनचैत्यस्तव— चम्पाराम दीवान-कृत, हिन्दी पद्यमय स्तोत्र, रचना सं० १८४२, पत्र २।

२६ मिथ्यात्व-विचार—भाषा संस्कृत-प्राकृत-मिश्रित, लिपि सं० १८७८, पत्र २।

२७ जुगबाहुस्तवन—जिनचन्द्रसूरि कृत, हिन्दी, पत्र ४।

२८ वणजारादिस्तवन—भाषा हिन्दी, पत्र ३।

२९ बाराखडि (हिन्दी)—भाषा हिन्दी, पत्र ४।

३० सुरसुन्दरीकथा (दशमीव्रतकथा)—आदि-मुनिकृत, हिन्दी पद्यमय, रचना सं० १७१४, प्रतिलिपि सं० १८६४, पत्र ३।

३१ षड्दर्शन (दर्शनो संक्षेपथी विचार)—भाषा गुजराती (गद्यमय), विषय दर्शन, पत्र ४।

३२ नाममाला (कोष)—धनञ्जयकृत, संस्कृत (पद्यबन्ध), प्रतिलिपि सं० १८५५, पत्र ८।

३३ रोहिणीकथा (शीलोपाख्यान)— दामोदर-शिष्य नरेन्द्रदेवसूरि-कृत, संस्कृत (पद्यबन्ध) पत्र ९।

३४ जोगचिन्तामणि (हिन्दी-अर्थ-सहित)—श्री मन्नागपुरीय-तपागच्छीय-भट्टारक श्रीहर्षकीर्ति-कृत, संस्कृत (पद्यबन्ध), विषय वैद्यक, लिपि सं० १८५२, पत्र ७४।

३५ नवतत्त्व (टिप्पणी सहित)—प्राकृत गाथा-बद्ध, विषय धर्म, पत्र ३।

३६ चउसरणा—भाषा प्राकृत और हिन्दी, विषय धर्म, (स्थानकवासी सम्प्रदाय) पत्र ११।

३७ कल्याणमन्दिर (भाषा)—कर्ता पण्डित बनारसीदास, हिन्दी पद्यानुवाद, विषय स्तोत्र, पत्र ३

३८ चतुर्विंशतिमी समाचारी—विषय धार्मिक, (दृष्टान्तसंग्रह), पत्र १४।

३९ जाठादि मन्त्र-यन्त्र (संस्कृत)—विषय मन्त्र-शास्त्र, पत्र ३।

४० पासाकेवली (हिन्दी)-विषय प्रश्नशास्त्र-पत्र ३

४१ संघयणसूत्र (प्राकृत)- विषय धर्म, पत्र ३०, लिपि सं० १८८३।

४२ नवकार स्तोत्र (हिन्दी)—श्रीवल्लभसूरिकृत, पत्र ३।

४३ रोहिणीकथा (संस्कृत)— दामोदर-शिष्य नरेन्द्रदेवसूरिकृत, प्रतिलिपि सं० १८६६, पत्र ७।

४४ पिङ्गलशास्त्र(प्राकृत पिङ्गलानुसारी हिन्दी पद्यानुवाद)—कर्ता कृपाराम-शिष्य कुमर भवानीदास, रचना सं० १७७६, विषय छन्दशास्त्र, पत्र ६।

४५ माधवानलकथा (संस्कृत) पत्र ४, अति-जीर्ण प्रति।

४६ समया विजयातन्त्र (संस्कृत) - पार्वती-परमेश्वर-सम्वाद-विषयक, मन्त्र-तन्त्र-ग्रन्थ, पत्र ७, लिपि सं० १८६९।

४७ मुहूर्त्तमञ्जरी (संस्कृत)—पं० जदुनन्दनकृत, विषय ज्योतिष, लिपि सं० १८६६।

४८ बत्तीसजानिवरणन— नन्दलालकृत, हिन्दी कवित्तबन्ध, विषय समाजशास्त्र, पत्र ४।

४९ राजनीतिशास्त्र —चाणक्यकृत (?), संस्कृत पद्यबन्ध, पत्र १९, लिपि सं० १९०१।

५० सिंहासनद्वात्रिंशत्कथा (गद्यपद्यात्मकप्रबंध)-भाषा संस्कृत, विषय विनोद। लिपि सं० १८४७। पत्र १२।

५१ उद्धारकोश- कर्ता दक्षिणामूर्ति, भाषा संस्कृत विषय मन्त्रशास्त्र, पत्र १२, लिपि सं० १८७०।

५२ बत्तीसजातिवर्णन कवित्त (द्वितीय प्रति)—नन्दलालकृत, हिन्दी (कवित्तबन्ध), विषय समाजशास्त्र, पत्र ३, प्रतिलिपि सं० १८२८।

५३ मेघदूत (संस्कृत)—कवि कालिदासकृत, विषय काव्य, प्रतिलिपि सं० १६९५, पत्र ११।

५४ बालचिकित्सा (संस्कृत)—धन्वन्तरिकृत(?), विषय वैद्यक, पत्र ९, प्रतिलिपि सं० १९७९।

५५ मूत्रपरीक्षा (हिन्दी)—विषय वैद्यक, पत्र २।

५६ रसक्रिया (हिन्दी पद्यात्मक)—विषय वैद्यक, पत्र ९, लिपि सं० १९७२। इसकी एक नवपत्रात्मक प्रति अपूर्ण भी है।

५७ वैद्यमहोत्सव- वैद्य केशवदास-पुत्र नयनसुख कृत, हिन्दी पद्यबन्ध, रचना सं० १६४९, विषय वैद्यक, पत्र १८। यह प्रति है तो पूर्ण, पर अशुद्ध ज्यादा है। इसकी दो प्रतियाँ अपूर्ण भी हैं जिनमेंसे एक १२ और दूसरी २८ पत्र वाली है। २८ पत्र वाली प्रतिमें सिर्फ ८वाँ पत्र ही त्रुटित है और वह काफी शुद्ध प्रति है।

५८ सन्निपातकलिका (संस्कृत भाषा टीका-सहित)—विषय वैद्यक, पत्र १८।

५९ अजीर्णमञ्जरी (संस्कृत)—काशीनाथकृत, विषय वैद्यक, पत्र ६।

६० बालचिकित्सा (संस्कृत हिन्दी अर्थ)—विषय वैद्यक, पत्र १ (पूर्ण)।

६१ नेत्ररोगनिदान (मेघग्रन्थपरसे हिन्दीमें)—विषय वैद्यक, पत्र ६।

६२ द्वादशवर्गीचक्रम (संस्कृत)—विषय ज्योतिष, पत्र २।

६३ कालकज्ञान (हिन्दी)—विषय वैद्यक, पत्र ४, प्रतिलिपि सं० १८७९।

६४ बालचिकित्सा (संस्कृत)—विषय वैद्यक, पत्र ४।

६५ बालचिकित्सा (छन्दोबद्ध)—विषय वैद्यक, पत्र ३ (६से ८ तक)।

ये दोनों संस्कृत हिन्दीके ग्रन्थ संयुक्त हैं।

६६ रसक्रिया (फारसीके वैद्यक ग्रन्थका हिन्दी पद्यानुवाद)—कर्ता केशव-पुत्र कवितरङ्ग अपरनाम सीताराम। रचना सं० १७६०, पत्र ६२, प्रतिलिपि सं० १८७६। इसका नाम 'रसक्रिया' भी पाया जाता है

६७ ग्रह-भावप्रकाश ('भवनदीपक' ज्योतिष शास्त्र)—कर्ता पद्मप्रभसूरि, संस्कृत, विषय ज्योतिष, पत्र १०।

६८ सांवत्सरी (संस्कृत)—जैन जोतिष विषयक।

६९ केवलीप्रश्न (कंजपनीकेवलीप्रश्न)— भाषा हिन्दी, विषय प्रश्नशास्त्र, पत्र ९।

७० जातकपद्धति (सटीक)—कर्ता श्री केशव-दैवज्ञ, भाषा संस्कृत, विषय ज्योतिष, पत्र २९।

७१ भमीपुराण ज्योतिष—हिन्दी ज्योतिषशास्त्र।

७२ ग्रहनिधि—हिन्दी, ज्योतिषका यन्त्रशास्त्र।

७३ योगिनीदशा—ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत।

७४ जन्मशास्त्रप्रदीपक—ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत।

७५ पासाकेवली—हिन्दी, प्रश्न शास्त्र।

७६ ताजिकभूषण— ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत, श्रीढुंढिराजशिष्य (आत्मज) गणेशगणक कृत, पत्र २६

७७ ताजिकसार—ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत, श्री-हरिभद्रकृत। पत्र १४।

७८ ताजिकभूषण—ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत, श्री ढुंढिराजशिष्य (आत्मज) गणेशगणककृत। पत्र १९।

७९ लघुजातक-टीका (संस्कृत)—भट्टोत्पलकृत, ज्योतिषग्रन्थ, पत्र २४।

८०-८१ प्रश्नप्रदीपक (संस्कृत)—काशीनाथकृत, ज्योतिषग्रन्थ। दो प्रति, पत्र ११, १२।

८२ ग्रहणशान्ति—संस्कृत, ज्योतिष। पत्र १।

८३ योगिनीदशा—संस्कृत, ज्योतिष। पत्र ८।

८४ विंशोत्तरीदशा व अष्टोत्तरीदशा—ज्योतिष, संस्कृत।

८५ भावप्रकाशान्तर्गत देहवर्ग—हिन्दी पद्यबन्ध पत्र १६।

८६ गुरुआचार और संवत्सर—ज्योतिष, हिन्दी

८७ कष्टावली—संस्कृत, ज्योतिषशास्त्र।

८८ केरलशास्त्र—(वारकष्टावली आदि) ज्योतिष शास्त्र, हिन्दी-संस्कृत-मिश्रित।

८९ विष्णुवल्लभयोग—ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत।

९० मुहूर्तमुक्तावली—ज्योतिषशास्त्र, संस्कृत, पत्र ४

९१ रमलशकुनावली-रमलशास्त्र, हिन्दी, पत्र ३

९२ जातकसार ज्योतिष, संस्कृत, पत्र २०।

९३ प्रश्नसार—ज्योतिष, संस्कृत, पत्र ३।

९४ कष्टावली—ज्योतिष, संस्कृत, पत्र ३।

९५ वर्षदशासंवत्सरी—ज्योतिष, संस्कृत, पत्र ५

९६ कर्मविपाक—ज्योतिष, संस्कृत, हिन्दी।

९७ भवनदीपक (संस्कृत)—पद्मप्रभसूरि-कृत ज्योतिषशास्त्र।

९८ प्रश्नवैष्णव (संस्कृत)— ब्रह्मदासात्मज नारायणकृत, ज्योतिषशास्त्र, पत्र ३६।

९९ ज्ञानछत्तीसी (प्राकृत)—उद्धारकर्ता ऋषि उत्तम, पत्र ४, प्रतिलिपि सं० १७२३।

१०० नारचन्द्रहोराचक्र (संस्कृत)—जैन ज्योतिष शास्त्र (सिर्फ पहला पत्र त्रुटित है)।

अपूर्ण ग्रन्थ

१ ज्ञातासूत्र—(ज्ञातृधर्मकथाङ्गसूत्र) प्राकृत।

२ अन्तगडांगसूत्र—प्राकृत।

३ रायपसेणीसूत्र—प्राकृत।

४ दशाश्रुतस्कन्धसूत्र—प्राकृत।

५ सर्वार्थसिद्धि—(उत्तराध्ययनटीका) *कमलसंयमोपाध्याय विरचित संस्कृत।

६ भविष्यदत्त चरित्र (संस्कृत)—विबुध श्रीधर (दिगम्बर)-विरचित, आदि अन्त और मध्यमें कुछ पत्र त्रुटित हैं। जीर्ण शीर्ण।

७ कल्पसूत्र (प्राकृत)—२ से १२ तकके पत्र त्रुटित और शेष १३२ तकके पत्र मौजूद हैं। प्रति अत्यन्त जीर्ण है। संवत् १७६७ की प्रतिलिपिसे यह सवत् १८८८में प्रतिलिपि की गई है।

८ प्रवचनसरोद्धार सवृत्ति—संस्कृत।

९ जातक (संस्कृत)—ज्योतिष-विषयक।

१० अश्वचिकित्सा (संस्कृत)—नकुलकृत।

११ सारस्वत व्याकरण—(विसर्गसन्ध्यन्त) २, ३ और १३ से आगेके पत्र नहीं हैं।

१२ पञ्चसायक सूत्र—कविशेखराज ज्योतिश्वराचार्य-विरचित। मूल संस्कृत हिन्दी अर्थ सहित। विषय कथा। पत्र २४, ६ और १०वाँ त्रुटित।

१३ कुतूहलकरण ब्रह्मसिद्धान्ततुल्य—भास्करकृत, संस्कृत, विषय ज्योतिष, पत्र १०।

१४ प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)—सोमकीर्ति-कृत, (दिगम्बर) पत्र १३३, बीचमें १११ से ११७ तकके ७ पत्र त्रुटित हैं।

इसके सिवाय वैद्यमहोत्सवादि तीन अपूर्ण ग्रन्थ-प्रतियोंकी सूचना पूर्ण ग्रन्थ प्रतियोंके साथ की जाचुकी है।

दिगम्बर जैन आगम

(लेखक—आचार्य बलदेव उपाध्याय, एम. ए. साहित्याचार्य हिन्दू विश्वविद्यालय)

आजकल जो ग्रन्थ जैन आगमके नाम से प्रसिद्ध हैं वे श्वेताम्बर मतानुयायी हैं। उनकी प्रामाणिकताके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदाय तनिक भी आस्था नहीं रखता। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्यके समकालीन पाटलीपुत्रसङ्घके अध्यक्ष भद्रबाहु ही अन्तिम श्रुतकेवली थे जिन्हें समस्त आगमोंका यथार्थ ज्ञान था। उनके अनन्तर पूर्व और अङ्गोंका ज्ञान धीरे धीरे विलुप्त होगया। ऐसी विषम स्थिति उपस्थित होगई कि जनतामें जैन सिद्धान्तोंके प्रचारकी बात तो दूर रही, प्राचीन मान्य ग्रन्थोंका विशेषज्ञ ढूंढ़नेपर भी

* पंचम अध्ययनके टिप्पणमें इन्हें 'खरतरगच्छाधिराज श्रीजिनभद्रसूरि-शिष्य' लिखा है (पत्र ७३) और तीसरे तथा चौथेमें मूलमें ही ऐसा सूचित किया है (पत्र ६७)।

मिलना कठिन होगया।

आचार्य धरसेनके हम अत्यन्त कृतज्ञ रहेंगे जिन्होंने पूर्व ग्रन्थोंके अवशिष्ट भागोंको एकत्र कर एक नवीन ग्रन्थकी धारा प्रवर्तित की जो मध्ययुगमें टीका और भाष्योंसे संवलित होकर वृद्धिंगत होती गयी। इन्हीं ग्रन्थोंका वर्णन यहाँ क्रमसे किया जाता है।

१ षट्खण्डागम—आचार्य धरसेनका निवास गिरनार पर्वतपर था। इनका स्थितिकाल वीरनिर्वाण संवत् ६८३(?) है। इनके दो प्रधान शिष्य हुये जिनका नाम पुष्पदन्त और भूतबलि था। पूर्वोंके अन्तर्गत "महाकर्मप्रकृति" नामक एक पाहुड (प्राभृत) था जिसमें कृति, वेदना, आदि २४ अधिकार अथवा खण्ड थे। पुष्पदन्त और भूतबलिने आचार्य धरसेनके निकट इस पाहुडका अनुशीलन किया तथा आरम्भके ६ अधिकारों या खण्डोंपर सूत्ररूपमें रचना की। ६ खण्डोंमें विभक्त होनेके कारण ही इस ग्रन्थका नाम 'षट्खण्डागम" है। इन ६ हों खण्डोंके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

(१) जीवस्थान (२) क्षुद्रकबन्ध (३) बन्धस्वामित्व (४) वेदना (५) वर्गणा और (६) महाबन्ध। इस आगमकी रचनाका काल विक्रमकी पहली शताब्दी है। ये आगम ग्रन्थ कर्म तथा जीव सिद्धान्तके विषयमें मार्मिक विवेचना करते हैं। इनके ऊपर अनेक टीकायें इनके सारगर्भित अर्थको प्रकट करनेके लिये प्राचीन कालमें ही लिखी गई थीं। परन्तु सबसे विस्तृत, प्रामाणिक तथा उपयोगी टीका जो उपलब्ध हुई है उसका नाम है 'धवला'। विस्तार तथा प्रामाण्यके कारण यह ग्रन्थ नहीं विराट् ग्रन्थराज कहा जा सकता है। इसके रचयिता हैं आचार्य वीरसेनस्वामी, जो अपने समयमें जैन आगमके बहुत बड़े विशेषज्ञ थे। उन्होंने अपनेको सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण शास्त्रोंमें निपुण कहा है। जिनसेनने उन्हें वादिमुख्य, लोकवित्, वाग्मी और कविके अतिरिक्त श्रुतकेवली तुल्य भी बतलाया है। सिद्धान्त-समुद्रके जलमें धोई हुई अपनी शुद्ध बुद्धिसे वे प्रत्येकबुद्धोंसे स्पर्धा करते थे। गुणभद्रने उन्हें तमाम वादियोंको त्रस्त करने वाला और उनके शरीरको ज्ञान और चारित्र्यकी सामग्रीसे बना हुआ बतलाया है। जिनसेन द्वितीयने उन्हें कविचक्रवर्ती कहा है। इन्होंने तीन ग्रन्थोंकी रचना की थी, जिनमेंके दो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम यही धवला टीका है तथा दूसरी जयधवला है।

२ धवला टीका—इस ग्रन्थमें मूल आगमोंके आरम्भिक पाँच खण्डोंकी ही विस्तृत तथा विशालकाय व्याख्या है। इस ग्रन्थकी समाप्ति शक संवत ७३८ (८१६ ई०) में हुई थी। उस समय कर्णाटकके राष्ट्रकूटवंशी नरेश जगत्तुङ्गदेव (गोविन्द तृतीय) ने राज्यसिंहासन छोड़ दिया था और उनके पुत्र अमोघवर्ष राज्यसिंहासनपर विराजमान थे[१]। इस प्रकार धवलाकी रचना नवम शताब्दीके आरम्भ कालमें हुई। टीकाके धवला कहे जानेका कारण यह जान पड़ता है कि जिस राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षके समयमें यह पुस्तक लिखी गई थी उनकी उपाधि 'अतिशय धवल' थी। सम्भवतः इसी उपाधिके कारण इस टीकाका नाम धवला रक्खा गया है। धवलाका अर्थ है विशुद्ध। अतः अतिशय विशुद्ध तथा मूलग्रन्थके विशुद्ध प्रतिपादनके कारण इस टीकाका ऐसा नामकरण होना उचित ही है।

३ महाधवला—षट्खण्डागमके अन्तिम खण्ड का नाम है-महाबन्ध। इसकी रचना भूतबलि स्वामीने की थी। वीरसेन स्वामीने लिखा है कि स्वयं मूललेखक भूतबलिने महाबन्धको इतने विस्तार के साथ लिखा है कि इसके ऊपर टीका लिखनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

सामान्यतया यह समझा जाता है कि धवला तथा जयधवलाके समान महाधवला भी एक टीका-

१ अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे॥

इस धवला टीकाका सम्पादन अमरावतीमें डाक्टर हीरालाल जैनने किया है। इसके तीन खण्ड आठ जिल्दोंमें प्रकाशित होचुके हैं।

ग्रन्थ ही है। परन्तु इन ग्रन्थोंके अनुशीलनसे यह बात स्पष्ट है कि महाधवलशास्त्र टीका-ग्रन्थ न होकर मूलग्रन्थ है। 'षट्खण्डागम' का अन्तिम खण्ड 'महाबन्ध' ही विद्वत् समाजमें महाधवलके नामसे प्रसिद्ध है। षट्खण्डागमके आरम्भके १७७ सूत्रोंकी रचना तो पुष्पदन्ताचार्यने की। इसके अनन्तरका समग्र आगम शास्त्र आचार्य भूतबलि स्वामीकी रचना है। यह समग्र महाबन्ध इन्हीं आचार्यवर्यकी चमत्कारपूर्ण कृति है। ये अपने समयके बड़े ही महनीय मन्त्रशास्त्रमें निपुण जैनाचार्य थे। इनके प्रकाण्ड पाण्डित्यकी तथा दार्शनिक ज्ञानकी जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। महाबन्धका विस्तार ४०,००० श्लोक परिमाण है। इसकी भाषा विशुद्ध प्राकृत है और इसमें धवला तथा जयधवलाके समान संस्कृत तथा प्राकृत भाषाका मिश्रण नहीं है।

'महाबन्ध' का विषय जैन मतानुसार कर्मका सूक्ष्म विवेचन है। कषायके सम्बन्धसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंका जो ग्रहण करता है उसे ही बन्ध कहते हैं। बन्धके चार प्रकार हैं (१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) अनुभाग तथा (४) प्रदेश। इन चारों प्रकारोंका अवान्तर विभेदसे युक्त विवेचन बड़े विस्तारके साथ इस ग्रन्थरत्नमें किया गया है। बन्धका साङ्गोपाङ्ग विवेचन होनेके कारण इस ग्रन्थका महाबन्ध नाम यथार्थ है। पिछले दिगम्बर जैन दार्शनिकोंने कर्मका विवेचन इसी ग्रन्थके आधारपर किया है। इस प्रकार विवेचनकी सर्वाङ्गीणता, प्रतिपादन-शैलीकी विशदता, दार्शनिक तत्त्वोंकी गम्भीरता, प्रभावकी व्यापकता, इन सब दृष्टियोंसे समीक्षा करनेपर यह ग्रन्थ सामान्य ग्रन्थ न होकर एक महान् तथा विराट् ग्रन्थ है।

४ कसायपाहुड—दिगम्बर सम्प्रदायका यह भी एक मान्य ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य गुणधर पूर्वोक्त आचार्य भूतबलिके समकालीन थे। इस प्रकार इस ग्रन्थका भी रचना काल विक्रमका प्रथम शतक है। कसायका अभिप्राय कषायसे है जिसका अर्थ राग-द्वेष है। मोहनीय कर्मके ये ही दो प्रधान प्रकार हैं। तथा इन्हींका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थका प्रधान लक्ष्य है। यह ग्रन्थ १५ अधिकारोंमें विभक्त है जिनमें कर्मसिद्धान्तसे सम्बद्ध नाना प्रकार की जैन प्ररूपणायें बड़े विस्तारके साथ निरूपित की गई हैं।

५ चूर्णि ग्रन्थ—आचार्य यतिवृषभने इस कसायपाहुड नामक ग्रन्थपर प्राकृतमें ही विशाल भाष्य लिखा है जो चूर्णिसूत्र कहलाता है। मूलग्रन्थमें तो केवल २३३ ही गाथायें हैं परन्तु इस चूर्णि ग्रन्थका परिमाण ६००० छः हजार श्लोक है। गुणधरकी शिष्य परम्परामें आर्यमंक्षु तथा नागहस्ति दो प्रधान आचार्य हुए जिन्होंने कसायपाहुडका अनुशीलन बड़े ही अध्यवसायके साथ किया था। इन्हींसे इस ग्रन्थका साङ्गोपाग अध्ययन कर आचार्य यतिवृषभने मूल अर्थको विशदरूपसे प्रतिपादन करनेके निमित्त इन चूर्णि-सूत्रोंकी रचना की है। ये अपने समयके महान् दार्शनिक थे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इनका समय वीरनिर्वाण संवत् १००० के आसपास है। इस प्रकार इस चूर्णिग्रन्थकी रचना विक्रमके पञ्चम या षष्ठ शतकमें हुई।

६ जयधवला—मूल ग्रन्थ कसायपाहुड और चूर्णिसूत्रके ऊपर यह विशालकाय व्याख्या ग्रन्थ है। परिमाणमें यह चूर्णिग्रन्थसे दसगुणा बड़ा है अर्थात् ६०,००० श्लोक जितना है। इसके लेखक आचार्य वीरसेन हैं जिन्होंने षट्खण्डागमकी पूर्वोक्त 'धवला' नामक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है। परन्तु इस ग्रन्थका केवल तृतीयांश भाग लिखकर ही ये निर्वाण (देहावसान) को प्राप्त होगये। तदनन्तर इनके शिष्य आचार्य जिनसेनने ग्रन्थके शेष भागको पूरा किया। इस ग्रन्थकी रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षके समय में की गई थी। जयधवलाकी समाप्ति शक संवत् ७५९ (८३७ ई०) में हुई[१]। धवलाकी समाप्ति शक

१ अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया ।
निष्ठिता प्रचयं यायात् आकल्पमनल्पिका ॥

संवत् ७३८ में होचुकी थी। इस प्रकार जयधवला धवलासे २१ वर्ष छोटी है।

इस टीकाकी रचना धवलाकी तरह मणिप्रवाल शैलीपर की गई है। इस ग्रन्थमें प्राकृत और संस्कृतका मिश्रण है। धवलाकी अपेक्षा यह टीका प्राकृतबहुल है। इसमें प्राय: दार्शनिक चर्चाओं तथा व्युत्पत्ति आदिमें ही संस्कृत भाषाका उपयोग किया गया है। जैन सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिये प्राकृतका ही अवलम्बन किया गया है। यह टीका इतनी प्रौढ़ तथा प्रमेय-बहुला है कि लेखकोंका असाधारण पाण्डित्य तथा अगाध विद्वत्ता किसी भी आलोचकको विस्मयमें डाल देती है।

इस प्रकार दिगम्बर जैन आगमकी जीव और कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी दो धारायें स्फुटतया लक्षित होती हैं। पहली धारा षट्खण्डागम-में लक्षित होती है और दूसरी कसायपाहुडमें। मूलग्रन्थोंमें सिद्धान्तकी विभिन्नता होनेके कारण एक ही लेखकके द्वारा विरचित होनेपर भी धवला और जयधवलामें स्थान-स्थानपर पार्थक्य है। इन्हीं आगम ग्रन्थोंका आश्रय लेकर कालान्तरमें विद्वानोंने नवीन ग्रन्थोंकी रचना की। इन्हीं तीनों ग्रन्थोंका सारांश आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने विख्यात ग्रन्थ "गोम्मटसार" तथा "लब्धिसार-क्षपणासार" में प्रस्तुत किया है। ये संग्रहग्रन्थ प्राकृतगाथानिबद्ध हैं जिनमें जीव, कर्म तथा कर्मोंके क्षपण अथवा नाशका सुन्दर किन्तु गूढ़ वर्णन है। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अबतक मूडविद्रीके जैन भण्डारमें हस्तलिखित रूपमें पड़े थे। यह जैन भण्डार कर्णाटक देशमें है। वहाँके अधिकारियोंकी कृपासे अब ये प्रकाशमें आरहे हैं। धवलाका प्रकाशन अमरावतीसे होरहा है। जयधवलाका मथुरासे तथा महाबन्धका काशी भारतीय ज्ञानपीठसे। इन ग्रन्थ रत्नोंका प्रकाशन जैन आगमोंके अध्ययनके लिये नवयुगका सूचक है।

त्रिभुवनगिरि व उसके विनाशके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश

(लेखक—अगरचन्द नाहटा)

अनेकान्तके गत १०-११वें अङ्कमें पं० परमानन्द जीका 'कविवर लक्ष्मण और जिनदत्त चरित्र' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने कविके मूल निवास स्थान त्रिभुवनगिरि व उसके विनाश सम्बन्धी कविके उल्लेखका निर्देश करते हुए लिखा है कि 'ये सातों भाई और कवि लक्ष्मण अपने परिवार सहित पहले त्रिभुवनगिरिपर निवास करते थे (उस समय त्रिभुवनगिरि जन-धनसे समृद्ध तथा वैभवसे युक्त था; परन्तु कुछ समय बाद त्रिभुवनगिरि विनष्ट होगया था उसे म्लेच्छाधिपने घेरा डालकर नष्ट भ्रष्ट कर आत्मसात् कर लिया था। परन्तु प्रशस्तिपरसे यह मालूम नहीं होता कि यह स्थान कहाँ था और किस म्लेच्छाधिपने वहाँ कब्जा किया था उस समय सम्वत् क्या था और उससे पूर्व वहाँ किसका राज्य था आदि। और न अन्यत्रसे इसका कोई समर्थन होता है।"

त्रिभुवनगिरिका उल्लेख श्वे० साहित्यमें भी आता है और खरतरगच्छके प्रभावक आचार्य जिनदत्तसूरि जीने वहाँके राजा कुमारपालको प्रतिबोध दिया था इसका उल्लेख सं० १२९५ रचित गणधरसार्द्धशतक वृहद्वृत्तिमें आता है अतः कई वर्ष पूर्व हमने अपने ऐतिहासज्ञ मित्र डा० दशरथ M. A. महोदयको इस

एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देसु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीतेसु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥

—जयधवलाकी प्रशस्ति।

पर प्रकाश डालनेका अनुरोध किया था। हमारी प्रेरणासे उन्होंने भारतीय विद्याके वर्ष २ अङ्क १ में "पव्वइया नगरी और त्रिभुवनगिरि" शीर्षक लेख प्रकाशित किया था। उससे यह भलीभाँति निश्चित होजाता है कि त्रिभुवनगिरि वर्तमानमें तहनगढ़ नामसे प्रसिद्ध है जो कि करौली से उत्तर पूर्व २४ माइलपर अवस्थित है। १३वीं शताब्दीमें यहाँ यादव वंशीय महाराजा कुमारपाल राज्य करते थे जो सं० १२१०, ११के लगभग ही गद्दीपर बैठे थे और १२४२ तक राज्य किया था। मुसलमानी तवारीख ता 'जुलमासीरमें हसन निजामीने लिखा है कि ५७२ (वि० सं० १२५२) में मुहम्मद गौरीने तहनगर पर आक्रमणकर वहाँके राजा कुमारपालको हराकर अपने आधीन किया। तहनगरका राज्य बहाउद्दीन तुमरीतको दिया गया। इससे स्पष्ट है कि सं० १२५२ में मुसलमानी राज्य होजानेपर लक्ष्मण कवि बिलराम-पुर चले गये व त्रिभुवनगिरि जयपुर राज्यका तहनगढ़ ही है।

तेरह काठिया-सम्बन्धी श्वे० साहित्य

(लेखक—अगरचन्द नाहटा)

अनेकान्तकी गत (१०-११वीं) किरणमें बाबू ज्योतिप्रसाद जैन M. A. का 'तेरह काठिया' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने कविवर बनारसी-दासजी रचित तेरह काठिया शीर्षक रचनाका निर्देश करते हुए लिखा है कि 'ज्ञात नहीं इन दोषोंके लिये काठिया शब्दका प्रयोग करनेमें कोई और प्राचीन आधार था या नहीं, और इस प्रकारके त्रयोदश काठिया या तेरह काठिया शीर्षकसे अन्य-प्राचीनतर पाठ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती आदि भाषामें इसी विषयके प्रतिपादक उपलब्ध हैं या नहीं? यदि ऐसा नहीं है और यह कविवर बनारसीदासजीका ही मौलिक सूझ है तो उनकी प्रतिभाकी बलिहारी है और उनकी कल्पना अद्भुत होनेके साथ ही साथ प्रशंसनीय है।' आपके उपर्युक्त लेखनसे मालूम होता है कि दि० समाजमें १३ काठिये प्रसिद्ध नहीं है। जैसा कि बनारसीदास जीने निर्देश किया है गुजरातमें काठिया शब्द प्रसिद्ध था और वहाँ प्रायः श्वे० समाजका ही प्रभाव अधिक है कविवर पहले श्वे०सम्प्रदायके खरतरगच्छके अनुयायी थे। अतः उन्होंने १३ काठियोंमें श्वे० साहित्यसे लिया ज्ञात होता है। कविवर बनारसी-दासजीसे प्राचीन श्वे० साहित्यमें तेरह काठियोंका उल्लेख पाया जाता है। रत्नसमुच्चय नामक एक प्राचीन प्राकृत गाथाओंका सग्रह ग्रन्थ है जिसमें १३ काठियोंके नाम सूचक गाथा इस प्रकार पाई जाती है-

[१]आलस्स [२]मोह [३]वन्ना [४]थंभा [५]कोहा [६]पमाय [७]किविणत्ता।
[८]भय [९]सोगा [१०]अन्नाणा [११]वक्खेव [१२]कुतुहला [१३]रमणा॥

यह ग्रंथ जैनधर्म प्रसारक सभासे छप भी चुका है। १७वीं शताब्दीकी इसकी प्रतिमें यह लिखित मिलती है। यह गाथा हरिभद्रसूरिके आवश्यक वृत्तिकी होने से ८वीं शताब्दीकी निश्चित होती है। अतः बनारसी-दासजीके ८००० वर्ष पूर्व भी श्वे० साहित्यमें १३ काठिये प्रसिद्ध थे।

१६वीं शताब्दीके तपागच्छीय जैनाचार्य हेम-विमलसूरिकी गा० १५की तेरह काठिया सज्झाय जैनसत्यप्रकाशके क्रमांक १३६में प्रकाशित होचुकी है।

नवीन रचनाओंमें तिलोकऋषिकी तेरह काठिया सज्झाय भी प्रकाशित है। श्वे० सम्प्रदायमें आज भी १३ काठिये सर्व विदित हैं और इसलिये बनारसीदास जीकी मौलिक सूझ ज्ञात नहीं होती। अबमें मेरी जानकारीको श्वे० समाजके १३ काठिया सम्बन्धी साहित्यका संक्षेप परिचय दे देता हूँ।

अब मैं मेरी जानकारीमें श्वे०समाजके तेरहकाठिया सम्बन्धी साहित्यकृत संक्षिप्त परिचय दे देता हूँ:—

१ तेरह काठिया सज्झाय गा० १६

२ तेरह काठिया सज्झाय गा० ७ महिमाप्रभसूरि

(प्र० १ भीमसी माणिक प्रकाशित सज्झाय-माला भा० १ पृ० ७७ । २०२

प्र० २ बालाभाइ म० जैन सज्झायमालामें नं० १-२-३ तीनों प्रकाशित हैं)

३ तेरह काठियोंकी १४ ढालें (गा० १४९) विशुद्ध-विमल सं० १८०-मि-मु० ३ पालणपुर

(प्र० १ विद्याशाला प्रकाशित सज्झायमाला पृ० १४९ नं० १

४ (प्र० १ हमारे संग्रहमें अपूर्ण (प्रथमपत्र)

५ तेरह काठिया नामक हिन्दी पुस्तक प्रकाशक काशीनाथ जैन ।

साहित्य-परिचय और समालोचन

आत्मसमर्पण (पौराणिक कहानियाँ)—लेखक श्री बालचन्द्र जैन विशारद, एम. ए. (फाइनल) साहित्यशास्त्री । प्रकाशक, हिन्दी-प्रकाशन-भवन, बाँस-फाटक, बनारस । मूल्य, १॥) । प्राप्तिस्थान, जैन साहित्य-सदन, भदैनीघाट, काशी ।

यह पुस्तक अभी हालमें ही तिलक दिवसपर प्रकट हुई है । इसमें लेखकने पन्द्रह पौराणिक कथाओंको आधुनिक कहानियोंके ढङ्गसे सरल और रोचक भाषामें चित्रित किया है । प्रत्येक कहानीमें लेखककी प्रतिभा और कलाके दर्शन होते हैं । सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखकने अपने सिद्धान्त और दर्शनका बड़ी कुशलतासे प्रदर्शन किया है । 'आत्मसमर्पण' कहानीमें जब राजुल गिरनारपर पहुँचकर भगवान नेमिनाथसे दीक्षा लेकर तप करती हैं उस समयका लेखकने कितने सुन्दर ढङ्गसे सैद्धान्तिक चित्र खींचा है—उनकी वे पंक्तियाँ ये हैं—

"गिरनारके शिखरपर दो तपस्वी साधनारत थे। एक ओर निर्वस्त्र नेमिकुमार और दूसरी ओर श्वेत-वस्त्रधारिणी आर्यिका राजुल ।"

सारी पुस्तक जहाँ कलापूर्ण है वहाँ नीति, सिद्धान्त, सुधार, शिक्षा और लोक-रुचिसे भी परि-पूर्ण है । भारत कलाभवन काशीके क्यूरेटर और काशी नागरी प्रचारिणी सभाके भूतपूर्व मन्त्री सुप्रसिद्ध साहित्यिक श्रीरायकृष्णदासजीके प्राक्कथन काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके प्रो० पं० पद्मनारायण आचार्य और स्याद्वाद महाविद्यालय काशीके प्रधाना-ध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्रीके अभि-मतों तथा पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके 'दोशब्द' वक्तव्योंसे पुस्तककी महत्ता, गौरव और लोक-सम्मान प्रकट है । लेखकके 'अपनी बात' में लिखे निम्न शब्द किसी भी सहृदय व्यक्तिको ठेस पहुँचाये बिना नहीं रह सकते । वे लिखते हैं—'कहानियोंके लिखे जानेका शुद्ध प्रयोजन थोड़ेसे चाँदीके टुकड़ों-की प्रत्याशा थी जो मेरे अध्ययनमें सहायक बन जाते । पर हाय रे अभाग ! तू यहाँ भी मचल पड़ा. पूरे वर्ष पुस्तककी प्रेस कापी भारतीय ज्ञानपीठमें पड़ी रही, पर अन्तमें मुझे टकेसा जवाब मिला ।'

इन शब्दोंको पढ़कर किसका हृदय नहीं पसीजेगा । साहित्यिक संस्थाओंको अपनी इस अशोभनीय मनोवृत्तिका परित्याग करना चाहिये और उन्हें श्रीबालचन्द्रजी जैसे होनहार प्रतिभाशाली नवोदीयमान लेखकोंका अभिवादन और स्वागत करते हुए प्रोत्साहन देना चाहिये । हम इस उदीय-मान होनहार कहानी लेखकका अभिवादन करते हैं । उनकी यह कृति हिन्दी साहित्य संसारमें गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त करेगी, ऐसी आशा एवं शुभकामना करते

हैं। सफाई-छपाई आदि सब उत्तम है। पाठक एक बार इसे अवश्य पढ़ें।

भारतीय ज्ञान-पीठके सात प्रकाशन—

१ जैन शासन—लेखक, पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर, शास्त्री, न्यायतीर्थ B. A., LL. B.। प्रकाशक, श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञान-पीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। मूल्य, ४।-)।

यह साहू शान्तिप्रसादजी डालमियानगर द्वारा अपनी पुण्यश्लोका माता स्व० मूर्तिदेवीकी स्मृतिमें संस्थापित ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाका हिन्दी विभाग सम्बन्धी तीसरा ग्रन्थ है। इसमें लेखकने शान्तिकी ओर, धर्मके नामपर, धर्मकी आवश्यकता, धर्मकी आधार शिला आदि १९ विषयों द्वारा जैनशासनका परिचय कराया है। जैन धर्मका परिचय करानेमें यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है। दिवाकरजीने अपनी रुचिके अनुसार विषयोंको चुनकर प्रौढ और उदात्त भाषा तथा भावों द्वारा विषय-प्रतिपादन किया है। कहीं कहीं आलङ्कारिक शब्द-प्राचुर्य भी है जो ऐसी पुस्तकोंमें भूषण न होकर दूषण है। विषयोंके कुछ शीर्षक 'पराक्रमके प्राङ्गणमें', 'सयम बिन घडिय म इक जाहु' जैसे अटपटे और क्लिष्ट जान पड़ते हैं। सर्व साधारणको जल्दी समझमें आजाने वाले शीर्षक होने चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि दिवाकरजीने इसमें पर्याप्त परिश्रम किया है और एक कमीकी पूर्ति की है। सफाई छपाई अच्छी है। जिल्द मजबूत है। ऐसे प्रकाशनके लिये दिवाकरजीके साथ ज्ञान पीठ भी धन्यवादार्ह है।

२ आधुनिक जैन कवि—सम्पादिका, रमा जैन, प्रकाशक, पूर्वोक्त। मूल्य, ३॥)।

इस पुस्तकका एक संस्करण पहले प्रकट होचुका है। यह दूसरा संस्करण है, इसमें कितने हो नये कवि और कवियित्रियोंकी कविताओंका संग्रह और किया गया है। जैन संसारके समस्त कवियों और कवियित्रियोंको युग प्रवर्त्तक, युगानुगामी, प्रगतिप्रेरक, प्रगति-प्रवाह, ऊर्मियाँ, गीति-हिलोर और सीकर विभागोंमें विभाजित करके उनके संक्षिप्त परिचयके साथ उनकी कुछ कुछ सुन्दर सुन्दर कवितायें संग्रहीत की गई हैं। कवियों और कवियित्रियोंकी कुल संख्या ९२ है। वस्तुतः सम्पादिकाजीकी सूझ और भारतीय ज्ञान पीठका प्रयत्न दोनों सराहनीय हैं। यह पुस्तक संसारके कवियों और कवियित्रियोंके समक्ष जैन कवियों और कवियित्रियोंके गौरवको बढ़ाने वाली है, इसमें सन्देह नहीं। सफाई-छपाई सुन्दर, शुद्ध और आकर्षक है। मूल्य अवश्य कुछ ज्यादा है।

३ पथ-चिह्न—लेखक, श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी। प्रकाशक, उक्त भारतीय ज्ञानपीठ काशी। मूल्य २)

लेखकने यह पुस्तक अपनी बहिनके बहाने भारत माताको लक्ष्य करके भारतीय संस्कृति और भारतीय कलापर लिखी है। वर्तमान अर्थसंघर्ष प्रधान भारतमें उसकी सुप्त संस्कृति और कलाकी अन्तश्चेतनाको जगानेका प्रयत्न इसमें किया गया है। पुस्तक लोक-रुचिके अनुकूल है। इसमें भावुकता और श्रद्धाके पर्याप्त दर्शन होते हैं। छपाई आदि सब उत्तम है। पुस्तक पठनीय है।

४ मुक्ति दूत—(एक पौराणिक रोमांस)—लेखक, श्रीवीरेन्द्रकुमार जैन एम. ए.। प्रकाशक, उक्त ज्ञानपीठ। मूल्य ४॥), पृष्ठ संख्या लगभग ३५०।

सर्व साधारणकी दृष्टिसे उक्त ज्ञानपीठद्वारा आरम्भ की गई 'लोकोदय-ग्रन्थमाला' का प्रस्तुत पुस्तक प्रथम पुष्प है। इसमें लेखकने उपन्यासके ढङ्गसे पुराणवर्णित अंजना और पवनंजयकी प्रेम-कथाको चित्रित किया है जो बहुत ही सुन्दर और लोमहर्षक है। उपन्यासके रसिक पाठकोंके लिये इसके पढ़नेमें कहीं भी विरसताका अनुभव न होगा मेरा खयाल है कि जैन पौराणिक आख्यानको उपन्यासके ढङ्गसे प्रस्तुत करना हिन्दी जैन साहित्य संसारमें एक नई वस्तु है। हिन्दी ग्रन्थमालाके सम्पादक श्रीलक्ष्मीचन्द्र जैनने अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखकर तो इसपर सुवर्ण कलशका काम

किया है। सफाई-छपाई सब उत्तम और जिल्द मजबूत है। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

५ हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास—लेखक, श्रीकामताप्रसाद जैन D. L. M. R. A. S.। प्रकाशक उक्त ज्ञानपीठ मूल्य, २॥।≈)। पृष्ठ लगभग २८५।

यह ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाका हिन्दी सम्बन्धी दूसरा ग्रन्थ है। पाठक, बा० कामताप्रसाद जीकी लेखनीसे सुपरिचित हैं उन्हींकी लेखनीसे यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसे मौलिक रचना कहनेकी अपेक्षा प्रायः संग्रह रचना कहना ज्यादा उपयुक्त होगा; क्योंकि इसमें प्रेमीजी आदि विभिन्न लेखकों द्वारा कराये गये हिन्दी साहित्यके परिचयादिका ही जगह जगह संकलन है। इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तकके द्वारा हिन्दी जैन साहित्यका अच्छा परिचय मिलता है और यह भी मालूम होजाता है कि वर्तमान हिन्दीका मूल उद्गम स्थान जैनोंका अपभ्रंश साहित्य है। सम्पादकका यह लिखना कि 'इस पुस्तकमें—कैसे अपभ्रंशके माध्यम द्वारा जैन कवियोंने आजकी इस हिन्दीको अङ्कुरित किया और उस अङ्कुरको सींच सींचकर कैसे उन्होंने बालवृक्ष बना दिया—पायेंगे' बिल्कुल ठीक है। पं० नाथूराम प्रेमी और राहुल सांकृत्यायन प्रभृति विद्वानोंने यह सिद्ध कर दिया है कि महाकवि स्वयम्भू आदि जैन कवियोंकी अपभ्रंश कृतियाँ ही वर्तमान हिन्दीकी प्रसवा हैं। पुस्तकमें हिन्दी जैन कवियों और उनकी रचनाओंका जो परिचय रनिङ्गमें दिया गया है उससे पुस्तककी साहित्यिक मनोज्ञता सर्वथा नष्ट होगई है। एक एक कवि और उसकी रचनाका अलग अलग उपशीर्षक देकर उनका परिचय कराया जाता और फुटनोटमें उसकी सूचना करदी जाती जहाँ जहाँसे वह लिया गया है तो बहुत उत्तम होता। 'अनेकान्त' से बहुत अधिक सामग्री लीगई है पर उसका उल्लेख कुछ ही जगह किया गया है। यह सब होते हुये भी पुस्तक संग्रहणीय है। सफाई, छपाई, जिल्द, सब उत्तम है।

६ दो हजार वर्ष पुरानी कहानियां—सङ्कलयिता डा० जगदीशचन्द्र जैन, एम.ए., पी-एच.डी.। प्रकाशक वही भारतीय ज्ञानपीठ। मूल्य, ३)। पृष्ठ २०२।

श्वेताम्बर जैन आगमोंमें जो कथा-कहानियाँ लिपिबद्ध पाई जाती हैं उन्हींका प्रस्तुत पुस्तकमें सुन्दर सङ्कलन है। इसी लिये पुस्तकका दूसरा नाम 'जैनकथा कहानियाँ' भी दिया गया है। इसमें डा० सा० ने बड़े रोचक ढङ्ग और सरल एवं चालू भाषामें कहानियोंको दिया है। इन कहानियोंको उन्होंने तीन भागोंमें बाँट दिया है—पहले भागमें लौकिक कहानियाँ हैं जिनकी संख्या ३४ है, दूसरे भागमें ऐतिहासिक हैं जो १७ हैं और तीसरे भागमें धार्मिक हैं जिनकी संख्या १३ है। इस तरह इस पुस्तकमें कुल ६४ कहानियाँ हैं। इन कहानियोंका आधार श्वेताम्बर जैन आगम हैं और इस लिये उनमें—मुख्यतः धार्मिक कहानियोंमें—कहीं कहीं दिगम्बर जैन साहित्यसे मतभेद है। जैसे 'राजीमती की दृढ़ता' कहानीको लीजिये, उसमें भगवान नेमिनाथके भाई रथनेमिकी कल्पना की गई है जो दिगम्बर साहित्यमें नहीं है। और न उसमें राजीमती तथा रथनेमिका उक्त सम्वाद ही पाया जाता है 'जिसमें रथनेमि भाभी राजुलको अपनेसे शादी करने के लिये फुसला रहे हैं।' यहाँ एक बात यह कहनेकी है कि लेखकने इन कहानियोंको दो हजार वर्ष पुरानी बतलाई हैं परन्तु लेखन और सङ्कलनकी दृष्टिसे वह कुछ ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि इन कहानियोंका संग्रह श्वेताम्बर जैनागमोंपरसे किया गया है और उनकी सङ्कलना तथा परिवर्धन देवर्धिगणीने विक्रम की छठी शताब्दीमें किये हैं जिसे आज केवल लगभग चउदह-पन्द्रहसौ वर्ष हुए हैं। लेखकने स्वयं देवर्धिगणीकी सङ्कलनाको वर्तमान आगम माने हैं—(प्रस्तावना पृ० १६)। इसमें सन्देह नहीं कि श्री जगदीशचन्द्रजीने इन कहानियोंके सङ्कलन करनेमें काफी परिश्रम किया है और उन्हें लोकोपयोगी बनानेका पूरा प्रयत्न किया है। पाठकोंके लिये ये कहानियाँ अवश्य रुचिकर होंगी। सफाई, छपाई, जिल्द आदि सब मनोज्ञ हैं।

७ महाबन्ध—मूल रचयिता, भगवान भूतबलि आचार्य । सम्पादक पण्डित सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री, न्यायतीर्थ, बी० ए०, एल-एल० बी० । प्रकाशक, उक्त भारतीय ज्ञानपीठ । मूल्य, १२) । पृ० सख्या, ४०० से कुछ ऊपर ।

यह वही ग्रन्थराज है जिसे महाधवल सिद्धान्त भी कहा जाता है । इसीको षट्खण्डागमका छठा खण्ड भी माना जाता है । इसपर वीरसेन स्वामीकी टीका नहीं है । प्रस्तुत पुस्तक समग्र महाबन्धका, जिसमें अनेक अधिकार हैं, पहला प्रकृतिबन्धाधिकार है। यह प्राकृत भाषामें निबद्ध मूलागम ग्रन्थ है। इस पहली पुस्तकमें कर्मबन्धके प्रकृतिबन्धका सूक्ष्म और विस्तृत निरूपण किया गया है । सर्व प्रथम कवरके आद्य पृष्ठपर भगवान बाहुबलिका आकर्षक भव्य चित्र है। उसके बाद भीतर तीसरे पृष्ठपर सेठ साहू शान्तिप्रसादजीकी मातेश्वरी स्व० मूर्तिदेवी का, जिनकी स्मृतिमें स्थापित ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाका यह प्राकृत सम्बन्धी पहला ग्रन्थ है, चित्र है । तदनन्तर पाँचवें पत्रपर बाँयीं ओर आचार्य शान्तिसागरजी महाराजका वीतरागता एवं ध्यानमुद्रामय मनोज्ञ चित्र है, जिन्हें सम्पादकने उक्त ग्रन्थ समर्पण किया है। सातवें पत्रकी बाँयी ओर मूडबिद्री तथा श्रवणबेलगोलके वर्तमान भट्टारकों और श्रीमान नागराज श्रेष्ठी मूडबिद्री, श्रीमान स्व० रघुचन्द्रजी बल्लाल मङ्गलूर, श्री० मंजय्य हेगडे धर्मस्थल तथा चन्द्रनाथ बसदि मूडबिद्रीके त्रिलोक चूडामणि चैत्यालयके चित्र हैं। इन लोगोंकी कृपा और प्रयत्नसे ही यह ग्रन्थ दिवाकरजीको प्राप्त हो सका इसके बाद श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठका 'प्रकाशकीय', प्रो० हीरालालजी, सम्पादक प्राकृत ग्रन्थमाला विभागका 'प्रास्ताविक' (हिन्दी व अंग्रेजी) और दिवाकरजीके Preface, प्राक्कथन एवं प्रस्तावना वक्तव्य हैं। दिवाकरजीने अपनी विस्तृत प्रस्तावनामें ग्रन्थ, ग्रन्थकार और तत्सम्बन्धित विषयोंपर प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् मूलग्रन्थ और उसके नीचे उसका हिन्दी अनुवाद है जो सब ३४८ पृष्ठ प्रमाण है। यह प्रकाशन जहाँ ऊपरी सब बातोंसे सुन्दर है वहाँ भीतरी कुछ बातों से त्रुटिपूर्ण भी है। अनुवादकी भाषा वैसी नहीं जैसी धवला और जयधवलाके प्रकाशनोंकी है। शब्दोंकी क्लिष्टतासे अनुवाद सहज गम्य नहीं रहा। इसके सिवाय जहाँ विशेषार्थोंकी जरूरत थी वहाँ विशेषार्थ नहीं हैं और जहाँ उनकी खास जरूरत नहीं थी वहाँ वे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि दिवाकरजीने इस सिद्धान्त ग्रन्थमें भी औपदेशिक ढङ्ग अपनाया है। कितनी ही जगह अनुवादमें सैद्धान्तिक त्रुटियाँ भी रह गई हैं, जिन्हें किसी स्वतन्त्र लेखमें ही प्रकट करना उचित है। बा० नेमीचन्दजी सहारनपुरने ऐसी कुछ त्रुटियोंको जैन सन्देशमें प्रकट किया है, जिन्हें दिवाकरजीने अपने स्पष्टीकरण द्वारा स्वीकार कर लिया है—उनका उन्होंने विरोध नहीं किया। मालूम होता है कि प्राकृत ग्रन्थमालाके योग्य सम्पादकों और अनुभवी विशिष्ट विद्वानों द्वारा यह अदृष्ट रहा है। सैद्धान्तिक ग्रन्थोंका प्रकाशन व सम्पादन एवं अनुवाद पूरी सावधानीसे होना चाहिए, क्योंकि ऐसे महान ग्रन्थों का दुबारा प्रकाशन होना अशक्य है। असावधानीसे जनतामें बड़ी गलतफहामयाँ फैल जाती हैं।

यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि दिवाकरजीने उन दो अपने सहयोगियों—पं० परमानन्दजी साहित्याचार्य और पं० कुन्दनलालजी—की निर्मम उपेक्षा की है, जिन्होंने उन्हें अपना पसीना बहाकर सहयोग दिया था और जिस सहयोगकी स्वीकृति दिवाकरजीने मुझे छिन्दवाड़ामें सिवनी बुला कर मुझपर प्रकट की थी और मुझसे अपने कार्यमें राय माँगी थी। प्रस्तुत प्रकाशनमें उन दोनों विद्वानोंके नाम न देखकर मुझे दुख और आश्चर्य दोनों हुए। हमें दिवाकरजीसे ऐसी आशा नहीं थी। अस्तु।

पुस्तककी सफाई आदि अच्छी है। स्वाध्याय प्रेमियोंको इसे मँगाकर इसके स्वाध्यायसे अपनी तत्त्वज्ञानवृद्धि अवश्य करना चाहिए।

—दरबारीलाल जैन कोठिया, न्यायाचार्य

१ षट्खण्डागम—(धवलाटीका और उसके हिंदी अनुवाद सहित) मूल कर्ता,—आचार्य भूतबलि तथा व्याख्याकार वीरसेनस्वामी। संपादक प्रो. हीरालाल जैन एम.ए., पी.एच.डी. मारिस कालेज, नागपुर और सह संपादक पं. बालचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री अमरावती। प्रकाशक श्रीमंत सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ४४६। मूल्य सजिल्द प्रतिका १०) शास्त्राकारका १२)।

प्रस्तुत ग्रन्थ षट्खण्डागमका तृतीय खण्ड 'बंधसामित्तविचय' नामका है, जिसमें कर्मबंधके स्वामित्वका विचार किया गया है और यह बतलाया है कि कौन कौन कर्मप्रकृतियाँ किन किन गुणस्थानोंमें बंधको प्राप्त होती हैं। इस खण्डमें कुल ३२४ सूत्र हैं जिनमें ४२ सूत्रोंमें गुणस्थानोंके अनुसार कथन किया है और अवशिष्ट २८२ सूत्रोंमें मार्गणाओंके अनुसार गुणस्थानोंका विवेचन किया गया है। टीकाकार सूक्ष्मप्रज्ञ आचार्य वीरसेनने सूत्रोंको देशामर्षक बतलाते हुए, बन्धव्युच्छेद आदिके सम्बन्धमें तेईस प्रश्न उठाकर स्वयं ही उनका समाधान करते हुए, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, सांतर, निरंतर, स्वोदय, परोदय आदि बन्धोंकी व्यवस्थाका कथन किया है। और उससे बन्धस्वामित्वके सम्बन्धमें फिर कोई विशेष जिज्ञासा नहीं रहती। ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद पूर्ववत है। साथमें कुछ तुलनात्मक टिप्पण भी किया हुआ है।

ग्रन्थके अन्तमें ५ परिशिष्ट भी दिये हुए हैं जिनसे प्रस्तुत संस्करणकी विशेषता और भी बढ़ गई है। उनमें 'अवतरण-गाथा-सूची' नामके परिशिष्टके 'चदुपच्चइगो बंधो' उवरिल्लपंचए पुण, पणवण्णा इरवण्णा, और 'दस अट्ठारसदसयं' नामकी चारों गाथाएं प्राकृत पंचसंग्रह भाष्यके चतुर्थ अधिकारमें क्रमशः ७६, ७७, ७८ और ७९ नम्बर पर उपलब्ध होती हैं।

इस खण्डके साथ षट्खण्डागमके तीन खण्ड मुद्रित होचुके हैं, जो बहुत ही प्रमेय बहुल हैं। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थका ३ पेजका शुद्धिपत्र खटकने वाली वस्तु है, परंतु विश्वास है कि आगे इसकी ओर और भी विशेष ध्यान रक्खा जावेगा। ऐसे सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रकाशनमें प्रेस सम्बन्धी इतनी अशुद्धियाँ नहीं रहनी चाहिये। इस तरह यह खण्ड भी अपने पूर्व प्रकाशित खण्डोंके समान ही पठनीय तथा संग्रहणीय है। मूल्यमें भी इस मँहगाईको देखते हुए कोई वृद्धि नहीं हुई है।

—परमानन्द जैन

श्रीधर या विबुध श्रीधर नामके विद्वान

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

भारतीय जैन वाङ्मयका आलोडन करनेसे मालूम होता है कि एक नामके अनेक विद्वान, ग्रन्थकर्ता आचार्य तथा भट्टारक होगए हैं; इससे ऐतिहासिक विद्वानोंको एक नामके विभिन्न व्यक्तियोंके समय, निर्णय करनेमें साधन-सामग्रीके अभावमें बड़ी दिक्कतें पेश आती हैं। उन दिक्कतोंको कम करनेके लिये यह आवश्यक और उचित जान पड़ता है कि जिस किसीका भी कुछ विशेष परिचय मालूम पड़े उसे प्रकट कर दिया जाय। इसी दृष्टिसे आज मैं अपने पाठकोंको श्रीधर या विबुध श्रीधर नामके कुछ विद्वानोंका परिचय दे रहा हूँ।

(१) श्रीधर या विबुध श्रीधर नामके कई विद्वान होगए हैं। उनमें एक श्रीधर तो वे हैं जिन्हें विबुध श्रीधर भी कहते थे और जो अग्रवाल कुलमें समुत्पन्न

हुए थे। इनकी माताका नाम 'बील्हा' देवी और पिताका नाम 'बुध गोल्ह' था[1]। उक्त कविने इससे अधिक और अपना परिचय देनेकी कृपा नहीं की, जिससे उनके सम्बन्धमें विशेष विचार किया जा सके। साथ ही, यह भी मालूम हो सके कि उनके गुरु कौन थे? इनकी एक मात्र कृति 'पार्श्वनाथ चरित्र' उपलब्ध है, जिससे मालूम होता है कि कविने 'चन्द्रप्रभ चरित्र' नामका एक ग्रन्थ और भी बनाया था। इस ग्रन्थमें कविने ग्रन्थ प्रणयनमें प्रेरक साहुनट्टलके परिवारका विस्तृत परिचय दिया है। साहुनट्टल देहली (योगिनीपुर) अथवा ढिल्लीके निवासी थे, उस समय दिल्लीमें तोमरवंशीय अनङ्गपाल तृतीयका शासन चल रहा था। यह अनङ्गपाल अपने पूर्वज दो अनङ्गपालोंसे भिन्न था और बड़ा प्रतापी एवं वीर था। इसने हम्मीरवीरकी सहायता की थी[2]। यह हम्मीरवीर कौन है? और इसका अनङ्गपालके साथ क्या सम्बन्ध है? यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। उस समय ढिल्ली जण-धनसे परिपूर्ण थी उसमें विविध जातियोंके लोग सुखपूर्वक निवास करते थे। चुनाँचे उस समय दिल्लीके जैनियोंमें प्रमुख नट्टलसाहु थे, जो सप्तव्यसनादिसे रहित श्रावकके व्रतोंका अनुष्ठान करते थे। नट्टलसाहु केवल धर्मात्मा ही नहीं थे; किन्तु उच्चकोटिके कुशल व्यापारी भी थे, और उस समय उनका व्यापार अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, कर्नाटक, नेपाल, भोट्ट, पांचाल, चेदि, गौड़, ठक्क, केरल, मरहट्ट, भादानक, मगध, गुर्जर, सोरठ और हरियाना आदि देशोंमें चल रहा था। इन्हीं नट्टलसाहुकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे कविने पार्श्वनाथ चरितकी रचना की थी। प्रस्तुत ग्रन्थका रचनाकाल वि० सं० ११८९ अगहनवदी अष्टमी रविवार है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"विक्कमणरिंद-सुपसिद्धकालि,
ढिल्ली-पट्टण-धणकणविसालि।
स-णवासीएयारहसएहिं,
परिवाडिए वरिसपरिगएहिं।
सिरिपासणाहणिम्मलचरित्तु,
सयलामलरयणोहदित्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'पासनाहचरिउ' है। इस ग्रन्थमें कविने जैनियोंके तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथका जीवन-परिचय दिया हुआ है। यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचा गया है और १२ सन्धियोंमें समाप्त हुआ है, और जिसकी श्लोक संख्या ढाई हजार श्लोक प्रमाण है। सन्धिकी समाप्ति-सूचक पुष्पिका गद्यमें न देकर स्वयंभूदेवके समान पद्यमें दी हुई है। वह संधि-वाक्य इस प्रकार है:—

इयसिरिपासचरित्तं रइयं बुहसिरिहरेण गुणभरियं
अणुमणियं मणोज्जं णट्टलनामेण भव्वेण ॥१॥
विजयंतविमाणाओ वम्मादेवीइ णंदणो जाओ।
कणयप्पहु चविऊणं पढमो संधी परिसमत्तो ॥२॥

साहुनट्टलके पिताका नाम 'अल्हण' साहु था, इनका वंश अग्रवाल था और यह सदा धर्मकर्ममें सावधान रहते थे। इनकी माताका नाम 'मेमडिय' था, जो शीलरूपी सत्आभूषणोंसे अलंकृत थी और बाँधवजनोंको सुख प्रदान करती थी। साहुनट्टलके दो ज्येष्ठ भाई और भी थे—राघव और सोढल। इनमें राघव बड़ा ही सुन्दर एवं रूपवान् था, उसे देखकर कामिनियोंका मन द्रवित होजाता था।

[1] सिरिअयरवालकुलसंभवेण, जणणी-बील्हा गब्भु(ब्भ)वेण
अणवरय विणय-पणयारुहेण, कइणा बुहगोल्ह-तणुरुहेण।
पयडियतिहुअण वइगुणभरेण, मणियणयसुहिसुअणें सिरिहरेण
—पार्श्वनाथ च० प्रशस्ति

[2] जहिं असिवर तोडिय रिउ कवालु, णरणाहु पसिद्ध अणंगवालु
णिरुदल वट्टियहम्मीरवीरु, वंदियण विंद पवियण्णचीरु।
दुज्जण-हिय-यावणिदलणसीरु, दुण्णयणीरय णिरसण-समीरु
बालभर कंपाविय-णायराउ, भामिणियण-मण-संजणियराउ
—पार्श्वनाथ च० प्रशस्ति

ये हम्मीर वीर अन्य कोई नहीं, ग्वालियरके परिहारवंश की द्वितीय शाखाके हम्मीरदेव जान पड़ते हैं जिन्होंने सं० १२१२ से १२२४ तक ग्वालियरमें राज्य किया है।

और सोढल विद्वानोंको आनन्ददायक, गुरुभक्त, तथा अरहंतदेवकी स्तुति करने वाला था और जिसका शरीर विनयरूपी आभूषणसे अलंकृत था, तथा बड़ा बुद्धिवान और धीरवीर था। और नट्टल-साहु इन सबमें पुण्यात्मा, सुन्दर तथा जनवल्लभ था। कुलरूपी कमलोंका आकर, पापरूपी पांशु (रज) का नाशक, तीर्थङ्करका प्रतिष्ठापक, बन्दीजनोंको दान देने वाला, परदोषोंके प्रकाशनसे विरक्त तथा सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप त्रिरत्न आभूषणोंसे युक्त था, जो चतुर्विध संघको दान देनेमें सदा तत्पर था। साहूनट्टलने केवल पार्श्वनाथचरित की रचना ही नहीं कराई थी; किन्तु उस बुद्धिवान धर्मात्माने दिल्लीमें विशाल जैनचैत्य (जैनमन्दिर) का निर्माण कराकर उसका प्रतिष्ठोत्सव भी किया था जैसा कि उक्त ग्रन्थकी पाँचवी संधिके बादके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

"येनाराध्य विशुद्धधीरमतिना देवाधिदेवं जिनं।
सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः संतोषिता बांधवाः॥
जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतरं जैनीं प्रतिष्ठां तथा।
स श्रीमान्विदितः सदैव जयतात्पृथ्वीतले नट्टलः॥"

ऊपरके उल्लेखसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि विक्रमकी १२ वीं शताब्दिके अन्तिमभाग (११८९)में दिल्लीमें दिगम्बर जैनमन्दिर मौजूद थे और नट्टल-साहूने एक अन्य दिगम्बर जैनमन्दिर बनवाकर उसका प्रतिष्ठामहोत्सव भी कराया था। इसके सिवाय, १४-१५ वीं शताब्दीमें भी दिल्लीमें जैनमन्दिरोंका निर्माण होता रहा है; परन्तु खेद है कि आज उन प्राचीन समयके मन्दिरोंकी कोई मूर्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वे सब मन्दिर मुसलमानी बादशाहतके समय धराशायी करा दिये गये हैं और उन जैनमन्दिरों आदिके पाषाण कुतुबमीनारमें लगा दिये गये हैं। कुतुबमीनार में आज भी जैनमन्दिरोंके पाषाण पाए जाते हैं जिनमें जैन मूर्तियाँ अङ्कित हैं। उनमें कितने ही पाषाण पलटकर भी लगाये गये हैं। यदि उन्हें उखड़वाकर देखा जाय तो उनमें शिलालेखादि भी मिलनेकी सम्भावना है।

(२) दूसरे श्रीधर वे हैं जिन्होंने अवन्तीके मुनि सुकमालका जीवन-परिचय अङ्कित किया है। इस चरित्रग्रन्थकी रचना भी अपभ्रंश भाषाके पद्धड़िया छन्दमें हुई है। यह ग्रन्थ छह सन्धियोंमें समाप्त हुआ है जिसकी श्लोक संख्या १२००के लगभग है। इस ग्रन्थकी रचना विक्रम संवत् १२०८ मर्गासिर कृष्णा तीज सोमवारके दिन हुई है[१]।

इन श्रीधरने इस ग्रन्थमें अपना कोई परिचय प्रस्तुत नहीं किया, जिससे यह निश्चय करना कठिन है कि ये प्रथम श्रीधर ही इस ग्रन्थके कर्ता हैं; क्योंकि यह ग्रन्थ उससे १८ वर्ष बाद बना है। अतः यह होसकता है कि प्रथम श्रीधर ही इसके रचयिता हों, अथवा श्रीधर नामके किसी दूसरे विद्वानकी यह कृति हो, कुछ भी हो इस सम्बन्धमें विशेष अनु-सन्धान करनेकी जरूरत है।

प्रस्तुत सुकमालचरितकी रचना साहु पीथेके सुपुत्र कुमारकी प्रेरणा या अनुरोधपर हुई है। ग्रन्थ की आद्यन्तप्रशस्तिमें साहु पीथेके वंशका विस्तृत परिचय दिया हुआ है, जिससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ बलडइ (अहमदाबाद-गुजरात) गाँवमें बना है जहाँ गोविन्दचन्द्र नामके राजाका राज्य था। और वहाँके जिनमन्दिरमें पद्मसेन नामके मुनि प्रवचन किया करते थे। साहु पीथे पुरवाड़वंशके भूषण थे और सम्यक्त्वादि गुणोंसे अलङ्कृत थे। साहु पीथेके पिताका नाम 'साहुरजग्ग' था और माताका नाम 'गल्हा'देवी। इनके सात भाई और थे, महेन्द्र, मणहरु, जाल्हणु, सलक्खणु, संपुण्ण(?), समुदपाल और नयपाल। साहु पीथेकी धर्मपत्नीका नाम 'सुलक्षणा' था, जो बड़ी ही विचक्षण और कार्यपटु थी इसीसे कुमार नामके पुत्रका जन्म हुआ था, जिसकी प्रेरणाको पाकर कविने उक्त ग्रन्थकी रचना की है और वह उसीके नामाङ्कित भी किया गया है।

---

१ बारहसयइं गयइं कयहरिसइं अट्ठोत्तरं महीयलिवरिसइं। कसण पक्खि आगहण होजायए तिज्जिदिवसि ससिवासरमायए

कुमारकी पत्नीका नाम 'पद्मा' था उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, पाल्हणु, साल्हणु, बल्ल या बालचन्द्र और सुप्रभ[1]। ग्रन्थगत चरित भाग बड़ा ही सुन्दर है।

(३) तीसरे श्रीधर वे हैं जिनकी रची हुई भविष्यदत्त-पञ्चमीकथा है जो संस्कृतमें रची गई है। यद्यपि ग्रन्थमें कवि श्रीधरने अपना कोई परिचय नहीं दिया और न उसका रचनाकाल ही दिया है जिससे यह कहना कठिन है कि इस भविष्यदत्तपञ्चमीकथाके कर्त्ता कवि श्रीधर कब हुए हैं और उनके गुरुका क्या नाम था? हाँ, उपलब्ध ग्रन्थकी प्रतिपरसे इतना जरूर कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थकी रचना विक्रमकी १५वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे पूर्व होचुकी थी; क्योंकि उक्त ग्रन्थकी एक प्रति वि० सं० १४८६की लिखवाई हुई मौजूद है[2]। प्रस्तुत ग्रन्थ लम्बकंचुक कुलके प्रसिद्ध साहु लक्ष्मणकी प्रेरणासे रचा गया है जैसा कि उसके निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

श्रीमद्वेदोमयूतायां [?] स्थितेन नयशालिना।
श्रीलंबकंचुकाऽनूक-नभोभूषण-भानुना ॥९॥
प्रसिद्धसाधुधामेकदनुजेन दयावता।
प्रवरोपासकाचार - विचाराहित - चेतसा ॥१०॥
गुरुदेवाऽर्चना-दान-ध्यानाध्ययन-कर्मणा।
साधुना लक्ष्मणाख्येन प्रेरितो भक्तिसंयुतः ॥११॥
तदहं शक्तितो वक्ष्ये चरितं दुरितापहं।
श्रीमद्भविष्यदत्तस्य कमलश्रीतनुभुवः ॥१२॥

(४) चौथे कवि श्रीधर वे हैं जिनका रचा हुआ 'नानार्थमुक्तावली' कोष है जिसे 'विश्वलोचनकोष' भी कहते हैं। यह ग्रन्थ हिन्दी-टीकाके साथ मुद्रित होचुका है। ग्रन्थकर्ता सेनवंशके विद्वान थे और इनके गुरुका नाम मुनिसेन था। इन्होंने कवि नागेन्द्र और अमरसिंह आदिके कोषोंका सार लेकर उक्त ग्रन्थकी रचना की है। ये श्रीधर कब हुए हैं यह अभी विचारणीय है, लेकिन यह श्रीधर उक्त तीनों श्रीधर नामके विद्वानोंसे भिन्न जान पड़ते हैं।

(५) पाँचवें श्रीधर वे हैं जिन्होंने श्रुतावतारकी रचना की है। ये श्रीधर कब हुए और उनकी गुरु परम्परा क्या है? यह सब विचारणीय है। इस श्रुतावतारके वर्णनोंमें कितनी ही ऐतिहासिक त्रुटियाँ पाई जाती हैं जो अनुसन्धानपरसे ठीक नहीं उतरतीं। यह ग्रन्थ माणिकचन्द ग्रन्थमालाके अन्तर्गत सिद्धान्त-सारादिसंग्रहमें प्रकाशित होचुका है।

(६) छठवें श्रीधर वे हैं जिन्होंने अपभ्रंशभाषामें वर्धमानकाव्यकी रचना की है। प्रस्तुत ग्रन्थमें कवि ने जैनियोंके अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरका

---

[1] सिरि पुरवाड-वंस-मंडणचंधउ, णियगुणणियराणंदियवंधउ
गुरुभत्तिए परणमिय मुणीसरु, णामें साहु रजग्गु बणीसरु।
तहो गल्हा णामेण पियारी, गेहिणि मणइच्छिय सुहयारी।
पविमल सीलाहरण-विहूसिय, सुहि सज्जण बुहयणहं पसंसिय।
ताहं तणुरुहु पीथे जायउ, जणसुहयरु महियले विक्खायउ।
अवतु महिंदे बुच्चइ बीयउ, बुहयण, मणहरु तिक्कउ तइयउ।
जल्हणु णामें भणिउ चउत्थउ, पुणवि सलक्खणु दाण समत्थउ
छट्ठउ सुउ संपुणण हुअहु जह, समुदपालु सत्तमउ भणउ तह।
अट्ठमु सुउ णयपाल समासिउ, विणणाइय गुणगणहिं विहूसिय
पदमहो पियणामेण सलक्खणु, लक्खण कलिय-सरीर वियक्खणु
तहिं कुमारु णामेण तणुरुहु, जायउ सुह पह पहम सरीरुहु।
विणय-विहूसण-भूसिउ गत्तउ, महियलि मय मिच्छत्त-परिचत्तउ
घत्ता—णाण अवरु बीयउ पवरु कुमरहो हुअ वर गेहिणि।
पउमा भणिया सुअणहिं गणिय जिणमयपर गेहिणि ॥१६
तहे पाल्हणु णामेण पहूयउ, पढमुपुत्त णं वमयण सत्तवउ।
बीयउ साल्हणु जो जिणु पुज्जइ, जसु रूवेण ण मणहरु पुज्जइ।
तइयउ बल्ले भणि वि जाणिज्जइ, बंधव सुयणहिं सम्माणिज्जइ।
तुरियउ जायउ सुपहु णामें, णावइ णियरु दरसिउ कामें।
सुकुमालचरित प्रशस्ति

[2] "संवत् १४८६ वर्षे आषाढ वदि ७ गुरु दिने गोपाचलदुर्गे राजा डूंगर सीह राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्रीसहस्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्य श्री गुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्य श्री यशःकीर्तिदेवास्तेन निजज्ञाना-वरणीकर्मक्षयार्थं इदं भविष्यदत्त पंचमीकथा लिखापितं।" (यह लेखक पुष्पिका नया मन्दिर धर्मपुरा देहलीके शास्त्रभंडारकी जीर्ण प्रतिकी है।)

जीवन परिचय दिया है। यह ग्रन्थ दस सन्धियोंमें समाप्त हुआ है। यह ग्रन्थ टोडा-दूवी (जयपुर)के शास्त्र भण्डारमें मौजूद है। इसकी रचना जैसवालवंशी साहु नेमिचन्द्रकी प्रेरणासे हुई है। नेमिचन्द्रके पिताका नाम 'नरवर' और माताका नाम 'सोमा'देवी था। ग्रन्थके निम्न उल्लेखसे मालूम होता है कि कवि श्रीधरने वर्धमानकाव्यसे पूर्व दो ग्रन्थ और अपभ्रंश भाषामें बनाये थे—चन्द्रप्रभचरित और शान्तिनाथचरित[1]। इन ग्रन्थोंके अन्वेषण करनेकी आवश्यकता है। ग्रन्थके अन्तिम ७ पत्र नहीं मिलनेके कारण ग्रन्थका रचनाकाल मालूम नहीं होसका।

(७) सातवें श्रीधर वे हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषामें भविष्यदत्त पञ्चमी कथाकी रचना की है। यह ग्रन्थ चन्द्रवाडनगरमें स्थित माहुर (माथुर) कुलीन और नारायणके पुत्र सुपट्टसाहुकी प्रेरणासे बनवाया गया है। इनके ज्येष्ठ भ्राताका नाम वासुदेव था[1]। प्रस्तुत ग्रन्थ उक्त साहुनारायणकी धर्मपत्नी 'रूपिणी'के नामाङ्कित किया गया है। इसका रचनाकाल वि० सं० १५३० है अर्थात् १६वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें बना है। अतः ये श्रीधर सबसे बादके विद्वान मालूम होते हैं। इन्होंने और किन ग्रन्थोंकी रचना की यह कुछ मालूम नहीं होता, बहुत सम्भव है कि नं० ६ और ७ के विद्वान् श्रीधर एक ही हों; इस विषयमें अनुसन्धान होनेकी जरूरत है।

इस प्रकार श्रीधर नामके सात विद्वानोंका यह संक्षिप्त परिचय है। आशा है अन्वेषक विद्वान् इनके सम्बन्धमें विशेष बातोंको प्रकाशमें लायेंगे।

वीरसेवामन्दिर, ता० १८-१०-४७

रत्नकरण्डक-टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

स्वामी समन्तभद्र विरचित रत्नकरण्डकश्रावकाचारपर एक संस्कृत-टीका पाई जाती है[2] जो माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना एवं 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहासके साथ प्रकट भी होचुकी है। इस टीकामें उसके कर्ताने अपना नाम प्रभाचन्द्र व प्रभेन्दु दिया है। अतः यह टीका आमतौरपर प्रभाचन्द्र कर्तृक तो मानी जाती है; परन्तु प्रभाचन्द्र नामके धारक अनेक विद्वान हुए हैं और इस लिये विचारणीय है कि यह किन प्रभाचन्द्रकृत है और उनका समय क्या है?

इस सम्बन्धमें मुख्तार साहबने अपनी उक्त ग्रन्थकी प्रस्तावना (पृ० ५३-८२) में यह विचार प्रकट किया था कि यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि प्रसिद्ध तर्क-ग्रन्थोंके कर्ताकी कृति मालूम नहीं होती,

---

१ जिह विरइउ चरिउ दुहोहवारि, संसारुब्भव संतावहारि।
चंदप्पह संति जिणेसराह, भव्वयण-सरोज-दियेसराह।
तिहंवइ विरयहि वीरहो जिणासु, समणयणदिट्ठकंचणतिणासु
—वर्धमान चरित

२ 'रत्नकरण्डक-विषमपद-व्याख्यान' नामका एक संस्कृत-टिप्पण भी इस ग्रन्थपर उपलब्ध होता है जो आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें मौजूद है।

१ सिरिचंदवारणयरट्ठिएण, जिणधम्मकरणउक्कंठिएण।
माहुरकुलनयणतमीहरेण, विबुहयणसुयणमणधणहरेण।
णारायणदेहसमुब्भवेण, मणवयणकायणिंदियभवेण।
सिरिवासुएवगुरुभायरेण, भवजलणिहिणिवडणकायरेण
णीसेसवलक्खगुणालएण, मइवरसुपट्टणामालएण।
—भविष्यदत्त पंचमी कथा

किन्तु पं० आशाधरजीकी सागारधर्मामृत-टीकाके, जिसका रचनाकाल उसमें वि० सं० १२९६ दिया हुआ है, बादकी जान पड़ती है और वह रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई होसकती है, जिनका पट्टारोहण-समय पट्टावलीमें वि० सं० १३१० दिया है और इस लिये रत्नकरण्डक-टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी १३वीं शताब्दीसे पूर्व नहीं है। परन्तु यह विचार उनका उस समयका था जबकि आमतौरपर भगवज्जिनसेनाचार्यके आदिपुराणमें उल्लिखित 'चन्द्रोदय' के कर्त्ता प्रभाचन्द्रको ही 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' अथवा 'न्यायकुमुदचन्द्र'का कर्ता समझा जाता था। बादको 'न्यायकुमुदचन्द्र'के प्रकाशित होनेपर जब उसकी प्रस्तावना-द्वारा नये प्रमाण प्रकाशमें आए तथा मेरे द्वारा यह बात भी मुख्तार साहबको सुझाई गई कि रत्नकरण्डककी यह टीका वि० सं० १३००में निर्मित हुई अनगारधर्मामृतकी टीकाके अवसरपर ही नहीं किन्तु संवत् १२९६में रची जाने वाली सागारधर्मामृतकी टीकाके समय भी पं० आशाधरजीके सामने मौजूद थी; क्योंकि पण्डित आशाधरने सागारधर्मामृत-टीका (पृ० १३७) में रत्नकरण्डके 'विषय-विषतोऽनुपेक्षा' नामक पद्यको उद्धृत करके उसके उस समस्त पद-व्याख्यानको भी थोड़ेसे शब्द-भेदके साथ प्रायः ज्यों-का त्यों उद्धृत किया है जो इस टीकामें उक्त पद्यके व्याख्यानाऽवसरपर प्रभाचन्द्रके द्वारा उपस्थित किया गया है, तब उन्हें अपनी पुरानी मान्यताका आग्रह नहीं रहा। अतः मुख्तार साहबकी उन युक्तियोंको यहाँ देकर उनपर विचार करनेकी जरूरत नहीं रहती, जिनके आधारसे उन्होंने अपना उक्त विचार प्रस्तुत किया था।

श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी पहले ही इस बात को मान चुके हैं कि रत्नकरण्डकी यह टीका उन्हीं प्रभाचन्द्रकी कृति है जो प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रादिके कर्ता हैं। न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारजीकी भी यही मान्यता है, जैसाकि हमने अनेकान्तकी गत किरणके पृष्ठ ४२२ पर रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एक कर्तृत्व-विषयक अपने लेख में 'रत्नकरण्डक-टीकाके कर्तृत्वपर सन्देह और भ्रान्त उल्लेख' उपशीर्षकके नीचे स्पष्ट करके बतलाया है।

यद्यपि अब इस विषयमें दूसरे किसी विद्वान्का कोई खास मतभेद मालूम नहीं होता, फिर भी हम यहाँपर कुछ ऐसे साधक प्रमाण उपस्थित करते हैं जिनसे यह विषय और भी स्पष्ट होजाता है अर्थात् रत्नकरण्डकी यह टीका प्रमेयकमलमार्तण्डकारकी ही कृति प्रसिद्ध होती है और उसपरसे उसका समय भी निश्चित होजाता है:—

१ तार्किक प्रभाचन्द्राचार्यने अपना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड धारानरेश भोजदेव (वि० सं० १०७५—१११०) के राज्यकालमें बनाया है और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थ भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंह नरेश (वि० सं० १११२) के राज्यसमयमें रचे हैं। जैसाकि उनकी प्रशस्तियोंमें दिये गये निम्न समाप्ति-पुष्पिका-वाक्योंसे सिद्ध है—

'श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृत-निखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिल-प्रमाण-प्रमेय-स्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।'
—पृ० ६९४ (प्र० मा० द्वि० आ०)।

'इति श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालङ्कारः कृत इति मङ्गलम्।'—न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भा० पृ० ८८०।

ठीक इसी तरह (न्यायकुमुदचन्द्र जैसा) गद्यकथाकोशमें भी ८९वीं कथाके बाद समाप्ति-पुष्पिका-वाक्य पाया जाता है। यथा—

'श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेनाराधनासत्कथा-

प्रबन्धः' कृत इति।'

इन समान समाप्ति-पुष्पिकावाक्योंसे सिद्ध होता है कि ये तीनों ग्रन्थ धारा-निवासी श्रीप्रभाचन्द्र पण्डितकी रचना हैं जो धारामें भोजदेव और जयसिंहदेवके राज्यसमयमें हुए हैं। गद्यकथाकोशकी रचना इन्होंने सर्वसुखावबोधी अत्यन्त सरल पदों-द्वारा की है जिसकी सूचना उन्होंने 'सुकोमलैः सर्व-सुखावबोधैः पदैः प्रभाचन्द्रकृतः प्रबन्धः' इत्यादि समाप्तिपद्यके द्वारा स्वयं की है।

हमारा मत है कि गद्यकथाकोशके रचयिता प्रभाचन्द्रपण्डितने ही रत्नकरण्डक-टीकाको बनाया है। इसके आधार निम्न हैं:—

(क) गद्यकथाकोश और रत्नकरण्डक दोनोंकी साहित्यिक रचना एकसी है। दोनोंके निम्न मङ्गला-चरणपद्योंकी तुलना कीजिये—

प्रणम्य मोक्षप्रदमस्त-दोषं प्रकृष्ट-पुण्य-प्रभवं जिनेन्द्रम्।
वक्ष्येऽत्र भव्य-प्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबंधम्॥

—गद्यकथाकोश लि० पत्र १

समन्तभद्रं निखिलात्म-बोधनं,
जिनं प्रणम्याखिल-कर्म-शोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डे परं,
करोमि भव्य-प्रतिबोधना-करम्॥१॥

—रत्नकरण्ड-टीका पृ० १

(ख) गद्यकथाकोशमें अञ्जनचोर आदिकी जो कथाएँ दी गई हैं वे प्रायः शब्दशः रत्नकरण्डक-टीकामें भी उसी प्रकार पाई जाती हैं। नमूनेके तौरपर एक स्थलको नीचे देते हैं—

'धन्वन्तरि-विश्वानुलोमौ स्वकृतकर्मवशात् अमित-प्रभ-विद्युत्प्रभौ देवौ सञ्जातौ। तौ चान्योन्यस्य धर्म-परीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो यमदग्निस्ताभ्यां तपस-श्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी स्वीकृतोपवासः कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ श्मशाने कायो-त्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततो अमितप्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठन्तु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति। ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोऽपि न चलितो ध्यानात्ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य च आकाश-गामिनी विद्या दत्ता तवेयं सिद्धा अन्यस्य च नमस्कार-विधिना सिध्यतीति।' —गद्यकथाकोश लि० पत्र १९

'धन्वन्तरि-विश्वलोमौ सुकृतकर्मवशादमितप्रभ-विद्युत्प्रभदेवौ सञ्जातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थ-मत्रायातौ। ततो यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चालितः। मगध-देशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवासः कृष्ण-चतुर्दश्यां रात्रौ श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततोऽमितप्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठन्तु मदीया मुनयोऽमु गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति। ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोऽपि न चलितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनी विद्या दत्ता। तस्मै कथितं च तवेयं सिद्धाऽन्यस्य च पञ्चनमस्कारा-र्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति।' - रत्नक.-टीका पृ०१३

२ टीका पृष्ठ ५-६में आप्तलक्षणके प्रसङ्गमें केवली-कवलाहार-मान्यताका संक्षेपमें युक्तिपुरस्सर निराकरण किया गया है और सूचना दी गई है कि विस्तारसे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें प्ररूपण करनेसे यहाँ इतना ही संक्षिप्त-कथन पर्याप्त है। यथा—

'तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्याय-कुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।'

यहाँ यह खास तौरसे ध्यान देने योग्य है कि टीकाकारने अपनी इस टीकामें दूसरे विद्वानके एक भी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं किया। अतः उपर्युक्त उल्लेखसे प्रतीत होता है कि टीकाकारने अपने ही पूर्व रचित उक्त ग्रन्थोंका निर्देश किया है। अर्थात् यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके

१ इस ग्रन्थका प्रभाचन्द्रोक्त शुद्ध नाम 'आराधना-सत्कथा-प्रबन्ध' प्रतीत होता है। गद्यकथाकोश नाम तो पीछेसे इसलिये प्रसिद्ध होगया मालूम होता है कि वह गद्यमें लिखा गया है और उनके बाद ब्रह्मनेमिदत्तने अपना कथाकोश पद्योंमें लिखा है। प्रभाचन्द्रके कथाकोशसे ऐसा भी मालूम होता है कि उनके पहले संस्कृत अथवा प्राकृत या दोनोंमें रचित कोई पद्यमय भी कथाकोश रहा है और जिसके पद्योंके प्रतीक-वाक्यांश इसमें देकर कथाएँ लिखी गई हैं। जो हो, उसकी पूरी जाँच करनेपर ही कुछ निश्चितरूपमें कहा जा सकता है। —लेखक।

रचयिताकी कृति है। इसी प्रकारके उल्लेख समाधितन्त्रकी टीका और शब्दाम्भोजभास्करमें भी पाये जाते हैं[1] जिन्हें न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रमेयकमलमार्त्तण्डकारकी ही कृतियाँ सिद्ध की हैं[2]। इससे भी यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्डकारकी ज्ञात होती है।

३ टीकामें यत्र तत्र शैली और तर्कका प्रायः उसी प्रकारसे आश्रय लिया गया है जिस प्रकार प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदमें दृष्टिगोचर होता है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि वे दोनों यहाँ ग्रन्थानुरूप और अतिसंक्षिप्त हैं। नमूनेके तौरपर दोनोंके तीन उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:—

(क) 'अविघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यदिकं हि फलमुद्दिश्येष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणाः शास्त्रकृतः शास्त्रादौ प्रतीयन्ते।' —प्रमेय० पृ० ७

'निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वन्नाह।'—रत्नकरण्डटी. पृ२

(ख) 'ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः, प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह।' —न्यायकु. पृ० ४२६

'ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनम् ?, तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवात्, इत्याशंक्याह।' —रत्नकरण्डटीका पृ० २४

(ग) 'तथा हि—"भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थितित्वात् अस्मदादिदेहस्थितिवत्" इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्व तत्स्थितेः प्रसाध्येत, कवलाहारपूर्वकत्वं वा ? प्रथमपक्षे 'सिद्धसाध्यता' इत्युक्तम् (आ सयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः इत्यभ्युपगमात्—पृ० ८५६)। द्वितीय विकल्पे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचारः तेषां कवलाहाराभावेऽपि देहस्थितिसंभवात्।' —न्यायकु० पृ० ८५७

'तथा हि। भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वात् अस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनेनोच्यते—अत्र किमाहारमात्रं साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः। देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽपि अस्याः संभवात्।'—रत्नकरण्डटीका पृ० ५

इन अवतरणोंसे जाना जाता है कि यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है—रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचन्द्रकी, जिनका समय वि० की १३वीं, १४वीं शताब्दी बतलाया जाता है, बनाई हुई नहीं है। यह स्मरण रहे कि रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचन्द्रका पूर्वोल्लिखित पट्टारोहणसमय (वि० सं० १३१०) अभ्रान्त नहीं मालूम होता; क्योंकि इन प्रभाचन्द्रके एक शिष्य ब्रह्मनाथूरामने वि० सं० १४१६में 'आराधनापञ्जिका' की लिपि कराई थी[1] और इससे इन प्रभाचन्द्रका समय १४वीं शताब्दीका उत्तरार्ध ज्ञात होता है। और इस लिये पं० आशाधरजीकी सागारधर्मामृतटीका (वि० सं० १२९६)से बहुत पूर्व रची गई इस रत्नकरण्डक-टीकाके रचयिता ये प्रभाचन्द्र कदापि सम्भव नहीं हैं।

४ न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने 'प्रवचनसारसरोजभास्कर' को भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डकारकी ही रचना सिद्ध किया है[2]। इस ग्रन्थकी और रत्नकरण्डटीकाकी प्रारम्भिक उत्थानिकाएँ समाधितन्त्रटीकाकी तरह बिल्कुल एकसी हैं। यथा—

'श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्ट-

---

१ वे उल्लेख ये हैं:—

'यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।' —समाधितंत्रटीका पृ० १५

'तदात्मकत्वञ्चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।' —शब्दाम्भोजभास्कर

२ देखो न्यायकुमुद द्वि० भा० की प्रस्तावना।

१ देखो, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३२।

२ देखो, न्यायकुमुद द्वि० भा० प्रस्तावना पृ० ६३-६४।

देवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह ।'
—प्रवचनसारसरोजभास्कर ।

'श्रीसमन्तभद्रस्वामी, रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्न-करण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह ।' —रत्नकरण्ड-टीका पृ० १ ।

इन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके कर्ता प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है और जिनका समय वि० सं० १०६७ से वि० सं० ११३७ (ई० सन् १०१० से १०८०) है' ।

वीरसेवामन्दिर, १९-१०-४७

सम्पादकीय वक्तव्य

१ अनेकान्तकी वर्ष-समाप्ति—

इस किरणके साथ अनेकान्तका आठवाँ वर्ष समाप्त होरहा है । इस वर्षमें अनेकान्तने पाठकोंकी कितनी सेवा की, कितने महत्वके लेख प्रस्तुत किये, कितनी नई खोजें सामने रक्खीं, क्या कुछ विचार-जागृति उत्पन्न की और समाजके राग-द्वेषसे कितना अलग रहकर यह ठोस सेवा-कार्य करता रहा, इन सब बातोंको बतलानेकी यहाँ जरूरत नहीं—नित्यके पाठक उनसे भलीभाँति परिचित हैं और जो परिचित न हों वे वार्षिक विषय-सूची आदिको देखकर उसका कितना ही आभास प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु मुझे यह प्रकट करते हुए खेद जरूर होता है कि इस वर्ष का कार्यकाल लम्बा अधिक होगया है—उसने १२के स्थानपर २४ मासका समय ले लिया है—और यह अनेकान्तके इतिहासमें पहला ही अवसर है जब वर्ष का आरम्भ होजानेपर उसकी समाप्तिमें इतना समय लगा हो । इस वर्षकी अनेक किरणोंके प्रकाशित होनेमें प्रेस और कागजकी गड़बड़ीके कारण जो असाधारण विलम्ब हुआ उसकी वजहसे पाठकोंको भारी प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा है और यही मेरे लिये खेदका विषय है । प्रतीक्षा करते करते कुछ पाठकोंके तो धैर्यका बाँध ही टूट गया और वे आक्षेपकी भाषा में यद्वा तद्वा जो जीमें आया लिख गये । एक सज्जनने लिखा—'साल शुरू होनेपर नई स्कीमें रखी जाती हैं और लच्छेदार बातोंमें ग्राहक बनाये जाते हैं पर सालमें ४-६ अङ्क देकर चन्दा खतम कर दिया जाता है ।" दूसरे एक विद्यार्थी महाशय यहाँतक कुपित हुए कि वे सम्पादक या प्रकाशकको कोसनेके बजाए सारे जैनसमाजको ही कोसने लगे और आवेशमें आकर लिख गये—"ऐसी जैनसमाज, जो एक ऐसे उच्चकोटिके पत्रका प्रबन्ध नहीं कर सकती, यदि वह संसारसे नष्ट होजाय, तो अच्छा है ।" और कुछने प्रबन्धादिकी भर्त्सना-द्वारा अन्य प्रकारसे ही अपना रोष व्यक्त किया । ग्राहकोंका यह रोष यद्यपि मुझे बुरा नहीं लगा, मैंने उसे अपने लिये एक प्रकारकी चेतावनी समझा और साथ ही यह भी समझा कि पाठकोंको अनेकान्तका समयपर न निकलना कितना अखर रहा है और वे उसके लिये कितने आतुर होरहे हैं । परन्तु फिर भी मैं मजबूर था ।

मैंने पिछले वर्षके अन्तमें अपनी स्थिति और प्रेसके कारण होनेवाली अपनी परेशानीको स्पष्ट कर दिया था । मैं नहीं चाहता था कि प्रेसकी समुचित व्यवस्था हुए बिना पत्रको अगले सालके लिये जारी रक्खा जाय, और इस लिये वैसी व्यवस्थाके अभाव-

१देखो, हालमें लिखा गया 'आ० माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश' नामका मेरा लेख, अनेकान्त वर्ष ८ कि० ८-९ ।

में मुझे पत्रका बन्द कर देना तक इष्ट था। परन्तु कुछ सज्जनों तथा मित्रोंका अनुरोध हुआ कि पत्रको बन्द न करके बराबर जारी रखना चाहिये और उधर श्रीवास्तव प्रेमकी ओरसे यह आश्वासन मिला कि 'अब हम जितने फार्मोंका कोई अङ्क होगा उसे उससे दुगने अथवा अधिकसे अधिक ढाई गुने दिनों में छापकर जरूर दे दिया करेंगे। इसी अनुरोध तथा आश्वासनके बलपर आठवें वर्षका प्रारम्भ किया गया था। आठवें वर्षका प्रारम्भ करते हुए कोई लच्छेदार बातें नहीं बनाई गई, न ऐसी बातोंके द्वारा ग्राहक बनानेका कोई यत्न ही किया गया और न ऐसा कभी हुआ है कि ४-६ अङ्क निकालकर ही चन्दा खतम कर दिया गया हो। हमेशा यह ध्यान रक्खा जाता है कि ग्राहक मैटरकी दृष्टिसे टोटेमें न रहें और मैटर भी प्रायः स्थायी महत्वका होता है—सामयिक समाचारों आदिके रूपमें अस्थायी नहीं, जो पढ़कर फेंक दिया जाय अथवा विलम्बसे पहुँचनेके कारण फीका, बासी या श्री-हीन होजाय। चुनाँचे पिछले वर्षमें सरकारी प्रतिबन्धोंके कारण यदि २२८ पृष्ठका और उससे पहले छठे वर्षमें, जब कोई खास प्रतिबन्ध नहीं था, ३८६ पृष्ठका मैटर ग्राहकोंको दिया गया तब इस वर्ष वह ४७२ पृष्ठका दिया गया है और मैटर भी पहलेके समान उपयोगी तथा स्थायी महत्वका रहा है। साथ ही, मूल्य भी वही गत वर्षों वाला ४) रु० ही रहने दिया गया है; जबकि कागज और छपाईकी मँहगाईके कारण प्रायः सभी पत्रोंका मूल्य बढ़ गया अथवा आकार घट गया है। इससे स्पष्ट है कि मैटरकी दृष्टिसे इस वर्षके ग्राहक जरा भी घाटेमें नहीं रहे बल्कि पिछले वर्षोंकी अपेक्षा लाभमें ही अधिक रहे हैं। अस्तु।

वर्षकी समाप्तिके इस अवसरपर मैं अपने उन विद्वान् बन्धुओंका धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने अपने अच्छे अच्छे लेखों द्वारा इस पत्रकी सेवा की है और इसे उन्नत, उपादेय तथा स्मरणीय बनानेमें मेरा हाथ बटाया है। उन सज्जनोंमें मुनिकान्तिसागरजी, पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, पं० परमानन्दजी शास्त्री, प्रो० हीरालाल जी एम० ए०, बाबू ज्योतिप्रसादजी एम० ए०, श्रीकस्तूरसावजी बी.ए., डा.ए.एन. उपाध्याय एम.ए., श्री अगरचंदजी नाहटा, श्री भँवरलालजी नाहटा, आचार्य बलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, बाबू राजकुमारजी, बाबू पन्नालालजी अग्रवाल, पं० बालचंद जी बी० ए०, पं० के० भुजबलीजी शास्त्री, बाबू दशरथलालजी कौशल, श्रीप्रफुल्लकुमारजी मोदी एम. ए., श्रीदौलतरामजी 'मित्र', पं० काशीरामजी शर्मा, पं० इन्द्रजीतजी, पं० रतनचंदजी मुख्तार, पण्डित अजितकुमारजी शास्त्री, बाबू जयभगवानजी बी. ए., वकील और साहित्याचार्य पं० राजकुमारजीके नाम खासतौरसे उल्लेखनीय हैं। आशा है भविष्यमें अनेकान्तको और भी सुलेखोंका सहयोग प्राप्त होगा और सभीके सहयोगसे यह पत्र ऊँचा उठकर लोकहितकी साधना-द्वारा अपने ध्येयको पूरा करनेमें समर्थ होसकेगा।

अब मैं उन सज्जनोंका भी खासतौरसे आभार प्रकट करता हूं और उन्हें धन्यवाद देता हूं जिन्होंने इस वर्ष समय समयपर अनेकान्तको आर्थिक सहायता भेजी तथा भिजवाई है और जिनके नाम अनेकान्तमें प्रकट होते रहे हैं। उनमें बाबू नन्दलालजी जैन कलकत्ता और उनके पुत्र बाबू शान्तिनाथजी तथा बाबू निर्मलकुमारजी, रायबहादुर हुलासरायजी सहारनपुर, बाबू नेमचंद बालचंदजी उस्मानाबाद, सेठ गुलाबचंदजी टोंग्या इंदौर, श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचंदजी भिलसा, ला० रूड़ामलजी शामियाने वाले सहारनपुर, ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर, ला० फेरूमल चतरसैनजी, मालिक वीरस्वदेशी भण्डार सरधना और ला० प्रकाशचंदजी नानौताके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस वर्षके सम्पादन-कार्यमें मुझसे जो कोई भूलें हुई हों अथवा सम्पादकीय कर्तव्यके अनुरोधवश किये गये मेरे किसी कार्य-व्यवहारसे या स्वतंत्र लेखसे किसी भाईको कुछ कष्ट पहुँचा हो तो उसके लिये

मैं हृदयसे क्षमा-प्रार्थी हूं; क्योंकि मेरा लक्ष्य जानबूझ कर किसीको भी व्यर्थ कष्ट पहुँचानेका नहीं रहा है और न सम्पादकीय कर्तव्यसे उपेक्षा धारण करना ही मुझे कभी इष्ट रहा है।

२ अनेकान्तका अगला वर्ष—

श्रीवास्तव-प्रेसके आश्वासन-भङ्ग और गैरजिम्मेदाराना रवैये आदिके कारण जब अन्तको मई मासके शुरूमें रॉयल प्रेसकी शरण लेनी पड़ी तब यह निश्चित हुआ था कि अनेकान्तके इस वर्षकी अवशिष्ट पाँच किरणोंको तीन महीनेमें निकाल दिया जावेगा, परन्तु कुछ परिस्थितियोंवश वैसा नहीं होसका और इसलिये इन किरणोंके प्रकाशनमें तीनकी जगह आठ महीनेका समय लग गया। इससे मेरा दिल टूट गया और मैं प्रेससे आगेके लिये यथेष्ट आश्वासन न मिलनेके कारण इस पत्रको बन्द करना ही चाहता था कि पं०अजितकुमारजी शास्त्रीने, जो हालमें अपना 'अकलङ्क प्रेस' मुलतानसे सहारनपुर ले आये हैं, मुझे वैसा करनेसे रोका और दृढताके साथ यह आश्वासन दिया कि हम अनेकान्तको अपना ही पत्र समझकर उसे समयपर निकालेंगे, समयपर निकालने के लिये जरूरत पड़नेपर अन्य सबकार्योंको गौण कर देंगे और यदि समयपर न दे सकेंगे तो नियत चार्ज पाने के अधिकारी नहीं होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्री जी समाजके एक कर्मठ विद्वान हैं, उसके पुराने सेवकोंमें से हैं और उनके हृदयमें भी समाज-सेवाकी अपनी-जैसी ही लगन है। वे पहले कई पत्रोंको समयपर निकालते भी आये हैं। अतः आशा है कि वे अपने प्रण को जरूर पूरा करेंगे। उनके इस आश्वासनके बलपर ही पत्रको अगले वर्षके लिये चालू रक्खा गया है। अगला वर्ष जनवरी सन् १९४८ के मध्यसे प्रारम्भ होगा। वार्षिक चन्दा अगले वर्षसे ५) रु० रहेगा, वर्तमान महँगाई और प्रेसोंके बढ़ते हुए चार्जको देखते हुए यह मूल्य भी कम ही है और इससे पत्रका पूरा खर्च नहीं निकल सकता; फिर भी चूंकि अपनी दृष्टि आर्थिक न होकर समाज-सेवाकी है इसीसे अपेक्षाकृत कम मूल्य रक्खा जाता है। इस किरणके मिलते ही प्रेमी पाठकोंको अपना ५)रु.चन्दा मनीऑर्डरसे भेज देना चाहिये, जिससे अगली किरण प्रकाशित होते ही उनके पास ठीक समयपर पहुँच जाय—वी० पी० से भेजनेमें अधिक समय लगता है। अगले वर्षसे पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य सहायक सम्पादकके रूपमें कार्य करेंगे, इससे पाठकोंको और भी कितनी ही बातोंका लाभ रहेगा। अगले वर्षमें इस पत्रको सर्वसाधारणकी दृष्टिसे भी अधिक लोकोपयोगी बनानेका आयोजन हो रहा है।

बाबू छोटेलालजी कलकत्ताकी सहायता और मेरी कृतज्ञता

मेरी धर्मपत्नी तो बीमार चल ही रही थी, किन्तु जुलाईके अन्तमें मैं भी सहसा बीमार होगया और करीब तीन सप्ताह सख्त बीमार रहा। मेरी यह बीमारी टाइफाइडके समान बड़ी भयङ्कर थी और मुझे अपने बचनेकी बहुत कम आशा रही थी; किन्तु मुख्तार साहबकी सद्भावना तथा मित्रवर पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यकी समवेदना, सेवा और दवाई आदिकी व्यवस्थाने मुझे स्वस्थ्य कर दिया। इस स्वस्थ्यतामें मुझे जिनकी अधिक कृतज्ञता प्रकट करनी है वे हैं श्रीमान् बाबू छोटेलालजी रईस, कलकत्ता। आपने कोठियाजीके पत्र द्वारा मेरी और मेरी धर्मपत्नीकी बीमारी सम्बन्धी संकेत पाते ही मेरे इलाजके वास्ते हार्दिक महानुभूतिको लिये हुए दोसौ रुपयेकी आर्थिक सहायता भेजी और बड़ी चिन्ता प्रकट की। मैं बाबू साहबकी इस महानुभूतिपूर्ण उदारताके लिये बहुत ही आभारी और कृतज्ञ हूँ। श्रीमान् प० कैलाशचन्दजी शास्त्री, बनारस आदिने भी मेरी बीमारीपर चिन्ता और सहानुभूति प्रकट की। मैं उनका और कोठियाजीका भी आभारी हूं। यदि इन सबकी सहायता न मिलती तो शायद इतनी जल्दी पूर्ण स्वस्थ्य न हो पाता।

—परमानन्द जैन

परख

(लेखक—स्वर्गीय श्री 'भगवत' जैन)

आचार्य धरसेनने गम्भीर स्वरमें कहा—'जानते हो, किस लिए बुलाया है तुम दोनोंको ?'

विनयसे झुकते हुए दोनों मुनियोंने एक स्वरमें उत्तर दिया—'सिर्फ इतना ही, कि हमें विशेष विद्या-लाभ होगा और वीर-शासनकी सेवाकी योग्यता प्राप्त होगी।'

'ठीक, यही बात है। मेरी इच्छा है, मैं अपने अन्तिम दिनोंमें किन्हीं योग्य शिष्योंको वह ज्ञान सौंप जाऊँ, जिसे मैंने परिश्रमसे अपने जीवनमें सञ्चय किया है, ताकि आने वाले कठोर-युगमें शास्त्र-ज्ञान-द्वारा वीर-शासन दुनियाका कल्याण कर सके। श्रुत-ज्ञानकी रक्षा होसके।'

पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों चुप, सुनतेभर रहे।

फिर वे बोले (इसबार वाणीमें प्रसन्नताकी पुट थी)—'पर, इस सबके लिए योग्य शिष्योंकी जरूरत थी। शेरनीके दूधके लिए स्वर्णपात्रकी आवश्यकता होती ही है, उसके बिना वह दुर्लभ वस्तु ठहर नहीं सकती। मैं चिन्तित था, मेरी निगाहमें वैसा कोई शिष्य न था—प्रसन्नतापूर्वक विद्या-विभूति जिसके सुपुर्द की जासकती। अतः तुम्हारे गुरु आचार्य महासेनसे निवेदन किया गया कि वे अपने साहसी, सूक्ष्मबुद्धि, विनम्र और ग्रहण-धारणमें समर्थ दो सुशील विद्यार्थी मुझे दें। मुझे प्रसन्नता है कि उन्होंने तुम्हारे जैसे नम्र और चतुर विद्यार्थी मुझे देकर मेरी सहायता की है। काश! तुम्हारे द्वारा मेरी सद्-इच्छा सफलीभूत हो।'

पुष्पदन्तने अविलम्ब श्रीपदोंमें सिर नवाते हुए कहा—'भविष्यपर निर्भर है—गुरुवर्य! समयसे पूर्व कुछ कहना अनधिकार चेष्टा होगी।'

आचार्यने मन्दमुस्कानसे दोनों निर्ग्रन्थ—विद्यार्थियोंकी ओर देखा। देखा सचमुच अहङ्कारसे रीते हैं—दोनों विनम्रतासे पूर्ण विद्या-पात्र ।

और यह देख उनका मन आनन्दसे भर गया। अपनी कामनाके अनुकूल वस्तु पाकर कौन खुश नहीं होता ?

कई दिन आचार्य-चरणोंमें बीत गए दोनोंके। नहीं कहा जा सकता—ज्ञानकोष आचार्यवर्यने क्या-क्या अन्वेषण किया उन दोनोंके गुण-दोषोंका ?

एक दिन बोले—'एक मन्त्र मैं तुम दोनोंको देता हूँ। विधि-पूर्वक साधन करो। विद्या जब सिद्ध होजाय, तब मुझे आकर कहना—समझे ?

पुष्पदन्तने कहा—'जैसी आज्ञा'।

मन्त्र उन्हें बतला दिया गया—सविधि।·········

और उन्हें इजाज़त दी, जाने की। वह चले गए। भूतबलिकी बारी आई। उन्हें भी मन्त्र दे, विदा किया।

अकेले आचार्य महाराज बैठे रहे मौन! शायद सोच रहे थे—'बुद्धिवादकी परीक्षामें ये उत्तीर्ण होते हैं, या अनुत्तीर्ण? निजी पूंजी भी कुछ है या रटन्त—विद्यार्थी बने हुए मार्गपर चलनेके आदी (अभ्यासी) हैं, या स्वयं अपना मार्ग निर्माण करनेकी भी क्षमता है इनके पास·················?'

* * *

गिरनार-शैलके पावन क्षेत्रमें—भगवान नेमिनाथ की निर्वाण-शिलापर बैठ गए—दोनों मन्त्र-साधन-के लिए।

अचल, सुमेरुकी तरह! ध्यानस्थ !! निःस्पृह !!!

नासाग्र-भागपर दृष्टि! एक दूसरेकी दृष्टिसे ओझल! चिन्तासे शून्य! अपने आपमें तन्मय!

एकान्त-स्थान! वैराग्यमय !!

मन्त्र-साधन जब समाप्तिकी ओर बढ़ा, तो पुष्पदन्तके सामने एक देवी आई—वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत, सुन्दर शरीर!

'पर, यह विकृति क्यों ?'—पुष्पदन्तके मनमें प्रश्न उठा!

भर-नज़र देखा—देखा कि देवीके एक चक्षु है—कानी है!

सोचने लगे वह—'अचरजकी बात है कि स्वर्ग-वासिनी बदसूरत दिखलाई दे रही है—मुझे? क्या देवी कानी हो सकती है?—कदापि नहीं! फिर ? तब क्या मन्त्रमें कुछ हीनाधिकता है, अशुद्धि है, विकृति है?'

समाधानके लिए उन्होंने मन्त्रकी जाँच करना तय किया! व्याकरणकी कसौटीपर कसा तो सचमुच एक अक्षर कम था उसमें! अङ्ग-भङ्ग था वह!

मन्त्र सुधार कर फिर साधन करने लगे। इस बार जो देवी नज़र पड़ी, वह पूर्ण सुन्दरी थी!

और तभी उन्हें विद्या सिद्ध होगई!

* * *

भूतबलिके साथ भी करीब-करीब वैसी ही घटना घटी, जैसी पुष्पदन्तके साथ! फ़र्क सिर्फ इतना ही रहा कि उन्हें कानी देवीके दर्शन हुए तो इन्हें उसके स्थानपर एक दूसरे प्रकारकी बदशक्ल देवीके! यों, वह देवी रङ्ग-रूपमें बुरी नहीं थी। तमाम शरीर सुन्दर था—उसका! लेकिन दाँत इतने बड़े थे कि ओठोंसे बाहर निकले हुए थे। सारी सुन्दरतापर जिन्होंने पानी फेर दिया था। और वह देवी सचमुच में भयानक राक्षसी-सी कुरूपा होगई थी। दाँतोंका सौन्दर्यके साथ कितना गहरा सम्बन्ध है, यह उसकी शक्लसे साफ प्रकट होरहा था।

भूतबलि चकराए!

'देवी और कुरूपा ? यह कैसे ····?' बुद्धिने प्रश्न उठाया।

विवेकने कहा—'नहीं यह नहीं होता। देवियाँ कुरूप नहीं होतीं, हाँ बन ज़रूर सकती हैं, अपनी विक्रियासे! फिर ··· ?'

'मालूम होता है—मन्त्रमें कुछ गलती है। नहीं तो फिर दूसरी वजह क्या हो सकती है, इस अवसर पर? शायद कोई नहीं!'

भूतबलिकी तीक्ष्ण-बुद्धिने विकृतिकी जड़को पकड़ लिया।

मन्त्रकी शुद्धता परखी, तो उसे अशुद्ध रूपमें पाया। एक अक्षर अधिक!

सुधारा! संशोधन-पूर्वक जब उसका पुनः साधन किया, तो साधना सफल हुई! सुन्दराकार देवी सामने आई!

विद्याने दासीत्व स्वीकार किया।

* * *

आचार्य महाराजकी प्रसन्नता सीमा लाँघ गई—जब उन्होंने यह जाना, कि दोनोंने विद्या प्राप्त करली।

वे बोले—'अब मुझे विश्वास होगया, कि तुम दोनों सचमुच शास्त्रके ग्रहण, धारण और प्रचार-द्वारा वीर-शासन-सेवाकी योग्यता रखते हो। तुम मेरी परीक्षामें उत्तीर्ण हुए हो। और इससे मुझे जो खुशी मिल रही है, उसे प्रकट नहीं किया जा सकता।'

दोनोंकी गर्दनें सङ्कोचसे झुक गईं। दोनों मौन, निरुत्तर!!

वे कहते गए—'मैंने सोचा, असंख्य प्राणियोंके कल्याणका भार मैं जिनके ऊपर रखना चाहता हूँ, युग-युगों तक जिनका सत्प्रयत्न संसारको सुख और शान्तिका मार्ग बतानेके लिए अग्रगामी रहेगा, उनकी परख होना अत्यन्त आवश्यक है, निहायत ज़रूरी है। सच है, कि मैंने कई दिनके सम्पर्कमें तुम्हें बहुत कुछ जान लिया था कि तुम क्या हो। लेकिन मार्ग-निर्माणकी कितनी क्षमता रखते हो, गतिशील बुद्धि-में कितनी उग्रता है—सूक्ष्मता है, यह रहस्यमय ही बना रहा। इसी सन्देहको मिटानेके लिए तुम दोनों को एक मन्त्र दिया, जिसके अक्षरोंमें कमी-वेशी थी। और तुमने उसका संशोधन कर साबित कर दिया, कि हमारे पास केवल रटन्त-विद्या ही नहीं है, तार्किक बुद्धि एवं जाँचकी कसौटी भी है। लकीरके फ़कीर नहीं हैं, वरन् लकीर खींचकर फ़कीरोंको उसपर चलानेकी ताकत रखते हैं।'

दोनोंने मुँह खोला—'किस योग्य हैं हम महाराज? प्रशंसाके योग्य हैं ये आपके चरण, जिनकी शरणमें हम आए हैं।'

* * *

वन्दनीय आचार्य धरसेनने कितना—क्या दिया दोनोंको, यह इससे स्पष्ट होजाता है कि सिद्धान्त शास्त्रके उद्धारका—आगम सूत्रोंकी रचनाका—प्रधान श्रेय पुष्पदन्त और भूतबलि दोनोंको प्राप्त हुआ है।

श्रीजुगलकिशोर मुख्तार-सम्पादित

अनेकान्तके आठवें वर्षकी विषय-सूची

विषय और लेखक	पृष्ठ

अतिशय क्षेत्र चन्द्रवाड—[पं० परमानन्द शास्त्री ३४५
अदृष्टवाद और होनहार—[श्रीदौलतराम 'मित्र' १९२
अपभ्रंश भाषाका जैन कथा-साहित्य—[पं० परमानन्द जैन शास्त्री २७३
अमृतचन्द्रसूरिका समय [पं० परमानन्द शास्त्री १७३
अहिंसा और मांसाहार—[प्रिन्स० ए० चक्रवर्ती १४८
आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चयटीका—[न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल २
आचार्य माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश—[न्या. पं. दरबारीलाल जैन ३४९, ३७४
आत्मविश्वास ही सफलताका मूल है—[श्रीअखिलानन्द रूपराम शास्त्री ... १३८
आत्मानुशासनका एक सन्दिग्ध पद्य—[श्रीलक्ष्मीनारायण जैन २४
आधुनिक भाषाओंकी व्युत्पत्तिके लिये जैन साहित्यका महत्व—[बा. ज्योतिप्रसाद एम.ए. २२५
आधुनिक साहित्यमें प्रगति क्योंकर हो ?—[मुनि कान्तिसागर १२१
आध्यात्मिक पद्य—[कविवर द्यानतराय १३२
एक ऐतिहासिक अन्तः साम्प्रदायिक निर्णय—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए. १६९
एक प्राचीन ताम्र-शासन—[सम्पादक २८५
ऐतिहासिक घटनाओंका एक संग्रह—[सम्पादक ३६९
कविवर लक्ष्मण और जिनदत्तचरित—[पं परमानन्द जैन शास्त्री ४००
कविवर बनारसीदास और उनके ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ—[मुनि कान्तिसागर ४०२
कायरता घोर पाप है—[श्रीअयोध्याप्रसाद २५७
कौनसा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?—[न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल जैन, कोठिया ... ११५, १६२
क्या खाक वसन्त मनाऊँ मैं ?—(कविता)—[पं. काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' ८५
क्या तीर्थंकर प्रकृति चौथे भवमें तीर्थंकर बनाती है ?—[बा. रतनचन्द मुख्तार १९९
क्या मथुरा जम्बूस्वामीका निर्वाणस्थान है ?—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ६५
खजुराहाके मन्दिरोंसे (कविता)—[श्रीइकबाल-बहादुर ६९
गदरसे पूर्वकी लिखी हुई ५३ वर्षकी 'जंतरी खास'—[सम्पादक १०
गोम्मटसार और नेमिचन्द्र—[सम्पादक ३०१
ग्रन्थ और ग्रन्थकार (मूलाचार और कार्तिकेयानुप्रेक्षा)—[सम्पादक .. २२७
चारित्र्यका आधार—[श्रीकाका कालेलकर २६३
चित्तौड़के जैन कीर्तिस्तम्भका निर्माणकाल एवं निर्माता—[श्रीअगरचन्द नाहटा १३९
जैसलमेरके भंडारोंमें प्राप्त कुछ नवीन ताडपत्रीय प्रतियाँ—[श्रीअगरचन्द भंवरलाल नाहटा ४४
जैन-गुण-दर्पण (कविता)—[जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ३७५
जैनधर्ममें वर्णव्यवस्था कर्मसे ही है, जन्मसे नहीं—[पं. इन्द्रजीत जैन, न्यायतीर्थ, शास्त्री २०५
जैनवाङ्मयका प्रथमानुयोग—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए. १६६
जैन सरस्वती—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए., एल-एल. बी. ६१
जैनसंस्कृतिकी सप्ततत्त्व और षट्द्रव्यव्यवस्थापर प्रकाश [पं. वंशीधर जैन, व्याकरणाचार्य १८०
जैनसंस्कृति-संशोधन-मण्डलपर अभिप्राय—[पं० दरबारीलाल जैन ७९

विषय और लेखक	पृष्ठ
जैन स्थापत्यकी कुछ अद्वितीय विशेषताएँ—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.	३४३
जैनादर्श (जैनगुणदर्पण संस्कृत)—['युगवीर'	३५४
जैनियोंपर घोर अत्याचार—[प्रो. हेमुल्ट ग्लाजेनाप	८०
जोगिचर्या—[पं. परमानन्द जैन, शास्त्री	३९८
तेरह काठिया—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम.ए.	३९५
तेरह काठिया-सम्बन्धी श्वे० साहित्य—[श्रीअगरचन्द नाहटा	४५७
९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध क्यों?—[न्या. पं. दरबारीलाल जैन, कोठिया	२४७
त्रिभुवनगिरि व उसके विनाश सम्बन्धमें विशेष प्रकाश [श्रीअगरचन्द नाहटा	४५६
दक्षिण भारतके राजवंशोंमें जैनधर्मका प्रभाव—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.	३५६
दिगम्बर जैन आगम—[आचार्य बलदेव उपाध्याय एम. ए.	४५३
दिल्ली और दिल्लीकी राजावली—[पं. परमानन्द जैन, शास्त्री	७१
देहलीके जैनमन्दिर और जैन संस्थाएँ—[बा. पन्नालाल जैन, अग्रवाल	२१७
देहली धर्मपुरेका दि. जैनमन्दिर—[बा. पन्नालाल जैन, अग्रवाल	१३३
धर्म और नारी—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम.ए.	२६५
धर्मरत्नाकर और जयसेन नामके आचार्य—[पं. परमानन्द जैन, शास्त्री	२००
धवला प्रशस्तिके राष्ट्रकूट नरेश—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए., एल-एल. बी.	९७
परख (कहानी)—[स्व. 'श्रीभगवत' जैन	४३९
परमात्मवन्दन—[सम्पादक	१
पापभार-वहनकी मर्यादा—[सम्पादक	१०१
प्रतिष्ठासारका रचनास्थल—[के. भुजबली शास्त्री	३६३
प्राचीन जैनमन्दिरोंके ध्वंससे निर्मित मस्जिदें—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.	२७९
फल (कहानी)—[बा. राजकुमार जैन	३२३
बङ्गालके कुछ प्राचीन जैन स्थल—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.	२६१
बच्चोंकी दर्दनाक दशा और प्राकृतिक चिकित्सा—[पं. श्रेयांसकुमार जैन, शास्त्री	१३५
बौद्धाचार्य बुद्धघोष और महावीरकालीन जैन—[बा. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.	१०६
भगवत्-शरणमें कारण—[सम्पादक	६७
भगवान महावीर—[पं. परमानन्द जैन, शास्त्री	११७
भगवान महावीर और उनका सन्देश—[श्री कस्तूरसावजी जैन, बी. ए., बी. टी.	१७,२३७
भट्टारकीय मनोवृत्तिका एक नमूना—[सम्पादक	२८७
भविष्यवाणी (कविता)—[पं. काशीराम शर्मा	१०८
मनुष्यनीके 'संजद' पदके सम्बन्धमें विचारणीय शेष प्रश्न—[डा. हीरालाल जैन, एम.ए.	१६३
महाकवि सिंह और प्रद्युम्नचरित—[पं. परमानन्द जैन, शास्त्री	३८९
महाकवि हरिचन्दका समय—[पं. कैलाशचन्द जैन, शास्त्री	३७६
महावीर-उपदेशावतार [पं. अजितकुमार शास्त्री	४१
महाशक्ति (कविता)—['शशि'	१७२
मेरी रणथंभौर-यात्रा—[श्रीभंवरलाल नाहटा	४४४
युग-गीत (कविता)—[पं. काशीराम शर्मा	३६२
रक्षाबन्धनका प्रारम्भ—[पं. बालचन्द्र बी.ए.	४०८
रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक-कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं—[प्रो. हीरालाल जैन एम. ए.	२६, ८६, १२५
रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक-कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है—[न्या०पं. दरबारीलाल जैन, कोठिया	१५४, २८२, ३२८, ३१५
रत्नकरण्डक-टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय—[न्या पं. दरबारीलाल जैन	४६६
रहीमें प्राप्त हस्तलिखित जैन-अजैन ग्रन्थ—[सम्पादक	४४९
राजगृहकी यात्रा—[न्या. पं. दरबारीलाल जैन	१७५
रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र—[सम्पादक	४३७
वनस्पति घी—[महात्मा गांधी	२४६
वानर-महाद्वीप (संपादकीय नोट सहित)—[प्रो. ज्वालाप्रसाद सिंहल	५४
विविध विषय—[जे. पी.	२८९

विषय और लेखक	पृष्ठ
वीतरागस्तोत्र (कल्याणकीर्तिकृत)—[संपादक	२३३
वीतरागस्तोत्र (पद्मनन्दिकृत)—[सम्पादक	३५५
वीरके सन्देशकी उपेक्षा—[प्रभुलाल जैन 'प्रेमी'	१९३
वीर-वाणीकी विशेषताएँ और संसारको उसकी अलौकिक देन—[बा. दशरथलालजैन कौशल	१२२
वीर-सन्देश—[पं. ब्रजलाल जैन, विशारद	१९५
वीरसेनस्वामीके स्वर्गारोहण-समयपर एक दृष्टि—[पं. दरबारीलाल जैन, कोठिया	१४४
वीरसेवामन्दिरमें वीरशासनजयन्तीका उत्सव-[पं. दरबारीलाल जैन, कोठिया	४२८
वीरोपदेश—[पं. लोकमणि जैन	१०२
वैज्ञानिकयुग और अहिंसा-[श्रीरतन जैन पहाड़ी	३२६
श्रीजम्बूजिनाष्टकम् (कविता)—[श्री पंडित दरबारीलाल जैन, कोठिया	९
श्रीधर या विबुध श्रीधर नामके विद्वान्—[पं. परमानन्द जैन, शास्त्री	४६२
श्रीधवलका रचनाकाल—[श्री प्रफुल्लकुमार मोदी	३७
सच्चा कर्मयोगी (कविता)—[श्रीमाधव शुक्ल	४७
समन्तभद्रभारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक	१४५, २२१, २९७, ३६५, ४३३
सम्पादकीय—	२१५, ४६९
सम्पादकीय वक्तव्य (भारतकी स्वतंत्रता, उसका झण्डा और कर्त्तव्य)	३८३
सर राधाकृष्णनके विचार	२३४
"संजद" पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्वपूर्ण अभिमत—[न्या. पं. दरबारीलाल जैन	८३
संस्कृत कर्मप्रकृति—[सम्पादक	४४१
साम्प्रदायिक दंगे और अहिंसा—[बा. राजकुमार जैन	२३५
साहित्य-परिचय और समालोचन—	१०४, २१३, २९५, ४२९, ४५८
साहित्यप्रेमी श्रीअगरचंदजी नाहटा—[श्री हजारीमल बाँठिया	३९
स्व० बाबू सूरजभान जी वकील—[श्रीदौलतराम 'मित्र'	५५
हम आजादीके द्वार खड़े हैं (कविता)—[पं. काशीराम शर्मा	१५३
हमारी यह दुर्दशा क्यों ?—[सम्पादक	१०९
हरिषेणकृत अपभ्रंश 'धर्मपरीक्षा'—[प्रो. ए. एन. उपाध्ये	४८, ९०
हृदय है बना हुआ फुटबाल (कविता)—['युगवीर'	६८

वीरसेवामन्दिरकी सहायता-प्राप्ति

गत किरण (१०-११) में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिर सरसावाको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

१०१) दि० जैन पुरुषसमाज व स्त्रीसमाज सरसावा (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें) द्वारा पं० दरबारीलाल कोठिया।
५०) बाबू नन्दलालजी सोनी मालिक फर्म चम्पालाल छोगालालजी (फर्मके पिछले दानमेंसे)।
११) ला० बिशेसुरनाथ मूलचंदजी, टिम्बरमर्चेन्टस, कानपुर (दशल० उपलक्षमें संभवतः गोलकों द्वारा प्राप्त)।
१०) श्रीदि० जैनसमाज बाराबङ्की (संभवतः दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें), द्वारा कन्हैयालालजी जैन, बाराबङ्की।
५) श्रीदि० जैन पञ्चायत गया (दशल०के उपलक्षमें) द्वारा मंत्री मोहनलालजीके। —अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

मुख्तार साहबकी ७१वीं वर्षगांठ

जैन-साहित्य और इतिहासके महान् सेवक तथा वीरसेवामन्दिरके संस्थापक व अधिष्ठाता श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अगहन (मङ्गसिर) शुक्ला एकादशी ता० २३ दिसम्बरको अपने ७०वें वर्षको पूर्ण करके ७१वें वर्षमें प्रविष्ट हुए हैं। अपनी इस वर्षगाँठके अवसरपर मुख्तार साहबने जहाँ कुछ नियम लिये हैं वहाँ २५५) रु० का दान भी दिया है। यह दान १३ तीर्थादि धर्मस्थानों ११ जैन पत्रों और २६ जैनसंस्थाओंको समानरूपसे दिया गया है, जिनके नाम अगली किरणमें प्रकट किये जायेंगे। वर्षगाँठके इसअवसरपर दिये गये प्रीतिभोजके समय आपके दीर्घायुष्यकी शुभकामनाएँ की गईं और कितनी ही शुभभावनाएँ गाई गईं।

—दरबारीलाल जैन कोठिया

Regd. No. A-736.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ अनित्यभावना—मुख्तार श्री जुगलकिशोरके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मू० ।)

२ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या सहित। मू० ।)

३ सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ—मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना, ३ साधुवेशनिदर्शक-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्ल-की अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया और पण्डित परमानन्द शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

५ उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मू० ।)

६ न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)—न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्याय-दीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उनके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे सङ्कलित है, साथमें सम्पादक द्वारा नवनिर्मित 'काशाख्य' नामका एक संस्कृत टिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज़ है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द वृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

७ विवाह-समुद्देश्य—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्विक विवेचन किया गया है, अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याओंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टि स्पष्टीकरण द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? उसकी असली गरज और सैद्धान्तिक स्थिति क्या है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रमसे उसका क्या सम्बंध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम हो सकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकका बड़ा ही युक्ति-पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। मू० ॥)

प्रकाशन-विभाग—
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये, श्यामलाल(?) खत्री द्वारा रॉयल प्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित

विषय-सूची

१—समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक] २९७
२—गोम्मटसार और नेमिचन्द्र—[सम्पादकीय] ३०१
३—फल (कहानी)—[बाबू राजकुमार] ३२३
४—वैज्ञानिक युग और अहिंसा—[श्रीरतन जैन पहाड़ी] ३२६
५—रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है—[न्या० पं० दरबारीलाल कोठिया] ३२८
६—जैन स्थापत्यकी कुछ अद्वितीय विशेषताएँ—[बाबू ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०] ३४३
७—अतिशय क्षेत्र चन्द्रवाड—[पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री] ३४५
८—आ० माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश—[न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया] ३४९
९—जैनादर्श (जैनगुण-दर्पण)—[युगवीर] ३५४
१०—वीतराग स्तोत्र (पद्मनन्दिकृत)—[सम्पादक] ३५५
११—दक्षिण भारतके राजवंशोंमें जैनधर्मका प्रभाव-[बाबू ज्योतिप्रसाद जैन बी० ए०, एल० एल० बी०] ३५६
१२—युग-गीत (कविता)—[पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'] ३६२
१३—प्रतिष्ठासारका रचनास्थल—[के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण] ३६३

वीर-शासन-जयन्तीकी पुण्यतिथि

श्रीवीर-शासन-जयन्तीकी पुण्यतिथि श्रावण कृष्ण प्रतिपदा जो इस वर्ष शुक्रवार ता० ४ जुलाईको पड़ती है, इतिहासमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है, और एक ऐसे सर्वोदय धर्मतीर्थकी जन्म-तिथि है कि जिसका लक्ष्य सर्वप्राणी हित रहा है। इसी दिन अहिंसाके अवतार भगवान महावीरका तीर्थ-प्रवर्तित हुआ था, उनके धर्म-शासनका प्रारम्भ हुआ था, लोक हितार्थ उनका सर्व प्रथम दिव्य उपदेश हुआ था, उन्होंने सभी प्राणियोंको उनके कल्याणका संदेश सुनाया था, दुखोंसे छूटनेका सहज सुगम मार्ग बताया था, लोगोंको उनकी भूलें सुझाई थीं, उनके वहम छुटाये थे, और यह बताया था कि सच्चा सुख और सच्ची आजादी अहिंसामयी आचरण, अनेकान्तात्मक उदार दृष्टिकोण एवं समता रूप परिणामोंके अपनानेमें ही है, इसीसे सर्व बन्धनोंका नाश, गुलामीका अन्त और परतन्त्रतासे वास्तविक मुक्ति मिल सकेगी। उन्होंने बताया कि सब ही प्राणियोंकी आत्माएँ समान हैं और अपना उत्थान एवं पतन प्रत्येक व्यक्तिके अपने ही हाथमें है, उसके लिये दूसरोंका सहारा तकना या उन्हें दोष देना भूल है। भगवान महावीरद्वारा प्रतिपादित आत्म-विकास एवं आत्म-कल्याणका मार्ग सीधा, सरल और वास्तविक है। उससे पीड़ित-पतित, मार्गच्युत जनोंको अपने उद्धारका आश्वासन मिला, स्त्री व शूद्रादिकोंपर होने वाले अत्याचारोंका अन्त हुआ, समाजगत ऊँच-नीचके भेद-भाव धर्म-साधनमें बाधक न बने रह सके, जीवहिंसा, पशुबलि, अभक्ष्य-भक्षण, कुव्यसन-सेवन तथा अन्याय-कार्योंसे जनताकी प्रवृत्ति हटने लगी। शान्ति, सदाचार, उदारता, सद्भावना और धार्मिकताका युग अवतीर्ण हुआ। प्राचीन भारतमें उसी दिनसे वर्षका प्रारम्भ भी हुआ करता था। अस्तु, वीर-शासन-जयन्तीकी यह पुण्यतिथि सर्व-लोकहित, सर्वोत्थान, विश्वबन्धुत्व एवं सार्वजनिक स्वाधीनताकी प्रतीक है और इन उद्देश्योंमें आस्था रखने वाले प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह इस पुण्यपर्वको यथार्थरूपमें मनाये।

वीरसेवामन्दिर (सरसावा) में यह उत्सव गत वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी, शुक्रवार ४ जुलाईको मनाया जायगा। आशा है, सभी वीरशासन-प्रेमी अपने-अपने स्थान, नगर, ग्रामादिकमें भी उसे मनानेका उपयुक्त आयोजन करेंगे।

—जुगलकिशोर मुख्तार

* ॐ अर्हम् *
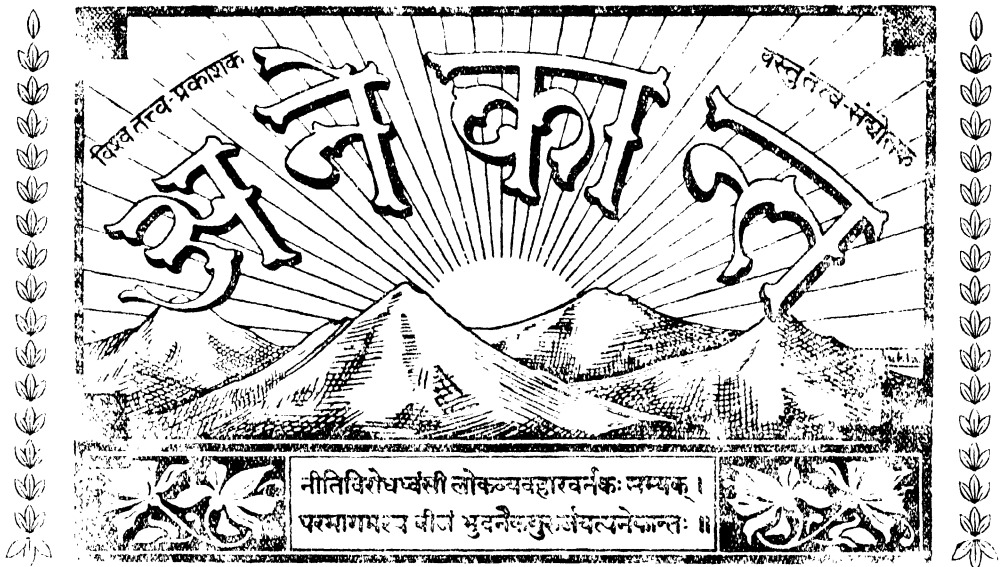
वर्ष ८ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | जनवरी-फर्वरी
किरण ८-९ | माघ फाल्गुण शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४७३, विक्रम सं० २००३ | १९४७

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन

---*---

तथा न तत्कारण-कार्य-भावो निरन्वयाः केन समानरूपाः ? ।
असत्खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं दृष्टं न सिद्ध्यत्युभयोरसिद्धम् ॥१२॥

'(जिस प्रकार सन्तानभिन्न चित्तमें वासना नहीं बन सकती) उसी प्रकार सन्तानभिन्न चित्तोंमें कारण-कार्य-भाव भी नहीं बन सकता—सन्तानभिन्न चित्तोंमें भी कारण-कार्य-भाव माननेपर देवदत्त और जिनदत्तके चित्तोंमें भी कारण-कार्य-भावके प्रवर्तित होनेका प्रसङ्ग आएगा, जो न तो दृष्ट है और न बौद्धोंके द्वारा इष्ट है।'

'(यदि यह कहा जाय कि एक सन्तानवर्ती समानरूप चित्तक्षणोंके ही कारण-कार्य-भाव होता है, भिन्नसन्तानवर्ती असमानरूप चित्तक्षणोंके कारण-कार्य-भाव नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) जो चित्त-क्षण क्षणविनश्वर निरन्वय (सन्तान-परम्परासे रहित) माने गये हैं उन्हें किसके साथ समानरूप कहा जाय ?—किसी भी स्वभावके साथ वे समानरूप नहीं हैं, और इसलिये उनमें कारण-कार्य-भाव घटित नहीं हो सकता। सत्स्वभाव अथवा चित्स्वभावके साथ समानरूप माननेपर भिन्नसन्तानवर्ती देवदत्त और जिनदत्तके चित्त-क्षण भी सत्स्वभाव और चित्स्वभावकी दृष्टिसे परस्परमें कोई विशेष न रखनेके कारण समानरूप ठहरेंगे और उनमें कारण-कार्य-भावकी उक्त आपत्ति बदस्तूर बनी रहेगी।'

'(यदि हेत्वपेक्ष-स्वभावके साथ समानरूप माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि जो चित्त उपादान-उपादेय-भावको लिये हुए हैं—पूर्व पूर्वका चित्त जिनमें उत्तरोत्तरवर्ती चित्तका उपादान कारण है—वे ही एकसन्तानवर्ति-चित्त परस्परमें समानरूप हैं और उन्हींके कारण-कार्य-भाव घटित होता है—सन्तानान्तरवर्ति-चित्तोंके नहीं, तो इसमें यह विकल्प उत्पन्न होता है कि उत्तरवर्ती-चित्त उत्पन्न और सत् होकर अपने हेतुकी अपेक्षा करता है या अनुत्पन्न और असत् होकर। प्रथम पक्ष तो बनता नहीं; क्योंकि सत्के सर्वथा निराशंसत्व (अवक्तव्यपना) माननेसे उसे हेत्वपेक्षरूपमें नहीं कहा जा सकता। और उत्पन्नके हेत्वपेक्षत्वका विरोध है—जो उत्पन्न होचुका वह हेतुकी अपेक्षा नहीं रखता। दूसरा पक्ष माननेपर) जो (कार्यचित्त) असत् है—उत्पत्तिके पूर्वमें जिसका सर्वथा अभाव है—वह आकाशके पुष्प-समान हेत्वपेक्ष नहीं देखा जाता और न सिद्ध होता है; क्योंकि कोई भी असत्पदार्थ हेत्वपेक्षके रूपमें वादी-प्रतिवादी दोनोंमेंसे किसीके भी द्वारा सिद्ध (मान्य) नहीं है, जिससे उत्तरोत्तर चित्तको अनुत्पन्न होनेपर भी तद्धेत्वपेक्ष सिद्ध किया जाता। हेतुके अभावमें कैसे कोई एक-सन्तानवर्ती चित्तक्षण हेत्वपेक्षत्वके साथ समानरूप सिद्ध किये जा सकते हैं, जिससे उनके उपादान-उपादेयरूपका कारण-कार्य-भाव घटित होसके ? नहीं किये जा सकते। वास्य-वासक-भावरूप हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि एक सन्तानवर्ति-क्षणविनश्वर-निरन्वय चित्तक्षणोंमें, भिन्नसन्तानवर्ति-चित्तक्षणोंकी तरह, वासनाका सम्भव नहीं होता।'

नैवाऽस्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा सन्तान-भिन्न-क्षणयोरभावात् ॥१३॥

(परमार्थसे तो) क्षणिकात्मवादमें हेतु बनता ही नहीं। क्योंकि हेतुको यदि सत्रूप माना जाय—सत्रूप ही पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्तक्षणका हेतु है ऐसा स्वीकार किया जाय—तो इससे विभवका प्रसङ्ग आता है। अर्थात् एक क्षणवर्तीचित्तमें चित्तान्तरकी उत्पत्ति होनेपर उस चित्तान्तरके कार्यकी भी उसी क्षण उत्पत्ति होगी, और इस तरह सकलचित्त और चैत्तक्षणोंके एकक्षणवर्ती होजानेपर सकल जगत-व्यापी चित्त-प्रकारोंकी युगपत् सिद्धि ठहरेगी। और ऐसा होनेसे, जिसे क्षणिक कहा जाता है वह विभुत्वरूप ही है—सर्व व्यापक है—यह कैसे निवारण किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता। इसके सिवाय, एकक्षणवर्ती सत्चित्तके पूर्वकाल तथा उत्तरकालमें जगत्चित्त शून्य ठहरता है और सन्तान-निर्वाण-रूप जो विभव-मोक्ष है वह सबके अनुपाय (बिना प्रयत्नके ही) सिद्ध होता है, और इस लिये सत् हेतु नहीं बनता। (इस दोषसे बचनेके लिये) यदि हेतुको असत् ही कहा जाय तो अकस्मात्—बिना किसी कारणके ही—कार्योत्पत्ति-का प्रसङ्ग आएगा। और इस लिये असत् हेतु भी नहीं बनता।'

'(यदि आकस्मिक कार्योत्पत्तिके दोषसे बचनेके लिये कारणके नाशके अनन्तर दूसरे क्षणमें कार्यका उदय उत्पाद न मानकर नाश और उत्पादको एक क्षणवर्ती माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि जिसका नाश ही कार्यका उत्पाद है वह उस कार्यका हेतु है तो यह भी नहीं बनता; क्योंकि) सन्तानके भिन्न क्षणोंमें नाश और उदयकी एक-क्षणताका अभाव होनेसे नाशोदयैकक्षणतारूप युक्ति सदोष है—जैसे सुषुप्त सन्तानमें जाग्रत चित्तका जो नाश-क्षण (-काल) है वही प्रबुद्ध चित्तका उदय-क्षण नहीं है, दोनोंमें अनेकक्षणरूप मुहूर्तादि कालका व्यवधान है, और इसलिये जाग्रत चित्तको प्रबुद्ध चित्तका हेतु नहीं कहा जा सकता। अतः उक्त सदोष युक्तिके आधारपर आकस्मिक कार्योत्पत्तिके दोषसे नहीं बचा जा सकता।'

कृत-प्रणाशाऽकृत-कर्म-भोगौ स्यातामसञ्चेतित-कर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलय-स्वभावे मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥१४॥

'यदि पदार्थको प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक माना जाय—यह कहा जाय कि जिस प्रकार बौद्ध-मान्यतानुसार बिना किसी दूसरे कारणके ही प्रलय (विनाश) आकस्मिक होता है, पदार्थ प्रलय-स्वभावरूप हैं, उसी प्रकार कार्यका उत्पाद भी बिना कारणके ही आकस्मिक होता है—तो इससे कृत-कर्मके भोगका प्रणाश ठहरेगा—पूर्व चित्तने जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किया उसके फलका भोगी वह न रहेगा और इससे किये हुए कर्मको करने वालेके लिये निष्फल कहना होगा—और अकृत-कर्मके फलको भोगनेका प्रसंग आएगा—जिस उत्तरभावी चित्तने कर्म किया ही नहीं उसे अपने पूर्वचित्त-द्वारा किये हुए कर्मका फल भोगना पड़ेगा—; क्योंकि क्षणिकात्मवादमें कोई भी कर्मका कर्ता चित्त उत्तर-क्षणमें अवस्थित नहीं रहता किन्तु फलकी परम्परा चलती है। साथ ही, कर्म भी असंचेतित-अविचारित ठहरेगा—क्योंकि जिस चित्तने कर्म करनेका विचार किया उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो जानेसे और विचार न करने वाले उत्तरवर्ती चित्तके द्वारा उसके सम्पन्न होनेसे उसे उत्तरवर्ती चित्तका अविचारित कार्य ही कहना होगा।'

'(इसी तरह) पदार्थके प्रलय-स्वभावरूप क्षणिक होने पर कोई मार्ग भी युक्त नहीं रहेगा—सकल आस्रव-निरोधरूप मोक्षका अथवा चित्त-सन्ततिके नाशरूप शान्त-निर्वाणका मार्ग (हेतु) जो नैरात्म्य-भावनारूप बतलाया जाता है वह भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि नाशके निर्हेतुक होनेसे सास्रव-चित्त-सन्ततिका नाश करनेके लिये किसी नाशकका होना विरुद्ध पड़ता है—स्वभावसे ही नाश मानने पर कोई नाशक नहीं बनता। और वधक भी कोई नहीं रहता—; क्योंकि वह भी प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक है, जिस चित्तने वधका—हिंसाका—विचार किया वह उसी क्षण नष्ट हो जाता है और जिसका वध हुआ वह उसके प्रलयस्वभावसे आकस्मिक हुआ, उसके लिये वधका विचार न रखने वाले किसी भी दूसरे चित्तको अपराधी नहीं ठहराया जा सकता।'

न बन्ध-मोक्षौ क्षणिकैक-संस्थौ न संवृतिः साऽपि मृषा-स्वभावा।
मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्टो विभ्रान्त-दृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥१५॥

'(पदार्थके प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक होने पर) क्षणिक-एक-चित्तमें संस्थित बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते—क्योंकि जिस चित्तका बन्ध है उसका निरन्वयविनाश हो जानेसे उत्तर-चित्त जो अबद्ध है उसीके मोक्षका प्रसङ्ग आएगा, और एकचित्त-संस्थित बन्ध-मोक्ष उसे कहते हैं कि जिस चित्तका बन्ध हो उसीका मोक्ष होवे।'

'(यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर-चित्तोंमें एकत्वके आरोपका विकल्प करने वाली 'संवृति' से क्षणिक-एकचित्त-संस्थित बन्ध और मोक्ष बनते हैं, तो प्रश्न पैदा होता है कि वह संवृति मृषास्वभावा है या गौण-विधिरूपा है?) मृषास्वभावा संवृति क्षणिक एक चित्तमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं है—उससे बन्ध और मोक्ष भी मिथ्या ठहरते हैं। और गौणविधि मुख्यके बिना देखी नहीं जाती (पुरुषसिंह-की तरह)—जिस प्रकार किसी पुरुषको मुख्य सिंहके अभावमें 'पुरुषसिंह' कहना नहीं बनता उसी प्रकार किसी चित्तमें मुख्यरूपसे बन्ध-मोक्षको सन्तिष्ठमान बतलाये बिना बन्ध-मोक्षकी गौणविधि नहीं बनती, और इससे मुख्यविधिके अभावमें गौणविधिरूप संवृति भी किसी एक क्षणिक चित्तमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेमें असमर्थ है। (अतः हे वीर जिन!) आपकी (स्याद्वादरूपिणी अनेकान्त) दृष्टिसे भिन्न जो दूसरी (क्षणिकात्मवादियोंकी सर्वथा एकान्त) दृष्टि है वह विभ्रान्तदृष्टि है—सब ओरसे दोषरूप होनेके कारण वस्तुतत्त्वको यथार्थरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है।'

प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृ-घाती स्व-पतिः स्व-जाया ।
दत्त-ग्रहो नाऽधिगत-स्मृतिर्न न क्त्वार्थ-सत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

'क्षण-क्षणमें पदार्थोंको भङ्गवान्—निरन्वय विनाशवान—माननेपर उनके पृथक्पनकी वजहसे—सर्वथा भिन्न होनेके कारण—कोई मातृ-घाती नहीं बनता—क्योंकि तब पुत्रोत्पत्तिके क्षणमें ही माताका स्वयं नाश होजाता है, उत्तरक्षणमें पुत्रका भी प्रलय होजाता है और अपुत्रका ही उत्पाद होता है; न कोई किसी (कुलस्त्री) का स्वपति बनता है—; क्योंकि उसके विवाहित पतिका उसी क्षण विनाश होजाता है, अन्य अविवाहितका उत्पाद होता है; और न कोई किसीकी स्वपत्नी (विवाहिता स्त्री) ठहरती है—क्योंकि उसकी विवाहिता स्त्रीका उसी क्षण विनाश होजाता है, अन्य अविवाहिताका ही उत्पाद होता है, और इससे परस्त्री-सेवनका भी प्रसङ्ग आता है।'

'(इसी तरह) दिये हुए धनादिकका (ऋणी आदिके पाससे) पुनः ग्रहण (वापिस लेना) नहीं बनता—क्योंकि बौद्ध-मान्यतानुसार जो ऋण देता है उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश होजाता है, उत्तर-क्षणमें लेनेवालेका भी विनाश होजाता है तथा अन्यका ही उत्पाद होता है और साक्षी-लेखादि भी कोई स्थिर नहीं रहता, सब उसी क्षण ध्वस्त होजाते हैं। अधिगत किये हुए (शास्त्रके) अर्थकी स्मृति भी तब नहीं बनती—और इससे शास्त्राभ्यास निष्फल ठहरता है। 'क्त्वा' प्रत्ययका जो अर्थ-सत्य है—प्रमाणरूपसे स्वीकृत है—वह भी नहीं बनता—क्योंकि पूर्व और उत्तर-क्रियाका एक ही कर्ता होनेपर पूर्वकालकी क्रियाको 'क्त्वा' (करके) प्रत्ययके द्वारा व्यक्त किया जाता है; जैसे 'रामो भुक्त्वा गतः'— राम खाकरके गया। यहाँ खाना और जाना इन दोनों क्रियाओंका कर्ता एक ही राम है तभी उसकी पहली खानेकी क्रियाको 'करके' शब्दके द्वारा व्यक्त किया गया है, रामके क्षणभंगुर होनेपर वह दोनों क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता और दोनों क्रियाओंके कर्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति होनेपर ऐसा वाक्य-प्रयोग नहीं बनता।'

'(इसी प्रकार) न कोई कुल बनता है और न कोई जाति ही बनती है—क्योंकि सूर्यवंशादिक जिस कुलमें किसी क्षत्रियका जन्म हुआ उस कुलका निरन्वय विनाश होजानेसे उस जन्ममें उसका कोई कुल न रहा, तब उसके लिये कुलका व्यवहार कैसे बन सकता है ? क्षत्रियादि कोई जाति भी उस जातिके व्यक्तियोंके बिना असम्भव है। और अनेक व्यक्तियोंमेंसे अतद्व्यावृत्तिके ग्राहक एक चित्तका असम्भव होनेसे अन्यापोह-लक्षण (अन्यसे अभावरूप, अक्षत्रिय व्यावृत्तिरूप) जाति भी घटित नहीं हो सकती।'

गोम्मटसार और नेमिचन्द्र

[सम्पादकीय]

ग्रन्थका सामान्य परिचय और महत्व

'गोम्मटसार' जैनसमाजका एक बहुत ही सुप्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ है, जो जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड नामके दो बड़े विभागोंमें विभक्त है और वे विभाग एक प्रकारसे अलग-अलग ग्रन्थ भी समझे जाते हैं, अलग-अलग मुद्रित भी हुए हैं और इसीसे वाक्यसूचीमें उनके नामकी (गो० जी०, गो० क० रूपसे) स्पष्ट सूचना साथमें करदी गई है। जीवकाण्डकी अधिकार-संख्या २२ तथा गाथा-संख्या ७३३ है और कर्मकाण्डकी अधिकार-संख्या ९ तथा गाथा-संख्या ९७२ पाई जाती है। इस समूचे ग्रन्थका दूसरा नाम 'पञ्चसंग्रह' है, जिसे टीकाकारोंने अपनी टीकाओंमें व्यक्त किया है। यद्यपि यह ग्रन्थ प्रायः संग्रहग्रन्थ है, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियोंसे सैद्धान्तिक विषयोंका संग्रह किया गया है, परन्तु विषयके संकलनादिकमें यह अपनी खास विशेषता रखता है और इसमें जीव तथा कर्म-विषयक करणानुयोगके प्राचीन ग्रन्थोंका अच्छा सुन्दर सार खींचा गया है। इसीसे यह विद्वानोंको बड़ा ही प्रिय तथा रुचिकर मालूम होता है; चुनांचे प्रसिद्ध विद्वान पंडित सुखलालजीने अपने द्वारा सम्पादित और अनुवादित चतुर्थ कर्मग्रन्थकी प्रस्तावनामें, श्वेताम्बरीय कर्म-साहित्यकी गोम्मटसारके साथ तुलना करते हुए और चतुर्थ कर्मग्रन्थके सम्पूर्ण विषयको प्रायः जीव-काण्डमें वर्णित बतलाते हुए, गोम्मटसारकी उसके विषय-वर्णन, विषय-विभाग और प्रत्येक विषयके सुस्पष्ट लक्षणोंकी दृष्टिसे प्रशंसा की है और साथ ही निःसन्देहरूपसे यह बतलाया है कि—"चौथे कर्म-ग्रन्थके पाठियोंके लिये जीवकाण्ड एक खास देखने की वस्तु है; क्योंकि इससे अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं।"

इस ग्रन्थका प्रधानतः मूलाधार आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिका षट्खण्डागम, वीरसेनकी धवला टीका और दिगम्बरीय प्राकृत पञ्चसंग्रह नामके ग्रन्थ हैं। पञ्चसंग्रहकी सैकड़ों गाथाएँ इसमें ज्यों-की-त्यों तथा कुछ परिवर्तनके साथ उद्धृत हैं और उनमें से बहुतसी गाथाएँ ऐसी भी हैं जो धवलामें ज्यों-की-त्यों अथवा कुछ परिवर्तनके साथ 'उक्तञ्च' आदि रूपसे पाई जाती हैं। साथ ही षट्खण्डागमके बहुतसे सूत्रोंका सार खींचा गया है। शायद षट्खण्डागमके जीवस्थानादि पाँच खण्डोंके विषयका प्रधानतासे सार संग्रह करनेके कारण ही इसे 'पञ्चसंग्रह' नाम दिया गया हो।

ग्रन्थके निर्माणमें निमित्त चामुण्डराय 'गोम्मट'

यह ग्रन्थ आचार्य नेमिचन्द्र-द्वारा चामुण्डरायके अनुरोध अथवा प्रश्न पर रचा गया है, जो गङ्गवंशी राजा राचमल्लके प्रधान-मन्त्री एवं सेनापति थे, अजितसेनाचार्यके शिष्य थे और जिन्होंने श्रवण-बेलगोलमें बाहुबलि-स्वामीकी वह सुन्दर विशाल एवं अनुपम मूर्ति निर्माण कराई है जो संसारके अद्भुत पदार्थोंमें परिगणित है और लोकमें गोम्मटेश्वर-जैसे नामोंसे प्रसिद्ध है।

चामुण्डरायका दूसरा नाम 'गोम्मट' था और यह उनका खास घरेलू नाम था, जो मराठी तथा कनडी भाषामें प्रायः उत्तम, सुन्दर, आकर्षक एवं

प्रसन्न करनेवाला जैसे अर्थोंमें व्यवहृत होता है,' और 'राय' (राजा) की उन्हें उपाधि प्राप्त थी। ग्रंथमें इस नामका उपाधि-महित तथा उपाधि-विहीन दोनों रूपसे स्पष्ट उल्लेख किया गया है और प्रायः इसी प्रिय नामसे उन्हें आशीर्वाद दिया गया है; जैसा कि निम्न दो गाथाओंमे प्रकट है:—

अज्जज्जसेण-गुणगणसमूह - संधारि - अजियसेणगुरू ।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राम्रो गोम्मटो जयउ ॥७३३

जेण विणिम्मिय-पडिमा-वयणं सव्वट्ठसिद्धि-देवेहिं ।
सव्व-परमोहि-जोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥६६६

इनमें पहली गाथा जीवकाण्डकी और दूसरी कर्मकाण्डकी है। पहलीमें लिखा है कि 'वह राय गोम्मट जयवन्त हो जिसके गुरु वे अजितसेनगुरु हैं जो कि भुवनगुरु हैं और आचार्य आर्यसेनके गुण-गण-समूहको सम्यक् प्रकार धारण करने वाले— उनके वास्तविक शिष्य—हैं।' और दूसरी गाथामें बतलाया है कि 'वह 'गोम्मट' जयवन्त हो जिसकी निर्माण कराई हुई प्रतिमा (बाहुबलीकी मूर्ति) का मुख सर्वार्थसिद्धिके देवों और सर्वावधि तथा परमावधि ज्ञानके धारक योगियों द्वारा भी (दूरसे ही) देखा गया है।'

चामुण्डरायके इस 'गोम्मट' नामके कारण ही उनकी बनवाई हुई बाहुबलीकी मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' तथा 'गोम्मटदेव' जैसे नामोंसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई है, जिनका अर्थ है गोम्मटका ईश्वर, गोम्मटका देव। और इसी नामकी प्रधानताको लेकर ग्रन्थका नाम 'गोम्मटसार' दिया गया है, जिसका अर्थ है 'गोम्मटके लिये खींचा गया पूर्वके (षट्खण्डागम तथा धवलादि) ग्रन्थोंका सार।' ग्रन्थको 'गोम्मटसंग्रहसूत्र' नाम भी इसी आशयको लेकर दिया गया है, जिसका उल्लेख निम्न गाथामें पाया जाता है:—

गोम्मट-संगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य ।
गोम्मटराय-विणिम्मिय-दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ ॥
—गो० क० ९६८ ॥

इस गाथामें उन तीन कार्योंका उल्लेख है और उन्हींका जयघोष किया गया है जिनके लिये गोम्मट उर्फ चामुण्डरायकी खास ख्याति है और वे हैं— १ गोम्मटसंग्रहसूत्र, २ गोम्मटजिन और ३ दक्षिण-कुक्कुटजिन। 'गोम्मटसंग्रहसूत्र' गोम्मटके लिये संग्रह किया हुआ 'गोम्मटसार' नामका शास्त्र है; 'गोम्मटजिन' पदका अभिप्राय श्रीनेमिनाथकी उस एक हाथ-प्रमाण इन्द्रनीलमणिकी प्रतिमासे है जिसे गोम्मटरायने बनवाकर गोम्मट-शिखर अर्थात् चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित अपने मन्दिर (वस्ति) में स्थापित किया था और जिसकी बाबत यह कहा जाता है कि वह पहले चामुण्डराय-वस्तिमें मौजूद थी परन्तु बादको मालूम नहीं कहाँ चली गई, उसके स्थान पर नेमिनाथकी एक दूसरी पाँच फुट ऊँची प्रतिमा अन्यत्रसे लाकर विराजमान की गई है और जो अपने लेख परसे एचनके बनवाए हुए मन्दिरकी मालूम होती है। और 'दक्षिण-कुक्कुट-जिन' बाहुबलीकी उक्त सुप्रसिद्ध विशालमूर्तिका ही नामान्तर है, जिस नामके पीछे कुछ अनुश्रुति अथवा कथानक है और उसका सार इतना ही है कि उत्तर-देश पौदनपुरमें भरतचक्रवर्तीने बाहुबलीकी उन्हींकी शरीराकृति-जैसी मूर्ति बनवाई थी, जो कुक्कुट-सर्पोंसे व्याप्त हो जानेके कारण दुर्लभ-दर्शन हो गई थी। उसीके अनुरूप यह मूर्ति दक्षिणमें विन्ध्यगिरि पर स्थापित की गई है और उत्तरकी मूर्तिसे भिन्नता बतलानेके लिये ही इसको 'दक्षिण' विशेषण दिया गया है। अस्तु; इस गाथा परसे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि 'गोम्मट' चामुण्डरायका खास नाम था और वह संभवतः उनका प्राथमिक अथवा घरू बोलचालका नाम था। कुछ अर्से पहले आम तौर पर यह समझा जाता था कि 'गोम्मट' बाहुबलीका ही नामान्तर है और उनकी उक्त असाधारण मूर्तिका

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण ३, ४ में डा० ए० एन० उपाध्येका 'गोम्मट' नामक लेख।

निर्माण करानेके कारण ही चामुण्डराय 'गोम्मट' तथा 'गोम्मटराय' नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। चुनाँचे पं० गोविन्द पै जैसे कुछ विद्वानोंने इसी बातको प्रकारान्तरसे पुष्ट करनेका यत्न भी किया है; परन्तु डॉक्टर ए० एन० उपाध्येने अपने 'गोम्मट' नामक लेखमें[1] उनकी सब युक्तियोंका निराकरण करते हुए, इस बातको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि 'गोम्मट' बाहुबलीका नाम न होकर चामुण्डरायका ही दूसरा नाम था और उनके इस नामके कारण ही बाहुबलीकी मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' जैसे नामोंसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई है। इस मूर्तिके निर्माणसे पहले बाहुबलीके लिये 'गोम्मट' नामकी कहींसे भी उपलब्धि नहीं होती। बादको कारकल आदिमें बनी हुई मूर्तियोंको जो 'गोम्मटेश्वर' जैसा नाम दिया गया है उसका कारण इतना ही जान पड़ता है कि वे श्रवणबेल्गोलकी इस मूर्तिकी नक़ल-मात्र हैं और इसलिये श्रवणबेल्गोलकी मूर्तिके लिये जो नाम प्रसिद्ध हो गया था वही उनको भी दिया जाने लगा। अस्तु।

चामुण्डरायने अपना त्रेसठ शलाकापुरुषोंका पुराण-ग्रन्थ, जिसे 'चामुण्डरायपुराण' भी कहते हैं शक संवत् ९०० (वि० सं० १०३५) में बनाकर समाप्त किया है, और इसलिये उनके लिये निर्मित गोम्मटसार का सुनिश्चित समय विक्रमकी ११वीं शताब्दी है।

ग्रन्थकार और उनके गुरु

गोम्मटसारके कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र 'सिद्धान्त-चक्रवर्ती' कहलाते थे। चक्रवर्ती जिस प्रकार चक्रसे छह खण्ड पृथ्वीकी निर्विघ्न साधना करके—उसे स्वाधीन बनाकर—चक्रवर्तिपदको प्राप्त होता है उसी प्रकार मति-चक्रसे षट्खण्डागमकी साधना करके आप सिद्धान्त-चक्रवर्तीके पदको प्राप्त हुए थे, और इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं कर्मकाण्डकी गाथा ३९७ में[2] किया है। आप अभयनन्दी आचार्यके शिष्य थे,

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ कि० ३, ४ पृ० २२९, २९३।

२ जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइ-चक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥३९७॥

जिसका उल्लेख आपने इस ग्रन्थमें ही नहीं किन्तु अपने दूसरे ग्रन्थों—त्रिलोकसार और लब्धिसारमें भी किया है। साथ ही, वीरनन्दी तथा इन्द्रनन्दीको भी आपने अपना गुरु लिखा है[1]। ये वीरनन्दी वे ही जान पड़ते हैं जो 'चन्द्रप्रभ-चरित्र' के कर्ता हैं; क्योंकि उन्होंने अपनेको अभयनन्दीका ही शिष्य लिखा है[2]। परन्तु ये इन्द्रनन्दी कौनसे हैं ? इसके विषयमें निश्चय-पूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इन्द्रनन्दी नामके अनेक आचार्य हुए हैं—जैसे १ छेदपिंड नामक प्रायश्चित्त-शास्त्रके कर्ता, २ श्रुतावतारके कर्ता, ३ ज्वालामालिनीकल्पके कर्ता, ४ नीतिसार अथवा समयभूषणके कर्ता, ५ संहिता-के कर्ता। इनमेंसे पिछले दो तो हो नहीं सकते; क्योंकि नीतिसारके कर्ताने उन आचार्योंकी सूचीमें जिनके रचे हुए शास्त्र प्रमाण हैं नेमिचन्द्रका भी नाम दिया है, इसलिये वे नेमिचन्द्रके बाद हुए हैं और इन्द्रनन्दि संहितामें वसुनन्दीका भी नामोल्लेख है, जिनका समय विक्रमकी प्रायः १२वीं शताब्दी है और इसलिये वे भी नेमिचन्द्रके बाद हुए हैं। शेषमें-से प्रथम दो ग्रन्थोंके कर्ताओंने न तो अपने गुरुका

१ जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥४३६॥
णमिऊण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥कर्मकाण्ड ७८५॥
इदि णेमिचंद-मुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइओ तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥त्रि० १०१८॥
वीरिंदणंदिवच्छेणप्पसुदेणभयणंदि-सिस्सेण।
दंसण चरित लद्धी सुसूयिया णेमिचंदेण ॥लब्धि० ४४८

२ मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः, सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः। अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमतेर्भास्वत्समानत्विषः
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत्।
स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तेः सतां
संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्काङ्कुशाः ॥४॥
—चन्द्रप्रभचरित-प्रशस्ति।

नाम दिया है और न ग्रन्थका रचनाकाल ही, इससे उनके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, ज्वालामालिनी कल्पके कर्ता इन्द्रनन्दिने ग्रन्थका रचनाकाल शक संवत् ८६१ (वि० सं० ९९६) दिया है और यह समय नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दीके साथ बिल्कुल सङ्गत बैठता है, परन्तु इस कल्पके कर्ता इन्द्रनन्दीने अपनेको उन बप्पनन्दीका शिष्य बतलाया है जो वासवनन्दीके शिष्य और इन्द्रनन्दी (प्रथम) के प्रशिष्य थे। बहुत संभव है ये इन्द्रनन्दी बप्पनन्दीके दीक्षित हों और अभयनन्दीसे उन्होंने सिद्धांतशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की हो, जो उस समय सिद्धान्त-विषयके प्रसिद्ध विद्वान् थे; क्योंकि प्रशस्ति[1] में बप्पनन्दी की पुराण-विषयमें अधिक ख्याति लिखी है—सिद्धांत विषयमें नहीं—और शिष्य इन्द्रनन्दी (द्वितीय) को 'जैने सिद्धांत वार्धौ विमलितहृदयः' प्रकट किया है। जिससे सिद्धांत विषयमें उनके कोई खास गुरु होने भी चाहियें। इसके सिवाय, ज्वालिनीकल्पके कर्ता इन्द्रनन्दीने जिन दो आचार्योंके पाससे इस मन्त्रशास्त्रका अध्ययन किया है उनमें एक नाम गुणनन्दी[1] का भी है, जो सम्भवतः वे ही जान पड़ते हैं जो चन्द्रप्रभचरितके अनुसार अभयनन्दीके गुरु थे; और इस तरह इन्द्रनन्दीके दीक्षा-गुरु बप्पनन्दी मन्त्रशास्त्र-गुरु गुणनन्दी और सिद्धांतशास्त्र-गुरु अभयनन्दी हो जाते हैं। यदि यह सब कल्पना ठीक है तो इससे नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दीका ठीक पता चल जाता है, जिन्हें गोम्मटसार (क० ७८५) में श्रुतसागरका पारगामी लिखा है।

नेमिचन्द्रने अपने एक गुरु कनकनन्दि भी लिखे हैं और बतलाया है कि उन्होंने इन्द्रनन्दिके पाससे सकल सिद्धान्तको सुनकर 'सत्वस्थान' की रचना की है[2]। यह सत्वस्थान ग्रन्थ 'विस्तरसत्वत्रिभंगी' के नामसे आराके जैन-सिद्धान्त-भवनमें मौजूद है, जिसका मैंने कई वर्ष हुए अपने निरीक्षणके समय नोट ले लिया था। पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन कनकनन्दीको भी अभयनन्दीका शिष्य बतलाया है,[3] परन्तु यह ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि कनकनन्दिके उक्त ग्रंथपरसे इसकी कोई उपलब्धि नहीं होती—उसमें साफ़ तौरपर इन्द्रनन्दिको ही गुरुरूपसे उल्लेखित किया है। इस सत्वस्थान ग्रन्थको नेमिचन्द्रने अपने गोम्मटसारके तीसरे सत्वस्थान अधिकारमें प्रायः ज्यों-का-त्यों अपनाया है—आराकी उक्त प्रतिके अनुसार प्रायः ८ गाथाएँ छोडी गई हैं; शेष सब गाथाओंको, जिनमें मंगलाचरण और

---

१ आसीदिन्द्रादिदेवस्तुतपदकमलश्रीन्द्रनन्दिर्मुनीन्द्रो
नित्योत्सर्पच्चरित्रो जिनमत-जलधिर्धौतिपापोपलेपः ।
प्रज्ञानाधाम नोयत्प्रगुणगणभृतोत्कीर्णविस्तीर्णसिद्धा—
न्ताम्भोराशिस्त्रिलोकाम्बुज वनविचरत्सयशोराजहंसः ॥१
यद्वृत्तं दुरितारिसैन्यहनने चण्डासिधारायितम्
च्चित्तं यस्य शरत्सरत्सलिलवत्स्वच्छं सदा शीतलम् ।
कीर्तिः शारदकौमुदी शशिभृतो ज्योत्स्नेव यस्याऽमला
स श्री वासवनन्दिसन्मुनिपतिः शिष्यस्तदीयो भवेत् ॥२॥
शिष्यस्तस्य महात्मा चतुरनुयोगेषु चतुरमतिविभवः ।
श्रीबप्पणंदिगुरुरिति बुधमधुपैर्वितपदाब्जः ॥३॥
लोके यस्य प्रसादादजनि मुनिजनस्तत्पुराणार्थवेदी
यस्याशास्तंभमूर्धन्यति विमलयशः श्रीवितानो निबद्धः ।
कालास्तायेन पौराणिककविवृषभा द्योतितास्तत्पुराण—
व्याख्यानाद्बप्पणंदि प्रथित गुणगणस्तस्य किं वर्ण्यतेऽत्र
शिष्यस्तस्येन्द्रनंदिर्विमलगुणगणोद्दामधामाभिरामः
प्रज्ञातीक्ष्णास्त्र-धारा-विदलित बहलाऽज्ञानवल्लीवितानः ।
जैने सिद्धान्तवार्धौ विमलितहृदयस्तेन सद्ग्रंथतोऽयम्
हेलाचार्योदितार्थो व्यरचि निरुपमो ज्वालिनीमंत्रवादः ॥५
अष्टशतस्यैकषष्टिप्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु ।
श्रीमान्यखेटकटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम ॥

१ क दर्पेण ज्ञातं तेनाऽपि स्वसुतायविशेषाय ।
गुणनंदिश्रीमुनये व्याख्यातं सोपदेशं तत् ॥२॥
पार्श्वे तयोर्द्वयोरपि तच्छास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चापि ।
मुनिनेन्द्रनन्दिनाम्ना सम्यगधीतं विशेषेण ॥२५॥

२ वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं ।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ॥क० ३९६॥

३ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २९६ ।

अन्तकी गाथाएँ[1] भी शामिल है, ग्रन्थका अंग बनाया गया है और कहीं-कहीं उनमें कुछ क्रमभेद भी किया गया है। यहाँ मैं इस विषयका कुछ विशेष परिचय अपने पाठकोंको देदेना चाहता हूँ, जिससे उन्हें इस ग्रन्थकी संग्रह-प्रकृतिका कुछ विशेष बोध हो सके:—

रायचन्द्र-जैनशास्त्रमालाके संवत १९६९ के संस्करणमें इस अधिकारकी गाथा-संख्या ३५८ से ३९७ तक ४० दी है; जबकि आराकी उक्त ग्रन्थ-प्रतिमें वह ४८ या ४९ पाई जाती है[2]। आठ गाथाएँ जो उसमें अधिक हैं अथवा गोम्मटसारमें जिन्हें छोड़ा गया है वे निम्न प्रकार हैं। गोम्मटसारकी जिस गाथाके बाद वे उक्त ग्रन्थ प्रतिमें उपलब्ध हैं उसका नम्बर शुरूमें कोष्टकके भीतर देदिया गया है:—

(३६०) घाई तियउज्जोवं थावरवियलं च ताव एइंदी।
गिरय-तिरिक्ख दु सुहुमं साहरणे होइ तेसट्ठी ॥४
(३६४)गिरयादिसु भुज्जेगं बंधुदगं बारि बारि दोगणेत्थ
पुणरुत्तसमविहीणा आउगभंगा हु पज्जेव ॥६
गिरयतिरयाणु गेरइ यणहाउ तिरियमणुयआऊ य
तेरिच्छियदेवाऊ माणुसदेवाउ एगेगे ॥१०॥

(३७५) बंधदेवाउगुवसमसद्दिट्ठी बंधिऊण आहारं।
सो चेव सासणे जादो तरिसं पुण बंध एक्को दु ॥२२
तस्से वा बंधाउगठाणे भंगा दु भुज्जमाणम्मि।
मणुवाउगम्मि एक्को देवेसु ववणगे विदियो ॥२३
(३७६) मणुवगिरयाउगे गरसुरआये गिराणबंधम्मि।
तिरयाऊण तिगिदरे मिच्छव्वणम्मि भुज्जमणुसाऊ ॥२८
(३८०) पुव्वुत्तपणपणाउगभंगा बंधस्स भुज्जमणुसाऊ।
अणणतियाऊसहिया तिगतिगचउगिरयतिरियआऊण३०
(३९०)विदियं तेरसबारसठाणं पुणरुत्तमिदि विहायपुणो
दसु सादेदरपयडी परियट्टणादो दुगदुगा भंगा ॥४१

उक्त ग्रन्थप्रतिकी गाथाएँ नं० १५, १६, १७ गोम्मटसारमें क्रमशः नं० ३६८, ३६९, ३७० पर पाई जाती हैं; परन्तु गाथा नं० १४ को ३७१ नम्बरपर दिया है, और इस तरह गोम्मटसारमें क्रमभेद किया गया है। इसी तरह २५, २६ नं० की गाथाओंको भी क्रमभेद करके नं० ३७८, ३७७ पर दिया है।

आराके उक्त भवनमें एक दूसरी प्रति भी है, जिसमें तीन गाथाएँ और अधिक हैं और वे इस प्रकार हैं:—

तित्थसभे गिधिमिच्छे बद्धाउसि माणुसीगदी एग।
मणुवगिरयाऊ भंगु पजत्ते भुज्जमाणगिरयाऊ ॥१५॥
गिरयदुगं तिरियदुगं विगतिगचउरक्खजादि थीणतियं।
उज्जोवं आताविगि साहारण सुहुम थावरयं ॥३९॥
मज्झड कसाय संढं थीवेदं हस्सपमुहछक्कसाया।
पुरिसो कोहो माणो अणियट्टी भागहीण पयडीओ ॥४०

हालमें उक्त सत्वस्थानकी एक प्रति संवत् १८०७ की लिखी हुई मुझे पं० परमानन्दजीके पाससे देखनेको मिली जो दूसरे त्रिभंगी आदि ग्रन्थोंके साथ सवाई जयपुरमें लिखी गई एक पत्राकार प्रति है और जिसके अन्तमें ग्रन्थका नाम 'विशेषसत्तात्रिभंगी' दिया है। इस ग्रन्थप्रतिमें गाथा-संख्या कुल ४१ है,

१ अन्तकी दो गाथाएँ वे ही हैं जिनमेंसे एकमें इन्द्रनन्दीसे सकल सिद्धांतको सुनकर कनकनन्दिके द्वारा सत्वस्थानके रचे जानेका उल्लेख है और दूसरी 'जह चक्केण य चक्की' नामकी वह गाथा है जिसमें चक्रीकी तरह षट्खण्ड साधनेकी बात है और जिससे कनकनन्दीका भी 'सिद्धांत-चक्रवर्ति' होना पाया जाता है—आराकी उक्त प्रतिमें ग्रन्थको 'श्रीकनकनन्दि-सैद्धान्तचक्रवर्तिकृत' लिखा भी है। ये दोनों गाथाएँ कर्मकाण्डकी गाथा नं० ३९६ तथा ३९७ के रूपमें पीछे उद्धृत की जा चुकी हैं।

२ संख्याङ्क ४९ दिये हैं परन्तु गाथाएँ ४८ हैं, इससे या तो एक गाथा यहां छूट गई है और या संख्याङ्क गलत पड़े हैं। हो सकता है कि 'गिरयाऊ-तिरियाऊ' नामकी वह गाथा ही यहां छूट गई हो जो आगे उल्लेखित एक दूसरी प्रतिमें पाई जाती है।

अतः इस प्रतिके अनुसार गोम्मटसारके उक्त अधिकारमें केवल एक गाथा ही छूटी है और वह 'णारकछक्कुव्वेल्ले' नामकी गाथा (क० ३७०) के अनन्तर इस प्रकार है:—

णिरियाऊ तिरयाऊ णिरिय-णराऊ तिरय-मणुवायु ।
तेरंचिय-देवाऊ माणुस-देवाउ एगेगं ॥१५॥

शेष गाथाओंका क्रम आराकी प्रतिके अनुरूप ही है, और इससे गोम्मटसारमें किये गये क्रमभेदकी बातको और भी पुष्टि मिलती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सत्वस्थान अथवा सत्व(सत्ता)त्रिभङ्गीकी उक्त प्रतियोंमें जो गाथाओंकी न्यूनाधिकता पाई जाती है उसके तीन कारण हो सकते हैं—(१) एक तो यह कि, मूलमें आचार्य कनकनन्दीने ग्रन्थको ४० या ४१ गाथा-जितना ही निर्मित किया हो, जिसकी कापियाँ अन्यत्र पहुँच गई हों और बादको उन्होंने उसमें कुछ गाथाएँ और बढ़ाकर उसे 'विस्तरसत्वत्रिभङ्गी' का रूप उसी प्रकार दिया हो जिस प्रकार द्रव्यसंग्रहके कर्ता नेमिचन्द्रने, टीकाकार ब्रह्मदेवके कथनानुसार, अपनी पूर्व-रचित २६ गाथाओंमें ३२ गाथाओंकी वृद्धि करके उसे वर्तमान द्रव्यसंग्रहका रूप दिया है[1]। और यह कोई अनोखी अथवा असंभव बात नहीं है, आज भी ग्रन्थकार अपने ग्रंथोंके संशोधित और परिवर्धित संस्करण निकालते हुए देखे जाते हैं। (२) दूसरा यह कि बादको अन्य विद्वानोंने अपनी-अपनी प्रतियोंमें कुछ गाथाओंको किसी तरह बढ़ाया अथवा प्रक्षिप्त किया हो। परन्तु इस वाक्यसूचीके दूसरे किसी भी मूल ग्रंथमें उक्त बारह गाथाओंमेंसे कोई गाथा उपलब्ध नहीं होती, यह बात खास तौरसे नोट करने योग्य है[2]। और (३) तीसरा कारण यह कि प्रति-

१ देखो, ब्रह्मदेव कृत टीकाकी पीठिका।

२ सूचीके समय पृथक्रूपमें इस सत्वत्रिभंगी ग्रंथकी कोई प्रति अपने सामने नहीं थी और इसीसे इसके वाक्योंको सूचीमें शामिल नहीं किया जा सका। उन्हें अब यथा स्थान बढ़ाया जा सकता है।

लेखकोंके द्वारा लिखते समय कुछ गाथाएँ छूट गई हों, जैसा कि बहुधा देखनेमें आता है।

प्रकृतिसमुत्कीर्तन और कर्मप्रकृति

इस ग्रंथके कर्मकाण्डका पहिला अधिकार 'पयडिसमुक्कित्तण' (प्रकृतिसमुत्कीर्तन) नामका है, जिसमें मुद्रित प्रतिके अनुसार ८६ गाथाएँ पाई जाती हैं। इस अधिकारको जब पढ़ते हैं तो अनेक स्थानों पर ऐसा महसूस होता है कि वहाँ मूलग्रंथका कुछ अंश त्रुटित है—छूट गया अथवा लिखनेसे रह गया है—, इसीसे पूर्वाऽपर कथनोंकी सङ्गति जैसी चाहिये वैसी ठीक नहीं बैठती और उससे यह जाना जाता है कि यह अधिकार अपने वर्तमान रूपमें पूर्ण अथवा सुव्यवस्थित नहीं है। अनेक शास्त्र-भंडारोंमें कर्मप्रकृति (कम्मपयडी), प्रकृतिसमुत्कीर्तन, कर्मकाण्ड अथवा कर्मकाण्डका प्रथम अंश जैसे नामोंके साथ एक दूसरा अधिकार (प्रकरण) भी पाया जाता है, जिसकी सैकड़ों प्रतियाँ उपलब्ध हैं और जो उस अधिकारके अधिक प्रचारका द्योतन करती हैं। साथ ही, उसपर टीका-टिप्पण भी उपलब्ध हैं[1] और उन

१ (क) संस्कृत टीका भट्टारक ज्ञानभूषणने, जो कि मूलसंघी भ० लक्ष्मीचन्द्रके पट्टशिष्य वीरचन्द्रके वंशमें हुए हैं, सुमतिकीर्तिके सहयोगसे बनाई है और टीकामें मूल ग्रन्थका नाम 'कर्मकाण्ड' दिया है :—

तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः ।
टीकां हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥प्रशस्ति

(ख) दूसरी भाषा टीका पं० हेमराजकी बनाई हुई है, जिसकी एक प्रति सं० १८२६ की लिखी हुई तिगोड़ा जि० सागरके जैन मन्दिरमें है।
(अनेकान्त वर्ष ३, किरण १२ पृष्ठ ७६४)

(ग) सटिप्पण-प्रति शाहगढ़ जि० सागरके सिंघीजीके मन्दिरमें संवत् १५२७ की लिखी हुई है, जिसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है :—

इति श्रीनेमिचन्द्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ति-विरचित-कर्मकाण्डस्य प्रथमोंशः समाप्तः। शुभं भवतु लेखक-पाठकयोः अथ संवत् १५२७ वर्षे माघवदि १४ रविवासरे।"
(अनेकान्त वर्ष ३, कि० १२ पृ० ७६२-६४)

परसे उसकी गाथा-संख्या १६० जानी जाती है तथा ग्रन्थ-कर्ताका नाम 'नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती' भी उपलब्ध होता है। उसमें ७५ गाथाएँ ऐसी हैं जो इस अधिकारमें नहीं पाई जातीं। उन बढ़ी हुई गाथाओंमें-से कुछ परसे उन अंशोंकी पूर्ति हो जाती है जो त्रुटित समझे जाते हैं और शेष परसे विशेष कथनों की उपलब्धि होती है। और इसलिये पं० परमानन्द-जी शास्त्रीने 'गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति' नामका एक लेख लिखा, जो अनेकान्त वर्ष ३ किरण ८-९ में प्रकाशित हुआ है और उसके द्वारा त्रुटियोंको तथा कर्मप्रकृतिकी गाथाओं परसे उनकी पूर्तिको दिखलाते हुए यह प्रेरणा की कि कर्मप्रकृतिकी उन बढ़ी हुई गाथाओंको कर्मकाण्डमें शामिल करके उसकी त्रुटि-पूर्ति कर लेनी चाहिये। यह लेख जहाँ पण्डित कैलाशचन्द्रजी आदि अनेक विद्वानोंको पसन्द आया वहाँ प्रो० हीरालालजी एम० ए० आदि कुछ विद्वानों को पसन्द नहीं आया, और इसलिये प्रोफेसर साहबने इसके विरोधमें पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री तथा पं० हीरालालजी शास्त्रीके सहयोगसे एक लेख लिखा, जो 'गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति पर विचार' नामसे अनेकान्तके उसी वर्षकी किरण ११ में प्रकट हुआ है और जिसमें यह बतलाया गया है कि 'उन्हें कर्म-काण्ड अधूरा मालूम नहीं होता, न उससे उतनी गाथाओंके छूट जाने व दूर पड़ जाने की संभावना जँचती है और न गोम्मटसारके कर्ता-द्वारा ही कर्म-प्रकृतिके रचित होनेके कोई पर्याप्त प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसी अवस्थामें उन गाथाओंको कर्मकाण्डमें शामिल कर देनेका प्रस्ताव बड़ा साहसिक प्रतीत होता है।' इसके उत्तरमें पं० परमानन्दजीने दूसरा लेख लिखा, जो अनेकान्तकी अगली १२वीं किरणमें 'गो० कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति के विचार पर प्रकाश' नामसे प्रकाशित हुआ है और जिसमें अधिकारके अधूरेपनको कुछ और स्पष्ट किया गया, गाथाओंके छूटनेकी संभावनाके विरोध-का परिहार करते हुए प्रकारान्तरसे उनके छूटनेकी संभावनाको व्यक्त किया गया और टीका-टिप्पणके कुछ अंशोंको उद्धृत करके यह स्पष्ट करनेका यत्न किया गया कि उनमें ग्रन्थका कर्ता 'नेमिचन्द्र-सिद्धान्ती' 'नेमिचन्द्र-सिद्धान्तदेव' ही नहीं, किन्तु 'नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती' भी लिखा है और ग्रन्थ-की टीकामें 'कर्मकाण्ड' तथा टिप्पणमें 'कर्मकाण्डका प्रथम अंश' सूचित किया है। साथही, शाहगढ़ जि० सागरके सिंघईजीके मन्दिरकी एक ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रतिका भी उल्लेख किया है जिसमें कर्मकाण्डके शुरूके दो अधिकार तो पूरे हैं और तीसरे अधिकार-की ४० मेंसे २५ गाथाएँ हैं, शेष ग्रन्थ संभवतः अपनी अतिजीर्णताके कारण टूट-टाट कर नष्ट हुआ जान पड़ता है। इसके प्रथम अधिकारमें वे ही १६० गाथाएँ पाई जाती हैं जो कर्मप्रकृतिमें उपलब्ध हैं और इस परसे यह घोषित किया गया कि कर्म-प्रकृतिकी जिन गाथाओंको कर्मकाण्डमें शामिल करनेका प्रस्ताव रक्खा गया है वे पहलेसे कर्मकाण्ड-की कुछ प्रतियोंमें शामिल हैं अथवा शामिल करली गई हैं। इस लेखके प्रत्युत्तरमें प्रो० हीरालालजीने एक दूसरा लेख और लिखा, जो 'गोम्मटसार-कर्म-काण्डकी त्रुटिपूर्ति-सम्बन्धी प्रकाश पर पुनः विचार' नामसे जैनसन्देश भाग ४ के अङ्क ३२ आदिमें प्रकाशित हुआ है और जिसमें अपनी उन्हीं बातोंको पुष्ट करनेका यत्न किया गया है और गोम्मटसार तथा कर्मप्रकृतिके एक-कर्तृत्व पर अपना सन्देह कायम रक्खा गया है; परन्तु कल्पना अथवा संभावनाके सिवाय सन्देहका कोई खास कारण व्यक्त नहीं किया गया।

त्रुटिपूर्ति-सम्बन्धी यह चर्चा जब चल रही थी तब उससे प्रभावित होकर पं० लोकनाथजी शास्त्रीने मूडबिद्रीके सिद्धान्त-मन्दिरके शास्त्र-भण्डारमें, जहाँ धवलादिक सिद्धान्तग्रन्थोंकी मूल-प्रतियाँ मौजूद हैं, गोम्मटसारकी खोज की थी और उस खोजके नतीजे-से मुझे ३० दिसम्बर सन् १९४० को सूचित करनेकी कृपा की थी, जिसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ। उनकी उस सूचना परसे मालूम होता है कि उक्त शास्त्रभंडारमें गोम्मटसारके जीवकाण्ड और कर्म-

काण्डकी मूल प्रति त्रिलोकसार और लब्धिसार-क्षपणासार-सहित ताडपत्रों पर मौजूद है। पत्र-संख्या जीवकाण्डकी ३८, कर्मकाण्डकी ५३, त्रिलोकसारकी ५१ और लब्धिसार-क्षपणासारकी ४१ है। ये सब ग्रन्थ पूर्ण हैं और इनकी पद्य-संख्या क्रमशः ७३०, ८७२, १०१८, ८२० है[१]। ताडपत्रोंकी लम्बाई दो फुट दो इञ्च और चौड़ाई दो इञ्च है। लिपि 'प्राचीन कन्नड' है, और उसके विषयमें शास्त्रीजीने लिखा था—

"ये चारों ही ग्रन्थोंमें लिपि बहुत सुन्दर एवं धवलादि सिद्धान्तोंकी लिपिके समान है। अतएव बहुत प्राचीन हैं। ये भी सिद्धान्त-लिपि-कालीन होना चाहिये।"

साथ ही, यह भी लिखा था कि "कर्मकाण्डमें इस समय विवादस्थ कई गाथाएँ (इस प्रतिमें) सूत्र रूपमें हैं" और वे सूत्र कर्मकाण्डके 'प्रकृति-समुत्कीर्तन' अधिकारकी जिस-जिस गाथाके बाद मूल रूपमें पाये जाते हैं उसकी सूचना साथमें देते हुए उनकी एक नकल भी उतार कर उन्होंने भेजी थी। इस सूचनादिको लेकर मैंने उस समय 'त्रुटि-पूर्ति-विषयक नई खोज' नामका एक लेख लिखना प्रारम्भ भी किया था परन्तु समयाभावादि कुछ कारणोंके वश वह पूरा नहीं हो सका और फिर दोनों विद्वानोंकी ओरसे चर्चा समाप्त हो गई, इससे उसका लिखना रह ही गया। आज मैं उन सूत्रोंमेंसे आदिके पाँच स्थलोंके सूत्रोंको, स्थल-विषयक सूचनादिके साथ नमूनेके तौर पर यहाँ पर दे देना चाहता हूँ, जिससे पाठकोंको उक्त अधिकारकी त्रुटि-पूर्तिके विषयमें विशेष विचार करनेका अवसर मिल सके :—

कर्मकाण्डकी २२वीं गाथामें ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मप्रकृतियोंकी उत्तरकर्मप्रकृति-संख्याका ही क्रमशः निर्देश है—उत्तरप्रकृतियोंके नामादिक नहीं दिये और न आगे ही संख्यानुसार अथवा संख्याकी सूचनाके साथ उनके नाम दिये हैं। २३वीं गाथामें क्रमप्राप्त ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतियोंका कोई नामोल्लेख न करके और न उस विषयकी कोई सूचना करके दर्शनावरणकी ९ प्रकृतियोंमेंसे स्त्यान-गृद्धि आदि पाँच प्रकृतियोंके कार्यका निर्देश करना प्रारम्भ किया गया है, जो २५वीं गाथा तक चलता रहा है। इन दोनों गाथाओंके मध्यमें निम्न गद्य-सूत्र पाये जाते हैं, जिनमें ज्ञानावरणीय तथा दर्शना-वरणीय कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंका संख्याके निर्देश-सहित स्पष्ट उल्लेख है और जिनसे दोनों गाथाओंका सम्बन्ध ठीक जुड़ जाता है। इनमें से प्रत्येक सूत्र 'चेइ' अथवा 'चेदि' पर समाप्त होता है :—

"णाणावरणीयं दंसणावरणीयं वेदणीयं [मोहणीयं] आउगं णामं गोदं अंतरायं चेइ। तत्थ णाणावरणीयं पंचविहं अभिणिबोहिय-सुद-ओहि-मणपज्जव-णाणा-वरणीयं केवलणाणावरणीयं चेइ। दंसणावरणीयं णवविहं थीणगिद्धि णिद्दाणिद्दा पयलापयला णिद्दा य पयला य चक्खु-अचक्खु-ओहिदंसणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं चेइ।"

इन सूत्रोंकी उपस्थितिमें ही अगली तीन गाथाओं-में जो स्त्यानगृद्धिआदिका क्रमशः निर्देश है वह सङ्गत बैठता है, अन्यथा तत्त्वार्थसूत्र तथा षट्-खण्डागमकी पयडिसमुक्कित्तण-चूलियामें जब उनका भिन्नक्रम पाया जाता है तब उनके उस क्रमका कोई व्यवस्थापक नहीं रहता। अतः २३, २४, २५ नम्बरकी गाथाओंके पूर्व इन सूत्रोंकी स्थिति आवश्यक जान पड़ती है।

२५वीं गाथामें दर्शनावरणीय कर्मकी ९ प्रकृतियोंमें 'प्रचला' प्रकृतिके उदयजन्य कार्यका निर्देश है। इसके बाद क्रम-प्राप्त वेदनीय तथा

१ रायचन्द्र जैनशास्त्रमालामें प्रकाशित जीवकाण्डमें ७३३, कर्मकाण्डमें ९७२ और लब्धिसार-क्षपणासारमें ६४९ गाथा संख्या पाई जाती है। मुद्रित प्रतियोंमें कौन-कौन गाथाएँ बढ़ी हुई तथा घटी हुई हैं उनका लेखा यदि उक्त शास्त्रीजी प्रकट करें तो बहुत अच्छा हो।

मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंका कोई नामोल्लेख तक न करके एकदम २६वीं गाथामें यह प्रतिपादन किया गया है कि मिथ्यात्वद्रव्य (जो कि मोहनीय कर्मका दर्शनमोहरूप एक प्रधान भेद है) तीन भेदोंमें कैसे बँटकर तीन प्रकृतिरूप हो जाता है। परन्तु जब पहलेसे मोहनीयके दो भेदों और दर्शनमोहनीयके तीन उपभेदोंका कोई निर्देश नहीं तब वे तीन उपभेद कैसे हो जाते हैं यह बतलाना कुछ खटकता हुआ जरूर जान पड़ता है, और इसीसे दोनों गाथाओंके मध्यमें किसी अंशके त्रुटित होनेकी कल्पना की जाती है। मूडबिद्रीकी उक्त प्राचीन प्रतिमें दोनोंके मध्यमें निम्न गद्यसूत्र उपलब्ध होते हैं:—

"वेदनीयं दुविहं सादावेदणीयमसादावेदणीयं चेइ। मोहणीयं दुविहं दंसणमोहणीयं चारित्तमोहनीयं चेइ। दंसणमोहणीयं बंधादो एयविहं मिच्छत्तं, उदयं संतं पडुच्च तिविहं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं सम्मत्तं चेइ।"

उक्त दर्शनमोहनीयके भेदोंकी प्रतिपादक २६वीं गाथाके बाद चारित्रमोहनीयकी मूलोत्तर प्रकृतियों, आयुकर्मकी प्रकृतियों और नामकर्मकी प्रकृतियोंका कोई नाम निर्देश न करके २७वीं गाथामें एकदम किसी कर्मके १५ संयोगी भेदोंको गिनाया गया है, जो नामकर्मकी शरीर-बन्धनप्रकृतियोंसे सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु वह कर्म कौनसा है और उसकी किन प्रकृतियोंके ये संयोगी भेद होते हैं, यह सब उस परसे ठीक तौर पर जाना नहीं जाता। और इसलिये वह अपने कथनकी सङ्गतिके लिये पूर्वमें किसी ऐसे कथनके अस्तित्वकी कल्पनाको जन्म देती है जो किसी तरह छूट गया अथवा त्रुटित हो गया है। वह कथन मूडबिद्रीका उक्त प्रतिमें निम्न गद्य सूत्रोंमें पाया जाता है, जिससे उत्तर-कथनकी संगति ठीक बैठ जाती है; क्योंकि इनमें चारित्र-मोहनीयकी २८, आयुकी ४ और नामकर्मकी मूल ४२ प्रकृतियोंका नामोल्लेख करनेके अनन्तर नामकर्मके जाति आदि भेदोंकी उत्तरप्रकृतियोंका उल्लेख करते हुए शरीर-बन्धन नामकर्मकी पाँच प्रकृतियों तक ही कथन किया गया है:—

"चारित्तमोहणीयं दुविहं कसायवेदणीयं णोकसायवेदणीयं चेइ। कसायवेदणीयं सोलसविहं खवणं पडुच्च अणंताणुबंधि-कोह-माण-माया-लोहं अपच्चक्खाण-पच्चक्खाणावरण-कोह-माण-माया-लोहं कोह-संजलणं माण-संजलणं माया-संजलणं लोह-संजलणं चेइ। पक्कमदव्वं पडुच्च अणंताणुबंधि-लोह-माया कोह-माणं संजलण-लोह-माया-कोह-माणं पच्चक्खाण-लोह-माया-कोह-माणं अपच्चक्खाण-लोह-माया-कोह-माणं चेइ। णोकसायवेदणीयं णवविहं पुरिसित्थिणउंसयवेदं रदि-अरदि-हस्स-सोग-भय-दुगुंछा चेदि। आउगं चउविहं णिरयायुगं तिरिक्ख-माणुस्स-देवाउगं चेदि। णामं बादालीसं पिंडापिंड-पयडिभेयेण गयि-जायि-सरीर-बंधण-संघाद-संठाण-अंगोवंग-संघडण-वण्ण-गंध-रस-फास-आणुपुव्वी-अगुरुगलहुगुवघाद-परघाद-उस्सास-आदाव-उज्जोद-विहायगयि-तस-थावर-बादर-सुहुम-पज्जत्तापज्जत्त-पत्तय-साहारणसरीर-थिराथिर-सुभासुभ-सुभग-दुब्भग-सुस्सर-दुस्सर-आदेज्जणादेज्जजसाजसकित्तिणिमिण-तित्थयरणामं चेदि। तत्थ गयिणामं चउविहं णिरय-तिरिक्खगयिणामं मणुव-देवगयिणामं चेदि। जायि-णामं पंचविहं एइंदिय-बीइंदिय-तीइंदिय-चउइंदिय-जायिणामं पंचिंदियजायिणामं चेदि। सरीरणामं पंच-विहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइयसरीर-णामं चेइ। सरीरबंधणणामं पंचविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइय-सरीरबंधणणामं चेइ।"

२७वीं गाथाके बाद जो २८वीं गाथा है उसमें शरीरमें होने वाले आठ अङ्गोंके नाम देकर शेषको उपाङ्ग बतलाया है; परन्तु उस परसे यह मालूम

नहीं होता कि ये अङ्ग कौनसे शरीर अथवा शरीरोंमें होते हैं। पूर्वकी गाथा नं० २७ में शरीरबन्धन-सम्बन्धी १५ संयोगी भेदोंकी सूचना करते हुए तैजस और कार्माण नामके शरीरोंका तो स्पष्ट उल्लेख है शेष तीनका 'तिए' पदके द्वारा संकेत मात्र है; परन्तु उनका नामोल्लेख पहलेकी भी किसी गाथामें नहीं है, तब उन अङ्गों-उपाङ्गोंको तैजस और कार्माणके अङ्ग-उपाङ्ग समझा जाय अथवा पाँचोंमेंसे प्रत्येक शरीरके अङ्ग-उपाङ्ग? तैजस और कार्माण शरीरके अङ्गोपाङ्ग मानने पर सिद्धान्तका विरोध आता है; क्योंकि सिद्धांतमें इन दोनों शरीरोंके अङ्गोपाङ्ग नहीं माने गये हैं और इसलिये प्रत्येक शरीरके अङ्गोपाङ्ग भी उन्हें नहीं कहा जा सकता है। शेष तीन शरीरोंमेंसे कौनसे शरीरके अङ्गोपाङ्ग यहाँ विवक्षित हैं यह संदिग्ध है। अतः गाथा नं० २८ का कथन अपने विषयमें अस्पष्ट तथा अधूरा है और उसकी स्पष्टता तथा पूर्तिके लिये अपने पूर्वमें किसी दूसरे कथनकी अपेक्षा रखता है। वह कथन मूडबिद्रीकी उक्त प्रतिमें दोनों गाथाओंके मध्यमें उपलब्ध होने वाले निम्न गद्यसूत्रोंमेंसे अन्तके सूत्रमें पाया जाता है, जो उक्त २८वीं गाथाके ठीक पूर्ववर्ती है और जिसमें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरोंकी दृष्टिसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके तीन भेद किये हैं और इस तरह इन तीन शरीरोंमें ही अङ्गोपाङ्ग होते हैं ऐसा निर्दिष्ट किया है :—

"सरीरसंघादणामं पंचविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइय-सरीरसंघादणामं चेदि। सरीर-संठाणणामकम्मं छव्विहं समचउरसंठाणणामं णग्गोद-परिमंडल-सादिय-कुज्ज-वामणहुड-सरीरसंठाण णामं चेदि। सरीर-अंगोवंगणामं तिविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहारसरीर-अंगोवंगणामं चेदि।"

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि २७वीं गाथाके पूर्ववर्ती गद्यसूत्रोंमें नामकर्मकी प्रकृतियोंका जो क्रम स्थापित किया गया है उसकी दृष्टिसे ही शरीरबन्धनादिके बाद २८वीं गाथामें अङ्गोपाङ्गका कथन किया गया है, अन्यथा तत्त्वार्थसूत्रकी दृष्टिसे वह कथन शरीरबन्धनादिकी प्रकृतियोंके पूर्वमें ही होना चाहिये था; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें "शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन" इस क्रमसे कथन है। और इससे नामकर्म-विषयक उक्त सूत्रोंकी स्थिति और भी सुदृढ होती है।

२८वीं गाथाके अनन्तर चार गाथाओं (नं० २९, ३०, ३१, ३२) में संहननोंका, जिनकी संख्या छह सूचित की है, वर्णन है अर्थात् प्रथम तीन गाथाओंमें यह बतलाया है कि किस किस संहननवाला जीव स्वर्गादि तथा नरकोंमें कहाँ तक जाता अथवा मरकर उत्पन्न होता है और चौथी (नं० ३२) में यह प्रतिपादित किया है कि 'कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहननोंका ही उदय रहता है, आदिके तीन संहनन तो उनके होते ही नहीं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।' परन्तु ठीक क्रम-आदिको लिये हुए छहों संहननोंके नामोंका उल्लेख नहीं किया—मात्र चार संहननोंके नाम ही इन गाथाओंपरसे उपलब्ध होते हैं—, जिससे 'आदिमतिगसंहडणं', 'अंतिमतिय संहडणस्स', 'तिदुगेगे संहडणे,' और 'पणचदुरेगसंहडणो' जैसे पदोंका ठीक अर्थ घटित हो सकता। और न यही बतलाया है कि ये छहों संहनन कौनसे कर्मकी प्रकृतियाँ हैं—पूर्वकी किसी गाथापरसे भी छहोंके नाम नामकर्मके नाम-सहित उपलब्ध नहीं होते। और इसलिये इन चारों गाथाओंका कथन अपने पूर्वमें ऐसे कथनकी माँग करता है जो ठीक क्रमादिके साथ छह संहननोंके नामोल्लेखको लिये हुए हो। ऐसा कथन मूडबिद्रीकी उक्त प्रतिमें २८वीं गाथाके अनन्तर दिये हुए निम्न सूत्रपरसे उपलब्ध होता है:—

"संहडण-णामं छव्विहं वज्जरिसहणारायसंहडण-णामं वज्जणाराय-णाराय-अद्धणाराय-खीलिय-असंपत्त-सेवट्टि-सरीरसंहडणणामं चेइ।"

यहाँ संहननोंके प्रथम भेदको अलग विभक्तिसे रखना अपनी खास विशेषता रखता है और वह ३०वीं गाथामें प्रयुक्त हुए 'इग' 'एग' शब्दोंके अर्थको ठीक व्यवस्थित करनेमें समर्थ है।

इसी तरह मूडबिद्रीकी उक्त प्रतिमें, नामकर्मकी अन्य प्रकृतियोंके भेदाऽभेदको लिये हुए तथा गोत्रकर्म और अन्तरायकर्मकी प्रकृतियोंको प्रदर्शित करने वाले और भी गद्यसूत्र यथास्थान पाये जाते हैं, जिन्हें स्थल-विशेषकी सूचनादिके बिना ही मैं यहाँ, पाठकोंकी जानकारीके लिये, उद्धृत कर देना चाहता हूँ:—

"वण्णणामं पंचविहं किण्ण-णील-रुहिर-पीद-सुक्किल-वण्णणामं चेदि। गंधणामं दुविहं सुगंध-दुग्गंध-णामं चेदि। रसणामं पंचविहं तिट्ट-कडु-कसायंबिल-महुर-रसणामं चेइ। फासणामं अट्ठविहं कक्कड-मउगगुरुलहुग-रुक्ख-सणिद्ध-सीदुसुण-फासणामं चेदि। आणुपुव्वीणामं चउविहं णिरय-तिरक्खगयि-पाओग्गाणुपुव्वीणामं माणुस-देवगयि-पाओग्गाणुपुव्वीणामं चेइ। अगुरुलघुग-उवघाद-परघाद-उस्सास-आदव-उज्जोद-णामं चेदि। विहायगदिणामकम्मं दुविहं पसत्थविहायगदिणामं अप्पसत्थविहायगदिणामं चेदि। तस-बादर- पज्जत्त-पत्तेय-सरीर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्ज-जसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणामं चेदि। थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारण-सरीर-अथिर-असुह- दुब्भग-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसकित्तिणामं चेदि। *गोदकम्मं दुविहं उच्च-णीचगोदं चेइ। अंतरायं पंचविहं दाण-लाभ-भोगोपभोग-वीरिय-अंतरायं चेइ।"

मूडबिद्रीकी उक्त प्रतिमें पाये जाने वाले ये सब सूत्र षट्खण्डागमके सूत्रोंपरसे थोड़ा बहुत संक्षेप करके बनाये गये मालूम होते हैं[1], अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आते और ग्रन्थके पूर्वाऽपर सम्बन्धको दृष्टिमें रखते हुए उसके आवश्यक अङ्ग जान पड़ते हैं, इसलिये इन्हें प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता आचार्य नेमिचन्द्रकी ही कृति अथवा योजना समझना चाहिये। पद्य-प्रधान ग्रन्थोंमें गद्यसूत्रों अथवा कुछ गद्य भागका होना कोई अस्वाभाविक अथवा दोषकी बात भी नहीं है, दूसरे अनेक पद्य-प्रधान ग्रन्थोंमें भी पद्योंके साथ कहीं-कहीं कुछ गद्य भाग उपलब्ध होता है; जैसे कि तिलोयपण्णत्ती और प्राकृतपञ्चसंग्रहमें। ऐसा मालूम होता है कि ये गद्यसूत्र टीका-टिप्पणका अंश समझे जाकर लेखकोंकी कृपासे प्रतियोंमें छूट गये हैं और इसलिये इनका प्रचार नहीं हो पाया। परन्तु टीकाकारोंकी आँखोंसे ये सर्वथा ओझल नहीं रहे हैं—उन्होंने अपनी टीकाओंमें इन्हें ज्यों-के-त्यों न रखकर अनुवादितरूपमें रक्खा है, और यही उनकी सबसे बड़ी भूल हुई है, जिससे मूलसूत्रोंका प्रचार रुक गया और उनके अभावमें ग्रन्थका यह अधिकार त्रुटिपूर्ण जँचने लगा। चुनाँचे कलकत्तासे जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था-द्वारा दो टीकाओंके साथ प्रकाशित इस ग्रन्थकी संस्कृत टीकामें (और तदनु-

---

* इस चिन्हसे पूर्ववर्ती सूत्रोंको गाथा नं० ३२ के और उत्तर-वर्ती सूत्रोंको गाथा नं० ३३ के बादके समझना चाहिये।

१ तुलनाके लिये दोनोंके कुछ सूत्र उदाहरणके तौरपर नीचे दिये जाते हैं:—

(क) "वेदणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ।" "सादावेदणीयं चेव असादावेदणीयं चेव।"

—षट् खं० १, ६ चू० ८

"वेदणीयं दुविहं सादावेदणीयमसादावेदणीय चेइ"

—गो० क० मूडबिद्री-प्रति

(ख) जं तं शरीरबंधणणामकम्मं तं पंचविहं ओरालिय-सरीरबंधणणामं, वेउव्विय-सरीरबंधणणामं आहार-सरीरबंधणणामं तेजासरीरबंधणणाम कम्मइयसरीरबंधणणामं चेदि।"

—षट् खं० १,६ चू० १

सरीरबंधणणामं पंचविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइय-सरीरबंधणणामं चेइ।"

—गो० क० मूडबिद्री-प्रति

सार भाषा टीकामें भी) ये सब सूत्र प्राय:[1] ज्यों-के-त्यों अनुवादके रूपमें पाये जाते हैं, जिसका एक नमूना २५वीं गाथाके साथ पाये जाने वाले सूत्रोंका इस प्रकार है:—

"वेदनीयं द्विविधं सातावेदनीयमसातावेदनीयं चेति। मोहनीयं द्विविधं दर्शनमोहनीयं चारित्र-मोहनीयं चेति। तत्र दर्शनमोहनीयं बंध-विवक्षया मिथ्यात्वमेकविधं उदयं सत्वं प्रतीत्य मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वप्रकृतिश्चेति त्रिविधं।"

और इससे इन सूत्रोंके मूलग्रन्थका अङ्ग होनेकी बात और भी सुदृढ़ हो जाती है। वस्तुतः इन सूत्रोंकी मौजूदगीमें ही अगली गाथाओंके भी कितने ही शब्दों, पद-वाक्यों अथवा सांकेतिक प्रयोगोंका अर्थ ठीक घटित किया जा सकता है—इनके अथवा इन जैसे दूसरे पद-वाक्योंके अभावमें नहीं। इस विषयके विशेष प्रदर्शन एवं स्पष्टीकरणको मैं लेखके बढ़ जानेके भयसे ही नहीं, किन्तु वर्तमानमें अनावश्यक समझकर भी, यहां छोड़े देता हूँ—विज्ञपाठक उसका अनुभव स्वतः कर सकते हैं; क्योंकि मैं समझता हूँ इस विषयमें ऊपर जो कुछ लिखा गया और विवेचन किया गया है वह सब इस बातके लिये पर्याप्त है कि ये सब सूत्र मूलग्रन्थके अंगभूत हैं। और इसलिए इन्हें ग्रन्थमें यथास्थान गाथाओंवाले टाइपमें ही पुनः स्थापित करके ग्रन्थके प्रकृत अधिकारकी त्रुटिको दूर करना चाहिये।

अब रही उन ७५ गाथाओंकी बात, जो 'कर्म-प्रकृति' प्रकरणमें तो पाई जाती हैं किन्तु गोम्मटसार-

---

[1] 'प्रायः' शब्दके प्रयोगका यहाँ आशय इतना ही है कि दो एक जगह थोड़ासा भेद भी पाया जाता है, वह या तो अनुवादादिकी ग़लती अथवा अनुवाद-पद्धतिसे सम्बन्ध रखता है अथवा उसे सम्पादनकी ग़लती समझना चाहिये। सम्पादनकी ग़लतीका एक स्पष्ट उदाहरण २२वीं गाथा-टीकाके साथ पाये जाने वाले निम्न सूत्रमें उपलब्ध होता है—

"दर्शनावरणीयं नवविधं स्त्यानगृद्धि निद्रा निद्रानिद्रा-प्रचला - प्रचलाप्रचला - चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीयं केवलदर्शनावरणीयं चेति।"

इसमें स्त्यानगृद्धिके बाद दो हाइफनों (-) के मध्यमें जो 'निद्रा' को रक्खा है उसे उस प्रकार वहाँ न रखकर 'प्रचलाप्रचला' के मध्यमें रखना चाहिये था और इस 'प्रचलाप्रचला' के पूर्वमें जो हाइफन है उसे निकाल देना चाहिये था, तभी मूलसूत्रके साथ और ग्रन्थकी अगली तीन गाथाओंके साथ इसकी संगति ठीक बैठ सकती थी। पं० टोडरमल्लजीकी भाषा टीकामें मूलसूत्रके अनुरूप ही अनुवाद किया गया है। अनुवाद-पद्धतिका एक नमूना ऊपर उद्धृत मोहनीय-कर्म-विषयक सूत्रमें पाया जाता है, जिसमें 'एकविध' और 'त्रिविध' पदोंको थोड़ा-सा स्थानान्तरित करके रक्खा गया है। और दूसरा नमूना २२वीं गाथाकी टीकामें उपलब्ध होता है, जिसका प्रारम्भ 'ज्ञानावरणादीनां यथासंख्यमुत्तरभेदाः पञ्चनव' इत्यादि रूपसे किया गया है और इसलिये मूलकर्मों के नाम-विषयक प्रथम सूत्रके ('तत्थ' शब्द-सहित) अनुवादको छोड़ दिया है; जब कि पं० टोडरमल्ल-जीकी टीकामें उसका अनुवाद किया गया है और उसमें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके नाम देकर उन्हें "आठ मूलप्रकृति" प्रकट किया है, जो कि संगत है और इस बातको सूचित करता है कि उक्त प्रथम सूत्रमें या तो उक्त आशयका कोई पद त्रुटित है अथवा 'मोहणीयं' पदकी तरह उद्धृत होनेसे रहगया है। इसके सिवाय, 'शरीरबन्धन' नामकर्मके पांच भेदोंका जो सूत्र २७वीं गाथाके पूर्व पाया जाता है उसे टीकामें २७ वीं गाथाके अनन्तर पाये जाने वाले सूत्रों में प्रथम रक्खा है। और इससे 'शरीरबन्धन' नामककर्मके जो १५ भेद होते थे वे 'शरीर' नामकर्मके १५ भेद होजाते हैं, जो कि एक सैद्धान्तिक ग़लती है और टीकाकार-द्वारा उक्त सूत्रको नियत स्थानपर न रखने के कारण २७वीं गाथाके अर्थमें घटित हुई है; क्योंकि षट्खण्डागममें भी 'ओरालिय-ओरालिय-शरीरबंधो' इत्यादि रूपसे १५ भेद शरीरबन्धके ही दिये हैं और उन्हें देकर श्रीवीरसेनस्वामीने धवला-टीकामें साफ लिखा है—
"एमो पण्णारसविहो बंधो सो सरीरबंधो त्ति घेत्तव्वो।"

के इस 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकरमें नहीं पाई जातीं, और जिनके विषयमें पं० परमानन्दजी शास्त्री-का यह कहना है कि वे सब कर्मकाण्डकी अंगभूत आवश्यक और सङ्गत गाथाएँ हैं, जो किसी समय लेखकोंकी कृपासे कर्मकाण्डसे छूट गई अथवा उससे जुदी पड़ गई हैं, और इसलिये उन्हें फिरसे कर्म-काण्डमें यथास्थान शामिल करके उसकी उस त्रुटि-को पूरा करना चाहिये जिसके कारण वह अधूरा और लडूँरा जान पड़ता है।

जहाँ तक मैंने उन विवादस्थ गाथाओं पर, उनके कर्मकाण्डका आवश्यक तथा सङ्गत अङ्ग होने, कर्मकाण्डसे किसी समय छूटकर कर्म-प्रकृतिके रूपमें अलग पड़जाने और कर्मकाण्डमें उनके पुन: प्रवेश कराने आदिके प्रश्नोंको लेकर, विचार किया है मुझे प्रथम तो यह मालूम नहीं हो सका कि 'कर्म-प्रकृति' प्रकरण और 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकार दोनोंको एक कैसे समझ लिया गया है, जिसके आधारपर एकमें जो गाथाएँ अधिक हैं उन्हें दूसरेमें भी शामिल करानेका प्रस्ताव रक्खा गया है; जब कि कर्मप्रकृतिमें प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकारसे ७५ गाथाएँ अधिक ही नहीं बल्कि उसकी ३५ गाथाएँ (नं० ५२ से ८६ तक) कम भी हैं, जिन्हें कर्मप्रकृतिमें शामिल करनेके लिये नहीं कहा गया, और इसी तरह २३ गाथाएँ कर्मकाण्डके द्वितीय अधिकारकी (नं० १२७ से १४५, १६३, १८०, १८१, १८४) तथा ११ गाथाएँ छठे अधिकारकी (नं० ८०० से ८१० तक) भी उसमें और अधिक पाई जाती हैं, जिन्हें पण्डित परमानन्दजीने अधिकार-भेदसे गाथा-संख्याके कुछ गलत उल्लेखके साथ स्वयं स्वीकार किया है, परन्तु प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकारमें उन्हें शामिल करनेका सुझाव नहीं रक्खा गया। दोनोंके एक होनेकी दृष्टिसे यदि एककी कमीको दूसरेसे पूरा किया जाय और इस तरह 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकारकी उक्त ३५ गाथाओंको कर्मप्रकृतिमें शामिल करानेके साथ-साथ कर्मप्रकृतिकी उक्त ३४ (२३+११) गाथाओंको भी प्रकृतिसमुत्कीर्तनमें शामिल करानेके लिये कहा जाय अर्थात यह प्रस्ताव किया जाय कि 'ये ३४ गाथाएँ चूँकि कर्मप्रकृतिमें पाई जाती हैं, जो कि वास्तवमें कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार है और 'प्रथम अंश' आदिरूपसे उल्लेखित भी मिलता है, इसलिये इन्हें भी वर्तमान कर्मकाण्डके 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकारमें त्रुटित समझा जाकर शामिल किया जाय' तो यह प्रस्ताव बिल्कुल ही असङ्गत होगा; क्योंकि ये गाथाएँ कर्मकाण्डके 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकारके साथ किसी तरह भी सङ्गत नहीं हैं और साथ ही उसमें अनावश्यक भी हैं। वास्तवमें ये गाथाएँ प्रकृतिसमुत्कीर्तनसे नहीं किन्तु स्थिति-बन्धादिकसे सम्बन्ध रखती हैं, जिनके लिये ग्रन्थकारने ग्रन्थमें द्वितीयादि अलग अधिकारों-की सृष्टि की है। और इसलिये एक योग्य ग्रन्थकारके लिये यह संभव नहीं कि जिन गाथाओंको वह अधिकृत अधिकारमें रक्खे उन्हें व्यर्थ ही अनधिकृत अधिकारमें भी डाल देवे। इसके सिवाय, कर्मप्रकृति-में, जिसे गोम्मटसारके कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार समझा और बतलाया जाता है, उक्त गाथाओंका देना प्रारम्भ करनेसे पहले ही 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' के कथनको समाप्त कर दिया है—लिख दिया है "इति पयडिसमुक्कित्तणं समत्तं ॥" और उसके अनन्तर तथा 'तीसं कोडाकोडी' इत्यादि गाथाको देनेसे पूर्व टीकाकार ज्ञानभूषणने साफ लिखा है:—

"इति प्रकृतीनां समुत्कीर्तनं समाप्तं ॥ अथ प्रकृति-स्वरूपं व्याख्याय स्थितिबन्धमनुपक्रमन्नादौ मूल-प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धमाह ।"

इससे 'कर्मप्रकृति' की स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है और वह गोम्मटसारके कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही ठहरता है, जिसमें 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' को ही नहीं किन्तु प्रदेश-बन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कथनोंको भी अपनी रुचिके अनुसार संकलित किया गया है और जिसका संकलन गोम्मटसारके निर्माणसे किसी समय बादको हुआ जान पड़ता है। उसे छोटा कर्मकाण्ड समझना चाहिये। इसीसे उक्त टीकाकारने

उसे 'कर्मकाण्ड' ही नाम दिया है—कर्मकाण्डका 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकार नाम नहीं, और अपनी टीकाको 'कर्मकाण्डस्य टीका' लिखा है; जैसाकि ऊपर एक फुटनोटमें उद्धृत किये हुए उसके प्रशस्ति-वाक्यसे प्रकट है। पं० हेमराजने भी, अपनी भाषा-टीकामें, ग्रन्थका नाम 'कर्मकाण्ड' और टीकाको 'कर्मकाण्ड-टीका' प्रकट किया है। और इसलिये शाहगढ़की जिस सटिप्पण प्रतिमें इसे 'कर्मकाण्डका प्रथम अंश' लिखा है वह किसी गलतीका परिणाम जान पड़ता है। संभव है कर्मकाण्डके आदि-भाग 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' से इसका प्रारम्भ देखकर और कर्मकाण्डसे इसको बहुत छोटा पाकर प्रतिलेखकने इसे पुष्पिकामें 'कर्मकाण्डका प्रथम अंश' सूचित किया हो। और शाहगढ़की जिस प्रतिमें ढाई अधिकारके करीब कर्मकाण्ड उपलब्ध है उसमें कर्म-प्रकृतिकी १६० गाथाओंको जो प्रथम अधिकारके रूपमें शामिल किया गया है वह संभवत: किसी ऐसे व्यक्तिका कार्य है जिसने कर्मकाण्डके 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकारको त्रुटित एवं अधूरा समझकर, पं० परमानन्दजीकी तरह, 'कर्मप्रकृति' ग्रन्थसे उसकी पूर्ति करनी चाही है और इसलिये कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारके स्थानपर उसे ही अपनी प्रतिमें लिखा लिया अथवा लिख लिया है और अन्य बातों-के सिवाय, जिन्हें आगे प्रदर्शित किया जायगा, इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि स्थितिबंधादि-से संबन्ध रखनेवाली उक्त २३ गाथाएँ, जो एक कदम आगे दूसरे ही अधिकारमें यथास्थान पाई जाती हैं उनकी इस अधिकारमें व्यर्थ ही पुनरावृत्ति हो रही है। अथवा यह भी हो सकता है कि वह कर्मकाण्ड कोई दूसरा ही बादको संकलित किया हुआ कर्मकाण्ड हो और कर्मप्रकृति उसीका प्रथम अधिकार हो। अस्तु; वह प्रति अपने सामने नहीं है और उतनी मात्र अधूरी भी बतलाई जाती है, अत: उसके विषयमें उक्त सङ्गत कल्पनाके सिवाय और अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी हालत में पं० परमानन्दजीका उक्त प्रतियों परसे यह फलित करना कि "कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारमें उक्त ७५ गाथाएँ पहलेसे ही संकलित और प्रचलित हैं"[1] कुछ विशेष महत्व नहीं रखता।

अब उन त्रुटित कही जाने वाली ७५ गाथाओं-पर, उनके प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकारका आवश्यक तथा सङ्गत अङ्ग होने न होने आदिकी दृष्टिसे, विचार किया जाता है:—

(१) गो० कर्मकाण्डकी १५वीं गाथाके अनन्तर जो 'सियअत्थिणत्थिउभयं' नामकी गाथा त्रुटित बतलाई जाती है वह ग्रन्थ-संदर्भकी दृष्टिसे उसका संगत तथा आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होती; क्योंकि १५वीं गाथामें जीवके दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व-गुणोंका निर्देश करके १६वीं गाथामें उनके क्रमका निर्देश किया गया है, बीचमें स्यात् अस्ति-नास्ति आदि सप्तनयोंका स्वरूपनिर्देशके बिना ही नामोल्लेख-मात्र करके यह कहना कि 'द्रव्य आदेशवशसे इन सप्तभङ्गरूप होता है' कोई सङ्गत अर्थ नहीं रखता। जान पड़ता है १५वीं गाथामें सप्तभङ्गों द्वारा श्रद्धान-की जो बात कही गई है उसे लेकर किसीने 'सत्त-भंगीहिं' पदके टिप्पणरूपमें इस गाथाको अपनी प्रतिमें पंचास्तिकायग्रन्थसे, जहाँ वह नं० १५ पर पाई जाती है उद्धृत किया होगा, जो बादको संग्रह करते समय कर्मप्रकृतिके मूलमें प्रविष्ट हो गई। शाहगढ़वाले टिप्पणमें इसे प्रक्षिप्त सूचित भी किया है'।

(२) २०वीं गाथाके अनन्तर 'जीवपएसेक्केक्के, अत्थिअणाईभूओ, भावेण तेण पुनरवि, एकसमय-णिबद्धं, सो बंधोचउभेओ' इन पांच गाथाओंको जो त्रुटित बतलाया है[2] वे भी गोम्मटसारके इस

---

१ अनेकान्त वर्ष ३ किरण १२ पृ० ७६३।

२ अनेकान्त वर्ष ३ कि० ८-९ पृ० ५४०।

मेरे पास कर्म-प्रकृतिकी एक वृत्तिसहित प्रति और है, जिसमें यहाँ पाँचके स्थानपर छह गाथाएँ हैं। छठी गाथा 'सो बंधो चउभेओ' से पूर्व इस प्रकार है:—

'आउगभागो थोवो णामागोदे समो ततो अहियो।
घादितिये वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदी(दि)ये'॥

प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकारका कोई आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होतीं और न संगत ही जान पड़ती हैं; क्योंकि २०वीं गाथामें आठ कर्मोंका जो पाठ-क्रम है उसे सिद्ध सूचित करके २१वीं गाथामें दृष्टान्तों द्वारा उनके स्वरूपका निर्देश किया है, जो संगत है। इन पांच गाथाओंमें जीवप्रदेशों और कर्मप्रदेशोंके बन्धादिका उल्लेख है और अन्तकी गाथामें बन्धके प्रकृति, स्थिति आदि चार भेदोंका उल्लेख करके यह सूचित किया है कि प्रदेशबन्धका कथन ऊपर हो चुका;[1] चुनाँचे आगे प्रदेशबन्धका कथन किया भी नहीं। और इसलिये पूर्वापर कथनके साथ इनकी सङ्गति ठीक नहीं बैठती। कर्मप्रकृति ग्रन्थमें चूंकि चारों बंधोंका कथन है, इसलिये उसमें खींचतान करके किसी तरह इनका सम्बन्ध बिठलाया जासकता है परन्तु गोम्मटसारके इस प्रथम अधिकारमें तो इनकी स्थिति समुचित प्रतीत नहीं होती, जब कि उसके दूसरे ही अधिकारमें बन्ध-विषयका स्पष्ट उल्लेख है। ये गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें देवसेनके भाव-संग्रहसे उठाकर रक्खी गई मालूम होती हैं, जिसमें ये नं० ३२५से ३२९ तक पाई जाती हैं।

(३) २१वीं और २२वीं गाथाओंके मध्यमें 'णाणावरणं कम्मं, दंसणआवरणं पुण, महुलित्त-खग्गसरिसं, मोहेइ मोहणीयं, आउं चउप्पयारं, चित्त पड व विचित्तं, गोदं कुलालसरिसं, जह भंडयारिपुरिसो' इन आठ गाथाओंकी स्थिति भी सङ्गत मालूम नहीं होती। उनकी उपस्थितिमें २१वीं और २२वीं दोनों गाथाएँ व्यर्थ पड़ती हैं; क्योंकि २१वीं गाथामें जब दृष्टान्तों-द्वारा आठों कर्मोंके स्वरूपका और २२वीं गाथामें उन कर्मोंकी उत्तर प्रकृति-संख्याका निर्देश है तब इन आठों गाथाओंमें दोनों बातोंका एक साथ निर्देश है। इन गाथाओंमें जब प्रत्येक कर्मकी अलग अलग उत्तरप्रकृतियोंकी संख्याका निर्देश किया जाचुका तब फिर २२वीं गाथामें यह कहना कि 'कर्मोंकी क्रमशः ५, ९, २, २८, ४, ९३ या १०३, २, ५ उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं' क्या अर्थ रखता है? व्यर्थताके सिवाय उससे और कुछ भी फलित नहीं होता। एक सावधान ग्रन्थकारके द्वारा ऐसी व्यर्थ रचनाकी कल्पना नहीं की जासकती। ये गाथाएँ यदि २२वीं गाथाके बाद रक्खी जातीं तो उसकी भाष्य-गाथाएँ होसकती थीं, और फिर २१वीं गाथा-को देनेकी जरूरत नहीं थी; क्योंकि उसका विषय भी इनमें आगया है। ये गाथाएँ भी उक्त भावसंग्रह-की हैं और वहींसे उठाकर कर्मप्रकृतिमें रक्खी गई मालूम होती हैं। भावसंग्रहमें ये ३३१ से ३३८ नम्बरकी गाथाएँ हैं[1]।

(४) गो० कर्मकाण्डकी २३वीं गाथाके अनन्तर कर्मप्रकृतिमें 'अहिमुहणियमियबोहण, अत्थादो अत्थंतर, अवहीयदि त्ति ओही, चिंतियमचिंतियं वा, संपुण्णं तु समग्गं, मदिसुदओहीमणपज्जव, जं सामण्णं गहणं, चक्खूण जं पयासइ, परमाणुआदिया-इ, बहुविहबहुप्पयारा, चक्खू य चक्खुओही, अह थीणगिद्धिणिद्दा' ये १२ गाथाएँ पाई जाती हैं, जिन्हें कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारमें त्रुटित बतलाया जाता है। इनमेंसे मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानों और चक्षु-दर्शनादि चार दर्शनोंके लक्षणोंकी जो ९ गाथाएँ हैं वे उक्त अधिकारकी कथनशैली और विषयप्रति-पादनकी दृष्टिसे उसका कोई आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होतीं—खासकर उस हालतमें जब कि वे ग्रन्थके पूर्वार्ध जीवकाण्डमें पहलेसे आचुकी हैं और उसमें

१ "पयडिट्ठिदिअणुभागं पएसबंधो पुरा कहियो," कर्म-प्रकृतिकी अनेक प्रतियोंमें यही पाठ पाया जाता है, जो ठीक जान पड़ता है; क्योंकि 'जीवपएसेक्केक्के' इत्यादि पूर्वकी तीन गाथाओंमें प्रदेशबन्धका ही कथन है। ज्ञानभूषणने टीकामें इसका अर्थ देते हुए लिखा है:— "ते चत्वारो भेदाः के? प्रकृतिस्थित्यनुभागाः प्रदेशबन्धश्च अयभेदः पुरा कथितः।" अतः अनेकान्तकी उक्त किरण ८-६ में जो 'पयडिट्ठिदिअणुभागप्पएसबंधो हु चउविहो कहियो' पाठ दिया है वह ठीक मालूम नहीं होता—उसके पूर्वार्धमें 'चउभेयो' पदके होते हुए उत्तरार्धमें 'चउविहो' पदके द्वारा उसकी पुनरावृत्ति खटकती भी है।

१ देखो, माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित 'भाव-संग्रहादि' ग्रन्थ।

क्रमशः नं० ३०५, ३१४, ३६९, ४३७, ४५९, ४८१, ४८३, ४८४, ४८५ पर दर्ज हैं। शेष तीन गाथाएँ ('मदिसुद-ओहीमणपज्जव', 'चक्खूअचक्खुओही' 'अह थीण-गिद्धिणिद्दा') जिनमें ज्ञानावरणकी ५ और दर्शना-वरणकी ९ उत्तरप्रकृतियोंके नाम हैं, प्रकरणके साथ सङ्गत हैं अथवा यों कहिये कि २२वीं गाथाके बाद उनकी स्थिति ठीक कही जा सकती है; क्योंकि मूलसूत्रोंकी तरह उनसे भी अगली तीन गाथाओं (नं० २३, २४, २५) की सङ्गति ठीक बैठ जाती है।

(५) कर्मकाण्डमें २५वीं गाथाके बाद 'दुविहं खु वेयणीयं' और 'बंधादेगं मिच्छं' नामकी जिन दो गाथाओंको कर्मप्रकृतिके अनुसार त्रुटित बतलाया जाता है वे भी प्रकरणके साथ सङ्गत हैं अथवा उनकी स्थितिको २५वीं गाथाके बाद ठीक कहा जा सकता है; क्योंकि मूलसूत्रोंकी तरह उनमें भी क्रम-प्राप्त वेदनीयकर्मकी दो उत्तर प्रकृतियों और मोहनीय कर्मके दो भेद करके प्रथम भेद दर्शनमोहके तीन भेदोंका उल्लेख है, और इसलिये उनसे भी अगली २६वीं गाथाकी सङ्गति ठीक बैठ जाती है।

(६) कर्मकाण्डकी २६वीं गाथाके अनन्तर कर्म-प्रकृतिमें 'दुविहं चरित्तमोहं, अणं अपच्चक्खाणं, सिलपुढविभेदधूली, सिलट्ठिकट्ठवेत्ते, वेणुवमूलोरब्भय-किमिरायचक्कतणुमल, सम्मत्तं देससयल, हस्सरदि, अरदि-सोयं, छादयदि सयं दोसे, पुरुगुणभोगे सेदे, णेवित्थी णेव पुमं, णारयतिरियणरामर, णेरइयतिरिय-माणुस, ओरालियवेगुव्विय' ये १४ गाथाएँ पाई जाती हैं, जिन्हें कर्मकाण्डके इस प्रथम अधिकारमें त्रुटित बतलाया जाता है। इनमेंसे ८ गाथाएँ जो अनंतानुबन्धि आदि सोलहकषायों और स्त्रीवेदादि तीन वेदोंके स्वरूपसे सम्बन्ध रखती हैं वे भी इस अधिकारकी कथन-शैली आदिकी दृष्टिसे उसका कोई आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होतीं—खासकर उस हालतमें जब कि वे जीवकाण्डमें पहले आचुकी हैं और उसमें क्रमशः नं० २८३, २८४, २८५, २८६, २८२, २७३, २७२, २७४ पर दर्ज हैं। शेष ६ गाथाएँ (पहली दो, मध्यकी 'हस्सरदिअरदिसोयं' नामकी एक और अन्तकी तीन), जो चारित्रमोहनीय कर्मकी २५, आयु कर्मकी ४ और नामकर्मकी ४२ पिण्डा-ऽपिण्ड प्रकृतियोंमेंसे गतिकी ४ जातिकी ५ और शरीरकी ५ उत्तर प्रकृतियोंके नामोल्लेखको लिये हुए हैं, प्रकरणके साथ सङ्गत कही जा सकती हैं; क्योंकि इस हद तक वे भी मूल सूत्रोंके अनुरूप हैं। परन्तु मूलसूत्रोंके अनुसार २७वीं गाथाके साथ सङ्गत होनेके लिये शरीर बन्धनकी उत्तर-प्रकृतियोंसे सम्बन्ध रखने वाली 'पंचय सरीरबधण' नामकी वह गाथा उनके अनन्तर और होनी चाहिये जो २७वीं गाथाके अनन्तर पाई जाने वाली ४ गाथाओंमें प्रथम है, अन्यथा २७वीं गाथामें जिन १५ संयोगी भेदोंका उल्लेख वे शरीरबन्धनके नाम न होकर शरीरके हो जाते हैं, जो कि एक सैद्धान्तिक भूल है और जिसका ऊपर स्पष्टीकरण किया जा चुका है। एक सूत्र अथवा गाथाके आगे-पीछे हो जानेसे, इस विषयमें, कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिके प्रायः सभी टीकाकारोंने गलती खाई है, जो उक्त २७वीं गाथाकी टीकामें यह लिख दिया है कि 'ये १५ संयोगी भेद शरीर-के हैं', जबकि वे वास्तवमें 'शरीरबन्धन' नाम कर्मके भेद हैं।

(७) कर्मकाण्डकी २७वीं गाथाके पश्चात् कर्म-प्रकृतिमें 'पंच य सरीरबधण, पंच संघादणाम, समचउरं णग्गोहं, ओरालियवेगुव्विय' ये चार गाथाएँ पाई जाती हैं, जिन्हें कर्मकाण्डमें त्रुटित बतलाया जाता है। इनमेंसे पहली गाथा तो २७वीं गाथाके ठीक पूर्वमें संगत बैठती है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। शेष तीन गाथाएँ यहाँ संगत कही जा सकती हैं; क्योंकि इनमें मूल-सूत्रोंके अनुरूप संघात-की ५, संस्थानकी ६ और अङ्गोपाङ्ग नामकर्मकी ३ उत्तर प्रकृतियोंका क्रमशः नामोल्लेख है। पिछली (चौथी) गाथाकी अनुपस्थितिमें तो अगली कर्म-काण्ड वाली २८वीं गाथाका अर्थ भी ठीक घटित नहीं हो सकता, जिसमें आठ अङ्गोंके नामदेकर शेष-को उपाङ्ग बतलाया है और यह नहीं बतलाया कि वे अङ्गोपाङ्ग कौनसे शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं।

(८) कर्मकाण्डकी २८वीं गाथाके अनन्तर कर्म-प्रकृतिमें 'दुविहं विहायणाम', तह अद्धं णारायं, जस्स कम्मस्स उदये वज्जमयं, जस्सुदये वज्जमयं, जस्सुदये वज्जमया, वज्जविसेसणरहिदा, जस्स कम्मस्स उदये अवज्जहड्डा, जस्स कम्मस्स उदये अण्णोण्ण' ये ८ गाथाएँ उपलब्ध हैं, जिन्हें कर्मकाण्डमें त्रुटित बतलाया जाता है। इनमेंसे पहली दो गाथाएँ तो आवश्यक और सङ्गत हैं, क्योंकि वे मूल-सूत्रोंके अनुरूप हैं और उनकी उपस्थितिसे कर्मकाण्डकी अगली तीन गाथाओं (२९, ३०, ३१) का अर्थ ठीक बैठ जाता है। शेष ६ गाथाएँ, जो छहों संहननोंके स्वरूपकी निर्देशक हैं, इस अधिकारका कोई आवश्यक तथा अनिवार्य अङ्ग नहीं कही जा सकतीं; क्योंकि सब प्रकृतियोंके स्वरूप अथवा लक्षण-निर्देश-की पद्धतिको इस अधिकारमें अपनाया नहीं गया है। इन्हें भाष्य अथवा व्याख्यान गाथाएँ कहा जा सकता है। इनकी अनुपस्थितिसे मूल ग्रन्थके सिलसिले अथवा उसकी सम्बद्ध रचनामें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(९) कर्मकाण्डकी ३१वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृति-में 'घम्मा वंसा मेघा, मिच्छापुव्वदुगादिसु, विमल-चउक्के छट्ठं, सव्वविदेहेसु तहा' नामकी ४ गाथाएँ उपलब्ध हैं, जिन्हें भी कर्मकाण्डमें त्रुटित बतलाया जाता है। इनमेंसे पहली गाथा, जो नरकभूमियोंके नामोंकी है प्रकृत अधिकारका कोई आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होती। जान पड़ता है ३१वीं गाथामें 'मेघा' पृथ्वीका जो नामोल्लेख है और शेष नरक-भूमियोंकी बिना नामके ही सूचना पाई जाती है, उसे लेकर किसीने यह गाथा उक्त गाथाकी टिप्पणी रूपमें त्रिलोकसार अथवा जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति परसे अपनी प्रतिमें उद्धृत की होगी, जहाँ यह क्रमशः नं० १४५ पर तथा ११वें अ० के नं० ११२ पर पाई जाती है, और वहाँसे संग्रह करते हुए यह कर्मप्रकृतिके मूलमें प्रविष्ट हो गई है। शाहगढ़के उक्त टिप्पणमें इसे भी 'सियअत्थिणत्थि' गाथाकी तरह प्रक्षिप्त बतलाया है और सिद्धान्त-गाथा प्रकट किया है[1]। शेष तीन गाथाएँ, जो संहनन-सम्बन्धी विशेष कथनको लिये हुए हैं, यद्यपि प्रकरणके साथ सङ्गत हो सकती हैं परन्तु वे उसका कोई ऐसा आवश्यक अङ्ग नहीं कही जा सकतीं, जिसके अभावमें उसे त्रुटित अथवा असम्बद्ध कहा जा सके। मूल-सूत्रोंमें इन चारों ही गाथाओंमेंसे किसीके भी विषयसे मिलता जुलता कोई सूत्र नहीं है, और इसलिये इनकी अनुपस्थितिसे कर्मकाण्डमें कोई असङ्गति पैदा नहीं होती।

(१०) कर्मकाण्डकी ३२वीं गाथाके अनन्तर कर्म-प्रकृतिमें 'पंच य वण्णस्सेदं, तित्त कडुव कसायं, फासं अट्ठवियप्पं, एदा चोद्दसपिंडप्पयडीओ, अगुरु-लघुगउवघादं' नामकी ५ गाथाएँ उपलब्ध हैं और ३३वीं गाथाके अनन्तर "तस थावरं च बादर, सुहअसुहसुहगदुब्भग, तसबादरपज्जत्तं, थावर-सुहुमपज्जत्तं, इदि णामप्पयडीओ, तह दाणलाहभोगे" ये ६ गाथाएँ उपलब्ध हैं, जिन सबको भी कर्मकाण्डमें त्रुटित बतलाया जाता है। इनमेंसे ९ गाथाओंमें नामकर्मकी शेष वर्णादि-विषयक उत्तरप्रकृतियोंका और पिछली दो गाथाओंमें गोत्रकर्मकी २ तथा अन्तरायकर्मकी ५ उत्तरप्रकृतियोंका नामोल्लेख है। यद्यपि मूल-सूत्रोंके साथ इनका कथनक्रम कुछ भिन्न है परन्तु प्रतिपाद्य विषय प्रायः एक ही है, और इसलिये इन्हें सङ्गत तथा आवश्यक कहा जा सकता है। ग्रन्थमें इन उत्तरप्रकृतियोंकी पहलेसे प्रतिष्ठाके बिना ३३वीं तथा अगली-अगली गाथाओंमें इनसे सम्बन्ध रखने वाले विशेष कथनोंकी सङ्गति ठीक नहीं बैठती। अतः प्रतिपाद्य विषयकी ठीक व्यवस्था के लिये इन सब उत्तरप्रकृतियोंका मूलतः अथवा उद्देश्यरूपमें उल्लेख बहुत जरूरी है—चाहे वह सूत्रोंमें हो या गाथाओंमें।

(११) कर्मकाण्डकी ३४वीं गाथाके बाद कर्म-प्रकृतिमें 'वण्णरसगंधफासा' नामकी जो एक गाथा पाई जाती है उसमें प्रायः उन बन्धरहित प्रकृतियोंका ही स्पष्टीकरण है जिनकी सूचना पूर्वकी गाथा (३४) में की गई है और उत्तरकी गाथा (३५) से भी जिनकी संख्या-विषयक सूचना मिलती है, और इसलिये वह

1 अनेकान्त वर्ष ३, कि० १२, पृष्ठ ७६३

कर्मकाण्डका कोई आवश्यक अङ्ग नहीं है—उसे व्याख्यान-गाथा कह सकते हैं। मूल-सूत्रोंमें भी उसके विषयका कोई सूत्र नहीं है। यह पञ्चसंग्रहके द्वितीय अधिकारकी गाथा है और संभवतः वहींसे संग्रह की गई है।

(१२) कर्मकाण्डकी 'मणवयणकायवक्को' नामकी ८०८वीं गाथाके अनन्तर कर्मप्रकृति में 'दंसणविसुद्धिविणयं, सत्तीदो चागतवा, पवयणपरमाभत्ती, एदेहिं पसत्थेहिं, तित्थयरसत्तकम्मं' ये पाँच गाथाएँ पाई जाती हैं, जिन्हें भी कर्मकाण्डमें त्रुटित बतलाया जाता है। इनमेंसे प्रथम चार गाथाओंमें दर्शनविशुद्धि आदि षोडश भावनाओंको तीर्थङ्कर नामकर्मके बन्धकी कारण बतलाया है और पाँचवींमें यह सूचित किया है कि तीर्थङ्कर नामकर्मकी प्रकृतिका जिसके बन्ध होता है वह तीन भवमें सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होता है और जो क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त होता है वह अधिक-से-अधिक चौथे भवमें जरूर मुक्त हो जाता है। यह सब विशेष कथन है और विशेष कथनके करने-न-करनेका हरएक ग्रन्थकारको अधिकार है। ग्रंथकार महोदयने यहाँ छठे अधिकारमें सामान्य-रूपसे शुभ और अशुभ नामकर्मके बन्धके कारणोंको बतला दिया है—नामकर्मकी प्रत्येक प्रकृति अथवा कुछ खास प्रकृतियोंके बन्ध-कारणोंको बतलाना उन्हें उसी तरह इष्ट नहीं था जिस तरह कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय जैसे कर्मोंकी अलग-अलग प्रकृतियोंके बंध-कारणोंको बतलाना उन्हें इष्ट नहीं था; क्योंकि वेदनीय, आयु और गोत्र नामके जिन कर्मोंकी अलग-अलग प्रकृतियोंके बन्ध-कारणोंको बतलाना उन्हें इष्ट था उनको उन्होंने बतलाया है। ऐसी हालतमें उक्त विशेष-कथन-वाली गाथाओंको त्रुटित नहीं कहा जा सकता और न उनकी अनुपस्थितिसे ग्रंथको अधूरा या लडूँरा ही घोषित किया जा सकता है। उनके अभावमें ग्रंथकी कथन-सङ्गतिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता और न किसी प्रकारकी बाधा ही उपस्थित होती है।

इस प्रकार त्रुटित कही जाने वाली ये ७५ गाथाएँ हैं, जिनमेंसे ऊपरके विवेचनानुसार मूल सूत्रोंसे सम्बन्ध रखने वाली मात्र २८ गाथाएँ ही ऐसी हैं जिनका विषय प्रस्तुत कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारमें त्रुटित है और उस त्रुटित विषयकी दृष्टिसे जिन्हें त्रुटित कहा जा सकता है, शेष ४७ गाथाओंमेंसे कुछ असङ्गत हैं, कुछ अनावश्यक हैं और कुछ लक्षण-निर्देशादिरूप विशेष कथनको लिये हुए हैं, जिसके कारण वे त्रुटित नहीं कही जा सकतीं। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या उक्त २८ गाथाओंको, जिनका विषय त्रुटित है, उक्त अधिकारमें यथास्थान प्रविष्ट एवं स्थापित करके उसकी त्रुटि-पूर्ति और गाथा-संख्यामें वृद्धि की जाय? इसके उत्तरमें मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि, जब गोम्मटसारकी प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतिमें मूल-सूत्र उपलब्ध हैं और उनकी उपस्थितिमें उन स्थानों पर त्रुटित अंशकी कोई कल्पना उत्पन्न नहीं होती—सब कुछ सङ्गत हो जाता है—तब उन्हें ही ग्रंथकी दूसरी प्रतियोंमें भी स्थापित करना चाहिये। उन सूत्रोंके स्थान पर इन गाथाओंको तभी स्थापित किया जा सकता है जब यह निश्चित और निर्णीत हो कि स्वयं ग्रन्थकार नेमिचन्द्राचार्यने ही उन सूत्रोंके स्थान पर बादको इन गाथाओंकी रचना एवं स्थापना की है; परन्तु इस विषयके निर्णयका अभी तक कोई समुचित साधन नहीं है।

कर्मप्रकृतिको उन्हीं सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रकी कृति कहा जाता है; परन्तु उसके उन्हींकी कृति होनेमें अभी सन्देह है। जहाँ तक मैंने इस विषय पर विचार किया है मुझे वह उन्हीं आचार्य नेमिचन्द्रकी कृति मालूम नहीं होती; क्योंकि उन्होंने यदि गोम्मटसार-कर्मकाण्डके बाद उसके प्रथम अधिकारको विस्तार देनेकी दृष्टिसे उसकी रचना की होती तो वह कृति और भी अधिक सुव्यवस्थित होती, उसमें असङ्गत तथा अनावश्यक गाथाओंको—खासकर ऐसी गाथाओंको जिनसे पूर्वापरकी गाथाएँ व्यर्थ पड़ती हैं अथवा अगले अधिकारोंमें

जिनकी उपस्थितिसे व्यर्थकी पुनरावृत्ति होती है—स्थान न दिया जाता, जो कि सिद्धान्तचक्रवर्ती-जैसे योग्य ग्रन्थकारकी कृतिमें बहुत खटकती हैं, और न उन ३५ (नं० ५२ से ८६ तककी) सङ्गत गाथाओंको निकाला ही जाता जो उक्त अधिकारमें पहलेसे मौजूद थीं और अबतक चली आती हैं और जिन्हें कर्मप्रकृतिमें नहीं रक्खा गया। साथ ही, अपनी १२१वीं अथवा कर्मकाण्डकी 'गदिजादीउस्सासं' नामक ५१वीं गाथाके अनन्तर ही 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' अधिकारकी समाप्तिको घोषित न किया जाता। और यदि कर्मकाण्डसे पहले उन्हीं आचार्य महोदयने कर्मप्रकृतिकी रचना की होती तो उन्हें अपनी उन पूर्व-निर्मित २८ गाथाओंके स्थानपर सूत्रोंको नव-निर्माण करके रखनेकी ज़रूरत न होती—खासकर उस हालतमें जबकि उनका कर्मकाण्ड भी पद्यात्मक था। और इसलिये मेरी रायमें यह 'कर्मप्रकृति' या तो नेमिचन्द्र नामके किसी दूसरे आचार्य, भट्टारक अथवा विद्वानकी कृति है जिनके साथ नाम-साम्यादि-के कारण 'सिद्धान्तचक्रवर्ती'का पद बादको कहीं-कहीं जुड़ गया है—सब प्रतियोंमें वह नहीं पाया जाता[1]। और या किसी दूसरे विद्वानने उसका सङ्कलन कर उसे नेमिचन्द्र आचार्यके नामाङ्कित किया है, और ऐसा करनेमें उसकी दो दृष्टि हो सकती हैं—एक तो ग्रन्थ-प्रचारकी और दूसरी नेमिचन्द्रके श्रेयकी तथा उपकार-स्मरणको स्थिर रखनेकी। क्योंकि इस ग्रन्थका अधिकांश शरीर आद्यन्तभागों सहित, उन्हींके गोम्मटसार परसे बना है—इसमें गोम्मटसारकी १०२ गाथाएँ तो ज्यों-की-त्यों उद्धृत हैं और २८ गाथाएँ उसीके गद्यसूत्रों परसे निर्मित हुई जान पड़ती हैं। शेष ३० गाथाओंमेंसे १६ दूसरे कई ग्रन्थोंकी ऊपर सूचित की जाचुकी हैं और १४ ऐसी हैं जिनके ठीक स्थानका अभी तक पता नहीं चला—वे धवलादि ग्रन्थोंके षट्संहननोंके लक्षण-जैसे वाक्योंपरसे खुदकी निर्मित भी हो सकती हैं।

हाँ, ऐसी सन्दिग्ध अवस्थामें यह हो सकता है कि प्राकृत मूल-सूत्रोंके नीचे उनके अनुरूप इन सूत्रा-नुसारिणी २८ गाथाओंको भी यथास्थान ब्रैकट [ ] के भीतर रख दिया जावे, जिससे पद्य-प्रेमियोंको पद्य-क्रमसे ही उनके विषयके अध्ययन तथा कण्ठस्थादि करनेमें सहायता मिल सके। और यह गाथाओंके संस्कृत छायात्मक रूपकी तरह गद्य-सूत्रोंका पद्यात्मक रूप कहलाएगा, जिसके साथ रहनेमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती—मूल ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण बना रहता है। आशा है विद्वज्जन इसपर विचार कर समुचित मार्गको अङ्गीकार करेंगे।

ग्रन्थकी टीकाएँ

इस गोम्मटसार ग्रन्थपर मुख्यतः चार टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक, अभयचन्द्राचार्यकी संस्कृत टीका 'मन्दप्रबोधिका', जो जीवकाण्डकी गाथा नं० ३८३ तक ही पाई जाती है, ग्रन्थके शेष भागपर वह बनी या कि नहीं, इसका कोई ठीक निश्चय नहीं। दूसरी, केशववर्णीकी संस्कृत-मिश्रित कनडी टीका 'जीवतत्त्व-प्रदीपिका', जो ग्रन्थके दोनों काण्डोंपर अच्छे विस्तारको लिये हुए है और जिसमें मन्दप्रबोधिका का पूरा अनुसरण किया है। तीसरी, नेमिचन्द्राचार्य-की संस्कृत टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका', जो पिछली दोनों टीकाओंका गाढ अनुसरण करती हुई ग्रन्थके दोनों काण्डोंपर यथेष्ट विस्तारके साथ लिखी गई है। और चौथी, पं० टोडरमल्लजीकी हिन्दी टीका

१ भट्टारक ज्ञानभूषणने अपनी टीकामें कर्मकाण्ड अपर नाम कर्मप्रकृतिको 'सिद्धान्तज्ञानचक्रवर्ति-श्रीनेमिचन्द्र-विरचित' लिखा है। इसमें 'सिद्धान्त' और 'चक्रवर्ति'के मध्यमें 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग अपनी कुछ खास विशेषता रखता हुआ मालूम होता है और उसके संयोगसे इस विशेषण-पदकी वह स्पिरिट नहीं रहती जो मतिचक्रसे षट्खण्डरूप आगम-सिद्धान्तकी साधना कर सिद्धान्त-चक्रवर्ती बननेकी बतलाई गई है (क० ३९७); बल्कि सिद्धान्त-ज्ञानके प्रचारकी स्पिरिट सामने आती है। और इसलिये इसका संग्रहकर्ता प्रचारकी स्पिरिटको लिये हुए कोई दूसरा ही होना चाहिये, ऐसा इस प्रयोग परसे ख़याल उत्पन्न होता है।

'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका', जो संस्कृत टीकाके विषयको खूब स्पष्ट करके बतलाने वाली है और जिसके आधारपर हिन्दी, अँग्रेजी तथा मराठीके अनुवादों[1] का निर्माण हुआ है। इनमेंसे दूसरी केशववर्णीकी टीकाको छोड़कर, जो अभीतक अप्रकाशित है, शेष तीनों टीकाएँ कलकत्तासे 'गांधी हरिभाई देवकरण जैनग्रन्थमाला' में एक साथ प्रकाशित हो चुकी हैं। कनडी और संस्कृत दोनों टीकाओंका एक ही नाम (जीवतत्त्वप्रदीपिका) होने, मूल ग्रन्थकर्ता और संस्कृत टीकाकारका भी एक ही नाम (नेमिचन्द्र) होने, कर्मकाण्डकी गाथा नं० ९७२ के एक अस्पष्ट उल्लेखपरसे चामुण्डरायको कनडी टीकाका कर्त्ता समझा जाने और संस्कृत टीकाके 'श्रित्वा कर्णाटकीं वृत्तिं' पद्यके द्वितीय चरणमें 'वर्णि-श्रीकेशवैः कृतां[2]' की जगह कुछ प्रतियोंमें 'वर्णि-श्रीकेशवैः कृतिः' पाठ उपलब्ध होने आदि कारणोंसे पिछले अनेक विद्वानोंको, जिनमें पं० टोडरमल्लजी भी शामिल हैं, संस्कृत टीकाके कर्तृत्व विषयमें भ्रम रहा है और उसके फलस्वरूप उन्होंने उसका कर्ता 'केशववर्णी' लिख दिया है[3]। चुनाँचे कलकत्तासे गोम्मटसारका जो संस्करण दो टीकाओं-सहित प्रकाशित हुआ है उसमें भी संस्कृत टीकाको "केशव-वर्णीकृत" लिख दिया है। इस फैले हुए भ्रमको डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. ने तीनों टीकाओं और गद्य-पद्यात्मक प्रशस्तियोंकी तुलना आदिके द्वारा, अपने एक लेखमें[1] बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है और यह साफ घोषित कर दिया है कि 'संस्कृत टीका नेमिचन्द्राचार्य कृत है और उसमें जिस कनडी टीकाका गाढ अनुसरण है वह अभयसूरिके शिष्य केशववर्णी-की कृति है और उसकी रचना धर्मभूषण भट्टारकके आदेशानुसार शक सं० १२८१ (ई० सन् १३५९) में हुई है; जबकि संस्कृत टीका मल्लिभूपालके समयमें लिखी गई है, जो कि सालुव मल्लिराय थे और जिनका समय शिलालेखों आदि परसे ईसाकी १६वीं शताब्दीका प्रथम चरण पाया जाता है, और इसलिये इस टीकाको १६वीं शताब्दीके प्रथम चरणकी ठहराया जा सकता है।' साथ ही यह भी बतलाया है कि दोनों प्रशस्तियोंपरसे इस संस्कृत टीकाके कर्ता वे आचार्य नेमिचन्द्र उपलब्ध होते हैं जो मूलसङ्घ, शारदागच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्द अन्वय और नन्दि आम्नायके आचार्य थे; ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे; जिन्हें प्रभाचन्द्र भट्टारकने, जोकि सफलवादी तार्किक थे, सूरि बनाया अथवा आचार्य-पद प्रदान किया था; कर्नाटकके जैन राजा मल्लि-भूपालके प्रयत्नोंके फलस्वरूप जिन्होंने मुनिचन्द्रसे, जोकि 'त्रैविद्यविद्यापरमेश्वर'के पदसे विभूषित थे, सिद्धान्तका अध्ययन किया था; जो लालावर्णीके आग्रहसे गौर्जरदेशसे आकर चित्रकूटमें जिनदास शाह-द्वारा निर्मापित पार्श्वनाथके मन्दिरमें ठहरे थे और जिन्होंने धर्मचन्द्र अभयचन्द्र तथा अन्य सज्जनोंके हितके लिये खण्डेलवालवंशके साह सङ्ग और साह सहेसकी प्रार्थनापर यह संस्कृत टीका, कर्णाटकवृत्तिका अनुसरण करते हुए, त्रैविद्यविद्या-विशालकीर्तिकी सहायतासे लिखी थी। और इस टीकाकी प्रथम प्रति अभयचन्द्रने, जोकि निर्ग्रन्थाचार्य और त्रैविद्यचक्रवर्ती कहलाते थे, संशोधन करके तय्यार की थी। दोनों प्रशस्तियोंकी मौलिक बातोंमें कोई खास भेद नहीं है, उल्लेखनीय भेद इतना ही है

---

१ हिन्दी अनुवाद जीवकाण्डपर पं० खूबचन्दका, कर्म-काण्डपर पं० मनोहरलालका; अंग्रेजी अनुवाद जीव-काण्डपर मिस्टर जे. एल. जैनीका; कर्मकाण्डपर ब्र० शीतलप्रसाद तथा बाबू अजितप्रसादका; और मराठी अनुवाद गांधी नेमचन्द बालचन्दका है।

२ यह पाठ ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बईकी जीवतत्वप्रदीपिका सहित गोम्मटसारकी एक हस्तलिखित प्रतिपरसे उपलब्ध होता है (रिपोर्ट १ वीर सं० २४४६, पृ० १०४-६)

३ पं० टोडरमल्लजीने लिखा है—

केशववर्णी भव्य विचार कर्णाटक टीका-अनुसार।
संस्कृत टीका कीनी एहु जो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु।

१ अनेकान्त वर्ष ४ कि० १ पृ० ११३-१२०।

कि पद्यप्रशस्तिमें ग्रन्थकारने अपना नाम नेमिचन्द्र नहीं दिया, जबकि गद्य-पद्यात्मक प्रशस्तिमें वह स्पष्टरूपसे पाया जाता है, और उसका कारण इतना ही है कि पद्यप्रशस्ति उत्तमपुरुषमें लिखी गई है। ग्रन्थकी संधियों—"इत्याचार्य-नेमिचन्द्र-विरचितायां गोम्मटसारापरनाम - पंचसंग्रहवृत्तौ जीवतत्त्व-प्रदीपिकायां" इत्यादिमें—जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकाके कर्तृत्वरूपमें नेमिचन्द्रका नाम स्पष्ट उल्लिखित है और उससे गोम्मटसारके कर्ताका आशय किसी तरह भी नहीं लिया जा सकता। इसी तरह संस्कृत-टीकामें जिस कर्नाटकवृत्तिका अनुसरण है उसे स्पष्टरूपमें केशववर्णीकी घोषित किया गया है, चामुण्डरायकी वृत्तिका उसमें कोई उल्लेख नहीं है और न उसका अनुसरण सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण ही उपलब्ध है। चामुण्डरायवृत्तिका कहीं कोई अस्तित्व मालूम नहीं होता और इसलिये यह सिद्ध करनेकी कोई संभावना नहीं कि संस्कृत-जीवतत्त्वप्रदीपिका चामुण्डरायकी टीकाका अनुसरण करती है। गो० कर्मकाण्डकी ९७२वीं गाथामें चामुण्डराय (गोम्मटराय) के द्वारा जिस 'देशी'के लिखे जानेका उल्लेख है उसे 'कर्नाटकवृत्ति' समझा जाता है—अर्थात् वह वस्तुतः गोम्मटसारपर कर्णाटकवृत्ति लिखी गई है, इसका कोई निश्चय नहीं है।'

सचमुचमें चामुण्डरायकी कर्णाटकवृत्ति अभी तक एक पहेली ही बनी हुई है, कर्मकाण्डकी उक्त गाथा[1] में प्रयुक्त हुए 'देसी' पद परसे की जानेवाली कल्पनाके सिवाय उसका अन्यत्र कहीं कोई पता नहीं चलता। और उक्त गाथाकी शब्द-रचना बहुत कुछ अस्पष्ट है—उसमें प्रयुक्त हुए 'जा' पदका संबंध किसी दूसरे पदके साथ व्यक्त नहीं होता, उत्तरार्धमें 'राओ' पद भी खटकता हुआ है, उसकी जगह कोई क्रियापद होना चाहिये। और जिस 'वीरमत्तंडी' पदका उसमें उल्लेख है वह चामुण्डरायकी 'वीरमार्तण्ड' नामकी उपाधिकी दृष्टिसे उनका एक उपनाम है, न कि टीकाका नाम; जैसा कि प्रो० शरच्चन्द्र घोशालने समझ लिया है,[1] और जो नाम गोम्मटसारकी टीकाके लिये उपयुक्त भी मालूम नहीं होता। मेरी रायमें 'जा' के स्थानपर 'जं' पाठ होना चाहिये, जो कि प्राकृतमें एक अव्यय पद है और उससे 'जेण' (येन) का अर्थ (जिसके द्वारा) लिया जा सकता है और उसका सम्बन्ध 'सो' (वह) पदके साथ ठीक बैठ जाता है। इसी तरह 'राओ' के स्थान पर 'जयउ' क्रियापद होना चाहिये, जिसकी वहाँ आशीर्वादात्मक अर्थकी दृष्टिसे आवश्यकता है—अनुवादकों आदिने 'जयवंतप्रवर्तो' अर्थ दिया भी है, जो कि 'जयउ' पदका सङ्गत अर्थ है। दूसरा कोई क्रियापद गाथामें है भी नहीं, जिससे वाक्यके अर्थकी ठीक सङ्गति घटित की जा सके। इसके सिवाय 'गोम्मटरायेण' पदमें 'राय' शब्दकी मौजूदगीसे 'राओ' पदकी ऐसी कोई खास जरूरत भी नहीं रहती, उससे गाथाके तृतीय चरणमें एक मात्राकी वृद्धि होकर छंदोभङ्ग भी हो रहा है। 'जयउ' पदके प्रयोगसे यह दोष भी दूर हो जाता है। और यदि 'राओ' पदको स्पष्टताकी दृष्टिसे रखना ही हो तो, 'जयउ' पदको स्थिर रखते हुए, उसे 'कालं' पदके स्थानपर रखना चाहिये; क्योंकि तब 'कालं' पदके बिना ही 'चिरं' पदसे उसका काम चल जाता है। इस तरह उक्त गाथाका शुद्धरूप निम्नप्रकार ठहरता है :—

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जं कया देसी।
सो जयउ चिरंकालं (राओ) णामेण य वीरमत्तंडी॥

गाथाके इस संशोधित रूपपर उसका अर्थ निम्न प्रकार होता है :—

---

[1] गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरं कालं णामेण य वीरमत्तंडी॥ ९७२॥

[1] प्रो० शरच्चन्द्र घोशाल एम. ए. कलकत्ताने, 'द्रव्यसंग्रह'के अँग्रेजी संस्करणकी अपनी प्रस्तावनामें, गोम्मटसारकी उक्त गाथापरसे कनडी टीकाका नाम 'वीरमार्तण्डी' प्रकट किया है और जिसपर मैंने जनवरी सन् १९१८ में, अपनी समालोचना (जैनहितैषी भाग १३ अङ्क १२) के द्वारा, आपत्ति की थी।

'गोम्मट-सूत्रके लिखे जानेके अवसर पर—गोम्मटसार शास्त्रकी पहली प्रति तय्यार किये जानेके समय—जिस गोम्मटरायके द्वारा देशीकी रचना की गई है—देशकी भाषा कनडीमें उसकी छायाका निर्माण किया गया है— वह 'वीरमार्तण्डी' नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त राजा चिरकाल तक जयवन्त हो।'

यहाँ 'देशी'का अर्थ 'देशकी कनडी भाषामें छायानुवादरूपसे प्रस्तुत की गई कृति' का ही सङ्गत बैठता है न कि किसी वृत्ति अथवा टीकाका; क्योंकि ग्रन्थकी तय्यारीके बाद उसकी पहली साफ़ कापीके अवसर पर, जिसका ग्रन्थकार स्वयं अपने ग्रन्थके अन्तमें उल्लेख कर सके, छायानुवाद-जैसी कृतिकी ही कल्पना की जा सकती है, समय-साध्य तथा अधिक परिश्रमकी अपेक्षा रखनेवाली टीका-जैसी वस्तुकी नहीं। यही वजह है कि वृत्तिरूपमें उस देशीका अन्यत्र कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता—वह संस्कृत-छायाकी तरह कन्नड-छायारूपमें ही उस वक्तकी कर्नाटक-देशीय कुछ प्रतियोंमें रही जान पड़ती है।

अब मैं दूसरी दो टीकाओंके सम्बन्धमें इतना और बतला देना चाहता हूँ कि अभयचन्द्रकी 'मन्दप्रबोधिका' टीकाका उल्लेख चूँकि केशववर्णीकी कन्नड-टीकामें पाया जाता है इससे वह ई० सन् १३५९ से पहलेकी बनी हुई है इतना तो सुनिश्चित है; परन्तु कितने पहले की? इसके जाननेका इस समय एक ही साधन उपलब्ध है और वह है मंदप्रबोधिकामें एक 'बालचन्द्र पण्डितदेव' का उल्लेख[1]। डा० उपाध्येने, अपने उक्त लेखमें इनकी तुलना उन 'बालेन्दु' पंडितसे की है जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके ई० सन् १३१३ के शिलालेख नं० ६५ में हुआ है[1] और जिनकी प्रशंसा अभयचन्द्रकी प्रशंसाके साथ बेलूरके शिलालेखों[2] नं० १३१-१३३ में की गई है और जिन परसे बालचन्द्रके स्वर्गवासका समय ई० सन् १२७४ तथा अभयचन्द्रके स्वर्गवासका समय ई० सन् १२७९ उपलब्ध होता है। और इस तरह 'मन्दप्रबोधिका' का समय ई० सन्की १३वीं शताब्दीका तीसरा चरण स्थिर किया जा सकता है। शेष रही पंडित टोडरमल्लजीकी 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' टीका, उसका समय सुनिश्चित है ही—वह माघ सुदी पञ्चमी सं० १८१८ को लब्धिसार-क्षपणासारकी टीकाकी समाप्तिसे कुछ पहले ही बनकर पूर्ण हुई है। इसी हिन्दी टीकाको, जो खूब परिश्रमके साथ लिखी गई है, गोम्मटसार ग्रन्थके प्रचारका सबसे अधिक श्रेय प्राप्त है।

इन चारों टीकाओंके अतिरिक्त और भी अनेक टीका-टिप्पणादिक इस ग्रन्थराजपर पिछली शताब्दियोंमें रचे गये होंगे; परन्तु वे इस समय अपनेको उपलब्ध नहीं हैं और इसलिये उनके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता*।

१ जीवकाण्ड, कलकत्ता संस्करण, पृ० १५०।

१ एपिग्रेफिया कर्णाटिका जिल्द नं० २।

२ एपिग्रेफिया कर्णाटिका जिल्द नं० ५।

*यह लेख 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची'की अपनी अप्रकाशित प्रस्तावनाके 'ग्रन्थ और ग्रन्थकार' प्रकरणका एक अंश है।

—जुगलकिशोर मुख्तार

फल

[लेखक—बाबू राजकुमार जैन 'कुमार']

मुंशीजी ५० के ऊपर थे, परन्तु अपनेको किसी नौजवानसे कम न समझते थे। चार-चार पुत्र होते हुए भी आपको शादीका ख़ब्त सवार था। सोचते थे—किसी खिलती-सी कलीपर हाथ मारूँगा। क्या है, हज़ार-पाँचसौ ख़र्च हो जायेंगे, उतनी ही कसर हीराके ब्याहमें दहेजमें निकाल लूँगा। अपने ब्याहके लिये ही उन्होंने हीराके विवाहको एक वर्षके लिये स्थगित कर दिया था। बेचारा हीरा इससे अपरिचित था। उसे क्या पता था कि मुंशीजीने विवाह करनेकी ठानी है और इसी वर्ष!

एक दिन मुंशीजीने सोचा कि अपने विवाहके बारेमें अपने बेटेकी भी सलाह लेलूँ तो क्या हर्ज है। अवसर अच्छा समझ कर बोले—"बेटा हीरा, तू ही देख कि खाने-पीनेकी कितनी तकलीफ़ है। जबसे तेरी माँ मरी है, घरका सब काम-काज चौपट हो गया है। हफ़्ते भरमें एक समय भी भोजन ठीकसे नहीं मिलता।" मुंशीजी एकाएक कहते-कहते रुक गये, फिर बिना उत्तर पाये ही बोले—"कुछ इलाज भी तो नहीं सूझता इसका?" इतना कह कर वह हीराके मुँहकी ओर ताकने लगे। हीराके मुँहसे अचानक निकल पड़ा—"पिताजी, आप शादी क्यों नहीं कर लेते? आपको भी आराम रहेगा और हमको भी। बिन माँके क्या जीवन?" "हाँ बेटा, यही करूँगा", मुंशीजी अपने मनकी सुन कर सहानुभूति-सी प्रकट करते हुए बोले। काफ़ी समय तक पुत्र और पितामें इसी विषयपर बातें होती रहीं। हीरा यह भी समझ गया कि उसका विवाह एक सालके लिये स्थगित कर दिया गया है।

× × ×

बुढ़िया हताश हो बैठी, अब कोई भी आशा शेष न रही थी। जितना परिश्रम हो सकता था किया, किन्तु बिना दहेजके कुछ न बनता था। बुढ़िया सोच रही थी—"क्या मेरी गोमती जीवनभर अविवाहित ही रहेगी? दहेजके बिना क्या उसको कोई न अपनायेगा? क्या संसारमें रुपयेके बलपर ही शादियाँ होती हैं?" यही सब कुछ सोचते-सोचते बुढ़ियाके नेत्र सजल हो गये। आँसू पोंछे और फिर सोचनेमें तन्मय हो गई। न जाने कबतक वह सोचती रही, रोती रही और आँसू पोंछती रही।

गोमती घड़ा उठाकर पानी भरने चल दी। उसे पता नहीं था कि उसकी माँ उसके विवाहके लिये इतनी चिन्तित है और न उसने ही कभी अपनी चिन्ता उसपर प्रकट होने दी थी। गोमती यह तो भलीभाँति समझती थी कि उसके विवाहके दिन आ गये हैं, किन्तु वह उसके लिये अपनी माँकी भाँति चिन्तित न थी। उसके मन-मन्दिरमें तो हीरा कभीसे बैठा हुआ था। प्रतिदिन उसके दर्शन कुएँपर हो जाते थे और वहींपर दो-चार बातें भी।

रोज़की भाँति आज भी हीरा वहीं मिला। गोमती उसे देखते ही खिल उठी। उसे विश्वास था कि उसका विवाह हीरासे होगा, लेकिन इतना दृढ़ नहीं जितना कि हीराका। हीरा बोला—"गोमती, आज देर क्यों करदी?" "नहीं तो, तुम तो रोज़ ही यही कहते हो।" सुनकर हीराने कुछ लज्जाका अनुभव किया। उसने उसके हाथसे घड़ा लेकर रख दिया। पास ही एक वृक्ष था, उसीके नीचे दोनों बैठ कर बातें किया करते थे। आज भी वहीं पहुँचे। हीरा पुनः बोला—"तुम्हें एक बातका पता है गोमती?"

"क्या ?"

हीरा कुछ हिचकिचाया। फिर साहस कर बोला—"तुम्हारी और मेरी शादी हो तो इसी वर्ष जाती पर ………", कहता कहता हीरा रुक गया।

गोमतीके अरुण कपोलोंपर लालिमाकी एक रेखा खिंच गई और साथ-ही-साथ उसे सन्देह भी हुआ। उसने पूछा— "पर क्या ?"

"कुछ नहीं, पिताजीका विचार है कि बहूके घरमें आनेसे पहले उसकी सास घरमें आ जानी चाहिए। इसलिये उन्होंने मेरा विवाह एक सालके लिए स्थगित कर दिया है।" गोमती पहिले तो समझ न सकी कि इसमें क्या रहस्य है, किन्तु काफी देर पश्चात् उसकी समझमें आया कि मुंशीजी विवाह करना चाहते हैं। बोली—"इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। अच्छा ही है, मुझे सासकी सेवा करनेका अवसर प्राप्त होगा।"

"मुझे तुमसे यही आशा थी, मेरी रानी!"

"अगर सालभरमें तुम्हारी शादी आपके पिताजी ने कहीं और निश्चित कर दी तो ………।"

"नहीं-नहीं गोमती, ऐसा मैं न होने दूँगा। हाँ, एक बात अवश्य है, मेरे पिताजी मेरे विवाहमें दहेज लेंगे और थोड़ा-बहुत नहीं, काफी।" हीरा इतना कहकर सोचनेमें लग गया और फिर तुरन्त ही बोला—"नहीं २ गोमती, तुम इसकी चिन्ता न करो। मैं स्वयं अपने विवाहके लिये दहेजका इन्तज़ाम कर लूँगा। मैं पिताजीसे छिपाकर रुपये तुम्हारी माँको दे दूँगा", उसके स्वरमें दृढ़ता थी। इतना कह उसने अपनी प्यारी गोमतीको अपने बाहुपाशमें ले लिया।

गोमतीकी माँको इसकी झलक भी न थी कि उसकी बेटी और हीरा आपसमें प्रेम करते हैं। उसे तो किसीसे यह ही पता चला था कि मुंशीजीने हीराके ब्याहमें दस हजारका दहेज लेनेकी सोच रक्खी है, उस ओर तो आस उठाना ही व्यर्थ है।

आज जब मुंशीजीने उसे बुलाया तो उसके आश्चर्यकी सीमा न रही। वह सोचने लगी—"मुझ बुढ़ियासे मुंशीजीको कौनसा काम निकल आया। शायद हो कुछ मेरी गोमतीके बारेमें ………।" यही सोचती २ वह मुंशीजीके घरको चलदी। उधर मुंशीजी पहलेसे ही जान बूझकर खिसक गये थे। जाते समय वह अपने एक पुराने मित्र चौधरीको, जिसको उन्होंने पहलेसे ही मन्त्रदान दे रखा था, बिठा गए थे। जब वह पहुँची तो चौधरीजीने उसको बड़े आदरसे बिठाया और फिर सहानुभूति सी प्रगट करते हुए बोले—"क्या बात है गोमतीकी माँ, इतनी पतली क्यों हो गई हो।"

"क्या बताऊँ चौधरीजी, भला आपसे क्या छिपा है? आप मेरे घरकी सब हालत जानते हैं। बस मुझे तो गोमतीको चिन्ता खाए डालती है।"

"गोमती की क्या चिन्ता ?"

"बस यही कि, दहेज कहाँसे लाऊँ ?"

"ओह! यह भी कोई चिन्ताकी बात है, तूने मेरे-से पहले क्यों नहीं कहा? आज-कल तो उलटा दहेज मिलता है, उलटा! कहे तो रिश्ता आज ही पक्का करा दूँ।" बुढ़िया समझी, चौधरी जी मजाक कर रहे हैं। वह झुँझलाती हुई-सी बोली—"अजी मुझे तो यह भी नहीं कि वर अच्छा ही हो। चाहे पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़ हो, चाहे खूबसूरत हो या बदसूरत हो, मुझे तो इस लड़कीके हाथ पीले करने हैं।"

"तब तो तू मेरी बात मान", वह उसे समझाते हुए बोले। बुढ़ियाने कोई उत्तर न दिया, वह केवल उनके मुँहकी ओर ताकने लगी। फिर उन्होंने कहना आरम्भ किया—"कल मेरी मुंशीजीसे बात हो रही थी, उन्होंने इसी जाड़ेमें अभी २ शादी करनेकी सोची है, और अगर तू कहे तो मैं उन्हें मना लूँ।"

आखिर वह उनकी बातोंमें आ गई और तभी पण्डितजीको बुलाकर विवाहकी तिथी निश्चित कर दी गई। बुढ़ियाको आज ऐसा लग रहा था जैसे उसके सिर परसे कई मनका बोझ उतर गया हो; परन्तु फिर भी उसकी आत्मा कह रही थी कि उसने अपनी गोमतीके प्रति अन्याय किया है। वह बाध्य थी, विवश थी, वैसा करनेके लिये।

मुंशीजी यह न चाहते थे कि हीरा उनके विवाह के अवसर पर वहीं रहे ! उन्होंने उसको उसके मामा के यहाँ भेज दिया और अपने विवाहकी बात छिपा ली !

हीरा अपने मामाके यहाँ था । उसे यहीं पर यह बात भी ज्ञात हुई । उसे यह तो पता चल गया कि उसके पिताका विवाह है, लेकिन यह न पता चला कि 'किससे ?'

संध्याका समय था, दिनकर अपनी अन्तिम किरणें अँधेरेके हाथ सौंप रहा था । हीरा ऊपर छतपर पड़ा नीले नभकी ओर देख रहा था । शायद कुछ सोचनेमें तन्मय था । उसने देखा कि, नभके विशाल वक्षपर एक तारा उग आया है । देखते-ही-देखते एक और तारा उसीके पास निकल आया । वह पड़ा २ कल्पना कर रहा था—अहा ! कितना अच्छा संसार होगा जिसमें मैं और गोमती इन दोनों तारोंकी भाँति होंगे, एकाकी होंगे, दूर होंगे इस बन्धनमय संसार से । फिर उसने देखा कि, दोनों तारे एक दूसरेके पास आते जा रहे हैं । वह गद्गद् हो उठा । एकाएक एक तारा नभके वक्षपर एक उज्ज्वल रेखा खींचता हुआ विलीन हो गया । "ओह, मेरी रानी, गोमती, गोमती····ई" तुरन्त हीरा चिल्ला उठा । उसका मन शंकाओंसे भर उठा । उसने सुना था जब कभी तारा टूटता हुआ दिखाई दे, तो थूकना चाहिए । उसने सन्देह दूर करनेके लिये वैसा ही किया । देखते-ही-देखते दूसरा तारा भी टूट गया । अब उससे न रहा गया, उसने सोचा—अवश्य ही कोई अनहोनी बात है । उसने घर जानेका निश्चय कर लिया ।

प्रभात होते ही वह चल दिया !

एक ओर हीरा अपने गाँवको जा रहा था तो दूसरी ओर मुंशीजी बारात लिये गोमतीके घर जा रहे थे । विवाह हो गया ! गोमती लुट गई ! उसकी आशाएँ लुट गईं !! और साथ-ही-साथ हीरा भी लुट गया !!! उसको उस दिन वृक्षके नीचेकी बातें याद आने लगीं । कैसा स्वप्न था—मुंशीजीका विवाह होगा·······एक वर्ष बीतेगा·······हीरा और गोमती···· गोमती सासकी सेवा करेगी । ओह ! वह स्वयं ही अपनी सास बन गई ! वह अपने प्रियतमको अपने पुत्रके रूपमें पानेकी कल्पना भी न कर सकती थी ! केवल एक इच्छाने, आशाने, अरमानने उसे आत्महत्या करनेसे रोक लिया । वह चाहती थी—एक बार और हीरासे उसी वृक्षके नीचे बातें करना ।

हीरा अगले रोज सन्ध्या समय अपने गाँव पहुँचा । गाँव वालोंसे पता चला कि गोमतीका विवाह······ । उसे विश्वास न हुआ, वह अपने घर आया । बाहर चौधरीजीसे पूछा और फिर लौट पड़ा ! उसका कोमल उर अपनी प्रेयसीको अपनी माँके रूपमें पाकर चीत्कार कर उठा ! उसने कुछ और अधिक नहीं सोचा, बिना गोमतीसे मिले ही आत्महत्या करली !! वह सदाके लिये उससे रुष्ट होकर चला गया !!! गोमतीने सुना—हीरा आया, चला गया और सदाके लिये चला गया ! उसकी अन्तिम आशा भी निराशामें परिवर्तित हो चुकी थी । अब उसे इस जगतमें रहकर करना ही क्या था ? उसने भी हीराका अनुसरण किया !! और वृद्धने देखा, वृद्ध-विवाहका "फल" !!!

वैज्ञानिक युग और अहिंसा

[लेखक—श्रीरतन जैन पहाड़ी]

आधुनिक वैज्ञानिक युग किस प्रकार प्रगति-पथपर अग्रसर होरहा है, इसपर सब हम दृष्टिपात करते हैं तो इन वायुयानोंकी गड़गड़ाहटके साथ-साथ हमें मानवकी करुण पुकारका भी प्रत्यक्ष बोध होता है। प्राचीन युगकी तुलना आजके वैज्ञानिक युगसे की जाय तो भले ही किसी रूपमें आजका युग कुछ अग्रसर कहा जा सके, लेकिन अधिकांश रूपमें और जहाँतक "शान्ति"के अस्तित्वका सम्बन्ध है, प्रायः निराश ही होना पड़ेगा।

अणुबमके इस युगमें जहाँ पाँच ही मिनटमें सैकड़ों मील तकके मकान, रहने वाले मनुष्य एवं पशु-पक्षियोंका सफ़ाया हो जाता है तथा उस बम-प्रभावित क्षेत्रमें आने वाला व्यक्ति भी घुट-घुटकर मृत्युका ग्रास हो जाता है। ऐसे समयमें हम मानवसे मानवताके संरक्षणकी कल्पना कहाँतक कर सकते हैं? प्राचीन समयमें दो सेनाएँ आपसमें शस्त्रास्त्र बाँधकर लड़ती थीं—प्रजा अपना कार्य करती थी, लेकिन आज तो बड़े गौरवके साथ यह कहा जाता है कि "समूचा देश-का-देश युद्ध मोर्चेपर है"। पहले आजकी तरह युद्ध न होते थे, लेकिन आज तो "सभ्यता" और उसका युद्धसे सम्बन्ध दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ दृष्टि-गोचर होती हैं। युद्धका सभ्यतासे कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है किन्तु किसी भी तरह शत्रुको पराजित करना ही युद्धका एकमात्र ध्येय होता है। चाहे वह अन्यायसे हो या और किसी उचित-अनुचित तौर-तरीकेसे। इसी कारण—देखिये! प्रत्येक युद्धमें नये-नये शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग होता चला आरहा है। पिछला युद्ध टैङ्क और हवाई जहाज़ोंके प्रयोगोंसे खत्म हुआ, लेकिन यह युद्ध, जिसकी छाया पूर्णरूपमें अभी भी हमारे ऊपर व्याप्त है, प्रारम्भ तो हुआ पिछले प्रयोगोंसे लेकिन खत्म हुआ "परमाणुबम"से। इसमें सन्देह नहीं कि अगला युद्ध प्रारम्भ तो होगा इस नवाविष्कृत "अणुबम"से और खत्म होगा महाप्रलय द्वारा ही। इस प्रगतिमें कोई रोक-थाम नहीं कर सकता। पश्चिम वाले जिस विभीषिकाको शान्तिका दूत मानते हैं वही विभीषिका आने वाले चन्द दिनोंमें उनके नाशका कारण बनेगी। जिन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग वे आज शत्रुके निर्दलन-स्वरूप करते हैं और उसे अपनी रक्षाका सम्बल मान शान्ति-प्रसारक मानते हैं वे ही उन्हें जगतसे नेस्तनाबूद करनेमें सहायक होंगे, इसमें सन्देहकी बात नहीं।

अगर इससे रक्षाका कोई उपाय है तो वह अहिंसा ही। मानवकी मानवता, सुख-शान्तिका साम्राज्य स्थापित रखनेके लिये अहिंसा ही एक ऐसा मूलमन्त्र है जिसके बलपर प्रत्येक प्राणी अपना अस्तित्व क़ायम रखते हुए सुख-शान्तिका जीवन-यापन कर सकता है। वृद्ध भारत अहिंसाकी शिक्षाका सदासे शिक्षक रहा है। समय-समयपर इस भारतमें ऋषि व महात्माओंने अवतरित हो अहिंसाका पावन उपदेश जगतको दिया और भारतको आध्यात्मिकता-की चरम सीमापर पहुँचनेका गौरव प्रदान किया।

मशीन आदि उत्पादक साधनोंके विषयमें हम यह पूर्ण रूपसे माननेको प्रस्तुत हैं कि देशकी व्यापारिक उन्नतिके लिये मशीनोंका प्रयोग आवश्यक है, लेकिन भारतवर्षको किसी रूपमें यह प्रयोग हानि-प्रद ही सिद्ध हुआ है—विघातक ही सिद्ध हुआ है न कि वरदान-स्वरूप। चर्खे एवं करघेका उपयोग "गान्धीवाद"का प्रमुख अङ्ग है। ऐसे देशमें जहाँ हज़ारों-लाखों मनुष्य बिना अन्न-वस्त्रके इस धरतीसे

विदा हो अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर जाते हैं और उन्हें कोई जान भी नहीं पाता। ऐसे देशमें जहाँके लाखों मजदूर काम न मिलनेके कारण दर-दर भटकते फिरते हैं और किसी प्रकारके औद्योगिक धन्धोंके समुचित प्रचारसे वह मिलों एवं खानोंमें अपना जीवन पशुसे भी बदतर (निम्नस्तरपर) यापन करनेको बाध्य होते हैं। मशीन एवं अन्य वैज्ञानिक उत्पादक यन्त्रोंसे ही यह भीषण समस्या हल होने वाली नहीं है, उस समस्याको सुलझानेके लिये तो कृषि-प्रधान-देश भारतमें उद्योग-धन्धोंका प्रसार ही श्रेयस्कर होगा; वर्ना यह असम्भव है कि हम अपने ग़रीब भारतीय मानवको दोनों समय भोजन एवं समुचित वस्त्रकी व्यवस्था कर सकें।

हाँ, मशीनोंका प्रसार उच्चस्तर वालोंका माप-दण्ड किसी सीमा तक विस्तृत कर सकता है; लेकिन निम्नस्तर वाला सर्वहारा वर्ग उसी प्रकार अपना दीनतामें मरणाश्रु बहाता रहेगा जिस प्रकार सदियों-से बहाता रहा है। हाँ, किसी प्रकारके सुधारके सद्भावसे उसके यह आँसू हम पोंछनेमें समर्थ हो सकते हैं। महात्मा गान्धीकी अहिंसा एवं उनके रचनात्मक कार्य-क्रमपर आज हम ग्रामीण भारतीय तथा जैन्टिलमैन मिस्टर भारतीयका भी विकास कर सकते हैं ?

पूंजीवादका सम्बन्ध—

विज्ञानकी रोक-थाम अधिकांश रूपमें पूंजीवादी सत्तापर निर्भर करती है। जिस देशमें धनिकवर्ग अपनी सत्ता स्थापित करनेकी राह सोचेगा उस देशमें यह निश्चय है कि सर्वहारा (मजदूर) वर्ग भी अपनी पीड़ाओंकी घड़ियाँ काट रहा होगा। एक कहानी इस समय याद आती है।

रूसमें किसी जगह एक चित्र टँगा था, जिसका आशय इस प्रकार है—

एक बच्चा अपनी माँसे कह रहा है। माँ ठण्ड लग रही है कोयला जला दो।

माँ उत्तर देती है—बच्चा घरमें कोयला नहीं है।

माँ, घरमें कोयला क्यों नहीं है ? बच्चेने पूछा।

बच्चा ! आज तेरे बाबूजीको काम नहीं मिला इस लिये आज पैसे नहीं मिले और इसी कारण घरमें कोयला न आसका।

क्यों माँ ! बाबूजीको काम क्यों नहीं मिला, जिससे कोयला न आ सका।

माँ उत्तर देती है—बच्चा ! मालिकने खानसे कोयला बहुत ज्यादा निकलवा लिया है इसलिये शहरमें अब कोयलेकी कमी नहीं है।

शहरमें कोयला अधिक आगया है, इसलिये आज तेरे घरमें कोयला नहीं है।

यह पूंजीवादी मनोवृत्तिका परिणाम। चूंकि एक ओर कोयलेका अम्बार लगा हुआ है इसी कारण दूसरी ओर मजदूर श्रेणीका मानव ठण्डसे ठिठुर रहा है।

उपर्युक्त बातें विज्ञानसे सम्बन्धित हैं, लेकिन अहिंसाकी उपादेयताका प्रश्न जटिलरूप धारण करता जारहा है। एक ओर तो गान्धी अपने आत्मबल एवं अहिंसाके प्रयोगोंसे विश्वको चुनौती देरहा है कि यदि विश्वमें शान्ति स्थापित होगी तो वह 'अहिंसा' से ही; वर्ना यह असम्भव है कि अन्य साधन विश्व-शान्तिमें कारगर हो सकें। लेकिन दूसरी ओर अपनी मैत्री बनाये रखनेका स्वप्न देखते हुए 'मित्रराष्ट्र' परमाणु-बमको मित्रताका आधार मान मैत्री-संबन्ध स्थापित करते हैं और तरह-तरहकी Peace Confrences और शान्ति-प्रसारक सम्मेलन करते हैं। भगवान जाने कहाँ तक "परमाणु-बम"की मित्रता मित्रताके रूपमें टिक सकती है ! हाँ, यह होसकता है कि जब रोगी ही न रहेगा तो रोग तो स्वयं चला जायगा। जब ये दोनों आपसमें लड़-पिट कर मर जायँगे तो शान्तिका साम्राज्य तो सम्भव है ही ? वह समय भी तो दूर नहीं है।

बापूका यह सिद्धान्त ठीक है कि 'कटुता कटुतासे नहीं मिट सकती। रक्तरञ्जित पट स्वच्छ जलसे ही साफ़ किया जा सकता है। विज्ञान द्वारा मिटती मानवता यदि सुरक्षित रक्खी जा सकती है तो वह अहिंसाके पालनसे ही, अन्यथा परिणामकी भयंकरताका ठौर-ठिकाना नहीं'।

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

[गत किरणसे आगे]

क्या रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंका समावेश है ?

मैंने आगे चलकर यह कहा था कि रत्नकरण्डके पाँचवें पद्यमें कथित आप्त-लक्षणमें दिये गये 'उत्सन्नदोष' या 'उच्छिन्नदोष' विशेषणका स्पष्टीकरण अथवा स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये ग्रन्थकारने अगला 'क्षुत्पिपासा' आदि छठा पद्य रचा है और उसमें उन्होंने लक्षण तथा उपलक्षण रूपसे 'उत्सन्न-दोष'का स्वरूप प्रदर्शन किया है।

इसपर प्रो. सा. ने अब यह कल्पना की है कि वहाँ दो विचारधाराओंका समावेश है—पाँचवें पद्यमें तो समन्तभद्रस्वामीका आप्तमीमांसा सम्मत लक्षण है और छठे पद्यमें कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादित लक्षण। अपनी इस कल्पनाका आधार आप यह बतलाते हैं कि एक पद्यके अन्तमें 'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' और दूसरेके अन्तमें 'यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते' वाक्य दिये गये हैं। अतएव वहाँ किसी मेल-जोल या लक्षण-उपलक्षणकी बात नहीं है।

निःसन्देह उल्लिखित पद्योंके अन्तिम वाक्योंके यथास्थित प्रयोगसे वैसी कल्पनाका उद्भव होना स्वाभाविक है, क्योंकि जब हम यह समझते हों कि दोनों पद्य अपने आपमें परिपूर्ण हैं और वे किसी एक दूसरेकी आकाँक्षा नहीं रखते। पर ऐसा समझना बड़ा भ्रम है। इस सम्बन्धमें मैं यहाँ कुछ विस्तारसे विचार प्रस्तुत करता हूँ।

(क) यदि हम यह मान भी लें कि रत्नकरण्डमें आप्त-लक्षण सम्बन्धी दो विचारधाराओं अथवा मान्यताओंका समावेश है तो उससे रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका विभिन्न कर्तृत्व, जो प्रो. सा. को अभीष्ट है, सिद्ध नहीं होता। एक ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थकी मान्यताको अपने दूसरे ग्रन्थमें भी रख सकता है—कोई बाधा नहीं है। अतएव आप्त-मीमांसाकार अपनी आप्तमीमांसोक्त आप्तलक्षण सम्बन्धी मान्यताको रत्नकरण्डमें दे सकते हैं। और कुन्दकुन्दाचार्य तो आप्तमीमांसाकारके पूर्ववर्ती हैं ही जो अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध हैं[1] और इसलिये आप्त-मीमांसाकार उनके द्वारा प्रतिपादित आप्तलक्षणको भी इसमें उपस्थित कर सकते हैं क्योंकि रत्नकरण्ड आज्ञाप्रधान आगमिक रचना है और कुन्दकुन्दाचार्य-का आप्तलक्षण आगमिक स्वयं सर्व प्रसिद्ध है। अतः रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंका समावेश मान लेनेपर भी उससे रत्नकरण्ड और आप्त-मीमांसाके एक कर्तृत्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती है।

(ख) दूसरे, जिन दो विचारधाराओंकी कल्पना की जारही है वे दो हैं ही नहीं, क्योंकि समग्र जैन-साहित्यमें एक ही आप्तलक्षण किया गया है और वह अठारह दोषोंका अभावरूप है। इसीको किसीने पूरे रूपसे, किसीने आंशिकरूपसे, या किसीने परिवर्तित-रूपसे अपनाया है। वास्तवमें आप्त विश्वसनीय-प्रामाणिक-व्यक्तिको कहा जाता है और उसके प्रामाण्यका कारण दोषाभाव माना जाता है। जहाँ यह दोषाभाव पूर्णतः अन्तिमरूपमें है वहीं पूर्णतः प्रामाणिकता—आप्तता है। सर्वज्ञता और हितोप-देशकता तो दोषाभावके ही फलित हैं। इस बातको स्वयं स्वामी समन्तभद्रने 'सत्यमेवास्ति निर्दोषो

---

१ देखिये, डा. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित 'प्रवचन-सार'की प्रस्तावना।

युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' इस आप्तमीमांसाकी छठी कारिकामें स्वीकार किया है। उन्होंने यहाँ सर्वज्ञता और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व (हितोपदेशकता) को 'निर्दोषत्व' प्रयुक्त ही बतलाया है। सर्वज्ञताका 'निर्दोषत्व' साधन (कारण हेतु) है और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वका साध्य (कारणात्मक) है, पर कारण दोनोंके लिये ही है। तात्पर्य यह कि जहाँ आप्तके लक्षणमें तीनों विशेषण दिये गये हैं वहाँ फलितको भी ग्रहण कर लिया गया है और जहाँ केवल आप्तके लक्षणमें एक 'उत्सन्नदोष' ही विशेषण कहा गया है वहाँ फलितको छोड़ दिया गया है और यह केवल ग्रन्थकारोंका विवक्षा-भेद है—मान्यता-भेद नहीं[1]। जैसे प्रतिज्ञा और हेतु इन दोको अथवा धर्म, धर्मी और हेतु इन तीनको अनुमानाङ्ग प्रतिपादन करना मात्र विवक्षा-भेद है—मान्यता-भेद नहीं।

(ग) तीसरे, पाँचवें पद्यमें कहे गये आप्तलक्षणमें जो उत्सन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशी ये तीन विशेषण दिये गये हैं उनमें अन्तिम दो विशेषण अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट हैं—सर्वज्ञ विशेषणपर तो ग्रन्थकार आप्तमीमांसा लिख चुके थे और वहाँ उसपर तथा आगमेशीपर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके थे उत्सन्नदोषपर प्रकाश डालना शेष था और उसपर यहाँ संक्षेपमें प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः 'उत्सन्नदोष' अन्य शेष दो विशेषणोंकी अपेक्षा कुछ अस्पष्ट और सविवाद है। अतः ग्रन्थकारको उसका स्वरूप उद्घाटन अथवा स्पष्टीकरण करना आवश्यक था और इसलिये उसका खुलासा उन्होंने एक स्वतन्त्र (छठे) पद्य द्वारा यहाँ उसके उपयुक्त स्थानपर किया है। यह नहीं कि वहाँ दूसरा आप्तलक्षण उपस्थित किया गया है। हमारे इस कथनकी पुष्टि इसी ग्रन्थ (रत्नकरण्ड)पर लिखी गई प्रभाचन्द्राचार्य कृत टीकाके विचारस्थ पद्योंके उत्थानिका वाक्योंसे भी होजाती है और जो इस प्रकार हैं:—

"तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥"

यहाँ टीकाकारके 'के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्नाः' इस छठे पद्यके उत्थानिकावाक्यसे स्पष्टतया प्रकट है कि पाँचवें पद्यगत 'उत्सन्नदोष' का स्वरूप बतलाने अथवा उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये ही छठा पद्य रचा गया है और इसलिये वह स्वतन्त्र आप्तलक्षणका प्रतिपादक नहीं है, किन्तु पाँचवें पद्यके एक विशेषणका उद्घाटक होनेसे उसीका पूरक अथवा अङ्ग है। यदि ऐसा न होता—स्वतन्त्र ही अन्य आप्तलक्षण वहाँ प्रतिपादित होता तो टीकाकार निश्चय ही उक्त प्रकारसे टीकामें उत्थानिकावाक्य न बनाकर 'आप्तस्यैव लक्षणान्तरमाह'—आप्तका ही दूसरा लक्षण कहते हैं—जैसे उत्थानिकावाक्य बनाते। पर उन्होंने वैसा उत्थानिकावाक्य न बनाकर और 'के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना' इत्यादि रूपसे ही उसे बनाकर पूर्व (पाँचवें) पद्यके साथ ही इस छठे पद्यका सम्बन्ध जोड़ा है। ऐसी हालतमें रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंकी कल्पनाके लिये कोई स्थान नहीं रहता। अतः इससे निर्विवाद है कि रत्नकरण्डमें आप्तलक्षण सम्बन्धी दो परिभाषाएँ या मान्यताएँ नहीं हैं।

---

१ जान पड़ता है कि जैमिनि आदि पूर्वमीमांसकोंने जब पुरुषमें दोषाभावकी असम्भवता बतलाकर सर्वज्ञता और धर्माद्युपदेशकताका अभाव प्रतिपादन किया तथा वेदोंको ही सर्वज्ञ एवं धर्मज्ञ और धर्माद्युपदेशक 'धर्मे चोदनैव प्रमाणं (आप्त)' बतलाना घोषित किया तब विशिष्ट पुरुषकी मुक्ति सम्भव प्रतिपादन करने वाले स्याद्वादियों—जैनोंके लिये 'पुरुषविशेष'को उत्सन्नदोष, सर्वज्ञ और धर्माद्युपदेशक सिद्ध करना आवश्यक होगया। उसीका यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि उक्त तीनों विशेषण-विशिष्ट आप्तका स्वरूप बतलानेके लिये आप्तमीमांसा जैसे ग्रन्थोंका निर्माण हुआ।

(घ) चौथे, यद्यपि छठे पद्यके अन्तमें 'यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते' पुनः कहा गया है और वहाँ आप्त शब्दकी स्थिति सामान्य है तथापि वहाँ वह 'उत्सन्न-दोष'के अर्थमें प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि 'जिसके क्षुधा आदि अठारह दोष नहीं हैं वह आप्त अर्थात् उत्सन्नदोष (वीतराग) कहा जाता है।' यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि सामान्यतः प्रयुक्त 'आप्त' शब्दसे 'उत्सन्नदोष' रूप विशेष अर्थका बोध कैसे हो सकता है? सामान्य शब्दसे तो सामान्य अर्थका ही बोध होता है—विशेषका नहीं? विशेषका बोध तो विशेष ही शब्दसे होता है और इसलिये यदि वहाँ 'आप्त' शब्दसे उत्सन्नदोष विवक्षित हो तो उसी शब्दका प्रयोग होना चाहिए—आप्त शब्दका नहीं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि सामान्य शब्दका प्रयोग भी विशेष अर्थके बोध करनेमें प्रयुक्त होता है। यह न्याय सर्व प्रसिद्ध है कि "सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते" अर्थात् सामान्यतः पद प्रयोग विशेषोंमें अवस्थित होते हैं। अतः इस न्यायसे छठे पद्यमें प्रयुक्त 'आप्त' सामान्य शब्द 'उत्सन्नदोष'के अर्थमें ग्रहण करना चाहिए। इसके लिये मैं निम्न दो नमूने उपस्थित करता हूँ, जहाँ सामान्य शब्दको विशेषार्थका बोधक माना गया है—

"मूर्च्छेतिरियं मोहसामान्ये वर्त्तते। 'सामान्य-चोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इत्युक्तेर्विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते। परिग्रहप्रकरणात्।"—सर्वार्थ. पृ. २३३

"मूर्च्छेरियं मोहसामान्ये वर्तमानः बाह्याभ्यन्तरोपधि-संरक्षणादिविषयः परिगृहीत इति विशेषितत्वात् इष्टार्थसम्प्रत्ययो भवति। सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्व-वतिष्ठन्ते इति।"—तत्त्वार्थराजवा. पृ. २७९, ७-१७

यहाँ आचार्य पूज्यपाद और भट्टाकलङ्कदेव दोनों-ने 'मूर्च्छा परिग्रहः' इस तत्त्वार्थसूत्रीय सूत्रमें आचार्य उमास्वामिद्वारा सामान्यतः प्रयुक्त 'मूर्च्छा' शब्दको 'परिग्रह' रूप विशेष अर्थका बोधक बतलाया है और उसके लिये प्रसिद्ध उक्त न्यायको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। इसी तरह अष्टसहस्री (पृ० २८१)में आचार्य विद्यानन्दने भी इस न्यायका उल्लेख किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० ४६३) में तो बिना विकल्प किये 'मूर्च्छा' शब्द बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके अर्थमें स्पष्टतः प्रयुक्त किया गया है। इससे यह प्रकट है कि सामान्य शब्दका प्रयोग ग्रन्थकार विशेष अर्थमें भी प्रयुक्त करते हुए पाये जाते हैं और इसलिये रत्नकरण्डके छठे पद्यमें जो सामान्यतः 'आप्त' शब्दका प्रयोग है वह 'उत्सन्नदोष' (वीतराग) के अर्थमें आया है। ईसाकी पाँचवी शतीसे पूर्वके रचित 'आप्तस्वरूप' ग्रन्थमें 'आप्तं दोषक्षयं विदुः' कह कर उसके रचयिताने दोषक्षय (वीतराग) के लिये आप्त शब्दका प्रयोग किया है और जिससे भी हमारे उक्त कथनकी पुष्टि होजाती है।

अतः इस सब विवेचनसे स्पष्ट होजाता है कि रत्नकरण्डमें आप्तलक्षणविषयमें दो विचारधाराओं-का समावेश नहीं है और इसलिये उसकी कल्पना सर्वथा भ्रमपूर्ण है। किन्तु यह संगत प्रतीत होता है कि आप्तमें जिन अठारह दोषोंका अभाव होना आवश्यक है उनमें क्षुधादि कुछ दोषोंका अभाव तो उपलक्षणात्मक है और राग, द्वेष, मोह आदि कुछ दोषोंका अभाव लक्षणात्मक है। लक्षण तथा उपलक्षणका अन्तर मैं पहले बतला आया हूँ कि लक्षण तो तन्मात्रवृत्ति ही होता है और उपलक्षण तत्सदृशमें भी रहता है। स्मरण रहे कि यदि क्षुधादि दोषोंका अभाव घातिकर्मक्षयजन्यरूपसे ही कथित हो तो वह भी लक्षण ही है—उस हालतमें वह उपलक्षण नहीं है। जैसाकि आ० विद्यानन्दने 'घातिकर्मक्षयजः' पदद्वारा स्पष्ट संकेत किया है।

केवलीमें जन्मादि ६ दोषोंके अभावका निर्णय—

केवलीमें १८ दोषोंमेंसे १२ दोषोंके अभावका निर्णय होचुका है और जिसे प्रो० सा०ने भी स्वीकार कर लिया है। अब संक्षेपमें शेष ६ दोषोंके अभावका निर्णय और किया जाता है।

पाठकोंको ज्ञात है कि मैंने केवलीमें इन दोषोंका अभाव प्रमाणित करनेके लिये स्वयम्भूस्तोत्रके प्रमाणोल्लेखोंको उपस्थित किया था, जो निम्न प्रकार हैं—

(क) 'अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वरसखा सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः॥६३॥'

(ख) 'तस्माद् भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः' ।८५।

(ग) 'त्वमुन्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः' ।५०।

(घ) 'त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं,
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवीः।' ११७।

(ङ) 'शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमि
जिनकुञ्जरोऽजरः' ।१२३।

इनमें पहले उल्लेखमेंकेवली में जन्म ,ज्वर,अन्तक इन तीन दोषोंकी स्पष्ट व्यावृत्ति सूचित कीगई है। दूसरे, तीसरे और चौथे इन तीन उल्लेखोंमें जन्मका अभाव और पाँचवें उल्लेखमें जराका अभाव उनमें प्रतिपादित किया है और इस तरह इन प्रमाणोल्लेखोंसे केवलीमें जन्म, ज्वर, अन्तक और जरा इन चार दोषोंके अभावकी आप्तमीमांसाकारकी मान्यता सिद्ध हो जाती है। प्रो० सा० ने इन उल्लेखोंमेंसे तीसरे उल्लेखके बारेमें तो कुछ लिखनेका कष्ट किया है पर अन्य चार उल्लेखोंको उपेक्षाके साथ छोड़ दिया है। यह उन्होंने क्यों किया ? यह पाठकोंपर प्रकट होजाता है; क्योंकि वास्तवमें वे उल्लेख दिनकर प्रकाशकी तरह स्पष्ट हैं और उनमें जन्म, ज्वर, अन्तक, जरा इन चार दोषोंका केवलीमें अभाव बिना किसी सन्देहके वर्णित है और इसलिये वे उल्लेख उनके अभीष्टके बाधक होनेसे उपेक्षित हुए हैं। मुझे इस सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि विद्वानको तभी तक अपना पक्षाग्रह रखना उचित है जब तक उसे समझमें न आये। समझनेके बाद भी यदि वह अपना पक्षाग्रह बनाये रखता है तो मेरे खयालसे उसे वीतरागचर्चाका ढोंग छोड़ देना चाहिये। तीसरे उल्लेखके बारेमें प्रो० सा० ने क्या लिखा, उसे भी पाठकोंको देख लेना चाहिये। मेरे शब्दोंका हवाला देते हुए आपने लिखा है:—"किन्तु पण्डितजी अपनी विवक्षा मिल जानेके हर्षके आवेगमें 'अजः' पर ही रुक गये, उन्होंने आगे दृष्टि डालकर नहीं देखा जहाँ 'निर्वृतः' विशेषण लगा हुआ है और अर्थको उनकी विवक्षासे परे ले जाता है, क्योंकि उससे स्पष्ट है कि यह वर्णन भगवानकी सिद्ध अवस्थाका है।"

पाठकगण, प्रो० सा० से पूछिए कि यहाँ तो 'निर्वृतः' विशेषण लगा हुआ है और इसलिये इस वर्णनको वे भगवानकी सिद्ध अवस्थाका वर्णन बतलाते हैं पर अन्य चार उल्लेखोंमें क्या कहेंगे; क्योंकि उनमें 'निर्वृतः' अथवा उस जैसा कोई विशेषण नहीं है ? इसका उत्तर प्रो० सा० के पास नहीं है और इसीलिये उन उल्लेखोंकी उन्होंने उपेक्षा की है, यह स्पष्ट होजाता है। आपने मुझे मेरी विवक्षा मिल जानेके हर्षका आवेग बतलाते हुए 'निर्वृतः' विशेषणपर दृष्टि डालकर न देखनेका दोषारोपण करके पाठकोंकी दृष्टिमें अज्ञ बतलाना चाहा है। पर वे यह भूल जाते हैं कि यह स्वयम्भूस्तोत्र अरहन्त अवस्थाका स्तवन है, सिद्ध अवस्थाका नहीं और इसीलिये उसे अरहन्तस्तवन, चतुर्विंशतिजिनस्तुति, चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तवन आदि नामोंसे कहा जाता है, सिद्धस्तवन आदि नामोंसे नहीं। स्वयम्भू-शब्द भी जिनका ही वाची है—सिद्धका नहीं। यदि हम दोनोंका भी उसमें स्तवन मान लें तो 'निर्वृतः' का केवल सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करना ही अर्थ नहीं है। जैनसिद्धान्तका साधारण अभिज्ञ भी यह जानता है कि निर्वृति जैनसिद्धान्तमें दो प्रकारकी कही गई है—१ 'पर निर्वृति' और २ 'अपर निर्वृति'[1]। परनिर्वृति सिद्ध अवस्थाका और अपरनिर्वृति अरहन्त अवस्थाका नाम है। कर्मोंके नाश और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिको निर्वृति (मोक्ष) कहा गया है। अरहन्त

---

१ 'निःश्रेयसं परमपरं च। तत्र परं सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणम्, बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति वचनात्। ततोऽपरमार्हन्त्यलक्षणम्, घातिकर्मक्षयादनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभस्यापरनिःश्रेयसत्वात्।'
—आप्तपरीक्षा पृष्ठ १।

चूंकि चार घातियाकर्मोंको नाश करते हैं और अनन्तचतुष्टयरूप आत्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं, इस लिये उन्हें परमात्मा, मुक्त, निर्वृत, अरहन्त आदि विशेषणों द्वारा स्मरण किया जाता है और इसलिये यहाँ ('त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः'-५०) 'निर्वृतः' विशेषणसे अरहन्त अवस्थाका ही वर्णन किया गया है, न कि सिद्ध अवस्थाका। दूसरे, इस अन्तिम पद्यमें 'जिन' को सम्बोधन बनाया गया है, सिद्धको नहीं और इसलिये उससे भी स्पष्ट है कि यहाँ जिनावस्थाका—केवली अवस्थाका प्रतिपादन है और यह प्रकट है कि जिन और सिद्ध एक नहीं हैं—दोनों भिन्न हैं। तीसरे, इस पद्यमें शीतल जिनकी उन हरि, हर, हिरण्यगर्भादि संसार प्रसिद्ध अन्य आप्तों-देवोंसे तुलना करते हुए उत्कृष्टता बतलाई गई है जिन्हें ही अधिकांश दुनिया आप्त (यथार्थ देव) समझती है। और इसलिये भी इस पद्यमें सिद्ध अवस्थाका वर्णन नहीं माना जासकता है। वास्तवमें बात यह है कि जब बच्चों आदिको शीतला आदिकी बीमारी होजाती है तो लोग उसकी निवृत्तिके लिये शीतलामाता आदि खोटे देवोंकी, जो न पूर्ण ज्ञानी हैं और न पूर्ण निर्वृत (सुखी) हैं किन्तु थोड़ेसे ज्ञानमें ही मदान्ध हैं—उस रोग निवृतिका अपनेमें पूरा ज्ञान मान बैठे हैं तथा स्वयं रागद्वेषादिसे पीडित हैं, पूजादि करते हैं और इस प्रकार समस्त संसारमें अज्ञजनोंमें जो एक बड़ी भारी मूढता—लोकमूढता अथवा देवमूढता फैली हुई चली आरही है उसको दूर करनेका इस पद्यमें प्रयत्न किया गया है और सहेतु यह सिद्ध किया गया है कि 'शीतल जिनकी ही पूजादि करना श्रेष्ठ है क्योंकि वे उत्तमज्योति हैं—परिपूर्ण ज्ञानी हैं और स्वयं अज एवं पूर्ण सुखी हैं—रागद्वेषादि किसी भी बीमारीसे स्वयं पीडित नहीं हैं और इसलिये सच्चे रोग निवर्तक कहो, सच्चा वैद्य'[1] कहो शीतल जिन हैं उसीकी विज्ञजनों-समझदारोंको पूजादि करना चाहिए और मैं भी उन्हींकी पूजा करता हूँ।' पाठक, उस पूरे पद्यको नीचे देखिये और उसके प्रत्येक पदके अर्थपर गौर करिये।

> 'त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः—
> क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः।
> ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरै—
> र्बुधप्रवेकैर्जिन ! शीतलेड्यसे ॥'

इस पद्यपरसे एक ऐतिहासिक रहस्यका भी उद्घाटन होता है। वह यह कि जो आज शीतला (चेचक) आदिकी निवृत्तिके लिये शीतला माताकी या अन्य हरिहरादिकी पूजा लोकमें प्रचलित चली आरही है वह समन्तभद्रके समयमें भी प्रचलित थी और जोरोंपर थी। इसीलिये उन्होंने इस देवमूढता व लोक-मूढताको शीतलजिनकी पूजाके विधान द्वारा हटानेका उसी प्रकार जोरदार प्रयत्न किया है जिस प्रकारका रत्नकरण्डश्रावकाचारमें देवमूढतादिको हटानेका किया है[1]। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि इस पद्यमें केवली अवस्थाका ही वर्णन है, जब उन्हें जिन कहा जाता है और मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं। यहाँ सिद्ध अवस्थाका वर्णन बिल्कुल भी नहीं है। यदि सिद्धोंको भी कहीं जिन कहा गया हो तो कृपा कर प्रो. सा. बतलायें? अतएव वहाँ सिद्ध अवस्थाका वर्णन बतलाना असङ्गत है।

प्रो. सा. अपने कथनको सङ्गत-असङ्गत न समझते हुए केवल पक्षाग्रहवश आगे और भी लिखते हैं—"४८वें पद्यमें भगवानके अप्रमत्त संयमका उल्लेख है। उसके पश्चात् ४९वें पद्यमें उनके संयोग अवस्थासे अयोगि बननेका प्रयत्न वर्णित है। और ५०वें पद्यमें अयोगिसे ऊपर निर्वृत अवस्थामें 'उत्तमज्योति' और 'अज' गुणोंका निरूपण पाया जाता है। इसी ज्योतिके प्रकाशमें यदि पंडितजी उन सब उल्लेखोंको देखेंगे जिन्हें वे आप्तमें जन्म, जरादि

१ अरहन्तको वैद्य भी स्वयं ग्रन्थकारने इसी स्वयम्भूस्तोत्रके निम्न ११वें पद्यमें स्वीकार किया है:—

'त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके। आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥'

१ देखो, २२ और २३वाँ पद्य।

दोषोंके अभावके पक्षमें पेश करते हैं तो उनका समस्त अन्धकार और धुन्धलापन दूर होजायगा।" इस सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ? मुझे सिर्फ हरिभद्रका निम्न पद्य याद आ जाता है—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र, यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र, तत्र मतिरेति निवेशम्॥

अर्थात् आग्रही पुरुषकी युक्ति वहीं जाती है जहाँ उसकी बुद्धि स्थिर होचुकी है। जबकि निष्पक्ष पुरुषकी बुद्धि उसकी युक्तिके पीछे-पीछे दौड़ती है।

प्रो. सा. ठीक हरिभद्रकी इस उक्तिका अनुसरण कर रहे हैं। जो हो, मैं तो युक्ति और आगमके प्रकाशमें यही जान सका हूँ कि स्वयम्भूस्तोत्रमें केवलीमें जन्मादि दोषोंका अभाव स्पष्टतः अभिहित है जैसा कि उपरोक्त विवेचनसे प्रकट है, यह मैं उन्हें नहीं समझा पारहा, इसे मैं अपनी अयोग्यता समझे लेता हूँ।

यहाँ मैं दो बातोंका उल्लेख और कर देना चाहता हूँ। प्रो. सा.का उन्हें मानना न मानना उनके आधीन है। पहली बात तो यह कि पूर्वोक्त चौथे उल्लेखमें कहा गया है कि 'हे जिन! तुमने जन्मके निगलको समूल निर्भेदन (नाश) कर दिया है और इसलिये आप विद्वानोंके मोक्षपदवी हैं अर्थात् विद्वान् तुम्हें मुक्त कहते हैं।' यहाँ जन्मनिगलको समूल निर्भेदन करनेका उल्लेख एवं प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रो. सा. बतलायें, जन्मका मूल क्या है? आयुको तो उसका मूल कहा नहीं जासकता, क्योंकि वह केवली अवस्थामें विद्यमान रहती है। मोहको ही उसका मूल मानना होगा जिससे जन्म-निगल होता है और जिसके नाशसे वह नष्ट होजाता है और चूंकि केवलीने मोहका निःशेषेण भेदन कर दिया है, इसलिये यहाँ उनके जन्मनिगलका नाश हो जानेका कथन किया गया है। दूसरी बात यह है कि पाँचवें उल्लेखमें अरिष्टनेमिको जिनकुञ्जर और और अजर कहा गया है। साथमें शीलजलधि और विभव ये दो विशेषण और दिये हैं। अतएव यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जराका सम्बन्ध वीर्यान्तराय कर्मके साथ है। उसका जिसके जैसा क्षयोपशम होता है उसको वैसी देर या जल्दी जरा आती है—तब तक उसका सामयिकाभाव रहता है। केवलीने वीर्यान्तराय कर्मका सर्वथा क्षय कर दिया है और इसलिये उनके जराका सर्वथा अभाव कहा जाता है। यही वजह है कि शीलजलधि, जिनकुञ्जर-जैसे विशेषण भी साथमें और लगाये हैं।

केवलीमें क्षुधा और तृषा इन दो दोषोंका अभाव बतलानेके लिये स्वयम्भूस्तोत्र, पूज्यपादीय नन्दीश्वरभक्ति, पात्रकेसरीस्तोत्र, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और योगदर्शनके प्रमाणोल्लेखोंसे यह कहा था कि—

(१) 'क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न' इत्यादि स्वयम्भूस्तोत्रके पद्यसे सिद्ध है कि केवलीमें भूख-प्यास-की वेदना नहीं होती और न उसके दूर करनेके लिये वे भोजन-पानादिको ग्रहण करते हैं। अन्यथा सामान्य जनोंके लिये दिया गया उनका यह उपदेश कि क्षुधादि वेदनाओंके प्रतिकारसे न शरीरकी स्थिति है और न आत्माकी—दोनोंके लिये वह प्रतिकार अनुपयोगी है, 'परोपदेशे पाण्डित्य' कहलायेगा। अतः इस पद्यसे फलित है कि केवलीके क्षुधा और तृषाकी बाधा नहीं होती।

(२) जब आप्तमीमांसाकार 'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः' कहकर केवलीमें शाश्वत सुख स्वीकार करते हैं तो क्षुधा और तृषाकी वेदना उनमें कदापि सम्भव नहीं है, न भोजनादिजन्य तृप्तिसुख भी सम्भव है; क्योंकि सुख व्याप्यवृत्ति गुण है और इसलिये शाश्वत सुखको स्वीकार करनेकी हालतमें इन्द्रिय सुख नहीं बन सकता है—सजातीय दो गुण एक साथ एक जगह नहीं रह सकते हैं। अतः जब आप्त-मीमांसाकार स्वयं केवलीमें शाश्वत सुख मानते हैं तो उनमें वेदनीय जन्य ऐन्द्रिय सुख-दुख व क्षुधा-तृषाकी वेदना नहीं है, यह स्पष्ट है। अन्यथा उनके ही कथन-में परस्पर विरोध आवेगा जो समन्तभद्र जैसे आचार्य नहीं कर सकते हैं।

(३) आप्तमीमांसाकारके अलावा अन्य आचार्यों-ने भी केवलीमें क्षुधा और तृषाकी निवृत्ति मानी है, जैसे पूज्यपाद, भद्रबाहु, पात्रकेसरी, अकलङ्क, विद्यानन्द। इससे प्रकट है कि यह मान्यता प्राचीनतम और मौलिक है। योगदर्शनके प्रवर्त्तक पातञ्जलि भी विशिष्ट आत्मामें (योगीमें) क्षुधा और तृषाकी निवृत्ति स्वीकार करते हैं—यथा 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा-निवृत्तिः।' (योगद. ३-३०)।

इनमें प्रो. सा.ने पहली और तीसरी बातपर तो कुछ लिखा है; किन्तु दूसरी बातपर कुछ नहीं लिखा, जो खास थी। क्यों नहीं लिखा, इसे भी पाठक समझ सकते हैं। वस्तुतः उसका उनके पास कोई समाधान हो ही नहीं सकता न उसमें कुतर्कोंका प्रवेश ही सम्भव है। क्योंकि आप्तमीमांसाकारने केवलीमें स्पष्ट शब्दों द्वारा शाश्वत—सदा कालीन सुख स्वीकार किया है तब ऐन्द्रिय सुख-दुख, भूख-प्यासकी बाधा उन्हें केवलीमें स्वीकार्य कैसे हो सकती थी? पहली बातके सम्बन्धमें आपने लिखा है कि "वहाँ ('क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः' पद्यमें) यथार्थतः क्षुधादि बाइस परीषहोंका संकेत है जिनको सहन करना प्रत्येक साधुका धर्म है। और यही भगवानका उपदेश है।" क्यों साहब, यदि इस पद्यमें बाइस परीषहोंके सहनेका संकेत है तो 'इन्द्रियार्थप्रभवाल्प-सौख्यतः' इत्यादि फिर किस लिये कहा गया? और शरीर तथा शरीरी (आत्मा) के लिये उनकी अनुपयोगिता क्यों बतलाई गई? साधु तो भोजन भी करते हैं और पानी भी पीते हैं? बात यह है कि भूख-प्यासकी बाधा होनेपर लोग जो उसके प्रतिकार के लिये भोजनादि ग्रहण करते हैं और इन्द्रिय विषयोंसे सुख मानते हैं उनकी यहाँ शरीर और शरीरीके लिये अनुपयोगिता बतलाई है जिससे लोग उन्हींमें आसक्त न रहें। यदि केवली इन्हें ग्रहण करते रहें तो वे उनकी बुराई, निन्दा और हेयता कदापि नहीं बतला सकते। हमारे और उनके उपदेशमें यही तो अन्तर है कि हमारा तो केवल शुष्क उपदेश है—आचरण नहीं और केवलीका ज्ञान और आचरण दोनों हैं। अतः यहाँ परीषहोंका संकेत न होकर क्षुधा और पिपासा इन दो दोषोंका अभाव केवली-में प्रतिपादित समझना चाहिये। तीसरी बातके सम्बन्धमें आप अप्रासंगिक भी कह गये हैं। वहाँ हमें यही बतलाना इष्ट है कि केवलीकी बात तो दूर है एक विशिष्ट संयमका अभ्यास करने वाले योगीमें भी क्षुधा और पिपासाकी निवृत्ति होजाती है जैसे कायबलऋद्धिधारी योगी मुनिके महीनों, वर्षों तक भूख-प्यासका अभाव हो जाता है। वास्तवमें भूख-प्यासके अभावमें मोहनीय और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशम और क्षयका बड़ा असर पड़ता है और जिससे वेदनीय हतप्रभ हो जाता है। जैन सिद्धान्तमें ये दोनों दोष मोहनीय या घातिकर्म सहकृत वेदनीय-से उत्पन्न होते माने गये हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अतएव केवलीमें निःसहाय वेदनीय उन दोषोंको उत्पन्न करने में असमर्थ है, यह हम बार-बार कह चुके हैं।

यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि मूलाचार और भगवती आराधनामें जो केवलीमें पंडित पंडित और पंडित मरण कहा गया है वह गृहीत शरीरको बिना किसी मोह या पीडाके छोड़नेकी अपेक्षासे है और इसीलिये उसके साथ पंडित पंडित अथवा पंडित विशेषण लगा हुआ है। सामान्य मनुष्य जैसा उसका मोह या दुःखजनक मरण नहीं है और न पुनर्जन्म वाला मरण है। इस मरणका ही अभाव केवलीमें प्रतिपादित किया गया है। यही मरण मोह-निमित्तक है और मनुष्योंको रुलाने वाला है। वास्तवमें केवलीके शरीर-त्यागको मरण ही नहीं कहना चाहिये उसे तो परिनिर्वृति कहना चाहिये, क्योंकि अयोगावस्थामें केवलीके नाम और आयु अपनी स्थितिके पूर्ण हो जानेसे स्वयं हट जाते हैं, उन्हें उससे मोह नहीं रहता, इसीसे शास्त्रकारोंने उनके शरीर-त्यागको परिनिर्वृतिके नामसे उल्लेखित किया है जो अनेकान्तवादियोंके लिये कोई दोषावह नहीं है।

अब मैं यह प्रकट कर देना चाहता हूँ कि यदि प्रो. सा. को स्वयम्भूस्तोत्र आदिके उल्लेख मान्य

नहीं हों और उनपरसे केवलीमें उपर्युक्त दोषोंका अभाव भी अस्वीकार हो तो वे निर्युक्तिकार भद्रबाहु-के प्रतिपादनको तो अवश्य प्रमाण मानेंगे, क्योंकि वे उन्हें तथा स्वामी समन्तभद्रको एक स्वीकार करते हैं। और मैं यह द्वितीय लेखमें निर्युक्तियोंके विविध प्रमाणोल्लेखोंसे बतला आया हूँ कि निर्युक्तिकार भद्रबाहुने केवलीमें जन्म, जरा, मरण, क्षुधा, पिपासा इन दोषोंका अभाव प्रतिपादित किया है और असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंको केवलीमें अपना अशुभ फल न देनेका कथन किया है। इस सम्बन्धमें प्रो. सा. सर्वथा मौन होगये और इस लिये 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' समझना चाहिये। अन्यथा या तो उन्हें समन्तभद्रस्वामी और भद्रबाहु निर्युक्तिकारको दो व्यक्ति स्वीकार कर लेना चाहिये और वैसी घोषणा कर देनी चाहिये अथवा दोनोंको एक सिद्ध करना चाहिये और उस हालतमें उन्हें केवलीमें उपर्युक्त भद्रबाहु प्रतिपादित जन्मादि दोषोंके अभावको स्वीकार करना अनिवार्य है। अतः प्रो. सा.को दोनों तरफसे 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' है। अतः इस विवेचनसे केवलीमें जन्मादि ६ दोषोंके अभावका भी सुस्पष्ट निर्णय होजाता है।

९३वीं कारिकामें आप्तमीमांसाकारकी विवक्षा—

प्रो. सा.ने केवलीमें सुख-दुखकी वेदना प्रमाणित करनेके लिये आप्तमीमांसाकी ९३वीं कारिका प्रस्तुत की थी और उसमें प्रयुक्त हुए 'वीतराग' तथा 'विद्वान्' पदोंसे आप्तमीमांसाकारका यह अभिप्राय प्रकट किया था कि वे उसमें केवलीमें सुख-दुखकी वेदना स्वीकार करते हैं। इसपर हमने बतलाया था कि वहाँ उक्त पदोंके आप्तमीमांसाकारका केवलीका अभिप्राय नहीं है, छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका है, जो कायक्लेशादि दुखको और तत्त्वज्ञानजन्य सन्तोषलक्षण-सुखको उत्पन्न करता है। इसपर आपने बादको लिखा था कि 'यदि उक्त कारिकामें छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया जाय तो फिर प्रतिपाद्य विषयकी युक्ति ही बिगड़ जाती है और विपरीत होनेसे जो बात असिद्ध करना चाहते हैं वही सिद्ध होती है, क्योंकि छठे गुणस्थानमें सुख-दुखकी वेदनाके साथ प्रमाद और कषाय इन दो बन्धके कारणोंसे कर्मबन्ध अवश्य होगा।' इसका हमने उत्तर दिया था कि 'पूर्वपक्षी प्रमाद और कषायको बन्धका कारण नहीं मानना चाहता, वह तो केवल एकान्ततः दुःखोत्पत्ति और सुखोत्पत्तिको ही बन्धकारण कहना चाहता है, और उसके इस कथनमें ही उपर्युक्त (कारिकागत) दोष दिये गये हैं। जब उसने अपने एकान्त पक्षको छोड़कर यह कहा कि 'अभिसन्धि' (प्रमाद और कषाय) भी उसमें कारण हैं तब उससे कहा गया कि यह तो (हमारी) अनेकान्त सिद्धि आगई—आपका 'परत्र सुखदुःखो-त्पादनं पुण्यपापबन्धहेतुः' इत्यादि एकान्त नहीं रहा। इससे यह साफ है कि यहाँ (कारिकामें) छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिकी—(साधु और उपाध्याय परमेष्ठीकी) ही विवक्षा है।' अपने इस कथनका हमने आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत विशद व्याख्यानसे सप्रमाण समर्थन भी किया था।

अब प्रस्तुत लेखमें प्रो. सा. लिखते हैं कि 'यहाँ प्रश्न यह है कि आचार्यने पूर्वपक्षीका वह एकान्त पक्ष छुड़ाया कैसे, और उसे यह कैसे विश्वास कराया कि बन्धका कारण केवल सुख-दुख नहीं होता?' अपने इस प्रश्नके आगे आप एक गीली और सूखी लकड़ी-का उदाहरण देते हुए और लिखते हैं कि 'ठीक इसी प्रकार आप्तमीमांसाकी उस कारिकामें पूर्वपक्षीकी जो शङ्का है कि अपने दुखसे पुण्य और सुखसे पापका बन्ध होता है उसके निराकरणके लिये आचार्य उसे एक ऐसा व्यक्ति दिखलाते हैं जिसके सुख-दुख तो हैं किन्तु फिर भी पुण्य-पापका बन्ध नहीं है। ऐसा व्यक्ति वेदनीयोदयसे युक्त किन्तु अबन्धक जीव ही हो सकता है। छठे आदि गुणस्थानवर्ती बन्धक जीवोंके उदाहरण पेश करनेसे पूर्वपक्षीकी बातका खण्डन कदापि नहीं हो सकता, बल्कि उससे तो उसकी शङ्काकी ही पुष्टि होगी, क्योंकि उन साधुओंके सुख-दुख कषाययुक्त होनेसे कर्मबन्धक हैं ही। अतएव पण्डितजीके समाधानसे उनके पक्षका समर्थन नहीं

होता, बल्कि उससे और भी सुस्पष्ट होजाता है कि आप्तमीमांसाकी ९३वीं कारिकामें छठे गुणस्थानवर्ती मुनिका नहीं, किन्तु अबन्धक गुणस्थानवर्ती संयमीका ग्रहण किया गया है और यदि विद्वान् विशेषण वहाँ कोई सार्थकता रखता है तो उससे केवलीका ही बोध होता है।'

पाठकगण, अब देखें कि प्रो. सा.का यह बौद्धिक व्यायाम सैद्धान्तिक स्थितिके अनुकूल भी है क्या? यह प्रकट है कि उल्लिखित कारिकामें 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दोंसे प्रो. सा.को छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण इसलिये इष्ट नहीं है कि उनके प्रमाद और कषाय इन दो बन्धके कारणोंका सद्भाव होनेसे वे कर्मबन्धक ही हैं और चूंकि कारिकामें अबन्धक व्यक्तिको दिखाना है, जो सुख-दुखकी वेदनासे युक्त भी हो, इसलिये वहाँ विद्वान् विशेषणके सामर्थ्यसे अबन्धक-केवलीका वे बोध करते हैं। यह ध्यान रहे कि केवलीसे सयोगकेवली जिनका ग्रहण ही उन्हें इष्ट है, अयोगकेवली जिनका नहीं, क्योंकि भूख प्यास आदिकी वेदना और कवलाहार उन्हींके बतलाना उन्हें अभीष्ट है। अब पाठक सैद्धान्तिक स्थितिपर गौर करें। सिद्धान्तमें कर्मबन्धके पाँच कारण बतलाये गये हैं—१ मिथ्यादर्शन, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग। जैसा कि 'तत्त्वार्थसूत्र'के निम्न सूत्रसे स्पष्ट है:—

"मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः"

मिथ्यादृष्टिके पाँचोंसे बन्ध होता है। सासादनसे लेकर चौथे गुणस्थान तकके जीवोंके मिथ्यादर्शनको छोड़कर शेष चारसे बन्ध होता है। पाँचवें संयतासंयत गुणस्थानवालेके मिली हुई अविरति तथा विरति और प्रमाद, कषाय एवं योग इनसे बन्ध होता है। प्रमत्तसंयतके प्रमाद, कषाय और योग इन तीनसे बन्ध होता है। अप्रमत्त आदि सूक्ष्मसाम्प्राय तकके जीवोंके कषाय और योगसे बन्ध होता है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके केवल एक योगसे बन्ध होता है। अयोगकेवलीके बन्ध नहीं है। जैसा कि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिसे भी प्रकट है:—

'ते एते पञ्च बन्धहेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा—मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः। संयतासंयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा प्रमादकषाययोगाश्च। प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः। अप्रमत्तादीनां चतुर्णां योगकषायौ। उपशान्तकषाय-क्षीणकषाय-सयोगकेवलिनामेक एव योगः। अयोगकेवलिनो न बन्धहेतुः।"—सर्वा. पृ. २५१।

तात्पर्य यह हुआ कि सयोगकेवलीके योगका सद्भाव होनेसे वे भी उसी प्रकार बन्धक हैं जिस प्रकार छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिके प्रमाद और कषायके सद्भावसे वे बन्धक हैं और इसलिये प्रो. सा.ने जो बड़े बौद्धिक व्यायामसे उक्त कारिकामें 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दोंसे केवली अर्थ फलित करनेके लिये सयोगी जिन केवलीको अबन्धक बतलाया है वह एकदम सैद्धान्तिक स्थितिके प्रतिकूल है। कार्मिक ग्रन्थोंमें स्पष्टतया बतलाया गया है कि सयोग केवलीके भी योगके सद्भावसे सातावेदनीयका बन्ध होता है[1] और इसलिये उन्हें अबन्धक कैसे कहा जासकता है? वास्तवमें बात यह है कि पूर्वपक्षीकी उल्लिखित एकान्त-मान्यता अपनेमें केवल दुख उत्पन्न करनेसे पुण्य-बन्ध और केवल सुख उत्पन्न करनेसे पापबन्धका कथन संगत है या असंगत, यह दिखाना ही आप्तमीमांसाकारको अभिप्रेत है। अतः उसमें उन्होंने दूषणोद्भावन करके अनेकान्त मान्यताको प्रश्रय दिया है, अब उसे एकान्ती माने या न माने उसके अधीन है। प्रकाशका काम अन्धकारमें वस्तुको दिखा देना है। देखने वाला उसे ग्रहण करे या

१ "उवसंत-खीणमोहे जोगिम्हि य समयट्ठिदी सादं।
णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य॥"
—गो. क. गाथा १०२

न करे यह उसके अधीन है—उसका काम है। अतएव यदि वह आग्रही नहीं है तो अपने एकान्त पक्षको छोड़कर अनेकान्त पक्षको मान लेगा और यदि आग्रही है तो समझकर भी कुतर्क करता रहेगा। सिर्फ जानना यह है कि मात्र दुःखोत्पत्ति और सुखोत्पत्तिसे पुण्य-पाप बन्ध होता है क्या? एक निर्मम तपस्वी साधु घोर तपस्या द्वारा शरीरमें कष्ट और दुःख पहुँचाता है, पर यदि उसका यह कष्ट अथवा दुःख तद्विषयक संक्लेश (कषाय) युक्त नहीं है तो उससे उसके बन्ध कदापि नहीं होगा—अन्य कारणोंसे भले ही होता रहे। और यदि वह संक्लेश युक्त है तो नियमसे कर्मबन्ध होगा। इसका मतलब यह हुआ कि बिना संक्लेश परिणामके केवल दुःखोत्पत्ति कर्मबन्धका कारण नहीं है किन्तु संक्लेश-रूप कषायमिश्रित दुःखोत्पत्ति कर्मबन्धका कारण है। वास्तवमें यदि ऐसा न हो तो अन्तःकृत केवली हो ही नहीं सकते।

यथार्थतः यहाँ उस सांस्कृतिक समस्याका हल किया गया है जो बौद्ध साधुओंकी ओरसे जैन साधुओंके ऊपर आक्षेपके रूपमें उपस्थित की जाती थी। जैन साधु केशोत्पाटन आदि कठोर तपों द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाते थे, इसपर बौद्ध साधु जैन साधुओंपर यह आक्षेप करते थे कि जैन लोग केशोत्पाटन आदिको पुण्यबन्धका कारण मानते हैं और अपने शरीरको आराम पहुँचानेमें पापबन्ध मानते हैं। उनको कहा गया है कि केवल दुःखसे पुण्य और सुखसे पापका बन्ध नहीं होता, अन्यथा वीतराग एवं विद्वान मुनि भी पुण्य-पापसे युक्त माने जायेंगे, पर ऐसा नहीं है। जैनसिद्धान्तमें संक्लेशादि युक्त दुख-सुखको ही पुण्य-पापबन्धका कारण स्वीकार किया गया है और इसलिये केशोत्पाटनादिमें वे संक्लेशादिका अनुभव नहीं करते हैं। जैसा कि स्वयं आप्तमीमांसाकारकी निम्न ९५वीं कारिकासे स्पष्ट है।

विशुद्धि-संक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्।
पुण्य-पापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः॥

आप्तमीमांसाकारके अनुसर्ता आचार्य पूज्यपादके सर्वार्थसिद्धिगत महत्वपूर्ण प्रतिपादनसे भी हमारे उक्त कथनका समर्थन होजाता है, जो उन्होंने असद्वेद्यकर्मास्रव वर्णनके प्रसङ्गमें किया है और जो निम्न प्रकार है:—

"अत्र चोद्यते—यदि दुःखादीन्यात्म-परोभय-स्थान्य-सद्वेद्यास्रवनिमित्तानि, किमर्थमार्हतैः केशलुञ्चनानशना-तपस्थानादीनि दुःखनिमित्तान्यास्थीयन्ते परेषु च प्रतिपाद्यन्ते इति; नैव दोषः; अन्तरङ्गक्रोधाद्यावेश-पूर्वकाणि दुःखादीन्यसद्वेद्यास्रवनिमित्तानि, इति विशिष्योक्तत्वात्। यथा कस्यचिद्भिषजः परमकरुणाशयस्य निःशल्यस्य संयतस्योपरि गण्डं पाटयतो दुःखहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति। एवं संसार-विषयमहादुःखादुद्विग्नस्य भिक्षोस्तन्निवृत्त्युपायं प्रति समाहित-मनस्कस्य शास्त्रविहिते कर्मणि प्रवर्त्तमानस्य संक्लेश-परिणामाभावात् दुःखनिमित्तत्वे सत्यपि न पापबन्धः। उक्तञ्च—न दुःखं न सुखं यद्वद्धेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।

चिकित्सायां तु युक्तस्य स्यात् दुःखमथवा सुखम्॥
न दुःखं न सुखं तद्वद्धेतुर्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्यात् दुःखमथवा सुखम्॥२॥"

अतः आप्तमीमांसाकारको आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकामें केवल दुख-सुखसे पुण्य-पापका बन्ध नहीं होता, यह दिखाना है और उसे दिखाकर पूर्वपक्षीके एकान्त पक्षको छुड़ाना है तथा छुड़ाया भी गया है। जिस आपत्ति (बन्धकत्व) के कारण प्रो. सा. 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्'से छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण नहीं कर रहे—उसके ग्रहण करनेमें हिचकिचा रहे हैं वही आपत्ति (बन्धकत्व) उसका केवली अर्थ करनेमें भी मौजूद है। इसलिये पहले जो हम कह आये हैं कि पूर्वपक्षी प्रमाद और कषाय (अथवा योग) को बन्धका कारण मानकर केवल एकान्ततः दुःखोत्पत्ति और सुखोत्पत्तिको ही कर्म-बन्धका कारण कहना चाहता है और उसके इस कथनमें ही उक्त दोष दिये गये हैं, वही युक्त है—उसमें कोई भी बाधा नहीं है। अतः कारिकागत 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदोंसे छठे गुणस्थानवर्ती

मुनि (साधु और उपाध्याय परमेष्ठी) का ही ग्रहण करना आप्तमीमांसाकारको इष्ट है। जैसा कि विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत व्याख्यानसे स्पष्ट है।

अज्ञान स्वयं मल है, मलजनक नहीं—

हमने प्रो. सा. की एक सैद्धान्तिक भूल उन्हींके वाक्योंको उद्धृत करके बतलाई थी। उनके वे वाक्य निम्न प्रकार हैं:—

'ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें भी वीतरागता होते हुए भी अज्ञानके सद्भावसे कुछ मलोत्पत्तिकी आशङ्का होसकती है।' इसपर हमने लिखा था कि 'परन्तु सिद्धान्तमें बिना मोहके अज्ञानको बन्धका कारण या मलोत्पत्तिका जनक नहीं माना है।' इसके साथ ही स्वयं आप्तमीमांसाकार तथा अष्टसहस्रीकारके कथनोंसे उसका सप्रमाण समर्थन किया था। अब प्रो. सा. लिखते हैं कि 'इस सिलसिलेमें पण्डितजीने मेरे सिर एक सैद्धान्तिक भूल जबर्दस्ती मढ़ दी है कि मैंने अज्ञानको भी बन्धका कारण बतलाया है और फिर आपने उसपर एक लम्बा व्याख्यान भी झाड़ा है।' आगे अपने लेखका पूरा उद्धरण उपस्थित करके पाठकोंसे इसे देखनेकी प्रेरणा करते हुए लिखा है कि 'कृपया पाठक देखें कि मैंने यहाँ कहाँ अज्ञानको बन्धका कारण कहा है? मैंने तो उससे मलोत्पत्तिकी बात कही है और वह ठीक भी है क्योंकि आप्तमीमांसाकारने उसे दोष कहा है और उसे मलकी उपमा दी है और अकलङ्क तथा विद्यानन्द जैसे टीकाकारोंने भी उसे आत्माका मल ही कहा है।' इसके आगे आपने इन आचार्यों तथा धवलाकारके कुछ अज्ञानको मल कहनेवाले वाक्योंको दिया है। साथ ही मुझसे अपनी भूल जाननेकी इच्छा प्रकट करते हुए लिखा है कि 'ऐसी हीन प्रवृत्ति एक न्यायाचार्यके योग्य नहीं।'

यहाँ निम्न तीन बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि प्रो. सा. ने उक्त वक्तव्यमें क्या अज्ञानसे मलोत्पत्ति नहीं कही? दूसरी यह कि यदि अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है तो सैद्धान्तिक भूल क्यों नहीं हुई? तीसरी यह कि यदि सैद्धान्तिक भूल है तो उसके बतलानेपर वह क्या हीन प्रवृत्ति है?

(१) प्रथम बातके सम्बन्धमें मेरा कहना है कि जब आप यह कहते हैं कि 'मैंने तो उससे मलोत्पत्ति की बात कही है।' तब स्पष्ट है कि आप अज्ञानको मलोत्पत्तिका जनक या बन्धका कारण कह रहे हैं। कोई यह कहे कि अग्निसे धूमोत्पत्ति होती है और फिर वह कहने लगे कि हमने अग्निको धूमका कारण कहाँ कहा? तो क्या उसे विक्षिप्त नहीं कहा जायगा? स्पष्ट है कि उसका वह कथन अयुक्त और विरुद्ध समझा जायगा। यही हमारे प्रो. सा. यहाँ अनुसरण कर रहे हैं। अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी बात कहना और अज्ञानको मलोत्पत्ति जनक बतलाना एक ही बात है। न्यायका साधारण अभिज्ञ भी यह जानता और मानता है कि पंचम्यन्त प्रयोग हेतुपरक होता है। प्रकृतमें जब अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी बात कही जाती है तो स्पष्टतः पंचम्यन्त प्रयोग है। और यह प्रकट है कि मलोत्पत्ति जनक और बन्धका कारण दोनों एक हैं—उनमें जरा भी भेद नहीं है। प्रो. सा. जब अज्ञानसे अपनी मलोत्पत्तिकी बातको ठीक बतलानेके लिये यह कहते हैं कि 'क्योंकि स्वयं आप्तमीमांसाकारने उसे दोष कहा है और उसे मलकी उपमा दी है आदि' तो हमें उस व्यक्तिकी याद आजाती है जो कहता है कि पानीसे पेय होता है क्योंकि सभीने पानीको पेय कहा है। विवाद पानीको पेय होनेमें नहीं है विवाद है पानीसे पेय होनेमें। अतएव उसके वैसे कथनको सुनकर किसे हँसी नहीं आवेगी। ठीक उस व्यक्ति जैसा कथन हमारे प्रो. सा. का है, क्योंकि प्रश्न तो यह है, क्या आपने अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है? यह प्रश्न नहीं है कि अज्ञान स्वयं मल है क्या? क्योंकि उसे मल होनेमें विवाद ही नहीं है और इसलिये उसे मल सिद्ध करनेके लिये जो आप्तमीमांसाकार आदिके वाक्योंको उपस्थित किया गया है वह सर्वथा निरर्थक है। आपको तो अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी अपनी बातको साबित करने वाले प्रमाण उपस्थित करना चाहिये था पर उन्हें उपस्थित

न कर इधर-उधर दौड़ना बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमानी तो इसमें है कि जो अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी बात कही गई है वह भूल से कही गई है, इस प्रकार से अपनी भूलको स्वीकार कर ली जाय न कि एक भूलकी पुष्टिके लिये नई और अनेकों भूलें की जायें। इससे यह पाठकोंपर बिल्कुल स्पष्ट होजाता है कि प्रो. सा. ने अज्ञानसे मलोत्पत्ति स्पष्टतः कही है।

(२) जब अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है तो उससे प्रकट है कि उन्होंने सैद्धान्तिक भूल की है क्योंकि सिद्धान्तमें बिना मोहके अज्ञानको मलोत्पत्तिका जनक नहीं माना है और इसलिये यह भूल मैंने उनके सिर जबर्दस्ती नहीं मढ़ी—उन्होंने उसे की इसलिये वह उनके सिर मढ़ी गई।

(३) और जब उनकी यह सैद्धान्तिक भूल है; तो उसके बतलानेमें मेरी हीन प्रवृत्ति कैसे हुई? यह समझमें नहीं आया। लोकमें जो अपराध करता है उसे ही लोग हीन प्रवृत्तिका कहते हैं पर जो सदाशयतासे उसके अपराधको उसे इसलिये बतलाता है कि वह अपनी भूलको कबूल करके आगे अप्रमत्त रहे तो मेरे खयालमें कोई भी उसे हीन प्रवृत्तिका नहीं कहता। महापुरुषोंका लक्षण ही यह है कि वे प्रायः भूल नहीं करते और यदि कदाचित् होजायें तो मालूम पड़ने पर उसे तुरन्त स्वीकार करके प्रायश्चित्त ले लेते हैं। हम भी अपने अग्रज उच्चवृत्ति महापुरुषोंसे यही आशा करते हैं और उन्हें अपना आदर्श मानते हैं।

कारिकाके वीतराग और विद्वान पद—

हमने यह कहा था कि 'कारिकामें जो वीतरागो-मुनिर्विद्वान्' शब्दका प्रयोग है वह एक पद नहीं है और न एक व्यक्ति उसका वाच्य है किन्तु ९२वीं कारिकामें आये हुए 'अचेतनाकषायौ'की तरह इसका प्रयोग है और उसके द्वारा 'वीतरागमुनि' तथा 'विद्वान्-मुनि' इन दोका बोध कराया गया है। आचार्य विद्यानन्दने तो 'वीतरागो विद्वांश्च मुनिः' कहकर और 'च' शब्दका साथमें प्रयोग करके इस बातको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।' इसपर प्रो. सा. का कहना है कि 'वीतराग और विद्वान् गुण परस्पर विरोधी भी नहीं हैं जो एक ही व्यक्तिमें न पाये जाते हों। इस कारिकामें क्रिया भी एक वचन है। तब फिर यहाँ वीतराग और विद्वान् दोनोंके विशेष्य दो अलग-अलग मुनि माननेकी क्या सार्थकता है और उसके लिये कारिकामें क्या आधार है?'

इसपर हमारा निवेदन है कि यद्यपि वीतरागता और विद्वत्ता ये दो गुण परस्पर विरोधी नहीं हैं, पर यदि वक्ताकी उन दो गुणोंसे दो व्यक्तियोंका बोध करानेकी विवक्षा हो तो उसे कौन रोक सकता है? आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेष्ठियोंमें भी तो कोई मौलिक भेद नहीं है। साधुके अट्ठाईस मूलगुण क्या उपाध्याय और आचार्य नहीं पालते? अथवा उपाध्यायके स्वाध्यायका काम आचार्य और साधु नहीं करते? या आचार्यके पंचाचारादिका पालन उपाध्याय और साधु नहीं करते? यदि करते हैं तो ये जुदे-जुदे तीन परमेष्ठी फिर क्यों कहे गये? अरहन्त और सिद्ध इन दोके सिवाय एक साधु परमेष्ठीका ही सिद्धान्तमें बतलाना उचित था और इस तरह पाँच परमेष्ठी न कहे जाकर तीन ही परमेष्ठी कहे जाना उपयुक्त था; लेकिन ऐसा नहीं है। वास्तवमें बात यह है कि ये तीन परमेष्ठी अपनी अपनी मुख्य विशेषताओंसे प्रतिपादित हैं। आचार्य-का काम अपने सङ्घको उचित मार्गपर चलाना, नवोंको दीक्षा देना आदि है। उपाध्यायका कार्य स्वयं पढ़ना और सङ्घके साधुओंको पढ़ाना है और साधुका कार्य आचार्य द्वारा विहित मार्गपर चलना और उपाध्याय द्वारा दी गई शिक्षाको प्राप्त करना है। अर्थात 'साधोः कार्यं तपःश्रुते:'—साधुका कार्य तप और श्रुत है और इन्हीं विशेषताओंसे ये तीन परमेष्ठियोंके पद रक्खे गये हैं। इसी तरह प्रकृतमें आप्तमीमांसाकारको उन दो मुनियोंका ग्रहण बतलाना है जिनमें एक तो तपकी मुख्यतासे तपस्वी एवं वीतरागी है—अनशनादि और कायक्लेशादि तपोंको करते हुए भी उसे राग-द्वेष या संक्लेश नहीं होता और दूसरा तत्त्वज्ञानकी मुख्यतासे विद्वान् है—

तत्त्वज्ञानजन्य संतोष सुखको प्राप्त करता हुआ भी उत्सेकादिभाव रहित है। इन्हीं दो पृथक् विशेषताओंसे यहाँ वीतरागमुनि और विद्वान्मुनि अर्थात् साधु परमेष्ठी और उपाध्याय परमेष्ठी ये दो मुनिविशेष विवक्षित हुए हैं।

अब प्रश्न सिर्फ यह रह जाता है कि कारिकामें 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' यह सविभक्तिक असमस्त प्रयोग हुआ है। यदि एक ही मुनि व्यक्तिकी यहाँ विवक्षा होती तो 'वीतरागविद्वान्मुनि' जैसा अविभक्तिक समस्त प्रयोग किया जाता। साथमें टीकाकार आचार्य विद्यानन्द 'वीतरागो विद्वांश्च मुनिः' ऐसा प्रयोग कदापि न करते और न साथमें 'च' शब्द देते। विद्यानन्दने भी कारिकामें जब सविभक्तिक असमस्त प्रयोग देखा और ग्रन्थकारकी उसपर यह विवक्षा मालूम की कि वहाँ दो मुनि व्यक्ति ही उन्हें विवक्षित हैं—एक वीतरागमुनि और दूसरा विद्वान मुनि—तो उन्होंने वैसा व्याख्यान किया तथा भ्रान्ति-वारणके लिये 'च' शब्द भी लगा दिया।

अतएव मैंने लिखा था कि 'जान पड़ता है प्रो. सा. को कुछ भ्रान्ति हुई है और उनकी दृष्टि 'च' शब्दपर नहीं गई है। इसीसे उन्होंने बहुत बड़ी गलती खाई है और वे 'वीतरागविद्वान्मुनि' जैसा एक ही पद मानकर उसका केवली अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं?' इसपर प्रो. सा. मुझसे पूछते हुए कहते हैं कि 'मैं पण्डितजीसे पूछता हूँ कि 'च' शब्दपर मेरी ही दृष्टि नहीं गई या स्वयं आप्तमीमांसाकारकी भी नहीं गई, क्योंकि उनकी कारिकामें भी 'च' कहीं दिखाई नहीं देता।' प्रो. सा. के इस हेतुरूप कथनको पढ़कर विद्वानोंको हँसी आये बिना न रहेगी; क्योंकि आप्तमीमांसाकी इस कारिकाको जिसने पढ़ा अथवा पढ़ाया है वह जानता है कि आप्तमीमांसा पद्यात्मक और सूत्रात्मक रचना है उसमें जितने शब्दोंको देनेकी गुञ्जाइश थी उतने शब्द दे दिये हैं। दूसरे, उन्होंने 'वीतरागो मुनिः विद्वान्' ऐसा सविभक्ति प्रयोग ही कर दिया है और इस लिये मूलकारको 'च' शब्द देनेकी आवश्यकता नहीं थी। यह कौन नहीं जानता कि टीकाकार मूलके व्याख्यान में ऊपरसे अपनी तरफसे कितने ही 'भवति, वर्तते, अपि, च, एव' आदि शब्दोंको जोड़ते हैं और जो मूलकी विवक्षाको खोलते हैं?

अब आपका एक तर्क और रह जाता है वह यह कि कारिकामें एकवचनकी क्रिया है, इसलिये उसका एक मुनि व्यक्ति ही कर्ता है, दो नहीं? क्यों साहब, एक वचनकी क्रिया सविभक्तिक अनेक कर्ताओंके लिये नहीं आसकती? और उसका प्रत्येक कर्ताके साथ सम्बन्ध नहीं होसकता? यदि आसकती और होसकता है तो प्रकृतने क्या अपराध किया? 'देवदत्तः, जिनदत्तः, गुरुदत्तः भोज्यताम्' अथवा 'चैत्रः मैत्रश्च स्वकार्यं कुर्यात्' इत्यादि वाक्योंको किसने पढ़ा और सुना नहीं है?

इससे साफ़ है कि एकवचनकी क्रिया सविभक्तिक अनेक कर्ताओंके लिये भी आती है। दूसरे, यदि उक्त पदसे केवल एक केवली व्यक्ति ही ग्रन्थकारको विवक्षित होता तो उसी केवली पदके रखनेमें उन्हें क्या बाधा थी? केवली अर्थके बोधक गुरुभूत 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदकी अपेक्षा 'केवली' पद तो लघु ही था। अतः इन सब बातों तथा उपरोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि कारिकामें 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दोंसे अलग अलग साधु और उपाध्याय मुनिरूप दो व्यक्ति ही विवक्षित हैं।

केवलीमें सुख-दुखकी वेदनाएं सिद्धान्त-सम्मत नहीं हैं:—

केवलीमें सुख-दुखकी वेदनाएँ माननेपर मैंने निम्न आपत्ति दी थी और लिखा था कि 'केवलीके सुख-दुखकी वेदना माननेपर उनके अनन्त सुख नहीं बन सकता, जिसे स्वयं आप्तमीमांसाकारने भी 'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः' शब्दों द्वारा स्वीकार किया है; क्योंकि सजातीय-व्याप्यवृत्ति दो गुण एक जगह नहीं रह सकते।'

प्रो. सा. ने मेरी इस आपत्तिको 'आशङ्का'[1] कहकर उसमेंसे पहली पंक्तिको ही उद्धृत किया है और उसका कुछ उत्तर दिया है। पर मेरे उक्त हेतुका उन्होंने न खण्डन किया है और न उसका उत्तर ही दिया है। क्यों उत्तर नहीं दिया है, इसे विज्ञ पाठक समझ जावेंगे, क्योंकि उक्त हेतुका उनके पास कोई खण्डन ही नहीं है और इसीलिये वे मेरे द्वारा उसका समाधान करनेकी बार-बार प्रेरणा करने पर भी उसे छोड़ते आ रहे हैं। वास्तवमें सुख व्याप्यवृत्ति है—प्रादेशिक नहीं है, इसलिये केवली में जब शाश्वत 'अकर्मज अतीन्द्रिय' सुख हो चुका है तो फिर उसके साथ साता-असाताजन्य सुख-दुःख कदापि नहीं हो सकते, यह एक निर्णीत तथ्य है जिसे प्रो. सा. नहीं मान रहे और उसकी उपेक्षा करते जा रहे हैं।

अब पाठक, उनके उत्तरको भी देखें, जो उन्होंने मेरी पहली साध्यरूप पंक्तिका दिया है। आप लिखते हैं कि 'यदि ऐसा होता तो फिर कर्म-सिद्धान्तमें केवलीके साता और असाता वेदनीय कर्मका उदय माना ही क्यों जाता? और यदि सुख-दुखकी वेदनामात्रसे किसी जीवके गुणका घात होता तो वेदनीय कर्म अघातिया क्यों माना जाता?' क्यों सा., यदि अग्निसे कभी धूम उत्पन्न नहीं होता और कोई अग्निसे सदैव धूम माननेपर यह आपत्ति कहे कि यदि अग्निसे सदैव धूमोत्पत्ति मानी जायगी तो अग्निसे कादाचित्क धूमोत्पत्ति नहीं हो सकेगी तो क्या उसका परिहार यह किया जायगा कि यदि ऐसा न होता तो अग्निको धूमका कारण माना ही क्यों जाता? नहीं, क्योंकि यद्यपि अग्नि धूमका कारण है पर आर्द्रेन्धनसंयुक्त होकर ही वह धूमको उत्पन्न करती है। दूसरे, कारणके लिये यह आवश्यक ही नहीं है कि वह कार्योत्पत्ति नियमसे करे ही—करे, न करे। हाँ कार्य कारणपूर्वक ही होता है। अतएव यह कहा भी गया है कि 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति।' यही बात वेदनीयोदयमें है कि वह मोहसंयुक्त होकर सुख दुख पैदा करता है बिना मोहके सुख-दुख पैदा नहीं करता, यह सभी जैन-शास्त्र और जैन विद्वान कहते चले आरहे हैं। पर प्रो. सा. उसपर गम्भीरतासे विचार नहीं कर रहे, यही आश्चर्य है। वेदनीय कर्म अघातिया क्यों है? इस बातको शास्त्रकारोंने स्पष्टतया कहा है कि वह जीवके गुणोंका घातक नहीं है सुख-दुखकी वेदना वह मोहनीयकी सहायतासे करता है इसलिये वह अघातिया तथा घातियोंके मध्यमें उक्त है।

आगे चलकर प्रो. सा. ने अरहन्तों और सिद्धोंमें भेद दिखलाने और अरहन्त केवलीमें सुख और दुखकी वेदना सिद्ध करनेके लिये धवलाकारके एक अधूरे उद्धरणको अपने अर्थके साथ उपस्थित किया है और अन्तमें लिखा है कि 'वीरसेन स्वामीके इन प्रश्नोत्तरोंमें सूर्यप्रकाशवत् सुस्पष्ट हो जाता है कि अरहन्तावस्थामें भी वेदनीय कर्म अपने उदयानुसार सुखमें बाधा करता ही है जिससे अरहन्त केवली भगवानका सुख सिद्धोंके समान अव्याबाध नहीं है।'

वीरसेन स्वामीने क्या प्रश्नोत्तर दिये हैं उन्हें पाठक, उनके पूरे उद्धरण द्वारा नीचे देखें:—

"सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्ट-कर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्तः इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदय-सत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तॄणीति चेन्न, पिण्डनिपातान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदय - सत्त्वास्तित्वसिद्धेः। तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जाति-जरा-मरणो-पलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातन-सामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतभेद इति चेन्न,

१ आपत्ति और आशङ्काको एक कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपत्ति दोषापादनको और आशङ्का प्रश्नको कहते हैं, जो दोनों अलग अलग हैं।

आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमन-सुखप्रतिबन्धकयोः सत्वात्।

नोदूर्ध्वगमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात्। सुखमपि न गुणस्तत एव। न वेदनीयोदयो दुःखजनकः केवलिनि केवलित्वान्यथानुपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव, न्यायप्राप्तत्वात्। किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।"

—धवला, पहली पु० पृ० ४६-४७।

इस उद्धरणमेंसे प्रो. सा. ने अपने लेखमें '...... सुखप्रतिबन्धकयोः सत्वात' तकका ही अधूरा हिस्सा दिया है—उससे आगेका 'नोद्ध्र्वगमन' आदि शेष भाग नहीं दिया, जो ही वीरसेनस्वामीके हार्दको प्रकट करता है और सैद्धान्तिक स्थितिको प्रस्तुत करता है; क्योंकि वास्तवमें सिद्धान्त पक्ष पूरे प्रश्नोत्तरोंके अन्तमें ही स्थित होता है। इस पूरे उद्धरणका हिन्दी अर्थ नीचे दिया जाता है:—

प्रश्न—अरहन्तों और सिद्धोंमें क्या भेद है?

उत्तर—जिनके आठों कर्म नष्ट होचुके हैं वे तो सिद्ध हैं और जिनके चार घातियाकर्म ही नाश हुए हैं—शेष अघातिया चार कर्म मौजूद हैं वे अरहन्त हैं, यही उनमें भेद है।

प्रश्न—घातियाकर्मोंके नाश होजानेसे अरहन्तोंके समस्त गुण प्रकट होचुके हैं और इसलिये उनमें गुणकृत भेद नहीं है?

उत्तर—नहीं, अरहन्तोंके अघातिया कर्मोंका उदय और सत्व मौजूद है।

प्रश्न—वे अघातियाकर्म शुक्लध्यानरूपी अग्निसे अधजले होजानेसे मौजूद रहनेपर भी अपने कार्यको नहीं करते हैं?

उत्तर—नहीं, क्योंकि शरीरका निपात नहीं होता, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका उदय और सत्व दोनोंका अस्तित्व सिद्ध है।

प्रश्न—आयु आदि कर्मोंका, जो चौरासी लाख योनिरूप और जन्म, जरा, मरण विशिष्ट संसार कार्य है वह नहीं होता तथा उनमें आत्माके गुणोंको घातनेका सामर्थ्य नहीं है। अतः अरहन्तों और सिद्धोंमें गुणकृत भेद नहीं है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि आयु और वेदनीयका उदय, जो क्रमशः जीवके उद्ध्र्वगमन और सुखका प्रतिबन्धक है, अरहन्तोंके विद्यमान है।

प्रश्न—उद्ध्र्वगमन आत्माका गुण नहीं है; क्योंकि उसके अभावसे आत्माके विनाशका प्रसङ्ग आवेगा। इसी प्रकार सुख भी आत्माका गुण नहीं है; क्योंकि कारण वही है अर्थात् सुखके अभावमें आत्माके विनाशका प्रसङ्ग आवेगा। तथा वेदनीयका उदय केवलीमें दुःखकी वेदना नहीं करता, अन्यथा वे केवली नहीं बन सकेंगे—उनमें केवलीपना नहीं हो सकेगा?

उत्तर—ऐसा ही हो, क्योंकि वह न्यायप्राप्त है—युक्ति-सङ्गत है। अर्थात न ऊद्ध्र्वगमन तथा सुख आत्मगुण है और न वेदनीयका उदय केवलीमें दुखकी वेदना करता है क्योंकि वह न्यायसङ्गत है और इस लिये अरहन्तों तथा सिद्धोंमें गुणकृत भेद नहीं है—गुणोंकी अपेक्षासे दोनोंमें समानता है। किन्तु सलेपता और निर्लेपता तथा देशभेदसे उनमें भेद है—अरहन्त सलेप हैं और सिद्ध निर्लेप तथा अरहन्त भवस्थ हैं और सिद्ध मुक्तिस्थ, इस प्रकार उनमें भेद सिद्ध है।

अब विद्वान पाठक, यहाँ देखें, वीरसेनस्वामीने कहाँ 'सूर्यप्रकाशवत सुस्पष्ट' अरहन्तावस्थामें सुख-दुखकी वेदना बतलाई है? प्रत्युत उन्होंने तो उसका निराकरण ही किया है। हमें आश्चर्य है कि वीरसेनस्वामीकी धवला और जयधवला टीका और यहाँ तक कि समस्त दिगम्बर जैन शास्त्र भी उनके पक्षके जरा भी समर्थक नहीं हैं फिर भी प्रो. सा. उनके वाक्योंको उद्धृत करनेका मोह—त्याग नहीं कर रहे हैं। हम प्रो. सा. से नम्र प्रार्थना करेंगे कि वे कमसे कम विद्वान् पाठकोंको तो चकमा न दें और उनकी आँखोंमें धूल झोंकनेका हास्यास्पद असफल प्रयत्न न करें। वीरसेनस्वामी जब यह स्पष्टतया स्वीकार कर

रहे हैं कि 'यह प्रमाणयुक्त है कि ऊर्द्धगमन तथा सुख आत्माके गुण नहीं हैं क्योंकि उनके अभावमें (जिस समय आत्मामें ऊर्द्धगमन नहीं है अथवा सुख नहीं है उस समयमें) आत्माके अभावका प्रसङ्ग आवेगा। तथा वेदनीय केवलीमें दुखकी वेदना नहीं करता है; क्योंकि दुःखकी वेदना माननेपर उनमें केवलीपना नहीं बन सकेगा। और इसलिये अरहन्तों तथा सिद्धोंमें गुणकृत भेद न होकर सलेप-निर्लेप और देशभेदकृतभेद हैं।' तब उनका पाठकोंके सामने विपरीत आशय रखना क्या न्याययुक्त है? इससे यह प्रकट है कि सिद्धान्तमें केवलीमें सुख-दुखकी वेदना कहीं भी नहीं मानी गई और न वीरसेनस्वामीने ही बतलाई है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
२२-२-१९४७ —(अगले अङ्कमें समाप्त)

जैन स्थापत्यकी कुछ अद्वितीय विशेषताएँ

नई दिल्ली का जैन मन्दिर—

इस मन्दिरमें स्थापत्यकला सम्बन्धी कतिपय अप्रतिम विशेषताएँ लक्षित होती हैं। फर्गुसन साहब ने इसका निम्न प्रकार वर्णन किया है:—

"एक और उदाहरण ऐसा है जो कि विवक्षित विषयकी इस शाखाका विवेचन समाप्त करने के पूर्व निश्चय ही ध्यान देने योग्य है, न केवल अपनी सुन्दरताके ही लिये वरन अपनी अद्वितीयताके लिये भी। गत पृष्ठोंमें लकड़ीके उस अद्भुत 'सहार' (या कैंची, Strut) के विषयमें बहुधा कथन किया गया है जिसके द्वारा जैन शिल्पियोंने अपने गुम्बदों (शिखरों) के नीचेकी लम्बी शहतीरोंकी प्रत्यक्ष कमजोरीको दूर करनेका प्रयास किया है। यह आबू, गिरनार, उदयपुर तथा अन्य अनेक स्थानोंमें, जिनका कि हम प्रकरणानुसार विवेचन करेंगे, और वस्तुतः प्रायः सर्वत्र ही जहाँ कहीं कि अष्टकोण गुम्बदका उपयोग हुआ है, उपलब्ध होता है। भारतीयोंने अपने तोरणद्वारों (तोरणों) में भी इसका उपयोग किया था और यह एक ऐसा प्रिय सौन्दर्योपकरण होगया था कि सम्राट् अकबरने आगरा और फतहपुरसीकरी दोनों ही स्थानोंकी इमारतोंमें इसका बहुधा उपयोग किया है। शताब्दियों तक बिना विशेष परिवर्तनके यह प्रयुक्त होता रहा, किन्तु कम से कम, बून्दीकी विशाल बावड़ी जैसे उदाहरण में हम इसे मात्र एक सौन्दर्योपकरणके रूपमें ही अवनत हुआ देखते हैं। और इस बातका श्रेय तो गत शताब्दीके अन्तमें अथवा वर्तमान शताब्दी (१९वीं) के प्रारम्भमें होने वाले उस मुस्लिम नगरी देहलीके एक जैन शिल्पीको ही है जिसने ऐसा ढङ्ग प्रस्तुत किया कि जिसके द्वारा वह वस्तु जो मात्र एक प्रथानुसारी सुन्दर वस्तु समझी जाती थी, प्रस्तर-स्थापत्यका एक वस्तुतः उपयुक्त निर्मातृ अङ्ग हो सकी।

इस शिल्पीकी विलक्षण सूझने उक्त सहार (कैंची) के समग्र पिछले भागको अत्यन्त कलापूर्ण योजना वाले गुदे हुए फूलपत्तीदार चित्राङ्कनोंसे भर दिया, और इस प्रकार उस वस्तुको जो यद्यपि सुन्दर होते हुए भी जैन स्थापत्य योजनाका एक दुबलतम अङ्ग थी, एक पूर्णतः प्रकल्पक प्रस्तर कोष्टक (दीवालगिरी) के रूपमें परिवर्तित कर दिया, और उसे भारतीय स्थापत्यकी सर्वाधिक दर्शनीय वस्तु बना दिया, साथ ही, ऐसा करनेमें उसने उसके

समस्त परम्परागत संसर्गों-संस्कारोंको भी सुरक्षित रक्खा। वे स्तम्भ भी जो इन कोष्ठकोंको संभाले हुए, हैं अतीव सुन्दर हैं और रचनात्मक उपयुक्तताको लिये हुए हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण रचना स्थापत्य-योजनाका इतना कमनीय उदाहरण है जितना कि निश्चय ही इस युगका कोई अन्य। इस योजनाका दुर्बल अङ्ग शिखर (गुम्बद) है, जो सुन्दर तो है किन्तु अत्यन्त प्रथानुसारी है। इसमें कोई निर्माणात्मक उपयुक्तता शेष नहीं रह गई है, और यह मात्र एक सौन्दर्योपकरण ही होगया है। तथापि यह समझना कठिन नहीं है कि इस देशके निवासी क्यों इसके इतने प्रशंसक हैं और क्यों वे इसका उपयोग करते हैं। जब किसी जातिकी दृष्टि अपने किसी ऐसे स्थापत्यमें जोकि ५ या ६ शताब्दियों तक सुरक्षित रहता चला आया हो, शनैःशनैः होनेवाले क्रमिक परिवर्तनोंसे शिक्षित हुई होती है तो उसकी रुचि भी गत अन्तिम शैलीके सर्वोत्तम होनेका विश्वास करनेकी वैसी आदी होजाती है—क्योंकि परिवर्तन इतना आनुक्रमिक और अनुपूर्व हुआ है कि लोग इस बातको भूल जाते हैं कि वे वास्तविक मार्गसे कितने दूर भटकते जारहे हैं। एक यूरोपवासी, जो इस प्रकार शिक्षित नहीं हुआ है, केवल परिणामको देखता है, सो भी बिना उन पदोंका अनुसरण किये हुए ही जिनके द्वारा वह परिणाम प्राप्त हुआ है; इसलिये वह यह देखकर क्षुब्ध रह जाता है कि इसका रूप भवन निर्माण कलाके वास्तविक गुम्बदके रूपसे कितना दूर जापड़ा है; गुम्बदका यह रूप उसके लिये अपरिचित होनेसे वह उसकी निन्दा और खण्डन करने लगता है। बिल्कुल ठीक यही बात भारतीय स्थापत्यकलाके दस-मेंसे नौ सौन्दर्योपकरणोंके साथ लागू होती है। हम-मेंसे थोड़े ही इस बातको जानते हैं कि प्राचीन (प्रथमवर्गीय) अथवा मध्यकालीन कलाकी प्रशंसा करनेके लिये शिक्षाका कितना कुछ हाथ रहा है और इसीलिये यह नहीं समझ पाते कि भारतीय शिल्पा-कृतियों-सम्बन्धी उनका खण्डन आनुक्रमिक एवं उपयुक्त शिक्षाके अभावसे ही कितना उद्भूत है।

नोटः—यह लेख, बाबू पन्नालालजी जैन अग्रवाल देहली द्वारा प्रेषित 'All about Delhi' (सब कुछ देहली सम्बन्धी) नामक पुस्तकके पृ० २७-४० परसे लिये गये अंगरेजी उद्धरणोंका अनुवाद है।

—ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.

इसी प्रसगमें, कलामर्मज्ञ श्रीयुत वैलहाऊसकी जैन स्तम्भ विषयक सम्मति भी अवलोकनीय है, आपका कहना है कि—'जैन स्तम्भोंके सम्पूर्ण मूलभाग तथा शिखर सुकर ललित एवं अत्यधिक समलंकृत प्रस्तरशिल्पके आश्चर्यजनक उदाहरण हैं। इन सुन्दर स्तम्भोंकी राजसी शोभा अनुपम है, इनके आकार प्रकार चहुँओरकी प्राकृतिक दृश्यावलीके अनुरूप सदैव सर्वथा निर्दोष होते हैं, और उनकी घनी सजावट कभी भी अरुचिकर प्रतीत नहीं होती।'

—(Ind. Art.-vol. V p. 39).
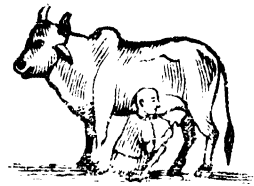
अतिशय क्षेत्र चन्द्रवाड

(ले०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

चन्द्रवाड अथवा चन्द्रपाट नामका एक प्रसिद्ध नगर जमुना तटपर आगरा-के समीप फिरोजाबादके दक्षिणमें चार मीलकी दूरीपर स्थित है जो आज प्राचीन ध्वंसों-खण्डहरोंके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहा है। कहा जाता है कि वि० १०५२ में चन्द्रपाल नामके एक दिगम्बर जैन राजाकी स्मृतिमें इस नगरको बमाया गया था, जिसका दीवान रामसिंह हारुल था। चन्द्रवाडमें विक्रमकी १४वीं १५वीं शताब्दीमें चौहानवंशी राजाओंका राज्य रहा है। मेरे इस कथनकी पुष्टि कविवर लक्ष्मणके 'अणुवइरयणपईव' से भी होती है जिसका रचनाकाल वि० १३१३ है[1]। उस समय चौहानवंशी राजाओंका राज्य था और इस वंशके अनेक शासक वहाँ हो चुके थे, जैसे भरतपाल, अभयपाल, जाहड़, श्रीवल्लाल और आहवमल्ल। इन राजाओं और इसी वंशके अन्य राजाओंके समयमें लंबकंचुक, जायसवाल आदि कुलोंके विविध जैन श्रावक राजश्रेष्ठी और प्रधानमन्त्री जैसे राजकीय उच्च पदों पर आसीन रहे हैं जिन्होंने समय-समय पर अनेक जैन मन्दिरोंका निर्माण किया और उनके प्रतिष्ठादि कार्य भी सम्पन्न किये हैं। इन उल्लेखों परसे चन्द्रवाडकी महत्ताका बहुत कुछ दिग्दर्शन हो जाता है और इससे प्रकट है कि विक्रमकी ११वीं शताब्दीसे १५वीं शताब्दी तक जैनियोंका वहाँ विशेष सम्बन्ध रहा है। वि० सं० १०५३ में राजा चन्द्रपालने एक प्रतिष्ठा कराई थी, और चन्द्रप्रभभगवानकी स्फटिकमणिकी फुट भरकी अवगाहना वाली एक मूर्तिका निर्माण भी करवाया था, जो अब फिरोजाबादके जैन मन्दिरमें विद्यमान है। और १४वीं शताब्दीमें भी जैन मंदिरों के निर्माण तथा प्रतिष्ठा करानेके उल्लेख प्राप्त होते हैं*।

कविवर धनपालने अपने बाहुबलीचरितमें, जिसका रचनाकाल वि० सं० १४५४ है उस समय चन्द्रवाडकी स्थितिका दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि, उस समय वहाँ चौहानवंशी राजाओंका राज्य था और तब उक्त वंशके सारङ्गनरेन्द्र राज्य कर रहे थे, जो संभरीरायके पुत्र थे। उस समय चन्द्रवाड या चन्द्रपाट जन धनसे परिपूर्ण था और सुन्दर तथा ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओंसे सुशोभित था और संघाधिप साहु वासाधर मन्त्री पदपर प्रतिष्ठित थे, जो जायस अथवा जैसवाल वंशी सोमदेवश्रेष्ठीके सात पुत्रोंमेंसे प्रथम थे। जिनकी प्रेरणा एवं आग्रहसे कविवर धनपालने 'बाहुबलिचरित' नामके ग्रन्थकी रचना की थी। कवि धनपालने साहु वासाधरको सम्यक्त्वी, जिनचरणोंका भक्त, जिनधर्मके पालनमें तत्पर, दयालु, बहुलोकमित्र, मिथ्यात्व रहित और विशुद्ध चित्तवाला बतलाया है। साथ ही आवश्यक दैनिक देवपूजादि षट्कर्मोंमें प्रवीण, राजनीतिमें चतुर और अष्ट मूल-गुणोंके पालनमें तत्पर प्रकट किया है। इनकी पत्नीका

[1] देखो जैन सिद्धान्त भास्कर भा० ६ कि० ४।

* तहो अमयवालु तणुरुहवहूउ, वणिपट्ट किय भालयलरूउ।
णरवइ समज्ज सरणायहंसु, महमंत धवियच-उहाणवंसु।
सो अभयपालु णरणाह रज्जे, सुपहाणुरायवावारकज्जे।
जिणभवण करायउ तें ससेउ, केयावलिझंपियतरणिसेउ।
कुंडापी इग्गाइरण वोमु, कलहोय-कलसकलविच्तिसोमु।
चउसालउतोरणुसिरिजणंतु, पडमंडवकिंकिणिरणझुणंतु॥

—अणुवइरयणपईव प्रशस्ति।

नाम उदयश्री था जो पतिव्रता और शीलव्रतका पालन करने वाली तथा चतुर्विधसंघके लिये कल्प-निधि थी। इनके आठ पुत्र थे, जसपाल, जयपाल, रतपाल, चंद्रपाल, विहराज, पुण्यपाल, वाहड और रूपदेव। ये आठों पुत्र अपने पिताके समान ही योग्य चतुर और धर्मात्मा थे। इस सब परिकर सहित साहू वासाधर राज्यकार्य करते हुए धर्मका साधन करते थे। इनके पिता सोमदेवश्रेष्ठी भी संभरीरायके समय मंत्री पदपर आसीन हो चुके थे'।

कविवर धनपालने अपने ग्रंथमें सारङ्ग नरेन्द्रके बाद, अभयपाल, जयचन्द और रामचन्द्र नामके राजाओंका समुल्लेख किया है। इनमेंसे संवत् १४६८ में महाराजाधिराज रामचन्द्रदेव राज्य कर रहे थे। क्योंकि सं० १४६८के ज्येष्ठ कृष्णा पंद्रस शुक्रवारके दिन उसी चन्द्रपाट नगरमें अमरकीर्तिके 'षट्कर्मो-पदेश' (छक्कम्मोवएस) नामके ग्रंथकी प्रतिलिपि साहू जगसीहके प्रथम पुत्र उदयसिंहके ज्येष्ठ पुत्र देल्हाके द्वितीय पुत्र अर्जुनने ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयार्थ लिखवाई थी। यह प्रति आजकल नागौर (जोधपुर स्टेट)के भट्टारकीय शास्त्र भण्डारमें सुरक्षित है। इस ग्रंथकी यह प्रतिलिपि मूलसंघी गोला-राडान्वयी पण्डित असपालके पुत्र विद्याधरने की थी[2]।

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ७, किरण ७-८, पृ० ४८४-८५

२ अथ संवत्सरे १४६८ वर्षे ज्येष्ठ कृष्ण पञ्चदश्यां शुक्रवासरे श्रीमचन्द्रपाटनगरे महाराजाधिराज श्रीरामचन्द्रदेव राज्ये। तत्र श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्रीमूलसंघे गूजर (गुर्जर) गोष्ठि तिहुयणगिरिया साधुश्रीजगसीहा भार्या सोमा तयोः पुत्राः [चत्वारः] प्रथम पुत्र उदैसीह [द्वितीय] अजैसीह तृतीय पदराज, चतुर्थ खाम्हदेव। ज्येष्ट पुत्र उदैसीह भार्यारतो त्रयो पुत्राः, ज्येष्ट पुत्र देल्हा द्वितीय राम, तृतीय भीखम। ज्येष्ट पुत्र देल्हा भार्या हिरो [तयोः] पुत्राः द्वयोः। ज्येष्ट पुत्र हालू, द्वितीय अर्जुन ज्ञाना-वरणीकर्म क्षयार्थं इदं षट्कर्मोपदेशशास्त्रं लिखापितं॥

भग्नपृष्ठि कटि ग्रीवा मच्च दृष्टिरधोमुखं।
कष्टेन लिखित शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥१॥

तैलाद्रक्षे जलाद्रक्षे रक्षे शिथिल बंधनात्।
परहस्तगतं रक्षेद् एवं वदति पुस्तिका॥२॥

गोलाराडान्वये इक्ष्वाकुवंशे श्रीमूलसंघे पण्डित असपालसुतविद्याधरनामा लिलेखि॥छ॥

—नागौर भण्डार प्रति

मुनि श्री सौभाग्य विजयजीने अपनी तीर्थमालामें चन्द्रवाडमें अपार अथवा अगणित प्रतिमाओंके होनेका उल्लेख किया है, जैसा कि उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

'जी हो सोरीपुर उत्तरदिशें जी हो यमुना तटनी पार।
जी हो चंदनवाड़ी नामें कहें जी हो तिहां प्रतिमा छै अपार॥'
—१४-२ पृ० ९८

इस उल्लेखसे और कविहर धनपालके बाहुबलि चरितसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि सौरीपुरके भगवान नेमिनाथकी वन्दना करके लोग चन्दवाड़-की अपार मूर्तियोंकी बन्दना भी किया करते थे।

इसके सिवाय, कविवर रइधूने अपने 'पुण्या-सवकथाकोस' नामके ग्रन्थकी प्रशस्तिमें चन्द्रवाडके राजा प्रतापरुद्रका उल्लेख करते हुए उसकी मङ्गल कामना भी व्यक्तकी है और उसे युद्धरूपी समुद्रका अवगाहन करने वाला सूचित किया है:—

णंदउ चिरुराउ पयावरुद्द, अवगाहिउ जिआहवसमुद्दु।
तव्वयणविणिदहु सव्वभासि, सिरिचंदवाडपट्टण-णिवासि॥

चूंकि कविवर रइधूका समय विक्रमकी १५वीं शताब्दीका अन्तिम चरण और १६वीं शताब्दीका प्रथम चरण है, अतः उस समय तक भी चन्द्रवाडमें जैनियोंका निवास था, परन्तु यह प्रयत्न करने पर भी मालूम नहीं हो सका कि प्रतापरुद्र किस वंशका राजा था।

इनके अतिरिक्त वि० सं० १५३० में कविवर श्रीधरने भविष्यदत्तचरित्रकी रचना चन्द्रवाड नगरके माथुर कुलके नारायणके पुत्र और वासुदेवके ज्येष्ठ भ्राता मतिवर सुपट्टसाहूकी प्रेरणासे की है[3]।

३ सिरि चंदवारणयरट्ठिएण, जिण धम्मकरण उक्कट्ठिएण
माहुरकुल गयण तमीहरेण, विवुहयण सुयण मण धण हरेण

ऊपरके इस समस्त विवेचन परसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वि० सं० १३१३ के पूर्वसे १४६८ तक तो चन्द्रवाडमें चौहान वंशी राजाओंका राज्य रहा है और उस समय वहां लंबकंचुक (लमेचू) और जैसवाल आदि विविध उपजातियोंके जैन निवास करते थे और उन्होंने अनेक जैन मन्दिर भी बनवाए और उनके प्रतिष्ठा महोत्सव भी किये थे। साथ ही समय समय पर अनेक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँभी कराई गई हैं। इतना ही नहीं; किन्तु सं० १४५४ में बाहुबली चरित तथा सं० १५३० में भी वहां के जैनियों द्वारा 'भवियसयत्त कहा' नामके ग्रन्थोंका निर्माण अपभ्रंशभाषामें कराया गया है।

कविवर लक्ष्मणके 'अणुवयरयणपईव' नामके ग्रन्थमें 'रायवद्दिय' नामकी एक नगरीका उल्लेख दिया हुआ है[1] जो उस समय जन धनसे समृद्ध थी। और वहाँ चन्द्रवाडके चौहान वंशकी एक शाखाका राज्य रहा है, और इस नगरको भी कविने जमुना नदीके उत्तर तटपर बतलाया है। जिससे यह चन्द्रवाडके समीपका ही कोई प्रसिद्ध नगर होगा ऐसा जान पड़ता है। 'रायवद्दिय'के सिवाय चन्द्रवाडके साथ रपरी नामके नगरका भी उल्लेख मिलता है, जिससे यह भी सन्देह होने लगता है कि रपरीका क्या कोई सम्बन्ध रावद्दियके साथ तो नहीं है, या रावद्दिय कोई स्वतन्त्र नगरी है। कविवर लक्ष्मणके समुल्लेखसे तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि रायद्दिय भी चन्द्रवाडके समीपवर्ती कोई नगर था।

वि० सं० १६७१की जेठ वदी नवमीको कवि ब्रह्मगुलालने अपना 'कृपण जगावनचरित' नामका ग्रन्थ पूर्ण किया है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें रपड़ी और चन्द्रवाडके समुल्लेखके साथ लिखा है कि इटावा भी उसके समीप है। और वहाँ कीरतसिंधु नामका राजा राज्य करता है जैसा कि उसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

मध्यदेश रपडी चंदवार, ता समीप इटावो सुखमार।
कीरतिसिंधु धरणी धर रहे, तेग त्यागकी समसरि करै॥

विक्रमकी १७वीं शताब्दीके इस समुल्लेखसे स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय उक्त स्थानमें कीर्तिसिंधु नामके राजाका राज्य था। परन्तु इस राजा आदिके सम्बन्धमें विशेष कुछ ज्ञात नहीं होसका, अस्तु।

प्रो० हीरालालजीने अपने लेखमें रायवद्दियको आगरा फोर्टसे बांदीकुई जानेवाली रेलवेका 'रायभा' (Raibha) नामका स्टेशन बतलाया है, जो जमुना नदीके उत्तर तटपर बसा हुआ है[1]। परन्तु रपरी, चन्द्रवाड और इटावाके ऐतिहासिक आख्यानोंपर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि इनका पारस्परिक कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है और उसका कारण एक ही व्यक्ति अथवा एक ही वंशके दो व्यक्तियों द्वारा शासित होना है। खासकर, रपरी, चन्द्रवाड और इटावा पर हिन्दू और मुसलमान शासकोंने राज्य किया है यद्यपि उन स्थानोंमें मुसलमानोंका शासन अल्प समयके लिये ही रहा है किन्तु उनके शासनकालमें वे नगर अपनी पूर्व गौरव युक्त सम्पन्नावस्थाको नहीं प्राप्त हो सके हैं। विक्रमकी १६वीं शताब्दीके बादशाह अकबरके समयमें चन्द्रवाड रपरी और इटावाका प्रदेश आगरेके सूबेमें मिला दिया गया था, और उस समयसे उनकी वह स्वतन्त्र सत्ता भी विनष्ट हो चुकी थी।

प्रस्तुत रपरी एक ऐतिहासिक स्थान है और पहले जन धनसे समृद्ध भी रहा है, किन्तु आज वह अपनी पूर्व अवस्थामें नहीं है, मुसलमान राजाओंके आक्रमणादिके कारण अपने गौरवको खो चुका है और आज वह खण्डहरोंके रूपमें परिणत हो रहा है। सन् १४८७ (वि० सं० १५४४) में बहलोल

णाणयणदेहसमुब्भवेण, मण-वयण-काय णिंदिय भवेण
सिरि वासुएवगुरुभायरेण, भवजलणिहि-णिवडण कायरेण
णीसेसव लक्खगुणालएण, मइवर सुपट्ट णामालएण
विणएणभणिउ जोडेविपाणि, भत्तिएकइसिरिहरुभव्वपाणि।
—भविसयत्त कहा प्रशस्ति।

१ इह जउणाणइ उत्तरतडत्थ। महणयरि रायवद्दिअ पसत्थ॥ —देखो जैनसिद्धांत भा० भा० ६, कि० ३

१ जैन सिन्द्धात भास्कर भाग ६ कि० ३।

लोदीने जौनपुरके बादशाह हुसैनको हराया था और तब कुल्वखां रपरीका जागीरदार बनाया गया था, जिसके अधिकारमें इटावा और चन्द्रवाड भी शामिल थे। अनन्तर सिकन्दर लोदीने भी अपने भाईके विरुद्ध बगावत कर बाबरको बुलाया। इस तरह चन्द्रवाड और रपरीपर मुसलमानोंके आक्रमण होते रहे। मुगलोंकी इस परिणतिसे असंतुष्ट होकर सांगाने मुसलमानों पर आक्रमण किया, किन्तु वह चन्द्रवाडके ही युद्ध में हुमायूँ से पराजित हो गया, अतएव कुछ समय तक उसे मुगलोंके कब्जेमें और रहना पड़ा'। इस तरह जब हम इन प्रदेशोंके ऐतिहासिक आख्यानों पर दृष्टि डालते हैं; जो समय समय पर वहाँ गुजरे हैं। तो उनकी समृद्धिका केवल अनुमान ही किया जा सकता है; परन्तु आज जब हम कई मील तक उनके ध्वंसावशेषों (खंडहरों) को देखते हैं तब उनकी उस दुर्दशा पर भारी खेद होता है।

प्रस्तुत चन्द्रवाड वर्तमानमें अतिशयक्षेत्रके नामसे प्रसिद्धिमें आरहा है। वहाँ आज भी जैनियोंके प्राचीन वैभवकी झाँकीका एक स्मृति-पट चित्तपर अंकित होजाता है। मीलों तक ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं। यदि उन्हें खुदवाया जाय तो वहाँ जैनियोंके कितने ही प्राचीन स्मारक प्राप्त हो सकते हैं। एक वर्षमें वहाँ मेला लगता है, उस वार्षिक मेलेमें जो कुछ यात्री आजाते हैं, वे अपने पूर्वजोंकी गौरवगाथाका स्मरणकर चले जाते हैं, किन्तु वे यह प्रयत्न कभी नहीं करते कि अपनी संस्कृतिके बहुमूल्य जो ध्वंसावशेष अथवा खण्डहर मौजूद हैं उनके इतिहासको संकलित करानेके लिये समाजका ध्यान आकर्षित किया जाय। इस तरहके और अनेक महत्वपूर्ण स्थान पड़े हुए हैं, जिनका उद्धार करना महान् पुण्यबन्धका कारण है। वे सब स्थान ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्वके हैं। आशा है समाजके विद्वान और श्रीमान् इस ओर ध्यान देंगे, और चन्द्रवाड आदिके पुरातत्वका उद्घाटन और संरक्षणकर पुण्य तथा यशके भागी बनेंगे।

वीरसेवा मन्दिर, सरसावा
१४-५-४७

१ देखो, जैनसिद्धांत भास्कर भा० १३ कि० २।

आचार्य माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

आचार्य माणिक्यनन्दि नन्दिसङ्घके प्रमुख आचार्योंमें हैं। विन्ध्यगिरि पर्वतके शिलालेखोंमेंसे सिद्धरवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर जो विस्तृत अभिलेख[1] उत्कीर्ण है और जो शक सं० १३२० (ई० सन् १३९८) का खुदा हुआ है उसमें नन्दिसङ्घके जिन प्रमुख आठ आचार्योंका उल्लेख है उनमें आचार्य माणिक्यनन्दिका भी नाम है[2]। ये अकलङ्कदेवकी कृतियोंके मर्मस्पृष्टा और अध्येता थे। इनकी उपलब्ध कृति एकमात्र 'परीक्षामुख' है। यह 'परीक्षामुख' अकलङ्कदेवके न्यायग्रन्थोंका दोहन है और जैनन्यायका अपूर्व तथा प्रथम गद्यसूत्र ग्रन्थ है। यद्यपि अकलङ्कदेव जैनन्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और कारिकात्मक अनेक महत्वपूर्ण न्याय-विषयक दुरूह प्रकरण भी लिख चुके थे। परन्तु गौतमके न्यायसूत्र, दिङ्नागके न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदिकी तरह जैनन्यायको गद्यसूत्रबद्ध करनेवाला 'जैनन्यायसूत्र' ग्रन्थ जैनपरम्परामें अबतक नहीं बन पाया था। इस कमीकी पूर्ति सर्वप्रथम आचार्य माणिक्यनन्दिने अपना 'परीक्षामुखसूत्र' लिखकर की जान पड़ती है। उनकी यह अमर रचना भारतीय न्यायसूत्र ग्रन्थोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह संस्कृत भाषामें निबद्ध और छह परिच्छेदोंमें विभक्त है। आदि और अन्तमें एक-एक पद्य है, शेष समस्त ग्रन्थ गद्यसूत्रोंमें है। सूत्र बड़े ही सुन्दर, विशद और नपे-तुले हैं। प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्य (वि० सं० ११वीं, १२वीं शती)ने इसे अकलङ्कदेवके वचनरूप समुद्रको मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत' न्यायविद्यारूप अमृत बतलाया है[1]। वस्तुतः इसमें अकलङ्कदेवकेद्वारा प्रस्थापित जैनन्यायको, जो उनके विभिन्न न्यायग्रंथोंमें विप्रकीर्ण था, बहुत ही सुन्दर ढङ्गसे ग्रथित किया गया है। उत्तरवर्ती आचार्य वादिदेवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और आचार्य हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसापर इसका पूरा प्रभाव है[2]। वादिदेवसूरिने तो उसका शब्दशः और अर्थशः पर्याप्त अनुसरण किया है। इस ग्रन्थपर आचार्य प्रभाचन्द्रने बारह हजार प्रमाण 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका लिखी है। इनके कुछ ही बाद लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्नरचनाशैलीवाली 'प्रमेय रत्नमाला' टीका लिखी है। इस प्रमेयरत्नमालापर भी अजितसेनाचार्यकी 'न्यायमणिदीपिका'[3] तथा पण्डिताचार्य चारुकीर्त्ति नामके एक अथवा दो विद्वानोंकी 'अर्थप्रकाशिका'[4] और 'प्रमेयरत्नमालाङ्कार'[5] ये टीकाएँ उपलब्ध होती हैं दो-तीन और जो अभी अमुद्रित हैं। परीक्षामुखसूत्रके प्रथम सूत्रपर शान्तिवर्णीकी भी एक 'प्रमेयकण्ठिका'[6] नामक अतिलघु टीका पाई जाती है यह भी अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

---

१ शिलालेख नं० १०५ (२२४), शि० सं० पृ० २००।

२ 'विद्या-दामेन्द्र-पद्मामर-वसु-गुण-माणिक्यनन्द्याह्वयाश्च।'

१ "अकलङ्कवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥"—प्र.र.पृ.२।

अकलङ्कदेवके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ, इसकेलिये देखें, 'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक मेरा लेख, अनेकान्त वर्ष ५, कि. ३-४ पृ. ११६ से १२८।

२ इन ग्रन्थोंकी तुलना करें।

३, ४, ५, ६ प्रशस्तिसंग्रह पृ. १, ६६, ६८, ७२।

आचार्य माणिक्यनन्दिका समय—

मुझे यहाँ आचार्य माणिक्यनन्दिके समय-सम्बंधमें कुछ विशेष विचार करना इष्ट है। आ० माणिक्यनन्दि लघु अनन्तवीर्यके उल्लेखानुसार अकलङ्कदेव (७वीं शती के वाङ्मयके मन्थनकर्ता हैं। अतः ये उनके उत्तरवर्ती और परीक्षामुख टीका (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड) कार आचार्य प्रभाचन्द्र (११वीं शती) के पूर्ववर्ती विद्वान् सुनिश्चित हैं। अब प्रश्न यह है कि इन तीनसौ वर्षकी लम्बी अवधिका क्या कुछ सङ्कोच होसकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने लिखा है[1] कि 'इस लम्बी अवधिको सङ्कुचित करनेका कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमें नहीं आया। अधिक सम्भव यही है कि ये विद्यानन्दके समकालीन हों, और इसलिये इनका समय ई. ९वीं शताब्दी होना चाहिये।' लगभग यही विचार अन्य विद्वानोंका[2] भी है।

मेरी विचारणा—

१—अकलङ्क, विद्यानन्द और माणिक्यनन्दिके ग्रन्थोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने केवल अकलङ्कदेवके न्यायग्रन्थोंका ही दोहन कर अपना परीक्षामुख नहीं बनाया, किन्तु विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि तर्क-ग्रन्थोंका भी दोहन करके उसकी रचना की है। नीचे मैं दोनों आचार्योंके ग्रन्थोंके कुछ तुलनात्मक वाक्य उपस्थित करता हूँ—

(क) आ० विद्यानन्दि प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणसे इष्टसंसिद्धि और प्रमाणाभाससे इष्टसंसिद्धिका अभाव बतलाते हुए लिखते हैं:—

'प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथाऽतिप्रसङ्गतः।'—पृ० ६३।

आ० माणिक्यनन्दि भी अपने परीक्षामुखमें यही कहते हैं:—

'प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।'—पृ० १।

(ख) विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें ही प्रामाण्यकी ज्ञप्तिको लेकर निम्न प्रतिपादन करते हैं:—

'प्रमाणयं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा।'पृ०६३।

माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कथन करते हैं:—

'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।'—१-१३।

(ग) विद्यानन्द 'योग्यता' की परिभाषा निम्न प्रकार करते हैं:—

'योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव।' —पृ० ६७।

'स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरणवीर्यान्तराय क्षयोपशमभेदः स्वार्थप्रमितौ शक्तिर्योग्यतेति च स्याद्वादिभिरभिधीयते।' —प्रमाणप० पृ० ५२।

'योग्यता पुनर्वेदनस्य स्वावरणविच्छेदविशेष एव।' तत्त्वार्थश्लो. पृ. २४६।

माणिक्यनन्दि भी योग्यताकी उक्त परिभाषाको अपनाते हुए लिखते हैं:—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।' —परीक्षामु० २-३।

(घ) ऊहाज्ञानके सम्बन्धमें विद्यानन्दि कहते हैं:-

'तथोहस्यापि समुद्भूतौ भूयः प्रत्यक्षानुपलम्भसामग्री बहिरङ्गनिमित्तभूताऽनुमन्यते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादूहस्य।' —प्रमाणप० पृ० ६७।

माणिक्यनन्दि भी यही कथन करते हैं:—

'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।
इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च।
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।'

—परीक्षामु० ३-११, १२, १३।

(ङ) विद्यानन्दने अकलङ्क आदिके द्वारा प्रमाणसंग्रहादिमें प्रतिपादित हेतुभेदोंके संक्षिप्त और गम्भीर

१ देखो, प्रमेयकमलमार्तण्ड (द्वितीय संस्करण) गत उनकी प्रस्तावना पृ. ५।

२ न्याय कुमु. प्र. भा. प्र. (पृ. १७३) आदि

कथनका प्रमाणपरीक्षामें जो विशद भाष्य किया है उसका परीक्षामुखमें प्रायः अधिकांश शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है।

इससे यह स्पष्ट है कि माणिक्यनन्दि विद्यानन्द-के उत्तरकालीन हैं और उन्होंने विद्यानन्दके ग्रन्थोंका खूब उपयोग किया है।

२—आ० वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने न्यायके न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय ये दो ग्रन्थ बनाये हैं और यह भी सुनिश्चित है कि न्याय-विनिश्चयविवरणके समाप्त होनेके तुरन्त बाद ही उन्होंने प्रमाणनिर्णय बनाया है[1]। परन्तु जहाँ आ० विद्यानन्दके ग्रन्थवाक्योंके उद्धरण इनमें पाये हैं[2] वहाँ माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखके किसी भी सूत्रका उद्धरण नहीं है। इससे यह कहा जा सकता है कि माणिक्यनन्दि आ० वादिराजके कमसे कम बहुत पूर्ववर्ती नहीं हैं—सम्भवतः वे उनके आसपास समसमयवर्ती ही हैं और इसलिये उनके ग्रन्थोंमें परीक्षामुखका कोई प्रभाव नहीं है।

३—मुनि नयनन्दिने अपभ्रंशमें एक 'सुदंसण-चरिउ' लिखा है, जिसे उन्होंने धारामें रहते हुए भोजदेवके राज्यमें वि० सं० ११००, ई० सन १०४३ में बनाकर समाप्त किया है। इसकी प्रशस्तिमें[3] उन्होंने अपनी गुर्वावली भी दी है और उसमें अपना विद्यागुरु माणिक्यनन्दिको बतलाया है तथा उन्हें महापण्डित और अपनेको उनका प्रथम विद्या-शिष्य प्रकट किया है। प्रशस्तिमें उन्होंने यह भी बतलाया है कि धारा नगरी उस समय विद्वानोंके लिये प्रिय हो रही थी—अर्थात् विद्याभ्यासकेलिये विद्वान् दूर दूरसे आकर वहां रहते थे और इसलिये वह विद्वानोंकी केन्द्र बनी हुई थी। प्रशस्तिगत गुर्वावली इस प्रकार है :—

प्रशस्ति—"जिणंदस्स **वीरस्स** तित्थे महंते।
महाकुंदकुंदंनए एंत संते।
सुणरकाहिहाणो तहा **पोमणंदी**।
खमाजुत्त सिद्धंतउ **विसहणंदी**॥
जिणिंदागमाहासणो एयचित्तो।
तवारणट्ठीए लद्धीयजुत्तो।
णरिंदामरिंदेहि सोणंदवंती।
हुऊ तस्स सीसो गणी **रामणंदी**॥
महापंडऊ तस्स **माणिक्कणंदी**।
भुजंगप्पहाऊ इमो णाम छंदी।

घत्ता—
पढमसीसुतहो जायउ जगविक्खायउ **मुणिणयणंदि** अणिंदउ।
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ बुहअहिणंदउ॥

आरामगामपुरवरणिवेसे। सुपसिद्ध **अवंतीणामदेसे**॥
सुरवइपुरि व्व विबुहयणइट्ठ। तहिं अत्थि **धारणयरी** गरिट्ठ॥
रणउद्धवर अरिवरसेलवज्ज। रिद्धि देवासुर जणिय चोज्ज(ज)॥
तिहुवणणारायणसिरिणिकेउ।
तहिं णरवइ पुंगमु **भोयदेउ**॥
मणिगणयहइसियरविगभत्थि।
तहिं जिणहरु पउपि विहारु अत्थि॥

^{११००}
णिवविक्कमकालहो ववगएसु। एयारह संवच्छरसएसु॥"

× × ×

'एत्थ सुदंसणचरिए पंचणमोक्कारफलपयासयरे माणिक्कणंदितइविज्जसीसु णयणंदिणा रइए...। संधि १२।

यह ध्यान रहे कि यह प्रशस्ति ज्योंकी त्यों दी गई है—उसका अपनी ओरसे कोई संशोधन नहीं किया गया।—ले०

---

१ 'तन्निर्णयानुपयोगिनः स्मरणादेः पश्चादपि किमर्थं निरूपणमिति चेदनुमानमेवेति ब्रूमः।...निवेदयिष्यते चैतत् पश्चादेव **शास्त्रान्तरे** (प्रमाणनिर्णये)।'—न्यायविनि० वि० लि० प० ३०६। इस उल्लेखसे यह निर्णीत है कि न्यायविनिश्चयविवरणसे प्रमाणनिर्णय पीछे बनाया है; क्योंकि वहां स्मरणादिको अनुमानप्रमाण सिद्ध किया गया है। देखो, प्रमाणनिर्णय पृ० २३।

२ 'प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथाऽतिप्रसंगतः इति वचनात्।'
—न्या० वि० लि० पत्र ३१।

३ इस प्रशस्तिकी ओर मेरा ध्यान मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्रीने दिलाया है और वह मुझे अपने पाससे दी है। मैं उसे साभार यहाँ दे रहा हूं—

आ० कुन्दकुन्दकी आम्नायमें
|
पद्मनन्दी
|
वृषभनन्दि (संभवतः चतुर्मुखदेव)
|
रामनन्दि
|
माणिक्यनन्दि (महापण्डित)
|
नयनन्दि (सुदर्शनचरितकार)

आ० प्रभाचन्द्र नयनन्दि (ई० सन् १०४३) के समकालीन हैं; क्योंकि उन्होंने भी धारामें रहते हुए भोजदेवके राज्यमें आ० माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखपर प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक विस्तृत टीका लिखी है[1] और प्रायः शेष कृतियाँ भोजदेव[1] (वि० सं० १०७५ से १११०) (ई० सन् १०१८ से १०५३) के उत्तराधिकारी धारानरेश जयसिंहदेवके[2] राज्यमें बनाई हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—अनुमानतः विक्रम संवत् ११०० से ११०७, ई० सन् १०४३ से १०५०—की रचना होना चाहिए। और यह प्रकट है कि प्रभाचन्द्र इस समय तक राजा भोजदेवद्वारा अच्छा सम्मान और प्रतिष्ठा एवं यश प्राप्त कर चुके थे[1] और इस लिये उस समय ये लगभग ४० वर्षके अवश्य होंगे। यदि शेष रचनाओंके लिये उन्हें ३० वर्ष भी लगे हों तो उनका अस्तित्व वि० सं० ११३७: ई० सन् १०८० तक पाया जा सकता है। अतः प्रभाचन्द्रका समय वि० सं० १०६७ से ११३७ ई० सन् १०१० से १०८० अनुमानित होता है[2]।

विभिन्न शिलालेखोंमें प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सैद्धान्त[3] और चतुर्मुखदेव[4] (वृषभनन्दि) ये दो गुरु बतलाये गये हैं और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड[5] तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी[6] अन्तिम प्रशस्तियोंमें पद्मनन्दि सैद्धान्तका ही गुरुरूपसे उल्लेख है। हाँ, प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी प्रशस्तिमें परीक्षामुखसूत्रकार माणिक्यनन्दिका भी उन्होंने गुरुरूपसे उल्लेख किया है[7]। कोई आश्चर्य नहीं, नयनन्दिकेद्वारा उल्लिखित और अपने विद्यागुरुरूपसे स्मृत माणिक्यनन्दि ही परीक्षामुखके कर्ता और प्रभाचन्द्रके न्यायविद्यागुरु हों। नयनन्दिने अपनेको उनका प्रथम विद्याशिष्य और उन्हें महापण्डित घोषित किया है जिससे प्रतीत होता है कि वे न्यायशास्त्र

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अन्तिम समाप्ति-पुष्पिकावाक्य।

२ श्रीचन्द्रने महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें वि० सं० १०८०में रचा है। तथा भोजदेवके वि० सं० १०७६ और वि० सं० १०७९के दो दानपत्र भी मिले हैं। अतः भोजदेवकी पूर्वावधि वि० सं० १०७५ बतलाई जाती है और उनकी मृत्यु विक्रम संवत् १११० के लगभग सम्भावना की जाती है; क्योंकि भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवका विक्रम संवत् १११२का एक दानपत्र मिला है। देखो, विश्वेश्वरनाथ रेउकृत 'राजाभोज' पृ. १०२-१०३। अतः इनकी उत्तरावधि वि. सं. १११० (ई. सन् १०५३) समझना चाहिए।

१ इनका वि. सं. १११२का दानपत्र मिलनेसे ये वि. सं १११०के करीब राजगद्दीपर बैठे होंगे।

२ देखो, शिलालेख नं० ५५ (६९)।

३ इस समयके माननेसे वि. सं. १०७३में रचे गये अमितगतिके पंचसंग्रहके पद्यका तत्वार्थवृत्तिपदविवरणमें उल्लेख होना भी संगत है।

४ शिलालेख नं० (६४)। २ शिलालेख नं० ५५ (६९)।

५ 'श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेक गुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ॥४॥'

६ 'भव्याम्भोज दिवाकरो गुणनिधिः योऽभूज्जगद्भूषणः।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः।
तच्छिष्यादकलङ्कमार्गनिरतात् संन्यायमार्गोऽखिलः
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जातः प्रभाचन्द्रतः ॥४' पृ. ८८०

७ 'गुरुः श्रीनन्दमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
नन्दितादुदुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥३॥' पृ० ६६४।

आदिके महाविद्वान् होंगे और उनके कई शिष्य रहे होंगे। अतः सम्भव है कि प्रभाचन्द्र महाविद्वान् माणिक्यनन्दिकी ख्याति सुनकर दक्षिणसे धारा नगरीमें, जो उस समय आजकी काशीकी तरह समस्त विद्याओं और विविध शास्त्रज्ञ विद्वानोंकी केन्द्र बनी हुई थी और राजा भोजदेवका विद्याप्रेम सर्वत्र प्रसिद्धि पा रहा था, उनसे न्यायशास्त्र पढ़नेके लिये आये हों और पीछे वहाँके विद्याव्यासङ्गमय वातावरणसे प्रभावित होकर वहीं रहने लगे हों अथवा वहींके बाशिंदा हों तथा बादमें गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखकी टीका लिखनेके लिये प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त हुए हों। जब हम अपनी इस सम्भावनाको लेकर आगे बढ़ते हैं तो उसके सब आधार भी मिल जाते हैं। सबसे बड़ा आधार यह है कि प्रभाचन्द्रने टीका(प्रमेयकमलमार्त्तण्ड)को आरम्भ करते हुए लिखा है[1] कि 'मैं अल्पज्ञ माणिक्यनन्दिके चरणकमलोंके[2] प्रसादसे इस शास्त्रको बनाता हूँ, क्या छोटा-सा गवाक्ष (झरोखा) सूर्यकी किरणोंद्वारा प्रकाशित हो जानेसे लोगोंके लिये इष्ट अर्थका प्रकाशन नहीं करता—अर्थात् अवश्य करता है।' इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने गुरु माणिक्यनन्दिके चरणोंमें बैठकर परीक्षामुखको और समस्त इतर दर्शनोंको, जिनके कि वे स्वयं प्रभाचन्द्रके शब्दोंमें 'अर्णव' थे, पढ़ा होगा और उससे उनके हृदयमें तद्गत अर्थका प्रकाशन हो गया होगा और इसलिए उनके चरणप्रसादसे उसकी टीका करनेका उन्होंने साहस किया होगा। गुरुकी कृतिपर शिष्यद्वारा टीका लिखना वस्तुतः साहसका कार्य है और प्रभाचन्द्रके इस साहसको देखकर सम्भवतः उनके कितने ही साथी स्पर्धा और उपहास भी करते होंगे और जिसकी प्रतिध्वनि प्रारम्भके ३रे, ४थे, और ५वें पद्योंसे भी स्पष्टतः प्रकट होती है।

दूसरा आधार यह है कि उन्होंने टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है उसमें माणिक्यनन्दिका गुरु रूपसे स्पष्टतः उल्लेख किया है[1] और उनके आनन्द एवं प्रसन्नताकी वृद्धि कामना की है। साथ ही 'नन्दतात्' पद उनकी वर्तमान कालताको भी प्रकट करता है।

तीसरा आधार यह है कि नयनन्दि, उनके गुरु महापण्डित माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र इन तीनों विद्वानोंका एक काल और एक स्थान है।

चौथा आधार यह है कि प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सैद्धान्त और चतुर्मुखदेव(वृषभनन्दि) ये दो गुरु बतलाये जाते हैं और ये दोनों ही नयनन्दि (ई० १०४३) के सुदर्शनचरितमें भी माणिक्यनन्दिके पूर्व उल्लिखित हैं। अतः नयनन्दिके विद्यागुरु माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्रके भी न्यायविद्यागुरु रहे हों और वे ही परीक्षामुखके कर्ता हों तो कोई असम्भव नहीं है। एक व्यक्तिके अनेक गुरु होना कोई असङ्गत नहीं है। आचार्य वादिराजके भी मतिसागर, हेमसेन और दयापाल ये तीन गुरु थे[2]।

पाँचवाँ आधार यह है कि परीक्षामुखकार माणिक्यनन्दि, वादिराजसूरि (ई० १०२५) से पूर्ववर्ती प्रतीत नहीं होते, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

अतः इस विवेचनसे यह ज्ञात होता है कि माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र परस्पर साक्षात् गुरु-शिष्य थे और प्रभाचन्द्रने अपने साक्षात् गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखपर उसी प्रकार टीका लिखी है जिस प्रकार बौद्ध विद्वान कमलशीलने अपने साक्षात् गुरु शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहपर 'पञ्जिका' व्याख्या रची है। अतः इन सब आधारों

१ 'शास्त्रं करोमि वरमल्पतरावबोधो,
माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात्।
अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयां-
ल्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद्गवाक्षः ॥२॥'

२ यहाँ 'पद' शब्दका परीक्षामुख अर्थ न करके 'चरण' अर्थ ही करना ज्यादा संगत है।

१ उल्लेख पहले दिया जाचुका है।

२ 'तं श्रीमन्मतिसागरो मुनिपतिः श्रीहेमसेनो दया-
पालश्चेति दिवि स्पृशोऽपि गुरवः स्मृत्याभिरक्षन्तु माम्॥२'
—न्याय वि. वि. लि. द्वि. प्र.।

और सङ्गतियोंसे परीक्षामुखकार आ० माणिक्यनन्दिका समय वि० सं० १०५० से वि० सं० ११९० (ई० सन् ९९३ से ई० १०५३) अनुमानित होता है और उनके परीक्षामुखका रचनाकाल वि० सं० १०८५, ई० स० १०२८ के करीब जान पड़ता है। इस समयके स्वीकारसे आ० विद्यानन्द (९वीं शताब्दी) के ग्रन्थवाक्योंका परीक्षामुखमें अनुसरण, आ० वादिराज (ई० स० १०२५) द्वारा अपने ग्रन्थोंमें परीक्षामुख और आ० माणिक्यनन्दिका अनुल्लेख, मुनि नयनन्दि (ई० १०४३) और आ० प्रभाचन्द्र (ई० १०१० से ई० १०८०) के गुरु-शिष्यादि उल्लेखों आदिकी सम्बद्धता भी बन जाती है* ।

वीरसेवा-मन्दिर, सरसावा
१५-५—१९४७

*यह लेख वीरसेवा-मन्दिरसे शीघ्र प्रकाशित होने वाली 'आप्त-परीक्षा' केलिये लेखक द्वारा लिखी गई प्रस्तावनाके 'विद्यानन्दका उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंपर प्रभाव' प्रकरणका एक अंश है।

जैनादर्श [जैन-गुण-दर्पण]

कर्मेन्द्रिय-जयी जैनो जैनो लोक-हिते रतः ।
जिनस्योपासको जैनो हेयाऽऽदेय-विवेक-युक् ॥ १॥
अनेकान्ती भवेज्जैनः स्याद्वाद-कलाऽन्वितः ।
विरोधाऽनिष्ट-विध्वंसे समर्थः समता-युतः ॥ २॥
दया-दान-परो जैनो जैनः सत्य-परायणः ।
सुशीलोऽवञ्चको जैनः शान्ति-सन्तोष-धारकः ॥ ३॥
परिग्रहेष्वनासक्तो नेर्षालुर्नैव द्रोह-वान् ।
न्याय-मार्गाऽच्युतो जैनः समश्च सुख-दुःखयोः ॥ ४॥
जिल्लोभो निर्भयो जैनो जैनोऽहङ्कार-दूरगः ।
सेवा-भावी गुण-ग्राही निःशल्यो विषयोज्झितः ॥ ५॥
राग-द्वेषाऽवशी जैनो जैनो मोह-पराङ्मुखः ।
स्वात्म-ध्यानोन्मुखो जैनो जैनो रोष-विवर्जितः ॥ ६॥
सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तात्मा जैनो नीति-विधायकः ।
मनोवाक्काय-व्यापारे चैको जैनो मुमुक्षुकः ॥ ७॥
आत्म-ज्ञानी प्रसन्नात्मा सद्ध्यानी गुण-पूजकः ।
अनाग्रही शुचिर्जैनः संक्लेश-रहिताऽऽशयः ॥ ८॥
नाऽऽत्मनः प्रतिकूलानि परेषु विदधाति यः ।
स जैनः सर्वलोकानां सेवकाग्र्यः प्रियो मतः ॥ ९॥
परोपकृति-संलग्नो न स्वात्मानमुपेक्षते ।
युगधर्म-धरो वीरो धार्मिको जैन उच्यते ॥१०॥

वीरसेवामन्दिर, सरसावा । —'युगवीर'

वीतराग-स्तोत्र

(द्वितीय)

[पिछली किरणमें एक 'वीतरागस्तोत्र' कल्याणकीर्ति आचार्यका प्रकट किया गया था, जो पाठकोंको अच्छा रुचिकर मालूम हुआ। आज उसी नामका एक दूसरा स्तोत्र प्रकाशित किया जाता है, जो हालमें मुझे कानपुरके बड़े मन्दिरसे प्राप्त हुआ है। यह श्रीपद्मनन्दि आचार्यकी सुन्दर कृति है, जिनके और भी कई अप्रकाशित स्तोत्र अपने पास हैं। इसमें वीतरागदेवके स्वरूपका निर्देश करते हुए बार बार यह घोषित किया गया है कि 'जो पुण्यवान हैं वे ही इस धरातलपर ऐसे वीतरागदेवका दर्शन कर पाते हैं।' दोनों स्तोत्रोंका छंद, पद्यसंख्या और लिखनेका ढंग समान हैं, और इससे ऐसा मालूम होता है कि एकके सामने दूसरा रहा है और दोनोंके रचयिता समकालीन भी हो सकते हैं। —सम्पादक]

(वसन्ततिलका)

स्वात्मावबोध-विशदं परमं पवित्रं, ज्ञानैकमूर्तमनवद्य-गुणैक-पात्रम्।
आस्वादिताऽक्षय-सुखोज्वल-सत्परागं, पश्यन्ति पुण्य-सहिता भुवि वीतरागम् ॥१॥

उद्यत्तपस्तपन - शोषित - पाप - पङ्कं, चैतन्यचिह्नमचलं विमलं विशंकम्।
देवेन्द्र-वृन्द-महितं करुणालला(या)ङ्गं, पश्यन्ति पुण्य-सहिता भुवि वीतरागम् ॥२॥

जाग्रद्विशुद्ध-महिमाऽवधिमस्त-शोकं, धर्मोपदेश-विधि-बोधित-भव्यलोकम्।
आचार - बन्धुर - मतिं जनतासुरागं, पश्यन्ति पुण्य-सहिता भुवि वीतरागम् ॥३॥

कन्दर्प - सर्प - विष - नाशन - वैनतेयं, पापोपहारि जगदुत्तमनामधेयम्।
संसार-सिन्धु-परिमन्थन-मन्दराऽगं, पश्यन्ति पुण्य-सहिता भुवि वीतरागम् ॥४॥

निर्वाण-कम्र-कमला-रसिकं विदम्भं, वर्द्धिष्णु-सद्धृत-नयाऽमृत-पूर्ण - कुम्भम्।
वल्गद्विमोह-तरु-खण्डन-चण्डरागं, पश्यन्ति पुण्य-सहिता भुवि वीतरागम् ॥५॥

आनन्द - कन्दमुररीकृत - धर्मपक्षं, ध्यानाऽग्नि - दग्ध - निखिलोद्धत - कर्म - कक्षम्।
ध्वस्ताऽपवादिगण-ध्वान्त-विधोपरागं*, पश्यन्ति पुण्य-सहिता भुवि वीतरागम् ॥६॥

स्वेच्छोच्छलद्ध्वनि - विनिर्जित - मेघनादं, स्याद्वादवादिनमपाकृदसद्विवादम्।
निःसीम - संयम - सुधारस - मत्तडागं, पश्यन्ति पुण्य - सहिता भुवि वीतरागम् ॥७॥

सम्यक् - प्रमाण - कुमुदाकर - पूर्णचन्द्रं, मांगल्य - कारणमनन्तगुणं वितन्द्रम्।
इष्ट-प्रधान-विधि-पोषित-भूमिभागं, पश्यन्ति पुण्य-सहिता भुवि वीतरागम् ॥८॥

श्रीपद्मनन्दि - रचितं किल वीतराग, स्तोत्रं पवित्रमनवद्यमनाद्यमाद्यम्।
यः कोमलेन - वचसा विनयादधीते, स्वर्गाऽपवर्ग - कमलाममलां वृणीते ॥९॥

इति श्रीवीतरागस्तोत्रं समाप्तम्।

---

*कानपुरकी प्रतिमें यह पाठ 'ध्वस्तायवाजिगणध्वान्तविधायजागं' रूपसे उपलब्ध है, जो अर्थसंगतिके ठीक न बैठनेसे अशुद्ध जान पड़ता है। —सम्पादक

दक्षिण भारतके राजवंशोंमें जैनधर्मका प्रभाव

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, बी० ए० एल-एल० बी०)

क्या उन जैनोंने जो अहिंसाके सच्चे और कट्टर अनुयायी एवं प्रचारक रहे हैं भारतवर्षकी सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उन्नतिकी भी अभिवृद्धि की है ? प्रस्तुत लेखमें इस प्रश्नका आंशिक उत्तर तथा उन तथ्योंका संक्षिप्त वर्णन है जो कर्णाटक, तैलेगु और तामिल देशोंके अनगिनत शिलालेखों तथा साहित्यमें उपलब्ध हैं और जिनसे हमें जैनधर्म द्वारा प्रदत्त उस अपूर्व योगदानका स्पष्ट ज्ञान होजाता है जोकि उसने अनेक विभिन्न राज्यों-की और विशेषकर मध्यकालीन हिन्दू राजनीतिकी सर्वश्रेष्ठ महाकृति विजयनगर साम्राज्यकी सफलता और स्थायित्वके हित किया। विवक्षित इतिवृत्त एक उस सम्प्रदायका रोचक एवं उत्साह-वर्द्धक इतिहास है जिसने अपनी जन्मभूमि, उत्तरापथसे एक महान दैवी विपत्ति (बारह वर्षका भीषण दुष्काल)के कारण, स्वेच्छा-पूर्वक निष्कासित होकर, कर्णाटक देशमें आश्रय लिया और जो अपने इस अपनाये हुए प्रदेशमें मात्र साहित्य, कला और धर्ममें ही नहीं, राजनैतिक क्षेत्रमें भी अपूर्व तेज एवं उत्कर्षको प्राप्त हुआ। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण-भारतके कुछ भागोंमें जैनधर्मके कुछ चिन्ह अत्यन्त प्राचीन कालसे दृष्टिगोचर होते हैं और वहाँ पर्याप्त काल तक इसने प्रत्यक्ष उन्नति भी की है, किन्तु कर्णाटकको इसने सदैव अपना घर समझा है। उक्त प्रान्तोंमें यह धर्म अपने सर्वोच्च उत्कर्ष एवं समृद्धिके दिनोंमें भी और अपेक्षाकृत गौणताके युगोंमें भी जनतासे अत्यन्त प्रेमपूर्ण आदर-सत्कार तथा परम विशुद्ध निष्ठा प्राप्त करनेमें कभी भी असफल नहीं रहा है। अतः दक्षिण भारतीय जैनधर्मका इतिहास मुख्यतया कर्णाटकस्थ जैनधर्मका ही इतिहास है। इसी कारण, विजयनगर राज्यके, जोकि अपनी उत्पत्ति और संस्कृतिकी दृष्टिसे आरविडुवंशके समय तक विशुद्ध कर्णाटकी ही रहा, अन्तर्गत जैनधर्मके इतिहासका अध्ययन करते हुए उक्त धर्मके अनुयायियों द्वारा किये गये उस योगदानपर भी समुचित ध्यान देना आवश्यक है जो उसने विजयनगर राज्यकी स्थापना के पूर्व दक्षिणी और पश्चिमी भारतके भाग्य निर्माणमें किया। वास्तवमें, प्राचीनकालमें, दक्षिण तथा पश्चिम भारतमें हुए जैनधर्मके अभ्युत्थान और प्रचारको पूर्वपीठिका बनाते हुए जैनधर्मने विजयनगरकी संस्कृतिके निर्माण और स्थितिमें जो ठोस भाग लिया उसके उपयुक्त विस्तृत विवेचनसे पाठकोंको यह भली प्रकार अनुभव होजाता है कि जैनोंने भी अन्ततः देशके इतिहासमें अपना सुनिश्चित गौरवपूर्ण स्थान रक्खा है। जैनधर्मकी कतिपय विशेषताओंको यदि लौकिक दृष्टिकोणसे देखा जाय तो यह स्पष्ट होजाता है कि यह धर्म गूढ़ तात्त्विक विश्वासोंका समूहमात्र नहीं है वरन यह एक ऐसा धार्मिक विश्वास रहा है जिसने एक बड़े अंशमें देशकी भौतिक समृद्धिकी अभिवृद्धि की।

दक्षिण भारतमें जैन-धर्म-प्रचारकी सर्वप्रथम ऐतिहासिक घटना, तीसरी चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्वमें, अपने राजर्षि शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य सहित अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहुका आगमन था। इस घटनाके पश्चात् उक्त प्रदेशमें इस धर्मने जीवन संबन्धी प्रायः सर्व ही उपयोगी क्षेत्रोंमें सर्वतोमुखी उन्नति की है। और यदि इसने राजकीय उदारता एवं सम्मानका भी अतिशय उपभोग किया तो इसका कारण यह था कि तत्कालीन जैन नेतागण अपने समयकी गम्भीर राजनैतिक समस्याओं एवं आवश्यकताओंके प्रति लेशमात्र भी उदासीन नहीं थे। प्रसिद्ध गंगवंशकी स्थापना जैनधर्मके ही

संरक्षकत्वमें, विशेषकर आचार्य सिंहनन्दिके प्रयत्नोंके फलस्वरूप, ईस्वी सन्की २री शताब्दीमें हुई थी। अनेक विभिन्न शिलालेखों परसे इस चिरस्मरणीय घटनाका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। गंगनरेश अविनीत कोंगणीवर्म (५वीं शत० ई०) जैन भक्त था और उसका उत्तराधिकारी दुर्विनीत तो उच्चकोटिका जिनधर्मी था, उसके साथ महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतियोंका भी सम्बन्ध है। आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद उसके गुरु थे। उत्तरकालीन गंगनरेशोंमें भी महाराज मारसिंह जैसे कितने ही जैनधर्मके परमभक्त राजा हुए हैं। उनकी पुण्य-स्मृति अनेकों मन्दिरों, वसतिकाओं आदिके रूपमें आज भी अवस्थित है।

गंग राज्यशक्तिके पतनारंभसे बहुत पूर्व ही जैनधर्मको कदम्ब तथा राष्ट्रकूट, इन दो अन्य महान राज्यवंशोंसे संरक्षण प्राप्त हो चुका था; और जैसाकि उनके दानपत्रादिकोंसे पता चलता है, इन वंशोंके अनेक राजागण जैनधर्मके पूर्ण पक्षपाती अर्थात् हिमायती थे। राष्ट्रकूटकालमें सामान्यतः सर्वत्र और विशेषकर अमोघवर्ष प्रथमके समयमें जैनधर्मने जिनसेन स्वामी, महावीराचार्य आदि अनेकों लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों एवं साहित्य-कारोंको जन्म दिया। सम्राट इन्द्र चतुर्थ जैसे राष्ट्र-कूट नरेश सुश्रद्धालु जनोंकी भांति सल्लेखना-पूर्वक मरणको प्राप्त हुए (सन् ९८२ ई० में)। चालुक्य वंशसे भी जैनधर्मको प्राचीनकालसे ही अत्यधिक प्रश्रय मिला। प्रसिद्ध आइहोले शिलालेख (सन् ६३४ ई०) से स्पष्ट है कि सम्राट पुलकेशी द्वितीय उक्त लेखके जैन रचयिता रवीकीर्तिका तथा जैन धर्मका हृदयसे आदर करते थे। उनके वंशजोंमें भी जैनधर्मकी प्रवृत्ति थी। सन ९९३ ई० में पश्चिमी चालुक्य सम्राट तैलपदेव आहवमल्लने जैनधर्मा-नुयायी कन्नड महाकवि रन्नको 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि प्रदान करके समादृत किया था। इस युगमें अनेक विद्वान जैनगुरु ख्यातिको प्राप्त हुए हैं। गंगवंशकी स्थापनाके पश्चात्-जैनबुद्धिकी परम कुशल एवं महान सृष्टि होयसल राज्य थी (१०वीं शत० ई०)। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी असङ्गत न होगा कि जैन गुरुओंने राजनीतिज्ञोंकी राज्य-संस्थापनादिमें जो सहायता-की वह इस उद्देश्यसे नहीं की कि उनके धर्मको अथवा उन्हें राज्याश्रय या राज्यकी सहायता प्राप्त हो जायगी। दक्षिण देशके विभिन्न जैनधार्मिक केन्द्रोंसे, विशेषतः कर्णाटक प्रान्तमें, उनमेंसे कितने ही ऐसे अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतिभाशाली, असाधारण-बुद्धि-सम्पन्न महाप्राण विद्वानोंका संबंध था जिन्हें जन्म देनेका सौभाग्य भारतवर्षको कभी भी हुआ है। जैनधर्मने होयसल वंशके आश्रयमें भी भारतकी स्थापत्य एवं कला-संबंधी श्री शोभाकी विशेष रूपसे अत्यधिक वृद्धि की है। होयसल वंश-की स्थापना-सम्बन्धी घटनावलीका उपलब्ध विस्तृत विवेचन कर्णाटकी इतिहासके विद्यार्थियोंके लिये बहुत ही उपयोगी है।

उपर्युक्त राज्यवंशोंके अतिरिक्त, गंग एवं राष्ट्रकूट नरेशोंके कितने ही सामन्त सरदार तथा सान्तर, कोंगल्व, चंगल्वा, सेन्द्रक आदि अभिजात वंशोंमें उत्पन्न उनके प्रान्ताधिकारी जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। इस बातका जनसाधारणपर भी अत्यन्त श्रेयस्कर प्रभाव पड़ा, और जैनधर्मको जो सब ओरसे ऐसी व्यापक विशद समर्थना तथा सहायता मिली उसका भी आंशिक श्रेय इसी बातको है। जब कभी केन्द्रीय शक्ति निर्बल भी हो जाती थी तो प्रान्तीय अध्यक्षोंकी सहायता और भक्तिके कारण उसका जैनधर्मकी वस्तुस्थितिपर कोई विशेष चिन्तनीय प्रभाव नहीं पड़ पाता था। इसमें भी सन्देह नहीं कि इस सदाश्रय-प्राप्तिका बहुत कुछ श्रेय उन प्रख्यात विश्रुत जैन गुरुओंको है जिनका अब पर्याप्त विस्तृत इतिवृत ज्ञात होता जारहा है।

उस युगके कार्यचेता विशिष्ट जैन पुरुषोंके कार्यों से जैनधर्मकी वह प्रेरक जीवनी शक्ति, जो कि उसके अन्दर निहित रही है और जिसका उसने कर्णाटककी भूमिमें तथा उसके चहुँओर प्रकाश किया

था, स्पष्टतया प्रकट हो जाती है। जैनधर्मको पश्चाद्वर्ती सन्ततिद्वारा प्रदत्त श्रेय विशेषत: इस बातका है कि इसने देशको ऐसे व्यक्ति प्रदान किये कि जिन्होंने इस धर्मको एक कार्यकर दर्शनके रूपमें परिणत कर दिया और उनकी वह अहिंसा जो उनके महान धर्मका मूलमंत्र थी उनके देशकी स्वतन्त्रता एवं उद्धारमें बजाये बाधक होनेके एक ऐसा सहायक कारण सिद्ध हुई कि जिसके बिना धार्मिक अथवा राजनैतिक किसी भी क्षेत्रमें किसी प्रकारकी भी स्वाधीनता सम्भव नहीं हो सकती थी। वीरमार्त्तण्ड चामुंडराय तथा महासेनापति गंगराजके युद्धक्षेत्र सम्बन्धी वीरतापूर्ण कार्योंके सूक्ष्म विवेचनके साथ ही साथ उनके परमनिष्ठासम्पन्न धार्मिक कृत्योंका विस्तृत विवरण अतिशय रोमाञ्चकारी है, और विशेषत: इस कारणसे भी कि उक्त दोनों ही धर्म-कर्म-शूरोंका सम्बन्ध श्रवण बेलगोलस्थ विंध्यगिरिकी प्रात:-स्मरणीय उस अद्भुत विशाल मूर्ति तथा उसके चारों ओर निर्मित विविध भव्य भवनादिकोंसे रहा है। आदर्श वीर शान्तिनाथ, बप्प, एच, विटिमय्य, हल्ल, बूचिराज आदि अन्य सुभट सेनानी भी असभ्य रूक्ष योद्धा-मात्र नहीं थे वरन वे सब परम सुसंस्कृत व्यक्ति थे और अवश्य ही उनका समकालीन समाज उनकी ओर सभिमान दृष्टिसे देखता रहा होगा, उनपर गर्व करता होगा।

कितनी ही प्रख्यात जैन देवियोंने धर्म रक्षा एवं प्रभावनाके कार्योंमें नेतृत्व किया। उन्होंने मन्दिर बनवाये, देव-प्रतिमायें निर्माण कराईं, धार्मिक पर्वों और उत्सवोंका आयोजन किया, साहित्य और कलाको प्रोत्साहन दिया, दानशालाएँ स्थापित कीं, तपश्चर्या की और समाधिमरण भी किये। भारतीय साहित्यके इतिहासमें यह एक अद्वितीय, चिरस्मरणीय एवं विशेष ध्यान देने योग्य घटना है कि सेनापति मल्लपकी पुत्री और वीर नागदेवकी भार्या विदुषी अत्तिमब्बेने महाकवि पोन्नकृत शान्तिपुराणकी एक सहस्र हस्तलिखित प्रतियाँ स्वयं अपने व्ययसे तैयार करवाईं और उन्हें उस १०वीं शताब्दी ईस्वीमें अमूल्य वितरण किया! माललदेवी, पम्पादेवी, जक्कनब्बे, सान्तलदेवी आदि कितनी ही उक्त युगीन अन्य जैन देवियोंके कार्यकलाप भी अत्यधिक प्रभावपूर्ण एवं रोचक हैं।

उस कालमें जैनधर्म केवल केन्द्रीय तथा सामन्ती राजवंशोंमें सीमित अभिजातमान्य धर्मके रूपमें ही नहीं फला फूला, किन्तु जनसाधारण भी जिनधर्मकी परिधिमें बहुलताके साथ आये और रहे। जैन नेताओंने मध्य श्रेणीके सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग वीर बणजिग तथा अन्य व्यापार प्रधान जातियोंकी भी निष्ठा प्राप्त करके अपने दार्शनिक उपदेशोंका व्यवहारिक पहलू भी भले प्रकार चरितार्थ कर दिया, कारण कि इन लोगोंकी आर्थिक सहायता अनेकान्त-मतके हितसाधनमें अनुमानातीत महत्वकी थी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने सर्वसाधारणकी निष्ठा एवं भक्ति प्राप्त करनेके लिये जो सर्वाधिक व्यावहारिक साधन अपनाया वह उनकी आहार, औषध, अभय और विद्यारूप चतुर्विध दानप्रणालीसे सम्बन्धित है, क्योंकि अखिल मानव समाजकी प्राथमिक मूल आवश्यकताएँ इन चारोंमें ही निहित हैं। धनिकवर्ग-पर इन चार प्रकारके दानोंमें प्रवृत्त होते रहनेके लिये जोर देते रहनेके परिणामस्वरूप जनसाधारण-का जैन धर्मके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य था। वस्तुत: ९वीं से १४वीं शताब्दी तक जैनधर्म उनमें द्रुतगतिसे प्रचारको प्राप्त हुआ। अनगिनत उपलब्ध अभिलेखीय प्रमाण इस बातके साक्षी हैं कि जैनधर्म, उसकी धार्मिक क्रियायें, विधिविधान, नियमाचार इत्यादि समाजके विभिन्न वर्गों द्वारा बहु आदरको प्राप्त थे।

कर्णाटकके भीतर और बाहिर कितने ही जैन सांस्कृतिक केन्द्र थे, जिनसे कि जैनधर्मका तेज: प्रकाश चहुँ ओर फैल रहा था। इनमेंसे कुछ अब तक भी अवस्थित हैं, किन्तु जो जैन केन्द्र कालान्तर-में अजैनोंके हाथों पड़ गये उनमें केवल खण्डित जैन मूर्तियाँ तथा इधर उधर बिखरे पड़े भग्न स्थापत्यादिके प्रस्तर खण्ड ही देशमें एक समय जैन-

धर्मकी अति सुसमृद्ध दशा थी इस बातकी मूक साक्षी देते हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र, श्रवण-बेलगोल, कोप्पण, हुम्मच, बनवासी, बन्दिनिके, द्वारसमुद्र आदि थे। जिन व्यक्तियोंने इन स्थानोंकी यात्रा और दर्शन किये हैं उन्हें उपर्युक्त कथनकी सत्यताका भले प्रकार अनुभव हुए बिना नहीं रहा है।

सङ्गमकालके प्राचीन तामिल साहित्य पर भी जैनधर्मका प्रभाव लक्षित होता है और उसमें जैनधर्म-संबंधी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। तामिल देशमें जैनधर्मके विशेष प्रचारका श्रेय कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क, कनकसेन, गुणनन्दि आदि जैनाचार्योंको है। इन प्रातः स्मरणीय गुरुओंके द्वारा धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्रमें किये गये महान कार्योंने तामिल देश और कर्णाटक प्रान्तके बीच घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया था। द्रविड़ या द्रमिलसंघ नामका एक पृथक् जैन संघ ही स्थापित होगया था। सुदूर दक्षिणमें आज भी कितने ही ऐसे जैन सांस्कृतिक अवशेष अवस्थित हैं जो अत्यन्त महत्व-पूर्ण एवं दर्शनीय हैं।

आंध्रदेशमें जैनधर्मका प्रचार मौर्यकालके पूर्वसे ही लक्षित होने लगता है। सम्राट् महामेघवाहन खारवेल जैनधर्मका परम भक्त था। आंध्रदेशमें सर्वत्र जैनधर्मके अनेकों अवशेष आज भी अवस्थित हैं। उस युगमें, आंध्र, कर्णाटक तथा उसके इर्दगिर्द कितने ही छोटे बड़े जैन सांस्कृतिक केन्द्र थे।

पीछे आने वाली पीढ़ियोंके लिये जैनधर्मकी एक सबसे बड़ी देन यह रही है कि इसने कर्णाटक, तामिल और आंध्र इन तीनों ही प्रदेशोंके भाषा-साहित्यकी अत्यधिक अभिवृद्धि की है। जैन गुरुओंने जोकि इन तीनों ही देशोंके बौद्धिक संरक्षक रहे हैं, उनकी देश भाषाओंका अत्यधिक तत्परताके साथ अभ्यास किया, और उनमें देशके लिये स्थायी महत्व-के अनेकों महान् ग्रन्थोंकी रचना की। यद्यपि प्रायः सर्व ही प्राचीन जैन लेखक संस्कृतभाषाके उद्भट विद्वान् थे तथापि उनकी रचनाओंका मूलमन्त्र देशीपन ही था। उनके द्वारा तामिल, तैलगु तथा कन्नडी भाषाकी कितने ही सर्वाधिक प्रख्यात प्रथम-वर्गीय रचनाओंकी उत्पत्ति हुई। इनमेंसे विशेष विश्रुत कई साहित्यकारों और उनकी अपूर्व रचनाओं-के विवरण जानने योग्य हैं। केवल नैतिक एवं चारित्र-सम्बन्धी उपदेशों तथा साहित्यके रूपमें ही नहीं किन्तु कला, स्थापत्य और लोकोपकारी संस्थाओंके क्षेत्रोंमें भी दाक्षिणात्य संस्कृतिके लिये जैनधर्मका दान सर्वोच्च महत्वका है और उत्तरकालमें अन्य सम्प्रदायवालोंने उन्हींका अनुकरण-अनुसरण किया है।

हिन्दू संस्कृतिको जैनियोंकी जो सबसे बड़ी देन रही है वह है धार्मिक सहिष्णुता, और एक बड़े अंशमें उसका श्रेय उनके अहिंसा तथा अनेकान्त सिद्धान्तको है। जैनियोंकी उस निष्ठा और कट्टरताके लिये जिसके साथ वे अपने धार्मिक सिद्धान्तोंपर आरूढ़ रहे, और उस आग्रह, दृढ़ता एवं पटुताके लिये जिसके साथ वे धार्मिक वादविवादोंमें अपने विरोधियोंका मुक़ाबला करते थे और उन्हें परास्त करते थे—चाहे कुछ भी कहा जाय, किन्तु इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने धार्मिक सहिष्णुताके असूल (सिद्धान्त)का भारतवर्षके किसी भी अन्य जाति या सम्प्रदायकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्यता, यथार्थता एवं सफलताके साथ पालन किया है। परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया उत्कृष्ट कोटिके जैन नेताओंका अभाव होता गया। शैवों और वैष्णवोंने, विशेषकर तामिलदेशमें, जैनों-का ही पदानुसरण करते हुए अपने २ सम्प्रदायको सुदृढ़रूपसे सङ्गठित कर लिया। अन्तर इतना ही था कि उनके इस सङ्गठनका एक भारी उद्देश्य जैनियोंका ही विरोध करना रहा, फलतः जैनोंके साथ उन्होंने बड़ेबड़े दुर्व्यवहार किये, और तिरुज्ञानसम्बंदरके समयमें तो ये दुर्व्यवहार चरम सीमाको पहुँच गये। इससे अधिक खेदजनक बात अन्य नहीं हो सकती कि अपने प्रतिद्वन्द्वी मतों, विशेषकर जैनधर्मके प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करनेमें दक्षिण भारतके हिन्दू

इतने अनुदार सिद्ध हुए कि उन्होंने वैरसाधन और बदला लेनेका ऐसा प्रतिहिंसात्मक ढङ्ग अपनाया जो कि हिन्दू जातिके लोकप्रसिद्ध सत्कारशील स्वभावके नितान्त विरुद्ध था। परिणामस्वरूप, जैनधर्मके प्रति राजनैतिक संरक्षण और आश्रयमें कमी होती गई, वैष्णवमतका बल बढ़ता गया, कितने ही जैनसामन्त वंशोंने भी मतपरिवर्तन कर लिया और अन्तमें कितने ही प्रधान जैन व्यापारी भी वैष्णव होगये। इस प्रकार विजयनगर साम्राज्य स्थापनाकी संधि-वेलामें दक्षिणदेशस्थ जैनधर्मको यह भारी धक्का लग चुका था।

विजयनगर राज्यकी स्थापनाके समय (सन् १३४६ ई०) जैनधर्मकी अतिविषम स्थिति थी वह भग्नाशा और भग्नोद्यम होगया था, किन्तु अभी भी पराभूत नहीं हुआ था। अपने प्रधान एवं सर्वोच्च आसनसे, जिनपर कि तामिल, तैलेगु और कर्णाटक प्रान्तोंमें वह स्थित रहता आया था, दृढ़तापूर्वक शनैःशनैः उसे च्युत कर दिया गया और बलात् द्वितीय अर्थात गौणस्तरपर रहनेके लिये बाध्य कर दिया गया; विशेषकर कर्णाटकमें जहाँसे निष्कासित होनेका उसके लिये कोई उपाय ही नहीं था। उस प्रदेशमें उसकी जड़ें गहरी जमी हुई थीं, वह उसका घर ही जो था। किन्तु यदि स्याद्वादमतके अनुयायियोंके लिये यह काल पर्याप्त भयहेतुक था तो देशके इतिहासमें, राजनैतिक दृष्टिसे भी अत्यन्त विषम था। गङ्गराज्य संस्थापक आचार्य सिंहनन्दि अथवा होयसल राज्यस्थापक आचार्य सुगतवर्धमानदेव जैसे उपयुक्त कुशल नेताओंके अभावमें इस समय देशकी अति जटिल समस्याओंको समझने और सुलझाने वाला कोई व्यक्ति न था। प्राचीन गङ्ग तथा अन्य शासकोंके सन्मुख जो समस्याएँ थीं उनसे भी अधिक दुस्साध्य कठिनाइयोंसे अभिभूत जनताके लिये इस समय जैनधर्मके लिये कोई उपयुक्त सन्देश न था।

ऐसी स्थितिमें, विजयनगर राज्य जैनधर्मके संरक्षकके रूपमें आ उपस्थित हुआ और उसे आगामी कई शताब्दियों तक अपना सर्वोपयोगी अस्तित्व बनाये रखनेका अवसर प्रदान किया। पूर्वकालमें, जैनधर्मने अनेकबार राजनैतिक जीवनका पुनरुत्थान किया था और इस प्रकार हिन्दुधर्मको अपनी स्थिति सुसंमत बनाये रखने और सङ्गठित करनेकी सुविधायें प्रदान की थीं। अब जैनधर्मकी वैसी स्थिति थी, अतः सामान्यतः हिन्दुधर्मानुयायी विजयनगर नरेशोंने उसके उक्त व्यवहारका परिशोध किया। जैनधर्म और वैष्णव धर्मके अनुयायियोंके बीच एक विकट धर्मार्थिक विवाद आ उपस्थित हुआ था। उस अन्तःसाम्प्रादायिक द्वन्द्वमें महाराज हरिहररायने जो निर्णय दिया वह निष्पक्ष एवं न्याययुक्त होनेके साथ ही साथ आदर्श और उदाहरणीय है[१]। उक्त निर्णयने यह स्पष्ट कर दिया कि नवीन साम्राज्य के इन नवीन नरेशोंके हाथोंमें जैनधर्मका भविष्य सुरक्षित रहेगा। हलबेयिडु नामक स्थानमें एक दूसरा वैसा ही विवाद उत्पन्न हो गया था, राज्य द्वारा उसका भी निर्णय दोनों ही पक्षोंके लिये सन्तोषकर सिद्ध हुआ। विजयनगरकी एक साम्राज्ञी, महाराज देवरायकी पट्टरानी भीमादेवी स्वयं जैन थीं, राज्यवंशके अन्य कितने ही व्यक्ति भी जिनधर्म भक्त थे। उस युगका सर्वाधिक विख्यात योद्धा सेनापति इरुगप्प, जो जैन धर्मानुयायी था, अपने स्वामीका अनन्य भक्त एवं परम कर्त्तव्यशील व्यक्ति था। उसका कार्यकाल एक विश्वामी वीर सेनापति, कुशल इञ्जीनियर, एवं सफल राजप्रतिनिधि (वायसराय) के रूपमें ५९ वर्ष पर्यन्त चला। इरुगप्पके बड़े भाई सेनानी वीर बैचप्प भी कट्टर जैन थे। इस युगमें जैनधर्म, स्वयं विजयनगरकी अपेक्षा साम्राज्यके प्रान्तीय केन्द्रोंमें अधिक प्रधान रहा। और प्रान्तीय अधिकारियोंमें इस दृष्टिसे, सर्वाधिक उल्लेखनीय व्यक्ति चंगल्व नरेश वीर मंगरस था। उस युगके सर्वप्रधान जैनगुरुवादी विद्यानन्द थे। जैनधर्मने अब यह

---

१ देखिये हमारा लेख—'एक ऐतिहासिक अन्तः-साम्प्रदायिक निर्णय'। —अने. वर्ष ८ कि. ४-५ पृ. १६६

अनुभव कर लिया था कि उसका भविष्य आगे २ जनसाधारणके साथ ही सन्नद्ध है। इसके प्रधान गढ़ उस समय श्रवणबेलगोलके इर्द गिर्द तथा तुलुवदेशमें थे। कनकगिरि, आवलिनादु, उद्धरे, हुलिगेरे, गेरुसोप्पे, मूडवद्री, बनवासी, कारकल आदि ऐसे तत्कालीन जैन केन्द्र थे जहाँ पर जैनधर्मको स्थानीय सरदार सामन्तों तथा जनसाधरण का प्रश्रय, सहयोग एवं अत्यधिक निष्ठा प्राप्त थी। इनमेंसे कितने ही स्थानोंमें विशाल, उत्तुङ्ग, शोभनीक जिनालय आज भी अवस्थित हैं और वे जैनधर्मके उन यशस्वी कीर्तिकर प्रशस्य दिनोंकी यशोगाथा मुक्तकण्ठसे घोषित करते हैं। किन्तु जिन्होंने हिरयंगदि (कारकल) आदिको देखा है वे उसके उन दुर्दिनोंकी याद किये बिना भी नहीं रह सकते जिनका कि पिछले जमानेमें जैनधर्मको सामना करना पड़ा था। जैनधर्म अब एक राजनैतिक शक्ति नहीं रह गया था। वह प्रच्छन्न-परावृत्त होकर पृष्ठभूमिमें रहता हुआ मात्र शान्ति एवं ज्ञानकी उपासना और साधनामें लीन होगया था।

विजयनगर साम्राज्यमें भी जैनोंने अपने सुन्दर उत्तुङ्ग जिनालयों, भव्य विशाल मूर्तियों एवं कलापूर्ण दर्शनीय मानस्तम्भोंके निर्माणद्वारा देशकी महती सांस्कृतिक अभिवृद्धि की। दुर्दिनोंके बावजूद भी, वादी विद्यानन्द, बाहुबलि, केशववर्णी भास्कर, कल्याणकीर्ति जैसे अनेक विद्वान् लेखकोंने ज्ञानकी विविध शाखाओं पर अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं द्वारा तत्कालीन साहित्यका संवर्धन किया है*।

* यह लेख डा० भास्कर आनन्द सालतोर कृत Mediaeval Jainism नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थका सारांश है। इस ग्रन्थमें विशेषकर शिलादि अभिलेखीय आधारोंके बहुल प्रयोग द्वारा तिपाद्य विषय, अर्थात् मध्यकालीन दक्षिणमें, विशेषतः विजयनगर साम्राज्यमें जैनधर्मकी स्थिति, प्रभाव, प्रचार, कार्यकलापादिका सहानुभूतिपूर्ण किन्तु निष्पक्ष वैज्ञानिक विस्तृत विवेचन है, और यद्यपि, जैसा कि उक्त ग्रन्थकी विद्वत्तापूर्ण समालोचना (Pub. New. Ind. Ant.-Vol II, No. 2 P. 128) में डा० ए. एन. उपाध्येने भी प्रकट किया है, उसमें वर्णित अनेक बातें विवादापन्न हैं, कितनी ही भ्रमपूर्ण भी हैं और कुछ एक पर अधिक समुचित प्रकाश डाला जा सकता था, तथापि ग्रन्थके महत्वमें कोई कमी नहीं आती, प्रतिपाद्य विषयपर यह अब तककी एक मात्र प्रमाणिक रचना है।

—लेखक
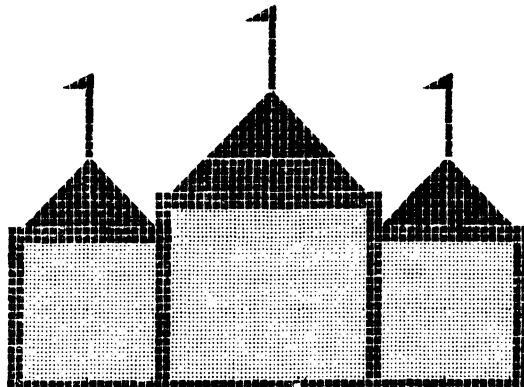
युग-गीत

[लेखक—पंडित काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']

आज युगके गीत गा कवि, आज युगके गीत गा !

शान्तिके शीर्षक लिखे तो क्रान्तिके लिख छन्द नीचे ।
भावनाके मधुर स्वरसे भ्रान्तिको कर दूर—पीछे !
बदल दे जो जिन्दगी इस हिन्दकी वो गीत गा ।
आज युगके गीत गा !!

सफलता जिसके लिये स्थित विजयकी माला सँजोये ।
शोक है, वह आज भी गृह-कलहके विष-बीज बोये !
छाछ-मन्थनसे भला हो प्राप्त भी नवनीत क्या ?
आज युगके गीत गा !!

आज बन्धन-मुक्त होनेकी लगी है होड़ जगमें,
आज मरमिटना सिखाता खौलता यह खून रगमें !
जल उठे ज्वालामुखी, हो भस्म सारा भय अहा !
आज युगके गीत गा !!

चिर-पतित चिर-दलित प्राणी, स्वत्वकी ललकार करते !
'जियेंगे या मरेंगे' केवल यही हुंकार भरते !
मातृ-भूमीके लिये निज प्राणकी भी प्रीत क्या ?
आज युगके गीत गा !!

है हमें निश्चय, निकट ही हिन्द यह आज़ाद होगा ।
किन्तु कुछ बरबादियोंके बाद ही आबाद होगा ।
ये गुलामीके बुरे दिन एक पलमें बीत जाँ !
आज युगके गीत गा !!

भीम-बलिके आज कवि, वे राग भैरव फिर जगा दे !
धधकती चिनगारियोंसे वीरताकी आग जागे !!
शक्ति-साहससे भरे विद्रोहके ही गीत गा !
आज युगके गीत गा !!

प्रतिष्ठासारका रचनास्थल

[लेखक—के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

यहाँपर प्रतिष्ठासारसे जयसेन अथवा वसुबिन्दु[1] के प्रतिष्ठासारका प्रयोजन है, जिसकी रचना, रचयिताके कथनानुसार दक्षिण दिशामें स्थित कुंकुण (कोंकण) देशमें, सह्याद्रिके निकट रत्नगिरिके ऊपर भगवान् चन्द्रप्रभके उक्त चैत्यालयमें, जिसे लालाट्ट राजाने ऊर्जित कराया था, प्रतिष्ठा-कर्य-निमित्त गुरुदेवकी आज्ञासे प्रतिज्ञापूर्त्यर्थ सिर्फ दो ही दिनमें की गई थी[2]।

अब हमें देखना है कि दक्षिण दिशामें स्थित उपर्युक्त कुंकुण देश एवं सह्याद्रिके निकटवर्ती श्रीरत्नगिरि कौनसा है। मेरे ख्यालसे बम्बई प्रान्तर्गत वर्तमान रत्नगिरि जिलेमें अवस्थित, रत्नगिरि ही पूर्वोक्त रत्नगिरि होना चाहिये। यह सह्याद्रिके समीप है भी। वस्तुतः प्राचीनकालमें उक्त रत्नगिरि कुंकुण या कोंकण देशमें ही शामिल था। यद्यपि इस समय वहाँपर भगवान् श्रीचन्द्रप्रभका कोई चैत्यालय नजर नहीं आता। बहुत कुछ सम्भव है कि अन्यान्य स्थानोंके चैत्यालयोंकी तरह यह चैत्यालय भी जैनोंके प्रमादसे अन्य धर्मावलम्बियोंके द्वारा ले लिया होगा। पूर्वमें वर्तमान बम्बई प्रांतान्तर्गत बीजापुर, बेलगाम, धारवाड़ तथा उत्तर कन्नड आदि जिलोंमें जैनोंका बहुत जोर था।

उस ज़मानेमें उत्तर कन्नड तौलव देशमें ही गर्भित था और वहाँपर दीर्घकाल तक जैनोंका ही शासन रहा। बनवासि, भटकल एवं गेरूसोप्पे यहाँके प्रधान विश्वविख्यात प्राचीन जैन राजधानियाँ रहीं। बल्कि जैनोंका आदिम पवित्र ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' प्रातःस्मरणीय आचार्य भूतबलिके द्वारा बनवासिमें सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया गया था जिस पवित्र स्थानको वर्तमान जैन समाज सर्वथा भूल गया है। यह प्रान्त केवल राज्यशासनकी दृष्टिसे ही महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु गुरुपीठकी दृष्टिसे भी। सोदे (सुधापुर) बिलगि (श्वेतपुर), हाडुहल्लि (सङ्गीतपुर) आदि स्थानोंमें उस ज़मानेमें बड़े-बड़े सुदृढ़ जैनमठ भी विद्यमान थे।

यहाँपर एक उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रान्तमें महारानी चेन्नभैरवदेवी, और भैरवदेवी जैसी वीरांगनाओंने भी शासनसूत्रको अपने ही हाथमें लेकर दीर्घकाल तक सुचारुरूपसे राज्य किया था। एक जनश्रुति है कि विजयनगरके राजाओं (ई० सन् १३३३-१५६५) ने ही कर्णाटकमें गेरुसोप्पेके जैन राजवंशको उन्नत बनाया था। खैर, एक तो यह विषयान्तर है, दूसरी बात यह है कि इस छोटेसे लेखमें इस प्रान्तके महत्वको सुपाठकोंके समक्ष उपस्थित करना सहज नहीं है। इसके लिये एक स्वतन्त्र पुस्तक ही अपेक्षित है, जिसमें भटकल, गेरुसोप्पे, श्वेतपुर, सुधापुर आदि कुल स्थानोंका महत्वशाली अखण्ड इतिहास अन्तर्भुक्त हो।

अब यहाँपर एक प्रश्न उठता है कि रत्नगिरिके ऊपर भगवान् चन्द्रप्रभके उपर्युक्त उन्नत चैत्यालयको बनवाने वाला वा जीर्णोद्धार कराने वाला लालाट्ट राजा[1] तथा उसका वंश कौनसा है। पर्याप्त साधन-

---

१ वसुबिंदुरिति प्राहुस्तदादि गुरवो यतः।
जयसेना पराख्यां मां तन्नमोस्तु हितैषिणाम् ॥६२४॥

२ श्रीदक्षिणे कुङ्कण (कोंकण) नाम्निदेशे,
सत्वादिणा संगतसीम्नि पूते।
श्रीरत्नभद्रोपरि दीर्घचैत्यं
लालाट्टराज्ञा विधिनोर्जितं मत् ॥६२४॥
तत्कार्यमुद्दिश्य गुरोरनुज्ञामादाय कोलापुरवासिहर्षात्।
दिनद्वये संलिखितः प्रतिज्ञापूर्त्यर्थमेवं श्रुतसंविधति(त्तं) ॥६२५

१ 'लालाट्टराजा विधिनोर्जितं मत्'

की अनुपलब्धिमें इस समय राजाका पता लगाना तो अशक्य है। हाँ, स्थूलतः वंशका पता लगाया जासकता है। यद्यपि 'लालाट्र' शब्द (अगर यह शुद्ध हो) के श्रवणमात्रसे विज्ञ पाठकोंका ध्यान सहसा राष्ट्रकूट, रट्ट एवं लाट राजवंशकी ओर जाना सर्वथा स्वाभाविक है। पर मेरा अपना मत है कि राष्ट्रकूट तथा रट्ट वंशकी अपेक्षा 'लालाट्र' वंशका सम्बन्ध लाटवंशसे जोड़ना अधिक सुसङ्गत होगा। क्योंकि इतिहाससे यह पुष्टि होती है कि पूर्वमें लाटमें कोंकण देश भी शामिल था[1]।

ग्रन्थ रचयिताने ग्रन्थ-प्रशस्तिमें अपनेको आचार्य कुंदकुंदका अग्रशिष्य लिखा है[2]। परन्तु जयसेनको समयसारादि ग्रन्थोंके रचयिता आचार्यपुङ्गव कुंदकुंदका समकालीन मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। कुन्दकुन्द जयसेनके साक्षात् गुरु नहीं हो सकते। हाँ, परम्परा गुरु स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परम्परा शिष्य होनेपर भी इस प्रकार लिखना कोई अनोखी बात नहीं है। इस तरहके उदाहरण जैन-साहित्यमें अनेक उपलब्ध होते हैं।

१ 'कन्नड नाडिन चरिते' (प्रथम भाग) पृष्ठ ६५।

२ कुन्दकुन्दाग्रशिष्येण जयसेनेन निर्मितः।
पाठोऽयं सुधियां सम्यक् कर्तव्यायास्तु योगतः ॥६२३॥

यहाँपर और एक बातका उल्लेख कर देना आवश्यक है। वह यह है कि प्रशस्तिगत ९२५में पद्यान्तर्गत द्वितीय चरणके अन्तमें 'कोलापुरवासिहर्षात्' यह एक शब्द है। यद्यपि इस समय इसका सम्बन्ध ठीक-ठीक नहीं बैठता है। फिर भी हमें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त चैत्यालय-प्रतिष्ठा या 'प्रतिष्ठासार' के रचयिता जयसेनसे इसका अवश्य सम्बन्ध है। इसका निर्णय तो 'प्रतिष्ठासार' की शुद्ध प्रतिकी प्राप्तिसे ही होसकता है।

अब रही साहित्यिक दृष्टिसे ग्रंथके महत्वकी बात। श्रीयुत् पं० परमानन्द जी शास्त्री, सरसावाके शब्दोंमें ही "इस प्रतिष्ठापाठको देखनेसे ग्रन्थ कोई महत्वशाली मालूम नहीं होता, और न उसमें प्रतिष्ठा-सम्बन्धी कोई खास वैशिष्ट्य ही नजर आता है। भाषा भी घटिया दर्जेकी है जिससे ग्रन्थकी महत्ता एवं गौरवका चित्तपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह प्रवचनसारादि प्राभृत ग्रन्थोंके कर्ताके शिष्य नहीं हैं, किन्हीं दूसरे ही कुन्दकुन्द नामके विद्वान्के शिष्य होसकते हैं[1]।"

१ अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३,४,५।

विलम्बका कारण

गत किरणमें दी हुई आवश्यक सूचनाके अनुसार अनेकान्तका यह वर्ष इस आषाढ़में पूरा होजाना चाहिये था। परन्तु श्रीवास्तव प्रेसके भारी गैरजिम्मेदाराना रवैयेके कारण कितने ही अर्से तक तो मैटर उसके पास बिना छपे ही पड़ा रहा और बादको उसने छापनेसे साफ इनकार कर दिया। तब दूसरे प्रेसके लिये देहली, लखनऊ आदि कोशिश की गई और इसमें कितना ही समय निकल गया। आखिर सहारनपुरके ही रॉयल प्रिंटिङ्ग प्रेससे, जो कि सबसे अच्छा स्थानीय प्रेस समझा जाता है, मामला स्थिर हुआ और उसे १० मईको मैटर देदिया गया। १० जून तक इस संयुक्त किरणके प्रकाशित होजानेका निश्चय था, परन्तु दुर्भाग्यसे कुछ समयके बाद ही प्रेसकी मशीन खराब होगई और उसकी दुरुस्तीमें काफी समय लग गया। इसीसे यह किरण इतने विलम्बके साथ जुलाईके शुरूमें प्रकाशित होरही है, इसका हमें भारी खेद है! परन्तु मजबूरीको क्या किया जाय! आशा है प्रेसकी योग्य व्यवस्थासे आगे विलम्बको अवसर नहीं मिलेगा। इस वर्षकी तीन किरणें अवशिष्ट हैं, उनके प्रकाशित होते ही नये वर्षकी योजना पाठकोंके सामने रक्खी जायगी।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

गत किरण (६-७) में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको सदस्य फीसके अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातारमहानुभाव धन्यवादके प्राप्त हैं:—

१००) ला० कपूरचन्दजी जैन रईस, कानपुर (सफर खर्चकी सहायतार्थ आग्रहपूर्वक प्रदान)।

५) बाबू कबूलसिंह दुनीचन्द जैन साढौरा जिला अम्बाला (पुत्र-विवाह की खुशीमें)।

४४॥) बा० जयन्तीप्रसादजी जैन, न्यू देहली।

५) ला० गिरीलालजी जैन, मुजफ्फरनगर (चि० पुत्र विमलप्रसादके विवाहकी खुशीमें।

६) ला० धर्मदासजी जैन स्टेशनरी मर्चेन्ट देवबंद जि० सहारनपुर (७ तालोंके मूल्य रूपमें।

१०) पं० दीपचन्दजी जैन पांड्या, केकड़ी (अजमेर) (चिरञ्जीव पुत्री भंवरीदेवीके विवाहोपलक्षमें)।

१७०॥)

अनेकान्तको सहायता

गत किरण (६-७) में प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, और इसके लिये दातार-महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं :—

५) ला० मिश्रीलाल पद्मकुमारजी जैन सौगानी, हाथरस (विवाहके उपलक्षमें मार्फत ला० सुगनन्द गंगवाल लखनऊ)।

५) ला० राजाराम महावीरप्रसादजी जैन मगरौनी जि० ग्वालियर (चि० पुत्र नेमीचन्द्रके विवाहोपलक्ष में)।

२) बाबू मनोहरनाथजी वकील बुलन्दशहर और ला० महावीरप्रसादजी खजाञ्ची सैन्ट्रल बैंक ब्राँच बुलन्दशहर (भ्राता वीरेश्वर और पुत्री उर्मिलादेवी के विवाहोलक्षमें)।

---

१२)

नोटिस

यह यकीन करनेकी वजह मौजूद है कि बगैर लाइसेंस हासिल किये हुए अस्लाह खास तौरसे रायफल, रिवाल्वर, और पिस्तौलकी एक बड़ी संख्या फौजसे निकले हुए सिपाही जङ्गके इलाकोंसे इस प्रान्तमें लाये हैं। गवर्नमेंटने यह फैसला किया है कि इन सिपाहियोंको एक मौका दिया जाय कि वह इनके लिये लाइसेंस हासिल करलें इसलिये मुशतहर किया जाता है कि अगर फौजसे निकला हुआ सिपाही इस नोटिसके एक माहके अन्दर हथियार पेश कर देता है और इसके लिये लाइसेंसके लिये दरख्वास्त देता है तो उसके खिलाफ मुकदमा नहीं चलाया जायगा और लाइसेंस की मंजूरीके मुताल्लिक सोच विचार किया जायेगा और फौजी सेवायें जो इसने अंजाम दी हैं इस पर ध्यान दिया जायगा। बगैर लाइसेंसके हथियारका रखना सख्त जुर्म है। तमाम फौजसे निकले हुए सिपाहियों के फायदे के लिये मशवरा दिया जाता है कि वह इस रियायतसे फायदा उठायें और हथियार मय कारतूस बारूद वगैरा दरख्वास्तके साथ सब डिविजनल मैजिस्ट्रेटके सामने नियत समयसे पहले पेश करदें।

दस्तखत जे० ओ० एन० शुक्ला

मेजर एम० बी० ई०

मोहर अदालत

डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट (सहारनपुर)

३०-५-४७

Regd. No. A-736.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ **अनित्यभावना**—मुख्तार श्री जुगलकिशोरके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित । इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मू० ।)

२ **आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र**—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या सहित । मू० ।)

३ **सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ**— मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित । इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ **अध्यात्म-कमल-मार्त्तण्ड**—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्ल-की अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया और पंडित परमानन्द शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रंथ है। मू० १॥)

५ **उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा**— मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित । मू० ।)

६ **न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)**— न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्याय-दीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए, यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिंदी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे सङ्कलित है, साथमें सम्पादक द्वारा नवनिर्मित 'काशाख्य' नामका एक संस्कृतटिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मंगा लेना चाहिये।

७ **विवाह-समुद्देश्य**—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण ।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है, अनेक विरोधी विधि विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? उसकी असली गरज और सैद्धान्तिक स्थिति क्या है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्था-श्रमसे उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम हो सकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति-पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। मू० ॥)

प्रकाशनविभाग—
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये, श्रीरामबाबू ? द्वारा गोयल प्रेस, सहारनपुर में मुद्रित